

[All rights reserved by the publisher.]

Publisher :- Pandurang Jawaji, } 'Nirnaya-sagar' Press,
Printer :- Ramchandra Yesu Shedge, } 26-28, Kolbhat Lane, Bombay.

॥ श्रीः ॥
महाकविश्रीभट्टिविरचितं
भट्टिकाव्यम् ।

जयमङ्गलकृतटीकया जयमङ्गलया समेतम् ।

स्वर्गनिवासिना नारायणात्मजेन विनायक-
शास्त्रिणा संस्कृत्य संशोधितम् ।

अष्टमं संस्करणम् ।

पणशीकरोपाह्वविद्वद्वरलक्ष्मणशर्मतनुजनुषा
वासुदेवशर्मणा संस्कृतम् ।

तच्च

मुम्बय्याम्

पाण्डुरङ्ग जावजी इत्येतैः

“निर्णयसागरा”ख्यमुद्रणयन्त्रालयाधिपतिभिः स्वीयेऽङ्कनालये
मुद्रयित्वा प्रसिद्धिं नीतम् ।

शकाब्दाः १८५६, ख्रिस्ताब्दाः १९३४.

मूल्यं २॥ सार्धरुपयकद्वयम् ।

श्री-भट्टिकाव्य-सुधारणा—

१. यद्यपि बहु नाधीषे तथापि पठ पुत्र ! व्याकरणम् ।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृत् शकृत् ॥
२. अ-विदित-श-ष-स-विशेषा वाणी वक्रात् विनिर्गता येषाम् ।
गुद-वदन-विवर-भेदो रदनैरेवोपलक्ष्यते तेषाम् ॥
३. अष्टाध्यायी जगन्माता,ऽमर-कोशो जगत्पिता ।
भट्टि-काव्यं गणेशश्च त्रयीयं सुख-दाऽस्तु वः ॥
४. शब्द-वाक्य-पद-च्छेद-स्थूलाक्षर-विशेषदृक् ।
सुधारकैः सुधार्यासौ पुस्तक-स्थापने यदि- ॥
५. स्थाप्यते गद्य-पद्येषु सच्छात्रानुग्रहेच्छया, ।
मूलादेर्वार्थ-सिद्धिः स्यात् किं टीकायाः प्रयोजनम् ॥
६. अ-संस्कारं वि-कोशं चाऽपच्छन्दश्चानलङ्कृति ।
नीरसं तद्भवेत्काव्यमित्याहुः काव्य-कोविदाः ॥
७. व्याकृत्या कोश-छन्दोभ्यामलङ्कृत्या रसेन च ।
पञ्चकेनान्वितं काव्यं भट्टि-काव्यं विराजते ॥
८. व्याकृति-वषके पेयं राम-राज-कथामृतम् ।
शब्द-वाक्य-पद-च्छेद-स्थूलाक्षर-विशेषदृक् ॥
९. सर्वेषामेव ग्रन्थानामेवं भाव्या सुधारणा ।
अन्ततः शिक्षण-ग्रन्था अप्येवं स्युः सुधारिताः ॥

कै० वि० ना० शा०.

विशेष-सूचना.

१-सदह् ग्रंथ छापण्याची व्यवस्था अशी ठेविली आहे कीं—विद्या-
 र्थ्यांना पदच्छेद करण्यास सुलभ पडावे म्हणून संच्यक्षरावर वैदिक स्वरित-
 खराप्रमाणें '।' अशी उभी रेषा दिली आहे; तिचा अर्थ—ज्या अक्षरा-
 वर ही '।' उभी रेषा दिली आहे तें अक्षर उमें चिरून त्याचा पूर्वभाग
 पूर्वपदांत व उत्तरभाग उत्तरपदांत सामील करावा, असें समजावें. जसें
 प्रथम श्लोकांत 'इत्युदाहतः' आणि 'पितरमुपागमत्' ह्या दोहोंवर '।' ही
 रेषा आहे. आतां $त्यु=त्य्+उ=त्यु$; $मु=म्+उ=मु$; म्हणजे इत्य्,
 (इति) उदाहतः; पितरम् उपागमत् अशां पदें समजावीत. इति याचें
 इत्य् हें पाणिनीच्या 'इको यणचि' या सूत्रानें झालें आहे; ह्याप्रमाणें
 पदच्छेद दाखवून सामासिक नामांत शब्द-(प्रातिपदिक) छेदही '—'
 ह्या चिह्नानें दाखविला आहे. आतां जेथें संधीमुळें '—' ह्या चिह्नानें शब्द-
 छेद दाखवितां येत नाही, तेथें संच्यक्षराखालीं वैदिकानुदात्तखराप्रमाणें
 '—' अशी आडवी रेषा दिली आहे. म्हणजे तीच शब्दच्छेदरेषा खालीं
 ओढली आहे. जसें ३ श्लोकांत (सर्वेषु-भृताम्) र्वे यांत र्व्+इ=र्वे,
 ह्याणजे सर्व-इषु-भृताम् असें जाणावें. येथें सर्व+इषु=सर्वेषु हें पाणि-
 नीच्या 'आहुणः' या सूत्रानें झालें आहे असें समजावें. स्वल्पविराम-
 चिह्नाचा उपयोग करून वाक्येही निरनिराळीं तोडून दाखविलीं आहेत.
 ह्याप्रमाणें मूळ ग्रंथाला बाध न येतां वाक्य-पदशब्दच्छेद दर्शविला; परंतु
 कित्येक स्थलीं 'अभून् नृपः' (श्लोक ११). 'स्त्रीभिर् युतानि' (श्लो०
 ७), 'ज्ञाता ऽऽशयस् तस्य' (श्लोक ११). असा पदच्छेद दाखविला
 आहे. त्या स्थळीं 'अभून् नृपो', 'स्त्रीभिर्युतानि', 'ज्ञाताशयस्तस्य'
 असेंच पाठकालीं म्हणावें. पदच्छेदबोधापेक्षां संयुक्त पाठ दुर्बोध नाही.

आतां पूर्वीच्या आवृत्तीत किलेक ठिकाणीं मूळ ग्रंथाची व टीकेची बरीच असंबद्धता दिसून आली. त्या ठिकाणीं मूळग्रंथ कायम ठेवून टीकेंतच कोठें कोठें फेरफार केला आहे. किलेक ठिकाणीं टीका कायम ठेवून मूळांत फेरफार केला आहे. जसें १४५५ श्लोकांत 'अस्मर्यत महीपतेः' असा जयमङ्गलटीकेचा पाठ आहे, परंतु मल्लिनाथाच्या टीकेंत 'अस्मर्यत महीपतिः' असा पाठ आढळतो, आणि हा जरी (माझ्या अल्पमतीला) योग्य वाटतो तथापि सर्व पुस्तकांत जयमङ्गला टीका असल्यामुळे बरीलच पाठ (अस्मर्यत महीपतेः) घेतला आहे आणि दुसरा पाठ 'अस्मर्यत महीपतिः' हा खालीं टीकेंत दिला आहे.

'प्रायेण मुह्यन्ति हि ये लिखन्ति' ह्या नियमानें हा प्रथमच प्रसंग असल्यामुळे प्रकृत पुस्तकांत ज्या काहीं चुका नजरचुकीने राहिल्या असतील, त्या मी विद्वद्सुहृज्जनांनीं पत्रद्वारा कळविल्यास आदरपूर्वक स्वीकारून आगामी मुद्रणांत सुधारीन.

क० वि० जो०.

भट्टिकाव्यस्य काण्ड-वर्ग-पद्य-संख्याऽनुक्रमः-

| भागः (काण्डः) ४ | विभागाः (वर्गाः) २२ | पृष्ठ- संख्या | |
|-----------------------------------|--|---|---|
| | व्याकरण-रीत्या परिच्छेदाः (वर्गाः) | कथानक-रीत्या सर्गाः | |
| १-प्रकीर्ण-काण्डः- (संकीर्णः) | १- २- ३- ४- ५, ९७-१०० टाधि, १०१-१०३ प्र०, १०४-४ आमधि० | १-राम-संभवः २-सीता-परिणयः ३-राम-प्रवासः ४- ५-सीता-हरणः राम- प्रवासः | २७ ५५ ५६ ४५ १०८ |
| २-अधिकार-काण्डः-प्रकीर्ण-सिद्धिः- | २-५-७, प्र०, ८-१० दुहादि-द्विकर्माधि०, ११-१५ प्र०, १६-३४ सिजधि०, ३५-३९ श्रमधि०, ४०-४५ प्र०, ४६-६७ कृत्याधि०, ६८-७० प्र०, ७१-८६ निरुपपदकृदधि०, ८७- ९४-१०८ खजधि०, १०९-१११ ढाधि०, ११२-१४३ सोपपदकृदधि०, २-१-२७ ताच्छीलिककृदधि०, २८-३३ निरधिकारकृदधि० ३४-६७ भावेकर्त० कृदधि०, ६८-७७ स्त्रीलिङ्गाधि०, ७८ -८५ कृदधि०, ८६-९० प्र०, ९१ -१०९ द्वित्वाधि०, ३-१-६९ आत्मनेपदाधि०, ७०-८४ कारकाधि०, ८५-९३ कर्मप्रवचनी- याधि०, ९४-१३१ अनभिहितेऽधि०, ४-१-७ प्र०, ८-११ सिचिवृद्ध्याधि०, १२-२२ इट्प्रतिषेधाधि०, २३-५७ इहविध्यधि०, ५८-६६ सत्त्वाधि०, ६७-९१ षत्त्वाधि०, ९२-१०९ णत्वाधि०, ११०-१३७ प्रकी०- | ६-सुग्रीवाभिषेकः ७-सीता-ऽन्वेषणम् ८-अशोक-वनिका-भङ्गः ९-मारुति-संयमः | १४३ १०८ १३१ १३७ |
| ३-प्रसूत- काण्डः- | १-अलङ्कार-दर्शनम्-शब्दाऽलङ्कारः १-२१; अर्थाऽलङ्कारः २२-७४; २-माधुर्य-प्रदर्शनम् ३-भाविकत्व-प्र० ४-भाषा-समावेशः | १०-सीताऽभिज्ञानदर्शनम् ११-लङ्कागतप्रभातवर्णनम् १२-विभीषणाऽऽगमनम् १३-सेतुबन्धनम् | ७४ ४७ ८७ ५० |
| ४-सिद्धा-काण्डः- | १-लिङ्-विलसितः (पू. भू. का.)- २-लुङ्-वि० (सा. भू. का.)- ३-लट्-वि० (—म. का.)- ४-लङ्-वि० (अ. भू. का.)- ५-लट्-वि० (वतै. का.)- ६-लिङ्-वि० (विध्यर्थः)- ७-लोट्-वि० (आज्ञार्थः)- ८-लङ्-वि० (सं. धैः)- ९-लुङ्-वि० (अ. म. का.) | १४-शर-बन्धः १५-कुम्भकर्ण-वधः १६-रावण-विलापः १७-वधः १८-विभीषण-प्रलापः १९-विभीषणाऽभिषेकः २०-सीता-प्रत्याख्यायनम् २१-संशोधनम् २२-अयोध्याप्रत्यागमनम् | ११३ १२३ ४२ ११२ ४२ ३० ३७ २३ ३५ |
| २२ | २२ | १६२४ | |

श्लोकानुक्रमणिका—

| श्लोकाः | अ. | श्लोकाङ्काः. | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः. |
|-----------------------------|-----|--------------|-------------------------|--------------|
| अकम्पनस्ततो० ... | ... | ११५० | अटाव्यमानः० ... | १४० |
| अकुप्यदिन्द्रजित्० ... | ... | १३७८ | अतत्वरच्च तान् ... | १२४१ |
| अकूर्दिष्ट व्यकारी च० ... | ... | १२२६ | अतस्तम्भदयम् ... | १२६८ |
| अकृष्टपच्याः० ... | ... | ३४९ | अताप्यस्योत्तमम् ... | ३२४ |
| अकोकूयिष्ट० ... | ... | १२९५ | अतिकायाद्विना० ... | १३०७ |
| अक्रुधन्नाभ्यधाद् ... | ... | १२०० | अतिकाये हते ... | १३०६ |
| अक्लेश्यमसिना ... | ... | ५१२ | अतिकान्ता त्वया ... | १५९९ |
| अक्षारिषुः शराम्भांसि ... | ... | ६८१ | अतिप्रियत्वात्० ... | ४०२ |
| अक्षेमः परिहासोऽयम् ... | ... | ३०६ | अतीते वर्षुके० ... | ४५२ |
| अक्ष्णोः पतन्नील० ... | ... | ९२० | अतुल्यमहसा० ... | २१२ |
| अखण्ड्यमानम् ... | ... | ९४८ | अतुषट्पीठम्० ... | ११८९ |
| अगाधत ततो ... | ... | ५४३ | अतुष्यन्नमराः सर्वे ... | १३९३ |
| अगोपिष्टां पुरीम्० ... | ... | १२९४ | अतृणैश्च शक्रजित् ... | १३६१ |
| अग्निः प्रमादेन० ... | ... | ९५५ | अतौत्सीद्वदया ... | १२१८ |
| अग्निचित्सोम० ... | ... | ४१९ | अथ क्लृप्तात्... ... | ४९२ |
| अग्निष्टोमादि० ... | ... | ७५२ | अथ जगदुरनीचैः ... | २७ |
| अग्नीनवरिवस्यंश्च ... | ... | १३९७ | अथ तमुपगतम् ... | १०१८ |
| अग्न्याहितजनप्रह्वे ... | ... | ७८४ | अथ तीक्ष्णायसैः ... | १८६ |
| अग्रसिष्ट व्यधाविष्ट० ... | ... | १२४३ | अथ ददृशुः... ... | ८६० |
| अघ्नानि ताडका० ... | ... | २२३ | अथ नयन० ... | ८८० |
| अधुरस्ते महा० ... | ... | १४०८ | अथ पुरुजवयोगात्... ... | ८२ |
| अङ्गदेन समं ... | ... | १२५८ | अथ मृदु० ... | ८७४ |
| अङ्गदेनाऽहसाताम् ... | ... | १२९६ | अथ लक्ष्मण० ... | ८५२ |
| अचूर्णयच्च यूपाक्षम् ... | ... | १४२५ | अथ छलित० ... | ८२४ |
| अच्छेतां च महाऽऽत्मानौ० ... | ... | १२७२ | अथ स वल्क० ... | ८११ |
| अजिघ्रत्तम्० ... | ... | ६९ | अथ ससंभ्रम० ... | १६२० |
| अजिघ्रपंस्तथैव० ... | ... | १२९० | अथ संपततः० ... | १७९ |
| अजिहदत् सः० ... | ... | १२९१ | अथाश्वितोरस्कम् ... | ९५२ |
| अजीगणहाश० ... | ... | ८० | अथानुकूलान् ... | ९२२ |
| अज्ञवन्नोत्सहेथाः० ... | ... | १५१६ | अथाऽऽयस्यन् ... | २६६ |
| | | | अथार्घ्यं मधु० ... | ३६१ |

| श्लोकाः | श्लोकाङ्काः | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः |
|---------------------------|-------------|----------------------------|-------------|
| अथाऽऽलम्ब्य ... | ३२६ | अनुजिज्ञासतेवाऽथ... | ५७७ |
| अथाऽऽल्लोके ... | ५१ | अनुमन्तास्वहे नावां ... | १६१३ |
| अथास्तमासेदुषि० ... | ८८५ | अनुष्ठाय यथादिष्टम् ... | १५४९ |
| अथोपशरदे... ... | ४४८ | अनुतोद्यं न तत्रास्ति ... | ३४५ |
| अदालिषुः शिलाः ... | १२१९ | अनेकशो निर्जित० ... | ७९ |
| अदिहंश्चन्दनैः ... | १४०० | अन्तःपुराणि पौलस्त्यम् ... | १४९५ |
| अदीदिपत्ततो वीर्यम् ... | १२६३ | अन्तर्धत्स्व रघु० ... | २१५ |
| अदृक्षताम्भांसि ... | ३७ | अन्तर्निविष्टो ... | ८ |
| अदृश्यन्ताऽनिमित्तानि ... | १४४६ | अन्याऽऽसक्तस्य ... | ८०८ |
| अदेवीद्वन्द्वु० ... | ६६४ | अन्ये त्वलङ्घिषुः ... | १२१३ |
| अदोहीव ... | ३२५ | अन्यान्यं स्म ... | ५४८ |
| अद्धि त्वं पञ्चगव्यम् ... | १५४२ | अन्वनैषीत्ततो० ... | ४२८ |
| अद्भो द्विजान् ... | ६१ | अन्वयाऽऽदि० ... | ८०५ |
| अद्य सीता मया ... | ६४२ | अपक्कम्भाविब ... | ९७३ |
| अद्राष्टां तं रघु० ... | १२२० | अपथ्यमायतौ ... | १४६३ |
| अधर्माच्चात्रसः ... | १३८० | अपप्रथङ्गुणान् ... | १२५३ |
| अधिगतमहिमा ... | ८८२ | अपमन्युस्ततो० ... | १५०१ |
| अधिजलधि... ... | ८७६ | अपरिमित० ... | ८७१ |
| अधिज्यन्तापः ... | ५८ | अपरीक्षित० ... | ८५० |
| अधि रामे ... | ६३५ | अपलापयमानस्य ... | ५८६ |
| अधीयन्तात्म० ... | २४६ | अपहरदिव ... | ८७५ |
| अध्यगीष्टार्थं ... | १२६९ | अपि तत्र रिपुः ... | १५७० |
| अध्यङ् शस्त्रं ... | २१९ | अपि स्तुह्यपिसेधा० ... | ६३४ |
| अध्यायच्छक्रजित् ... | १३७७ | अपिस्फवत्स्वसामर्थ्य ... | १२८० |
| अध्यासिसिषमाणे ... | ५८० | अपूजयंश्चतुर्वक्त्रम् ... | १३५१ |
| अध्यासीत् ... | ५९९ | अपूजयन् कुलज्येष्ठान् ... | १३४८ |
| अधुवास रथम् ... | ११४३ | अपूपुजन् विष्टर० ... | ५३ |
| अध्वरेष्वग्नि० ... | १९४ | अपूरयन्नभः ... | १४०२ |
| अध्वरेष्विष्टिनाम् ... | २६२ | अपृष्टो नु ब्रवीति ... | १४७५ |
| अनसीचरणौ ... | ७२४ | अपौहृद्वाणवर्षम् ... | १४२९ |
| अनसीङ्गुर्भरेण ... | १२०६ | अप्रतिस्तब्ध० ... | ७६२ |
| अनर्दिषुः कपि० ... | १२१६ | अवभाजत्ततः ... | १२६४ |
| अनिमित्तान्यथा० ... | १३५५ | अविभ्रजत्ततः ... | १२७४ |
| अनिर्वृतं भूतिषु ... | १००९ | अभायत यथा० ... | ५४४ |
| अनुजानीहि ... | १५३२ | अभावे भवताम् ... | ५११ |

| श्लोकाः | श्लोकाङ्काः | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः |
|-----------------------------|-------------|---------------------------|-------------|
| अभिज्ञानं | ४८४ | अवसन्नरुचिम् | ८४३ |
| अभियोतिष्यते | ६३१ | अवसायो०... .. | ३७२ |
| अभिनच्छनु० | १४१२ | अवसाव नगेन्द्रेषु | ४३० |
| अभिन्यविक्षथाः | ६२२ | अवसितं हसितम् | ८१६ |
| अभिमानफलं जानन् | ७९४ | अवसेयाश्च कार्याणि | १५२८ |
| अभिमानफलं प्रोक्तम् | ८०३ | अवाक्क्षिरसम् | १४१ |
| अभियाता | ८३० | अवादीतिष्ठते० | ६८२ |
| अभिष्यन्तः | ७४४ | अवादीन्माम् | ११९० |
| अमीषयन्त | ५८४ | अवाद्वायुः | ६०३ |
| अभूवृषो | १ | अविवेष्टवृषा० | १२४२ |
| अमेदि च शरैः | १२४६ | अवीततृष्णो० | ९०१ |
| अमैषुः कपयो० | १२३८ | अवोचत्कुम्भ० | ११९४ |
| अमंस्यत भवान् | १५७७ | अव्यग्रमुप० | ५५६ |
| अमन्थीच्च परानीकम् | १२२७ | अव्यर्णो गिरि० | ६९२ |
| अमर्षितमिव | ५३८ | अशनिरयम् | ८७७ |
| अमर्षो मे परः | १३२५ | अशप्त निहुवानो० | ६१६ |
| अमलमणि० | १०५७ | अशान भरतात् | १५५३ |
| अमितम्पचम् | ३८८ | अशिश्नवात्ययिकम् | १०७ |
| अमृडित्वा | ५३० | अशृण्वन्नन्यतः | १३६३ |
| अम्भासि रुक्मकुम्भेन | १५२३ | अशोभिष्ट | १२३५ |
| अयुक्तमिदमित्यन्ये | १३९५ | अश्वोतद्बधिरम् | १४२३ |
| अयं नियोगः पत्युस्ते | १५४५ | अश्वीतपिबतीयन्ती | २७५ |
| अयं मैथिल्यभिज्ञानम् | ६६० | अश्वान् वालिष्ठतो० | १२५९ |
| अरण्ययाने० | १३३ | अश्वान् बिभीषणो० | १४३६ |
| अरविन्दरेणु० | १०३७ | अष्टघण्टां महा० | १४३८ |
| अरासिषुः | ६८४ | असंस्कृत्रिम० | १७५ |
| अरोदीद्वाक्षसानीकम् | १३९४ | असद्वन्धु० | ८०९ |
| अर्थेन संभृता | १३३१ | असंप्राप्ते | ६५४ |
| अर्थोत्थिता० | ९०२ | असितोमर० | १०६५ |
| अलिगणविलोल० | १०३६ | असीतो रावणः | २८८ |
| अलोठिष्ठ च भू० | १२३७ | असुलभहरिसंचारम् | १०२९ |
| अवगाढं गिरिजालम् | १०३५ | असृष्ट यो०... .. | ९५ |
| अवग्राहे | ४८२ | असौ दधद्... .. | ६६८ |
| अवश्यपाव्यम् | ३५५ | अस्ताविषुः सुराः | १२५१ |
| अवश्यायकणा० | ३७१ | अस्तुवन् देव | १०१६ |

| श्लोकाः | श्लोकाङ्काः | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः |
|---------------------------|-------------|--------------------------|-------------|
| अस्तुवन् बन्दिनः ... | १३५४ | आढ्यंकरण० ... | ४०५ |
| अस्तृणादधिकम् ... | १४४८ | आतिथ्यमेभ्यः ... | १२४ |
| अस्त्रीकोऽसा० ... | १६७ | आतिष्ठु० ... | १५२ |
| अस्पन्दिष्टाऽक्षि ... | १२०८ | आत्मनः परि० ... | ५२० |
| अस्माकमुक्तम् ... | १२५ | आत्मम्भरिस्त्वं ... | ६० |
| अस्यन्दक्षिन्दु० ... | ६०८ | आत्मानमपजानानः ... | ५६८ |
| अस्यन्नरुष्० ... | ७३८ | आत्रिकूटम्... ... | ८०२ |
| अस्रसच्चाऽऽहतो ... | १२६५ | आददीप्त्वं महार्हाणि ... | १५०८ |
| अस्त्राक्षुरस्रम् ... | ९९ | आदरेण गमं ... | ४९० |
| अहं राम०... ... | ३३९ | आदिक्षदादीप्त० ... | ८५ |
| अहं शूर्पणखा ... | १७० | आदिदेश स ... | ११३२ |
| अहं स्वप्रक्... ... | ४५९ | आहत्यस्तेन... ... | ३४६ |
| अहं तु शुश्रुवान् ... | ४२७ | आनन्दयिष्यदागम्य ... | १५७९ |
| अहं न्यवधिषम् ... | ३०७ | आनन्दितारस्त्वाम् ... | १६०४ |
| अहमन्त० ... | २८२ | आपिङ्गुरुक्षो ... | ५७ |
| अहूत धने ... | ८४६ | आपीतमधुका ... | २५३ |
| अहो जागर्ति ... | १४६९ | आप्तारौ भवता ... | १५९८ |
| अहौषीत्कृष्ण० ... | १२७७ | आप्यानस्कन्ध ... | २३९ |
| आहिषातां रघु० ... | १४२ | आबद्धनेत्रा० ... | ९०७ |
| आहिष्ट तानसंमान्य ... | १२०९ | आबद्धभीम० ... | ११२ |
| आः कष्टम् ... | ३०२ | आबध्नन् कपि० ... | १४५८ |
| आकर्क्ष्यामि यशः ... | १३३ | आमन्त्रयेत् तान् ... | १५०७ |
| आख्यन्मुनिस्तस्य ... | १९ | आमिक्षीयं दधि० ... | १९५ |
| आख्यातासि हतम् ... | १६०५ | आमुञ्चद्वर्मे ... | १३५३ |
| आघूर्णिष्टां क्षतौ ... | १२९९ | आयान्त्यः स्वफल० ... | १५९० |
| आघ्नन् मेरीः ... | १३५३ | आयाससंभवाऽरुण ... | १०२८ |
| आचचक्षे च वृत्तान्तम् ... | ११२० | आयिष्ट मारुतिम् ... | १२८५ |
| आचाम्यं सन्ध्ययोः ... | ३५६ | आयोधने स्थायुकम् ... | ४९ |
| आचिक्वाते च भूयोऽपि ... | १११५ | आरामदर्शनात् ... | ६३० |
| आचिचाय स तैः ... | १११४ | आरूढं च सुवेलम्... ... | १०४९ |
| आच्छादयन् व्यलि... ... | १३४९ | आरूढबाण० ... | १०६४ |
| आजघ्नंस्तर्य... ... | ११६४ | आरोक्ष्यामि युगान्त ... | १३४६ |
| आज्ञां कारय ... | ६२६ | आर्चीद्विजातीन् ... | १५ |
| आज्ञां प्रतीषुर् ... | १२५ | आर्च्छन् वामम् ... | १३५६ |
| आटाक्यताऽवमत्याऽसौ ... | १४२१ | आलिङ्गितायाः ... | ८९७ |

| श्लोकाः | श्लोकाङ्काः | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः |
|----------------------------------|-------------|----------------------------|-------------|
| आलोचयत्स० | १४२७ | इत्थं प्रवादम् | ६३ |
| आलोचयन्तो | ४७४ | इदं कवचम् | ३२० |
| आवरीतुमिवा० | ६९७ | इदं नक्ततनम् | ३०४ |
| आवासे सिक्त० | २७३ | इदमधिगतम् | १६२२ |
| आशङ्कमानो० | २९७ | इन्दुं चषक० | ५८१ |
| आशासत ततः | १३४७ | इन्दोः सन्दिष्यते | १३२१ |
| आशितंभवम् | ३९७ | इष्टुमति रघुसिंहे | २६ |
| आशीर्भिरभ्यर्च्य | २४ | इह सा व्यलिपत् | ३१२ |
| आशुश्रूषन् | ५७८ | इहाऽजीव इहैव त्वम् | १३७९ |
| आश्चर्यं यच्च यत्र त्वाम् | १५१९ | इहाऽऽसिष्टा० | ३०३ |
| आश्चर्यं यच्च यत्र स्त्री | १५७५ | ई. | |
| आश्वसीदिव | ७२९ | ईर्क्षाचक्रेऽथ | १०८६ |
| आश्वस्याऽसः | ७०७ | ईयुर्भरद्वाज० | १२२ |
| आश्वासयाचकाराऽथ | ११२९ | ईर्ष्याविरुग्णाः | ८८९ |
| आससज्ज भयम् | ११७२ | ईश्वरस्य | ६५७ |
| आसिष्ट नैकत्र | १०३ | ईषदाव्यङ्करो | ५१८ |
| आसीद् द्वारेषु | १४०३ | उ. | |
| आस्कन्दलक्ष्मणम् | १४२८ | उक्तवन्तौ ततो रामम् | १६१२ |
| आस्ते स्मरन् | ३४३ | उक्तवान् राघवः | १५३९ |
| आस्फावताऽस्य | १३९६ | उक्षान्प्रचक्रु० | ८७ |
| आख्यन्लवङ्गमाः | १३५९ | उग्रंपश्याऽऽकुले | १६१ |
| आख साकं मया | ६२१ | उग्रंपश्येन | ३९१ |
| आहूय रावणो | ७१९ | उच्चरन्ताते नलेनाजौ | ११०० |
| आहोपुरुषिकाम् | २१० | उच्चरन्तुः परि० | १०३९ |
| आह्वास्त स० | ३१६ | उच्चिक्रियरे पुष्प० | १२० |
| आह्वास्यते विशङ्को | १३१५ | उच्चैरश्चित० | ७१३ |
| इ. | | उच्चैरसौ राघवम् | ७८ |
| इच्छ लेहेन | ६२० | उच्चै रारस्यमानाम् | २७९ |
| इच्छन्त्यभीक्ष्णम् | १०१० | उच्छ्रायवान् | ४७१ |
| इच्छा मे परमानन्देः | १५२५ | उज्जुगूरे ततः | १११९ |
| इतरो रावणादेषः | ६४८ | उत्तराहि | ६४९ |
| इति चिन्ता० | ६५२ | उत्तिष्ठस्व मते | १५४८ |
| इति निगदित० | १३८ | उत्तीर्णौ वा | ३८६ |
| इति ब्रुवाणो | ६७ | उत्तेरिथ समुद्रम् | ११२५ |
| इति वचनमसौ | १०१८ | उत्पत्य खम् | २१३ |

| श्लोकाः | श्लोकाङ्काः | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः |
|---------------------------|-------------|-------------------------------|-------------|
| उत्पातजं छिद्रम् ... | १००१ | ऊर्णनाव स... | ११७१ |
| उत्पाताः प्रावृत्तन् ... | १२०७ | ऊर्ध्वं मुहूर्तादहो ... | १५४७ |
| उत्सुकानीयतां ... | १५३८ | ऊर्ध्वं म्रिये मुहूर्तादि ... | १४९४ |
| उदक् शत० ... | ४८५ | ऊहिरे मूर्ध्नि ... | ११५९ |
| उदक्षिपन् पट्ट० ... | ११६ | ऊ. | |
| उदजीवत् सुमित्राभूर० ... | १४४१ | ऊर्ग्यजुषम् ... | १४७ |
| उदतारिषुः ... | १२१४ | ऊणाद्वद्ध० ... | ६४५ |
| उदतारीदुदन्वन्तम् ... | ११९१ | ऊदिमान् राक्षसो० ... | ८४८ |
| उदपतद्वियत् ... | ८२८ | ऊषभोऽद्रीन् ... | १२२५ |
| उदरे चाऽजरन्नये... | १२३१ | ऊष्यसूकम् ... | ४११ |
| उद्यंस्यति हरिर् ... | १३०९ | ऊष्यसूके ... | ३४१ |
| उन्नसं दधती ... | १५६ | ए. | |
| उन्नयानधि० ... | ४७१ | एकः पदातिः ... | ९८७ |
| उन्मीलिष्यति चक्षुर० ... | १३१२ | एकहायन० ... | ३७६ |
| उन्मुच्य सजम् ... | १४९२ | एकेन बहवः ... | ६८८ |
| उपशाम्यतु ते बुद्धिः ... | १५३५ | एकेन वाली ... | ९६८ |
| उपशूरम् ... | ६२९ | एकेन सन्धिः ... | ९६६ |
| उपाश्रयकुरुताम् ... | ३९६ | एको द्वाभ्याम् ... | ७९७ |
| उपारंसीच्च ... | ५९६ | एता दैवानु० ... | ४४३ |
| उपासांचक्रिरे ... | २९० | एते ते मुनिजन० ... | १६१२ |
| उपास्थितैवमुक्ते ... | ३३३ | एतौ स्म मित्रावरुणौ ... | ६८ |
| उपास्थिषत् ... | ७६८ | एवं युवां मम ... | १६११ |
| उपेक्षणीयैव ... | ९५८ | एवं विजिग्ये ताम् ... | ११७४ |
| उपेक्षिता देव० ... | ९२७ | एष पेक्ष्याम्यरीन् ... | १३४२ |
| उपेक्षिते वालि० ... | ९४६ | एष प्रावृषि ... | २३७ |
| उभाक्कृतताम् ... | १४५० | एष रावणिः... | १२७० |
| उभौ मायां व्यतायेताम् ... | १४५१ | एष शोकच्छिदो० ... | ४६१ |
| उल्का ददशिरे ... | १०८९ | एधारमेषिता ... | ७०४ |
| उवाच चैनं क्षणदा० ... | १०१३ | ऐ. | |
| उवाच मारुतिः ... | ५१० | ऐक्षिष्महि ... | ३०५ |
| उष्णीषं मुमुचे ... | ११६३ | ऐद्विप्रवदमानैः ... | ५७२ |
| उद्यारन् यज्ञपात्राणि ... | १५१० | ऐन्द्रेण हृदये ... | १२५० |
| ऊ. | | ऐ वाचं देहि ... | ३०९ |
| ऊचे संवरिषीष्ठाः ... | ७०० | ऐषीः पुनर्जन्म ... | १८ |
| ऊर्जस्वलं हस्ति० ... | १३७ | ऐहिष्ठ तं कारयितुम् ... | ११ |

| श्लोकाः | श्लोकाङ्काः | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः |
|---------------------------|-------------|-----------------------------|-------------|
| ओ. | | कुमुदवन० ... | ८७८ |
| ओजायमाना ... | २५९ | कुम्भकर्णस्ततो ... | १२०२ |
| ओषांचकार ... | २९२ | कुम्भकर्णस्तौ ... | १२९३ |
| औ. | | कुम्भकर्णे हते ... | १३२३ |
| औष्ण्यं त्यजेन्मध्य० ... | ९९५ | कुम्भकर्णो रणे ... | १३२२ |
| क. | | कुरु बुद्धिम्... | १९८ |
| कः कृत्वा रावणा०... | ७७८ | कुर्याद्योगिनम् ... | ४४४ |
| कः पण्डितायमानः ... | २५८ | कुर्यास्तथा येन ... | ९३४ |
| कथं दुष्टुः ... | ४२३ | कुर्वन्ति परिसारिण्यः ... | ४४१ |
| कथं न्वजीविषुस्ते च ... | १२५४ | कुर्वन्तो हवम् ... | ४९५ |
| कपयोऽविभ्युः ... | १४०४ | कुलभार्याम्... | ५६१ |
| कपितोयनिधीन् ... | ८३७ | कृतं सर्वं यथोद्दिष्टम् ... | १५१५ |
| कपिनाऽऽम्भोधि०... | ६७९ | कृताभिषेको० ... | ९८१ |
| कपिपृष्ठगतौ ... | ८५३ | कृती श्रुती ... | १३४ |
| कपिर्जगाद... | ८०१ | कृते कानिष्ठिनेयस्य... | २६७ |
| कपिश्चङ्क्रमणो ... | ४५० | कृते नोपकृतम् ... | ५५० |
| कमण्डलुकपालेन ... | २४५ | कृतेषु पिण्डोदक०... | ११८ |
| कम्बूनथ समाद्धुः ... | १०७० | कृते सौभागिनेयस्य ... | १७३ |
| कम्प्राभिरावृतः ... | ४५८ | कृतैरपि दृढ० ... | ११०९ |
| करिष्यमाणम् ... | १९२ | कृत्वा कर्म ... | ६६९ |
| करोति वैरम् ... | १०१४ | कृत्वा लङ्का० ... | २०९ |
| कर्णेजपैराहित० ... | ८९ | कृत्वा बालि० ... | ४१२ |
| कर्तास्मि कार्यम् ... | ४६६ | कृशानुवर्ष्मण्यधि०... | ९४० |
| कलहरिकण्ठ० ... | १०५३ | कृषाद्वं भर्तु० ... | ७५० |
| कलिष्यते हरे ... | १३१६ | केचित्संचुकुटुः ... | ११७३ |
| का त्वमेकाकिनी ... | २४९ | केचिद्वेपथुम् ... | १८१ |
| कान्ता सहमाना ... | ८२६ | केचिन्निनिन्दुः ... | ९२ |
| कान्तिं स्वाम् ... | ५९१ | केन संभावितम् ... | १३१९ |
| कामो जनस्य ... | १५२० | केन संविद्वते नाऽन्यः ... | १४८६ |
| कार्यसारनिभम् ... | ४६७ | केन संविद्वते वायोर् ... | ५५९ |
| काल्यमिदं विहितम् ... | १६२५ | केनापि दौष्टकुलेयेन ... | ५२२ |
| किंचिन्नोपावदिष्टासौ ... | ५७० | केशानलुब्धिषुः ... | ११८४ |
| किं दुर्नयैस्त्वय्यु० ... | ९९९ | कोट्या कोट्या पुर० ... | १०९७ |
| कुण्डपाय्यवताम् ... | ३५८ | कोऽन्योऽकर्त्स्यदिह... | १५८४ |
| कुतोऽधियाससि ... | ६३२ | कोपात्काश्चित् ... | ५७५ |

| श्लोकाः | श्लोकाङ्काः | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः |
|--------------------------|-------------|---------------------------|-------------|
| कौशल्ययाऽसावि०... | १४ | गते त्वयि पथानेन... | १६०७ |
| क्रियासमारम्भ०... | १९३ | गतो वनं श्वो... | ९३ |
| क्रियेश्च दशास्येन... | १५०३ | गत्वाथ ते पुरीम्... | १५१४ |
| क्रीडन् भुजङ्गेन... | १०१५ | गदा शक्रजिता... | ११०४ |
| कुद्दाननुनयेः... | १५२४ | गन्तारः परमां प्रीतिम्... | १६०६ |
| कुड्रोऽवीपि... | ३२३ | गन्तुं लङ्कातीरम्... | १०३० |
| कुप्यन् कुलम्... | २३ | गम्भीरवेदिनः... | १०८१ |
| कूराः क्रिया ग्राम्य०... | ९९७ | गम्भीराः प्रावहन्... | १४०९ |
| क्लिष्टाऽऽत्मभृत्यः... | ९७५ | गरुडानिल०... | ८३४ |
| क च खयातो रघो०... | १५५४ | गर्जन् हरिः... | ३६ |
| क ते कटाक्षाः... | ४८७ | गाढगुरुपुङ्ख०... | १०२१ |
| क स्त्रीविसृद्धाः... | ९९० | गाढसमीरण०... | १०६१ |
| क्षणं भद्रावतिष्ठस्व... | ५५३ | गाधितासे नभो... | १५९२ |
| क्षतैरसंचेतित०... | ९०९ | गाधेयदिष्टम्... | ५९ |
| क्षितिकुल०... | ८६९ | गान्धर्वेण न्यविध्यत्... | १४३४ |
| क्षिप्रं ततोऽध्वन्य०... | ७१ | गिरिपङ्कचार०... | १०४७ |
| क्षुद्राव्रजक्षुः... | ५२ | गिरिपरिगत... | ८७० |
| ख. | | गिरिमन्वसृपत्... | ३१८ |
| खमद यामद... | १५६० | गिरेर्नितम्बे... | ३५ |
| खमूखुर्वसुधाम्... | ११५२ | गुरुगिरिवर०... | १०३४ |
| खं पराजयमानो... | ५५१ | गुरुपणववेणु०... | १०६३ |
| खरदूषणयोर्... | १७२ | गुरुर्दधाना... | ८९९ |
| खरादिनिधनं... | ७९० | गुरुचञ्चत्... | ९२५ |
| ग. | | गुहाया निरगात्... | ४०९ |
| गच्छन्तु चारु०... | १०३३ | गूहमानः... | ५८७ |
| गच्छन्स वारीणि... | ८३२ | गृध्रस्येहा०... | ३२२ |
| गजानां प्रददुः... | १०७९ | ग्रहमगिरसन्म... | ८५७ |
| गतमङ्गलि०... | ७५१ | घ. | |
| गतासु तासु... | ६४४ | घनगिरीन्द्र०... | ८२५ |
| गतास्यादवचिन्वाना... | ३०१ | घानिषीष्ट त्वया... | १५२९ |
| गते तस्मिन्नुपा०... | ७२५ | घानिष्यते तेन... | २३ |
| गते तस्मिन्गृहीतार्थे... | १६० | घोरजलदन्ति०... | १०२२ |
| गते तस्मिन् जल०... | २४४ | घोषेण तेन प्रति०... | ९९२ |
| गते तस्मिन् सप्ता०... | ६३९ | घ्नन्तं मोपेक्षिषाथाम्... | १२२२ |
| गतेऽतिभूमिम्... | ९१३ | | |

| श्लोकाः | श्लोकाङ्काः | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः |
|---------------------------------|-------------|----------------------------------|-------------|
| च | | जगन्त्यमेयाद्भुतं ९५६ | |
| चकाराधस् ७३९ | | जगर्जुर्जहृषुः १०७५ | |
| चकासांचक्रुः १०८७ | | जगाद वानरात् ५२५ | |
| चक्रन्दुरुचै० ११० | | जगाद्विरेऽम्बुधिम् ११३५ | |
| चक्राणाऽशङ्कितो ११५७ | | जग्मुः प्रसादम् ६४ | |
| चक्षुषि कान्तान्यपि ९०८ | | जग्लौ दध्यौ ११२८ | |
| चञ्चलतरहरिण० १०२४ | | जटायुः पुण्यकृत् ५१५ | |
| चञ्चूर्यन्तेऽमितो १४८३ | | जनानुरागेण ९५९ | |
| चतुष्काष्ठम् ७३५ | | जरित्वेव ७१४ | |
| चन्दनद्रुमसंच्छन्ना १५९४ | | जलकामदन्ति० १०६० | |
| चत्स्यन्ति बाल १३२४ | | जवतीरतुङ्ग० १०६७ | |
| चलकिसलय० १०५७ | | जलद इव ९३१ | |
| चलपिङ्गल० ८३६ | | जलनिधिमगमत् ८६१ | |
| चापल्ययुक्तस्य ९५१ | | जले विक्रम० ५६६ | |
| चारुकलहंस० १०४२ | | जल्पाकीभिः ४५३ | |
| चारुसमीरणरमणे १०१९ | | जल्पितोत्कुष्ट० ५७१ | |
| चिकीर्षिते पूर्व० ९३७ | | जहसे च क्षणम् ११६१ | |
| चिचेत रामस ११३० | | जहीहि शोकम् १५४० | |
| चितां कुरु च १५६४ | | जिगमिषया संयुक्तम् १०३३ | |
| चित्रं चित्रम् ७३१ | | जिज्ञासोः शक्तिम् ४०७ | |
| चिन्तयन्नित्थम् ६०१ | | जिते नृपारौ ८१ | |
| चिन्तावन्तः कथम् ५०६ | | जूतिमिच्छथ ५०३ | |
| चिरं रुदित्वा १३२ | | जेता यज्ञ० १६५ | |
| चिरकालोषिताम् २२५ | | जेतुं न शक्यो० ९७७ | |
| चिरं क्लिप्तित्वा २३५ | | ज्ञात्वेङ्गितैर् ९८ | |
| चिरेणाऽनुगुणम् ६३७ | | ज्ञायिष्यन्ते मया १३४५ | |
| चुकोपेन्द्रजित् १११२ | | ज्योतिष्कुर्वन् ७३७ | |
| चुकुधे तत्र ११७५ | | ज्योत्स्नाऽमृतम् ६०४ | |
| चेतसस्त्वयि १५५८ | | ड. | |
| छ. | | डुढौकिरे पुनर् ११३९ | |
| छलेन दयिता ३८९ | | त. | |
| छिन्नाक्षन्त १४११ | | तं यान्तं दुद्रुवुर् ११६५ | |
| ज. | | तं यायजूकाः ४७ | |
| जक्षिमोऽनपराधे १७७ | | तं रत्नदायम् ८४२ | |
| जगन्ति धत्स्व १५६१ | | तं विप्रदर्शम् ५० | |

| श्लोकाः | श्लोकाङ्काः | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः |
|-----------------------------|-------------|-----------------------------|-------------|
| तं सुस्थवन्तः | ११५ | ततोऽद्विषुर्निरालोके ... | १४०७ |
| तं जागरूकः | ४५७ | ततोऽधावन् महा० ... | १४१९ |
| ततः कथाभिः | १६१४ | ततो नदीषणान् | ७० |
| ततः कपिसमाहारम् | ४६८ | ततो नीलहनुमन्तौ... .. | १२६१ |
| ततः कपीनाम् | ४६४ | ततोऽभ्यगाद्वाधि० | १७ |
| ततः कर्ता | ४३५ | ततो मातलिना | १४५५ |
| ततः क्रोधानिल० | ७९१ | ततो मन्दगतः | ५१३ |
| ततः खड्गं समुद्यम्य | ६३६ | ततो मायामयान् | १४५३ |
| ततः परं भरद्वाजो... .. | १६०० | ततो मायामयीं सीताम् ... | १३३६ |
| ततः प्रगदिता वाक्यम् | १५५६ | ततो रामेति चक्रन्दुः | १११६ |
| ततः प्रजघटे शुद्धम् | ११४५ | ततो रामो हनुमन्तम् | १५९१ |
| ततः प्रणीताः | १०४४ | ततो रौद्रसमायुक्तम् | १३९२ |
| ततः प्ररुदितो | १३०५ | ततो बलिन्दम् | ३९८ |
| ततः प्रवित्राजयिषु | ९१ | ततो बालिपशौ | ४०८ |
| ततः प्राकारम् | ५९७ | ततो बावृत्त्यसानासौ | १६६ |
| ततः प्रामुह्यताम् | ११७० | ततो विजघटे | ११३४ |
| ततः प्रास्थिषता० | ५३६ | ततो विनिद्रम् | ९३२ |
| ततः प्रोदसहन् | १४४२ | ततोऽशीति | ६७६ |
| ततः शतसहस्रेण | १५४५ | तत्कर्म बालि० | ११०५ |
| ततश्चित्रियमाणो० | २३१ | तत्र जेतुं गमिष्यामि | १३३८ |
| ततः सक्रोपम् | १०१२ | तत्रेन्द्रजितम् | १३७६ |
| ततः स गतवान् | १५२२ | तथापि वक्तुम् | ९९६ |
| ततः समभवद्युद्धम् | १४०५ | तथाऽऽतोऽपि | ३१५ |
| ततः समाशङ्कित०... .. | ८९० | तं दृष्ट्वाचिन्तयत् | ६४६ |
| ततः ससंमदास्तत्र... .. | ४९३ | तं नो देवा विधेयास्तुः ... | १४०२ |
| ततः सुचेतीकृत० | ८४ | तमः प्रसुप्तम् | ८९४ |
| ततः सौमित्रिर् | १२७५ | तमध्यासिष्ट | १२७८ |
| ततस्त्रिशिरसम् | १४३५ | तमसाया महानिल० | १६०२ |
| तुल्यपुर्वानरा | ११८० | तमुक्त० | २२९ |
| ततोऽकुष्णाद्दश० | १४२६ | तमेवंवादिनम् | १३३९ |
| ततोऽक्रन्दीद्दश० | १२४६ | तं सीतंकारम् | २२२ |
| ततोऽचित्रियता० | १४१० | तं मनोहरम् | ३८२ |
| ततो जलधिगम्भीरान् | ५०१ | तं सीताघातिनम् | ३३३ |
| ततो दशास्यः | ९४४ | तयोर्वानर० | ४१३ |
| ततो दशास्यः स्मर० | १०६९ | तरङ्गसङ्गात् | २९ |

| श्लोकाः | श्लोकाङ्काः | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः |
|----------------------------|-------------|-------------------------|-------------|
| तर्षणं प्रजनिष्णूनाम् ... | ४३६ | ता हनूमान् ... | ५९२ |
| तवोपशायिका ... | ६६५ | तिग्मांशुरदिम० ... | ३९ |
| तस्तनुर्जज्वलद् ... | १०९८ | तिरोबभूवे सूर्येण ... | ११११ |
| तस्मात्कुरु त्वम् ... | १००६ | तीव्रं स्यन्दिष्यते ... | १३११ |
| तस्माच्चिरपतद्भूरि ... | १३९१ | तीव्रमुत्तपमानो० ... | ५५७ |
| तस्मिन्कृशानु० ... | १४५ | तुङ्गतसच्छाया० ... | १०५२ |
| तस्मिन् कैलास० ... | ५९३ | तुङ्गमणिकिरण० ... | १०५४ |
| तस्मिन्नन्तर्धणे ... | ४९६ | तुङ्गमहागिरि० ... | १०४० |
| तस्मिन्वदति ... | ६५५ | तुङ्गा गिरिवर० ... | १०२७ |
| तस्य क्षेमे महा० ... | १२८४ | तुरङ्गाः पुस्फुटः ... | १०७४ |
| तस्य निर्वर्त्य ... | ४३३ | तूर्याणामथ ... | १६१९ |
| तस्याः सासद्यमानायाः ... | १६९ | तृणाहानि दुराचाराः ... | १५३३ |
| तस्याधिवासे ... | ८४८ | तृणाय मत्वा ... | ६४१ |
| तस्याप्यत्यकमीत् ... | ११९८ | तृणेढु त्वद्वियोग० ... | १५४३ |
| तस्याप्यवेभिदिष्टासौ ... | १२९७ | तृणेद्भि देवम् ... | १४९१ |
| तस्यातिषत ... | ३१३ | ते तं व्याशिषत ... | १२२४ |
| तस्याहारिषत ... | १२६० | तेन वहेन... ... | ३४२ |
| तस्यै स्पृह्य० ... | ६१७ | तेन सङ्गतम् ... | ३४४ |
| ताः सान्त्वयन्ती ... | १०५ | तेनादुद्यूषयत ... | २३२ |
| तातं प्रसाद्य कैकेय्या ... | १५८६ | तेनेऽद्रिवन्धो ... | १०४५ |
| तान् दृष्ट्वाति० ... | ६९१ | ते परस्परमासाद्य... ... | १३९० |
| तान् प्रत्यवादीत् ... | ५५ | तेऽभाविषत ... | ११८७ |
| तान् विलोक्य ... | ४३८ | ते विज्ञायाऽमि० ... | ७६३ |
| ताभ्यामन्योन्यम् ... | १४४७ | ते भुक्त्वन्तः ... | १२७ |
| तामापतन्तीम् ... | १४३७ | ते रामेण सरभसम् ... | १०६५ |
| तामुवाच स ... | १५९ | तेऽव्यरासिष्ठः ... | १२५३ |
| तांश्चितव्यान् ... | ६८६ | तेषां निहन्य० ... | ६९४ |
| तां पराजयमानाम् ... | ६१३ | ते हि जालैर् ... | ४२६ |
| तां प्रलैच्छन् ... | १३७४ | तैरजेषत सैन्यानि... ... | १२५७ |
| तां प्रातिकूलिकीम् ... | २७७ | तैर्वृक्पणरुण० ... | १८० |
| तां प्राविशत् ... | ६०२ | तौ खङ्गमुसल० ... | १८५ |
| तालेन संपादित० ... | ९०३ | तौ चतुर्दश० ... | १७८ |
| तावभाषत पौलस्त्यो ... | १३७१ | तौ वालिप्रणिधी ... | ३७७ |
| तावस्कावयताम् ... | १३८९ | तौ हनूमन्तमानेतुम् ... | १२८६ |
| तास्तथा तर्जिताः ... | ६४३ | त्रसन्तीं ताम् ... | २७८ |

| श्लोकाः | श्लोकाङ्काः | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः |
|-----------------------------|-------------|-------------------------------|-------------|
| त्रिवर्गपारीणम् | ७३ | दर्शयांचकिरे रामम् | ११२२ |
| त्रिशत्तमम् | ५२३ | दशग्रीवोऽहम् | १३८४ |
| त्वं ससर्जिथ | ७२१ | दशदन्तिसहस्राणि | १४१३ |
| त्वं स्म वेत्थ | १४७६ | दस्येऽहं मधुनो | ३७३ |
| त्वक्त्रः संविव्ययुः | १२४२ | दातुः स्थातुद्विषाम् | १४९८ |
| त्वन्तु भीरु... .. | २२७ | दिवपालैः कदनम् | १३६५ |
| त्वन्मित्रनाशो | ९७८ | दिग्ग्यापिनीर्लोचन० | ४० |
| त्वमजानन्निदम् | १४७३ | दिदक्षमाणः परितः | १११ |
| त्वमर्हसि भ्रातुः | १५०० | दिदक्षुर्माँथिली राम | १५३७ |
| त्वं पुनीहि पुनीहीति | १५५९ | दिद्विषुर्दुड्युर् | ११६९ |
| त्वया तु लोके | ९६७ | दिशो द्योतयमानाभिर् | ५८८ |
| त्वयाद्य लङ्का० | १०११ | दिशो व्यदनुवते | १४८४ |
| त्वयादक्षयत किम् | १५७२ | दीक्षस्व रामेण | १५४४ |
| त्वयापि नाम रहिता | १४९० | दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयम् | १६२३ |
| त्वया संदर्शितारौ | १५९७ | दीप्यमानम् | २६४ |
| त्वयि नस्तिष्ठते | ५५४ | दुःखायते | २५७ |
| द. | | दुःकर्तरे... .. | ९०४ |
| दग्धशैल इवा० | १२०४ | दुर्गाऽश्रितानाम् | ९८३ |
| दण्डकानध्य० | १८९ | दुष्पानः पुनर् | ७९१ |
| दण्डकां दक्षिणेन | ६५० | दूतमेकम् | ७८३ |
| दण्डेन कोशेन च | ९७४ | दूरं समारुह्य | ४८६ |
| दत्तः स्वदोषैर् | १०१६ | दूरगैरन्तगैर्... .. | ४०० |
| दत्तं न किं के | ९९८ | दूरात्प्रतीहार० | ९३९ |
| दत्तावधानम् | ३४ | दृष्ट्वा ताम् | ७६१ |
| दलाल भूर्नभो० | १०८८ | दृष्ट्वा दयितया | ५९७ |
| ददशे पर्ण० | १५३ | दृष्ट्वा राघव० | ६०० |
| ददैर्दुःखस्य... .. | ३७० | दृष्ट्वा सुष्ठुताम् | ७५५ |
| ददौ स दयिताम् | ४३२ | दृष्ट्वा पुंवान् | १२९ |
| दधाना बलिमम् | १५४ | देवान्तकोऽस्ति० | १२५५ |
| दधावाऽद्भिः | ११२८ | देहं विभ्रष्टः | २४० |
| दध्वान मेषवत् | ६०८ | देहम्रश्चन०... .. | ५१४ |
| दन्तच्छदे प्रज्वलिता | ९१७ | दैत्यक्षये महा० | १५८५ |
| दमितारिः | ६९३ | दैत्याभिभूतस्य | ५४ |
| दमित्वाप्यरि० | ७१५ | दैवं न विदधे | ४३१ |
| दर्शनीयतमाः | ६५८ | दैवाद्विभीहि | १५५७ |

| श्लोकाः | श्लोकाङ्काः | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः |
|-------------------------------|-------------|-------------------------------|-------------|
| दोषैरमृतैभिस्ते ... | १३८६ | न चोभावप्यलक्ष्येताम् ... | १४५२ |
| दोवारिकाभ्याहत० ... | १३८ | न जिजीवाऽसुखी ... | ११२९ |
| दामिवाहयमानम् ... | ५६० | न जिह्वायांचकार ... | २९४ |
| दृष्टाऽसि प्रीतिमानाराद् ... | १५९६ | न तज्जलं यज्ञ ... | ६४ |
| दृष्टास्थस्तत्र तिष्ठो० ... | १६०९ | न तं पश्यामि ... | २०४ |
| दृष्टुं प्रक्रममाणः ... | ५६७ | न तानगणयन् ... | १३५७ |
| दुतं संखरिषीष्टाः ... | ७०१ | न नृणेह्यीति ... | ३३० |
| दुतं दुतम् ... | ८२१ | न स्वजायत मे ... | १३८३ |
| दुतमत्रास्त ... | १३०१ | न त्वं तेनान्ध० ... | २१८ |
| दुभङ्गध्वनि० ... | ६७४ | न निश्चितार्थम् ... | ९९४ |
| द्विषन्वने० ... | २८० | नन्दनानि मुनि० ... | ३६३ |
| द्विष्कुर्वताम् ... | ७३६ | न प्रणाध्यो० ... | ३५७ |
| द्वेष्टि प्रायो गुणेभ्यो० ... | १४६७ | न प्राणिषि ... | ७३० |
| ध. | | न प्रावोचमहम् ... | ११९२ |
| धनानामीशते ... | १४७८ | न विभाय ... | २८५ |
| धनुष्पाशशृतः ... | ७३३ | न भवति महिमा ... | ८७२ |
| धनुंष्यारोपयांचकुर ... | १०७६ | न भवाननु० ... | ६२८ |
| धर्मकृत्यरताम् ... | ३५३ | न भस्वान्यस्य वाजेषु ... | १४५६ |
| धर्म प्रत्यर्पयन् ... | ७८८ | न योद्धुमशक्नु ... | १२३० |
| धर्मोऽस्ति सत्यम् ... | ६२ | नरकस्यावतारोऽयम् ... | ५१६ |
| धर्म्यासु कामार्थ० ... | ९ | न वानरैः ... | ८२० |
| धारयैः कुसुमो० ... | ३६९ | नश्यन्ति ददर्श ... | ८२२ |
| धिग्दाशरथिम् ... | ४१५ | न सर्वरात्र० ... | ७८५ |
| धिह्मां त्रिशिरसा ... | १३१३ | नहि प्रेष्यवधम् ... | १५३६ |
| धुन्वन्सर्व० ... | २८४ | नाकल्पस्यत्संनिधिम् ... | १५७८ |
| धूम्राक्षोऽथ प्रति० ... | ११४१ | नाखेयः सागरः ... | ३४७ |
| धेयास्त्वं सुहृदाम् ... | १५२७ | नागास्त्रमिदम् ... | ११३३ |
| ध्वजानुधुवुः ... | ११२१ | नाजानन्संदधानम् ... | १३६२ |
| ध्वनीनामुद्धमैर् ... | ३६८ | नानुरोत्ये जगत्० ... | १३२७ |
| न. | | नाभविष्यदियम् ... | १५६९ |
| नखैरकर्तिषुः ... | ११८५ | नाभिज्ञाते महा० ... | १३४० |
| न गच्छामि पुरा ... | १४९३ | नाभिज्ञाते स यक्षेन्द्रम् ... | १३४१ |
| नगजानगजा ... | ८१९ | नामग्राहं कपिसिद् ... | ४३४ |
| नगरस्त्रीस्तन० ... | १६०३ | नामोक्ष्याम वयम् ... | १५८१ |
| न च काञ्चन० ... | ८१५ | नायमुद्विजितुम् ... | ५२६ |

| श्लोकाः | श्लोकाङ्काः | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः |
|----------------------------|-------------|-------------------------|-------------|
| नायास्यसि ... | ३६० | नीवारफल० ... | ४८० |
| नारीनामप० ... | ८२३ | नृपाऽऽत्मजौ ... | ११३ |
| नावकल्प्यमिदम् ... | १५१७ | नेत्रेषुभिः ... | ९१० |
| नाविविदिषुम् ... | ५३३ | नेदानीं शक्र० ... | १४८९ |
| नावैत्याप्यायितारम् ... | ४५१ | नैतन्मतं मत्कम् ... | ११४ |
| नासां मातृ० ... | ७५३ | नैवं विरह० ... | १६१० |
| नाख्ये पश्यति ... | २०२ | नैवेन्द्राणी न ... | २०५ |
| निकुञ्जे तस्य ... | ५३७ | नोदकणिष्ठस्यता० ... | २५५ |
| निकुम्भो वानरेन्द्रस्य ... | १३०२ | न्यकृन्तंश्चक्र० ... | १३५८ |
| निकृत्तमत० ... | ९२६ | न्यवर्तयत्सुमित्रा० ... | २३१ |
| निखिलाभवम् ... | ८१३ | न्यवसिष्ट ततो० ... | ११८८ |
| निधानिघ० ... | ४९९ | न्यविक्षत ... | ५४९ |
| निजघाना० ... | ७९९ | न्यद्यन् शस्त्राणि ... | १३५० |
| नित्यमुद्यच्छमानाभिः ... | ५८९ | न्यषेधत्पावका० ... | १४३३ |
| निन्दको रजनि ... | ४४७ | न्याय्यं यद्यत्र ... | ४७५ |
| निमित्तशून्यै ... | १००० | प. | |
| निरचायि यदा ... | १२८८ | पक्षिभिर्वितृदैर् ... | ३६७ |
| निरवर्त्यन्न ... | ६११ | पङ्कबाल० ... | ७९३ |
| निराकरिष्णवो ... | ४३७ | पञ्च पञ्चनखा० ... | ४२२ |
| निराकरिष्णुर् ... | ९२८ | पततिकोष्ठ० ... | २६३ |
| निराकरिष्णू ... | १८४ | पतिवध० ... | ८८१ |
| निराकृत्य यथा ... | १३८१ | पपात राक्षसो० ... | ११४९ |
| निरासू राक्षसाः ... | १०९१ | पयोघटोद्गीरपि ... | १००४ |
| निर्माणदक्षस्य ... | ६ | पयोघरांश्च ... | ९११ |
| निर्यत्स्फुलिङ्गाकुल ... | ९४९ | परस्त्रीभोग० ... | ७९५ |
| निर्लङ्घो विमदः ... | २७० | परिखेदित० ... | ८३८ |
| निर्वणं कृतम् ... | ७६७ | परिघेणावधिष्टाय ... | १२६२ |
| निलिल्ये मूर्ध्नि ... | ११४४ | परितः पर्यवाद्यायुः ... | १३९८ |
| निवृत्ते भरते ... | १३९ | परिपर्युदधे० ... | २५२ |
| निशातुषारैर् ... | ३१ | परिभावम् ... | ४८८ |
| निष्कोषितव्यान् ... | ७०३ | परिभावीणि ... | ३६५ |
| निष्क्रम्य शिक्षया ... | ५०५ | परिशेषं न ... | ६३३ |
| निष्ठां गते ... | १३ | परीक्षितुमुपा ... | ५६५ |
| निहतश्च ... | ५०२ | परेद्यव्यय ... | १५१ |
| निहन्ता वैर० ... | २६१ | पर्यशाप्सीत् ... | १७१ |

| श्लोकाः | श्लोकाङ्काः | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः |
|----------------------------|-------------|--------------------------------|-------------|
| परितोऽनु | ७१२ | प्रतन्व्यः कोमलाः | १५९५ |
| पश्चिमं करवामैतत् | १५३४ | प्रतीय सा पूर | १०१ |
| पश्यामि रामात् | ९८२ | प्रतुष्टुः कर्म | ५६ |
| पस्पन्दे तस्य | ११५१ | प्रतुष्टुषुः पुनर् | ७४२ |
| पापकृत् सुकृताम् | ४१८ | प्रतोदा जगल्लः | ११६७ |
| पारं जिगमिषन् | ७१६ | प्रत्यूचे मारुतिः | ३९० |
| पिप्रायाद्रि० | ४९८ | प्रत्यूचे राक्षसेन्द्रः | २०६ |
| पिशाचमुख० | २८६ | प्रत्यूचे वालिनम् | ४२५ |
| पिक्षिताशिनाम् | ८१८ | प्रददृशुरु० | ८६५ |
| पीडाकरममित्राणाम् | १३६१ | प्रबाधमानस्य | ९३३ |
| पीतौष्ठरागाणि | ९०५ | प्रबोधकालात् | ९२४ |
| पीने भटस्यो० | ८९२ | प्रभातवाताहति | ३३ |
| पुंसा भक्ष्येण | ८०० | प्रसादवांस्त्वम् | ९९१ |
| पुण्यो महाब्रह्म० | ४ | प्रमेदिताः | ६९० |
| पुत्रीयता तेन | १० | प्रययाविन्द्रजित् | १०८४ |
| पुरःप्रवेशम् | ३६६ | प्रयाणमात्रेण | ९६५ |
| पुरुहूतद्विपो | ७४० | प्रयातस्तव यम्यत्वम् | ३४० |
| पुरो रामस्य | १४३ | प्रयास्यतः पुष्य० | २५ |
| पूतं क्षीतैर् | ५३९ | प्रलापिनो० | ४४६ |
| पूर्वस्मादन्य० | ६४७ | प्रलुठितभवनौ | २९१ |
| पृथङ्मनस्यतः | ६५१ | प्रवपाणि वपुर | १५६६ |
| पृथुगुरुमणि० | ८६२ | प्रवपाणि शिरो | ८७१ |
| पौरा निवर्तध्वम् | ९७ | प्रवहन्तं सदा० | ५९४ |
| प्रकुर्याम वयं देशे | १५०६ | प्रविधाय धृतिम् | १६२१ |
| प्रगृह्यपदवत् | ३५२ | प्रष्टव्यं पृच्छतः | ३३७ |
| प्रग्राहैरिव | ४७८ | प्रस्कन्दिकाम् | ५०८ |
| प्रचपलमगुरुम् | ८५८ | प्रस्थास्यमानौ | ९४ |
| प्रजागरांचकार | २९३ | प्रहस्तमर्थ्यांचक्रे | ११५६ |
| प्रजागराताम्र० | ९०६ | प्रहस्तस्य पुरो० | ११७० |
| प्रणमन्तं ततो | १५८३ | प्रहीणजीवितम् | ७७७ |
| प्रणमन् ब्रह्मणा | १५८० | प्राकारमात्रावरणः | ९६९ |
| प्रणश्यन्नपि | ८०७ | प्राधानिषत | ७७५ |
| प्रणिपत्य ततो | १०२६ | प्राड्मुहूर्तात् | १३३७ |
| प्रणिशाम्य | ७७३ | प्राचीं तावद्भिः | ४८६ |
| प्रण्यगादीत् | ७७२ | प्राचुचूर्णच्च | १२१७ |

| श्लोकाः | श्लोकाङ्काः | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः |
|-----------------------------|-------------|--------------------------|-------------|
| प्राच्यमाजिहिषाम् ... | १०८३ | बद्धो वासर० ... | १०९० |
| प्राज्ञावाक्यान्यवा० ... | ११९५ | बन्धूनशङ्किष्ठ ... | १०८ |
| प्राज्ञांस्तेजस्विनः ... | १४६४ | बबाधे च बलम् ... | १११३ |
| प्राणयन्सम् ... | ७७४ | बभूव याऽधि० ... | ५२९ |
| प्राणा दध्वंसिरे ... | ११२३ | बभौ मरुत्वान् ... | ८२९ |
| प्राणिषुर्निहताः ... | १२८९ | बलान्यभि० ... | ७४३ |
| प्रातस्तरां ... | ९१५ | बलिनावसुम् ... | ३८३ |
| प्रादमयन्त ... | ६०५ | बलिर्वबन्धे ... | ६६ |
| प्रादिदृक्षत ... | ५७६ | बहुधवलवारि ... | १०४१ |
| प्रादुःषन्ति ... | ७५४ | बहुधा भिन्न० ... | ७६६ |
| प्रादुन्वज्जातुभिः ... | १३६० | विभ्रत्यन्नाणि ... | १४८२ |
| प्राप्तचारित्र्य० ... | १५५१ | विम्बागतैस्तीर० ... | ३० |
| प्राप्य चक्षूर्य० ... | १५७ | बुद्धिपूर्वं ध्रुवम् ... | ४२१ |
| प्रायुक्त राक्षसीर् ... | ६३८ | बुभुत्सवो द्रुतम् ... | ५३४ |
| प्रायोपासन० ... | ५७७ | बोद्धव्यं किमिव ... | ८८३ |
| प्रलोठन्त ... | १३६४ | बोभवीति न० ... | १४९९ |
| प्रावर्तिष्यन्त चेष्टाः ... | १५८२ | ब्रह्मर्षिभिर्नृनम् ... | ९८८ |
| प्रावर्धत रजो० ... | १४०६ | ब्रह्मादचाद्वधम् ... | १३७३ |
| प्राशीञ्च चातृपत् ... | १२१० | ब्रूहि दूर० ... | ७९६ |
| प्रास्थापयत्पूग० ... | ८६ | भ. | |
| प्रियंवदोऽपि० ... | ३९२ | | |
| प्रियंभावुकताम् ... | ४०६ | भजन्ति विपदस्तूर्णम् ... | १४६२ |
| प्रीतोऽहं भोज० ... | ६२५ | भयसंहृष्ट० ... | ६९५ |
| प्रीत्यापि दत्तेक्षण ... | ९४१ | भलैश्च विभिदुः ... | १०१९ |
| प्रीता वरेण शक्रस्य ... | १५८७ | भवत्यामुत्सुको० ... | ६५९ |
| प्रोदपादि नभस्तेन ... | १२८७ | भवन्तं कार्ते० ... | २१६ |
| प्रोर्णोति शोक० ... | १४८६ | भिन्ननौकः ... | २७१ |
| प्रौर्णावीच्छर० ... | १३०० | भुजांसवक्षःस्थल० ... | ९४७ |
| प्रौर्णवीतेजसा ... | १३०३ | भुजौ चकृतदुः ... | ३३६ |
| फ. | | भुवनभर० ... | ८६४ |
| | | भूर्ति तृणधि ... | ३२९ |
| फलभरमन्थर० ... | १०५९ | भूमिष्ठस्यासमम् ... | १४४३ |
| फलान्यादत्त ... | ५५२ | भूमौ शेते दश० ... | १४६० |
| फलादिनो निर्झर० ... | ९८० | भूयस्त्वं धिप्सुम् ... | ७०६ |
| ब. | | भृङ्गाली कोकिल० ... | ३६४ |
| | | भृतनिखिल० ... | ८६७ |
| बद्धो दुर्वल० ... | १६४ | | |

| श्लोकाः | श्लोकाङ्काः. | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः. |
|-----------------------------|--------------|-------------------------------|--------------|
| भेष्यते मुनिभिः | १३४४ | मा न सावीरू | ७२३ |
| भ्रमरकुलाकुलो० | १५८८ | मानुषानभि | १६० |
| भ्रमी कदम्ब० | ४३९ | मानुषी नाम | १३३२ |
| भ्रातरि न्यस्य | २६५ | मानेन तल्पेषु | ८८८ |
| भ्रूभङ्गमाधाय | १००७ | मां दुष्टां ज्वलित० | १५६७ |
| भ्रेजिरे क्षत० | ११३६ | मापराधोदियम् | १३६७ |
| भ्रेमुः शिलो० | ४८९ | सामुपास्त | २०७ |
| भ्रेमुर्ववल्गुः... .. | १०४६ | मायानामीश्वराः | ६८५ |
| म. | | मायाभिः सुचिरम् | ७११ |
| मण्डलान्याहताम् | १४३० | मायाविभिस्त्रास० | ९२९ |
| मत्तेनामारि... .. | १२६६ | मारयिष्यामि | १३२६ |
| मत्वा सहिष्णून् | ९६३ | मार्गं गतो गोत्र० | १००२ |
| मत्पराक्रम० | २६९ | मावमंस्थाः | ६२३ |
| मधुकरविरुतै | ८५६ | माघोन्विष्ट रघु० | १२८२ |
| मधुसाङ्गत० | ७५९ | मा स्म तिष्ठत | १३७२ |
| मध्वपाययत्० | ५८३ | मा स्म द्राक्षीरू | ३०८ |
| मन्तृयिष्यति | १३३५ | मा स्म भूर्माहिणी | २७६ |
| मन्त्रे जातु वदन्ति | १४७४ | मितमवदत् | ८२७ |
| मन्दायमान० | ६०७ | मित्रघ्नस्य प्रचुक्षोद | ११०१ |
| मन्त्रियोगात् | ७९८ | मिथ्या मास्म | १३८२ |
| मन्युं वध्या भट० | १५३० | मिथ्यैव श्रीः | २५४ |
| मन्युं शेकुर्न ते | १११७ | मिमेह रक्तम् | ११६८ |
| मन्युर्मन्ये | ३२१ | मुञ्चेताकाश० | १५०९ |
| मन्ये किञ्जमहम् | ४२४ | मुदा संयुहि... .. | १५४६ |
| मम रावण० | १७४ | मुषित्वा धनदम् | ५७१ |
| मया त्वमाप्त्वाः | २१ | मुष्णन्तमिव | ७६५ |
| मरिष्यामि भ्रिजेष्वे | १३१७ | मूर्खास्त्वामव | ११९६ |
| महाकुलीन० | २६० | मूर्धजान् स्म | १४९६ |
| महीयमाना... .. | ६५ | मूर्ध्ना दिवमिवा० | १२०३ |
| मांसं हतानामिव | १००३ | मृगयुमिव | १८२ |
| मांसविक्रयिणः | ४२० | मृगाः प्रदक्षिणम् | १०८२ |
| मांसान्यौष्टा० | १९७ | मृदङ्गा धीरम् | १०७२ |
| मांसेनास्याश्वताम् | १२११ | मृदुभिरपि | ८७३ |
| मांसोपभोग० | ६८९ | मृषासि त्वम् | ४१७ |
| मातामहा०... .. | ८८ | मृषोद्यम् | २४३ |

| श्लोकाः | श्लोकाङ्काः | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः |
|----------------------------------|-------------|----------------------------|-------------|
| मेघङ्करम् | ३९५ | यां कारिं राज० | ५०९ |
| मेघनादः | ७४८ | यात यूयम्... .. | ४७० |
| मेघाः सविद्युतो | १४२० | यानैः समचरन्त | ५७४ |
| मोज्जिग्रहः सुनीतानि | १२०१ | यायास्त्वमिति | २४२ |
| मोदिष्ये कस्य | १३२८ | यावज्जीवम् | १५७३ |
| म्रियमाणः | ४२९ | यावच्च संत्रासित०... .. | ९३५ |
| म्रियामहे | ५२४ | युद्धाय राज्ञा | ९५३ |
| म्रियेयोर्ध्वं मुहूर्तात् | १५०५ | युद्धोन्मत्तं च | १२५६ |
| य. | | युयुजुः स्यन्दनान् | ११५८ |
| यः पयो दोमिध | ६२४ | युवजानिर् | १९६ |
| यक्षेन्द्रशक्तिम् | १२२१ | युष्मानचेतन् | ८४५ |
| यच्च यत्र भवांस्ति० | १५१८ | यूयं समैष्यथ | १४४ |
| यच्चापि यन्ना० | ९५४ | येन पूतक्रतोर् | १४७१ |
| यज्ञपात्राणि गात्रेषु | १५१३ | ये सूर्यमुप० | ५५५ |
| यत्कृतेऽरीन् | १३६९ | यैरघानि खरो० | १२४७ |
| यत्नं प्रोर्णवितुम् | ५२७ | योगक्षेमकरम् | २२३ |
| यत्र यच्चामरिष्यत् | १५७६ | योद्धारोऽविभक्तः | १३९९ |
| यत्स्वधर्मम्... .. | ८०४ | योद्धुं सोऽप्यरुपत् | १२३३ |
| यथास्त्रं संशिरन्ते | ५७३ | योऽपचक्रे | ५६२ |
| यथेष्टं चर वैदेहि | १५५५ | योषिद्वन्दारिका | २०७ |
| यदताप्सार्च्छनैर् | ६७५ | र. | |
| यदा न फेलुः | ११८१ | रक्तपङ्के गजाः | १०९६ |
| यदा विगृह्णन् | ९६० | रक्तमश्रुयोतिषुः | १२३२ |
| यद्रेहेनर्दिनम् | २२४ | रक्तं प्रचुक्षुतुः | ११४७ |
| यद्यकल्पस्यत् | ७१७ | रक्तेनाविक्लिदत् | १२२९ |
| यद्यहं नाथ... .. | १९१ | रक्षांसि वेदिम् | १२ |
| यमं युनजिम | ३२८ | रक्षणं करोषि | ५०० |
| यमलोकमिध | १४१५ | रघुतनयम् | ८४० |
| यमायाकम्पनम् | ११५४ | रणपण्डितो० | ८१२ |
| यमासदृश्वरी | २१७ | रणे चिक्रीड... .. | ११४८ |
| ययाथ त्वम् | ७२० | रथेनाविव्यधत् | १२६७ |
| ययुर्विन्ध्यम् | ४८७ | रविस्तप्यति | १३१० |
| यशस्कर० | २८१ | रसान् संहर | १५६२ |
| यस्यां वासयते | ६०६ | राक्षसस्य न... .. | १२३९ |
| याः सुहृत्सु | १३२९ | राक्षसानां मयि | ६६३ |

| श्लोकाः | श्लोकाङ्काः | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः |
|----------------------------|-------------|------------------------------|-------------|
| राक्षसान्बटु० | २६८ | ल. | |
| राक्षसेन्द्रस्ततो० | ११८२ | लक्षे द्वे च पदातीनाम् ... | १४१४ |
| राक्षसेन्द्रस्य | ६७१ | लक्ष्मणं सा | १६८ |
| राक्षसोऽतर्जयत् | १४४९ | लक्ष्मणाचक्ष्व | ३११ |
| राक्षस्यः प्रारुदन् | १४१७ | लक्ष्मीः पुंयोगम् ✓ | २०० |
| राघवं पर्ण० | १६२ | लङ्कां नम्रा | ५२८ |
| राघवस्य ततः | ४६२ | लङ्कालये तुमुल० | १०५० |
| राघवस्य मतेनाथ | १५६५ | लज्जानता | १५५० |
| राघवस्याभृशायन्त | १४३९ | लतानुपातम् | ३८ |
| राघवस्यामुषः | ११९७ | लब्धां ततो० | ७५७ |
| राघवाभ्यां शिवम् | ६७२ | लभ्यां कथं नु | ३३८ |
| राघवो न दयां चक्रे | १११० | ललुः खज्जान् | ११६० |
| राजितं गारुडै | १४५७ | लवणजलबन्ध० | १०६२ |
| राममुचैर् | ४१६ | लाङ्गुलमुद्धतम् | ६८० |
| रामसंशुषितम् | २३८ | लाङ्गुलैर्लोढयां० | १०९४ |
| रामस्य दयमानः | ६६१ | लेढि भेषजवत् | १४६५ |
| रामस्य शयितम् | ६६७ | लोकानक्षिषिषीः | ७२७ |
| रामादधीत० | ६१४ | लोभाद्भयाद्वा | ९७९ |
| रामोऽपि दारा० | ९७१ | लोलं कूलाभिगमे | १०४८ |
| रामोऽपि हत० | २९६ | लोहबन्धैर्वबन्धे नु | ११२४ |
| रामोऽवोचत् | ३८७ | व. | |
| रावणः शुश्रुवान् | १०९० | वक्षः स्तनाभ्याम् | ८९५ |
| रावणबलम् | १०६८ | वचनं रक्षसाम् | ६२७ |
| रावणस्य नमन्ति | १४९७ | वज्रमुष्टेर्विशिश्लेष | ११०२ |
| रावणस्येह | ६६२ | वज्राभिघातैर् | ९८९ |
| रावणाङ्कपरिश्लिष्टा | १५५२ | वञ्चित्वापि | ५४० |
| रावणाय नमस् | ६४० | वणिकृ प्रग्राह० | ४८३ |
| रिणत्तिम जलधेः | ३२७ | वधेन संख्ये | ८३ |
| रुचिरोन्नत० | ८४२ | वनतापसके | २२६ |
| रुदतोऽशिश्रियत् | ३१० | वनस्पतीनां सरसाम् | २८ |
| रुरुजुर्भ्रैजिरे | ११४६ | वनानि तोयानि | ३२ |
| रोचमानः | ६१५ | वनान्तप्रेङ्गणः | ७७९ |
| रोदिति स्नेह | ७२८ | वनेषु वासतेयेषु | १४६ |
| रोदिम्यनाथम् | १४८८ | वपुश्चान्दनिकम् | १६३ |
| रोषभीम० | ७८२ | वयमद्यैव | ४६३ |

| श्लोकाः | श्लोकाङ्काः | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः |
|------------------------|-------------|----------------------|-------------|
| वरवारणं सलिलं ... | १०२५ | विद्युत्प्रणाशम् ... | ९६ |
| वरिषीष्ट ... | ६९८ | विद्युन्नाशम् ... | ४६० |
| वरेण तु मुनेर् ... | ४०१ | विद्रुममणिं ... | ८६६ |
| वर्तिष्यमाणम् ... | ६१० | विधृतनिशितं ... | ९३० |
| वर्धते ते ... | ३५९ | विनङ्क्ष्यति ... | १३३० |
| वर्धिषीष्ठाः ... | १५२६ | विनेष्ये क्रोधम् ... | ५६४ |
| वल्गूयन्तीम् ... | २५६ | विपाकोऽयम् ... | १४६१ |
| वसानस्तन्त्रकं ... | १४८ | विप्रकृष्टम् ... | ६५३ |
| वसानां वल्कले ... | ३९१ | विभिन्ना जुष्टुः ... | ११०८ |
| वसुन्धरायाम् ... | ३९९ | विभीषणस्ततो ... | १२८१ |
| वसूनि तोयम् ... | ३ | विभीषणोक्तम् ... | ९८६ |
| वसूनि देशांश्च ... | ९० | विमलमहामणिं ... | १०५५ |
| वस्त्राक्षपानं ... | १२६ | वियति व्यत्यं ... | ५४५ |
| वस्त्रैरनत्युत्बण ... | ९१४ | वियत्यानध्रुतः ... | ११७८ |
| वाचंयमान् ... | १२३ | वियोगदुःखां ... | ४१ |
| वाचंयमो ... | ३९३ | विराधताडकां ... | ७८९ |
| वाताहतिं ... | ३७५ | विराधं तपसाम् ... | ८०६ |
| वाद्यांचक्रिरे ... | १०७१ | विरुग्णसंकीर्णं ... | १००६ |
| वानरः कुलं ... | ७३२ | विरुग्णोदग्रं ... | २०८ |
| वानरं प्रोर्णं ... | ७०९ | विरूपाक्षस्ततो ... | १४२४ |
| वानरा मुष्टिभिर् ... | १०९३ | विरूपाक्षो जहे ... | ११०३ |
| वानरेषु कपिः ... | ६५६ | विछलितपुष्पं ... | ६७३ |
| वायव्यास्त्रेण तम् ... | १२४८ | विलोक्य द्योतनम् ... | ४४९ |
| वालिनं पतितम् ... | ४१४ | विलोक्य रामेण ... | १०२ |
| वासयेत सुं ... | १५१२ | विलोक्य सलिलं ... | ५४२ |
| विकत्थी याचते ... | ४४५ | विलोचनाम्बुं ... | ७६० |
| विकुर्वे नगरे ... | ५६३ | विलोलतां चक्षुषि ... | ९२१ |
| विगाढारम् ... | ७०२ | विवृत्तपार्श्वम् ... | ४३ |
| विग्रहस्तव ... | १९० | विशङ्कटो वक्षसि ... | ७७ |
| विचित्रमुच्चैः ... | ४४ | विशिश्वासयिषाम् ... | १०८० |
| विचुकुशुर्भूमिं ... | १०४ | विश्वासप्रदं ... | ३८० |
| विटपिमृगं ... | ८३९ | विषधरनिलये ... | ८५५ |
| विदाङ्कुर्वन्तु ... | २९५ | विषसादेन्द्रं ... | ७६४ |
| विदित्वा शक्तिम् ... | ५३२ | विषह्य राक्षसाः ... | ७४६ |
| विद्यामथैनम् ... | ४८ | विष्यन्दमानं ... | ७४७ |

| श्लोकाः | श्लोकाङ्काः | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः |
|----------------------------|-------------|------------------------------|-------------|
| विस्फुलङ्गिर् | ७४९ | शक्यान्यदोषाणि | ९७६ |
| वीनामुपसरम् | ४९४ | शङ्काधवित्रं | ५२१ |
| वीर्यं मा न ददर्श | ११९३ | शतसाहस्रम् | ५७९ |
| वृक्षाद्वृक्षम् | ६१२ | शत्रुघ्नान् युधि | ४०४ |
| वृत्तस्त्वं पात्रे० | १९३ | शत्रुभिर्निहते | १३१४ |
| वृद्धिक्षयस्थान | ९५७ | शत्रून् भीषयमाणम् | २४१ |
| वृत्तौ प्रकाशम् | ८९१ | शमं शमं नभस्वन्तः | १४८५ |
| वृद्धैरसां राज्य० | १३६ | शरणमिव | ८७९ |
| वृन्दिष्ठमाचीत् | ७२ | शरीरं लोहिताक्षस्य | १२९८ |
| वेदिवत्स० | ४७९ | शरैरताडयत् | १३८७ |
| वेदोऽङ्गवांस्तैर् | १६ | शर्मदं मारुतिम् | ३७९ |
| वेश्मान्तर्हणनम् | ७७६ | शशाङ्कनाथा० | ९०० |
| वैखानसेभ्यः | १२८ | शशिरहितमपि | ८६८ |
| व्यकुक्षद्वानरा० | १२२८ | शस्त्रैर्दिदेविषुम् | ७०५ |
| व्यजिष्ठक्षत्सुरान् | १३८५ | शस्त्रं तरुर्वीधरम् | ९८४ |
| व्यतिघ्नतीम् | ५४७ | शाम्यत्यृतुसमाहारः | १४७९ |
| व्यतिजिग्ये | ५४६ | शिञ्जानभ्रमर० | १६१७ |
| व्यनाशयंस्ततः | १४२२ | शितविशिख० | १८३ |
| व्यरमतप्रधनात् | ५९५ | शिला तरिष्यति | १००८ |
| व्यश्रुते स्म ततः | १४५९ | शिवाः कुष्णन्ति | १४७० |
| व्याख्यागम्यसिद्धम् | १६२४ | शीघ्रायमाणैः | ११९ |
| व्याप्तं गुहा० | ३८४ | शीर्षघातिनम् | ४०३ |
| व्यायच्छमानयोः | ४१० | शीर्षच्छेद्यम् | २२८ |
| व्योम प्राचिनुताम् | १४३१ | शुक्रोत्तरासङ्ग० | १३० |
| व्रज्यावती | ५०४ | शुश्राव रामः | १०८५ |
| व्रणकन्दर | ८३५ | शूलानि भ्रमयाम्० | १०७७ |
| व्रणवेदनया | ३३४ | शृण्वन्त्यः प्रति० | ६१९ |
| व्रणैरवमिषू० | ६८३ | शैलेन्द्रशृङ्गेभ्यः | ९२३ |
| व्रातीनव्याल० | १५० | शैले विश्रयिणम् | ४५४ |
| श. | | श्रीर्निष्कुप्यति | १४८० |
| शक्तिं संखजते | १४८१ | श्रुत्वा विस्फूर्जथु० | २३६ |
| शक्तिरित्यकुपत् | १२३६ | श्रोत्राक्षिनासा० | ११७ |
| शक्तैः सुहृद्भिः | ९४५ | श्लाघिष्ये केन | १३०८ |
| शक्त्यृष्टिपरिघ० | ६७७ | श्वःश्रेयसम् | १७६ |
| शक्नोति यो न | ९६४ | | |

| श्लोकाः | श्लोकाङ्काः | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः |
|--------------------------|-------------|---------------------------|-------------|
| षड्वर्गवश्यः ... | ९७० | सत्वमेजय० ... | ३८५ |
| संयुयूषुम् ... | ७०८ | सत्वानजस्रम् ... | ३३५ |
| संवर्गयांचकार ... | ११६२ | सदोद्गार० ... | ४७२ |
| संवाङ्मिः सकुसुम० ... | १५८९ | सद्रत्नमुक्ता० ... | ७ |
| संवित्तः सह ... | २२० | संदर्शितनेह० ... | ९६२ |
| संशृणुष्व ... | ५५८ | संत्रस्तानामपाहारि० ... | १२४५ |
| संसर्गां परि० ... | ४४२ | संत्रासयांचकार ... | २८७ |
| संसिस्सयिषमाणो ... | ७२६ | संदिदशैयिषुः ... | २४७ |
| संस्तावमिव ... | ४७३ | संदृश्य शरणम् ... | ३०० |
| स एव धारयेत् ... | १५०४ | संदुधुक्षे तयोः ... | ११७७ |
| स किङ्करैः कल्पितम् ... | ९४३ | संधानकारणम् ... | ११९९ |
| सख्यस्य तव ... | ३६२ | संधानमेवास्तु ... | ९८५ |
| स गिरि तरु० ... | ८३३ | संधुक्षितं मण्डलं ... | ९७२ |
| संकल्पं नाकरिष्यच्च ... | १५७१ | संधौ स्थितो वा ... | ९६१ |
| संकुप्यसि ... | ६१८ | सन्नत्स्याम्यथवा ... | १३३३ |
| संक्षुवानः ... | ५८२ | सपक्षोऽद्रिर्वा० ... | १२०५ |
| संगच्छ पौलि ... | २७४ | स पुण्यकीर्तिः ... | ५ |
| संगच्छ राम० ... | ७८६ | सप्तषष्टिं हवज्ञानाम् ... | १२७९ |
| संग्रामे ... | ७४५ | स प्रोषिवान् ... | १०९ |
| संघर्षयोगिणः ... | ७७० | स विभ्रेष प्रचुक्षोद ... | ११५५ |
| स च विह्वल० ... | ८५१ | समयं परिहरमाणो० ... | १०२३ |
| स चापि रुधिरैर्द ... | १२४४ | स भवान् भ्रातृ० ... | १५२१ |
| स जलाम्भोद० ... | ४६९ | स भस्मसाचकार ... | ११५३ |
| संचेरुः सहसा ... | ४९१ | समक्षुभ्रचुदन्वन्तः ... | १४५४ |
| संजानानान् ... | ५६९ | समक्षुण्वत शस्त्राणि ... | १४०१ |
| संजुषुक्षवः ... | ६८७ | समगत कपिसैन्यम् ... | १३०४ |
| संज्वारिणेव ... | ४४० | समगध्वम् ... | ५३५ |
| स ताञ्जाजीगणत् ... | ११८६ | समतां शशि० ... | ८४९ |
| सतामरुष्करम् ... | २८३ | समनत्सीत्ततः ... | १२९२ |
| सतामबिभ्रमत् ... | १२३४ | समपत्स्यत राजेन्द्र ... | १५७४ |
| स तामूचे ... | ३५४ | स महाफणि० ... | १०५६ |
| सत्त्वं समदुधुक्षच्च ... | १२१५ | समधत्तासुरम् ... | ३४३२ |
| स त्वं हनिष्यन् ... | ७२२ | समाविष्टम् ... | ३७४ |
| | | समाश्वसिमी केनाहम् ... | १४६८ |
| | | समिद्धशरणा ... | ८१७ |

| श्लोकाः | श्लोकाङ्काः | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः |
|------------------------|-------------|-------------------------|-------------|
| समीरयांचकाराथ ... | ११७९ | सहायवन्तः ... | १९९ |
| समीहे मर्तुम् ... | ११३१ | संराविणम् ... | ४७७ |
| समुपचित० ... | ८६३ | सामर्थ्यं चापि ... | १२१२ |
| समुत्क्षिप्य ततः ... | १५६८ | सामर्थ्यसंपादित० ... | ८४४ |
| समुत्तरन्तौ ... | ३५० | सामोन्मुखेन० ... | ८९८ |
| समुत्पेतुः कशा० ... | १०७८ | सान्नेव लोके ... | ९१६ |
| समुद्रोपलका ... | २७२ | सायन्तनीम् ... | २४८ |
| समुपेत्य ततः ... | १५३१ | सारथिं चाङ्गनात् ... | १३८८ |
| समूलकाषम् ... | १३१ | सारोऽसाविन्द्रिया० ... | २०३ |
| संपत्य तत्सनीडे ... | २१४ | सा स्तम्बघ्न० ... | ४९७ |
| संपस्पर्शाऽथ ... | ११३७ | सितारविन्द० ... | ४५ |
| संपातिना प्रजङ्घः ... | १०९९ | सीतां सौमित्रिणा ... | २९८ |
| संप्राप्य तीरम् ... | १२१ | सीतां जिघांसू ... | ३१९ |
| संप्राप्य वानरान् ... | ५१९ | सीतान्तिके ... | ६०९ |
| संप्राप्य राक्षस० ... | १८८ | सीतां दिदृक्षुः ... | ५८५ |
| संबभूवुः कबन्धानि ... | १०९५ | सीतारक्षो० ... | ४७६ |
| संमृष्टसिक्ता० ... | ९१९ | सुकृतं प्रिय० ... | २५१ |
| सरसबहुपल्लव० ... | १०५१ | सुखं स्वप्नन्ति ... | १३३६ |
| सरमां सरसाम् ... | ८१४ | सुखजातः ... | २२१ |
| सराधवैः किं बत ... | ९५० | सुखावगाहानि ... | ९१८ |
| स राजसूय० ... | ३४८ | सुग्रीवान्तिकम् ... | ४६५ |
| सर्वकषयशः ... | ३९४ | सुग्रीवो मुमुदे ... | ११०६ |
| सर्वैतश्चाभयम् ... | १४१८ | सुग्रीवोऽस्याभ्रशत् ... | १२४० |
| सर्वत्र दयिता० ... | ३६६ | सुपाद द्विरद० ... | १५५ |
| सर्वनारीगुणैः ... | ७५७ | सुतो नभस्तः ... | १०६ |
| सर्वस्य जायते ... | १४६६ | सुप्रतिष्ठात० ... | ७५६ |
| सर्वशमच्छिदत् ... | १५४९ | सुप्रातमासादित ... | ७६ |
| स शत्रुलावौ ... | ३७८ | सुरापाण० ... | ७६९ |
| स शुश्रुवान् ... | २० | सुरापैरिव ... | ३८१ |
| ससैन्यश्छादयन् ... | ७३१ | सुषाम्नीं सर्वं ... | ७५८ |
| सस्यन्दे शोणितम् ... | ११६६ | सुष्ठुपुस्ते ... | ७४१ |
| सस्फुरस्योदकध्वञ्च ... | १४४० | सुहृदौ राम० ... | ७८७ |
| सस्रंस शर० ... | ११४० | सूतोऽऽपि गङ्गा० ... | १०० |
| सहभृत्यः सुरा० ... | १३४३ | सुमरोऽभङ्गुर० ... | ४५६ |
| सहसा ते तरु० ... | १०४३ | | |

| श्लोकाः | श्लोकाङ्काः. | श्लोकाः | श्लोकाङ्काः. |
|---------------------------------|--------------|-----------------------------|--------------|
| सेतुं महैन्द्रम् | १६१५ | खं कर्म कारयन्नास्ते | ५९० |
| सेवितासे ष्वङ्ग० | १५९३ | खर्गे विद्यस्व | १५६३ |
| सेहे कपी रथा० | ११७६ | खर्मानुर्भास्करम् | १४७२ |
| सोऽध्यष्टीयत रामेण | १४४४ | खां जिज्ञापयिषू० | ७१० |
| सोऽध्यैष्ट वेदान् | २ | खामिनो निष्कयम् | ७३४ |
| सोऽपृच्छत् | २९९ | खेनुस्तिविषुः | ११३८ |
| सौमित्रिः सर्पवत् | १२७१ | ह. | |
| सौमित्रिराकुलः | १३६५ | हतं रक्षांसि | १२५२ |
| सौमित्रे मा | १५८ | हतबन्धुर्जगाम | १८७ |
| सौमित्रेरिति | ८८४ | हतराक्षस० | ७९२ |
| सौर्याग्नेये | १२७३ | हता जनस्थान० | ९३६ |
| स्त्रीभूषणम् | ४२ | हते तस्मिन् | ७१८ |
| स्थानं नः पूर्वजानाम् | १६१८ | हत्वा रक्षांसि | ६९६ |
| स्थायं स्थायम् | २३४ | हन्तुं क्रोधवशात् | २८९ |
| स्थितमिव परि० | ८५४ | हया जिहेषिरे | १०७३ |
| ज्ञानभ्यविचत | ३१४ | हरहासरुद्ध० | १०३१ |
| ज्ञानीयैः ज्ञापयेत | १५११ | हरामि राम० | २३० |
| ज्ञाह्यनुलिम्प | १५४१ | हरिरविलोल० | १०३८ |
| स्फुट्यालुम् | ४५५ | हरेः प्रगमनम् | ७८० |
| स्फटिकमणिगृहैः | ८५९ | हविर्जक्षिति | १४७७ |
| स्फुटपरुषम् | ८१० | हित्वाशितज्ञवीनानि | १४९ |
| स्मरातुरे चेतसि | ९१२ | हिरण्मयी शाल० | ७४ |
| स्नेष्यन्ते मुनयो | १३१८ | ही चित्रं लक्ष्मणेन | ११०७ |
| स्यन्त्वा स्यन्त्वा दिवः | १६०१ | हतरत्नश्चत० | २११ |
| सस्ताङ्गचेष्टो० | ८९३ | हृदयङ्गम | २५० |
| सस्ताङ्गयष्टिः | ८९६ | हृदयोदङ्क० | ५१७ |
| स्वपोषमपुषत् | ३१७ | | |

समाप्तेयं श्लोकानुक्रमणिका ।

देवं नन्दनन्दनं वंदे । ओं नमः सिद्धम् ॥

अथ

श्रीभट्टि-काव्यं

जयमङ्गलया समेतम्—

प्रथमः सर्गः—

प्रणिपत्य सकलवेदिनमतिदुस्तरभट्टिकाव्यसलिलनिधिः ॥

जयमङ्गलेति नास्मा नौकेव विरच्यते टीका ॥ १ ॥

लक्ष्यं लक्षणं चोभयमेकत्र विदुषः प्रदर्शयितुं श्रीस्वामिसूनुः कविर्भट्टिनामा
रामकथाश्रयमहाकाव्यं चकार । तथाह्यस्योपनिबन्धनं कविना द्विधा कृतम् ।
एकं लक्षणसूचकैः प्रकीर्णाधिकार-प्रसन्न-तिङन्तकाण्डैश्चतुर्भिः । द्वितीयं लक्ष्य-
सूचकैः रामसंभवादिभिर्द्वाविंशत्या सर्गैः । तत्र लक्षणं द्विविधम् । शब्दलक्षणं
काव्यलक्षणं च । तत्र प्रथमस्य प्रकीर्णाधिकारतिङन्तकाण्डानि । द्वितीयस्य
प्रसन्नकाण्डम् । यत्रोच्चावचनं बहूनां लक्षणानां प्रकरणं तत्प्रकीर्णकाण्डम् ।
तदेवात्र प्रथममुक्तं तस्य व्यापित्वात् 'उत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्' इति प्रदर्शनार्थम् ।
अत्र यद्यप्यादौ कविना देवतानमस्कारो न कृतस्तथापीष्टदेवतासंकीर्तनमपि
विघ्नोपशमनहेतुर्भवतीति मन्यमान आह—

१—अभूत् नृपो विबुध-सखः परं-तपः

श्रुताऽन्वितो दश-रथ इत्युदाहृतः, ॥

गुणैर् वरं भुवन-हितर्च-छलेन यं

सना-तनः पितरमुपागमत् स्वयम्, ॥

१—'अभून्नृपो दशरथ इत्युदाहृतः श्रुतान्वितो विबुधसखः परन्तपः ॥' इति
पाठव्यत्यासोऽपि कश्चित् । २—'७७७ अथ मित्रं सखा सुहृत् ॥' इति नामलि-
ङ्गानुशासनेऽमरसिंहः । ३—दशसु दिक्षु रथो रथगतिर्यस्येति यथार्थनामेति भावः ।
४—'१४६ छे च । ६।१।७३ हस्वस्य छे परे तुगागमः स्यात्संहितायाम् । यथा-सदा-
शिव-छात्र-सदाशिव-छात्रः ॥' इति सिद्धान्तकौमुद्यां भट्टदीक्षितः । ५—पथेऽस्मिन्वृत्तं
रुचिरा । तल्लक्षणम् 'चतुर् (४) ग्रहे (९) रिह रुचिरा जन्म-मृ-ज-गाः ॥' इति वृत्तरत्नाकरे
भट्टकेदारः ।

अभूदित्यादि—तस्य हीष्टदेवता सनातनो विष्णुः । स चादौ कीर्तितः । तत्प्रतिबन्धना चेयं कथेति प्रबन्धेनैवात्र संकीर्तनं रामायणवत् । तत्र विष्णोर्य-
स्मिन्काले जगत्कार्यवशादवतारः कृतस्तदेव प्रथमं दर्शयति । अभूदिति भूतसा-
मान्ये लुङ् । भूत इत्यर्थः । अन्यथा राज्ञश्चिरातीतत्वात्कवेः परोक्षत्वाच्च लिट्
स्यात् । ‘२२२३। गाति-स्था-१२।४।७७।’ इति सिचो लुङ् । ‘२२२४। भू-सुवो-
स्तिङि । ७।३।८८।’ इति गुणप्रतिषेधः ॥ ‘नयतेर्डिच्च’ इति नयतेरौणादिक ऋन् ।
नरो मनुष्यास्तानृन्पातीति । ‘२९१५। आतोऽनुपसर्गे कः । ३।२।३।’ । ‘२३७२।
आतो लोपः-१६।४।६४।’ नृपो राजा । अत्यन्तधर्मविजयित्वाद्देवराजस्य मित्र-
मासीदित्याह—विबुधसख इति । विबुध्यन्त इति विबुधा देवास्तेषामपि प्रधा-
नत्वात् । तत्रेगुपधलक्षणः कः । सामान्यशब्दोऽपि देवेषु वर्तमानोऽप्यथवशा-
च्छके प्रयुक्तस्तस्य सखेति । ‘७८८। राजाऽहःसखिभ्यष्टच् । ५।४।९१।’ विबुध-
सखः । अनेन धर्मविजयित्वं दर्शयति विबुधसखत्वस्य धर्मकार्यत्वात् । सुरलो-
कविजयिनश्च ये राजानस्तेषां धर्मविजयी प्रधानम् । परे शत्रवस्त्रिविधाः—
उच्छेदनीयोपपीडनीयकर्षणीयाः । तत्र ये उपपीडनीयकर्षणीयास्तान्परांस्तापय-
तीति परंतपः । ‘२९५४। द्विषत्परयोस्तापेः । ३।२।३९।’ इति खच् । ‘२९५५।
खचि ह्रस्वः । ६।४।९४।’ । ‘२९४२। अरुद्विषदजन्तस्य- । ६।३।६७।’ इति मुम् ।
नृप इत्यनेन स्वमण्डले वृत्तिराख्याता । परंतप इति परमण्डले । श्रूयन्त इति
श्रुतानि वेदादीनि तैरन्वितः संबद्धः । ग्रन्थतोऽर्थतश्च गृहीतत्वात् । दशरथ
इत्यनेन नाम्नोदाहृतो लोके गीतः ॥ गुण्यन्तेऽभ्यस्यन्त इति गुणाः । ‘२०४० ।
गुण आमन्त्रणे ।’ इति चौरादिकोऽदन्तः । तस्मात् ‘३१८८। अकर्तैरि च- । ३।३।
१९।’ इत्यादिना घञ् । येषाम् ‘एरजण्यन्तानाम्’ इति दर्शनम् । येषां तस्मास्ति
तेषामेरच् । स्वरं प्रति विवादो न रूपं प्रति । गुणैरभिरामत्वादिभिर्वैरं श्रेष्ठं
यं नृपं पितरमुपागमदिति संबन्धः । त्रियत इति वरः । ‘३२३४। ग्रह-वृ-द-
। ३।३।५८।’ इत्यादिना कर्मण्यप् । केन हेतुनोपगतवांस्तं पितरं सनातन इत्यत
आह—भुवनहितच्छलेनेति । भवन्त्युत्पद्यन्त इति भुवनानि । भूर्भुवःस्वरिति
त्रयो लोकाः । ‘रजः क्युन्’ इत्यनुवर्तमाने ‘भू-सू-धू-सर्जिभ्यश्छन्दसि’
इत्यौणादिकः क्युन्बहुलवचनाज्ञापायामपि भवति । तेभ्यो हिता भुवनहिता
विष्णोर्देशावताराः । इह तु रामो द्रष्टव्यः । तच्छलेन व्याजेन भुवनहितच्छलेन ।
इदानीं रावणादि-कण्टकोद्धरणात् । तथा चोक्तम्—‘परित्राणाय साधूनां
विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥’ इति ।
सनेत्यव्ययं सदायं वर्तते । सना भवतीति । ‘१३९१। सायं-चिरम्- । ४।३।२३ ।’
इति व्युत्थुलौ तुद् च । सनातनो विष्णुरुपागमदुपजगाम । लृदिच्चादङ् ।
सत्स्वन्त्येषु राजसु गुणैर्वैरत्वाद्यं पितरं जनकमङ्गीकृतवान्सोऽभूदिति योज्यम् ।
स्वयमित्यात्मना न कर्मणान्येन वा प्रेरित इत्यर्थः ॥

✓ २-सोऽध्यैष्ट वेदांस्, त्रि-दशान्यैष्ट,

४ पितृनपारीत्, सममंस्त बन्धून्, ॥

व्यजेष्ट पैङ्गु-वर्गमंस्त नीतौ,

स-मूल-घातं न्यवधीदरींश् चँ. ॥

सोऽध्यैष्टेत्यादि—अत्रियस्य धर्मोऽध्ययनं यजनं दानम् । शस्त्राजीवो भूत-
रक्षणं चेत्युभयं नृप इत्यनेनोक्तम् । भूतरक्षणे शस्त्रमङ्गम् । स नृपो वेदानध्यै-
ष्टाधीतवानिति स्वाध्याय उक्तः । वेदयन्ति ज्ञापयन्ति धर्माधर्माविति वेदाः
सामादयः । '२८९६। नन्दि-ग्रहि-पचादि-१३।१।१३४।' इत्यच् । इङोऽधिपू-
र्वस्य '२४६०। विभाषा लुङ्-लङोः-१।२।१।५०' इति गाङ् । विभाषयेति गाङ्-
भावपक्षे रूपम् । अजादित्वादाद् । '२६९। आटश्च ।६।१।९०।' इति वृद्धिः ।
ङित्त्वादात्मनेपदम् । '२१२। आदेश प्रत्यययोः-१।८।३।५९।' इति षत्वं षुत्वं च ।
त्रिदशान्देवानयष्टाभिष्टोमादिभिः पूजितवान् । यजनमुक्तम् । यजेः '२१५८।
स्वरित-जितः-१।१।३।७२।' इति तङ् । अनिक्समीपत्वाद्दलः '२३००। लिङ्सि-
चौ-१।२।१।१।' इति कित्त्वं न भवति । '२२४। व्रश्च-अस्ज-८।२।३६।' इत्या-
दिना षत्वम् । '२२८१। झलो झलि ।८।२।२६।' इति सिचो लोपः ॥ पितृनपा-
रीदाप्यायितवान् । पितरमुद्दिश्य यजनम् '११६०। पू पालन-पूरणयोः।' इत्यस्मा-
त्पूरणार्थांल्लुङि रूपम् । '२२९७। सिचि वृद्धिः-१।७।२।१।' '२२६६। इट ईटि ।८।
२।२८।' इति सिचो लोपः । अथवा 'पितृनताप्सीत्' इति पाठः । '१२७१।
तृप ग्रीणने ।' इत्यस्माल्लुङि 'स्पृश-मृश-कृश-तृप-इपां च्लेः सिज्वक्तव्यः' इति
च्लेः सिचि '२४०२। अनुदात्तस्य च-१।६।१।५९।' इत्यादिना अमभावपक्षे रूपम् ।
पितृन्स्तर्पितवानित्यर्थः ॥ सममंस्त बन्धून्मातृपित्रादिज्ञातीन्संमतवान् । सुद्रा
दानभानादिभिः पूजितवानित्यर्थः । मन्यतेरनुदात्तत्वात्तङ् । इट्प्रतिषेधश्च ।
येषां सिच इकार उच्चारणार्थस्तेषाम् '२६९७। हनः सिच् ।१।२।१४।' इति कित्क-

१—'७। अमरा निर्जरा देवास त्रि-दशा विबुधाः सुराः ॥' इति ना० अ० 'तृतीया
यौवनाख्या दशा सदा येषां ते त्रि-दशाः । त्रिशब्दस्य तृतीयाधेता त्रिभागवत् । इति
व्याख्यासुधायां (रामाश्रयां) भानुदीक्षितः । २—'२९४। व्रश्च-अस्ज-सृज-मृज-यज-राज-
आज-छशं षः ।८।२।३६। व्रश्चादीनां सप्तानां छशान्तयोश्च षकारोऽन्तादेशः स्याज्जलि पदान्ते
च ।' इति वै० भ० । ३—काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-भत्सरेत्यन्तररीणां षड्वर्गमित्यनित्यसमासः ।
यथा—'४३ । तनुमुङ्गल्यन् मर्यः शिव-भागवतो यदि । अरि-षड्वर्ग-तस्य तस्य
भयं नास्ति कदाचन ॥' इति समास-कुसुमाऽऽवल्यामनन्त-शिष्यः । ४—पद्येऽसिन्वृत्त-
मुपजातिरापञ्चविंशतिपद्येभ्यः । तल्लक्षणम्—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ ज-गौ गः, उपेन्द्रवज्रा
ज-त-जास्ततो गौ, । अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयानुपजातयस्ताः (१४) ॥' इति
वृत्त० भट्टकेदारः । उपजातयश्चतुर्दशविधाः सन्ति ।

रणज्ञापकान्नलोपाभावः । येषां तु इकार इत्तेषामिदित्वाच्चकारलोपाभावः ॥
 आभ्यन्तरं शत्रुमजित्वा कथं परंतप इत्याह—व्यजेष्ट षड्गमिति । कामक्रोध-
 लोभमोहमदमास्वर्षाणां षण्णां वर्गः षड्गमः । तमभिभूतवान् । विपूर्वेत्य जयतेः
 '२६८५। नि-पराभ्यां जेः ॥३१३१९१' इति तद्ध ॥ अरस्त नीतौ सामादिषु
 संध्यादिषु च रतः । नीतिमानित्वर्थः ॥ समूलघातं न्यवधीत्समूलाग्निःशेषानरी-
 ष्वशत्रुमिहतवान् । उच्छेदनीया ये शत्रवस्तेष्विदं त्रिधानम् । समूलोपपदा-
 द्धन्तेः '३३५७। समूलाकृत-॥३१४३६॥' इत्यादिना णसुल् । '३५८। हो हन्तेः-
 ७११५४।' इति घत्वम् । वृद्धिः । '२५७४ । हनस्तः-॥७१३३२॥' इति तत्वम् ।
 '३३६७। कषादिषु यथा-॥३१४४६॥' इत्यादिना यथाविध्यनुप्रयोगः । अनुप्र-
 योगे '२४३४। लुङि च-॥२१३४३॥' इति वधादेशः । तस्याकारान्तत्वादुपदे-
 शेऽनेकाक्षवादिष्णिषेधो न भवति । अतो लोपे कृते तस्य स्थानिवद्भावात्
 '२२८४। अतो हलादेः-॥७१२१७॥' इति विभाषावृद्धिर्न भवति ॥

३-वसूनि तोयं घन-वद् व्यकारीत्,
 सहाऽऽसनं गोत्र-भिदाऽध्यवात्सीत्, ॥
 न त्र्यम्बेकादन्यमुपास्थिताऽसौ,
 यथांसि सर्वेषु-भृतां निरास्थत्, ॥

वसूनीत्यादि—वसूनि द्रव्याणि बन्धुव्यतिरिक्तेण बालादिभ्यो व्यकारीदृच-
 वान् । विक्षिप्तवानिति वा । किस्तेर्लुङि रूपम् । कः किमिवेत्यपेक्षायामाह—
 तोयं घनवदिति । तोयमुदकम् । घनो मेघः फलनिरपेक्षतया यथा विकिरति
 तद्वत् । एवं सम्यक्पालनादिन्द्रेण तुल्यत्वमाह—सहासनं गोत्रभिदाऽध्यवा-
 त्सीदिति । गोत्रभिदिन्द्रेण सहासनमध्यवात्सीदध्युषितवान् । अनेनात्यन्तधर्म-
 विजयित्वस्य फलं दर्शयति । '१०७४। वस निवासे ।' इत्यस्य रूपम् । 'वसिः
 संप्रसारणी' इति वचमादिडभावः । '२२२५। अस्ति-सिचः-॥७१३१९६॥' इति इदं

१—'१७६ । द्रव्यं वित्तं स्वाधतेयं रित्यमृक्यं घनं वसु । हिरण्यं द्रविणं बुध्नमर्थ-
 रेविभवा अपि ॥' इति मा० अ० । २—'१७७८ । तेन तुल्यं क्रिया चेद् वसिः
 (वत्) ॥५११११५॥' ब्राह्मणेन तुल्यं ब्राह्मणवदधीते । क्रिया चेदिति किम् । गुणतुल्ये
 माभूत् । पुत्रेण तुल्यः स्थूलः । इति वै० अ० । ३—'४९१। सुत्रामा गोत्रभिद्
 वज्री वासवो वृत्रहा वृषा । वास्तोष्पतिः सुरपतिर् बलरातिः शचीपतिः ॥' इति० मा०
 अ० । 'मां पृथ्वीं त्रायन्ते पालयन्ति ते गोत्राः षर्वतास्तान् भिनत्ति विदारयतीति गोत्र-
 भिद्(त्) ।' इति व्या० आ० । '१०३४। त्रैङ् पालने ।' ('१५३३। भिदिर
 विदारणे ।' इति धातुपाठे पाणिनिः । ४—'३५। हरः सरहो भर्गो त्र्यम्बकश्च
 त्रिपुरान्तकः । गङ्गाधरोऽम्बकश्चिपुः क्रतुर्ध्वसी वृषध्वजः ॥' इति मा० अ० । 'देवदीप्य
 तु लोचनम् । अम्बकं च' इति त्रिकाण्डशेषे पुरुषोत्तमः ।

‘२२६७। वद-व्रज-।७।२।३।’ इत्यादिना वृद्धिः । ‘२३४२। सः स्वार्धधातुके । ७।४।४९।’ इति तत्त्वम् । आसनमिति ‘५४४। उपान्वध्याङ्वसः । १।४।४८।’ इत्यधिकरणस्य कर्मसंज्ञा ॥ श्रीण्यम्बकान्यक्षीणि अत्येति ज्यम्बको महादेव-स्तस्मादन्यं नोपास्थित । न पूजितवानित्यर्थः । उपपूर्वात्तिष्ठतेः ‘देवपूजा-संग-तिकरण-मित्रकरण-पथिषु-’ इति देवपूजायां तङ् । ‘२३८९। स्था-ध्वोरिच्च । १।२।१७।’ इत्यादिनेत्त्वं कित्त्वं च । ‘२३६९। ह्रस्वादङ्गात् । ८।२।२७।’ इति सिवो लोपः ॥ इषुन्विभ्रतीति । ‘२९८०। अन्येभ्योऽपि इश्यन्ते । ३।२।७५।’ इति किप् । इषुभृतो धनुर्धराः सर्वेषां तेषां यशांसि निरास्थत् । निरस्त-वानित्यर्थः । एतेनास्यासाधारणीकृतास्त्वं दर्शितम् । ‘उपसर्गादस्यल्यूङ्गोर्वा वचनम्’ इति वचनाद्यदा उङ् नास्ति तदा तिष् । ‘२४३८। अस्यति-।३।१।५२।’ इत्यादिना च्लेरङ् । ‘२५२०। अस्यतेस्थुक् । ७।३।१७।’ ॥

४-पुण्यो महा-ब्रह्म-समूह-जुष्टः

संतर्पणो नाक-सैदां वरेण्यः ॥

जज्वाल लोक-स्थितये स राजा

यथाऽध्वरे वह्निरभिप्रणीतः ॥

पुण्य इत्यादि—पुनातीति पुण्यः । ‘पूजो यत् शुक् ह्रस्वश्च’ इत्यौणादिको यत् गुणागमश्च ह्रस्वश्च । अत्यन्तपुण्यकरणाद्राजापि पुण्य इत्युच्यते । तन्मयत्वा-द्राजा । अग्निरपि पुण्यः पावनत्वात्पुण्यः । यागादिः पुण्यस्तेन पुरुषः पूयते । महतां वेदविदां ब्रह्मणां ब्राह्मणानां समूहेन जुष्टः सेवितो राजाग्निश्च । ब्रह्मश-ब्दोऽत्र ब्राह्मणपर्यायः । नाके स्वर्गे सीदन्तीति ‘२९७५। सत्-सु-द्विष-।३।२। ६१।’ इत्यादिना किप् । नाकसदो देवास्तेषां । कर्मणि षष्ठी । संतर्पयति ग्रीणय-तीति संतर्पणः । संतर्पयतेः ‘२८४१। कृत्यल्युटो बहुलम् । ३।३।११३।’ इति कर्त्तरि ल्युट् । राजा यागादिना तर्पयति । अग्निरप्यग्निमुखत्वाद्देवानाम् । वरेण्यः श्रेष्ठो राजाग्निश्च । ‘वृद्ध एण्यः’ । जज्वाल प्रदीप्तवान् । लोकस्थितये माभूलोकस्य स्थित्यतिक्रम इत्येवमर्थम् । अग्निरपि लोकस्य स्थितये ज्वलति । यथोक्तम्— ‘अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः

१—‘१२२२ । वेदसु तत्त्वं तपो ब्रह्म, ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः ।’ इति ना० अ० । यथा—‘ब्रह्माणो ब्रह्मणो ब्रह्म ब्राह्मणा वेत्तुमर्हतः’ । एतत्-पवाऽर्थे-बाह्याऽर्थोऽपि न स्यात् कोशमन्तरा ॥ इति कोशाऽवतंसः । २—‘२९७५ । सत्-सु-द्विष-बुद्ध-बुद्ध-युज-विद-भिद-च्छिद-जि-नी-राजासुपसर्गेऽपि किप् (०) । ३।२।६१।’ इत्यर्थः किप् स्यादुपसर्गे सत्यसति च सुप्युपपदे । यथा-शु-सत् । उप-नि-षत् । अण्डस्यः । प्रसुरित्यादि ।’ इति त्रै० अ० । ३—‘२२८७। उपसर्गाद-समासेऽपि णोपदेशस्य । ८।४।१४।’ उपसर्गस्याग्नि-त्वात्परस्य णोपदेशस्य धातोर्नस्य णः स्वात्समासेऽसमासेऽपि । अणदति । प्रणिनदति ।’

६ भट्टिकाव्ये—प्रथमे प्रकीर्ण-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

प्रजाः ॥' इति । अभिप्रणीत इत्यभिप्रविशेषणम् । आभिमुख्येन प्रणीत इति प्रादिसमासः । '२२८७। उपसर्गादसमासे-१८।४।१४।' इत्यादिना णत्वम् । मन्त्रेणाभिमुखीकृत इत्यर्थः । यथाध्वरे यागेऽभिप्रणीतो वह्निर्ज्वलति तथा राजापीत्यर्थः ॥

यत्रस्थो राज्यं चकार तां नगरीं दर्शयन्नाह—

५-स पुण्य-कीर्तिः शत-मन्यु-कल्पो

महेन्द्र-लोक-प्रतिमां समृद्ध्या ॥

अध्यास्त सर्वतु-सुखामयोध्या-

मध्यासितां ब्रह्मभिरिन्द्र-बोधैः ॥

स पुण्येत्यादि—स्वामिगुणपूर्वका हि निवासस्य गुणा भवन्तीति प्रदर्शनार्थं पश्चात्तदभिधानम् । तथा चोक्तम्—'स तु यच्छीलस्तच्छीला अस्य प्रकृतयो भवन्ति ।' इति । स राजा पुण्यकीर्तिः पुण्याः पवित्राः कीर्तयो यस्य सः । शतमन्युकल्प इति प्रभावं दर्शयति । '२०२२। ईषदसमासौ-१५।३।६७।' इति कल्पप् । शतमन्युरिन्द्रः । महेन्द्रलोकप्रतिमामयोध्यामिति योज्यम् । प्रतिमीयते तुल्यत इति प्रतिमा । '३२८३। आतश्चोपसर्गे-१३।३।१०६।' इत्यङ् । महेन्द्रलोकेन प्रतिमा तुल्या । '६९२। वृतीया-१२।१।३०।' इति योगविभागात्समासः । अमरावतीमिवेत्यर्थः । कया । समृद्ध्या । सम्यगतिशयेनर्द्धिः समृद्धिः । '७६९१। कुगतिप्रा-१२।२।१८।' इति प्रादिसमासः । अध्यास्ताध्यासितवान् । भूतसामान्ये लङ् । अस्तेरनुदात्तेत्वात्तङ् । '५४२। अधि-शीङ्-१।१।४६।' इत्यादिनाधिकरणस्य कर्मसंज्ञा । सुखयतीति सुखा पचाद्यच् । सुखहेतुत्वाद्वा सुखा । सर्वेषु क्रतुषु सुखेति । '७१७। सप्तमी-१२।१।४०।' इति योगविभागात्समासः । अध्यासितामध्युषिताम् । ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैरिन्द्रबोधैः । सर्वशास्त्रपरिज्ञानात्पटुबुद्धिभिरित्यर्थः । इन्धेर्निष्ठायामनुनासिकलोपः ॥

६-निर्माण-दक्षस्य समीहितेषु

सीमैव पद्माऽऽसन-कौशलस्य ॥

ऊर्ध्व-स्फुरद्-रत्न-गर्भस्तिभिर् या

स्थिताऽवहस्येव पुरं मघोनैः ॥

१—'५४२। अधि-शीङ्-स्याऽऽसां कर्म ११।४।४६। अधिपूर्वाणामेषामाधारः कर्म स्यात् । यथा-अधिज्ञेते-अधितिष्ठति-अध्यासे वा वैकुण्ठं हरिः ।' इति० वै० अ० । २—'११८। किरणोत्स-मयूखाऽशुभमस्ति-वृणि-रश्मयः ॥' ३—'३३०। पूः स्त्री पुरी-नगद्यौ वा पत्तनं पुटमेद-नम् ।' ४—'४७। इन्द्रो मरुत्वान् मघवा मिडौजाः पाकशासनः ॥' इति सर्वत्र ना० अ० ।

निर्माणेत्यादि—पद्मासनो ब्रह्मा । पद्ममासनं यस्येति कृत्वा । तस्य कौशलं नैपुण्यमिति षष्ठीसमासः । तस्य ‘७०५। पूरण-गुण । २। २। ११।’ इत्यादिना न प्रतिषेधः । तत्र विशिष्टा एव गुणा रूपरसगन्धस्पर्शास्तद्विशेषाश्च शुक्लीलादयः कटुकाम्लादयः सौरभ्यादयः शीतोष्णादयश्च गृहीताः । तत्र रूपादिभिः समासो भवत्येव । ‘तत्स्थैश्च गुणैः षष्ठी समस्यते न तु तद्विशेषगुणैः ।’ इति वचनात् । अन्यैस्तु समासप्रतिषेधः । एवं च कृत्वा मुनित्रयवचनमर्थवद्भवति । तद्यथा ‘९१९। अधिकरणैतावत्त्वे च । २। १। १५।’ ‘१२९५। तद्विशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् । १। २। ५३।’ इति पाणिनेः, ‘युग-पद्देशपृथक्त्वदर्शनादिति रूपसामान्याद्वेति वचनप्रामाण्यादिति चेदलो-पप्रतिषेधः’ इति कात्यायनस्य, ‘नकारग्रहणसामर्थ्याद्धोपो न भवि-ष्यतीति किं पुनरत्रार्थसत्तत्त्वम्’ इति भाष्यकारस्येति । तस्य सीमेव मर्यादेवायोध्या । ततो न सृष्ट्वन्तरं शोभनमस्तीत्यर्थः । कीदृशस्य । निर्मा-णदक्षस्य । निर्मितिर्निर्माणं सृष्टिस्तत्र दक्षस्य पटोः । क विषयेषु । समीहि-तेषु । स्रष्टुमीप्सितेतिवत्यर्थः । ऊर्ध्वमुपरिष्ठात्स्फुरद्भगवत्स्तिमिः स्फुरन्तो ये रत्नानां गभस्तयो रश्मयस्तैर्हासभूतैर्मघोन इन्द्रस्य पुरममरावतीमवहस्येव स्थिता या तामध्यास्त । ‘मघवन् श्वन् उक्षन्’ इत्यौणादिकः । ‘३६२। श्वयुव-मघोनाम्-। ६। ४। १३३।’ इति संप्रसारणम् ॥

७—सद्-रत्न-मुक्ता-फल-वज्र-भाञ्जि

विचित्र-धातूनि स-काननानि ॥

स्त्रीभिर् युतान्यप्सरसामिवौघैर्

मेरोः शिरांसीव गृहाणि यस्याम् ॥

सद्भूत्यादि—सन्ति शोभनानि यानि रत्नादीनि तानि भजन्ते यानि गृहाणि तानि सद्भूतमुक्ताफलवज्रभाञ्जि । मुक्ताफलवज्रयो रत्नान्तर्भावेऽपि प्राधान्यख्यापनार्थं वचनम् । गोबलीवर्दन्यायाद्वा । रत्नशब्देन मरकतपद्मरागा-वैदूर्यादयो गृह्यन्ते । ‘सद्भूतादि—युञ्जि’ इति पाठान्तरम् । ‘३७६। युजेरसमा-से । ७। १। ७१।’ इति प्रतिषेधो न भवति । अनपुंसकविषयत्वात् । नपुंसके तु तल्लक्षणस्य नुमो विधानात् । विचित्रधातूनि विचित्रा नानाप्रकारा धातवो मनः-शिलादयो येषु गृहेषु तेषां विरचितविचित्रकर्मत्वात् । सकाननानि सोद्यानानि । स्त्रीभिर्युतान्यप्सरसामिवौघैस्तत्रत्याभिः स्त्रीभिरप्सरामिरिवेत्यर्थः । मेरोः शिरां-सीव शृङ्गाणीव एवंविधानि गृहाणि यस्यामयोध्यायां तामध्यास्त । गृह इति ‘२९०६। गोहे कः । ३। १। १४४।’ तत्र गृहशब्दो वेदमणि नपुंसकलिङ्गः । तत्स्था-यिषु पुलिङ्गो लिलं बहुवचनान्तश्च ॥

८-अन्तर्-निविष्टोज्ज्वल-रत्न-भासो

गवाक्ष-जालैरभिनिष्पतन्त्यः ॥

हिमाऽद्रि-टङ्कादिव भान्ति यस्यां

गङ्गाऽम्बु-पात-प्रतिमा गृहेभ्यः ॥

अन्तरित्यादि—अन्तर्गृहमध्ये निविष्टानि निहितान्युज्ज्वलरत्नानि यानि
तेषां भासो रश्मयो गृहेभ्यो गवाक्षजालैरभिनिष्पतन्त्यो निर्गच्छन्त्यो यस्यां
भान्ति तामध्यासेति योज्यम् । पर्वतस्योन्नतप्रदेशे टङ्क इत्युच्यते । तस्माद्विम-
वत्पर्वतटङ्कादिव गङ्गास्त्रुपातप्रतिमा गङ्गाजलप्रवाहतुल्याः स्वच्छत्वात् ॥

९-धर्म्यासु कामार्थ-यशस्-करीषु

मतासु लोकेऽधिगतासु काले ॥

विद्यासु विद्वानिव सोऽभिरेमे

पत्नीषु राजा तिसृषूत्तमासु ॥

धर्म्यास्वित्यादि—धर्मादनपेतासु । '१६४३। धर्म-पथ्यर्थ-१४।४।९२।'
इत्यादिना यत् । कामार्थयशांसि कर्तुं शीलं यासां तासु । '२९३४। कृजो हेतु-
१३।२।२०।' इत्यादिना ताच्छील्ये टः । '१६०। अतः कृ-कर्म-१०।३।४६।' इत्या-
दिना विसर्जनीयस्य सत्वम् । टित्वान्ङीप् । मतासु पूजितासु लोके तासां प्रती-
तत्वात् । अधिगतासु काले विवाहयोग्ये काले परिणीतासु । सोऽभिरेमे स
राजाभिरतवान् । पत्नीषु '४९०। पत्युर्नो यज्ञसंयोगे १४।१।३३।' इति नकारः ।
तिसृषु कौसल्याकैकेयीसुमित्रासु । उत्तमास्विति सन्नारीपुणैः श्रेष्ठासु । विद्यास्विति
विदन्त्याभिर्धर्माधर्माविति विद्याः । '३२७६। संज्ञायां समज-१३।३।९९।' इत्या-
दिना क्यप् । तिसृषु सामर्ग्यजुराख्यासु । धर्म्यास्वित्यादिकं तुल्यम् । विद्वानिव ।
यथाधिगतविद्य इत्यर्थः । '३१०५। विदेः शतुर्वसुः १७।१।३६।' दीर्घं हलङ्या-
दि-संयोगान्तलोपाः ॥

तस्य राज्ञः पत्नीभिस्ताभिः सह रममाणस्य सुता नैवासन् । ऋष्यशृङ्गनामा
मुनिः पुत्रीयं कर्तुं जानातीति पुरोधसो वसिष्ठदुपश्रुत्य राज्ञा वारविलासिनी-
भिरानायितो मुनिरित्येतत्कथयितुमाह—

१—'१६४४। धर्म-पथ्यर्थ-न्यायार्दनपेते १४।४।९२। धर्मादनपेतं धर्म्यम् । पथ्यम् ।
अर्थ्यम् । न्याय्यम् ।' इति वै० भ० ॥ २—'इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा तद् वाञ्छा लिप्सा
मनोरथः ॥ २९८। कामोऽभिलाषश्च तर्षश्च च-।' इति ना० अ० ॥ ३—अत्रोपमालङ्कारः
तल्लक्षणं कुवलयानन्दकारिकायाम् । 'उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुद्धमिति द्वयोः,
इत्सीव कृष्ण ते कीर्तिः स्वर्गद्वारम् (स्वर्गं गाम्) अवगाहते' ॥ ४—अत्रोपजातिच्छन्दः
तल्लक्षणं पूर्वं (३) कम् ।

१०-पुत्रीयता तेन वराऽङ्गनाभि-

रानाधि विद्वान् ऋतुषु क्रियावान् ॥

विपक्रिम-ज्ञान-गतिर् मनस्वी

मान्यो मुनिः स्वां पुरमृष्य-शृङ्गः ॥

पुत्रीयतेत्यादि—पुत्रीयतात्मनः पुत्रमिच्छता । इच्छायाम् '२६५७ सुप
आत्मनः क्यच् '१११८' इति क्यच् । '२६५८ क्यचि च । ७११३३' इतीत्वम् ।
तेन राज्ञा प्रयोजककर्त्रा वराङ्गनाभिर्वरस्त्रीभिः प्रयोज्यकर्त्रीभिरानाधि स्वां
पुरमिति योज्यम् । 'नी-वहोः' इत्यादेरपि 'पृ३५ अकथितं च । १११५१'
इति चकारेण संगृहीतत्वाच्चयतिर्द्विकर्मकः । तत्र प्रधानकर्मणि लुङ् । चिणि-
लोपौ '२३२९। चिणो लुङ्-१६११०४' इति तशब्दस्य लुक् । गुणकर्मणि तु
पुरमिति द्वितीया । '५४०। गति-बुद्धि-१११५२१' इत्यादिना प्रयोज्यकर्तरि
द्वितीया न भवति । 'नी-वहोः प्रतिषेधः' इति वचनात् । विद्वान्वेदार्थतत्त्ववित् ।
इवं च कृत्वा ऋतुषु क्रियावान्प्रशस्तक्रियः । प्रशंसायां मतुप् । विपक्रिमज्ञा-
नगतिरिति विपाकेन सिद्धं तम् । पचतेः मित्रः क्रेर्मप् । अतएव जन्मकृतमस्मिन्वर्त-
नीयं कर्म तस्योन्नतप्राप्त्याद्विनोपदेशाज्ज्ञानात्प्रवृत्तिर्बुद्धावस्य जातेत्यर्थः ।
मनस्वी प्रशस्तमनाः । प्रशंसायाम् '१९२८ अस्माया-मेधा-१५१२१२१'
इत्यादिना निनिः । मान्यो मानार्हः । '२८२२। अहं कृत्यचक्ष-१३३१६९'
इति ण्यत् । धर्मादिमननानुमितिः । 'मनेरुचोपधायाः' इति इन् । उपधाया
उकारः । ऋष्यस्य शृङ्गमृष्यशृङ्गं तच्छृङ्गमिव शृङ्गं यस्य स ऋष्यशृङ्गः ।
'सप्तम्युपमान-' इत्यादिनोत्तरपदलोपी समासः ॥

११-ऐहिष्टं तं कारयितुं कृताऽऽत्मा

ऋतुं नृपः पुत्र-फलं मुनीन्द्रम् ॥

ज्ञानाऽऽशयम् तस्य ततो व्यतानीत्

स कर्मठः कर्म सुताऽनुबन्धम् ॥

ऐहिष्टेत्यादि—तं मुनीन्द्रं ऋतुं कारयितुं नृप ऐहिष्ट ईहितवान् । ईहतेरा-
त्मनेपदिनो लुङि सेट्त्वादिति च रूपम् । द्विकर्मकता तु '५४१। ह-क्रोरन्यतर-
स्याम् । १११५३१' इति । कृतात्मा वशीकृतात्मेति भावः । पुत्रफलं पुत्रः फलं
कार्यं यस्य ऋतोः ॥ तत उत्तरकालम् । स मुनिः परचित्तज्ञत्वाज्ज्ञातशियो

१-१०६३। क्रियावान् कर्मसूयतः ।' इति ना० अ० । भूमनिन्द्राप्रशंसासु
नित्ययोगेऽतिशयने । संबन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुवादयः ॥' इति वै० म० ।
२-३७५। ईह वेष्टायाम् ।' इति धा० पा० । ३-१०६३। कर्मशूरस्य तु कर्मठः ।'
इति ना० अ० ।

१० भट्टि-काव्ये—प्रथमे प्रकीर्ण-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

ज्ञाताभिप्रायो राजाभिमतं कर्म कारयितुं तस्य नृपस्य कर्म व्यतानीत्प्रारब्धवान् ।
तनोते: '२२६८। नेटि-१७।२।५।' इति हलन्तलक्षणायां प्रतिषिद्धायाम् '२२८४।
अतो हलादेः-१७।२।७।' इति विभाषावृद्धिः । कर्मठः कर्मणि घटते '१८३६।
कर्मणि घटोऽठच्' ५।२।३५।' यागक्रियानिष्पादक इत्यर्थः । सुतानुबन्धं सुतान-
नुबन्धातीति कर्मण्यण् । 'सुतानुबन्धि' इति पाठान्तरम् । सुताननुबद्धं शीलम-
स्येति । '२९८८ सुप्यजातौ णिनिः-१३।२।७८।' सुपीत्यनुवर्तमाने सुपग्रहण-
सुपसर्गनिवृत्त्यर्थमिति केवलस्योपसर्गस्य निवृत्त्यर्थं द्रष्टव्यम् । अन्यथा जाता-
विति किं ब्राह्मणानामन्नयितेति न युज्यते । आङ्गिरस्योपसर्गत्वात् ॥

▷ १२-रक्षांसि वेदीं परितो निरास्थ-

दङ्गान्ययाक्षीदभितः प्रधानम्, ॥

शेषाण्यहौषीत् सुत-संपदे च,

वरं वरेण्यो नृपतेरमार्गीत् ॥

रक्षांसीत्यादि—वेदीं परितो यजनवेद्याः समन्तात् । विघ्नायोपस्थितानि
रक्षांसि । रक्ष्यते येभ्य इत्यसुन् । तानि रक्षोघ्नैर्मन्त्रैर्निरास्थन्निरस्तवान् । पर्यभि-
म्यां सर्वोभयार्थे तसिल् । 'अभितःपरितः-' इत्यादिना द्वितीया ॥ अङ्गान्य-
याक्षीदभितः प्रधानमिति । यद्देवतामयो यागः सा देवता तत्र प्रधानम् । पुत्र-
फलत्वाद्विष्णुः प्रधानम् । तमिष्ट्वा । तस्योभयतः पार्श्वयोर्यान्यङ्गानि चक्षुरादीनि
देवतान्तराणि तान्ययाक्षीत् अग्राबाहुल्या पूजितवान् । कर्तुः क्रियाफलाभावा-
त्तद् न भवति । प्लवकत्वे ॥ शेषाण्यहौषीदिति स्वाङ्गं विष्णुमिष्ट्वा शेषाणि प्रति-
कृतानि पिष्टकमयाणि सुतानां संपदर्थमस्मौ हुतवान् । जुहोतेः सिचि वृद्धाविटि
च रूपम् ॥ वरेण्यः श्रेष्ठः । वरं चामार्गीन्मार्गीतवान् । हे देवा अग्निप्रभृतयः,
नृपतेः सुता भूयासुरिति । '१९८९। मार्गं अन्वेषणे' । 'आ-दृषाद्वा' इति यदा
णिच् नास्ति तदा चङभावात्सिजेव भवति ॥

१३-निष्ठां गते दन्त्रिम-सभ्य-तोषे

विहित्रिमे कर्मणि राज-पत्न्यः ॥

प्राशुर हुतोच्छिष्टमुदार-वंश्यासु

तिस्रः प्रसोतुं चतुरः सु-पुत्रान्, ॥

निष्ठामित्यादि—निष्ठां समाप्तिं गते कर्मणि यागक्रियायां समासायां राज-
पत्न्यो हुतोच्छिष्टं हुतावशेषं शिष्टचरुं प्राशुर्भक्षितवत्यः । अश्नोतेर्लिटि उसि

१-१* अभितः परितः-समया-निकषा-हा प्रतियोगेऽपि* । २-१२४७। निष्ठानिष्प-
ति-नाशाऽन्ताः । इति ना० अ० । ३-११६६। दु-दा-चू दाने । ४-११६७। दुधाचू
वारणपोषणयोः । दान इत्यप्येके । इति या० पा० ।

रूपम् । दध्निमसभ्यतोषे दानेन निर्वृत्तो दध्निमः सभ्यानां ब्राह्मणानां तोषो यत्र कर्मणि । विहित्रिमे विधानेन निर्वृत्ते कर्मणि दाजो धाजश्च '३२६६। द्वितः क्रिः १३।३।८८।' इति क्रौ विहिते प्रथमस्य '३०७६। दोदद्वोः १७।४।४६।' इति ददादेशः । द्वितीयस्य '३०७७। दधातेहिः १७।४।४२।' इति हिरादेशः । मप् । सभायां साधव इति सभ्याः । '१६५७। सभाया यः-१४।४।१०५।' उदारवंश्या महावंशोद्भवाः । शेषे यत् । कौसल्या कैकेयी च क्षत्रिये । सुमित्रा तु वर्णसंकर-जा । किमर्थं प्राशुः । प्रसोतुं सुषुत्रान्विनीतान्प्रसवितुम् । तत्र कौसल्या कैकेयी चैकैकं पिण्डं प्राशितवत्यौ । ताभ्यां चावयोः परिचारिकेति पिण्डभागद्वयं दत्तं सुमित्रा प्राशितवती । ततश्च पुत्रद्वयं जनयिष्यति । एवंचाभिसंधाय चतुर इत्युक्तं न तु त्रीनिति । '११०४। पू-इ प्राणिगर्भविमोचने ।' । '२२७९। स्वरति- १७।२।४४।' इत्यादिना विभाषितेह ॥

१४-कौसल्ययाऽसावि सुखेन रामः

प्राक्, केकयी-तो भरतस् ततोऽभूत्, ॥

प्रासोष्ट शत्रु-घ्नमुदार-चेष्ट-

मैका सुमित्रा सह लक्ष्मणेन, ॥

कौसल्ययेत्यादि—कौसलस्य राज्ञोऽपत्यमिति '११८९। वृद्धेकोसला- जादन्त्यइ १४।१।१७१।' '५२८। यङश्चाप् १४।१।७४।' कौसल्यया प्राक् प्रथ- मम् असावि रामो जन्यते स्म । पूङः कर्मणि लुङि चिणि रूपम् । सुखेनेति । प्रकृत्यादित्वात्तृतीया । महतां जन्मनि न काचिदपि पीडास्ति ॥ तदनन्तरं केकयीतो भरतोऽभूत् । केकयानाचष्टेति णिच् । सा हीदृशास्तादृशाः केकया इति कथयति । तदन्तात् 'अच इः' इति इकारप्रत्यय औणादिकः । णिलोपः । 'कृदिकारादक्तिनः' इति ङीष् । '२११२। अपादाने चाहीयरुहोः १५।४।४५।' इति तसिः । यदा च केकयस्यापत्यम् '११८६। जनपदशब्दात्क्ष- त्रियादन् १४।१।१८६।' इत्यञ् । '११४४। केकय-मित्रयु-प्रलयानां यादेरियः १७।३।२।' इतीयादेशः । '४७०। टिङ्गाणञ्-१४।१।१५।' इति ङीष् । तदा कैके- यीति द्वितीयं रूपम् । सुमित्रा शत्रुघ्नमुदारचेष्टम् । उदारा चेष्टा यस्येति । प्रासोष्ट प्रसूतवती । कर्तरि लुङ् । क्तिवात्तङ् । जातमात्रस्य हि तस्य किल महा- सत्त्वतया तादृश्येव चेष्टाऽभूदिति श्रूयते । एकेति । एकैवेति गम्यमानत्वादेव- शब्दो न प्रयुक्तः । सह लक्ष्मणेन लक्ष्मणेन सह ॥

१५-आर्चीद् द्वि-जातीन् परमाऽर्थ-विन्दा-

नुदेजयान् भूत-गणान् न्यषेधीत्, ॥

विद्वानुपानेष्ट च तान् स्व-काले
यतिर् वशिष्ठो यमिनां वरिष्ठः ॥

आर्चीदित्यादि—तेषु जातेषु द्विजातीन्द्वे जाती येषामिति तान्ब्राह्मणक्षत्रिय-
वैश्यान्परमार्थविन्दान् । विन्दन्तीति विन्दाः । '१५२६। विद्-लु लाभे' इत्य-
स्मात् '२९००। अनुपसर्गात्-१३।१।१३८।' इत्यादिना शः । मुचादित्वाद्युस् । पर-
मार्थस्य विन्दौल्लभिन इति कर्मणि षष्ठी । तस्याः 'कृद्योगा च षष्ठी समस्यत
इति वक्तव्यम्' इति समासः । तानार्चीत्स्वगादिभिः पूजितवान् । '२१३।
अर्च पूजायाम्' इत्यस्मादुडि तिप् इद् सिचो लोपः ॥ भूतगणान्प्राक्षसादि-
नणान् । उदेजयानुत्कम्पान् । तस्मिन्नेव सूत्रे उपपूर्वं एजिष्यन्तो निर्दिष्टः ।
तस्मादुदेजयतीति शः । तादृश्येष्वीदुत्सादितवान् । शिषेः '२२६८। नेटि । ७।२
। ४।' इति हलन्तलक्षणायाः प्रतिषेधः ॥ विद्वान्पौरोहित्यकर्मणि कुशलः ।
उपानेष्ट च तान्प्राप्तादीन् । तेषामुपनयनादिक्रियां चकार । '२७०९। संमानन
-१।१।३।३६।' इत्यादिनाचार्यकरणे तद् । स्वकाले इति 'गर्भादेकादशे वर्षे
जातस्य गर्भैकादशे' इत्यादिना वचनेन उपनयनकाल उक्तः । यमनियमेषु यत्तत
इति यतिः । 'सर्वधानुभ्य इन्' इति इन् । 'अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमक-
ल्मषम्' इति पञ्च यमा येषां सन्तीति यमिनः स्मृताः । तेषां वरिष्ठ उक्त-
मः । '२०१६। त्रिय-स्थिर-१६।४।१५७।' इत्यादिनोरुसब्दस्य वरादेशो महत्प-
र्यायस्य । वशिष्ठः ॥

१६-वेदोऽङ्गवांस्तैरखिलोऽध्यगायि,

शस्त्राण्युपायंसत जित्वराणि, ॥

ते भिन्न-वृत्तीन्यपि मानसानि

समं जनानां गुणिनोऽध्यवात्सुः, ॥

वेद इत्यादि—शिक्षा कृत्यो व्याकरणं छन्दोविवृतिर्निरुक्तं ज्योतिषं चेति
षडङ्गानि शास्त्राणि ताति विद्यन्ते यस्य वेदस्येत्यङ्गवान् । तैरुपनीतैः सामादिभिः ।
अखिलो निःशेषो वेदोऽध्यगायि । अधीत इत्यर्थः । इङोऽधिपूर्वात्कर्मणि लुङि
'२४६०। विभाषा लुङ्-लङोः । ३।४।५०।' इति गाढादेशः । विष्णु युक् तलुक् ।
शस्त्राणि धनुरादीनि जित्वराणि जयशीलानि । '३१५३। इण्-नश्-जि-१।३।२।

१—'७५१। ये निजितेन्द्रिय-प्राप्ता यतिनो यत्तयश्च च ते ॥' इति ना० अ० । २—'वश
इन्द्रियमिन्द्रो येषां तेषु प्राधान्येन तिष्ठति यः स वशिष्ठः । ३—'यतिनां वरिष्ठः'
इत्यपि कविद पाठः । ४—'३१४३। इण्-नश्-जि-सर्तिभ्यः करण (वर) । ३।२।१६३। इत्वरः
इत्तरी नश्चरः जित्वरः सुत्वरः ।' इति वै० अ० । ८४२। 'जेता जिष्णुश्च च जित्वरः ॥'
इति ना० अ० ।

१६३।' इत्यादिना करप् । तैरुपायसत स्वीकृतानि । उपपूर्वो यमिः स्वीकरणे वर्तते । तस्मात्कर्मणि लुङ् । '२२५८। आत्मनेपदेषु । ७।१।५।' इत्यादिना अदादेशः । '२६९७। हनः सिच् । १।२।१४।' इति ज्ञापकादनुनासिकलोपाभावः । ततस्ते रामादयो गुणिनो मानसानि मनांसि । प्रज्ञादिवात्स्वार्थे णः । भिन्न-वृत्तीनि नानाविधप्रवृत्तीनि विषयेषु तानि मानसान्यपि जनानां समं साधारणम् । क्रियाविशेषणम् । अध्यवात्सुरभ्युषितवन्तः । अधिपूर्वाद्द्वेसेः सिचि '२२६७। वद-व्रज-७।२।३।' इत्यादिना वृद्धिः । '२३४२। सः सि-७।४।४९।' इति तत्त्वम् । '२२२६। सिजभ्यस्त-३।४।१०९।' इति जुस् । '५४४। उपातु-१।४।४८।' इत्यादिनाऽधिकरणस्य कर्मसंज्ञा ॥

१७-ततो-भ्यगाद् गाधि-सुतः क्षितीन्द्रं

रक्षोभिरभ्याहृत-कर्म-वृत्तिः ॥

रामं वरीतुं परिरक्षणार्थं,

राजाऽऽजिहत् तं मधुपर्क-पाणिः ॥

तत इत्यादि—तेषु रामादिषु तथाभूतेषु । गाधिसुतो विश्वामित्रः । क्षितीन्द्रं राजानमभ्यगादभिगतवान् । इणो गादेशः । '२२२३। गाति-स्था-१२।४।७७।' इत्यादिना सिचो लुङ् । रक्षोभिर्निशाचरैरभ्याहृताभिभूता यागादेः कर्मणो वृत्तिः प्रवृत्तिर्यस्येति । रामं वरीतुं प्रार्थयितुम् । '२३९१। वृते वा । ७।२।३८।' इति इटो दीर्घत्वम् । परिरक्षणार्थं । विहन्यमानस्य कर्मण इत्यर्थः । तं गाधिसुतम् । आजिहत् पूजितवान् । '१८६४ । अहं पूजायाम्' इति स्वार्थिक-ण्यन्तश्चौरादिको गृह्यते न भौवादिकः । तस्माद्धेतुमणिचात्र न भवितव्यम् । '२३१२। णि-श्रि-१३।१।४८।' इत्यादिना चङ् । णिलोपः '२२४३। द्विर्वच-नेऽचि १।१।५९।' इति स्थानिवद्भावात् । '२१७६। अजादेर्द्वितीयस्य । ६।१।२।' इति हिशब्दो द्विरुच्यते । रेफस्य न । '२४४६। न न्द्राः । ६।१।३।' इति प्रति-षेधः । चुत्वम् । आद् । वृद्धिः । मधुपर्कपाणिः । दधिघृतमधून्येकीकृतानि मधुपर्कं इत्युच्यते । तस्मिन् पात्रे स्थितः पाणिर्यस्येति विग्रहः । 'सप्तस्यु-पमाने-' इत्यादिना उत्तरपदलोपी समासः । पात्रादुद्धृत्य मधुपर्केण पूजि-तवानित्यर्थः ॥

१८-ऐषीः पुनर्-जन्म-जयाय यत् त्वं,

रूपाऽऽदि-बोधान् न्यवृत्तच च यत् ते, ॥

तत्त्वान्यबुद्धाः प्रतनूनि येन,

ध्यानं नृपस् तच्छिवमिदंवादीत् ॥

१४ भट्टि-काव्ये—प्रथमे प्रकीर्ण-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

पेपीरित्यादि—मुक्तिस्तत्त्वावबोधस्तस्या ध्यानं प्रयोजनं तत्र पुनर्जन्म भूयोजन्म तस्य जयाय यच्चानं त्वमैषीः एषितवानसि । इषेर्लुङ् । मध्यमैक-वचने '२२६६। इट ईटि । ८।२।२८।' इति सिचो लोपे रूपम् ॥ रूपादिबोधा-व्यवृत्तच्च यत्ते-रूपादिषु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु चक्षुरादिद्वारेण यो बोधोऽध्य-वसायलक्षणा बुद्धिः तस्माच्च यच्चानं न्यवृत्तत् निवृत्तम् । वृतेर्द्युतादित्वात् '२३४५। युज्यो लुङि । १।३।९१।' इति तिप् । च्लेरङ् ॥ तत्त्वानि पञ्चविंशतिः पुरुषप्रधानमहदहङ्कारादीनि । प्रतनूनि सूक्ष्माणि येन ध्यानेनाबुद्धाः ज्ञातवा-नसि । बुधेरनुदात्तेतो लुङ् । थासः सिच् । '२३०० । लिङ्सिचावात्मनेपदेषु । १।२।११।' इति सिचः कित्वाद्गुणाभावः । सिजलोपधत्वजशत्वादि ॥ तच्चानं शिवं शोभनं कच्चिदिति नृपोऽवादीत् । न तस्य व्याघात इति । '२२६७। वद-वज-। ७।२।३।' इत्यादिना वृद्धिः । '९७४। ध्यै चिन्तायाम्' भावे ल्युट् । ध्यानम् ॥

१९-आख्यन् मुनिस् तस्य शिवं समाधेर,
विघ्नन्ति रक्षांसि वने क्रतूँश्च, ॥
तानि द्विषद्-वीर्य-निराकरिष्णुस्
तृणेढु रामः सह लक्ष्मणेन. ॥

आख्यदित्यादि—पृष्ठो मुनिस्तस्य समाधेरध्यानस्य शिवमनुपद्भवमाख्यत् कथितवान् । '२४३६। चक्षिङः ख्याक् । २।४।५४।' '१४३८। अस्यति-३।१।५२।' इत्यादिना च्लेरङ् । आतो लोपः ॥ किन्त्वयं दोषः—विघ्नन्ति रक्षांसि वने क्रतूँ । '२६६३ । गम-हन-। ६।४।९८।' इत्यादिना उपधालोपः । '३५८। हो हन्तेः-। ७।३।५४।' इति कुस्वम् ॥ किं क्रियतामिति चेदाह—तानि रक्षांसि । द्विषतां वीर्यं सामर्थ्यं । वीरेः स्वार्थिकण्यन्तात् '२८४२। अचो यत् । ३।१।९७।' तस्य निराकरिष्णुः निराकरणशीलः । '३११६। अलंकृञ्-। ३।२।१३६।' इत्या-दिना इष्णुच् । तृणेढु हिनस्तु । तृहेर्विधौ लोट् । '२२९६। एरुः । ३।४।८६।' रुधादित्वात् भ्रम् । '२५४५। तृणह इम् । ७।३।९२।' '३२४। हो ङः । ८।२।३१।' शुक्वम् । '२३३५। हो ङे । ८।३।१३।' इति ढलोपः । सह लक्ष्मणेन लक्ष्म-णेन सह ॥

२०-स शुश्रुवांस्तद्-वचनं मुमोह
राजाऽसहिष्णुः सुत-विप्रयोगम्, ॥

अहं^१युना^{१०}ऽथ क्षिति-पः^{१०}भुंयुं-
रूचे^{११} वचस्^{११} तापस-कुञ्जरेण^{११}. ॥

स इत्यादि—स राजा तस्य मुनेस्तद्वचनं शुश्रुवान् श्रुतवान् सन् सुतविप्र-
योगमसहिष्णुरसहनशीलो मुमोह मोहमुपगतः । शृणोते: '३०९७। भाषायां
सद-वस-श्रुवः । ३।२।१०८।' इत्यनेन क्रमुः । सुतेन विप्रयोगमिति '६९४। कर्तु-
करणे कृता बहुलम् । २।१।१३२।' इति समासः । '६२७। न लोकाव्यय-निष्ठा-
। २।३।६९।' इति षष्ठाः प्रतिषेधः ॥ अथानन्तरम् । अहंयुना अहंकारवता ।
'१९४६। अहं-भुभमोर्युस् । ५।२।१४०।' तापसकुञ्जरेण । '१९०९। तपःसहस्रा-
भ्यां विनीनी । ५।२।१०२।' इत्यनुवर्तमाने 'अण् च' इति मत्वर्थेऽण् । तापसश्च
स कुञ्जरेति । '७४१। वृन्दारक-। २।१।६२।' इत्यादिना समासः । तेन क्षितिपो
राजा । भुंयुः कल्याणवान् । पूर्ववद्युस् । वचो वक्ष्यमाणमुचे उक्तः । कर्मणि
लिट् । सम्प्रसारणम् । अहंयुनाथः इति विसर्गान्तं पाठान्तरम् । तत्र अहं-
यूनां क्षत्रियाणां नाथ इति योज्यम् ॥ —

२१-मया^५ त्वमा^५प्याः^५ शरणं^३ भयेषु,
वयं^६ त्वया^६ऽप्या^६प्सहि^८ धर्म-वृ^७द्धौ^७, ॥
क्षात्रं^९ द्विज-त्वं^९ च^{१०} परस्परार्थं^{१०},
शङ्कां^{१३} कथा^{१३}मा^{१३}प्रहिणु-स्व-सूनुम्^{१३}. ॥

मयेत्यादि—भयेषु त्वं शरणम् आप्याः प्राप्तोऽसि मया । आपेः कर्मणि
लुङ् । सिजलोपः ॥ त्वयापि धर्मवृद्धौ धर्मोपचयाय वयमाप्सहि प्राप्ताः ।
पूर्ववल्लभादि । उत्तमबहुवचनम् । सिचो लोपाभावः । मकारस्याज्ञत्वत्वात् ॥
तदित्ये क्षात्रं द्विजत्वं च धर्मवृद्धौ परस्परार्थं अन्योन्यप्रयोजनम् । 'कर्मव्यति-
हारे सर्वनाम्नो द्वे भवतः' । 'समासवच्च बहुलम्' इति यदा न समासवत्
तदायम् ॥ तस्मान्मा शङ्कां कथाः माकार्षीः । कथमस्मिन् संकटे पुत्रं नियोज-
यामीति । '२२१९। माळि लुङ् । ३।३।१७५।' अडभावः । '२३६८। उश्च
१।२।१२।' इति कित्वाद्गुणाभावः । '२३६९। ह्रस्वादङ्गात् । ८।२।२७।' इति
सिचो लोपः ॥ प्रहिणु प्रेषय । स्वं पुत्रम् । हिनोतेः प्रार्थनायां लोट् । श्रुः ।
अपित्वात् डित्वम् । गुणाभावः । '२३३४। उतश्च प्रत्ययात्-। १।४।१०६।' इति
हेल्लृक् । '२५३०। हिनु मीना । ८।४।१५।' इति णत्वम् ॥

१—'१०९५। अहङ्कारवानहंयुः, भुंयुस् तु शुभाऽन्वितः ।' २—'स्युरुत्तरपदे व्याघ्र-
पुङ्गवर्धमकुञ्जराः ॥ ११०५। सिंह-शार्दूल-नागाऽऽद्याः पुंसि श्रेष्ठाऽर्थगोचराः ।' इत्युभयत्र
ना० अ० ।

२२-घानिष्यते तेन महान् विपक्षः,

स्थायिष्यते येन रणे पुरस्तात्, ॥

मा मां महाऽऽत्मन् परिभूर-योग्ये

न मद्-विधो न्यस्यति भारमग्र्यम्, ॥

घानीत्यादि—अनागतमर्थं ज्ञानेन समीक्ष्याह—महान्विपक्षो रावणः त्रैलोक्यविजयित्वात् । सोऽपि तेन रामेण घानिष्यते किमुतेतरे राक्षसाः । हन्तेः कर्मणि लट् । '१७५७। स्य-सिच्-।६।४।६२।' इत्यादिना चिण्वदिद् उपधावृद्धिः । '३५८। हो हन्तेः-।७।३।५४।' इति कुत्वम् ॥ पुरस्तादग्रतो यद्गणं युद्धं भावि परशुरामेण सार्धमिति भावः । तत्र येन स्थायिष्यते तेन घानिष्यत इति योज्यम् । अत्र तिष्ठतेर्भावे लट् । चिण्वदिङ् । '२७६१। आतो युक् ।७।३।३३।' ॥ हे महात्मन् महासत्त्व, मा मां परिभूर्मावज्ञासीः । किमेवं वदसीति । परिपूर्वो भवतिर्निराकरणे वर्तते ॥ मद्भिध इति विधानं विधा प्रकारः '३२८३। आतश्चोप-सर्गे ।३।३।१०६।' इत्यङ् । विधा भेदः सादृश्यं च । इह सादृश्यं गृह्यते । मया विधा सादृश्यं यस्येति मद्भिधः । '१३७३। प्रत्ययोत्तरपदयोश्च ।७।२।९८।' इति मदादेशः । मद्भिधो मत्सदृशोऽन्यो न भारमग्र्यम् । '३४६२। अग्राद्यत् ।४।४।११६।' अयोग्ये असमर्थे न्यस्यति निक्षिपति । किमहं येनानागतं समीक्षितमिति भावः । योगाय प्रभवति योग्यः । '११७६६। योगाद्यत् ।५।१।१०२।' ॥

२३-कुध्यन् कुलं धक्ष्यति विप्र-वह्निर्,

यास्यन् सुतस् तृप्स्यति माँस-मन्युम्, ॥

इत्थं नृपः पूर्वमवालुलोचे,

ततोऽनुजज्ञे गमनं सुतस्य, ॥

कुध्यन्नित्यादि—यद्यहं भूतरक्षणेऽधिकृतोऽस्य वचनं न कुर्यां तदा कुध्यन्सन् । दिवादित्वात् इयन् । विप्रो वह्निरिव । '७३५। उपमितम्-।२।१।५६।' इति समासः । धक्ष्यति कुलं अस्यसात्करिष्यति । दहेर्लट् '३२५। दादेः-।८।२।३२।' इति घः । भष्भावः । चत्वम् । गकारस्य ककारः । '२३११। इण्कोः ।८।३।५७।' इति षत्वम् ॥ यास्यन्गमिष्यन्सुतो मां समन्युं सशोकं तृप्स्यति सन्तापयिष्यति । तपेर्लट् ॥ इत्थमेवंप्रकारं नृपः पूर्वमादाववालुलोचेऽवलोकितवान् । अवाङ्पूर्वाल्लोचेर्लट् ॥ तत उत्तरकालं सुतस्य गमनमनुजज्ञे । अनुज्ञातं नृपेणेति विभक्तिविपरिणासेन तेनेति योज्यम् । कर्मणि लिट् । '१६०३। ज्ञा अवबोधने' इति परस्मैपदित्वात् । नचानुपूर्वादस्मादात्मनेपदं विहितम् ॥

२४-आशीर्भिरभ्यर्च्य मुनिः क्षितीन्द्रं

प्रीतः प्रतस्थे पुनराश्रमाय, ॥

तं पृष्ठ-तः प्रष्टमियाय नम्रो

हिंसेषु-दीप्ताऽऽप्त-धनुः कुमारः. ॥

आशीर्भिरित्यादि—रामगमनस्यानुज्ञातत्वात् प्रीतो मुनिः क्षितीन्द्रं राजानमाशीर्भिरभ्यर्च्य पूजयित्वा । आङ्गः शासेः क्तिप्युपसंख्यानात् उपधाया इत्वम् । प्रतस्थे पुनराश्रमाय-आश्रमं पुनः प्रस्थितवान् । तिष्ठतेः '२६८९। समव-।१।३।२२।' इत्यादिना लिटि तङ् ॥ प्रष्टम् अग्रयायिनं तं । '२९१७। प्रष्टोऽग्रगामिनि । ८।३।९२।' इति षत्वम् । पृष्ठतः पश्चात् इयाय कुमारः । इणो णलि वृद्धिरायादेशः । '२२४३। द्विर्वचनेऽचि । १।१।५९।' इति स्थानिवद्भावा-द्विर्वचनमिकारस्य । '२२९०। अभ्यासस्याऽसवर्णे । ६।४।७८।' इतीयङ् । नम्रोऽनुकूलः । हिंसनशीला इषवः शराः हिंसेषवः । आप्तमविसंवादि यद्गुस्तत् । हिंसेषु दीप्तमाप्तं धनुर्यस्य कुमारस्येति विग्रहः । अत्र '८७०। धनु-षश्च । ५।४।१३२।' इत्यनङ् न भवति 'समासान्तविधिरनित्यः' इति । दीप्ता-स्त्रधनुरिति पाठान्तरम् । दीप्तमस्त्रं पृष्ठतया यस्य धनुषस्तद्दीप्तास्त्रं धनुर्यस्येति सः । कस्मिन्निषये । हिंसेषु नान्येषु । नम्रादयो '३१४७। नमिकम्पि-।३।२।१६७।' इत्यादिना रप्रत्ययान्ताः ॥

२५-प्रयास्यतः पुण्य-वनाय जिष्णो-

रामस्य रोचिष्णु-मुखस्य-धृष्णुः ॥

त्रै-मातुरः कृत्स्न-जिताऽस्त्र-शस्त्रः

सध्यङ् रतः-श्रेयसि लक्ष्मणोऽभूत्. ॥

प्रयास्यत इत्यादि—प्रयास्यतो गमिष्यतो रामस्य लक्ष्मणः सध्यङ् अभूत् सहायीभूतः । 'सहाञ्जति' इति किन् अनुषङ्गलोपः '३६१। उगिदचाम्-।७।१।७०।' इति जुम् । हल्ङ्यादि-संयोगान्तलोपौ '३७७। किन्प्रत्ययस्य-।८।२।६२।' इति कुत्वं नकारस्य ङकारः । '४२२। सहस्य सन्निः । ६।३।९५।' इति सध्यादेशः । पुण्यवनाय पुण्यहेतुत्वात्पुण्यं वनम् । गत्यर्थात् कर्मणि चतुर्थी । जिष्णोर्ज-यशीलस्य '३११९। ग्ला-जि-स्थश्च-।३।२।१३९।' इति ग्लुः । रोचिष्णु रोचन-

१-८३७। पुरोगाग्नेसर-प्रष्टाऽग्रतः-सर-पुरस-सराः । इति ना० अ० । २-५८५। गत्यर्थकर्मणि द्वितीया-चतुर्थी चेष्टायामनध्वनि । २।३।१२। अध्वभिन्ने गत्यर्थानां कर्मण्येते स्तश्चेष्टायाम् । आप्तं ग्रामाय वा गच्छति । इति वै० म० । ३-८४२। जेता जिष्णुश्च च जित्वरः । ४-६६५। विभ्राह् आजिष्णु-रोचिष्णू । ५-१०७०। वृष्टे वृष्णम् (वृष्णुर) वियातश्च, । ६-१०७९। यः सहाञ्जति सध्यङ् सः इति सर्वत्र ना० अ० ।

शीलं मुखं यस्य रामस्य पितुराज्ञया वृष्टत्वात् । '३११६। अलंकृन्-१३।२।१३६।' इत्यादिना इष्णुच् । वृष्णुः शत्रुविध्वंसने प्रगल्भः । '३१२०। त्रसि-गृधि-१३।४।१४०।' इत्यादिना कृः । त्रैमातुरः तिसृणां मातृणामपत्यमिति तद्विधितार्थ-विषये समासः । पश्चात् '१११८। मातुरुत्सङ्ख्या-१४।१।११५।' इत्यादिना अण् उत्वं च '१०८०। द्विगोलुङ्गानपत्ये १४।१।८८।' इति लुक् न भवति । स हि पिण्डद्वयप्राशनात्ताभ्यां च जमितः अस्त्रं च शस्त्रं चेति द्वन्द्वः । कृत्स्नं समग्रं जितमधिगतमस्त्रशस्त्रं येनेति विग्रहः, रतः श्रेयसि कल्याणे । २०१० । प्रकृत्यैकाच् । ६।४।१६३।' । '२००९। प्रशस्यस्य श्रः । ५।३।६०।' लक्ष्मीरिलौणादिकः । लक्ष्मिर्मुद ईप्रत्ययश्च । सा यस्य विद्यत इति लक्ष्मणः, लोमादिषु 'लक्ष्म्या अच्च' इति न-प्रत्ययः अर्धं च ॥

२६-इषु-मति रघुसिंहे दन्दशूकाञ्च जिघांसौ
धनुररिभिर-सह्यं मुष्टि-पीडं दधाने ॥

प्रजति, पुर-तरुण्यो बद्ध-चित्राङ्गुलित्रे

कथमपि गुरु-शोकान् मा रुदन् माङ्गलिक्यः ॥

इषुमतीत्यादि—रघुसिंहे रामे रघुषु रघुवंशभवेषु सिंह इव शौर्यादि-योगात् । व्रजति सति । इषुमति सन्निपङ्गे । प्रशंसायां मतुप् । तदुक्तं कौमुद्यां 'भूम-निन्दा-प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतु-बादयः ॥' दन्दशूकान् हिंसां । दंशेः '२६३५। लुप-सद-१३।१।२४।' इत्यादिना यङ् । 'जप-जभ-' इत्यादिना अभ्यासस्य लुक् । तदन्तात् '३१४६। यज-जप-१३।२।१६६।' इत्यादिना ऊकः । '२३०८। अतो लोपः । ६।४।४८।' । '२६३१। यस्य हलः । ६।४।४९।' जिघांसौ हन्तुमिच्छौ । '२६१४। अज्जन-१६।४।१६।' इति दीर्घः । '२४३०। अभ्यासाच्च । ७।३।५५।' इति कुत्वम् '३१४८। सनाशंस-१३।२।१६८।' इति उः । '६२७। न लोक-१२।३।६९।' इति षष्ठीप्रतिषेधात् द्वितीयैव । धनुर्दधाने बिभ्राणे । अरिभिरसह्यं सोढुमशक्यम् । '२८४७। शक्ति-सहोश्च । १३।१।९९।' इति यत् । मुष्टिपीडं मुष्टिना पीडयित्वा । मुष्टिशब्दे तृतीयान्ते उपपदे '३३७०। सप्तम्यां चोपपीड-१३।४।४९।' इति णमुल् । तत्र चकारेण तृतीयानुकर्षणात् । बद्धं चित्रमङ्गुलित्रं येन अङ्गुलिं त्रायत इति कः । पुरे तरुण्यः पुरतरुण्यः । 'नवस्त्रीककृत्युत्तरुणतलुनानामुपसङ्ख्यानम्' इति ङीप् । यदि तद्वचोऽर्थवत् । नो चेद्गौरादिपाठात् ङीप् । रामो गत इति गुरुः शोको यासां ताः । कथमपि मा रुदन् न रुदितवत्यः । रुदेः '२२६९। इरितो वा । १३।१।५७।' इति च्लेरङ् । यतो माङ्गलिक्यः मङ्गलप्रयोजनाः ।

२-पदेऽस्मिन्वृत्तं मालिनी । तल्लक्षणम्—'न-न-म-य-य-युतेयं । मालिनी मोगि (८)-लोकैः (७)।' इति वृत्तरत्नाकरेऽतिशक्त्या जातौ (१५ अक्ष०) मट्टकेदारः ।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके सीता-परिणयो नाम द्वितीयः सर्गः— १९

तदस्य '१७७२। प्रयोजनम् । ५।१।१०९।' इति ठक् । '४७०। टिङ्गाणन्-
।४।१।१५।' इत्यादिना ङीप् ॥

२७—अथ जगदुरनीचै—राशिषस् तस्य विप्रास,
तुमुल-कल-निनादं तूर्यमाजघ्नुरन्ये, ॥
अभिमत-फल-शंसी चारु पुस्फोर बाहुस्,
तरुषु चुकुवुरुच्चैः पक्षिणश् चाऽनुकूलाः ॥^१

अथेत्यादि—तस्य रामस्य व्रजतो विप्रा अनीचैर्महता ध्वनिनाशिष इष्टव-
चनानि जगदुर्गदितवन्तः । अन्ये वादकास्तूर्य कांस्यतालपटहादिसमूहमाजघ्नु-
स्ताडितवन्तः । '२६९५। आङो यम-हनः । १।३।२८।' इत्यात्मनेपदं न भवति ।
अकर्मकादित्यनुवर्तते । तुमुलो महान्कलो मधुरो निनादो ध्वनिर्यस्येति ।
अभिमतमिष्टं फलं शंसितुं शीलं यस्य बाहोः स चारु पुस्फोर सुतरां स्फुरित-
वान् । अत्र दक्षिणो बाहुः सामर्थ्याद्भव्यते स्वाङ्गत्वात् । अनेन सीताप्राप्ति-
बीजमुपन्यस्तम् । स्फुरतेरभ्यासस्य '२२५९। शर्पुर्वाः खयः । ७।४।६१।' इति
खयः शेषः । चत्वंम् । पक्षिणश्च तरुषु स्थिता अनुकूलाः सन्त उच्चैः सुधु चुकुवुः
कूजितवन्तः । '१११५। कु शब्दे' इत्यस्य लिटः कित्वादुवडादेशः ॥

इति श्री-जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते श्री-भट्टिकाव्ये-

प्रथमे प्रकीर्ण-काण्डे लक्ष्य-रूपे प्रथमः परिच्छेदः (वर्गः),

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके श्री-राम-संभवो नाम

प्रथमः सर्गः पर्यवसितः ।

द्वितीयः सर्गः—

इदानीं विजिगीषूणां कण्टकान् समुद्धर्तुं शरत्काले समुद्योग इति तमेव
वर्णयन्नाह—

▷ २८—वैनस्पतीनां सरसां नदीनां
तेजस्विनां कान्तिभृतां दिशां च ॥
निर्याय तस्याः स पुरः समन्ता-
च्छ्रियं दधानां शरदं ददर्श ॥ १ ॥

१—पञ्चेऽस्मिन्वृत्तं पूर्वो (२६) क्तम् । २—'१०७१ । पारस्कर-प्रभृतीनि च संज्ञायाम्
१६।१।१५७। पारस्करः, तस्करः, बृहस्पतिः, वनस्पतिः ।' इति वै० अ० । '३५४ । वानस्पत्यः
फलैः पुष्पात्, तैर-पुष्पाद् वनस्पतिः ।' इति ना० अ० ।

वनस्पतीनामित्यादि—स रामः । तस्याः पुरः अयोध्यायाः । निर्णय निर्गत्य । समन्तात् सर्वतः शरदं ददर्श दृष्टवान् । कालस्याप्रत्यक्षत्वात् कार्याणां दर्शनात्तद्दर्शनमिति मन्यते । श्रियं दधानां धारयन्तीम् । केषां वनस्पतीनाम् । पारस्करादिदर्शनात् सुद । अत्र लोकप्रतीत्या वृक्षा द्रष्टव्याः । न तु पारि-भाषिकाः । तथा सरसां तडागानां नदीनां गङ्गादीनां तेजस्विनां चन्द्रतारा-दीनां कान्ति नैर्मल्यं बिभ्रतां दिशां च । तदा हि निर्मला दिशो भवन्ति । वन-स्पत्यादीनां श्रियं दधानां शरदं ददर्श ॥

तां रामव्यापारं विना सामान्येन वर्णयन्नाह—

▷ २९—तरङ्ग-सङ्गाच्च चपलैः पलाशैर्
ज्वाला-श्रियं साऽतिशयां दधन्ति ॥
स-धूम-दीप्ताऽग्नि-रुचीनि रेजुस्
ताम्रोत्पलान्याकुल-षट्-पदानि. ॥ २ ॥

तरङ्गेत्यादि—तरङ्गसङ्गात् सलिलोर्मिसम्पर्काच्चपलैः चञ्चलैः पलाशैः पत्रैः ज्वालाश्रियं सातिशयां दधन्ति । सधूमदीप्ताग्निरुचीनि सधूमदीप्ताग्नेरिव रुचि-यैषां रक्तोत्पलानां तानि रेजुः दीप्यन्ते स्म । राजेलिटि '२३५४ । फणां च सप्तानाम् । ६।४।१२५।' इति पृत्वाभ्यासलोपौ । आकुलाः इतस्ततो यायिनः षट्पदा येष्विति । चलितपत्राणामग्निशिखातुल्यत्वात् षट्पदानां च धूमतुल्यत्वात् सधूमदीप्ताग्निरुचीनीत्युक्तम् ॥

▷ ३०—विम्बाऽऽगतैस् तीर-वनैः समृद्धिं
निजां विलोक्याऽपहृतां पयोभिः ॥
कूलानि साऽऽमर्षतयैव तेनुः
सरोज-लक्ष्मीं स्थल-पद्म-हासैः. ॥ ३ ॥

विम्बेत्यादि—विम्बं प्रतिविम्बं तेनागतैर्निपतितैरिति । तृतीयेति योगवि-भागात् समासः । तीरवनैः कुसुमितैरित्यर्थात् । तैः करणभूतैः । पयोभिः कर्तृभिः समृद्धिं विभूतिं निजामात्मीयां अपहृतां विलोक्य कूलानि कर्तृभू-तानि सामर्षतयेव साक्षमतयेव सरोजलक्ष्मीं कमलशोभां पयःसम्बन्धिनीं तेनुः विस्तारितवन्ति । '२२६०। अत एकहलमध्ये-। ६।४।१२०।' इत्यादिना पृत्वा-भ्यासलोपौ । कूले सरोजासम्भव इति चेदाह—स्थलपद्महासैरिति स्थल-कमलविकासैरित्यर्थः ॥

३१—निशा-तुषारैर् नवनाऽम्बु-कल्पैः
पत्रा-ऽन्त-पर्यागलदृच्छ-विन्दुः ॥

उपारुरोदेव नदत्-पतङ्गः कुमुद्वतीं तीर-तरु दिनाऽऽदौ ॥ ४ ॥

निशेत्यादि—निशायां तुषारैः हिमैः । नयनाम्बुकल्पैः अश्रुतुल्यैः । नयनानुकारिषु पत्रेषु स्थितत्वात् । तैर्हेतुभूतैः पत्रान्तपर्यागलदच्छविन्दुः । पत्रान्तात्पर्यागलन्तः अच्छास्तुषारविन्दवो यस्य तीरतरोः । स दिनादौ दिना-
रम्भे कुमुद्वतीमुपारुरोदेव आक्रन्दितवानिव भाति । शशिवियोगादीदृशी-
त्वं भूतासीति । रोदनक्रियया आक्रन्दनविशिष्टया कुमुद्वत्या ईप्सिततम-
त्वात् रुदिः सकर्मकः । तदाक्रन्दनं योजयन्नाह—नदत्पतङ्ग इति । कृजत्पक्षी-
त्यर्थः । ‘पतेरङ्गश्च पक्षिणि’ इत्यौणादिकः । कुमुद्वती ‘१३०६। कुमुदनङ—
।१।२।८७।’ इत्यादिना इमतुप् । ‘१८९८। झयः ।८।२।१०।’ इति वत्वम् ।
उगित्वात् ङीप् ॥

➤ ३२—वनानि तोयानि च नेत्र-कल्पैः
पुष्पैः सरोजैश्च च निलीन-भृङ्गैः ॥
परस्परां विस्मय-वन्ति लक्ष्मी-
मालोकयाञ्चक्रुरिवाऽऽदरेण ॥ ५ ॥

वनानीत्यादि—वनानि पुष्पैर्निलीनभृङ्गैः स्थितभ्रमरैः । लीयतेः ‘३०१९।
स्वादय ओदितः ।८।२।४५।’ इति निष्ठानत्वम् । नेत्रकल्पैः नेत्रतुल्यैः । तोयानि
च सरोजैः निलीनभृङ्गैर्नेत्रकल्पैः । विस्मयवन्ति जातविस्मयानि । परस्परा-
मन्योन्यस्य लक्ष्मीं शोभाम् आलोकयाञ्चक्रुरिव । आदरेण तात्पर्येण ॥

➤ ३३—प्रभात-वाताऽऽहति-कम्पिताऽऽकृतिः
कुमुद्वती-रेणु-पिशङ्ग-विग्रहम् ॥
निरास भृङ्गं कुपितेव पद्मिनी,
नै मानिनी संसहते ऽन्य-सङ्गमम् ॥ ६ ॥

प्रभातेत्यादि—प्रभाते यो वातस्तस्याघातेन कम्पिता चालिता आकृति-
राकारो यस्याः पद्मिन्याः सा भृङ्गं निरास निरस्तवती । कुमुद्वतीरेणुना
पिशङ्गः कपिशः विग्रहो यस्य भृङ्गस्य । कुपितेव यथा अन्यया स्त्रिया सहोषितं
तदङ्गसंक्रान्तपरिमलकण्ठमालमात्मदयितं काचित् कुपिता निरस्यति तद्वत् । सा

१—‘१२२५। पतङ्गौ पक्षि-सूयौ च ।’ इति ना० अ० । २—‘अत्रार्थान्तरन्यासाऽलंकारः ।
तल्लक्षणं कुवलयानन्दकारिकायाम्—‘उक्तिरर्थान्तरन्यासः स्यात् सामान्य-विशेषयोः ॥
इनुमार्गान्धिमतरद्, दुष्-करं किं महाऽऽत्मनाम् ॥’ इति ।

२२ भट्टि-काव्ये—प्रथमे प्रकीर्ण-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

किमिति निरस्यति—यतो मानिनी मानवती अन्यसङ्गमम् अन्यया सह संगमं न संसहते । आत्मसङ्गादन्यसङ्गमं न सहते न क्षमते ॥

३४—दत्ताऽवधानं मधु-लेहि-गीतौ
 प्रशान्त-चेष्टं हरिणं जिघांसुः ॥
 आकर्णयन्नुत्सुक-हंस-नादान्
 लक्ष्ये समाधिं न दधे मृगावित् ॥ ७ ॥

दत्तेत्यादि—मधुलेहिगीताविति मधु लेढुं शीलमेवामिति णिनिः । मधुले-
 हगीताविति पाठान्तरम् । तत्र लिहन्तीति लेहाः पचाद्यच् । मधुनो लेहा इति
 षष्ठीसमासः । मधु लिहन्तीति वा कर्मण्यण् । दत्तावधानं दत्तमानसं हरिणं
 प्रशान्तचेष्टं जिघांसुः हन्तुमिच्छुरपि मृगावित् व्याधः । मृगान्विध्यतीति
 क्तिप् । ‘२४१२। ग्रहि-ज्या-।६।१।१६।’ इत्यादिना सम्प्रसारणम् । ‘१०३७।
 नहि-वृति-।६।३।११६।’ इत्यादिना दीर्घः । लक्ष्ये वध्ये समाधिं चित्तैकाग्रतां न
 दधे न धारितवान् । जिघात्तङ् । लिटः क्तिच् आतो लोपः । उत्सुकानां हंसानां
 नादानाकर्णयन् शृण्वन् तत्राभिरतचित्तकत्वात् । वर्तमानकालो भूतेनाभिस-
 म्बध्यमानः साधुः । ‘२८२४। धातु-सम्बन्धे प्रत्ययाः ।३।४।१।’ इति च । आक-
 र्णयन्निति ‘प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलम्’ इति णिच् । ‘३१०३। लक्षण-हेत्वोः-
 ।३।२।१२६।’ इति शतृप्रत्ययः ॥

३५—गिरेर् नितम्बे मरुता विभिन्नं
 तोयाऽवशेषेण हिमाऽऽर्भमभ्रम् ॥
 सरिन् मुखाऽभ्युच्चयमादधानं
 शैलाऽधिपस्याऽनुचकार लक्ष्मीम् ॥ ८ ॥

गिरेरित्यादि—गिरेः कस्यचित् नितम्बे मध्यभागे स्थितमभ्रं कर्तुं ‘मरुता
 विभिन्नं विह्वलीकृतं तोयावशेषेण पयसोऽवशिष्टतया हिमाभं हिमसदृशं सरि-
 न्मुखानां गिरिनदीनिर्गमाणामभ्युच्चयं वृद्धिम् आदधानं कुर्वाणं शैलाधिपस्य
 हिमवतः लक्ष्मीं शोभामनुचकार अनुकृतवत् ॥

३६—गर्जन् हरिः साऽम्भसि शैल-कुञ्जे
 प्रतिध्वनीनात्म-कृतान् निशम्य ॥

१—‘१४। अञ्जं मेघो वारिवाहः स्तनशिखुर बलाहकः । धाराचरो जलधरस् तडित्वान्
 वारिचोऽम्बु-शृत् ॥’ इति ना० अ० । २—‘१३८३। यमाऽनिलेन्द्र-चन्द्राऽर्क-विष्णु-सिंहाऽशु-
 वाजिषु । शुकाऽहि-कपि-मेकेषु हरिर् ना, कपिले त्रिषु ॥’

क्रमं बबन्ध क्रमितुं स-कोपः

प्रतर्कयन्नन्य-मृगेन्द्र-नादान्. ॥ ९ ॥

गर्जन्वित्यादि—हरिः सिंहः गर्जन् शब्दं कुर्वन् । क शैलनिकुञ्जे गिरे-
र्गहने । साम्भसि ससलिले । एवंविधे प्रदेशे प्रतिध्वनीन् प्रतिशब्दान् आत्म-
कृतान् निशम्य श्रुत्वा सरोषः सकोपः क्रमं बबन्ध क्रमितुमुत्पतितुं यत्
सामर्थ्यं तच्चकारेत्यर्थः । अनेकार्थत्वाद्धातूनां बन्धिरत्र करणे वर्तते । किमिति
प्रतर्कयन्नन्यमृगेन्द्रनादान् ॥

इदानीं रामं व्यापारेण वर्णयन्नाह—

३७—अदृक्षतां ऽम्भांसि नवोत्पलानि,

रुतानि चां ऽश्रोषत षट्-पदानाम्, ॥

आघ्रायि वान् गन्ध-वहः सु-गन्धस्

तेनां ऽरविन्द-व्यतिषङ्ग-वांश् च. ॥ १० ॥

अदृक्षतेत्यादि—नवान्युत्पलानि येष्वम्भस्तु जलेषु तानि रामेणादृक्षत
इष्टानि । दृशेः कर्मणि लुङ् । ‘२३३६। शल इगुपधा-१३।१।४५।’ इति प्रा-
सस्य क्सादेशस्य ‘२४०७। न दृशः-१३।१।४७।’ इति प्रतिषेधात् ‘२२६९।
इरितो वा-१३।१।५७।’ इति सिजेव भवति । तेन विकल्पेनाङ्को विधीयमा-
नत्वात् ‘२३००। लिङ्सिचा-१।१।२।११।’ इति कित्त्वे गुणाभावः ॥ षट्प-
दानां रुतानि अश्रोषत श्रुतानि । शृणोतेः कर्मणि लुङ् ॥ वहतीति वहः
पचाद्यच् । गन्धस्य वह इति कृद्योगे षष्ठी समस्यते । गन्धवहो वायुराघ्रायि
आघ्रातः । कर्मणि लुङ् । अरविन्देन पद्मेन व्यतिषङ्गः संपर्कः सोऽस्ति यस्य
वायोः सः । वातीति वान् । वातेः शतृप्रत्ययः । सुगन्धः । शोभनो गन्धो
यस्य सः । अरविन्दव्यतिषङ्गत्वात् ‘८७४। गन्धस्येदुत्-पूति-सु-सुरभिभ्यः ।
५।४।१३५।’ इतीकारः समासान्तो न भवति । गन्धस्येत्त्वे तदेकान्तग्रहण-
मिति वचनात् सुगन्ध आपणिक इति यथा ॥

१—‘१९८। कोलाहलः कलकलस् तिरश्चां वाञ्छितं रुतम् ।’ २—‘५४९। मधुव्रतो मधु-करो
मधु-लिण-मधु-पाऽलिनः । द्वि-रेफ-पुष्प-लिङ्-भृङ्-षट्-पद-अमराऽलयः ॥’ ३—‘६९। न्यसनः
स्पर्शिनो वायुर् मातरि-श्वा सदा-गतिः । पृषद्-श्चो गन्ध-वहो गन्ध-वाहाऽनिलाऽऽशु-ग्नाः ॥
इति सर्वत्र ना० अ० ।

३८-लताऽनुपातं कुसुमान्यगृह्णात्

स, नद्यवस्कन्दमुपास्पृशच्च च, ॥

कुतूहलाच्च, चारु-शिलोपवेशं

काकुत्स्थ ईषत् स्मयमान आस्त. ॥ ११ ॥

लतेत्यादि—‘३३७८। विशि-पति-पदि-स्कन्दां व्याप्यमानासेव्यमानयोः । ३। ३। ५६।’ इति द्वितीयान्त उपपदे णमुत्विधीयते । तत्र व्याप्यमाने द्रव्यवचनस्य आसेव्यमाने च क्रियावचनस्य ‘३१३७। नित्य-वीप्सयोः । ८। १। ४।’ इति द्विर्वचनं विधीयते । अत्र तु समासेनैवोक्तत्वात् नोपयुज्यत इति स्थितम् । स काकुत्स्थो रामो गच्छन् लतां लतामनुपात्य कुसुमान्यगृह्णात् गृहीतवान् । लतामनुपात्या-नुपात्य च । ‘७८४। तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम् । १। २। २। १।’ इति समासः । ग्रहे-लैङ् । श्राप्रत्ययस्य, अपिदिति ङित्वे ‘२४१२। ग्रहि-ज्या-६। १। १६।’ इत्यादिना सम्प्रसारणम् ॥ नद्यवस्कन्दमिति नदीं नदीम् अवस्कन्द्य सर्वा नदीमवस्कन्द्य ढौकित्वा नदीं वा अवस्कन्द्यावस्कन्द्य, उपास्पृशत् आचमनं कृतवान् । कुतूहला-दिति सर्वत्र थोऽयम् ॥ चारुशिलोपवेशमिति चारुशिलाः चारुशिला उपविश्य चारुशिला उपविश्योपविश्य वा आस्त आसितवान् । आसेर्लङि रूपम् । ईषत् स्मयमानः ईषद्वत् ॥

३९-तिग्मांशु-रश्मिच्च-छुरितान्य-दूरात्

प्राञ्चि प्रभाते सलिलान्यपश्यत् ॥

गभस्ति-धाराभिरिव द्रुतानि

तेजांसि भानोर् भुवि संभृतानि. ॥ १२ ॥

तिग्मांश्वेत्यादि—अदूरात्समीपे सलिलान्यपश्यत् । इशेर्लङि ‘२३६०। पा-भ्रा-। ७। ३। ७८।’ इति पश्यादेशः । तिग्मांशोरादित्यस्य रश्मिभिः छुरितानि रञ्जितानि । तुक् । प्राञ्चि पूर्वस्यां दिशि अवस्थितानि । प्रपूर्वादञ्जतेः ‘३७३। ऋत्विग्-। ३। २। ५६।’ इत्यादिना क्तिप् । अनुपङ्गलोपः । शिः । नपुंसकस्य तुम् । भानोरिव तेजांसि भुवि संभृतानि पिण्डीकृतानि । गभस्तिभिः रश्मिभिः धाराभिरिव द्रुतानि गलितानि । धारा प्रपात इति भिदा पाठाद्गृह्यम् ॥

१-‘अलं-खल्वोः प्रतिषेधयोः प्रचां क्त्वा (त्वा)

समान-कर्तृकयोः पूर्व-काले —

आभीक्ष्ण्ये णमुत् (अस्) च—

समासे ऽनञ्-पूर्वं क्त्वो त्यप् (य)

इति सर्वत्राऽष्टाध्याय्यां पाणिनिः वै० भ० च ।

। ३। ४। १। ८। ३। ३। १। ६।

। ३। ४। २। १। ३। ३। २। ०।

। ३। ४। २। १। ३। ३। ४। ३।

। ३। ४। १। ३। ७। ३। ३। ३। ३।

४०—दिग्-व्यापिनीर् लोचन-लोभनीया

मृजाऽन्वयाः स्नेहमिव स्रवन्तीः ॥

ऋज्वाऽऽयताः शस्य-विशेष-पङ्क्रीस्

तुतोष पश्यन् वितृणाऽन्तरालाः ॥ १३ ॥

दिग्-व्यापीत्यादि—शस्यविशेषाणां शाल्यादीनां पङ्क्रीः पश्यन्तुतोष तुष्टवान् । दिग्-व्यापिनीः सर्वदिग्-व्यापनशीलाः । लोभयन्तीति लोभनीयाः । बहुवचना-कर्तर्यनीयः । लोचनानां लोभनीया इति षष्ठीसमासः । मार्जनं मृजा शुद्धिः । '३२८१। षिद्धिदादिभ्योऽङ् ॥३॥१०४।' तथा, अन्वयोऽनुगमो यासाम् । शुद्ध्यनुगता इत्यर्थः । ततः स्नेहमिव स्रवन्तीः । ऋजवश्च ता आयताश्च वितृणा-न्तरालाः । उत्पादितानि तृणानि अन्तराले मध्यभागे यासां ताः ॥

४१—वियोग-दुःखाऽनुभवाऽनभिज्ञैः

काले नृपांऽशं विहितं ददद्भिः ॥

आहार्य-शोभा-रहितैरमायै-

रैर्क्षिष्ट पुम्भिः प्रचितान् स गोष्ठान् ॥ १४ ॥

वियोगेत्यादि—पुम्भिः गोपैः प्रचितान् व्याप्तान् गोष्ठान् गावस्तिष्ठन्ति येष्विति '२९१६। सुपि स्थः ॥३॥२।४।' इति कः । '२९१८। अम्बाम्ब-॥८॥३।९७।' इत्यादिना मूर्धन्यः । तान् स राम ऐक्षिष्ट दृष्टवान् । अनुदात्तेस्वा-त्तङ् । इद् । वियोगदुःखस्य योऽनुभवः अनुभवनं तस्यानभिज्ञैः तेषां पुत्रदरैः सहैव सर्वत्र गमनात् एतावता कालेन एतावद्दयमिति विहितं कृतम् । दद्या-तेर्हिः । नृपांशं करं ददद्भिः । आहार्या कटकादिभिः आहरणीया या शोभा दीप्तिः तथा रहितैः । अमायैः ऋजुभिः । आहार्येति '२८७२। ऋ-हलोर्ण्यत् ॥३॥११२४।' शोभयतीति शोभा पचाद्यच् । '३२८४। ण्यासश्चन्थो युच् ॥३॥११०७।' इति युच् न भवति, तस्य स्त्रीलिङ्गे भावे अकर्तरि च कारके विधा-नात् । नन्वादिपाठात् ल्युर्न भवति, तस्य '२८३०। वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् ॥३॥११९४।' इति विकल्पितत्वात् । अथवा शोभनं शोभा स्त्रीलिङ्गे भावे घञ् । '२८४१। कृल-ल्युटो बहुलम् ॥३॥११३१।' इति बहुलवचनादन्येऽपि कृतः प्राप्तमपि स्वाभिधेयं व्यभिचरन्ति ॥

४२—स्त्री-भूषणं चेष्टितम-प्रगल्भं

चारुण्य-वक्राण्यपि वीक्षितानि ॥

ऋजूंश्च विश्वास-कृतः स्वभावान्

गोपाऽङ्गनानां मुमुदे विलोक्य ॥ १५ ॥

स्त्रीभूषणमित्यादि—गोपाङ्गनानां चेष्टितं गमनागमनादि । अप्रगल्भं लज्जावत् । तच्च स्त्रीविभूषणं स्त्रीणामलङ्कारः । तथा वीक्षितानि विलोकितानि अवक्राप्यपि कटाक्षादिरहितान्यपि चारुणि शोभनानि । स्वभावान् स्वाभिप्रायान् ऋजून् अकुटिलान् विश्वासकृतो विश्वासस्य जनकान् विलोक्य मुमुदे हृष्टवान् । स रामः । लिटोऽपित्वात्किञ्चे गुणाभावः । कार्याणां दर्शनात् स्वभावानां दर्शनमित्युक्तम् ॥

४३—विवृत्त-पार्श्वं रुचिराऽङ्गहारं

समुद्रहृत्-चारु-नितम्ब-रम्यम् ॥

आमन्द्र-मन्थ-ध्वनि-दत्त-तालं

गोपाऽङ्गना-नृत्यमनन्दयत् तम् ॥ १६ ॥

विवृत्तेत्यादि—गोपाङ्गनानां दधिमन्थनाय यत् स्थानं कृतं तत् नृत्यमिवेति गोपाङ्गनानृत्यं कर्तुं तं रामं अनन्दयत् सन्तोषितवत् । नन्देर्धन्तस्य लङि रूपम् । विवृत्ते तिर्यक्चलिते पार्श्वे यत्र नृत्ये । रुचिरः शोभनोऽङ्गहारोऽङ्गविक्षेपो यत्र । समुद्रहृता तिर्यक् समुद्रच्छता चारुनितम्बेन मनोरमकटिभागेन रम्यं मनोहरम् । आमन्द्र ईषद्गम्भीरो यो मन्थकृतो ध्वनिः तेन दत्तस्तालो यत्र ॥

४४—विचित्रमुच्चैः प्लवमानमारात्

कुतूहलं त्रस्तु ततान तस्य ॥

मेघाऽत्ययोपात्त-वनोपशोभं

कदम्बकं वातमजं मृगाणाम् ॥ १७ ॥

विचित्रमित्यादि ॥ मृगाणां कदम्बकं वृन्दं तस्य रामस्य कौतूहलं ततान विस्तृतवत् । विचित्रम् कृष्णश्वेतत्वात् । उच्चैः प्लवमानम् ऊर्ध्वं जिहानम् । आरात् समीपे त्रस्तु त्रसनशीलम् । '३१२०। त्रसि-गृधि-१३।२।१४०।' इत्यादिना कुः । मेघालयेन मेघापगमेन उपात्तवनोपशोभम् । उपात्तं गृहीतं वनम् उपशोभा च येनेति व्यधिकरणबहुव्रीहिः । वातमजति वातमजम् । वाताभिमुखं गच्छतीत्यर्थः । 'वात-शुनी-तिल-शर्घेषु-' इति खश । '२९४२। अरुर्द्धिष-१६।३।६७।' इति शुम् ॥

४५—सिताऽरविन्द-प्रचयेषु लीनाः

संसक्त-फेणेषु च सैकतेषु ॥

कुन्दाऽवदाताः कलहंस-मालाः

प्रतीयिरे श्रोत्र-मुखैर् निनादैः ॥ १८ ॥

सितेत्यादि—सितारविन्दानां प्रचयेषु समूहेषु । '३२३१। एरच । ३।३।५६।' । '३२४१। सहै चानौतारचयै । ३।३।४२।' इति घञ्कौ न भवतः प्राणिषु

सङ्घशब्दस्य रूढत्वात् । लीनाः कलहंसमालाः । तथा संसक्तफेणेषु च सैकतेषु पुलिनेषु लीनाः सिकता येषु विद्यन्त इति । '१९१२। देवो लुबिलचौ च । ५।११०५।' इति चकारादण् । कुन्दावदाताः कुन्दमिवावदाताः शुक्लाः । '७३४। उपमानानि-१२।१।२२।' इत्यादिना समासः । प्रतीयिरे ज्ञाताः । तेन रामेणेति विभक्तिविपरिणामेन सम्बन्धः । कर्मणि लिट् । '२४५५। इणो यण् । ६।४।८१।' । '२२४३। द्विर्वचनेऽचि । १।१।५९।' इति स्थानिवद्भावाद्द्विर्वचनम् । श्रोत्रसुखैर्म-
थुरौर्निनादैः करणभूतैः । '३२४१ । नौ गद-१३।३।६४।' इत्यादिना घञ् ॥

शरद्वर्णनमुपसंहरन्नाह—

४६—न तज् जलं, यन् न सु-चारु-पङ्कजं,
 न पङ्कजं तद्, यद्-लीन-षट्-पदम्, ॥
 न षट्-पदोऽसौ, न जुगुञ्ज यः कलं;
 न गुञ्जितं तन्, न जहार यन् मनः ॥१९॥

न तज्जलमित्यादि ॥ किम्बहुनोक्तेन सर्वथा न तज्जलं यत् सुचारुपङ्कजं न बभूव । पङ्कजमपि यद्-लीनषट्पदं तदपि न । असौ षट्पदोऽपि तथाविधो नाभूत् । यः कलं मधुरं न जुगुञ्ज न गुञ्जितवान् । '२१२। गुञ्जि अन्यक्ते शब्दे' । '२२६२। इदितो जुम् धातोः । ७।१।५८।' इति जुमि लिटि रूपम् । गुञ्जितमपि तत् नैवासीत् । यन्मनो न जहार न हतवत् रामस्य लोकस्य वा ॥

४७—तं यायजूकाः सह भिक्षुं-मुख्यैस्
 तपः-कृशाः शान्त्युदकुम्भ-हस्ताः, ॥
 यायावराः पुष्प-फलेन चाऽन्ये
 प्राणर्चुरर्च्या जगदुर्चनीयम्. ॥ २० ॥

१—पद्येऽसिन्नेकावल्यलङ्कारः । तल्लक्षणं काव्यप्रकाशे भट्ट-मम्मटः—'स्थाप्यतेऽपोह्यते वाऽपि यथा-पूर्वं परं-परम् ॥ विशेषणतया वस्तु यत्र, सैकावली द्विधा. ॥' इति । स्थापने यथा—'पुराणि यस्यां सचराङ्गनानि, वराङ्गना रूप-पुरस्कृताङ्गयः, ॥ रूपं समुन्मीलित-सद्-विलासमस्त्रं विलासाः कुसुमा-ऽऽयुषस्य ॥' किंवा—'स पण्डितो, यः स्वहिताऽर्थे-दर्शी; हितं च तद्, यत्र पराऽनपक्रिया ॥ परे च ते, ये श्रित-साधु-भावाः; सा साधुता, यत्र चकारुयुमाधवः ॥ अपोहने यथा—'निरत्ययं साम न दान-वर्जितं; न भूरि दानं विरहस्य सत्-क्रियाम् ॥ प्रवर्तते तस्य विशेष-शालिनी; गुणाऽनुरोधेन विना न सत्-क्रिया. ॥' इति श्री-भारवि-किराता-उत्तमीये-१।२२। किं वा—'नोऽऽर्थः स, यो न स्वहितं, समीक्षते; न तद् हितं, यत् न पराऽनुतोष-णम् ॥ न ते परे, यैर् नहि साधुता श्रिता; न साधुता सा, नहि यत्र माधवः. ॥' २—'७१४। इज्या-शीलो यायजूकः ।' ३—'७४९। भिक्षुः परिवाद कर्मन्दी पाराशर्यपि मस्करी ॥'

तमित्यादि—यायजूकाः, अत्यर्थं यजनशीलाः । '३१४६। यज-जप-दशां यङः । ३।२।१६६।' इत्यूकः । '२३०८। अतो लोपः । ६।४।४८।' । '२६३१। यस्य हलः । ६।४।४९।' ते तपोवनस्थितास्तं राममागच्छन्तमानुजुः सुष्ठु पूजितवन्तः । अर्चे-
ल्लिटि द्विर्वचनम् । '२२४८। अत आदेः । ७।४।७०।' इति दीर्घत्वम् । '२२८८।
तस्मान्नुद् द्विहलः । ७।४।७१।' इति नुद् । सह भिक्षुमुख्यैः । भिक्षणशीला
भिक्षवः परिव्राजकाः । '३१४८। सनाशंसभिक्ष उः । ३।२।१६८।' तेषां ये प्रधानास्तैः
सह । तपःकृशाः तपसा दुर्बलाः । शान्त्यर्थमुदकं तेन पूर्णः कुम्भः । '९९७।
एकहलादौ—६।३।५९।' इत्यादिना उदकस्य उदभावः । स हस्ते येषामिति
बहुव्रीहिः । परनिपातश्चात्र वाहिताभ्यादिदर्शनात् । प्रहरणार्थेभ्य इति वा ।
शान्त्युदकुम्भस्त्वहितनिवारणसाधर्म्यात् उपचारेण प्रहरणम् । ते शिरःसूदकदानेन
प्राणर्तुः । अन्ये मुनयो यायावरा एकत्रानियतनिलयाः । यातेर्यङन्तात् ।
'१३५६। यश्च यङः । ३।२।१७६।' इति वरच् । अतोलोपादि । पुष्पफलेन प्राणर्तुः ।
पुष्पाणि च फलानि चेति '९१०। ज्ञातिरप्राणिनाम् । २।४।६।' इत्येकवद्भावः ।
अर्च्या अर्चनार्हाः । '२८२२। अर्हे कृत्य—३।३।१६९।' अर्चनीयमित्यत्रापि । जगतां
जगद्भिर्वा, अर्चनीयम् । '६२९। कृत्यानां कर्तरि वा । २।३।७१।' इति पक्षे षष्ठी,
ननु '६२३। कर्तृ-कर्मणोः कृति—२।३।९५।' इति षष्ठी ॥

४८—विद्यामर्थेन विजयां जयां च

रक्षो-गणं क्षिमुर्म-विक्षताऽऽत्मा ॥

अध्यापिपद् गाधि-सुतो यथावन्

निघातयिष्यन् युधि यातुधानान् ॥ २१ ॥

विद्यामित्यादि—तपोवनं प्राप्तः गाधिसुतः एनं रामम् । '३५१। द्वितीया-
द्यै—२।४।३४।' इत्येनादेशः । विद्यां नाम्ना विजयां जयां च । यथावत् यथाविधि ।
अध्यापिपत् पाठितवान् । '२६०१। गौ च संश्रद्धोः । ६।१।३१।' इति गाङ्भावपक्षे
रूपम् । अधिपूर्वादिको हेतुमणिश्चि '२६००। क्रीड्जीनां गौ । ६।१।४८।' इत्या-
त्वम् । पुगादिविधयः । रक्षोगणम् । क्षिमुं प्रेरयितारम् । '३१२०। त्रसि-गृधि—
३।२।१४०।' इत्यादिना क्लृः । '६२७। न लोका—२।३।६९।' इति षष्ठीप्रतिषेधात्
द्वितीयैव । अविक्षतात्मा रागादिभिरनभिभूतचित्तवृत्तिः । तस्य हि विद्या असौघा
भवति । संप्राप्ते युधि । यातुधानान् रक्षांसि । निघातयिष्यन् मारयिष्यन् ।
हन्तेर्हेतुमणिश्च । घत्वं । लट् लटः सदादेशः ॥

४९—आयोधने स्थायुकमन्त्रजात-

ममोघमभ्यर्ण-महाऽऽहवाय ॥

ददौ वधाय क्षणदा-चराणां

तस्मै मुनिः श्रेयसि जागरूकः ॥ २२ ॥

आयोधन इत्यादि—स मुनिः तस्मै रामायास्त्रजातम्, अस्त्रसमूहं ददौ दत्तवान् । ददातेर्लिङ् । णल् ‘२३७१ आत औ णल् ॥ ७११३४’ आयुध्यन्ते अस्त्रिन्निति आयोधनं संग्रामः । अधिकरणे ल्युट् । तत्र स्थायुकं स्थितिकरणशीलम् जयावहत्वात् । ‘३१३४ लष-पत-॥ ३१२१५४१’ इत्यादिना उक्त्वा । आतो युक् । अत एवामोघं अवन्ध्यम् । अवृथामोक्षत्वात् । अभ्यर्णो निकटो महाहवो यस्य तस्मै । अभिपूर्वादर्देर्निष्ठायास्, ‘३०६५ अमेश्राविदूयै ॥ ७१२२५१’ इतीदृमतिषेधः । ‘३०१६ र-दा-भ्याम्-॥ ८१२४२१’ इति नत्वम् । अभ्यर्णः । आहव इति आहूयन्ते अस्मिन्नुद्धायेति हूयतेराङ्पूर्वात् ‘३२५० आडि युद्धे ॥ ३१३७३१’ इति सम्प्रसारणम् । अप्रत्ययः । गुणावादेशौ । वधाय क्षणदाचराणामिति क्षणदा रात्रिः तत्र चरन्तीति ‘२९३० चरेष्टः ॥ ३१२१६१’ तत्र हि महाहवे रामो राक्षसान् हनिष्यतीति । ‘३२५३ हनश्च वधः ॥ ३१३७६१’ इति वधादेशः । कृतप्रयोगे क्षणदाचराणामिति कर्मणि षष्ठी । श्रेयसि जागरूकः तत्कल्याणे सावधानः जागर्तारूकः ॥

५०—तं विप्र-दर्शं कृत-घात-यत्ना

यान्तं वने रात्रि-चरी डुढौके, ॥

जिघांसु-वेदं धृत-भासुराऽस्त्रस्

तां ताडकाऽऽख्यां निजघान रामः. ॥ २३ ॥

तमित्यादि—विधामस्त्रजातं चादाय यज्ञकर्मणि विघ्नोपशमनार्थं वने यान्तं रामम् रात्रिचरी राक्षसी ताडकाभिधाना डुढौके ढौकते स्म । ढौकतेरात्मनेपदिनो लिटि रूपम् । तां च रामो निजघान निहतवान् । विप्रदर्शं कृतघातयत्ना विघ्नान् ब्राह्मणान् दृष्ट्वा कृतमारणाभियोगा रात्रिचरी । रामोऽपि जिघांसुवेदं धृतभासुरास्त्रः । जिघांसुं विदित्वा धृतं भासुरं भासनशीलम् अस्त्रं येनेति बहुव्रीहिः । विप्रदर्शं जिघांसुवेदमिति । ‘३३५० कर्मणि दृशि-विदोः साकल्ये ॥ ३१४१२१’ इति णमुल् ॥

५१—अथाऽऽलुलोके हुत-धूम-केतु-

शिखाऽञ्जन-स्निग्ध-समृद्ध-शाखम् ॥

तपो-वनं प्राध्ययनाऽभिभूत-

समुच्चरच्च-चारु-पतत्रि-शिञ्जम्. ॥ २४ ॥

अथेत्यादि—अथासौ रामो राक्षसीं हत्वा तपोवनं आलुलोके दृष्टवान् ।

कथम्भूतम् । हुतधूमकेतुशिखाञ्जनस्निग्धसमृद्धशाखम् । हुतश्चासौ धूमकेतुरग्निश्च
हुतधूमकेतुः । तस्य शिखाञ्जनेन स्निग्धाः समृद्धाश्च फलादिना शाखा यस्य
तपोवनस्य । प्राध्ययनेन वेदपाठेन अभिभूता तिरस्कृता समुचरन्ती चार्वा शोभना
पतत्रिणां पक्षिणां शिञ्जा ध्वनिर्यत्र । '१०९८ । शिजि अव्यक्ते शब्दे ।' शिञ्जनं
शिञ्जा '३२८० । गुरोश्च हलः । ३१३ । १०३ ।' इत्याकारप्रत्ययः । पतन्तं त्रायन्त इति
पतत्राणि पक्षाः । '२९१५ । आतोऽनुपसर्गे कः । ३१२ । ३१ ।' तानि येषां सन्तीति
पतत्रिणः । पतङ्गशिञ्जमिति पाठान्तरम् ॥

५२—क्षुद्रान् न जक्षुर् हरिणान् मृगेन्द्रा,

विश्वसे पक्षि-गणैः समन्तात्, ॥

नन्नम्यमानाः फल-दिस्सयेव

चकांशिरे तत्र लता विलोलाः ॥ २५ ॥

क्षुद्रानित्यादि—तत्र तस्मिन्स्तपोवने तपोवनानां मित्रभावात् क्षुद्रानि-
तरानपि हरिणान्मृगेन्द्राः सिंहाः न जक्षुः न बाधितवन्तः । क्षुद्यन्त इति क्षुद्राः ।
स्फायितञ्जीत्यादिना औणादिको रक् । '२४२३ । लिट्यन्यतरस्याम् । २ । ४ । ४० ।'
इति अदेर्वस्त्व । '२३६३ । गम-हन- । ६ । ४ । ९८ ।' इत्यादिनोपधालोपः '१२१ । खरि
च । ८ । ४ । ५५ ।' इति चत्वम् । '२४१० । शसि-वसि- । ८ । ३ । ६० ।' इत्यादिना षत्वम् ।
पक्षिगणैः समन्तात्सर्वत्र विरुद्धैरपि काकोलकादिभिः परस्परं विश्वसे विश्वस्तम् ।
भावे लिट् । लताश्च विलोलाश्चपलाश्चकाशिरे शोभन्ते स्म । फलदिस्सयेव मुनिभ्यः
फलं दातुमिच्छयेव नन्नम्यमानाः अत्यर्थं नमन्त्यः । दातुमिच्छा दिस्सा । ददातेः
सन् । '२६५३ । सनि मी-मा- । ७ । ४ । ५४ ।' इत्यादिना इस् । '२६२० । अत्र लोपो-
ऽभ्यासस्य । ७ । ४ । ५८ ।' इति अभ्यासलोपश्च । '२३४२ । सः सि- । ७ । ४ । ४९ ।' इत्या-
दिना सकारस्य तकारः । '३२७९ । अ प्रत्ययात् । ३ । ३ । १०२ ।' इत्यकारप्रत्ययः ।
फलानां दिस्सेति कर्मणि षष्ठीं विधाय कृद्योगे समासः । नन्नम्यमाना इति नमे-
र्यङि '२६४३ । नुगतोऽनुनासिक- । ७ । ४ । ८५ ।' इति नुक् । यङन्ताच्छानच् ।
आने मुक् ॥

५३—अपूपुजन् विष्टर-पाद्य-माल्यै-

रातिथ्य-निष्णा वन-वासि-मुख्याः, ॥

प्रत्यग्रहीष्टां मधुपर्क-मिश्रं

तावासनाऽऽदि क्षिति-पाल-पुत्रौ ॥ २६ ॥

१—'६९४ । काष्ठं दीप्तौ ।' २—'१३७८ । विष्टरो विटपी दर्भ-मुष्टिः पीठाऽऽद्यमासनम् ।'
३—'७३८ । पाद्यं पादाय वारिणि ।' ४—'६९९ । माल्यं मालास्रजौ मुष्टिः ।'

अपूपुजन्नित्यादि—वनवासिमुख्याः महर्षयो विष्टरादिभिः अपूपुजन्
पूजितवन्तः । तौ क्षितिपालपुत्रावित्यर्थात् द्वितीयान्तेन योज्यम् । वनवासीनि
'१७६। शय-वास-।६।३।१८।' इत्यादिना विकल्पेन सप्तम्या अलुक् । पूजेः
स्वार्थिकण्यन्तस्य गौ चङि ह्रस्वः । '२३१८। दीर्घो लघोः । ७।४।९४।' इति
अभ्यासस्य दीर्घः । विष्टरमासनम् । '३२३३। वृक्षासनयोर्विष्टरः । ८।३।९३।'
इति निपातनात् । प्राचं पादार्थमुदकम् । २०५३। पादार्वाभ्यां च । ५।४।२५।'
इति यत् । तदर्थत्वात्पद्माभावः । मालयानि कुसुमानि । मालायां साधूनि ।
'१६५०। तत्र साधुः । १।४।९८।' इति यत् । आतिथ्य-निष्णाः अतिथ्यर्थम्
आतिथ्यम् । '२०९४। अतिथेर्व्यः । ५।४।२६।' तत्र निष्णाः कुशलाः । '३०८२।
नि-नदीभ्यां स्नातेः कौशले । ८।३।८९।' इति षत्वम् । तौ च क्षितिपालपुत्रौ
रामलक्ष्मणौ तदासनादि प्रत्यग्रहीष्टां प्रतिगृहीतवन्तौ । प्रतिपूर्वाद् ग्रहेर्लुङ् ।
तसस्ताम् । '२५६२। ग्रहोऽलिटि-। ७।२।३७।' इति दीर्घः । षत्वष्ट्वे । मधुपर्क-
मिश्रम् मधुपर्केण सहेत्यर्थः ॥

५४-दैत्याऽभिभूतस्य युवामवोढं

भग्नस्य दोर्भिर् भुवनस्य भारम्, ॥

हवींषि संप्रत्यपि रक्षतं, तौ

तपो=धनैरित्थमभाषिताम्. ॥ २७ ॥

दैत्येत्यादि—दितेरपत्यानि दैत्याः । '१०७७। दित्यदित्या-। ४।१।८५।' इत्या-
दिना ण्यः । तैरभिभूतस्य भग्नस्य शरण्यस्य भुवनस्य भारमितिकर्तव्यतालक्षणं
दोर्भिर्भुजैः युवामवोढम् ऊढवन्तौ । नरनारायणौ युवामित्युक्तौ । त्वं च त्वं
चेति एकशेषः । अवोढमिति वहेर्लुङ् । थसस्तम् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः ।
सिजलोपः । '२३५७। सहि वहोः । ६।३।११२।' इत्योत्वम् । ढत्वष्ट्वढलोपाः ।
दोरिति दमेर्डोसित्यौणादिको डोस् । हवींषि होतव्यानि । सम्प्रत्यपि रक्षतम् ।
अर्चिरुचिहुसपिच्छादिच्छर्दिभ्य इतिरित्यौणादिक इतिः । राक्षसैरुपहन्यमानानि
रक्षतम् । प्रार्थनायां लोट् । शप् । थसस्तम् । इत्थमिति '१९६५। इदमस्थमुः
। ५।३।२४।' अनेनोक्तप्रकारेण । तपोधनैस्तप एव धनं येषामिति । अभाषिताम्
अभिहितौ । भाषतेः कर्मणि लुङ् । सिजितौ ॥

५५-तान् प्रत्यवादीदथ राघवोऽपि—

यथेप्सितं प्रस्तुत कर्म धर्म्यम्, ॥

तपो-मरुद्भिर् भवतां शराऽग्निः

संधुक्ष्यतां नोऽरि-समिन्धनेषु ॥ २८ ॥

तानित्यादि—अथैतस्मिन् प्रस्तावे राघवोऽपि रघुसुतः तान्मुनीन् प्रत्यवादी-
त् । ‘२२६७। वद-व्रज-।७।२।३।’ इत्यादिना वृद्धिः । यथेप्सितं यथाभिमतम् ।
आप्तेतेः ‘२६१९। आप-ज्ञप्पुधामीत् ।७।४।५।’ इतीवम् अभ्यासलोपश्च ।
सन्नतात्कर्मेणि निष्ठा । धर्मादनपेतं धर्म्यम् यागादि कर्म । प्रस्तुतं प्रारम्भध्वम् ।
प्रपूर्वः स्तौतिः प्रारम्भे वर्तते । तस्मान्निमग्नणे नियोगकरणे लोद । तस्य तः । शपो
लुक् । तपांसि मरुत इव तपोमरुद्भिः । भवतां तपोमरुद्भिर्नोऽस्माकम् । ‘४०५।
बहुवचनस्य वस्-नलौ ।८।१।२१।’ इति नसादेशः । शराग्निः शरोऽग्निरिव ।
संधुक्ष्यतां दीप्यताम् । ‘६४४। बुक्ष, धिक्ष, सन्दीपन-क्लेदन-जीवनेषु ।’ तस्मा-
त्कर्मेणि लोद । अरिसमिन्धनेषु अरिकाष्ठेषु । समिध्यते पृभिरिति समिन्धनानि ।
करणे ल्युट् । अरयः समिन्धनानीव ॥

५६-प्रतुष्टुबुः कर्म ततः प्रहृसैस्

ते यज्ञियैर् द्रव्य-गणैर् यथावत्, ॥

दक्षिण्य-दिष्टं कृतमात्विजीनैस्

तद् यातुधानैश् चिचिते प्रसर्पत् ॥ २९ ॥

प्रतुष्टुबुरित्यादि—ततो रामवचनादनन्तरं तपोधनाः कर्म यागक्रियां प्रतु-
ष्टुबुः । यथावत् यथाविधि प्रारब्धवन्तः । यज्ञियैः यज्ञकर्माहैः द्रव्यगणैः प्रहृसैः
मिलितैः । ‘२३५०। कृपो रो लः ।८।२।१८।’ दक्षिणामर्हन्तीति दक्षिण्याः
महामुनयः ‘१७३३। कडङ्कर-दक्षिणाच्छ च ।५।१।६९।’ इति चकाराद्यत् ।
तैर्दिष्टमुक्तम् । कृतमात्विजीनैः ऋत्विक्कर्माहैरनुष्ठितम् । ऋत्विजश्च ब्रह्मादयः
षोडश पठिताः । तच्च कर्म प्रसर्पत् वृद्धिं गच्छत् । यातुधानै राक्षसैः
चिचिते ज्ञातम् । ‘३५। चिती’ संज्ञाने’ इत्यस्मात् कर्मणि लिट् । यज्ञियैरा-
त्विजीनैरिति ‘१७३५। यज्ञत्विग्भ्यां घञञौ ।५।१।७१।’ इति तत्कर्माहतीति ॥

५७-आपिङ्ग-रूक्षोर्ध्व-शिरस्य-वालैः

शिराल-जङ्घैर् गिरि-कूट-दन्तैः ॥

१—पथेऽस्मिन् रूपकाऽलंकारः । तल्लक्षणं का० प्र० म० भस्मटः—‘तद् रूपकममेदो य
उपमानोपमेययोः ॥’ इति । यथा—‘एष मनःस्वैरपशुर् धावति पर-कलक-कामिनीनिकटम्, ॥
तस्माद् निवेक-पाशैः कण्ठे वैराग्य-काष्ठ-मावध्यम् ॥’ किं वा—‘दुष्यन्तसद्य-पद्मं सा स्त्री-श्रीः
कण्ठ-भानु-शिष्य-करैः । नीता ‘स-सुत-सुगन्धा सद्-धनैर्नयाऽनुपूर्ण-पुर-सरसि ॥’ स्वकृत-
संस्कृत-भाषान्तर-पद्य-मालायाम् । २—‘१४३४। रूक्षस् त्व-प्रेम्य-चिक्कणे’ इति ना० अ० ।
‘२०५६। रूक्ष पाठ्ये ।’ इति धा० पा० ।

ततः क्षपाऽटैः पृथु-पिङ्गलाऽक्षैः

खं प्रावृषेण्यैरिव चाऽऽनशेऽब्दैः ॥ ३० ॥

आपिङ्गल्यादि—ततः कर्मप्रवर्तनादनन्तरम् । क्षपाटैः निशाचरैः । अट-
न्तीत्यटाः प्रचायच् । क्षपायामटा इति । सप्तमीति योगविभागात् समासः ।
खमाकाशमानशे व्यासम् । अश्रोतेः कर्मणि लिट् । '२५३३' अश्रोतेश्च । '७।४।७२।' इति लुङ् ॥ शिरसि जाताः शिरस्याः । '१६६६' शरीरावयवाद्यत् । '५।१।६।' आपिङ्गा आ समन्तात् पिङ्गा विद्युदिव । रुक्षाः सूक्ष्माः ऊर्ध्वशिरस्या बाला येषां
तैः । अन्योऽपि शिरस्यो भवति इति बालग्रहणम् । अमङ्गलबाला इत्यर्थः । शिराः
सन्ति यासामिति '१९०३' प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् । '५।२।९६।' इति
लच् । शिराला जङ्घा येषां तैः । गिरिकूटदग्नैर्गिरिकूटप्रमाणैः । '१८३८' ।
प्रमाणे द्वयसच्—'५।२।३७।' इति दघच् । पृथूनि विस्तीर्णानि । पिङ्गलानि चाक्षीणि
येषां तैः । '८५२।' बहुव्रीहौ सक्थ्यङ्गोः—'५।५।११३।' इति षच् । प्रावृषे-
ण्यैरिवेति '१३८८' प्रावृष एण्यः । '४।३।१७।' अब्दैर्मैघैः कृष्णसाधर्म्यात् । अपो
ददतीति अब्दाः । चकारः पादपूरणार्थः ॥

५८—अधि-ज्य-चापः स्थिर-बाहु-मुष्टि-

रुदञ्चिताऽक्षोऽञ्चित-दक्षिणोरुः ॥

तान् लक्ष्मणः सन्नत-वाम-जङ्घो

जघान शुद्धेषुर-मन्द-कर्षी ॥ ३१ ॥

अधीत्यादि—तान् क्षपाटान् गगनस्थान् लक्ष्मणो जघान हतवान् । क्री-
दशः । अधिज्यचापः । अध्यारूढा उत्कलिता ज्या गुणो यस्य चापस्य तदधि-
ज्यम् । प्रादिभ्यो धातुजस्येति समासः । अधिज्यं चापं यस्य लक्ष्मणस्य । स्थिरो
निश्चलो बाहुर्मुष्टिश्च यस्य । उदञ्चिते उत्क्षिप्ते अङ्घ्रिणी येन स उदञ्चिताक्षः । आका-
शस्थापितदृष्टिरित्यर्थः । अञ्चितः सङ्कोचितो दक्षिणोरुर्येन सोऽञ्चितदक्षिणोरुः ।
अञ्जेः पूजायामितीदोऽनुत्पन्नात् प्यन्तस्य रूपम् । न चात्र पूजा गम्यते
किन्तु गतिविशेष एव । अनुषङ्गलोपोऽपि न भवति णिलोपस्य स्थानिवद्भावात् ।
समन्तात् नता वामजङ्घा यस्य स सन्नतवामजङ्घः । शुद्धेषुः निश्चितबाणः ।
अमन्दमत्यन्तं क्रुधं शीलमस्यासावमन्दकर्षी । कर्णान्ताकृष्टचाप इत्यर्थः ॥

५९—गाधेय-दिष्टं वि-रसं रसन्तं

रामो ऽपि माया-चणमस्त्र-चुञ्चुः ॥

स्थातुं रणे स्मेर-मुखो जगाद

मारीचमुच्चैर् वचनं महाऽर्थम् ॥ ३२ ॥

गाधेयेत्यादि—गाधेरपत्वं गाधेयो विश्वामित्रः । अच इत्यनुवर्तमाने
‘११२५। इतश्चानिजः । १४। ११२२।’ इति ढक् । तेन दिष्टं कथितं मारीचं नाम
राक्षसं रामो जगाद गदितवान् । रसन्तम् वदन्तम् । विरसमश्राव्यमिति
क्रियाविशेषणम् । मायाचणं मायया वित्तम् । अस्त्रुश्रुः अस्त्रैः प्रतीतो रामः ।
‘१८२७। तेन वित्तश्रुश्रुपूचणपौ । ५। २। २६।’ इति । स्थासुं रणे स्थितिशीलम् ।
तस्य सेनापतित्वात् । स्मेरमुखः चित्तस्याक्षोभादीषड्सनशीलवदनः । ‘३१४७।
नमिकम्पि । ३। २। १६७।’ इत्यादिना रः । उच्चैस्तरां जगादेति क्रियाविशेषणम् ।
वचनं वक्ष्यमाणं महर्थं प्रधानार्थम् । बुविशासीत्यत्र बुवीत्यर्थग्रहणाद्विकर्म-
कता । मारीचं वचनं च ॥

६०—आत्मं=भरिस् त्वं पिशितैर् नराणां
फले-ग्रहीन् हंसि वनस्=पैतीनाम्, ॥

शौवस्तिक=त्वं विभवा न येषां

व्रजन्ति, तेषां दयसे न कस्मात्. ॥ ३३ ॥

आत्मेत्यादि—नराणां पिशितैर्मांसैः आत्मानं विभर्षि पुष्पासि ।
नान्यदपि शरीरस्थितिहेतुर्भवतीति भावः । स त्वमात्मम्भरिः आत्मभरणाय
फलानि गृह्णन्ति ये वनस्पतीनां तान् फलेग्रहीन् फलाशिनो मुनीन् हंसि
मारयसि । शपो लुक् । ‘२९४०। फलेग्रहीरात्मम्भरिश्च । ३। २। २६।’ इति
निपातितौ । श्रो भवितारः शौवस्तिकाः । ‘१३८५। श्वसस्तुद च । १। ३। १५।’ इति
ठञ् तुडागमश्च । द्वारादित्वादौजागमः । शौवस्तिकत्वं तद्येषां विभवा न व्रजन्ति
तेषामश्वस्तिकवृत्तीनां कस्मान्न दयसे न रक्षसि । ‘६१३। अधीगर्थ-दयेशाम्-।
२। ३। ५२।’ इति कर्मणि षष्ठी ॥

६१—अज्ञो द्विजान्, देवयजीन् निहन्मः,

कुर्मः पुरं प्रेत-नराऽधिवासम्, ॥

धर्मो ह्ययं दाशरथे ! निजो नो,

नैवाऽध्यकारिष्महि वेद-वृत्ते. ॥ ३४ ॥

अज्ञ इत्यादि—राक्षसः प्राह । द्विजान् ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यान् अज्ञो भक्षयामः ।
देवयजीन् देवान् यजन्ति आराधयन्ति ते तांनिहन्मः । ‘अच इः’ इत्यनुवर्तमाने
खनीत्यादिपृष्ठमानेष्वौणादिकेषु सूत्रेषु यद्यपि यजिर्न पठितस्तथापि यजेरिः

१—‘१०६६। उभौ त्वात्मम्भरिः कुक्षिम्भरिः स्त्रोदर-पूरके ॥’ २—‘३५४। वानस्पत्यः
फलैः पुष्पात् तैर्-पुष्पाद् वनस्पतिः ॥ ओषधयः फल-पाकाऽन्ताः स्त्रुवन्धः फले=ग्रहिः ॥’
इति सर्वत्र ना० अ० । ३—‘१३४७। धर्माः पुण्य-यमन्याय-स्वभावाऽऽचार-सोम=पाः ।
इति ना० अ० ।

प्रकृतेश्च तदूह्यमिति वचनात् । ‘६१७। जासि-निग्रहण-१२।३।५६।’ इत्यत्र सङ्गा-
तविगृहीतविपर्यस्तग्रहणात् षष्ठी प्राप्तापि न भवति । कर्मणः शेषत्वेनाविवक्षि-
तत्वात् । पुरं नगरं प्रेतनराणां मृतनराणाम् । अधिवासमवस्थानं कुर्मः ।
नित्यहननेन स्मशानतुल्यमित्यर्थः । कस्मादेवमित्याह-धर्म इति । दशरथस्यापत्यं
दाशरथिः । ‘१०९५। अत इञ् १४।१।९५।’ । हे दाशरथे । हि यस्मादर्थे
वर्तते । यस्मादयं धर्मः आचारः । निजो नित्यः । न इत्यस्माकम् । वेदविरुद्ध
इति चेत्-नैवाध्यकारिष्महि वेदवृत्ते । वेदविहितं वृत्तमिति मध्यमपद-
लोपी समासः । यद् ब्राह्मणानामुक्तमनुष्ठानं तत्र वयं नैवाधिकृता इत्यर्थः ।
अधिपूर्वात्करोतेः कर्मणि लुङ् । ‘२७५७। स्यसिच्-१६।४।६२।’ इत्यादिना
चिण्वदिह ॥

६२-धर्मोऽस्ति सत्यं तव राक्षसाऽय-

मन्यो व्यतिस्ते तु ममाऽपि धर्मः, ॥

ब्रह्म-द्विषस् ते प्रणिहन्मि येन,

राजन्य-वृत्तिर् धृत-कार्मुकेषुः ॥ ३५ ॥

धर्म इत्यादि—रामः प्राह । हे राक्षस रक्ष एव राक्षसः । प्रज्ञादित्वा-
दण् । स्वार्थिका अतिवर्तन्त इति पुंलिङ्गता । तवायं पूर्वोक्तः पराभिद्रोहलक्षणो
धर्मोऽस्तीति सत्यमेतत् किन्तु ममापि रामस्य अन्यो धर्मोऽशिष्टनिग्रहलक्षणो
व्यतिस्ते व्यतिभवते । इदमुक्तं भवति—यद्यप्येवंप्रकारस्त्वद्धर्मो भविष्यति
तथापीदानीमेव या त्वद्धर्मेण विद्यमानतया निष्पाद्या सा अस्मद्धर्मेणैव निष्पाद-
कत्वेन व्यतिस्ते । ततश्चान्यसम्बन्धिनीं क्रियामन्यः करोति इतरसम्बन्धिनीमि-
तर इति धर्मव्यतिहारसम्भवात् । अस्तेः ‘२६८०। कर्मव्यतिहारे ११।३।१४।’
तङ् । तथाहि यो यदवसरे यां कांचित् क्रियां करोति स तत्क्रियाकारीत्युपचा-
रालोक उच्यते । येन धर्मेण हेतुना ब्रह्मद्विषस्ते प्रणिहन्मि मारयामि स व्यति-
स्ते इति योज्यम् । ‘२२८५। नेर्गद्-१८।४।१७।’ इत्यादिना णत्वम् । ‘६१७।
जासि-नि-२।३।५६।’ इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । तथा कथं तव धर्म इति चेदाह-
राजन्यवृत्तिरिति । क्षत्रियवृत्तिः । ततो राज्ञोऽपत्यम् । ‘११५३। राजश्वशुराद्यन्
१४।१।१३७।’ । ‘११५४। ये च १६।४।१६८।’ इति प्रकृतिभावः । धृतं कार्मुकम् इष-
वश्च येन सः । यतः अहं राजन्यवृत्तिः ततोऽहं धृतकार्मुकेषुरिति । ‘धृतकार्मुकेषु’
इति पाठान्तरम् । क राजन्यवृत्तिः सायुधेर्वित्यर्थः ॥

६३-इत्थं-प्रवादं युधि संप्रहारं

प्रचक्रत राम-निशा-विहारौ, ॥

तृणाय मत्वा रघु-नन्दनो ऽथ

बाणेन रक्षः प्रधनान् निरास्थत्. ॥ ३६ ॥

इत्थमित्यादि—इत्थम् अनेन प्रकारेण प्रवादः अन्योन्याभिधातो यत्र संप्र-
हारे तं संप्रहारं परस्पराभिभवलक्षणं प्रकृतवन्तौ । युधि रणभूमौ । युध्यन्ते
अस्यामिति । सम्पदादित्वादधिकरणे क्तिप् । रामनिशाविहारौ । रामो निशावि-
हारो निशाचरो मारीचश्चेत्यर्थः । निशायां विहारो यस्येति समासः । अथानन्तरं
रघुनन्दनो रघुवंशस्य नन्दयिता रामो रक्षः मारीचं बाणेन तत्सम्बन्धिनि
सत्यपि तृणाय मत्वा तृणमिव अवमत्य—। ‘५८४ । मन्यकर्मण्यनादरे—। २।३।१७।’
इति चतुर्थी तत्र प्रकृष्टकुत्सितग्रहणं कर्तव्यम् । इह मा भूत् । तृणं मत्वेति ।
प्रधनात् संग्रामात् निरास्थत् अपनीतवान् ॥

६४—जग्मुः प्रसादं द्विज-मानसानि,

द्यौर् वर्षुका पुष्प-चयं बभूव, ॥

निर्-व्याजमिज्या ववृते. वचश्च च

भूयो बभाषे मुनिना कुमारः—॥ ३७ ॥

जग्मुरित्यादि—यागविधिकारिषु निरस्तेषु द्विजानां मानसानि मनांस्येव
मानसानि । ‘२१०६ । प्रज्ञादि—५।४।३८।’ इत्यण् । प्रसादम् अव्याकुलत्वं जग्मुः
गतानि । ‘२३६३ । गम—। ६।२।९८।’ इत्युपधालोपः । द्यौः पुष्पचयं वर्षुका वर्षण-
शीला बभूव भवति स्म । ‘३१३४ । लष-पत-पद—३।२।१५४।’ इत्यादिना उकञ् ।
‘६२७ । न लोका—। २।३।६९।’ इति षष्ठीप्रतिषेधः । निर्व्याजं निर्विघ्नम् । इज्या
यागः । ‘३२७५ । ब्रज-यजोर्भावे—। ३।३।९८।’ इति क्यप् । ववृते वृतः लिट् ।
भूवः पुनरपि मुनिना गाढेयेन । कुमारः । अकृतदारकर्मत्वात् । वचो वक्ष्य-
माणं बभाषे । कर्मणि लिट् । सुवीत्यर्थग्रहणात् द्विकर्मकता । वचः कुमारश्च ॥

६५—महीय्यमाना भवताऽतिमात्रं

सुराऽध्वरे घस्मर-जित्वरेण ॥

दिवोऽपि वज्राऽऽयुध-भूषणाया

हिणीयते वीर-वती न भूमिः. ॥ ३८ ॥

१—‘८६९ । शुद्धमायोधनं जन्मं प्रधनं प्रविदारणम् ॥ वृधमास्कन्दनं संख्यं समीकं साम्परा-
धिकम् ॥’ इति जा० अ० । २—‘१२३६ । दन्त-विप्राऽण्ड=जा द्विजाः ।’ ३—‘१०६५ ।
भक्षकौ घस्मरो ऽध्वरः ।’ ४—‘८४२ । जेता जिष्णुश्च जित्वरः ।’ इति सर्वत्र जा० अ० ।

महीत्यादि—भवता भूमिः पृथिवी महीय्यमाना पूज्यमाना । अतिमात्रं सुष्ठु सम्यक् पालनाद्विवोऽपि स्वर्गस्य न हिणीयते न लज्जते किंतु प्रतिस्पर्धत इति भावः । ‘२१३८। हिणी महीङ्’ इति कण्ड्वादिपाठाद्यक् । डिवात्तङ् । अवयवे कृतं लिङ्गं समुदायस्य विशेषकं भवतीति महीयशब्दात्कर्मणि लकारः । शानच् । यक् । अतो लोपः । मुक् । महीय्यमानेति रूपम् । सुराध्वरे सुरालुदिश्य योऽध्वरो यज्ञः क्रियते तत्र । घस्सराः अदनशीला राक्षसाः । ‘३१४०। सृघ-स्यदः कमरच्-३।२।१६०।’ तेषां जित्वरेण जयशीलेन भवता । ‘३१४३। इण् नञ्-जि-३।२।१६३।’ इत्यादिना करप् । वज्रायुधभूषणायाः शक्र एवालङ्कारो यस्याः दिवः । वीरवती त्वद्विधो वीरो यस्यां भूमाविति ॥

संक्षेपेण स्तुतिमाह—

६६—बलिर् बवन्धे, जल-धिर् ममन्धे,

जहेऽमृतं, दैत्य-कुलं विजिग्ये, ॥

कल्पाऽन्त-दुःस्था वसुधा तथोहे

येनैष भारोऽति-गुरुर् न तस्य. ॥ ३९ ॥

बलिरित्यादि—येन भवता बलिर्बवन्धे बद्धः । जलधर्ममन्धे मथितः । मन्दरं दोर्मिर्गृहीत्वा । ‘४३। मन्ध विलोडने ।’ इत्यस्य रूपम् । संयोगान्तत्वा-ल्लिटोऽक्तिवे अनुनासिकलोपो न भवति । जहेऽमृतम् । स्त्रीरूपधारिणा । दैत्य-कुलं विजिग्ये विजितमनेकधा । ‘२३३१। सन्-लिटोर्जेः । ७।३।५७।’ इति कुत्वम् । ‘२७२। एरनेकाचः । ६।४।८२।’ इति यणादेशः । तथा कल्पान्ते प्रलये दुःस्था दुःस्थिता वसुधा पृथिवी । ऊहे उद्धृता । वराहरूपिणा । वहेर्यजादित्वात् संप्र-सारणम् । तस्य भवत एष भारो मुनिजनरक्षणम् अतिगुरुर्न भवति । सर्वत्र कर्मणि लिट् ॥

६७—इति ब्रुवाणो मधुरं हितं च

तमाञ्जिहन् मैथिल-यज्ञ-भूमिम् ॥

रामं मुनिः प्रीत-मना मखाऽन्ते

यशांसि राज्ञां निजिघृक्षयिष्यन्, ॥ ४० ॥

इतीत्यादि—इति यथोक्तप्रकारेण मधुरं श्रोत्रसुखं हितं च ब्रुवाणः अभि-दधानः । ‘३१०३। लक्षण-हेत्वोः-३।२।१२६।’ इति शानच् । मुनिः प्रीतमनाः मखान्ते यज्ञावसाने तं रामं मैथिलस्य यज्ञभूमिं आञ्जिहत् गमितवान् मिथि-लानां राजेति । ‘११८६। जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् । ४।१।१६८।’ इत्यत्र तस्य राजन्यपत्यवदित्यतिदेशादञ् । ‘६७८। अहिं गतौ ।’ ‘२२६२। इदितो नुम्-७।१।५८।’ प्रयोजकव्यापारे णिच् । लुङ् आह चङि णिलोपः । ‘२२४३। द्विर्वचनेऽचि । १।१।५९।’ इति स्थानिवद्भावात् ‘२१७६। अजादेर्द्वितीयस्य । ६।१।२।’ इति द्वि-
म० का० ४

ब्दस्य द्विर्वचनम् । '२४५६ न न्द्राः—६।१।३।' इति नकारस्य प्रतिषेधः । अभ्या-
सकार्यम् । आजिहदिति रूपम् । राज्ञां यशांसि निजिघृक्षयिष्यन् निग्रहीतुम-
भिभवितुमेषयिष्यन् । ग्रहेः सन् । '२६१०। सनि ग्रह-गुहोश्च । ७।२।१२।' इति
इहप्रतिषेधः । द्विर्वचनादि । '१६०९। रुद-विद—।१।२।८।' इत्यादिना सनः
क्त्विच् । '२४१२। ग्रहि-ज्या—।६।१।१६।' इत्यादिना संप्रसारणम् । ढत्वभ्रभावौ ।
गकारस्य घकारः । कत्वषत्वे । पश्चाणिच् । तदन्ताद्भविष्यत्सामान्यविवक्षायां
लुट् । तेन भविष्यदनद्यत्ने लुट् न भवति ॥

६८—एतौ स्म मित्रा-वरुणौ किमेतौ,
किमश्विनौ सोम-रसं पिपासू, ॥
जनं समस्तं जनकाऽऽश्रम-स्थं
रूपेण तावौजिहतां नृ-सिंहौ ॥ ४१ ॥

एतावित्यादि—एतौ तत्रागतौ नृसिंहौ नरौ सिंहाविव । जनकाश्रमस्थं जनं
रूपेण स्वरूपतया औजिहतां वितर्कं कारितवन्तौ । सिंहाविव । '६९५। ऊहं वित-
र्कं ।' इत्यस्माद्वातोः ण्यन्तात् कर्तुः क्रियाफलाविवक्षायां '२५६३। णिचश्च । १।३।
६४।' इति तद्ध न भवति । चङि णिलोपस्य स्थानिवद्भावात् । '२१७६। अजादेर्द्वि-
तीयस्य । ६।१।२।' इति द्विर्वचनम् । ऊहमाह—मित्रावरुणौ आदित्यवरुणौ ।
'९२२। देवता-द्वन्द्वे च । ६।३।२६।' इत्यानङ् । तयोर्महानुभावत्वात् । सोमरसं
पिपासू पातुमिच्छू । '६२७। न लोका—।२।३।६५।' इति षष्ठीप्रतिषेधः । एतावा-
गतौ । आङ्पूर्वस्येणो निष्ठायां रूपम् । किमश्विनौ अश्विनीकुमारौ सोमरसं पिपासू
एताविति । एवं जनम् औजिहताम् । सुशब्दपाठे एतौ सुमित्रेति पाठः । एतौ
स्म मित्रेति स्मशब्दो निपातः पादपूरणार्थः ॥

६९—अजिग्रहत् तं जनको धनुस् तद्
'येनाऽर्दिदद् दैत्य-पुरं पिनाकी', ॥
जिज्ञासमानो बलमस्य बाहोर्-
हसन्नभाङ्गीद् रघु-नन्दनस् तत् ॥ ४२ ॥

अजिग्रहदित्यादि—येन धनुषा दैत्यपुरं पिनाकी महादेव आर्दिदत् हिं-
सितवान् । अर्देः स्त्रार्थिकण्यन्तात् चङि । '२१७६। अजादेर्द्वितीयस्य । ७।१।२।' इति
दिशब्दो द्विरुच्यते । रेफस्य प्रतिषेधः । तद्धनुः तं रामं जनकः अजिग्रहत् योधितवान् ।

१—नृसिंहवित्युपमान-पूर्वपदः कर्मधारय-समासस्तत्रोदाहरणं समास-कुसुमावल्याम्
'रामोऽयं पुरुष-व्याघ्रः संव्रतः कपि-कुञ्जरैः ॥ इतिष्यति बलद् युद्धे रावणं राक्षस-
वैभम् ॥ १७ ॥' । 'स्युर्स्तरपदे व्याघ्र-पुङ्गव-वैभ-कुञ्जराः ॥ ११०५। सिंह-शार्दूल-नागाऽऽद्याः
पुंसि श्रेष्ठाऽर्थमोचराः ॥' इति ना० अ० ।

अनेन धनुषा त्रिपुरं दग्धमिति । ग्रहेर्हेतुमण्यन्ताच्चङ्चि णिलोपः । '२३१४।
णौ चङ्-।७।४।१।' इति ह्रस्वः । सन्वज्ञावाङ्मिहत्वम् । ग्रहेश्च बुद्ध्यर्थत्वात् । '५४०।
गतिबुद्धि-।१।४।५२।' इत्यादिना रामस्य कर्मसंज्ञा । अस्य रामस्य बाह्योर्ध्वजयो-
र्बलं जिज्ञासमानो जनकः । एवंभूतं धनुः हसन् स्मयमानो रघुनन्दनो रामः
अभाङ्गीत् भगवान् । भञ्जेर्लुङि सिचि हलन्तलक्षणा वृद्धिः । तत्र हि हल-
ग्रहणं समुदायप्रतिपत्त्यर्थमित्युक्तम् ॥

७०-ततो नदी-ष्णान् पथिकान् गिरि-ज्ञा-

नाहायकान् भूमि-पतेर्योध्याम् ॥

दित्सुः सुतां योध-हरैस् तुरङ्गैर्

व्यसर्जयन् मैथिल-मर्त्य-मुख्यः ॥ ४३ ॥

तत इत्यादि—धनुर्भङ्गादनन्तरं महानयमिति ज्ञात्वा जनकः सुतां दुहितरं
दित्सुः दातुमिच्छुः । ददातेः । '२६२३। सनि मी-मा-।७।४।५४।' इत्यादिना
अच इस् । द्विवचनम् । '२६२०। अत्र लोप-।७।४।५८।' इत्यभ्यासलोपः ।
'२३२७। सः सि-७।४।७९।' इति तत्त्वम् । '३१४८। सनाशंस भिक्ष उः । ३।२।
१६८।' भूमिपतेर्देशरथस्य आह्वयकान् आह्वयन्ति आकारयन्तीति कर्तरि ण्वुल् ।
'२७६१। आतो युक्-।७।३।३।' कृत्प्रयोगे भूमिपतेः कर्मणि षष्ठी । तान्
अयोध्यां व्यसर्जयत् विसर्जितवान् । विपूर्वस्य सृजेर्हेतुमण्यन्तस्य लङि रूपम् ।
गत्यर्थत्वात् द्विकर्मकता । नद्यां स्नान्तीति नदीष्णाः । '२९१६। सुपि स्थः । ३।२।
४।' योगविभागात्कः । '२३७२। अतो लोपः-।६।४।६४।' । '३०८२। नि-नदी-
भ्यां स्नातेः-।८।३।८९।' इति षत्वम् । नदीं तरीतुं कुशलानित्यर्थः । पथिकान्
पथि कुशलान् । '१८६३। तत्र कुशलः पथः । ५।२।६३।' इति ठक् । गिरिज्ञान् ।
यथाप्रदेशं गिरिज्ञान् । '२८९७। इगुपध-।३।१।१३५।' इत्यादिना कः । तुरङ्गैः
अश्वैः करणभूतैः । युध्यन्त इति योधाः । पचाद्यच् । तानाहर्तुं क्षमैः । '२९२४।
वयसि च । ३।२।१०।' इत्यच् । हसिमृग्रिणामिदमिल्लुपुर्विभ्यस्तन्' इत्यौणादि-
कस्तन् । ग्रियन्ते प्राणिनोऽस्मिन्निति मर्त्या भूलोकः । तत्र भवा मर्त्या मनुष्याः ।
दिगादेशाकृतिगणत्वात् यत् । आकृतिगणत्वस्य लिङ्गं 'देवमनुष्यपुरुषपुरुषमर्त्येभ्यः'
इति निर्देशः । मुखमेव मुख्यः प्रधानम् । '२०५८। शाखादिभ्यो यत् । ५।३।१०३।' ।
मर्त्यानां मुख्यो मर्त्यमुख्यः । मैथिलश्चासौ मर्त्यमुख्यश्चेति विशेषणसमासः ।
जनक इत्यर्थः ॥

७१-क्षिप्रं ततो ऽध्वन्य-तुरङ्ग-यायी

यविष्ठ-वद् वृद्ध-तमो ऽपि राजा ॥

आख्यायकेभ्यः श्रुत-सूनु-वृत्ति-

रं-ग्लान-यानो मिथिलामगच्छत् ॥ ४४ ॥

क्षिप्रमित्यादि—आख्यान्ति कथयन्ति ये ते आख्यायकास्तेभ्यः श्रुता
सूनुवृत्तिर्येन स राजा दशरथः । सूयत इति सूनः पुत्रः । 'दाभाभ्यां नुः' इति
वर्तमाने 'सुवः किञ्च' इत्यौणादिको नुप्रत्ययः । ततोऽनन्तरमेव क्षिप्रं शीघ्रम् ।
'स्फायि-तञ्चि-' इत्यादिना रक् । क्रियाविशेषणं चैतत् । मिथिलामगच्छत् ।
भरतशत्रुघ्नाभ्यां सहेत्यर्थादनुषक्तव्यम् । गमेलंडि '२४००' इषुगमि-यमां छः
। ७।३।७७।' अध्वानम् अलंगामिनो ये तुरङ्गा अध्वाः ते अध्वन्याः । अलंगामीत्य-
स्मिन्नर्थे '१८१७। अध्वनो यत्-खौ । ५।२।१६।' इति यत् । '११५६। ये चाभाव-
कर्मणोः । ६।४।१६८।' इति प्रकृतिभावः । तैः साधु यातीति साधुकारिणी णिनिः ।
अध्वन्यतुरङ्गायायी । एवं च कृत्वा अग्लानयानः न विद्यते ग्लानं ग्लानिर्यस्मि-
न्याने तत् अग्लानं । अग्लानं यानं यस्य । तादृशैस्तुरङ्गैः सुखयानः । ग्लानेति
भावे निष्ठा । '३०१७। संयोगादेरातः—। ८।२।४३।' इति नत्वम् । वृद्धतमोऽपि
यविष्टवन् । युवशब्दस्येष्टनि '२०१५। स्थूल-दूर-। ६।४।१५६।' इत्यादिना यणादि-
परलोपः पूर्वस्य च गुणः । पश्चात् '१७७८। तेन तुल्यम्-। ५।१।११५।' इति वतिः ॥

७२-वृन्दिष्ठमार्चिद् वसुधाऽधिपानां

तं प्रेष्ठमैतं गुरु-वद् गरिष्ठम् ॥

सदृक्-महान्तं सुकृताऽधिवासं

बंहिष्ठ-कीर्तिं यशसा वरिष्ठम् ॥ ४५ ॥

वृन्दिष्ठमित्यादि—तं राजानमेतमायान्तं जनक आर्चीत् पूजितवान् । अर्चै-
लंडि रूपम् । वृन्दिष्ठं वृन्दारकतमम् । प्रशस्ततममित्यर्थः । केषां वसुधाधिपानां
पृथ्वीपतीनाम् । प्रेष्ठं प्रियतमम् । गुरुवत् गुरुणा तुल्यं वर्तमानं गरिष्ठम् गुरुतम-
म् । सदृक् समानान्ययोश्चैत्युपसंख्यानाद् दृशोः क्तिप् । रुढिशब्दश्चायम् । नात्र
दर्शनक्रिया विद्यते । अभिजनादिभिस्तुल्यो जनक इत्यर्थः । महान्तं महानुभावं
सदृशां मध्ये महान्तम् । सुकृताधिवासं सुकृतनिलयम् । अधिवसत्यस्मिन्निति
अधिकरणे घञ् । बंहिष्ठा बहुलतमा कीर्तिर्यस्य स बंहिष्ठ-कीर्तिः । यशसा वरिष्ठं
गुरुतमम् । अत्र वृन्दारकप्रियगुरुबहुलोरुणामिष्टनि यथासंख्यं '२०१६ ।
प्रिय-स्थिर-। ६।४।१५७।' इत्यादिना वृन्दप्रगर्भहवर इत्येते आदेशा भवन्ति ॥

७३-त्रि-वर्ग-पारीणमसौ भवन्त-

मध्यासयन्नासनमैकमिन्द्रः ॥

२- '११५७। क्षेपिष्ठ-क्षोदिष्ठ-प्रेष्ठ-वरिष्ठ-स्वविष्ठ-बंहिष्ठाः ॥ क्षिप्र-शुद्राऽमीप्सित-पृथु-पीवर-
बहुल-प्रकर्षाऽर्थाः ॥ ११५८। साधिष्ठ-द्राधिष्ठ-स्फेष्ठ-गरिष्ठ-हसिष्ठ-वृन्दिष्ठाः ॥ बाढ-व्यायत-बहु-
गुरु-चामन-वृन्दारकाऽतिशये ॥' इति ना० अ० । २-त्रिवर्गो धर्मकामाऽर्थैश्च, चतुर-वर्गः
सन्मोक्षिकैः, ॥ ७६६। स-बलैश्च तैश्च चतुर-मद्रम् ।'

विवेक-दृश्व-त्वमगात् सुराणां, तं मैथिलो वाक्यभिदं बभाषे ॥ ४६ ॥

त्रिवर्गस्यादि—तं दशरथं मैथिलो जनकः वाक्यभिदं बभाषे । ब्रवीत्यर्थग्रहणात् द्विकर्मकता । किं तद्वाक्यमित्याह—असाविन्द्रो भवन्तम् एकासनमध्यासयन् आरोपयन् विवेकदृश्वत्वमगादिति संबन्धः । आसनस्य '५४२। अधिशीङ्-११।४।४६।' इत्यादिना अधिकरणे कर्मसंज्ञा । भवन्तमिति '५४०। गति-बुद्धि-११।४।५२।' इत्यादिना अक्षरेण्यन्तावस्थायामकर्मकत्वात् पारंगामीत्यस्मिन्वाक्ये '१८१२। अवार-पार-१।५।२।११।' इत्यादिना पारशब्दात् खः । तत्र विगृहीतविपर्यस्तग्रहणात् । त्रिवर्गस्य धर्मार्थकामस्य पारीणमिति षष्ठीसमासः । त्रिवर्गपारीणं भवन्तम् । सुराणां मध्ये स एवैको विवेकदृश्वत्वं विवेकज्ञतामगात् । '२४५८। इणो गा लुङि १।४।४५।' । '२२२३। गति-स्था-१।२।४।७७।' इत्यादिना सिचो लुक् । विवेकं दृष्टवानिति दशोः कनिष् ।

७४-हिरण्मयी साल-लतैव जङ्गमा

च्युता दिवः स्थासुरिवाऽचिर-प्रभा ॥

शशाङ्क-कान्तेरधिदेवताऽऽकृतिः

सुतां ददे तस्य सुताय मैथिली ॥ ४७ ॥

हिरण्मयीत्यादि—तस्य दशरथस्य सुताय रामाय । सूयत इति सुतः । '१००७। पु प्रसवैश्वर्ययोः' इत्यस्मात् कर्मणि निष्ठा । सुता मैथिली सीता ददे जनकेनेत्यर्थात् । कर्मणि लिट् । मैथिलस्यापत्यं '१०९५। अत इन् १।४।१।९५।' तदन्तात् '५२०। इतो मनुष्य-जातेः १।४।१।६५।' इति ङीप् । रामस्य ज्येष्ठत्वात्तस्यैव कविना परिणय उक्तः न शेषाणाम् । तेन अन्या अपि तदैव दुहितरो दत्ताः । हिरण्मयी सुवर्णनिर्मितेव साललता वृक्षलता । सुवर्णच्छवित्वात् तस्याः । हिरण्यविकार इति मयटि '११४५। दाण्डिनायन-१।६।४।१७४।' इत्यादिना यलोपनिपातनम् । जंगमा संचारिणी ननु स्थावरा । अत्यर्थं गच्छतीति यङि '२६४३। नुगतः-१।७।४।८५।' इति नुक् । यङन्तात्पचाद्यचि '२६५०। यङोऽचि च १।२।४।७४।' इति यङो लुक् । च्युता दिवः आकाशापतिता । अचिरप्रभेव विबुदिव तेजस्वित्वात् तन्वीत्वाच्च । किन्तु स्थासुरचञ्चला । सा तु चञ्चलेति व्यतिरेकः । '५२१। ऊङुतः १।४।१।६६।' इति ऊङ् न भवति क्रियाशब्दत्वात् । तत्र मनुष्यजातेरिति वर्तते । शशाङ्ककान्तेर्याधिदेवता अधिष्ठात्री देवता तस्या आकृतिर्यस्याः । सौम्यत्वात् । आक्रियते अनयेत्याकृतिः संस्थानम् । '३१८८। अकृतेरि च कारके-१।३।३।१९।' इति स्त्रियां क्तिन् ।

१—'आत्म-जस्य तनयः सूनुः सुतः पुत्रस्य, स्त्रियां त्वमी ॥ ५९१। आङ्गुर् दुहितरं सर्वेऽपत्यं तोकं तयोः समे ।' इति सर्वत्र ना० अ० ।

७५—लब्धां ततो विश्वजनीन-वृत्तिस्-

तामात्मनीनामुदबोद रामः ॥

सद्-रत्न-मुक्ता-फल-भर्म-शोभां

संबंहयन्तीं रघु-वर्ग्य-लक्ष्मीम्. ॥ ४८ ॥

लब्धामित्यादि—ततो दानानन्तरम् लब्धां तामात्मनीनाम् आत्मने हिता-
म् । '१६७० आत्मनिवश-॥५॥१११' इति खः । रामः उदबोद । बहेः स्वरितेत्त्वत्कर्तुः
क्रियाफलविवक्षया तद् । विश्वजनीना विश्वजनाय हिता वृत्तिः प्रवृत्तिर्यस्य रामस्य
सः । पूर्ववत् खः । सती उत्कृष्टा रत्नादिशोभा यस्याः । तैरलंकृतत्वात् । तां सद्-
त्नमुक्ताफलभर्मशोभाम् । भर्म स्वर्णम् । सर्वधातुभ्यो मनिन् । 'भर्म भूषाम्' इति
पाठान्तरम् । सद्गत्नादिभूषा अलंकारो यस्या इति योज्यम् । '३२८० गुरोश्च हलः
।३।३।१०३।' इत्यकारः । संबंहयन्तीं संबहुलामतिस्थिरां कुर्वाणाम् । बहुलश-
ब्दात् 'तत्करोति—' इति णिचि इष्टवद्भावात् '२०१६। प्रिय-स्थिर-॥६।१।१५७।' इत्यादिना
बंहादेशः । पश्चात्तदन्तस्य संपूर्वस्य साधनेन योगः । कामित्याह—
रघुवर्ग्यलक्ष्मीमिति । रघुवर्गे भवां विभूतिम् । '१४४२ । वर्गान्ताच्च ।३।३।६३।' इत्यनुवृत्तौ
'१४४३। अशब्दे यत्खावन्त्यतरस्याम् ।४।३।६४।' इति यत् ॥

७६—सु-प्रातर्मासादित-संभेदं तद्

वन्दारुभिः संस्तुतमभ्ययोध्यम् ॥

अश्वीय-राजन्यक-हस्तिकाऽऽह्व्य-

मंगात् स-राजं बलमध्वनीनम्. ॥ ४९ ॥

सुप्रातेति—विवाहं निर्वर्त्य प्रभाते अयोध्याभिमुखं तद्वलं दशरथस्यागात्
गतवत् । सुप्रातं निरुपद्रवत्वात् । शोभनं प्रातर्दिनमुखं यस्य बलस्य । '८६०। सु-
प्रात-सुश्र-॥५।४।१२०।' इत्यादिना समासान्तष्टिलोपश्च निपात्यते । आसादितसंभेदं
प्रासहर्षम् । '३२४५। प्रमद-संभेदौ हर्षे ।३।३।६८।' इति निपातनम् । वन्दारुभिः
संस्तुतं कृतस्तवम् । अभ्ययोध्यम् अयोध्याभिमुखम् । '६६८। लक्षणेनाऽभि-प्रती
आभिमुख्ये ।२।१।१४।' इति अवग्रहीभावः । अध्वनीनां समूहो अश्वीयम् ।
'१२५७। केशाश्चाभ्यां यञ्छौ-॥४।२।४८।' इति छः । राजन्यानां क्षत्रियाणां समू-

१—'९८०। स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम् । तपनीयं शातकुर्मं गार्ज्यं भर्म
कुरम् ॥' इति ना० अ० । २—'सुत प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदाऽऽमोद-संभेदाः ॥ १४७॥
स्यादानन्दशुरानन्दः शर्म-शात-सुखानि च. । ३—'८१३। वृन्दे त्वंश्चोद्यमाश्ववत्. ॥
४—'७६९। अथ राजकम् । राजन्यकं च नृपति-क्षत्रियाणां गणे क्रमात् ॥' ५—'८०२
हास्तिकं गजता वृन्दे । ६—'७८२। अध्वनीनोऽध्वगो ध्वन्यः पान्यः पथिक इत्यपि ॥'

हो राजन्यकम् । '१२४६। गोत्रोक्ष-१४२।३९।' इत्यादिना वृज् । 'प्रकृत्याके राज-
न्यमनुष्ययुवानः' इति प्रकृतिभावादपत्यकारलोपो न भवति । हस्तिनां समू-
हो हास्तिकम् । '१२५६। अचित्त-हस्ति-१४२।४७।' इति टक् । एषां सेनाङ्गत्वात्
द्वन्द्व एकवद्भावः । तेनाढ्यमुपचितमिति तृतीयेति योगविभागात् समासः । सह
राज्ञेति विगृह्य साकल्यवचने यौगपथ्ये वाच्ययीभावः । '६६० । अव्ययीभावे चा-
काले-१६।३।८९।' इति स-भावः । '६७८। अनश्च-१५।४।१०८।' इति टच् समा-
सान्तः । अध्वनीनमध्वानमलंगामीति '१८१७। अध्वनो यत्-स्त्रौ १५।२।१६।'
११६७१। आत्माध्वानौ स्त्रे १६।४।१६९।' इति प्रकृतिभावः ॥

७७—विशङ्कटो वक्षसि बाण-पाणिः

संपन्न-ताल-द्वयसः पुरस्तात् ॥

भीष्मो धनुष्मानुपजान्वरत्नि-

रैति स्म रामः पथि जामदग्न्यः ॥ ५० ॥

विशङ्कटेत्यादि—एवमस्य गच्छतः पथि मार्गे । सप्तम्यां '३६८। भस्य
टेर्लोपः १७।१।८८।' पुरस्तादग्रतः । '१९६६। अस्ताति च १५।३।४०।' इति पूर्वस्य
पुरादेशः । रामो जामदग्न्यः । जमदग्नेरपत्यं रामोऽयम् । गर्गादिपाठाद्यत् । स
एति स्म आगतवान् । आङ्पूर्वादिणो लट् । '७३। एत्येधत्यृदसु १६।१।८९।' इति
वृद्धिः । विशङ्कटो वक्षसि विशाल उरसि । '१८२९। वेः शालच्छङ्कटचौ १५।२।२८।'
इति शङ्कटच् । बाणः पाणावस्येति बाणपाणिः । 'प्रहरणार्थेभ्य' इत्यादिना सप्तम्य-
न्तस्य परनिपातः । संपन्नो निष्पन्नो यस्तालवृक्षः स प्रमाणं यस्य स तथोक्तः ।
'१८३८। प्रमाणे द्वयसच्-१५।२।३७।' भीयते अस्मादिति भीष्मः । 'भियः पुग्व्'
इति औणादिको मक्प्रत्ययः । वा पुगागमश्च । '३१७३। भीमादयोऽपादाने १३।
४।७४।' इत्यपादाने साधुः । धनुष्मान् धनुषा युक्तः । संसर्गे मतुप् । जानुनोः
समीपमुपजानु । सामीप्येऽव्ययीभावः । उपजानु अरत्निर्यस्य स तथोक्तः प्रल-
म्बबाहुर्लियर्थः ॥

७८—उच्चैरसौ राघवमाहूतैर्दं

धनुः स-बाणं कुरु, माऽतियासीः ॥

पराक्रम-ज्ञः प्रिय-सन्ततिस् तं

नम्रः क्षितीन्द्रोऽनुनिनीषुरूचे ॥ ५१ ॥

उच्चैरित्यादि—उच्चैर्ममता ध्वनिना राघवं दाशरथिं एवं वक्ष्यमाणमाहूत

- १—'११०६। विशङ्कटं पृथु वृहद् विशालं पृथुलं महत् ।' इति सर्वत्र ना० अ० ।
२—'भूम-निन्दा-प्रशंसा-सु नित्य-योगेऽस्ति-शायने ॥ संसर्गेऽस्ति-विवक्षायां भवन्ति
मनुवादयः ॥ ११।' इति वै० अ० । ३—'रामम्' इति वा कचित्पाठः ॥

आहूतवान् । '२७०४। स्पर्धायामाङः । १।३।३१।' इत्यात्मनेपदम् । '२६९६। आत्म-
नेपदेप्स्वन्यतरस्याम् । २।४।४४।' इति च्लेरङ् । धनुः सर्वाणं कुरु । धनुषि बाण-
मारोप्य युद्धाय सज्जीभवेत्यर्थः । मातियासीः मातिक्रम्य गमनं कार्षीः । याते-
र्माङि लुङ् । अडभावः । '२३७७। यम-रम-नमातां सक्र । ७।२।७३।' इति इट् ।
'२२६६। इट् ईटि-। ८।२।२८।' इति सिचो लोपः । अथ क्षितीन्द्रो दशरथः तमूचे ।
'२४५३। वुवो वचिः । २।४।५४।' । आदेशस्य स्थानिवद्भावेन कर्तुः क्रियाफलवि-
वक्षायां तङ् न । वचेः परस्मैपदित्वात् । '२४०९। वचिस्वपि-। ६।१।१५।' इत्यादिना
संप्रसारणम् । पराक्रमज्ञः यतस्तस्य पराक्रमं जानाति राजा । प्रियसन्ततिः प्रिया
सन्ततिर्यस्य । रामे व्यापादिते मा भूत्सन्तानविच्छेद इति नञः प्रणतो भूत्वा
अनुनिनीषुः अनुनेतुमिच्छुः ॥

तदनुनयमाह—

७९—अनेक-शो निर्जित-राजकंस् त्वं,
पितृनताप्सार्ं नृप-रक्त-तोयैः, ॥

संक्षिप्य संरम्भम-सद्-विपक्षं,

का ऽऽस्था ऽर्भके ऽस्मिंस्तव राम ! रामे. ५२

अनेकश इत्यादि—संरम्भं क्रोधं संक्षिप्य उपसंहर । क्षिपेः लोटि मध्य-
मैकवचने रूपम् । इयत् । एकमेकमिति विगृह्य । '२११०। सङ्ख्यैकवचनाच्च-
। ५।४।४३।' इति शस् । पश्चाच्चञ्समासः । अनेकशोऽनेकप्रकारमिति क्रियावि-
शेषणमेतत् । निर्जितं पराजितं राजकं राज्ञां समूहो येन स निर्जितराजकः ।
'१२४६ गोत्रोक्ष-। ४।२।३९।' इत्यादिना वुच् । त्वं पुनः पितृनताप्सार्ः प्रीणि-
तवानसि । कैः-नृपरक्तोयैः । '१२७१। तृप प्रीणने ।' इत्यस्यालुङ् । सिच् ।
हलन्तलक्षणा वृद्धिः । असद्विपक्षम् असन्नविद्यमानो विपक्षो यस्मिन् संरम्भे ।
निर्जितराजकत्वात् । रामो विपक्ष इति चेदाह—कास्थार्भकेऽस्मिंस्तव राम
रामे । हे परशुराम अर्भके बालके-रामे तव का आस्था क आदरोऽस्ति ।
नैवेत्यभिप्रायः ॥

८०—अजीगणद् दाशरथं न वाक्यं

यदा स दर्पेण. तदा कुमारः ॥

धनुर् व्यकाक्षीद् गुरु-बाण-गर्भं,

लोकानलावीद् विजितांश्च तस्य. ॥ ५३ ॥

अजीगणदित्यादि—दाशरथं दशरथस्येदं दाशरथम् । '१५००। तस्येदम् ।

१—वामभागीयैकोनपञ्चशत्तमाङ्कः (४९) पञ्चगत-राजन्यक-शब्दोपरितनं टीकनं
प्रेक्ष्यताम् ।

।४।३।१२०।' इत्यण् । वाक्यं वचनम् । यदा दर्पेण मदेन हेतुना स जामद-
भ्यः नाजीगणत् न गणितवान् । '१९९६। गण संख्याने ।' इत्यस्यादन्तत्वाच्च
वृद्धिः । '२३१५। चडि । ६।१।१५।' इति द्विर्वचनम् । '२५७३। ई च गणः ।
।७।४।९७।' इति अभ्यासस्येकारः । तदा कुमारो रामो धनुर्व्यकाक्षीत् आकृ-
ष्टवान् । '१०५९। कृष आकर्षणे ।' स्पृशमृशेत्यादिनोपसंख्यानेन सिचि पक्षे
रूपम् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । '२९५। ष-ढोः कः सि । ८।२।४१।' इति
कृत्वम् । कृतदारकर्मापि पुत्रः पितरि जीवति कुमार इति व्यपदिश्यते ।
गर्भयतीति गर्भः । गुरुर्बाणो गर्भो यस्य धनुषः । लोकांश्च स्वप्रभावाद्विजि-
तान् । तस्य परशुरामस्य । अलावीत् छिन्नवान् । लुनातेर्लुङि सिचि वृद्धौ
रूपम् । समुच्छिद्यन्तामस्य लोका इति अमोघमस्त्रं मुक्तवानित्यर्थः । ततः प्रभृति
तस्य सर्वं तेजोऽपहृतम् ॥

८१—जिते नृपाऽरौ, सुमनीभवन्ति

शब्दायमानान्य-शनैर-शङ्कम् ॥

वृद्धस्य राज्ञोऽनुमते बलानि

जगाहिरेऽनेक-मुखानि मार्गान् ॥ ५४ ॥

जित इत्यादि—जिते नृपारौ । परशुरामे बलानि सैन्यानि मार्गान् पथः ।
जगाहिरे अवष्टब्धवन्ति । वृद्धस्य राज्ञो दशरथस्यानुमते सति गच्छतेति । जामद-
भ्यसंरम्भादसुमनांसि सुमनांसि सन्ति सुमनीभवन्ति बलानि । '२१२१। अरु-
र्मेन-।५।४।५१।' इत्यादिना च्वावन्त्यस्य लोपे '२११८। अस्य च्वौ । ७।४।३२।'
इतीत्वे रूपम् । शब्दायमानानि । अशनैः सुष्ठु शब्दं कुर्वाणानि । एवं जित-
स्तथा जितो नृपारिरिति । '२६७३। शब्द-वैर-।३।१।१७।' इत्यादिना क्यङ् ।
अशङ्कं निर्भयं जगाहिरे इति क्रियाविशेषणम् । अनेकमुखानि पृथग्भूतानि पूर्व
भयेन बहुलीभूतत्वादनीकानां बहुवचनमिति ॥

८२—अथ पुरु-जव-योगान् नेदयद् दूर-संस्थं

दवयदति-रयेण प्राप्तमुर्वी-विभागम् ॥

क्लम-रहितमचेतन् नीरजीकारित-क्षमां,

बलमुपहित-शोभां तूर्णमायादयोध्याम् ॥ ५५ ॥

१—'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यमदं बहुलं बहु ॥ ११०९। पुरुहूः पुरु भूयिष्ठं स्फारं भूयश् च-
भूरि च ।' २—'ऽथ शीघ्रं त्वरितं लघु क्षिप्रमरं द्रुतम् ॥ ७३। सत्वरं चपलं तूर्णम-विल-
म्बितमोशु च ॥' ३—पथेऽसिन्वृत्तं मालिनी । तल्लक्षणम्—वामभागीय-षड्विंशतितमाङ्क-
(२६) पथ-टीकान्तर्द्रष्टव्यम् ।

अथेत्यादि—अथेत्यानन्तर्ये । बलं दाशरथम् । तूर्णं शीघ्रम् । '३०६९।
रुण्यमत्वर-।७।२।२८।' इत्यादिना पक्षे इडभावः । '२६५४। जवर-त्वर-
।६।४।२०।' इति वकारोपधयोरूट् । '३०१६ । २-दाभ्याम्-।८।२।४२।' इति
नत्वम् । अयोध्यामायात् आगतम् । आङ्पूर्वाद्यातेर्लङि रूपम् । पुरुर्महान्
वेगो जवः तेन योगात् । पूर्यते वर्धते इति पुरुः । 'कुर्भश्च' इत्यधिकृत्य 'पु-
मिदि-व्यधि-' इत्यादिना कुप्रत्ययः । दूरसंस्थं दूरे सन्तिष्ठत इति कः । उर्वी-
विभागम् । नेदयन् अन्तिकं कुर्वन् । अन्तिकशब्दात् समीपवाचिनः तत्करोतीति
णिच् । इष्टवज्रावात् '२०१४। अन्तिक-बाढयोनैदसाधौ ।५।३।६३।' इति
नेदादेशः पश्चाद्ध । शतरि शप् अथादेशः । प्राप्तं विषयीकृतं चोर्वीवि-
भागं भूविभागम् । अतिरयेण अतिवेगेन । दवयत् दूरीकुर्वत् पश्चाद्भा-
गेन । दूरशब्दात् पूर्ववर्णित्वात् इष्टवज्रावे च '२५१५। स्थूल-दूर-।६।४।
१५६।' इत्यादिना यणादिपरलोपः पूर्वस्य च गुणः । पश्चात्तथा एव लडादयः ।
कुमरहितम् अपगतश्रमम् । अचेतत् कियद्दूरमागतोऽहमित्यबुध्यमानम् ।
'३९। चिती' संज्ञाने । इत्येतस्य शतरि रूपम् । अनिरजा नीरजाः कारि-
तेति '२१२१। अरुर्मन-।५।४।५१।' इत्यादिना च्वावन्त्यलोपः । '२११८।
अस्य च्वा ।७।४।३२' इतीत्वम् । नीरजीकारिता क्षमा भूमिर्यस्यामयोध्यायां
ताम् । सिक्तसंमृष्टभूतलमित्यर्थः । उपहितशोभां छत्रध्वजपताकाभिरारोपि-
तशोभां ॥

इति श्री-जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते श्री-भट्टिकाव्ये-

प्रथमे प्रकीर्ण-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयः परिच्छेदः (वर्गः)

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके श्री-सीता-परिणयो नाम

द्वितीयः सर्गः पर्यवसितः ।

तृतीयः सर्गः—

८३-वधेन संख्ये पिशिताऽशनानां

क्षत्राऽन्तकस्याऽभिभवेन चैव ॥

आढ्यं भविष्णुर् यशसा कुमारः

प्रियं भविष्णुर् न स यस्य नाऽऽसीत् ॥ १ ॥

वधेनेत्यादि—संख्ये संग्रामे पिशिताशनानां राक्षसानाम् । पिशितं मांसम्
अशनं येषामिति । तेषां वधेन हननेन । '३२५३। हनश्च वधः ।३।३।७६।' इति
अप् प्रत्यये वधादेशः । कृत्प्रयोगे कर्मणि षष्ठी । क्षत्रान्तकस्य परशुरामस्य ।
अभिभवेन पराजयेन च '३२३२। ऋदोरप् ।३।३।५७।' चैवशब्दो निपातसमु-
दायः समुच्चये । तेन हेतुभूतेन । यशसा आढ्यं भविष्णुः । अनाढ्य आढ्यो भूतः ।
'२९७४। कर्तरि भुवः-।३।२।५७।' इति खिष्णुच् । '२९४२। अरुर्द्विषत्-।६।

३।६७।' इति सुम् । कुमारो यस्य स प्रियंभविष्णुः । यस्यापि प्राक् प्रियो न जातः पश्चादपि तथैव न प्रियो भूतः स नासीत् न बभूव ॥

८४—ततः सुचेतीकृत-पौर-भृत्यो

‘राज्ये ऽभिषेक्ष्ये सुतर्मित्य-नीचैः ॥

आघोषयन् भूमि-पतिः समस्तं

भूयोऽपि लोकं सुमनीचकार. ॥ २ ॥

तत इत्यादि—ततः प्रियंभविष्णुताया अनन्तरं भूमिपतिर्दशरथो लोकं सुमनीचकार । किमयं सम्यक् पालयिष्यति न वेति असुचेतसः पौरा भृत्याश्च जाताः ते सम्यक्पालनात् सुचेतसः कृता येन स सुचेतीकृतपौरभृत्यः । भूयोऽपि पुनरपि लोकं समस्तं सुमनीचकार । कथमित्याह—राज्ये राजकर्मणि पालनलक्षणे सुतं रामं अभिषेक्ष्ये तदभिषेकं करिष्यामीति । सिचेरुभयपदित्वा-त्तद् । अनीचैर्महता ध्वनिना । आघोषयन् घोषणां कारयन् । सुचेतीसुमनीश-ब्दौ ‘२१२१। अरुर्मेन-।५।४।५१।’ इत्यादिना साधू ॥

८५—आदिक्षदादीप्त-कृशानु-कल्पं

सिंहासनं तस्य स-पाद-पीठम् ॥

सन्तप्त-चामीकर-वल्गु-वज्रं

विभाग-विन्यस्त-महार्घ-रत्नम्. ॥ ३ ॥

आदिक्षदित्यादि—तस्य रामस्य सिंहासनमादिक्षत् आदिष्टवान् एवंविधं कारयेति । दिशोः स्वरितेतो लुङि ‘२३३६ शल इगुपधात्-।३।१।४५।’ इत्यादि-ना च्लेः कसः । अकर्तृगामिक्रियाफलत्वात्तिप् । आदीप्तकृशानुकल्पं ज्वलिताग्नि-तुल्यम् । तस्य कारणमाह—सन्तप्तचामीकरवर्णानि उत्तप्तसुवर्णवर्णानि वज्राणि यस्मिन् । तथा विभागेषु विन्यस्तानि अतिमहार्घाणि रत्नानि पद्मरागादीनि यत्र । सपादपीठं सह पादपीठेन ॥

८६—प्रास्थापयत् पूग-कृतान् स्व-पोषं

पुष्टान् प्रयत्नाद् दृढ-गात्र-बन्धान् ॥

स-भर्म-कुम्भान् पुरुषान् समन्तात्

पत्काषिणस् तीर्थ-जलाऽर्थमाशु. ॥ ४ ॥

प्रास्थेत्यादि—तीर्थजलार्थं पुरुषान् प्रयत्नात् आदरेण । समन्तात् सर्वासु दिक्षु । आशु शीघ्रं प्रास्थापयत् प्राहिणोत् । प्रपूर्वस्तिष्ठतिर्गमने वर्तते तस्य हेतुम-ण्यन्यन्तस्य लङि रूपम् । पूगकृतान् अपूगाः पूगाः कृता इति । ‘श्रेण्यादिषु च्यर्थ-

४८ भट्टिकाव्ये—प्रथमे प्रकीर्ण-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

वचनम्' इति समासः । सङ्कीकृतानित्यर्थः । स्वपोषपुष्टान् । '३३६१। स्वे पुषः । ३।४।४०।' इति णमुल् । '७८३। अमैवाव्ययेन । २।२।२०।' इति समासः । यथाविध्यनुप्रयोगश्च । ददो गात्रबन्धो येषां तान् । संयतकायान् महाभारो-
द्बहनक्षमत्वात् सभर्मकुम्भान् ससुवर्णकलशान् । पक्वाणिणः । पादौ कषितुं
हिसितुं शीलं येषामिति । '२९८८। सुप्यजातौ-३।३।७७।' इति णिनिः । '९९२।
हिमकाषिहतिषु च । ६।३।५४।' इति पदादेशः । पदातीनित्यर्थः । आश्विति
'कृवापाजि-' इत्यादिना उण् ॥

८७-उक्षान् प्रचक्रुर् नगरस्य मार्गान्,

ध्वजान् बबन्धुर्, मुमुचुः ख-धूपान्,

दिशश्च पुष्पैश्चकरुर् विचित्रै-

रर्थेषु राज्ञा निपुणा नियुक्ताः ॥ ५ ॥

अक्षानित्यादि—ये निपुणा अर्थेषु कार्येषु राज्ञा दशरथेन नियुक्ताः अधि-
कृतास्ते नगरस्य मार्गान् पथः । उक्षान् सेकवतः प्रचक्रुः । उक्षणमुक्षा । '३२८०।
गुरोश्च हलः । ३।३।१०३।' इत्यकारः । सा विद्यते येषामिति '१९३३। अर्शआ-
दिभ्योऽच् । ५।१।१२७।' । '२२३७। इजादेशे गुरुमतः-३।१।३६।' इत्यादिना
आसुप्रत्यये प्रचक्रुरित्यनुप्रयोगो न घटते । '२२३५। कृञ्जानुप्रयुज्यते । ३।१।४०।' इत्यनुशब्दस्य
व्यवहितनिवृत्त्यर्थत्वात् । ध्वजान् बबन्धुः उच्छ्रायितवन्तः । मुमु-
चुः खधूपान् आकाशे घटिकादिभिर्धूपान्मुमुचुः प्रमुक्तवन्तः । दिशश्च पुष्पैश्चकरुः
छादितवन्तः । '१५०३ कृ। विक्षेपे ।' इत्यस्य लिटि '२३८३। ऋच्छत्यृताम् । ७।
४।११।' इति गुणः । विचित्रैः नानाप्रकारैः ॥

८८-मातामहाऽऽवासमुपेयिवांसं

मोहाद-पृष्ट्वा भरतं तदानीम् ॥

तत् केकयी सोढुम-शक्रुवाना

ववार रामस्य वन-प्रयाणम् ॥ ६ ॥

मातेत्यादि—तत्पूर्वोक्तमभिषेकसंविधानं सोढुमशक्रुवाना असहमाना केक-
यी रामस्य वनप्रयाणं ववार प्रार्थितवती राज्ञ इत्यर्थात् । सहेः शक्रोतावुप-
पदे '३१७७। शक-ष्टप-३।४।६५।' इत्यादिना तुमुन् । तत्र नञा शक्त्यर्थस्य
प्रतिषेधेऽपि न दोषः प्रतिषेधस्य बहिरङ्गत्वात् । शक्रोतेः परस्मैपदित्वात् शानञ्
नास्ति । '३१०९। ताच्छीत्यवयोवचन-३।२।१२९।' इत्यादिना चानश् ।
स्वादित्वाच्छः । '२७१। अचि श्रु-भ्रातु-६।४।७७।' इत्यादिना उवङ् । किं
कृतेत्याह—इदानीं प्रार्थनाकाले देशान्तरावस्थितत्वात् किमेवं क्रियते न चेति
न भरतं पृष्टवती । देशान्तरावस्थितिं दर्शयन्नाह—मातामहावासमिति ।

मातुः पिता मातामहः । '१२४२। पितृव्यमातुल-।१।२।३६।' इत्यादिना निपा-
तनात् डामहच् । आवासः निलयम् । आवसत्यस्मिन्निति अधिकरणे घञ् ।
उपेयिवांसम् । '३०९८। उपेयिवाननाश्चाननूचानश्च ।३।२।१०९।' इत्यादिना
निपातितः । मोहादज्ञानात् । दूतप्रेषणेनापृष्ट्वा । रामस्येति कर्तरि षष्ठी । वनाय
प्रयाणं गमनमिति । चतुर्थीति योगविभागात् समासः । '५८५। गत्यर्थकर्मणि-
।२।३।१२।' इत्यादिना चतुर्थी । परत्वात्कलक्षणया षष्ठ्या भवितव्यमिति
चेत् न । पुनर्द्वितीयाग्रहणात्परामपि षष्ठीं बाधित्वा द्वितीयैव यथा स्यादिति ।
यद्येवं द्वितीयैव स्यात् न चतुर्थी । नैष दोषः । द्वितीयाग्रहणस्योपलक्षणार्थ-
त्वात् । तथा च वृत्तावुभयमुक्तं—ग्रामं गन्ता ग्रामाय गन्तेति ॥

८९-कर्णे-जपैराहित-राज्य-लोभा

स्त्रैणेन नीता विकृतिं लघिम्ना ॥

राम-प्रवासे व्यमृशन् न दोषं

जनाऽपवादं स-नरेन्द्र-मृत्युम् ॥ ७ ॥

कर्णे इत्यादि—कर्णे जपन्ति कर्णेजपाः सूचकाः मन्थरादयः । '२९२७।
स्तम्ब-कर्णयोः-।३।२।१३।' इत्यच् । '९७२। तत्पुरुषे कृति बहुलम् ।६।३।१४।' इति सप्तम्या अलुक् । तैराहितः आनायितो राज्यलोभो यस्याः सैवम् । स्त्रैणेन
स्त्रिया अयम् । '१०७९। स्त्री-पुंसाभ्यां नञ्-स्तौ-।४।१।८७।' इति नञ् । लघो-
र्भावो लघिमा । '१७८४। पृथ्वादि-।५।१।१२२।' इत्यादिना इमनिच् । टिलोपः ।
तेन विकृतिमन्यथात्वं नीता केकयी रामप्रवासे सति दोषं न व्यमृशत् नालो-
चितवती । '१५१९। मृश आमर्शने ।' इति तौदादिकस्य लङि रूपम् । किंस्वरूपं
दोषम्—जनापवादं लोकवैमुख्यम् । राज्याहौं ज्येष्ठः पुत्रोऽनया प्रव्राजित इति ।
नरेन्द्रस्य दशरथस्य मृत्युना सह वर्तमानम् ॥

९०-वसूनि देशांश्च निवर्तयिष्यन्

रामं नृपः संगिरमाण एव ॥

तया ऽवजज्ञे, भरताऽभिषेको

विषाद-शङ्कुश्च मतौ निचखे ॥ ८ ॥

वसूनीत्यादि—रामं निवर्तयिष्यन् रामं निवर्तयितुं वसूनि द्रव्याणि देशांश्च
सङ्गिरमाण एव प्रतिजानान एव दास्यामीति नृपो राजा केकेय्या तदनङ्गीक-
रणादवजज्ञे अवज्ञातः । ज्ञा इत्ययं धातुरवपूर्वोऽवज्ञाने वर्तते । तस्मात्कर्मणि
लिट् । '२३६३। गम-हन-।६।४।९८।' इत्युपधालोपः । तत्र वृतेर्हेतुमण्यन्तात्
क्रियार्थोपपदे लट् । सङ्गिरणं च क्रिया । गिरेस्तौदादिकात् '२७२४। अवाङ् । ११।
।३।५१।' इति अधिकृत्य '२७२५। समः प्रतिज्ञाने । १।३।५२।' इति तङ् । शानच् ।
'२३९०। कृत उक् । ७।१।१००।' । '३१०१। आने मुक् । ७।२।८२।' इदं चापर-
भ० का० ५

मनुष्ठितं तथा भरतो राज्येऽभिषिच्यतामिति भरताभिषेको मतौ मनसि निच-
खे निखातः । कर्मणि लिट् । '२३६३। गमहन-।६।१।९८।' इत्यादिना उपधा-
लोपः । तथा विषादः शङ्कुरिव शल्यमिव निचखे । ज्येष्ठत्वात् नायं समभिषि-
च्यत इति विषादः । संग्रामात्किल परिश्रान्तमानतं दशरथं केकयी परिचचार ।
तेन परितुष्टेनोक्तं किं ते दास्यामीति । सा ग्राह यदार्थेयिष्यते तदा यूयं दास्यथेति ।
सा तदवसरं बुद्ध्वा वरद्वयं प्रार्थितवती । एको रामस्य वनगमनं द्वितीयो राज्ये
भरतोऽभिषिच्यतामिति ॥

९१—ततः प्रवित्राजयिषुः कुमार-

मादिक्षदस्यां ऽभिगमं वनाय ॥

सौमित्रि-सीतानुचरस्य राजा

सुमन्त्र-नेत्रेण रथेन शोचन् ॥ ९ ॥

तत इत्यादि—केकयीप्रार्थनानन्तरं राजा कुमारं रामं प्रवित्राजयिषुः प्रव्रज-
न्तमेनं प्रवाजयितुमिच्छुः । व्रजेहेतुमण्यन्तात्सन् । अस्य कुमारस्य । रथेन वना-
भिगममभिगमनम् । '३२३४। ग्रह-वृ-ट-निश्चि-नामश्च ।३।३।५८।' इत्यप् । आदि-
क्षत् आदिष्टवान् । अत्येति कर्तरि षष्ठी । वनायेति । '५८५। गत्यर्थकर्मणि-।२।३
।१२।' इति चतुर्थी । सौमित्रि-सीतानुचरस्य लक्ष्मणसीतासहायस्य । सुमित्राया
अपत्यम् । बाह्वादित्वादित् । सहचरत्वेनाभ्यर्हितत्वात् पूर्वनिपातः । अनु पश्चाच्च-
रतीति अनुचरः । '२९३१। भिक्षा-सेनादायेषु च ।३।२।१७।' इति चकारस्यानु-
क्तसमुच्चयार्थत्वात् टः । अनुचरश्चानुचरी च । '९३३। पुमान् स्त्रिया ।१।२।६७।'
तावनुचरौ सौमित्रि-सीते अनुचरौ सहायौ यस्य । कालापिकास्ततोऽन्यत्रापि
पठन्ति अनधिकरणोपपदे चरेष्ट इत्यर्थः । नीयतेऽनेनेति नेत्रं लोचनम् । '३१-
६२। दात्री-।३।२।१८२।' इत्यादिना झन् । सुमन्त्रनामा रथवाहको नेत्रमिव
यस्य रथस्य तद्वशात्तस्य प्रवृत्तेः । शोचन् परिदेव्यमानो राजा ॥

९२—केचिन् निनिन्दुर नृपम-प्रशान्तं,

विचुकुशुः केचन साऽस्रमुच्चैः, ॥

ऊचुस् तथा ऽन्ये भरतस्य मायां,

धिक् केकयीमित्यपरो जगाद ॥ १० ॥

केचिदित्यादि—राज्ञा वनगमने समादिष्टे सति केचिज्जना नृपं निनिन्दुः
कुत्सितवन्तः । '६८। णिदिं कुत्सायाम् ।' अप्रशान्तं वृद्धभावेऽपि स्त्रीवशम् ।
केचन केचित्सास्त्रं सबाष्पमुच्चैः सुष्ठु विचुकुशुः सुतरामाक्रन्दितवन्तः । तथान्ये
भरतस्य मायां शास्त्रमूचुः उक्तवन्तः । तत्कृतोऽयं प्रयोगो येनात्मरक्षणार्थं माता-
महनिवासे स्थित इति । अपरो धिक्केकयीं यथैवमनुष्ठितमिति जगाद गदितवान् ।
'धिगुपर्यादिषु त्रिषु' इति धिग्योगे द्वितीया ॥

९३—‘गतो वनं श्वो भवितेति रामः,’
शोकेन देहे जनता ऽतिमात्रम्, ॥
धीरास् तु तत्र च्युत-मन्यवो ऽन्ये
दधुः कुमाराऽनुगमे मनांसि. ॥ ११ ॥

गत इत्यादि—अ आगामिति दिवसे वनं गतो रामो भवितेति तासु । जनता जनसमूहः । ‘१२५१। ग्राम-जन-बन्धु-१४।२।४३।’ इत्यादिना तत् । देहे दग्धा । कर्मणि लिट् । ‘२२६०। अत एकहल्-१६।४।१२०।’ इत्येत्वाभ्यासलोपौ । गत इति भूतकालः श्वो भवितेति भविष्यत्कालेन संबध्यमानः साधुः । ‘२८२४। धातु-संबन्धे प्रत्ययाः १३।४।१।’ इति । ये तु तत्र वीराः ते च्युतमन्यवो विगत-शोकाः सन्तः कुमाराऽनुगमे कुमारस्य पश्चाद्गमननिमित्तं मनांसि दधुः कृतवन्तः । राममनुव्रजाम इति । निमित्तात्कर्मसंयोगे सप्तमीति । मनांसीति कर्मणा योगात् ॥

९४—प्रस्थास्यमानावुपसेदुषस् तौ
शोशुच्यमानानिदमूचतुस् तान्, ॥
‘किं शोचतेहं ऽभ्युदये बतं ऽस्मान्
नियोग-लाभेन पितुः कृताऽर्थान्, ॥ १२ ॥

प्रस्थेत्यादि—तौ रामलक्ष्मणौ प्रस्थास्यमानौ गमिष्यन्तौ । ‘२६८९। सम-व-प्र-वि-भ्यः स्थः ११।३।२२।’ इति तङ् । जनान् इदं वक्ष्यमाणमूचतुः उक्तवन्तौ । बुवीत्यर्थग्रहणात् वचेर्द्विकर्मकता । उपसेदुषस्तौ ढौकितवतः जनान् । ‘३०९७। भाषायां वद-वस—१३।२।१८०।’ इत्यादिना कसुः । शोशुच्यमानान् अत्यर्थं शोकं कुर्वतः । भृशार्थं यङ् । किमूचतुरित्याह—किं शोचतेति । हे जनाः ! कस्मादस्मान् शोचत परिदेवयध्वम् । विधावपूर्वार्थप्रकाशने लोट् । इहाभ्युदये बतंशब्दो विस्मये । तस्मिन् आश्चर्यभूते अभ्युदये वृद्धौ सत्याम् । कुत इत्याह—पितुर्नि-योगलाभेन वनगमनाज्ञालाभेन कृतार्थान् लब्धप्रयोजनान् । कृतार्थत्वादशोच्या वयमित्यर्थः ॥

९५—असृष्ट यो, यश्च भयेष्वरक्षीद्,
यः सर्वदा ऽस्मान्पुषत् स्व-पोषम्,
महोपकारस्य किमस्ति तस्य
तुच्छेन यानेन वनस्य मोक्षः, ॥ १३ ॥

असृष्टेत्यादि—असृष्ट जनितवान् । सृजेदैवादिकस्यात्मनेपदित्वात् लुङि रूपम् । न तौदादिकस्य परस्मैपदित्वात् ‘२४०५। सृजि-इशोः-१६।१।५८।’ इत्यम् । यश्च भयेषु सत्सु अरक्षीत् पालितवान् । ‘७०६। रक्ष पालने।’ इत्यस्य लुङि

५२ भट्टि-काव्ये—प्रथमे प्रकीर्ण-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

रूपम् । यः सर्वदा सर्वकालम् । '१९६४।सर्वैकान्य-।५।३।१५।' इत्यादिना दाप्र-
त्ययः । यश्चापुषत् पुष्टवान् । स्वपोषं धनेनास्मानपुषत् । पुषेर्लुङि रूपम् । '२३-
४३। पुषादि-।३।१।५५।' इत्यङ् । '३३३१ । स्वे पुषः ।३।४।४०।' इति णमुल् ।
'७८३। अमैवाव्ययेन ।२।२।२०।' इति समासः । '२८२७। यथाविध्यनुप्रयोगश्च
।३।४।४।' तस्य पितुः संबन्धिनो महोपकारस्य किमस्ति मोक्षः प्रत्युपकारो नैवेति
भावः । केनेत्याह—तुच्छेन असारेण वनस्य यातेन । यातेर्भावे ल्युट् । वनस्येति
शेषसामान्ये षष्ठी । कृच्छ्रक्षणायास्तु पठ्या गत्यर्थकर्मणि चतुर्थ्या बाध्यमानत्वात् ॥

०६—विद्युत्-प्रणाशं स वरं प्रनष्टो,

यद्वौर्ध्व-शोषं तृण-वद् विशुष्कः, ॥

अर्थे दुरापे किमुत प्रवासे

न शासने ऽवास्थित यो गुरुणाम् ॥ १४ ॥

विद्युदित्यादि—अर्थे कार्यविशेषे दुरापेऽपि कृच्छ्रग्राम्येऽपि । '३३०५। ईष-
हुःसुषु ।३।३।१२६।' इत्यादिना खल् । गुरुणां यच्छासनमादेशः तस्मिन् यो नावा-
स्थित नावस्थितवान् । अवपूर्वात्तिष्ठतेर्लुङ् । '२६८९। समव-।१।३।२२।' इत्यादिना
तङ् । '२३८९। स्था-व्वोरिच्च ।१।२।१७।' इति क्त्वमित्वं च । '२३६९। हस्वा-
दङ्गात् ।८।२।२७।' इति सिचो लोपः । स वरं विद्युत्प्रणाशं प्रनष्टः । विद्युदिवो-
त्पत्त्यनन्तरमेव विनाशं गतः । ३३६६। उपमाने कर्मणि च ।३।४।४५।' इति
चकारात् । '३३६४। कर्त्रोर्जीव-पुरुषयोः ।३।४।४३।' इत्यतः कर्तृग्रहणानुवृत्तौ कर्तृ-
वाचिणि विद्युच्छब्द उपपदे णमुल् । '२२८७। उपसर्गादसमासे-।८।४।१४।' इत्यादिना
णत्वम् । यद्वेत्यथवा । स ऊर्ध्वशोषं तृणवद्विशुष्कः । '३३६५। ऊर्ध्वे
शुषि-।३।४।४४।' इत्यादिना णमुल् । उभयत्रामैवेत्यादिना समासः । '२८२७।
यथाविध्यनुप्रयोगश्च ।३।४।४।' किमु प्रवासे किमुनः प्रवासविषये यच्छासनं
तत्र तावदनवस्थितस्य सुतरामेव पूर्वोक्तं प्रयुज्यते ॥

९७—पौरा ! निवर्तध्वमिति न्यगादीत्,

'तातस्य शोकाऽपनुदा भवेत्, ॥

मा दर्शताऽन्यं भरतं च मत्तो,

निवर्तयेत्याह रथं स्म सूतम् ॥ १५ ॥

पौरा इत्यादि—हे पौरा ! यथागतं निवर्तध्वम् । विधौ लोट् । इति तान्
न्यगादीत् उक्तवान् । रामः । गदेः '२२८४। अतो ह्लादेः ।७।२।७।' इति वृद्धिः ।
'२२६६। इट ईटि ।८।२।२८।' इति सिचो लोपः । तातस्य पितुः । शोकापनुदाः
शोकस्यापहर्तारो भवेत् । तुन्दशोकयोरित्यादिना कः । भवतेर्विधौ प्रार्थनायां वा
लिङ् । मध्यमपुरुषबहुवचनम् । भरतं च मत्तो मत्तः सकाशात् । असदः '१९-
४३। पञ्चम्यास्तसि ।५।३।७।' । '१३३७। प्रत्ययोत्तरपदयोश्च ।७।२।९८।' इति

मदादेशः । अन्यं भरतं मा दर्शत मा दृष्टारः स्था । अपि तु योऽहं स एव भरतः
स च प्रतिष्ठितः राज्यं पालयिष्यतीत्येव न्यगादीत् । दशोर्माङ्गि लुङ् । '२२६९।
इरितो वा । ३।१।५७।' इत्यङ् । '२४०६। ऋ-दशोऽङ्गि गुणः । ७।४।१६।' निवर्तय
रथमिति सूतं च सुमन्त्रमाह स्था । '२७७८। लट् स्ते । ३।२।११८।' इति लट् ।
'२४५० । ब्रुवः पञ्चानाम्-१३।४।८४।' इत्याहादेशः । तिपो णल् ॥

९८—ज्ञात्वेङ्गितैर् गत्वरतां जनाना-

मैकां शयित्वा रजनीं स-पौरः ॥

रक्षन् वने-वास-कृताद् भयात् तान्

प्रातश् छलेनाऽपजगाम रामः ॥ १६ ॥

ज्ञात्वेत्यादि—निवर्तध्वमित्युक्ते ये तन्नानिवृत्ताः तेषां जनानां रामो गत्व-
रतां गमनशीलतां ज्ञात्वा । '३१४४। गत्वरश्च । ३।२।१६४।' इति निपातितः ।
तैरिङ्गितैरभिप्रायसूचकैश्चेष्टितैः । इङ्गतेर्भावे निष्ठा । वनेवास इति सप्तमीति
योगविभागात् समासः । '९७६। शय-वास-वासिषु-१६।३।१८।' इति विभाषा-
सप्तम्या अलुक् । तेन कृतास्तिहादिभयात् रक्षन् पालयन् तान् पौरान् सपौरः
पौरैः सह एकां रजनीं शयित्वा । '५५८। कालाध्वनोः-२।३।५।' इति द्वितीया ।
शयित्वेति '३३२२। न क्वा सेट् । १।२।१८।' इति । क्तिवप्रतिषेधात् गुणो
भवति । प्रातः प्रातःकाले । छलेन सन्ध्यावन्दनादिव्याजेन अपजगाम
गतवान् ॥

९९—अस्त्राक्षुरस्त्रं करुणं रुवन्तो,

मुहुर्मुहुर् न्यश्वसिषुः कवोष्णम्, ॥

हा राम ! हा कष्टमिति ब्रुवन्तः

पराङ्-मुखैस् ते न्यवृत्तन् मनोभिः ॥ १७ ॥

अस्त्राक्षुरित्यादि—ते पौरा राममपश्यन्तः । करुणं रुवन्तो विलपन्तः ।
'११०७। रु शब्दे ।' इत्यस्य शतरि रूपम् । अस्त्रम् अशु । अस्त्राक्षुः मुक्तवन्तः । सृजे-
सौदादिकस्य परस्मैपदिनः सिचि '२४०५। सृजि दशोः-१६।१।५८।' इत्यम् ।
हलन्तलक्षणा वृद्धिः । '३२८। चोः कुः । ८।२।३०।' । '१३१। खरि च । ८।४।५५।'
इति चत्वंम् । मुहुर्मुहुः भूयोभूयः कवोष्णमीषदुष्णमन्तःसन्तापात् । '१०३३।
कवं चोष्णे । ६।३।१०७।' इति कोः क्वादेशः । न्यश्वसिषुः । श्वसेलुङ् । '२२-
९९। ह्यन्त-१७।२।५।' इत्यादिना श्वसेवृद्धिप्रतिषेधः । '२२८४ । अतो हलादे-
लघोः । ७।२।७।' इति विकल्पस्य प्राप्तत्वात् । हा राम हा कष्टं कृच्छ्रमिति ब्रुवन्तः ।
पराङ्मुखैः येन गतो रामस्तेन गतैर्मनोभिरित्थंभूतैः । न्यवृत्तन् निवृत्तवन्तः ।
'२३४५। घुञ्यो लुङि । १।३।९१।' इति परस्मैपदविकल्पात् । घुतादित्वाद्ङ् ॥

१००—सूतो ऽपि गङ्गा-सलिलैः पवित्वा

सहाऽऽश्वमात्मानमनल्प-मन्युः ॥

स-सीतयो राघवयोरधीयन्

श्वसन् कदुष्णं पुरमाविवेश. ॥ १८ ॥

सूत इत्यादि—सूतोऽपि सुमन्त्रः सहाश्वमश्वैः सह । अनल्पमन्युः प्रबुद्ध-
शोकः । राघवयोः रामलक्ष्मणयोः । '१८८। सरूपाणां-।१।२।६४।' इत्येकशेषः ।
ससीतयोः सीतासहितयोः । अधीयन् स्मरन् । '११२०। इक् स्मरणे ।' इत्यस्य
शतरि रूपम् । यणादेशः । '६१३। अधीगर्थ-।२।३।५२।' इति कर्मणि षष्ठी ।
श्वसन् । कदुष्णं ईषदुष्णम् । '१०३३। कवं चोष्णे ।६।३।१०७।' इति चकारात्
कदादेशः । गङ्गातटाव्यतिनिवृत्य पुरमयोध्यामाजगाम आगतवान् । गङ्गासलिलैः
आत्मानं बाह्यमाभ्यन्तरं च पवित्रीकृत्य । '३०५०। पृडश्च ।७।२।५१।' इति विक-
ल्पेनेद । '२०५१। पृडः क्त्वा च ।१।२।२२।' इति क्तिव्यप्रतिषेधात् गुणः ॥

१०१—प्रतीय सा पूर ददृशे जनेन

द्यौर भानु-शीतांशु-विनाकृतैव ॥

राजन्य-नक्षत्र-समन्विता ऽपि

शोकाऽन्धकार-क्षत-सर्व-चेष्टा. ॥ १९ ॥

प्रतीयेत्यादि—जनेन रामानुयायिना प्रतीय प्रतिनिवृत्य । पूरयोध्या ददृशे
दृष्टा । कर्मणि लिट् । प्रतीय इति ईङ् गतावित्यस्य रूपं न पुनरिणः । तस्य हि
तुकि प्रतीत्येति स्यात् । '३३३३। षत्वतुकोरसिद्धः ।६।१।८६।' इत्येकादेशस्या-
सिद्धत्वात् । प्रतियुषा सा ददृशे इति पाठान्तरम् । प्रतिनिवृत्तेन सा पूर्वदृशे
दृष्टेत्यर्थः । अस्मिन् पाठे तु '३०९८। उपेयिवान्-।३।२।१०९।' इत्यादिना इणः
कसौ रूपं द्रष्टव्यमत्रोपसर्गस्यातन्त्रत्वात् । शोकोऽन्धकार इव शोकान्धकारः ।
तेन क्षता नीतानुष्ठेयकर्मणि चेष्टा परिस्पन्दो यस्यां पुरि सा तथोक्ता । राज्ञो-
ऽपत्यानि । '११५३। राज-श्वशुराद्यत् ।४।१।१३७।' राजन्याः क्षत्रियाः । '११५४।
ये चाभावकर्मणोः ।६।४।१६८।' इति प्रकृतिभावः । राजन्याः नक्षत्राणीव तैः
समन्वितापि द्यौः भानुशीतांशुविनाकृतैव द्यौराकाशः यथा नक्षत्रसमन्वितापि
रात्रौ भानुचन्द्राभ्यां विनाकृता रहिता अन्धकारच्युतसर्वचेष्टा तद्वत्सापि भानु-
चन्द्रस्थानीययोः राघवयोर्विरहात् ॥

१०२—विलोक्य रामेण विना सुमन्त्र-

मच्योष्ट सत्वान् नृ-पतिश्च्युताऽऽशः ॥

मधूनि नैषीद् व्यलिपन् न गन्धैर्,

मनो-रमे न व्यवसिष्ट वस्त्रे. ॥ २० ॥

विलोक्येत्यादि—रामेण विना सुमन्त्रं विलोक्य दृष्ट्वा नृपतिर्दशरथः
सत्त्वात् स्वभावादच्योष्ट च्युतः । च्यवतेरकर्मकालुङ् । गतोऽपि मद्बचनमतिक्रम्य
आगच्छेद्राम इति अस्य या आशा सा च्युता यस्य स च्युताशः । सत्त्वात्
च्युतश्च मधूनि पातुं नैषीत् नेष्टवान् । '२२६८। नेष्टि । ७।२।४।' इति सिचि वृद्धि-
प्रतिषेधः । गन्धैश्चन्दनादिभिर्नल्लिपत् । लिपेः '२४१८। लिपि-सिचि-ह्रस्व । ३।१।
५३।' इत्यङ् । मनोरमे चेतोहारिणी वस्त्रे न व्यवसिष्ट न परिहितवान् ।
'१०९२। वस्त्रं आच्छादने ।' इत्यस्मात् लुङ् । अनुदात्तेत्वात्तङ् ॥

१०३—आसिष्ट नैकत्र शुचा, व्यरंसीत्

कृताऽकृतेभ्यः क्षिति-पाल-भाग्-भ्यः, ॥

स चन्दनोशीर-मृणाल-दिग्धः

शोकाऽग्निना ऽगाद् द्यु-निवास-भूयम्. ॥२१॥

आसिष्टेत्यादि—एकत्र स्थाने शुचा शोकेन नासिष्ट नोपविष्टः । आसेरात्म-
नेपदिनो लुङ् । कृतानि चाकृतानि चेति । '७३९। क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ्
।२।१।६०।' इति समासः । असमापितेभ्य इत्यर्थः । क्षितिपालं भजन्ते यानि
द्रुतप्रेषणादीनि तेभ्यः क्षितिपालभाग्भ्यः । व्यरंसीत् विरतः । विमुखोऽभूदि-
त्यर्थः । जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानमिति अपादानसंज्ञा । रमेर्लुङ् ।
'२७४९। व्याङ्-परि-भ्यो रमः । १।३।८३।' इति तिप् । '२३७७। यम-रम-। ७।२।
७३।' इत्यादिना सगिटौ । स एवम्भूतो राजा चन्दनोशीरमृणालैः शोकाग्निप्रती-
कारभूतैर्दिग्ध उपलिप्तोऽपि उद्वेगाग्निनैव द्युनिवासभूयं देवत्वमगात् गतवान् ।
दिहेर्निष्ठायां '३२५। दादेर्धातोर्धः । ८।२।३२।' इति घः । '२२८०। झषस्तथो-
र्धो घः । ८।२।४०।' । '५२। झलां जश् झशि । ८।४।५३।' इति जश्त्वम् । दिवि
निवासो येषां ते द्युनिवासा देवाः तेषां भाव इति । '२८५५। भुवो भावे
। ३।१।१०७।' इति क्यप् ॥

१०४—विचुकुशुर भूमि-पतेर् महिष्यः,

केशां लुलुञ्चुः, स्व-वपूंषि जघ्नुः, ॥

विभूषणान्युन्मुमुचुः, क्षमाया

पेतुर्, बभञ्जुर् वलयानि चैव. ॥ २२ ॥

विचुकुशुरित्यादि—भूमिपते राज्ञो महिष्यः पश्यः । 'अविमङ्गोष्टिषच्'
इत्यौणादिकष्टिषच् । विचुकुशुः रुदितवत्य इत्यर्थः । हा स्वामिन्निति । तथा
केशान् लुलुञ्चुः उत्पादितवत्यः । स्ववपूंषि स्वशरीराणि जघ्नुस्ताडितवत्यः । विभू-
षणानि हारादीनि उन्मुमुचुर्मुक्तवत्यः । क्षमायां भुवि पेतुः । वलयानि अवैध-
व्यविह्वानि बभञ्जुः चूर्णितवत्यः । एते लिङन्ताः । पतेरेत्वाभ्यासलोपौ ॥

१०५—ताः सान्त्वयन्ती भरत-प्रतीक्षा
तं बन्धु-ता न्यक्षिपदाशु तैले, ॥
दूतांश्च राजाऽऽत्मजमानिनीषून्
प्रास्थापयन् मन्त्रि-मतेन यूनः ॥ २३ ॥

ता इत्यादि—बन्धुता बन्धुसमूहः । '१२५१ । आम-जन-बन्धु-भ्यस्तल
।४।२।४३।' ता महिषीः सान्त्वयन्ती संस्थापयन्ती । सान्त्वं करोतीति णिच् ।
तं दशरथं मृतं तैले न्यक्षिपत् निक्षिपवती । आशु शीघ्रं । मा भूत्पतिरिति ।
क्षिपेर्लुङ् । '२३४३। पुषादि-।३।१।५५।' इत्यङ् । कस्मात्तमक्षिपदित्याह—भर-
तप्रतीक्षा तेन संस्कारः कर्तव्य इति सा भरतं प्रतीक्षते । 'ईक्षि-क्षमिभ्यां च ।'
इत्युपसंख्यानान्णः । दूतान् प्रास्थापयत् प्रहितवती । राजात्मजं भरतमानिनी-
षून् आनेतुमिच्छन् । अन्यया केकयीवैमुख्याद्भरतेऽपि वैमुख्याद्दूता अपि नाने-
तुमिच्छन्ति । तत्रापि मन्त्रिमतेन न स्वमतेन । यूनः तेषां गन्तुं समर्थत्वात् ॥

१०६—'सुप्तो नभस्तः पतितं निरीक्षां-
चक्रे विवस्वन्तमधः स्फुरन्तम्,' ॥

आख्यद् वसन् मातृ-कुले सखिभ्यः

पश्यन् प्रमादं भरतो ऽपि राज्ञः ॥ २४ ॥

सुप्त इत्यादि—भरतोऽपि मातृकुले वसन् सखिभ्यो मित्रेभ्यः आख्यत् कथि-
तवान् । ख्यातेर्लुङ् । '२४३८। अस्यति-वक्ति-।३।१।५२।' इत्यादिना अङ् ।
क्रियाग्रहणं कर्तव्यमिति संप्रदानसंज्ञायां चतुर्थी । किमाख्यदित्याह—अहं सुप्तः सन्
नभस्तो नभस्तलात् आकाशात्पतितं विवस्वन्तमादित्यं स्फुरन्तं चलन्तं निरीक्षांचक्रे
निरीक्षितवान् । ईक्षेः '२२३७। इजादेः-।३।१।३६।' इत्याम् । उत्तमविषये सुप्त-
प्रमत्तावस्थायां चित्तव्याक्षेपात् परोक्षे लिट् । पश्यन् विलोकयन् । राज्ञो दशर-
थस्य । प्रमादमनिष्टम् ॥

१०७—अशिश्रवन्नात्ययिकं तमेत्य

दूता यदा ऽर्थं प्रयियासयन्तः, ॥

आंहिष्ट जाताऽञ्जिहिषस् तदा ऽसा-

वुत्कण्ठमानो भरतो गुरूणाम् ॥ २५ ॥

अशीत्यादि—दूता एव आगत्य भरतमातृकुलमित्यर्थः । आहपूर्वादिणः
क्त्वाप्रत्ययस्य व्यपि तुकि च रूपम् । यदा तं भरतमर्थं वचनमशिश्रवन् श्रावि-
तवन्तः । अर्थयतेऽनेनेति णिच् घञ् । शृणोतेर्घन्तालुङि '२३१५। चडि
।६।१।११।' इति द्विर्वचनम् । '२५७८। खवति-शृणोति-।७।१।८१।' इत्यभ्यास-
स्येत्वम् । आत्ययिकम् अत्ययो विनाशः स प्रयोजनमस्येति तदस्य प्रयोजनमिति

ठञ् । पिता ते म्लानस्त्वां द्रष्टुमिच्छतीति आत्ययिकं वचनम् । तमिति '५४० । गति-बुद्धि-११४।५२।' इत्यादिना कर्मसंज्ञा । शृणोतेः शब्दकर्मत्वात् अर्थमिति । '५३५। कर्तुरीप्सिततमं-११४।४९।' इत्यनेन । प्रथियासयन्तः प्रयातुमिच्छन्तं भरतं प्रयोजितवन्तः । सन्नन्तण्यन्तोऽयम् । तदा असौ भरतो जाताञ्जिहिषः । जाता अञ्जिहिषा गमनेच्छा यस्य सः । '१९३३। अहिं गतौ ।' '२२६२। इदितो नुम्-१७।१।५८।' तस्मादंहितुमिच्छतीति सन् । इह । '२१७६। अजादेर्द्विती-यस्य ।६।१।२।' इति हिशब्दो द्विरुच्यते । नकारस्य '२२४६। न न्नाः-१६।१।३।' इति प्रतिषेधः । अभ्यासकार्यम् अनुस्वारपरसवणौ । '३२७९। अः प्रत्ययात् ।३।३।१०२।' इत्यकारप्रत्ययः । टाप् । आंहिष्ट गतवान् । तस्मादेवात्मनेपदिनो लुङ् । उत्कण्ठमानः स्मरन् । '२७२। मर्ति' २७३। अर्ति शोके ।' इत्यस्मादात्म-नेपदिनो रूपम् । अनेकार्थत्वाद्धातूनाम् । गुरुणां पितामहादीनाम् । '६१३। अधीगर्थ-१२।३।५३।' इति कर्मणि षष्ठी ॥

१०८-बन्धूनशङ्किष्ट समाकुलत्वा-

दासेदुषः स्नेह-वशादपायम्, ॥

गोमायु-सारङ्ग-गणाश् च सम्यङ्

नाऽयासिषुर्, भीममरासिषुश्च. ॥ २६ ॥

बन्धूनित्यादि—दुःस्वप्नदर्शनेन अकस्माच्च पितृदूतागमनेन स्नेहवशात् चेतसि समाकुलत्वाद्भरतो बन्धूनशङ्किष्ट शङ्कितवान् । उत्प्रेक्षितवानित्यर्थः । शङ्क-तेरात्मनेपदिनो लुङि रूपम् । कीदृशान्—आसेदुषः अपायं विनाशं गतवतः । '३०९७। भाषायां सद-वस-१३।२।१०८।' इत्यादिना कसुः । '२२६०। अत एक-हल्-१६।४।१२०।' इत्येत्वाभ्यासलोपौ । अस्मद्वन्धुः कश्चित् व्यसनमापन्नो-ऽभूदिति । गच्छतस्तस्य गोमायुसारङ्गगणाः शृगालमृगगणाश्च सम्यगनुकूलं नायासिषुः नागताः । यातेलुङि '२३७७। यम-रम-१७।२।७३।' इति सगितौ । शृगालाः प्रदक्षिणं गताः मृगाश्च सव्यमित्यर्थः । भीममुद्वेगकरमरासिषुः रसिताः । रसेः परस्मैपदिनो लुङ् । '२२८४। अतो हलादेः-१७।२।७।' इति वृद्धौ रूपम् । न रासेः तस्यात्मनेपदित्वात् ॥

१०९-स प्रोषिवानेत्य पुरं प्रवेक्ष्यन्

शुश्राव घोषं न जनौघ-जन्यम्, ॥

आकर्णयामास न वेद-नादान्,

न चौपलेभे वणिजां पणाऽयान्. ॥ २७ ॥

स इत्यादि—स भरतः प्रोषिवान् मातामहकुलात् प्रोषितः सन् । '३०९७। भाषायां-१३।२।१०८।' इत्यादिना कसुः । यजादित्वात् सम्प्रसारणं द्विवचनम् । '३०९६। वस्वेकाजाद्धसां ।७।२।६७।' इति इह । पुरमयोध्यामेत्य आगत्य प्रवे-

क्ष्यन् गृहमित्यर्थात् पुरं प्रविष्टः । घोषं शब्दं न शुश्राव न श्रुतवान् । जनौघ-
जन्यं जनसमूहेन जन्यमुत्पाद्यम् । 'शक्ति-शसि-चति-यति-।' इति जनेयत् ।
तथा वेदध्वनीन्नाकर्णयामास न श्रुतवान् । प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे इति णिच् ।
तदन्तात् लिट्यामि । '२।३।१ अयामन्त-।६।४।५५।' इत्यादेशः । न चोपलेभे
नोपलब्धवान् । वणिजां पण्यजीविनाम् । पणायान् पणलाभान् । क्रयविक्रयरूप-
व्यवहारस्योच्छिन्नत्वात् । पणन्ते इति वणिजः पणेरिजादेश्च व इत्यौणादिकः ।
पण्यन्त इति पणाः । '३२४३। नित्यं पणः परिमाणे ।३।३।६६।' इत्यप् । व्यव-
हर्तव्याः ईयन्ते प्राप्यन्ते वणिग्भिरित्ययाः लाभाः । '३२३१। पुरच् ।३।३।५६।'
इति इणः कर्मणि अच् । पणानामयाः पणयाः तान् । पणायामिति पाठान्तरम् ।
वणिजां स्तुतिं संव्यवहारविषयां नोपलेभे । संव्यवहारकुशलाः साधव इति
गुपादिषु स्तुत्यर्थपणिना साहचर्यात् पणेरपि तदर्थोद्देवायप्रत्ययः । '३२७९। अः
प्रत्ययात् ।३।३।१०२।' इत्यकारः । टाप् । वणिजां प्रलापानिति तृतीयः पाठः ।
वणिक्प्रसारकलहानित्यर्थः ॥

११०—चक्रन्दुरुच्चैर् नृ-पतिं समेत्य

तं मातरो ऽभ्यर्णमुपागताऽन्नाः, ॥

पुरोहिताऽमात्य-मुखाश् च योधा

विवृद्ध-मन्यु-प्रतिपूर्ण-मन्याः, ॥ २८ ॥

चक्रन्दुरित्यादि—तं भरतं गृहगतमभ्यर्णं समीपीभूतं समेत्य ढौकित्वा
मातरः कौशल्याद्याः नृपतिमुच्चैरत्यर्थं चक्रन्दुः क्रन्दितवत्यः । हा स्वामिन् !
हा राजन् ! क गतोऽसीति । उपागतं प्राप्तमन्नमश्रुजलं यासां ताः एवंविधाः ।
युध्यन्त इति योधाः पचादित्वादच् । ते च तं समेत्य नृपतिं चक्रन्दुः । पुरो धी-
यत इति पुरोहितः । '८९९। निष्ठा ।२।२।३६।' '३०७६। दधातेर्हिः ।७।४।४२।'।
अमाशब्दः सहाय्ये । सह राज्ञा कार्येषु भवतीत्यमात्यः । 'अमेहकृतसिन्ध्रेभ्यः' इति
निपातात् पुरोहितामात्यौ मुखं प्रधानं येषां योधानां ते पुरोहितामात्यमुखाः ।
अमात्यस्याजाद्यदन्तत्वेऽपि पुरोहितस्याभ्यर्हितत्वात् पूर्वनिपातः । विवृद्धमन्युना
शोकेन प्रतिपूर्णं मन्ये गलशिरे येषामिति ॥

१११—दिदक्षमाणः परितः स-सीतं

रामं यदा नैक्षत लक्ष्मणं च, ॥

रोरुद्यमानः स तदाऽभ्यपृच्छद्,

यथावदाख्यन्नथ वृत्तमस्मै, ॥ २९ ॥

दिदक्षमाण इत्यादि—स भरतो यदा ससीतं रामं लक्ष्मणं च परितः
सर्वतो दिदक्षमाणः द्रष्टुमिच्छन् । '२७३१। ज्ञा-श्रु-स्मृ-दृशां सनः ।१।३।५७।'।
इति वट् । '२६१३। हलन्ताच्च ।१।२।१०।' इति सनः क्तिच् '२४०५। सृजि-द-

शोः—।६।१।५८।' इत्यम् न भवति । नैक्षत न दृष्टवान् । तदा रोक्षमाणः अत्यर्थं रुदन् । यङि रूपम् । अभ्यपृच्छत् पृष्टवान् । ऐक्षताभ्यपृच्छदिति भूतसामान्य-विवक्षया लङ् । अन्यथा कवेः परोक्षत्वात् लिट् स्यात् । अथैतस्मिन् प्रस्तावे यथावत् यादृशं वृत्तं भूतं तथावत् आख्यन् कथितवन्तः पुरोहितामात्यमुखा अस्मै भरताय । ख्यातेः '२४३८। अस्यति—।३।१।५२।' इत्यादिना च्लेरङ् । आतो लोपः ॥

११२—आबद्ध-भीम-भ्रुकुटी-विभङ्गः

शेथ्वीयमानाऽरुण-रौद्र-नेत्रः ॥

उच्चैरुपालब्ध स केकयीं च,

शोके मुहुश् चाविरतं न्यमाङ्गीत् ॥ ३० ॥

आबद्धेत्यादि—स भरत उच्चैर्महता ध्वनिना केकयीं च मुहुर्मुहुर्भूयोभूय उपालब्ध उपालब्धवान् । उपाङ्पूर्वो लभिरुपालम्भे वर्तते । तस्मादात्मनेपदिनो '२२८१। झलो झलि ।८।२।२६।' इति सिजलोपे धत्वजश्चे रूपम् । शोके च मन्यौ अविरतमजस्रं न्यमाङ्गीत् निमग्ना । मस्जेर्लुङि '२५१७। मस्जिनशोर्झलि—।७।१।६०।' इति नुम् । तत्रापि मस्जेरन्त्यादिनियमात् नुम् । संयोगादिलोपः । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । हलप्रहणं समुदायप्रतिपत्त्यर्थमित्युक्तम् । कीदृशः । आबद्ध-भीमभ्रुकुटीविभङ्गः । 'अमेश्च डुः' इत्यौणादिको डुः । कुडे खीलिङ्गे भावे कृशा-दिभ्य इतीः । तदन्तात् कृदिकारादिति ङीष् । भ्रुवोः कुटी कौटिल्यं भ्रुकुटी । '९९९। ह्रको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य ।६।३।६१।' इति ह्रस्वः । तस्या विभङ्गो विर-चनम् । आबद्धः कृतः प्रयत्नेनायासवृत्तेन भीमो भयानको भ्रुकुटीविभङ्गो येन यस्य वेति । शेथ्वीयमाने अत्यर्थं शूयमाने अरुणे लोहिते रौद्रे भयानके नेत्रे यस्य सः । श्रयतेर्यङि '२४२० । विभाषा श्वेः ।६।१।३०।' इति वा सम्प्रसारणम् ॥

तमुपालम्भमाह—

११३—नृपाऽऽत्मजौ चिक्लिशतुः स-सीतौ,

ममार राजा, वि-धवा भवत्यः, ॥

शोच्या वयं, भूर-नृपा, लघुत्वं

केकयुपज्जं वत बह्वनर्थम् ॥ ३१ ॥

नृपेत्यादि—नृपात्मजौ रामलक्ष्मणौ ससीतौ सीतया सह चिक्लिशतुः क्लिष्टौ । ममार मृतो राजा । '२५३८। म्रियतेर्लुङ्-लिङोश्च ।१।३।६१।' इति नियमात्त-ङोऽभावः । विधवाः धवो भर्ता तेन विना भवत्यो जाताः । शोच्याः शोचनीया वयम् अयशोभाजनत्वात् । '२८७२। ऋ-हलोर्ण्यत् ।३।१।१२१।' शङ्क्या इति पाठान्तरम् । शङ्कनीया वयम् । एतत्कृतोऽयं प्रयोग इति । भूश्वानृपा न विद्यते नृपो यस्यामिति । 'नजोऽस्त्यर्थानाम्' इति बहुव्रीहिः । लघुत्वं राज्यप्रार्थनालक्षणं

६० भट्टिकाव्ये—प्रथमे-प्रकीर्ण-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

केकयुपज्ञम् । केकय्याः प्रथमतो ज्ञातं नान्यस्य कस्यचित्पूर्वं ज्ञातम् । उपज्ञायत इत्युपज्ञम् । '२८९८। आतश्चोपसर्गे । १३। १३६।' इति स्त्रियामङ् । कृलक्षणा षष्ठी । केकय्या उपज्ञेति समासः । '८२४। उपज्ञोपक्रमं-१२। ४। २१।' इति नपु-सकता । बत कष्टम् । बहूनर्थं बहुदोषम् । क्लेशमरणाद्यनिष्ठानां सम्भवात् ॥

भरतकृत एवायं प्रयोग इत्येतत्परिहरन्नाह—

११४—नैतन् मतं मत्कर्मिति ब्रुवाणः

सहस्र-शो ऽसौ शपथानशप्यत् ॥

उद्वाश्यमानः पितरं स-रामं

लुब्धन् स-शोको भुवि रोरुदावान् ॥ ३२ ॥

नैतदित्यादि—यदेतत्केकयनुष्ठितं मतमभिप्रायः । न मत्कृतं तत् । नाह-मस्य ग्रामणीर्न प्रभुरिति । अस्मच्छब्दात् '१८७८। स एषां ग्रामणीः । ५। २। ७८।' इति कन् । '१३७३। प्रत्ययोत्तरपदयोश्च । ७। २। ९८।' इति मपर्यन्तस्य मादेशः । नास्मन्मतादनुष्ठितमन्येत्यर्थः । इत्येवं ब्रुवाणः सहस्रशो बहुवारानसौ भरतः शपथान् सम्प्रत्ययकारणवचनानि अशप्यत् कृतवान् । अनेकार्थत्वाद्वातूनां शपे-दैवादिकस्य उभयपदिनो लङि रूपम् । उद्वाश्यमानः आह्वयन् । '१२३८। वाशु शब्दे ।' दैवादिकः अनुदात्तेत् । पितरं सरामं हा तात ! हा रामेति । लुब्धन् भुवि लुठन् । '१३०१। लुठं विलोढने ।' दैवादिकः परस्मैपदी । सशोक इति शाक्यपरिहारार्थम् । रोरुदावान् अत्यर्थं रोदन् कुर्वन् । यङन्तात् '३२७९। अप्र-त्ययः । १३। १०२।' इत्यकारः । '२३०८। अतो लोपः । ६। ४। ४८।' '१२६३१। यस्य हलः । ६। ४। ४९।' स्त्रियामतष्टाप् । सा विद्यते यस्येति मनुष्ये ॥

११५—तं सुस्थयन्तः सचिवा नरेन्द्रं

दिधक्षयन्तः समुदूहुरारात् ॥

अन्त्याऽऽहुतिं हावयितुं स-विप्राश्व

चिचीषयन्तोऽध्वर-पात्र-जातम् ॥ ३३ ॥

तमित्यादि—सचिवा अमात्याः । कार्येषु सचन्ते समवयन्तीति सचेरिव-श्रिलौणादिक इवन् । तं भरतं सुस्थयन्तः सुस्थं कुर्वाणाः । तत्करोतीति णिच् । नरेन्द्रं दशरथं । समुदूहुः उद्वाहितवन्तः । शिबिकायामारोप्य । वहिरन्तर्भावि-तण्यर्थोऽत्र द्रष्टव्यः । यजादित्वात्सम्प्रसारणम् । आरात् नातिदूरे । दिधक्षयन्तः दग्धुमिच्छन्तं भरतं प्रयोजितवन्तः । दहेः सनि '३२५। दादेर्धातोर्ध्वः । ८। २। ३२।' भष्भावचत्वे । प्रयोजकग्यापारे णिच् । अन्ते विनाशे भवा या आहुतिः । '१४२९। दिगादि-१४। ३। ५४।' इति यत् । तामन्त्याहुतिं हावयितुमभौ प्रक्षे-पयितुं । सविप्राः ब्राह्मणैः सहिताः सचिवाश्चिचीषयन्तः चेत्तुं निधातुमिच्छन्तः प्रयोजितवन्तः । किं तत् । अध्वरपात्रजातं यज्ञोपधोमिपात्राणां सुवादीनां समूहम् ॥

११६—उदक्षिपन् पट्ट-दुकूल-केतु-

नवादयन् वेणु-मृदङ्ग-कांस्यम्, ॥

कम्बूश् च तारानधमन् समन्तात्,

तथाऽऽनयन् कुङ्कुम-चन्दनानि. ॥ ३४ ॥

उदेत्यादि—पट्टदुकूलविरचितान् केतून् ध्वजानुदक्षिपन् उच्छ्रितवन्तः ये नियुक्ताः । क्षिपेत्सौदादिकस्य ग्रहणम् । वेणुमृदङ्गकांस्यं वंशमुरजकांस्यतालमवा-
दयन् वादितवन्तः । वदेष्यन्तस्यैव प्रयोगः । ‘९१०। जातिरप्राणिनाम् । २।४।६।’
इत्येकवद्भावः । न पुनस्तूर्याङ्गत्वात् । तत्र हि प्राणिनां तूर्याङ्गाणां द्वन्द्वैकवद्भावः ।
यथा मार्दङ्गिकपाणविकमिति । ‘वृ-वृ-वदि-हनि-कमि-कपि-भ्यः सः ।’ इत्यौणा-
दिकः कंसशब्दः । तदर्थीय हितं कंसीयम् । त्रपुणा दृढद्रव्यम् । प्रकृतिविकार-
भावे छः । तस्य विकार इति । ‘१५४७। कंसीयपरशव्यथोर्यजौ लुक् च
४।३।१६८।’ इति छस्य लुक् यञ् च प्रत्ययः । कम्बून् शङ्खान् । तारान् उच्चै-
स्तरध्वनीन् । अधमन् शब्दितवन्तः । ‘२३६०। पा-प्रा-। ७।३।७८।’ इत्यादिना
धमादेशः । तथा कुङ्कुमचन्दनानि आनयन् आनीतवन्तः । सर्वत्र लङि रूपम् ॥
अन्त्येष्टिं दर्शयन्नाह—

११७—श्रोत्राऽक्षि-नासा-वदनं स-रुक्मं

कृत्वाऽजिने प्राक्-शिरसं निधाय ॥

सञ्चित्य पात्राणि यथा-विधान-

मृत्विग् जुहाव ज्वलितं चिताग्निम् ॥ ३५ ॥

श्रोत्रेत्यादि—अजिने कृष्णसारचर्मणि प्राक् पूर्वं शिरो मूर्ध्ना यस्येति तं
प्राक्शिरसं शवं निधाय स्थापयित्वा पश्चात् श्रोत्राक्षिनासावदनम् । प्राण्यङ्ग-
त्वादेकवद्भावः । वृत्तवदीत्यादिसूत्रस्यानन्तरं ‘नयतेरा चे’ति प्रकृतेराकारे नासेत्यौ-
णादिकं रूपम् । सरुक्मं समुवर्णं कृत्वा । सञ्चित्य विन्यस्य अङ्गप्रत्यङ्गेषु । पात्राणि
सुगादीनि । यथाविधानं यादृशं विधानमुक्तं गृह्यशास्त्रे । ऋत्विग्याजकः । ऋतौ
यजतीति ‘३७३। ऋत्विग्-दध्ग्-। ३।२।५९।’ इत्यादिना लिपातितः । ज्वलितं
चिताग्निम् । ज्वलनं चितं तदर्थमग्निं जुहाव जुहोति स्म ॥

११८—कृतेषु पिण्डोदक-सञ्चयेषु,

हित्वाऽभिषेकं प्रकृतं प्रजाभिः ॥

प्रत्यानिनीषुर् विनयेन रामं

प्रायादरण्यं भरतः स-पौरः. ॥ ३६ ॥

कृतेष्वित्यादि—पिण्डोदकदानास्थिसञ्चयेष्वनुष्ठितेषु प्रजाभिः प्रकृतं प्रस्तु-
तमभिषेकम् । आदिकर्मणि क्तः । हित्वा त्यक्त्वा । ‘३३३। जहातेश्च क्त्वि । ७।४।४३।’
म० का० ६

इति हिरादेशः । रामं प्रत्यानिनीषुः प्रत्यानेतुमिच्छुः । विनयेन प्रसादनया न भयादरण्यं वनं प्रायात् गतवान् । भरतः सह पौरैः । अयोध्याभवैर्जनैर्मयैकेन प्रसाद्यमानः कदाचिन्नागमिष्यतीति ॥

११९—शीघ्रायमाणैः ककुभोऽश्रुवानैर्

जनैरपन्थानमुपेत्य स्रसैः ॥

शोकादभूवैरपि भूश् चकासा-

ञ्चकार नागेन्द्र-रथाऽश्व-मिश्रैः ॥ ३७ ॥

शीघ्रेत्यादि—जनैर्हेतुभूतैर्भृशकासाञ्चकार शोभते स्म । कर्तुः क्रियाफल-योगेऽपि नात्मनेपदम् । आत्मप्रत्ययवदित्यत्र पूर्वग्रहणानुवृत्तेः । चकासेश्च परस्मै-पदित्वादिति विधिनियमौ स्थितौ । शीघ्रायमाणैः अशीघ्रैः शीघ्रैर्भवद्भिर्द्भिर्दिति गच्छद्भिरित्यर्थः । ‘२६६७। मृशादि-१३।१।१२।’ इति क्यङ् । डित्वात्तङ् । ककुभोऽश्रुवानैः दिशो व्यामुवद्भिः । अश्रोतेः सौवादिकस्य आत्मनेपदिनो रूपम् । अपन्थानमुपेत्य स्रसैः बहुत्वादमार्गमपि गत्वा गतैः । ‘९४०। ऋक्पूर-१।५।४।७४।’ इत्यादिना समासान्तः प्राप्तो ‘९५६। नजस्तपुरुषात् १।५।४।७१।’ इति प्रतिषिद्धः सन् ‘९५७। पथो विभाषा १।५।४।७२।’ इति विकल्पितः । शोकाद्धेतोरभूवैन-लङ्कारैरपि चकासाञ्चकार । भूः भूमिः । भूषेति ‘३२८०। गुरोश्च हलः १३।३। १०३।’ इत्यकारप्रत्ययः । ‘११४८। चकास् दीसौ’ इत्यस्मात् कास्यनेकाजग्रहणं चुलुम्पाद्यर्थमित्याम् । नागेन्द्ररथाश्चमिति द्वन्द्वे एकवद्भावः । अल्पाक्षरस्य न पूर्वनिपातः । ‘बहुत्वनिधयः ।’ इति वचनात् । तेन सेनाङ्गत्वात् कृतैकवद्भावेन मिश्रैर्युक्तैः । ‘६९३। पूर्व-सदृश-१२।१।३१।’ इत्यादिना तृतीयासमासः ॥

१२०—उच्चिक्यरे पुष्प-फलं वनानि,

सस्रुः, पितृन् पिप्रियुरापगासु, ॥

आरेदुरित्वा पुलिनान्यशङ्कं,

छायां समाश्रित्य विशश्रमुश्च ॥ ३८ ॥

उच्चित्यादि—ते जनाः गच्छन्तः पुष्पफलं पुष्पाणि फलानि चेति ‘९१०। जातिरप्राणिनाम् १।१।६।’ इत्येकवद्भावः । उच्चिक्यरे उच्चितवन्तः । जित्वात्तङ् कर्तुः क्रियाफलयोगात् । ‘२५२५। विभाषा चेः ७।३।५८।’ इति धातोः कुत्वम् । ‘२७२। पुरनेकाचः-१।६।४।८२।’ इति यणादेशः । उच्चिक्यर इति पाठान्तरं युक्तम् । वनानीति हेतुत्वेन ‘५३९। अकथितं-१।१।४।५१।’ कर्म । वनानि विष-द्वयन्तः फलानि जगृहुरित्यर्थः । ततः सस्रुः स्नातवन्तः । स्नातेर्लिटि ‘२२१४। उत्थपदान्तात् १।६।१।९६।’ इति पररूपम् । पितृन् पिप्रियुः उदकाञ्जलिना तर्पितवन्तः । प्रीणातेर्लिटि इयङादेशः । आपगासु नदीषु । एतत् कृत्वा पुलिनानि सैकतानि इत्वा आरेदुः आरटिताः । आरेमुरिति पाठान्तरम् । शोकापनोदनार्थं

कियन्तमपि कालमारमन्ति स्म । '२७४९। व्याङ्-परि-भ्यो रमः । १।३।८३।' इति परस्मैपदम् । अशङ्कं विस्रब्धम् । छायां समाश्रित्य विशश्रमुः विश्रान्ताः ॥

१२१—संप्राप्य तीरं तमसाऽऽपगाया

▷ गङ्गाऽम्बु-सम्पर्क-विशुद्धि-भाजः ॥

विगाहितुं यामुनमम्बु पुण्यं

ययुर् निरुद्ध-श्रमवृत्तयस् ते. ॥ ३९ ॥

संप्राप्येत्यादि—तमसापगायाः तमसाख्यायाः आपगायाः नद्याः । 'अत्य-वि-चमि-तमि-नमि-रमि-लमि-तपि-पति-जनि-पणि-गहि-भ्योऽस्य' । यस्याः स्मरणात्पापं ताम्रयति सा तमसा । तरसा इति पाठान्तरम् । तत्र तरसा वेगेन आपगाया अर्थात्तमसाया नद्या गङ्गाऽम्बुसम्पर्कात् विशुद्धिं पवित्रतां भजते या तस्या-स्तीरं कूलं सम्प्राप्य गत्वा ते जना निरुद्धश्रमवृत्तयः ययुः गताः । गङ्गेति गन् गम्यद्योरित्यौणादिको गन् । विगाहितुं विगाहिष्यामह इति कृत्वा । यामुनमम्बु यमुनाया इदं यमुनासम्बन्धि जलम् । पुण्यं पुण्यहेतुत्वात् पुण्ययुक्तत्वाद्वा ॥

१२२—ईयुर् भरद्वाज-मुनेर् निकेतं,

यस्मिन् विशश्राम समेत्य रामः ।

च्युताऽशनायः फलवद्-विभूत्या

व्यस्यन्नुदन्यां शिशिरैः पयोभिः. ॥ ४० ॥

ईयुरित्यादि—भरद्वाजमुनेर्निकेतं आश्रममीयुः गताः । '२४५५। इणो यण् । ६।४।८१।' इति यत्वम् । अभ्यासस्य '२४५६। दीर्घ इणः किति । ७।४।६९।' इति दीर्घत्वम् । यस्मिन्निकेते रामो विशश्राम विश्रान्तः । समेत्य मिलित्वा । तमीयुर्जना इति योज्यम् । फलवद्विभूत्या फलवतां वृक्षाणां समृद्ध्या हेतुभूतया च्युताशनायोऽपगतबुभुक्षः । '२६६१। अशनायो-। ७।४।३४।' इत्यादिना निपा-तितः । व्यस्यन् उदन्यां वारयन् । असेदैवादिकस्य रूपम् । उदन्यां पिपासां शिशिरैः शीतलैः पयोभिः ॥

१२३—वाचं-यमान् स्थण्डिल-शायिनश् च

▷ युयुक्षमाणाननिशं मुमुक्षून् ॥

अध्यापयन्तं विनयात् प्रणेमुः

पद्मा भरद्वाज-मुनिं स-शिष्यम्. ॥ ४१ ॥

वाचमित्यादि—ते भरद्वाजमुनिं सशिष्यं शिष्यैः सह वर्तमानं प्रणेमुः प्रण-मन्ति स्म । विनयात् विनयेन । अत एव पद्माः पदातयः पादाभ्यां गच्छन्तीति । '३०११। अन्येष्वपि दृश्यते । ३।२।१०१।' इति डः । '९९२। हिमकापिहतिषु च । ६।३।५४।' इति चकारस्य अनुक्तसमुच्चयार्थत्वात् गमोत्तरपदे पदादेशः । पदिति

योगविभागाद्वा । कीदृशम् । अध्यापयन्तं पाठयन्तम् । कान् वाचंयमान् मौनव्र-
तान् । '२९५६ वाचि यमो व्रते । ३।२।५०।' इति खच् । '२९५७। वाचंयम-पु-
रंदरौ च । ६।३।६९।' इति निपातनात् पूर्वपदस्य अमन्तता । स्थण्डिलशायिनः
भृशायिनः । '१२१६। स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते । ४।२।१५।' इति णिनिः । युयुक्ष-
माणान् योक्तुमिच्छतः । योगाभ्यासनिष्ठानित्यर्थः । अनिशमविच्छेदेन मुमुक्षून् ।
मोक्षाभिलाषिण इत्यर्थः । अतएव योगाभ्यासमिच्छून् ॥

१२५-आतिथ्यमैभ्यः परिनिर्विष्यसोः

कल्प-द्रुमा योग-बलेन फेलुः, ॥

धाम-प्रथिन्नो ऋदिमाऽन्वितानि

वासांसि च द्राघिम-वन्त्युद्बुधः ॥ ४२ ॥

आतिथ्यमित्यादि—अतिथ्यर्थमातिथ्यमन्नपानादि । '२०९४। अतिथेर्भ्यः
। ५।४।२६।' एभ्यो भरतादिजनेभ्यः इति संप्रदाने चतुर्थी । परिनिर्विष्यसोः निर्व-
मुमिच्छोः । दातुमिच्छोरित्यर्थः । निर्वर्णो वपिर्दाने वर्तते । धामप्रथिन्नः । धात्रा
तेजसा प्रथिमा पृथुत्वं यस्य । तेजसो बहिर्निर्गतत्वात् शरीरस्य पृथुत्वं जायते ।
तस्य भरद्वाजमुनेर्योगबलेन समाधिबलेन । '१२५३। युजं समाधौ।' इत्यस्य रूपम् ।
कल्पद्रुमाः फेलुः फलिताः । भक्ष्यान्नपानादिकमित्यर्थः । '२३०१। वृ-फल-भज-
त्रपश्च । ६।४।१२१।' इत्येत्वमभ्यासलोपश्च । वासांसि च वस्त्राणि उद्बुधः उद्बुह-
न्ति स्म । यजादित्वात् संप्रसारणम् । ऋदिमान्वितानि मृदुत्वमुपगतानि । द्राघि-
मवन्ति दैर्घ्ययुक्तानि । पृथुमृदुदीर्घशब्देभ्यस्तस्य भाव इत्यर्थे '१७८४। पृथ्वा-
दिभ्य इमनिच्-। ५।१।१२२।' पृथुमृदुशब्दयोः '१७८५। र ऋतो हलादेः । ६-
। ४।१६१।' इति रादेशः । दीर्घशब्दस्य '२०९६। प्रिय-स्थिर-। ६।४।१५७।' इत्या-
दिना द्राघादेशः पश्चान्मनुप् ॥

१२५-आज्ञां प्रतीषुर्, विनयादुपास्थुर्,

जगुः सरागं, ननृतुः स-हावम्, ॥

स-विभ्रमं नेमुर्दुदारमूचुस्

तिलोत्तमाऽऽद्या वनिताश्च तस्मिन्. ॥ ४३ ॥

आज्ञामिति—तस्मिन्स्तपोवने तिलोत्तमाद्या वनिता दिव्यस्त्रियः आगता
आज्ञामादेशं मुनेः प्रतीषुः प्रतीष्टवत्यः । चेटीभवत्य इत्यर्थः । प्रतिपूर्वं इषिग्रहणे
वर्तते तस्य लिटि रूपम् । विनयादुपास्थुः उपस्थिताः । पादप्रक्षालनादिदानेन
उपस्थानं कृतवत्यः । उपपूर्वात्तिष्ठतेर्लुङि सिच् । '२२२३। गाति-स्था-। २।४।७७।' इति
सिचो लुक् । '२२२६। सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च । ३।४।१०९।' इति शैर्लुक् ।
'२२१४। उत्सपदान्तात् । ६।१।९६।' इति पररूपम् । जगुः सरागं सरक्तं गीत-

वत्यः । ननुतुः सहावं सशृङ्गारचेष्टं नर्तितवत्यः । सविभ्रमं नेमुः सविलासं
प्रणताः । उदारमूचुः अग्राम्यमुक्तवत्यः ॥

१२६—वस्त्राऽन्न-पानं शयनं च नाना

कृत्वाऽवकाशे रुचि-संप्रकृतम् ॥

तान् प्रीति-मानाह मुनिस् ततः स्म

‘निवध्वमाध्वं, पिबताऽत्त शोध्वम्.’ ॥ ४४ ॥

वस्त्रेत्यादि—ततो वनितोपस्थानानन्तरमवकाशे प्रदेशे यथाभिमते वस्त्रान्न-
पानम् । सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवचनतीत्येकवद्भावः । शयनमित्यधिकरणे ल्युट् ।
नाना कृत्वा पृथक् कृत्वा । रुचिसंप्रकृतम् । यस्य यावदभिरुचितं तत्तथैव संपा-
दितम् । ‘२३५०। कृपो रो लः । ८।२।१८।’ । प्रीतिमान्मुनिस्तान् भरतादीनाह
स्म उक्तवान् । किमाह—निवध्वं परिधत्त वस्त्राणि । ‘१०९२। वसँ आच्छादने ।’
इत्यस्य विधौ लोट् । ‘५२। झलां जश् झशि । ८।४।५३।’ इति सकारस्य दकारः ।
आध्वं उपविशत । आसेः पूर्ववत् दादेशः । अत्त खादत अन्नादिकम् । ‘१०८० ।
अदँ भक्षणे ।’ इत्यस्मात् लोट् । पानादिकं पिबत । पिबतेः ‘२३६०। पा-प्रा-
। ७।३।७८।’ इति सूत्रेण पिबादेशः । शोध्वम्-स्वपित शयने । सर्वत्र विधौ लोट् ॥

१२७—ते भुक्तवन्तः सु-सुखं वसित्वा

वासांस्युषित्वा रजनीं प्रभाते ॥

द्रुतं समध्वा रथ-वाजि-नागैर्

मन्दाकिनीं रम्य-वनां समीयुः ॥ ४५ ॥

ते भुक्तेत्यादि—ते भरतादयः सुसुखमिति क्रियाविशेषणम् । भुक्तवन्तः
सन्तो वासांसि । वसित्वा परिधाय । रजनीमुषित्वा रजनीं रात्रिं । ‘३०४६।
वसति-क्षुधोः-। ७।२।५२।’ इतीद् । ‘५५८। कालाऽध्वनोः-। २।३।५।’ इति द्वि-
तीया । द्रुतं शीघ्रं प्रभाते मन्दाकिनीं नदीं समीयुः संभूय गताः । समध्वा
अविच्छिन्नाध्वानः । सङ्गता अध्वन इति प्रादिसमासः । ‘९५३। उपसर्गादध्वनः
। ५।४।८५।’ इति समासान्तष्टच् । रथवाजीति द्वन्द्वैकवद्भावः । तेन सहिता
नागा इति शाकपार्थिवादित्वात् समासः । अन्यथा सेनाङ्गत्वात् समुदायस्यैकव-
द्भावः स्यात् । रम्यवनां रमणीयकाननां रमणीयजलां वा ॥

१२८—वैखानसेभ्यः श्रुत-राम-वार्तास्

ततो विशिञ्जान-पतत्रि-सङ्घम् ॥

अभ्रं-लिहाऽग्रं रवि-मार्ग-भङ्गम्

आनंहिरे ऽद्रिं प्रति चित्र-कूटम् ॥ ४६ ॥

वैखानसेत्यादि—ततो मन्दाकिनीगमनानन्तरं वैखानसेभ्यस्तृतीयाश्रमि-

म्यः । चित्रकूटे रामोऽस्तीति श्रुतरामवार्ताः । चित्रकूटनामानमद्रिं पर्वतं प्रति ।
 '५५२। लक्षणेत्थम्भूताख्यान-११।४।९०।' इत्यादिना कर्मप्रवचनीयसंज्ञा ।
 '५४८। कर्मप्रवचनीययुक्ते-१२।३।८।' इति द्वितीया । तं लक्ष्यीकृत्य आनंहिरे
 जग्मुः । अंहतेर्लिटि द्विर्वचनम् । '२१७९। हलादिः शेषः । ७।४।६०।' । '२२४८।
 अत आदेः । ७।४।७०।' इति दीर्घः । '२२८८। तस्मात्तुद् द्विहलः । ७।४।७१।' इति युद् । विशिञ्जानपतत्रिसंघं कूजत्पक्षिगणम् । अभ्रंलिहाग्रं अभ्रस्पृक्षिख-
 रम् । '२९४७। वहाऽभ्रे लिहः । ३।२।३३।' इति खश् । '२९४२। अरुर्द्विषत्-
 १।४।५१। इत्यादिना मुम् । रविमार्गभङ्गम् । उच्चैस्तरत्वात् रवेर्मार्गभङ्गो यस्मि-
 न्नद्राविति ॥

१२९-दृष्टोर्णुवानान् ककुभो बलौघान्

वितत्य शार्ङ्गं कवचं पिनह्य ॥

तस्यौ सिसंग्रामयिषुः शितेषुः

सौमित्रिरक्षि-भ्रुवमुज्जिहानः ॥ ४७ ॥

दृष्टेत्यादि—बलौघान्दृष्ट्वा सौमित्रिस्तस्यौ स्थितः । अभ्यासस्य '२२५९।
 शर्पूर्वाः खयः । ७।४।६१।' इति खयः शेषः । कीदृशः । ककुभो दिश ऊर्णुवानान्
 आच्छादयतः । ऊर्णोत्तरदादिकस्योभयपदिनः शानचि उवङ्गदेशे च रूपम् ।
 शार्ङ्गं शृङ्गस्य विकारं धनुर्वितत्य आरोपितगुणं कृत्वा । '३३३४। वा त्यपि
 । ६।४।३८।' इत्यनुनासिकलोपः । कवचं पिनह्य बद्ध्वा । '१२४१। णह् बन्धने ।'
 इत्यस्य ल्यपि । अपिशब्दाकारलोपस्तु—'वष्टि भागुरिरहोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
 धाञ्कृजोस्तनिनह्योश्च बहुलत्वेन शौनकिः ॥' इति । सिसंग्रामयिषुः संग्रामयि-
 तुमिच्छुः । '२०७१। संग्रामं युद्धे ।' इति चौरादिको णिच् । तदन्तस्य सनि प्रथ-
 मस्यैकाचो द्विर्वचनम् । शितेषुः तीक्ष्णशरः । अक्षिणी च भ्रुवौ च अक्षिभ्रुवम् ।
 '९४५। अचतुर-१।५।४।७७।' इत्यत्र निपातितः । उज्जिहानः ऊर्ध्वं नयन् । '११६४।
 ओ हाङ् गतौ ।' इत्यस्य जुहोत्यादिकस्य '२४९६। भृजामित् । ७।४।७६।' इतीत्वम् ॥

१३०-शुक्लोत्तरासङ्ग-भृतो वि-शस्त्रान्

पादैः शनैरापततः प्रमन्यून ॥

औहिष्ट तान् वीत-विरुद्ध-बुद्धीन्

विवन्दिषून् दाशरथिः स्व-वर्ग्यान् ॥ ४८ ॥

शुक्लेत्यादि—दाशरथिस्तान् स्ववर्ग्यान् स्ववर्गे भवान् । '१४४३। अशब्दे
 यत्त्वौ । ४।३।६४।' इति यत् । आत्मीया अपि कदाचित् दुष्टबुद्धयो भवन्तीत्या-
 द—वीतविरुद्धबुद्धीन् । औहिष्ट ऊहितवान् । ऊहतेरात्मनेपदिनो लुङि आह

वृद्धिः । तदेवाविरुद्धवृद्धित्वं दर्शयन्नाह—शुद्धोत्तरासङ्गमृतः शुद्धो य उत्तरा-
सङ्गः उत्तरीयं तं विभ्रतीति किप् । विशस्त्रान् निरायुधान् । पादैरापतत आग-
च्छतो मुक्तवाहनत्वात् । शनैर्न त्वरया । प्रमन्यून् प्रकृष्टशोकान् आगतशोकान्
वा । विवन्दिषून् वन्दितुमिच्छून् ॥

१३१—स-मूल-काषं चकषू रुदन्तो

रामाऽन्तिकं बृंहित-मन्यु-वेगाः ॥

आवेदयन्तः क्षिति-पालमुच्चैः—

कारं मृतं राम-वियोग-शोकात् ॥ ४९ ॥

समूलेत्यादि—ते रामान्तिकं रामसमीपं प्राप्ताश्चकषुः पिट्वन्तः । समू-
लकाषं समूलं कषित्वा भूमेरधोभागमुत्खन्य । '३३५५' निमूल-समूलयोः कषः
। ३।४।३४' इति कषेर्णमुल । '३३६७' कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः । ३।४।४।
रुदन्तः रोदनं कुर्वन्तः बृंहितमन्युवेगा विवृद्धशोकवेगाः । '७८६' बृहि बृद्धौ ।
इत्यस्य रूपम् । रामवियोगशोकात् कारणात् क्षितिपालं दशरथमुच्चैःकारं कृत्वा ।
मृतं तिधनंगतं आवेदयन्तः । '३३८१' अव्यये यथाभिप्रेताख्यान—। ३।४।५९।
इति कृजो णमुल । एतद्यथाभिप्रेताख्यानमिति नीचैराख्यातुमभिप्रेतत्वात् उच्चै-
रावेदयन्ति ॥

१३२—चिरं रुदित्वा करुणं स-शब्दं

गोत्राऽभिधायं सरितं समेत्य ॥

मध्ये-जलाद् राघव-लक्ष्मणाभ्यां

प्रत्तं जलं ब्रज्जलमन्तिकेऽपाम् ॥ ५० ॥

चिरमित्यादि—चिरं महान्तं कालं करुणं समन्यु सशब्दं प्रतिकृत्य रुदि-
त्वा । '२६१७' र-लो-व्युपधाद्धलादेः—। १।२।२६।' इति कित्त्वे विकल्पिते '२६०९।
रुद-विद-। १।२।८।' इत्यादिना कित्त्वम् । सरितं समेत्य नदीं संभूय गत्वा ।
मध्येजलात् जलस्य मध्यात् तस्माद्वा स्नातोत्थाय अवतीर्थ । ल्यबलोपे पञ्चमी ।
'६७२। पारे मध्ये षष्ठ्या वा । २।१।१८।' इत्यव्ययीभावः । अपञ्चम्या इति
प्रतिषेधात् अम्र भवति । नाव्ययीभावादिति लुक्प्रतिषेधश्च । राघवलक्ष्मणा-
भ्याम् । अपामन्तिके समीपे जलं प्रत्तं दत्तम् । '३०७८। अच उपसर्गात्तः । ७।४।
४७।' गोत्राभिधायं नामाभिधायम् । '३९०' द्वितीयायां च । ७।२।८७।' इति
णमुल । ब्रज्जलमिति अञ्जलिपरिच्छिन्नम् । जलमञ्जली द्वौ विगुह्य । तद्वितार्थं
समासः '८०४। द्वि-त्रिभ्यामञ्जलेः । ५।४।१०२।' इति टच् । ताभ्यां प्रत्येकमञ्ज-
लिप्रदानात् द्वावञ्जली प्रमाणमस्येत्यस्मिन्वाक्ये प्रमाणप्रत्ययस्य प्रमाणे लुक् द्विगो-
र्नित्यमिति लुक् । ततः समासान्तो न प्राप्नोति । अतद्वितलुकीत्यधिकारात् ॥

१३३—‘अरण्य-याने सु-करे पिता मा

प्रायुङ्क्त, राज्ये बत दुष्-करे त्वाम्, ॥

मा गाः शुचं वीर !, भरं वहां ऽमुम्,’

आभाषि रामेण वचः कनीयान्. ॥ ५१ ॥

अरण्ययान इत्यादि—अरण्याय यानं अरण्ययानं तस्मिन् सुकरे सुखसाध्ये पिता मां प्रायुङ्क्त नियुक्तवान् । युजे रौधादिकस्य लङि रूपम् । कर्त्रभिप्राये ‘२७३५। प्रोपाभ्यां यजेः-।१।३।६४।’ इत्यात्मनेपदम् । राज्ये दुष्करे दुःखसाध्ये त्वां प्रायुङ्क्त । एवं च सति हे वीर, शुचं शोकं मा गाः । मा कार्षीरित्यर्थः । ‘२४५८। इणो गा लुङि ।२।४।४५।’ । ‘२२२३। गाति-स्था-।२।४।७७।’ इति सिचो लुङ् । बत इति खेदे । किन्तु भरममुं पितुर्नियोगम् । ‘९६४। भृ-ञ् भरणे ।’ इत्यस्मात् ‘३२३२। ऋदोरप् ।३।५।७७।’ वह संपादय । विधौ लोट् । एवं वचः रामेण कनीयान् अनुजो भ्राता भरतः आभाषि भाषितः । कर्मणि लुङ् । ब्रुवी-त्यर्थग्रहणात् द्विकर्मकता । अल्पशब्दादीयसुनि ‘२०१९। युवाल्पयोः-।५।३।६४।’ इत्यादिना कनादेशः ॥

१३४—‘कृती श्रुती वृद्ध-मतेषु धीमांस्

त्वं पैतृकं चेद् वचनं न कुर्याः, ॥

विच्छिद्यमाने ऽपि कुले परस्य

पुंसः कथं स्यादिह पुत्र-काम्या. ॥ ५२ ॥

कृतीत्यादि—वृद्धानां पण्डितानां मतेषु श्रुतानि कृतानि चानुष्ठितानि येने-ति । श्राद्धमनेनेत्यधिकृत्य । ‘१८८८। इष्टादि-।५।२।८८।’ इतीति । कस्येन्विष-यस्येति कर्मणि सप्तमी । स्वमते भावक्तान्तादस्त्यर्थे इन् । स त्वमेवंविधः धीमान् पैतृकं पितुरागतम् । ‘१४५८। पितुर्यच् ।४।३।७९।’ इति चकारादृष्टलि ‘१२२१। इत्सुसुक्तान्ताकः ।७।३।५१।’ चेद्यादि वचनं न कुर्याः । मध्यमपुरुषैकवचने लिङि रूपम् । तदा विच्छिद्यमाने कुले वंशे परस्यापि अन्यस्यापि पुंसः । अपिशब्दो भिन्नक्रमः । कथं स्यादिह लोके पुत्रकाम्या आत्मनः पुत्रेच्छा । नैवेत्यर्थः । पुत्रश-ब्दात् ‘२६६३। काम्यच् ।३।१।९।’ इति काम्यच् । तदन्तादप्रत्ययः । टाप् ॥

१३५—अस्माकमुक्तं बहु मन्यसे चेद्,

यदीशिषे त्वं न मयि स्थिते च, ॥

जिह्वेभ्य-तिष्ठन् यदि तात-वाक्ये,

जहीहि शङ्कां, ब्रज, शाधि पृथ्वीम्.’ ॥ ५३ ॥

अस्माकमित्यादि—अस्माकमुक्तं अस्मत्सम्बन्धि वचनं चेद् यदि बहु मन्यसे आद्रियसे । पितृतुल्यो भ्राता अस्यानुमतः कथमेवं न कुर्यामिति यदि

च मयि स्थिते नेक्षिषे न प्रभुत्वं करोषि । प्रभुस्त्वमहं स्वदाज्ञाकर इति । ईशेरा-
दादिकस्य '२४३९। ईशः से । ७।२।७७।' इतीडागमः । गुरुवचनमनतिक्रमणीयं
विशेषतस्तत्वाक्यं तस्मिन्नतिष्ठन् वचनमकुर्वाणः यदि जिह्वेभि लज्जसे । '२४९०।
श्रौ । ६।१।१०।' इति द्विर्वचनम् । एतन्निश्चित्याह—जहीहि शङ्कां त्यज विक-
ल्पम् । व्रज गच्छ अयोध्याम् । शाधि पालय पृथ्वीम् । '२४९८। जहातेश्च
। ६।१।११६।' इति इत्थे विकल्पिते । '२४९७। ई हत्यघोः । ६।१।११३।' इतीत्वम् ।
शासेः '२४८७। शा हौ । ६।१।३५।' इति शाभावः । तस्याभीयत्वेनासिद्धत्वात्
'२४२५। हु-झल्भ्यो हेधिः । ६।१।१०१। ॥

१३६—'वृद्धौरसां राज्य-धुरां प्रवोढुं

कथं कनीयानहमुत्सहेय, ॥

मा मां प्रयुक्थाः कुल-कीर्ति-लोपे,'

प्राह स्म रामं भरतोऽपि धर्म्यम्. ॥ ५४ ॥

वृद्धौरसामित्यादि—भरतः प्राह । धूर्वहनशीला धूर्नयनशीला इत्यर्थः ।
अनेकार्थत्वाद्वातूनाम् '३१५७। आज-भास—। ३।२।१७७।' इति क्रिप् । '२६५५।
राहोपः । ६।१।२१।' इति वलोपः । राज्यस्य सप्ताङ्गस्य धूर्वात्री । प्रकृतिरिति
विगृह्य । '९४०। ऋक्-पूः—। ५।१।७४।' इत्यकारप्रत्ययः । '८१२। परवल्लिङ्—। २।
४।२६।' इति धूरिति स्त्रीलिङ्गम् । ततष्टाप् । कीदृशीम् । वृद्धौरसां वृद्धो ज्येष्ठः
औरसः पुत्रो यस्याम् । उरसा निर्मित इति छन्दसो निर्मित इत्यनुवृत्तौ '१६४६।
उरसोऽण् च । ४।१।९४।' इत्यण् । तां तिष्ठति रामे प्रवोढुं कथमुत्सहे । कनीयान्
सन् । नैवेत्यर्थः । '३१७७। शक्-ष्टप्—। ३।१।६५।' इत्यादिना वहेः सहावुपपदे
तुमुन् । गर्हायां लङ्पिजात्वोरित्यनुवृत्तौ '२८००। विभाषा कथमि लिङ् च
। ३।३।१४३।' इति लिङ् । सहेरूपूर्वस्य आत्मनेपदित्वात् सीयुद् । '२२५७।
इटोऽत् । ३।१।१०६।' । '२३११। लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य । ७।२।७९।' अतो मा
मां प्रयुक्थाः मा नियोजय । '२२१९। माङि लुङ् । ३।३।१७५।' । '२२८१।
झलो झलि । ८।२।२६।' इति सिचो लोपः । कुलकीर्तिलोपे । लोपयतीति लोपः
पचाद्यच् । रघुवंशस्य या कीर्तिः तस्या लोप इति समासः । पूर्वैरनाचरितत्वात्
एवं च धर्म्यं धर्मादनपेतं भरतोऽपि प्राह स्म उक्तवान् ॥

पुनश्चाह—

१३७—'ऊर्जस्-वलं हस्ति-तुरङ्गमेतद्,

अमूनि रत्नानि च राज-भाङ्गि, ॥

राजन्यकं चैतदहं क्षितीन्द्रस्

त्वयि स्थिते स्यामिति शान्तमेतद्.' ॥ ५५ ॥

ऊर्जेत्यादि—एतद्धस्ति-तुरङ्गम् । सेनाङ्गत्वादेकवङ्गावः । ऊर्जस्वलं बलवत् ।

ऊर्जनमूर्क । संपदादित्वात् क्विप् । सा विद्यते यस्येति । '१९२१। ज्योत्स्ना-त-
मिस्त्रा-१५।२।११४।' इत्यादिना वलच् । असुगागमश्च । अमूनि च रत्नानि राज-
भाजि राजगृह्याणि । एतच्च राजन्यकं क्षत्रियसमूहः । क्षितीन्द्रो राजा अहं
त्वयि स्थिते स्वामिति भवामीति शान्तमेतत् । स्वामिति निमन्त्रणे नियोगक-
रणे लिङ् ॥

१३८—इति निगदितवन्तं राघवस् तं जगाद—

‘व्रज भरत ! गृहीत्वा पादुके त्वं मदीये, ॥

च्युत-निखिल-विशङ्कः पूज्यमानो जनौघैः

सकल-भुवन-राज्यं कारयाऽऽस्मन्-मतेन', ॥५६॥

इतीत्यादि—इति एवं निगदितवन्तं उक्तवन्तं तं भरतं राघवो रामो जगाद
उक्तवान् । किमित्याह—हे भरत ! मदीये पादुके उपानहौ गृहीत्वा त्वं व्रज गच्छ ।
विधौ लोट् । अस्मदस्यदादित्वे '१३३६। त्यदादीनि च । १।१।७४।' इति वृद्ध-
संज्ञायां तस्येदमर्थे '१३३७। वृद्धाच्छः । ४।२।११४।' '१३७३। प्रत्ययोत्तरपदयोश्च
। ७।२।९८।' इति मदादेशः । ततश्च पूज्यमानो जनौघैर्जनसमूहैः । च्युतनिखि-
लविशङ्कः अपगताशेषविकल्पः । सकलभुवनराज्यं सर्वत्र भूमण्डले राज्यं
कारय अनुष्ठापय । पादुके इति योज्यम् । अस्मन्मतेन अस्माकमभिप्रायेण ।
अत्र मदादेशो न भवति अस्मदो बहुवचनान्तस्य विवक्षितत्वात् । तत्र
श्लोकवचन इति वर्तते । ननु कथं मदीय इत्यत्र मदादेशः बहुवचनान्तत्वादिति
विरोधः । पादुके रामस्यैव तद्व्यस्मन्मतेन इत्यत्रापि एकवचनम् । आवयो
रामलक्ष्मणयोर्मतेनेति षष्ठीसमासे न दोषः ॥

इति श्री-जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते श्री-भट्टिकाव्ये-

प्रथमे प्रकीर्ण-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयः परिच्छेदः (वर्गः),

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके श्री-राम-प्रवासो नाम

तृतीयः सर्गः पर्यवसितः ।

चतुर्थः सर्गः—

१३९—निवृत्ते भरते धी-मानत्रे रामस् तपो-वनम् ॥

प्रपेदे, पूजितस् तस्मिन् दण्डकारण्यमीयिवान् ॥१॥

निवृत्त इत्यादि—धीमान् बुद्धिमान् अत्र स्थिते मयि कदाचिद्भरतः
पुनरेष्यतीत्येवं बुद्धिमान् रामः अत्रेर्महर्षेस्तपोवनं प्रपेदे गतः । तस्मिंश्च तपोवने
अर्च्यपाद्यादिभिः पूजितः । दण्डक्यो नाम भोजो भार्गवकन्यामहरत् । तच्छा-
पात् पांसुवर्षेणाक्रान्तः सबन्धुराष्ट्रविनाशो यस्मिन् स्थाने तत्त्वोपलक्षितम्

१—मालिनी-छन्दः । तल्लक्षणे, (२६) श्लोकोक्तं टीकनं प्रेक्ष्यम् ।

अरण्यमभूत् । तदीयिवान् गतवान् । '३०९८। उपेयिवान्-१३।२।१०९।' इत्यत्र
उपसर्गस्यातत्रत्वात्केबलादपीणः क्रमुः ॥

१४०-अटाव्यमानो ऽरण्यानीं स-सीतः सह-लक्ष्मणः ॥

बलाद् बुभुक्षुणोत्क्षिप्य जह्रे भीमेन रक्षसाः ॥ २ ॥

अटाव्येत्यादि—महदरण्यमरण्यानी । '५०५। इन्द्र-वरुण-१४।१।४९।' इत्यादिना हिमरण्यायोर्महत्त्वे ङीषानुकौ । तां अटाव्यमानः अत्यर्थमटन् रामः । 'सूचि-सूत्रि-' इत्यादिना यङ् । ससीतः सहलक्ष्मणः । '८४९। वोपसर्जनस्य । ५।३।८२।' इति विकल्पेन सभावः । बलात् बलवत्तया जह्रे हतः । गृहीत इत्यर्थः । कर्मणि लिट् । उत्क्षिप्य उत्थाप्य हस्ताभ्यां केनापि रक्षसा । वैश्रवण-शापात् तुम्बुरुनाम्ना गन्धर्वेण राक्षसीभूतेन विराधाख्येन बुभुक्षुणा भोक्तुमिच्छु-ना । भीमेन भयानकेन । 'भियः पुक्' इत्यौणादिकषुगभावपक्षे रूपम् ॥

१४१-अवाक्-शिरसमुत्-पादं

कृतान्तेनाऽपि दुरन्दमम् ॥

भङ्क्त्वा भुजौ विराधाऽऽख्यं

तं तौ भुवि निचखतुः ॥ ३ ॥

अवागित्यादि—तं विराधाख्यं राक्षसम् । कृतान्तेनापि यमेनापि । दुर्दमं दुःखेन दम्यत इति खल । तौ रामलक्ष्मणौ भुवि निचखतुर्निखातवन्तौ । कीदृशम् । अवाक्शिरसं अवाक् शिरो यस्येति अधोमस्तकम् । ऊर्ध्वं पादौ यस्येति उत्पादम् । भुजौ भङ्क्त्वा मोटयित्वा । '३।३३०। जान्त-नशां विभाषा । ६।४। ३२।' इत्यनुनासिकलोपाभावपक्षे रूपम् ॥

१४२-आंहिषातां रघु-व्याघ्रौ शरभङ्गाऽऽश्रमं ततः ॥

अध्यासितं श्रिया ब्राह्म्या शरण्यं शरणैषिणाम् ॥ ४ ॥

आंहित्यादि—ततो विराधवधानन्तरं रघुव्याघ्रौ शरभङ्गनाम्नो मुनेराश्रमम् आंहिषातां गतवन्तौ । अंहेलुङि रूपम् । अध्यासितं आश्रयीकृतम् । श्रिया लक्ष्म्या । ब्राह्म्या ब्रह्मसम्बन्धिन्या । ब्रह्मण इयमित्यण् । '११५८। ब्राह्मोऽजातौ । ६।४।१७१।' इति निपातनात् टिलोपः । '४७०। टिङ्गाणञ्-१४।१।१५।' इत्यादिना ङीप् । शरणे अवस्थाने साधु अनुकूलं शरण्यम् । '१६५०। तत्र साधुः । १४।१।९८।' इति यत् । शरणैषिणां शरणं त्राणमेषितुं शीलं येषाम् ॥

१४३-पुरो रामस्य जुहवाञ्चकार ज्वलने वपुः ॥

शरभङ्गः प्रदिश्याऽऽरात् सुतीक्ष्ण-मुनि-केतनम् ॥ ५ ॥

पुर इत्यादि—शरभङ्गो रामस्य पुरः अग्रतः वपुः शरीरं ज्वलने अग्नौ जुहवाञ्चकार कुट्टित्वात्तस्य । '२४९१। भी-ही-मृ-हुवां-३।१।३९।' इति आम्

आमि श्लुभावे द्विर्वचनम् । किं कृत्वेत्याह—प्रदिश्य कथयित्वा । किम्—आरात् समीपे सुतीक्ष्णनाम्नो मुनेः केतनं आश्रमम् । तत्र वासमुपकल्पयेति ॥

तव किमत्रावस्थानमिति चेदाह—

१४४—‘यूयं समैष्यथैत्यस्मि—

ज्ञासिष्महि वयं वने, ॥

दृष्टाः स्थ, स्वस्ति वो, यामः

स्व-पुण्य-विजितां गतिम्’ ॥ ६ ॥

यूयमित्यादि—अपि नाम यूयं समैष्यथ आगमिष्यथ । आहपूर्वं इण् आगमने वर्तते । ‘७३। एत्येधत्यूरुसु । ६।१।८९।’ इति वृद्धिः । इत्यस्मात्कारणात् । अस्मिन्वने वयमासिष्महि स्थिताः । असेर्लुङि रूपम् । ‘८१।८। अस्मदो द्वयोश्च । १।२।५९।’ इति चकारस्यानुक्तसमुच्चयत्वादेकत्वे बहुवचनम् । अस्मदागमने किं ते फलमिति चेदाह—दृष्टाः स्थ अधुना दृष्टा भवथ । अस्तेर्मध्यमपुरुषबहुवचने ‘२४६९। असोरलोपः । ६।४।११।’ इत्यकारलोपः । स्वस्ति कल्याणम् । वः युष्मभ्यम् । ‘५८३। नमः—स्वस्ति—। २।३।१६।’ इत्यादिना चतुर्थी । ‘४०५। बहुवचनस्य वस्त्रसौ । ८।१।२१।’ स्वपुण्येन विजितां लब्धां गतिं जन्म । यामः ब्रजामः । रामरूपेण विष्णुरवतीर्णः तं दृष्ट्वा यास्याम इत्यत्र वयं स्थिता इति ॥

१४५—तस्मिन् कृशानु-साद्-भूते सुतीक्ष्ण-मुनि-सन्निधौ ॥

उवास पर्ण-शालायां भ्रमन्ननिशमाऽऽश्रमान्, ॥७॥

तस्मिन्नित्यादि—तस्मिन् शरभङ्गे कृशानुसाद्भूते कात्स्न्येनाभीभूते । ‘२१-२२। विभाषा साति कात्स्न्ये । ५।४।५२।’ इति सातिः । रामः सुतीक्ष्णस्य मुनेः सन्निधौ समीपे पर्णशालायां पर्णकुट्यामुवास उषितवान् । तत्र कृताधिवासस्य वृत्तिमाह—भ्रमन्ननिशमाश्रमान् पर्यटन् सदा तपोवनानि मुनीन् उपासितुम् ॥

१४६—वनेषु वासतेयेषु निवसन् पर्ण-संस्तरः ॥

शय्योत्थायं मृगान् विध्यन्नातिथेयो विचक्रमे ॥ ८ ॥

वनेष्वित्यादि—वासतेयेषु वसतौ साधुषु । ‘१६५६। पथ्यतिथि-। ४।४।१०४।’ इत्यादिना ढञ् । निवसन् शयानः । संस्तीर्यत इति संस्तरः । ‘३२३२। ऋदोरप् । ३।३।६७।’ पर्णानि संस्तरो यस्येति पर्णसंस्तरः । शय्योत्थायं शय्याया उत्थाय । उत्पूर्वात्तिष्ठतेः । ‘३३७३। अपादाने परीप्सायां । ३।४।५२।’ इति णमुल् । शय्यते अस्यामिति शय्या । ‘३२७६। संज्ञायां । ३।३।९९।’ इत्यादिना क्यप् । त्वरया मुखधावनादीन्यपि न कृत्वा । मृगान्विध्यन् ताडयन् । ‘२४१२। ग्रहि-ज्या—६।१।१६।’ इत्यादिना सम्प्रसारणम् । तत्रापि नात्मार्यं लुब्ध इत्याह—आतिथेयः अतिथौ साधुः । पूर्ववत् ढञ् । विचक्रमे विहरति स्म । ‘२७१४। वेः पादविहरणे । १।३।४१।’ इति तङ् ॥

१४७—ऋग्-यजुषमधीयानान् सामान्यांश्च समर्चयन् ॥

बुभुजे दैव-सात्-कृत्वा शूल्यमुख्यं च होमवान् ॥९॥

ऋग्यजुषमित्यादि—ऋक् च यजुश्च ऋग्यजुषम् । '९४५। अचतुर—
।५।४।७७।' इत्यादिना निपातितम् । '९३०। इन्द्राक्षु-द-ष-हाऽन्तात् समाहारे
।५।४।१०६।' इति टच् । ऋग्वेदं यजुर्वेदं च अधीयानान् पठतः । इदोऽधि-
पूर्वस्य लटि शानचि रूपम् । '६२७। न लोक-।२।३।६९।' इति षष्ठीप्रतिषेधः ।
सामान्यांश्च सामसु साधून् द्विजान् । '१६५०। तत्र साधुः ।४।४।९८।' इति यत् ।
'११५४। ये चाभावकर्मणोः ।६।४।१६८।' इति प्रकृतिभावः । समर्चयन् पूजयन् ।
शूल्यमुख्यं च मांसं बुभुजे भुक्तवान् । शूले उखायां च स्थाल्यां संस्कृतम्
'१२१८। शूलोखाद्यत् ।४।२।१७।' । '२७३७। भुजोऽनवने ।१।३।६६।' इति
तङ् । किं कृत्वा-देवसात्कृत्वा देवेभ्यो दत्त्वा । तदधीनं कृत्वा । '२१२४। देये
ग्रा च ।५।४।५५।' इति चकारात् सातिश्च । होमवान् होमो विद्यते यस्येति ।
कृताग्निकार्यं इत्यर्थः ॥

युग्मम् (२)—

१४८—वसानम् तन्नक-निभे सर्वाङ्गीणे तरु-त्वचौ ॥

काण्डीरः खाङ्गिकः शार्ङ्गी रक्षन् विप्रांस्तनुत्रवान् १०

वसान इत्यादि—असौ रामो वनेष्वानभ्र भ्रान्तवानिति वक्ष्यमाणेन
श्लोकेन सम्बन्धः । वसानः परिदधानः । '१०९२। वसँ आच्छादने ।' इत्यस्मात्
शानच् । तरुत्वचौ वल्कले प्रत्यग्रे । तन्नकः '१८७०। तन्नादचिरापहते ।५।२।
७०।' इति कन् । तन्निभे तत्तुल्ये । सर्वाङ्गीणे सर्वाङ्गाणि व्याप्तुवत्यौ । '१८०८
तत्सर्व-।५।२।७।' इत्यादिना खः । काण्डीरः काण्डोऽस्यास्तीति । '१९१८।
काण्डाण्डादीरञ्जीरचौ ।५।२।१११।' । खाङ्गिकः खङ्गोऽस्यास्तीति । '१९२२। अत
इनिठनौ ।५।२।११५।' खाङ्गिक इति पाठान्तरम् । तत्र खङ्गः । '१६०७। प्रहरणं
।४।४।५७।' इति ठक् । शार्ङ्गी सधनुः । तनुत्रवान् तनुं शरीरं त्रायत इति तनु-
त्रम् । '२९१५। आतोऽनुपसर्गे कः ।३।२।३।' इति संसर्गे मतुप् । पिनङ्कवच
इत्यर्थः । स एवंविधो विप्रान् ब्राह्मणान् रक्षन् ॥

१४९—हित्वाऽऽशितङ्गवीनानि फलैर् येष्वाशितम्भवम्, ॥

तेष्वासौ दन्दशूकाऽरिर् वनेष्वानभ्र निरभयः ॥११॥

हित्वेत्यादि—आशितास्तृप्ता गावो येषु भवन्ति तृणप्रायत्वात् । '२०७९।
अषडक्षा-।५।४।७।' इत्यादिसूत्रेण खः पूर्वपदस्य च मान्तत्वं निपात्यते । तान्य-
रण्यानि हित्वा येषु वनेषु फलैराशितम्भवमाशितस्य भवनं तृप्तिर्वर्तते ।

१—'ब्रह्म्यां युग्ममिति प्रोक्तं, त्रिभिः श्लोकैर् विशेषकम्, ॥

कलापकं चतुर्भिः स्यात् तदूर्ध्वं कुलकं रघुतम्, ॥ १ ॥'

भ. का. ७

‘२९६२। आशिते भुवः-।३।२।४५।’ इत्यादिना भावे खच् । तेष्वानञ् । ‘५९७। अञ्, ५९८। वञ्’ इति गत्यथा धातुः । लिटि ‘२२४८। अत आदेः । ७।४।७०।’ इति दीर्घे ‘२२८८। तस्माद्युद्धिहलः । ७।४।७१।’ इति नुट् । दन्द्शकारिः व्यालानां हन्ता । ‘२६३५। लुप-सद-।३।१।२४।’ इत्यादिना दंशेर्यङ् । तदन्तात् ‘३१४६। यज-जप-।३।२।१६६।’ इत्यादिना ऊकः ॥

१५०—ब्रातीन-व्याल-दीप्राऽस्रः सुत्वनः परिपूजयन् ॥

पर्वद्वलान् महा-ब्रह्मैराट नैकटिकाऽऽश्रमान् ॥ १२ ॥

ब्रातीनेत्यादि—तेषु वनेषु अमन् नैकटिकाश्रमानाट गतवान् । अटेरभ्यासस्य ‘२२४८। अत आदेः । ७।४।७०।’ इति दीर्घत्वम् । ग्रामस्यान्तिके क्रोशमात्रं त्यक्त्वा यतयो भिक्षवो ये निवसन्ति ते नैकटिकाः । ‘१६२४। निकटे वसति । १।४।८३।’ इति ठक् । तेषामाश्रमांस्तपोवनानि । कीदृशः । ब्रातीनव्यालदीप्रास्रः । नानाजातीयाः अनियतवृत्तयः शरीरमायास्य ये जीवन्ति ते ब्रातास्तेषां यत्कर्म तदपि ब्रातं तेन जीवन्ति इति ब्रातीनाः । ‘१८२२। ब्रातेन जीवति । ५।२।२१।’ इति खच् । तेषां व्याला हिंसाः उपधातकाः तेषु दीप्रास्रः ज्वलदायुधः । सस-मीति योगविभागात्सः । सुत्वनः सुतवतः परिपूजयन् । सोमपायिन इत्यर्थः । ‘३०९१। सुयजोर्द्वनिप् । ३।२।१०३।’ तुक् । ‘३५५। न संयोगा-।६।४।१३७।’ इत्यलोपो न । पर्वद्वलानिति । ‘पर्वं स्नेहने’ अस्मात्पर्वते स्निह्यतीति । शृण्वसो दिरिल्यत्र पर्वैर्बाहुलकादौणादिको दिः पर्वत् । तत्र यदि ‘१९१५। रजः-कृष्या-सुति-पर्वदो वलच् । ५।२।११२।’ इति तदा पर्वत् विद्यते येषां सुत्वनामिति वलच् । अत्र परिषीदतीति परिषत् क्तिबन्तो यथा ‘परिषद्व्येषा गुणप्राहिणी’ तदा परिषद्वलं सहायो येषामिति बहुव्रीहिः । महाब्रह्मैर्महाब्राह्मणैः । ‘८०६’ कुमहन्त्यामन्यतरस्याम् । ५।४।१०५।’ इति टच् । तैः सहाट ॥

युग्मकम् (२)—

१५१—परेद्यव्यद्य पूर्वद्युरन्येद्युश् चाऽपि चिन्तयन् ॥

वृद्धि-क्षयौ मुनीन्द्राणां प्रियं-भावुक-तामगात् ॥ १३ ॥

परेद्यवीत्यादि—परेद्यवि परस्मिन् आगामिति दिवसे इत्यर्थः । अद्यैतस्मिन्नहनि । पूर्वेषुः पूर्वस्मिन्नहनि । अन्येद्युरन्यस्मिन्नहनि चिरात्तिक्रान्ते चिरगासिनि दिवसे परेद्यवीत्यादिषु दिवसेषु मुनीन्द्राणां वृद्धिक्षयौ उद्यापचयौ चिन्तयन् । प्रियम्भावुकतां पूर्वं प्रियाप्रियस्वभावनिर्मुक्तत्वाद्वतामूतः सन् प्रियो भवतीति प्रियम्भावुकः । आद्यसुभगेत्यधिकृत्य ‘२९७४। कर्तरि भुवः क्षिण्यच् खुकजौ । ३।२।५७।’ इति खुकज् । तद्भावः । तामगात् गतः । अर्थान्मुनीन्द्राणामेव । परेद्यव्यादयः शब्दाः ‘१९७०। सद्यः-परत्-।५।३।२२।’ इत्यादिना विपातिताः ॥

१५२—आ-तिष्ठद्-गु जपन् सन्ध्यां प्रक्रान्तामायतीगवम् ॥

प्रातस्तारां पतत्रिभ्यः प्रबुद्धः प्रणमन् रविम् ॥ १४ ॥

आतीत्यादि—जपन्मन्त्रमिति सामर्थ्यलभ्यम् । सन्ध्याकालोऽधिकरणम् । तेन अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । सम्यक् ध्यायन्त्यस्यामिति । '३२८३। आतश्चो-पसर्गे । ३।३।१०६।' इत्यङ् । किमवधि सन्ध्यामित्याह—प्रक्रान्तमायतीगवम् । आयत्या आयान्त्यो भवन्ति यस्मिन् काले गावः अस्मिन्नायतीगवं आरब्धाम् । '६७१। तिष्ठद्-प्रभृतीनि—१२।१।१७।' इत्यव्ययीभावसमासत्वात्साधुः । '६५७। नाव्ययीभावात्—१२।१।८३।' इति ससम्या अभावः । आङ्पूर्वादिणः शतरि '२४५५। इणो यण् । ६।१।८१।' इति यणि ङीपि च रूपं आयतीति । गावोऽपि गोचरात् गोष्ठमायान्ति दिवसस्यार्धनाडिकावशेषे सन्ध्यापि तदैव प्रवर्तते । कियन्तमेवं जपन्नित्याह—आतिष्ठद् इति । तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् काले दोहाय । गावो हि रात्रिप्रथमयामस्य नाडिकायामतीतायां विश्रान्ताः सत्यः उत्थाप्य दुहन्ते । आतिष्ठदिति '६६७। आङ् मर्यादाभिविध्योः । १२।१।१३।' इत्यव्ययी-भावः । '६७१। तिष्ठद्-प्रभृतीनि च । १२।१।१७।' इति चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थ-त्वादव्ययीभाव एव । पुनः समासान्तरं न भवति । प्रातस्तरामिति । प्रातरित्य-व्ययं प्रभातवाचि । प्रकर्षविवक्षायां तरप् । तदन्तात् '२००४। किमेत्—१५।४।११।' इत्यादिना भाम् अतिप्रभाते । पतन्निभ्यः कुकुटादिभ्यः प्रथमं प्रबुद्ध उत्थितः । '६३९। पञ्चमी विभक्ते । १२।३।४२।' इति पञ्चमी । रविमादित्यं प्रणमन् यदा चरति तदा प्रियम्भावुकतामगादिति पूर्वणं योज्यम् ॥

१५३—ददृशे पर्ण-शालायां राक्षस्या ऽभीकया ऽथ सः, ॥

भार्योऽहं तमवज्ञाय तस्ये सौमित्रयेऽसकौ, ॥ १५ ॥

ददृश इत्यादि—पर्णानां शालायां स्थितः स रामः राक्षस्या ददृशे दृष्टः । कीदृश्या । अभीकया कामुक्या । '१८७४। अनुकाऽभिका—१५।२।७४।' इत्यादिना निपातितः । दृशेः कर्मणि लिट् । अथ दर्शनानन्तरं भार्योऽहं ऊढभार्यमूढा भार्या यस्येति । आहिताग्नादिषु दर्शनात् निष्ठान्तस्य परनिपातः । अवज्ञाय अनादृत्य । सङ्गार्यत्वात् । असकौ राक्षसी पापासौ । कुत्सायां '२०२५। अव्यय-सर्वनाम्ना-मकच्—१५।३।७१।' सौमित्रये लक्ष्मणाय । '५३२। श्लाघ-हुङ्—११।४।३४।' इत्यादिना सम्प्रदानसंज्ञा । तस्ये स्वाभिप्रायं मैथुनायाविष्कृतवती । '२६९०। प्रकाशन-स्थेयाख्ययोश्च । १।३।२३।' इति प्रकाशने तङ् ॥

कलार्पकम् (४)—

१५४—दधाना वलि-भं मध्यं कर्ण-जाह-विलोचना ॥

वाक्-त्वचेनाऽति-सर्वेण चन्द्र-लेखेव पक्षतौ ॥ १६ ॥

दधानेत्यादि—सा तं प्रार्थयाञ्चक इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । कीदृशी । मध्यं सनजघनयोरन्तरम् । वलिभं वलयोऽस्मिन् सन्तीति । '१९४५। तुन्दि-वलि-वटेर्भः । १५।२।१३९।' दधाना धारयन्ती । कर्णजाहविलोचना । कर्णजाहं

कर्णमूलसमीपमित्यर्थः । '१८२५। तस्य पाकमूल-॥५१२१॥' इत्यादिना जाहृच् । कर्णजाहयोर्विश्रान्ते विलोचने यस्या इति सप्तम्युपमानेत्यादिना उपपदलोपी बहु-
व्रीहिः । वाक्त्वचेन वाक् च त्वक् चेति प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावाः । '९३०। द्वन्द्वाच्चु-
द-ष-हान्तात्-॥५१४१०६॥' इति टच् । अतिसर्वेण अतिक्रान्तेन सर्वम् । अत्यादय
इति समासः । '६५५। एकविभक्ति चापूर्वनिपाते ॥१२१४४॥' इति सर्वशब्दस्योप-
सर्जनत्वेऽपि पूर्वनिपातो न भवति अपूर्वनिपात इति प्रतिषेधात् । वाक्त्वचेन
वाङ्मयेन मायुर्येण मार्दवेन चासाधारणेनोपलक्षितेनेत्यर्थः । इत्थम्भूते तृतीया ।
चन्द्रलेखेव पक्षतौ तनुत्वात् । पक्षोऽन्नार्धमासः । तस्य मूले प्रतिपदि । '१८२६।
पक्षात्तिः ॥५१२२५॥' ॥

१५५—सु-पाद् द्वि-रद-नासोर्लू मृदु-पाणि-तलाऽङ्गुलिः ॥

प्रथिमानं दधानेन जघनेन घनेन सा ॥ १७ ॥

सुपादित्यादि—शोभनौ पादौ यस्याः असौ सुपात् । '८७९। सङ्ख्यासुपू-
र्वस्य ॥५१४१४०॥' इति पादान्तलोपः '४५७। पादोऽन्यतरस्यां ॥४११८॥' इति
यदा ङीप् नास्ति तदेत्थं रूपम् । द्विरदनासोर्लूद्विरदनासे इव करिपोतकराविव
ऊरु यस्याः । उपमानपूर्वो बहुव्रीहिः । '५२४। ऊरुत्तरपदादौपम्ये ॥४११६९॥'
इति ऊङ् । रघते अनेनेति रदः दन्तः । '३२९६। पुंसि संज्ञायां घः-॥३३११८॥'
करणे । द्वौ रदौ यस्येति द्विरदः । मृदुपाणितलाङ्गुलिः । तलं च अङ्गुलिश्चेति द्वन्द्वः ।
तत्र ध्यन्ताल्पाक्षरयोः अल्पाक्षरस्य पूर्वनिपातः । पाण्योस्तलाङ्गुलिं पाणितला-
ङ्गुलि । मृदु पाणितलाङ्गुलि यस्य इति योज्यम् । प्रथिमानं पृथुतां दधानेन
धारयता । घनेन उपचितेन जघनेनोपलक्षिता सा राक्षसी ॥

१५६—उन्-नसं दधती वक्रं शुद्ध-दल-लोल-कुण्डलम् ॥

कुर्वाणा पश्यतः शंयून् स्रग्विणी सु-हसाऽऽनना ॥ १८ ॥

उन्नसमित्यादि—उच्यते अनेनेति वक्रम् । सर्वधातुभ्य औणादिकः इन्
तत्र वक्रशब्दो मुखैकदेशे वर्तमानोऽपि कविभिः समुदाये प्रयुज्यते । वक्रं मुख-
मुन्नसं दधती । '४२७। नाभ्यस्ताच्छतः ॥७११७८॥' इति नुम् न भवति । उन्नता
नासिका यस्मिन्निति । अज्जनासिकायाः संज्ञायां नसं चेत्यधिकृत्य '८५८। उपस-
र्गाच्च ॥५१४११९॥' इत्यच् । नासिका च नसादेशमापद्यते । शुद्धदत् शुद्धाः शुद्धा
दन्ता यस्मिस्तच्छुद्धदत् '८८३। अग्रान्तशुद्ध-॥५१४१४५॥' इत्यादिना ददादेशः ।
लोले चञ्चले कुण्डले यस्मिन् तत् लोलकुण्डलम् । पश्यतो जनान् शंयून् विद्य-
मानसुखान् कुर्वाणा शं मुखं तदस्यास्तीति । '१९४४। कं-शं-भ्यां ब-भ-युस्ति-
तु-त-यसः ॥५१२१३८॥' इति युस् । सित्वात्पदसंज्ञा । अनुस्वारः । अपश्यतो वा
शंयून् कुर्वाणा पश्यतां तु पीडाकरी । स्रग्विणी मालावती । '१९२८। अस्माया-
॥५१२१३१॥' इत्यादिना विनिः । सुहसानना हसनं हसः । '३२३९। स्वन-ह-
सोर्वा ॥३१३६२॥' इत्यप् । शोभनहसनमाननं यस्याः सा ॥

१५७—प्राप्य चञ्चूर्यमाणा ऽसौ पतीयन्ती रघूत्तमम् ॥

अनुका प्रार्थयाञ्चक्रे प्रिया-कर्तुं प्रियंवदा. ॥ १९ ॥

प्राप्येत्यादि—प्राप्य ढौकित्वा । चञ्चूर्यमाणा गार्हितमाचरन्ती । प्राणिनो हन्तव्या इति । चरेः '२६३५' लुप-सद-।३।१।२४।' इत्यादिना भावगर्हायां यङ् । '२६३६' चर-फलोश्च ।७।४।८७।' इत्यभ्यासस्य नुक् । '२६३७' उत्परस्यातः । ।७।४।८८।' इत्युत्वम् । '३५४' हलि च ।८।२।७७।' इति दीर्घत्वम् । पतीयन्ती आत्मनः पतिमिच्छन्ती । '२६५७' सुप आत्मनः क्यच् ।३।१।८।' अनुका अभिलाषुका । '१८७३' अनुका-।५।२।७४।' इत्यादिना निपातितः । रघूत्तमं लक्ष्मणं प्रार्थयाञ्चक्रे प्रार्थितवती । प्रियाकर्तुमनुलोमयितुम् । पतिर्मे स्या इति । '२१३४' सुखप्रियादानुलोम्ये ।५।४।६३।' इति डाच् । प्रियंवदा प्रियवादिनी । '२९५३' प्रिय-वशे वदः खच् ।३।२।३८।' ॥

तां प्रार्थनामाह—

१५८—'सौमित्रे ! मामुपायंस्थाः कन्धार्मिच्छुर् वशंवदाम् ॥

त्वद्-भोगीनां सहचरीम-शङ्कः पुरुषाऽऽयुषम्.' ॥ २० ॥

सौमित्रे इत्यादि—हे सौमित्रे । इच्छुरेषणशीलः । '३१४९' विन्दुरिच्छुः ।३।२।१६९।' इति निपातितः । अशङ्कः निर्विकल्पः सन् । किं मां वञ्चयिष्यतीति । मामुपायंस्थाः परिणय । '२७९०' आशंसायां भूतवच्च ।३।३।१३२।' इति लुङ् । '२७२९' उपाद्यमः स्वरणे ।१।३।५६।' इति तङ् । '२७३०' विभाषोपयमने ।१।२।१६।' इत्यक्तिवपक्षे रूपम् । कन्धाम् । '३१४७' नमि-कम्पि-।३।२।१६७।' इत्यादिना रः । वशंवदाम् । अहं ते वश्येति वदन्तीम् । त्वद्भोगीनां त्वच्छरीराय हिताम् । अवैधव्यादिलक्षणयोगात् '१६७०' आत्मन्विश्वजन-।५।१।९।' इत्यादिना खः । सहचरीं सहगामिनीम् । '२९३१' भिक्षा-सेना-दायेषु च ।३।२।१७।' इति चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् टप्रत्ययः । कियन्तं कालम्-पुरुषायुषं पुरुषस्यायुर्थावत् । '९४५' अचतुर-।५।४।७७।' इत्यादौ निपातितः । '६९१' अत्यन्तसंयोगे च ।२।१।२९।' इति द्वितीया । चरणक्रियायाः कृत्स्नसंयोगात् । यथा मासमुषित इति ॥

१५९—तामुवाच स—'गौष्ठीने वने स्त्री-पुंस-भीषणे ॥

अ-सूर्य-पश्य-रूपा त्वं किम-भीरुररार्यसे. ॥ २१ ॥

तामित्यादि—राक्षसीं लक्ष्मण उवाच उक्तवान् । किमित्याह—गौष्ठीने वने गोष्ठं भूतपूर्वं यस्मिन्वने । इदानीं नामापि न ज्ञायते । '१८१९' गोष्ठात् खञ् भूतपूर्वं ।५।२।१७।' इति खञ् । स्त्रीपुंभीषणे । स्त्री च पुमांश्चेति स्त्रीपुंसौ । '९४५' अचतुर-।५।४।७७।' इत्यादौ निपातितौ । तयोर्भीषण इति षष्ठीसमासः । विमेतेर्णिचि हेतुभये शुक् । तदन्तात् '२८४१' कृत्यल्युटो बहुलम् ।३।३।११३।' इति कर्तरि ल्युट् । तस्मिन्नभीरुः सती किमित्यार्यसे अत्यर्थमटसि ।

अर्तेः 'सूचि-सूत्रि-' इत्यादिना यङ् । '२६३३ यङि च । ७।४।३०' इति गुणः । '२४४६। न न्द्राः । ६।१।३।' इति प्रतिषेधस्य प्रतिषेधो यकारपरस्य न द्वित्वनिषेध इति रेफो द्विरुच्यते । भयशीला भीहः । '३१५४। भियः कुक्कुनौ । ३।२। १७४।' क्रियाशब्दत्वात् '४२१। ऊङुतः । ४।१।६६।' इति ऊङ् न भवति । अमनुष्यत्वाच्च । तथाहि लक्षणेनामानुषीयमिति ज्ञाता । तथाच भङ्ग्या दर्शयन्नाह—असूर्यम्पश्यरूपा । अतिगोपनीयतया सूर्यमप्यनिषिद्धदर्शनं न पश्यतीति । '२९५१। असूर्य-ललाटयोः-। ३।२।३६।' इत्यादिना खश् । '२३६०। पात्रा-। ७।३।७८।' इत्यादिना पश्यादेशः । असूर्यम्पश्यं रूपं यस्या इति समासः । सा न पश्यतीति रूपमपि न पश्यतीत्युक्तम् ॥

१६०—मानुषानभिलष्यन्ती रोचिष्णुर् दिव्य-धर्मिणी ॥

त्वमप्सरायमाणेह स्व-तन्त्रा कथमञ्जसि. ॥ २२ ॥

मानुषानित्यादि—मनोरपत्यानि मानुषाः । '११८५। मनोज्ञातावन्वयौ पुक् च । ४।१।१६१।' तानभिलष्यन्ती कामयन्ती रन्तुमिच्छन्ती । '२३२१। वा आश-। ३।१।७०' इत्यादिना इयञ् । रोचिष्णुः रोचनस्वभावा । '३११६। अलं-कृञ्-। ३।२।१३६।' इत्यादिना इष्णुच् । अत एव दिव्यधर्मिणी । दिवि भवा दिव्या देवाः । राक्षसा अपि देवयोनित्वात् । तेषां धर्मः स्वभावः सोऽस्या अस्तीति । '१९३८। धर्म-शील-। ५।२।१३२।' इत्यादिनेति । अप्सरायमाणा अप्सरा इवाचरन्ती । राक्षसभावं गोमुमिति भावः । 'उपमानादाचारे' इत्यधिकारे '२६६५। कर्तुः क्यङ् स-लोपश्च । ३।१।११।' 'ओजसोऽप्सरसो नित्यम्' इति वचनात् । इह वने स्वतन्त्रा कथमञ्जसि अमसि । स्व आत्मा तन्नः प्रधानं यस्याः । अपराधीनत्वात् । अनयोक्त्वा राक्षसीत्वं दर्शयति ॥

१६१—उग्रं-पश्याऽऽकुले ऽरण्ये शालीन-त्व-विवर्जिता ॥

कामुक-प्रार्थना-पट्वी पतिवली कथं न वा. ॥ २३ ॥

उग्रमित्यादि—उग्रम्पश्यन्तीत्युग्रम्पश्याः । पापाशयत्वात् शबरादयः । '२९५२। उग्रम्पश्य-। ३।२।३७।' इत्यादिना खश् निपात्यते । तैराकुले व्यासे अरण्ये । पतिवली जीवत्पतिः कथं केन प्रकारेण न वा नैवं भवसीत्यर्थः । '४८९। अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक् । ४।१।३२।' इत्यत्र पतिर्विद्यते अस्या इति मनुष्य सिद्धः । जीवत्पत्यां मनुषो यत्वं निपात्यते । नुक् सूत्रेणैव विधीयते । ङीप्प्रत्ययस्तुगित्वा-देव सिद्धः । शालीनत्वविवर्जिता । अष्टष्टतया वर्जिता । शालाप्रवेशमर्हतीति '१८२१। शालीन-कौपीने-। ५।२।२०।' इति खञ् निपात्यते । अष्टष्टेऽभिधेये प्रवेश-शब्दस्य लोपः । तस्य भावः शालीनत्वम् । कामुकः कामशीलः । '३१३४। लघ-पठ-। ३।२।१५४।' इत्यादिना उक्ञ् । तस्य प्रार्थनायां पट्वी चतुरा । '५०२। वोतो गुणवचनात् । ४।१।४४।' इति ङीप् ॥

१६२—राघवं पर्ण-शालायामिच्छा ऽनुरहसं पतिम्, ॥

यः स्वामी मम कान्ता-वानौपकर्णिक-लोचनः, ॥ २४ ॥

राघवमित्यादि—रामं पर्णशालायामवस्थितं पतिमिच्छ । अनुरहसं विवेक-प्राप्तमनुगतो रह इति विगृह्य '९४९। अन्ववत्तसाद्रहसः । ५।४।८९।' इत्यच् । यो राघवो ममापि स्वामी प्रभुः । '२९३२। स्वामिन्नैश्वर्ये । ५।२।१२६।' इति निपाति-तम् । कान्तावान् सभार्यः । प्रवृत्तसम्भोगोऽसौ नाहमिति दर्शयति । तमेव रूप-शौर्याभ्यां वर्णयन्नाह—औपकर्णिकलोचनः । कर्णयोः समीपमुपकर्णम् । समीपार्थे-ऽव्ययीभावः । तत्र प्रायभव इति । '१४१५। उपजानूपकर्णोपनीवेष्टक् । ४।३। ४०।' शेषमपि शब्दद्वयं प्रयोक्ष्यते । औपकर्णिके लोचने यस्य । कर्णान्तायतलो-चन इत्यर्थः ॥

१६३—वपुश् चान्दनिकं यस्य, कर्णवेष्टकिकं मुखम्, ॥

संग्रामे सर्व-कर्मीणौ पाणी यस्यौपजानुकौ, ॥ २५ ॥

वपुरित्यादि—यस्य राघवस्य वपुः शरीरं चान्दनिकं चन्दनेन सम्पद्यते प्राप्त-शोभं भवति । मुखं च कर्णवेष्टकिकम् । कर्णवेष्टकाभ्यां कर्णालङ्काराभ्यां कर्णवेष्ट-किकम् । तत्रोभयत्र '१७६३। सम्पादिनि । ५।१।९९।' इति ठक् । पाणी हस्तौ संग्रामे युद्धे सर्वकर्मीणौ धनुःखड्गादिव्यापारकर्माणि व्याप्नुतः । '१८०८। तत्स-वांदिः—। ५।२।७।' इति खः । औपजानुकौ आजानुकौ । आजानुलम्बावित्यर्थः । अत्र ठक् । '१२२१। इसुसुक्तान्ताक्कः । ७।३।५१।' ॥

१६४—बद्धो दुर्बल-रक्षाऽर्थमसिर् येनोपनीविकः, ॥

यश्चापमाश्मन-प्रख्यं सेषुं धत्तेऽन्य-दुर्बहम्, ॥ २६ ॥

बद्ध इत्यादि—येन असिः खड्गः औपनीविकः । नीविसमीपे प्रायेण भव-तीति । स हि नीवीं प्राप्य वर्तमानः पार्श्वयोश्चोर्ध्वं निबद्धः । किमर्थं—दुर्बल-रक्षार्थं दुर्बलरक्षायै इदमित्यस्मिन्नर्थे चतुर्थी । तदर्थेत्यादिना सः । तत्रार्थेन नित्य-समाप्तः सर्वलिङ्गता च । यश्चापं धनुर्धत्ते धारयति । आश्मनप्रख्यम् । अश्मनो विकार इत्यण् । '११५५। अन् । ६।४।१६७।' इति प्रकृतिभावे प्राप्ते अश्मनो विकार उपसङ्ख्यानमिति टिलोपः पाक्षिकः । विभाषजोरित्यतो मण्डूककुल्या विभाषाग्रहणानुवृत्तेर्विकारे वाच्ये । अन्यत्राश्मन एव भवति । आश्मनेन प्रख्या सादृश्यमस्य तदाश्मनप्रख्यमुपलघटितमिव । सेषुं सशरम् । अन्यदुर्वहं दुःखेनो-ह्यत इति खल् । रामादन्येन दुर्वहमित्यर्थः ॥

१६५—जेता यज्ञ-द्रुहां संख्ये धर्म-सन्तान-सूर् वने ॥

प्राप्य दार-गवानां यं मुनीनाम-भयं सदा, ॥ २७ ॥

जेतेत्यादि—यज्ञाय द्रुह्यन्तीति यज्ञद्रुहो राक्षसाः । '२९७५। सखूद्विष-। ३।२।६१।' इत्यादिना क्तिप् । तेषां संग्रामे जेता । वृजन्तोऽयम् । ततश्च कृत्स्न-

योगे कर्मणि षष्ठी । धर्मसन्तानसूः पूर्ववत् क्तिप् । धर्मरत इत्यर्थः । वने वर्तमानानां मुनीनां वानप्रस्थादीनामित्यर्थः । तेषां भार्याभिपरिग्रहात् यानि दारगवानि । दाराश्च गावश्चेति दारगवानि '१४५। अचतुर-१५।४।७७।' इत्यादिना निपातितानि । दारयन्तीति दाराः । 'दारजारौ कर्तरि णिलुक् च' इति घञ् । तेषां च येनाभयं सदा दत्तमिति योज्यम् । येषामेव प्राप्तिक्रिया तेषामेवाभयमिति समानकर्तृकत्वम् ॥

१६६-ततो वावृत्यमाना ऽसौ राम-शालां न्यविक्षत, ॥

'मामुपायंस्त रामे'ति वदन्ती साऽऽदरं वचः ॥ २८ ॥

तत इत्यादि—ततो लक्ष्मणवचनानन्तरमसौ राक्षसी वावृत्यमाना रामं वृण्वाना । '१२३५। वा वृत्तं वरणे ।' इति दैवादिकः आत्मनेपदी । रामशालां रामस्य पर्णकुटीरं न्यविक्षत प्रविष्टा । विशेषः '२३३६। शल इगुपधादनिटः क्सः ।३।१।४५।' । '२६८३। नेर्विशः ।१।३।१७।' इति तङ् । मामुपायंस्त रामेति हे राम, अहं प्रार्थये भवान् मामुपायंस्त परिणयत्विति वाक्यभेदेन योज्यम् । '२७-९०। आशंसायां भूतवच ।३।३।१३२।' इति लुङ् । '२७२९। उपाद्यमः स्वरूपे ।१।३।५६।' इति तङ् । '२७३०। विभाषोपयमने ।१।२।१६।' इत्यकिञ्चपक्षे रूपम् । इत्येवं वचः सादरं वदन्ती ॥

१६७-अ-स्त्रीको ऽसावहं स्त्री-मान्, स पुष्यति-तरां तव ॥

पतिरित्यब्रवीद् रामस्-तमेव ब्रज, मा मुचः. ॥ २९ ॥

अस्त्रीत्यादि—असौ लक्ष्मणोऽस्त्रीकः । न विद्यते अस्य स्त्रीति । '८३३। नष्टृत्श्च ।५।४।१५३।' इति कप् । '८३५। न कपि ।७।४।१४।' इति ह्रस्वप्रतिषेधः । अहं पुनः स्त्रीमान् सभार्यः । प्रशंसायां मतुप् । स एव लक्ष्मणः । पुष्यतितराम् अतीव पुष्यति लक्ष्मणस्तव पतिः । '२००२। तिङ्श्च ।५।३।५६।' इति तरप् । '२००४। किमेत्ति-१५।४।११।' इत्याम् । तस्मात्तमेव लक्ष्मणं ब्रज गच्छ । मा मुचः मा त्याक्षीः । मुचेर्लङ् । लट्त्वाद्ङ् । इति एवमब्रवीद् रामः उक्तवान् । आदादिकस्य ब्रूणे लङि '२४५२। ब्रुव ईट् ।७।३।९३।' इति ईटि रूपम् ॥

१६८-लक्ष्मणं सा वृषस्यन्ती महोक्षं गौरिवा ऽगमत् ॥

मन्मथाऽऽयुध-सम्पात-व्यथ्यमान-मतिः पुनः. ॥ ३० ॥

लक्ष्मणमित्यादि—लक्ष्मणं पुनर्भूयोऽगमत् लक्ष्मणं प्रति गता । यथा गौर्वृषस्यन्ती मैथुनेच्छावती महोक्षं महावृषम् । वृषस्यन्तीत्युपमानविशेषणमेतत् । तेन वृषं लब्धुमिच्छन्तीति वयच् । '२६६९। अश्वक्षीर-१७।१।५१।' इत्यादिना असुक् । तच्चवृषयोर्मैथुनेच्छायामिति । तद्वागमत् । महोक्षमिति '१४५। अचतुर-१५।४।७७।' इत्यादिसूत्रेण निपातितम् । मन्मथस्यायुधानि शराः । आयुध्यन्ते एभिरित्यायुधानि । वज्रार्थे कविधानमिति कः । तेषां सम्पातः संश्लेषः । तस्मात् व्यथ्यमाना पीड्यमाना मतिर्मनो यस्याः ॥

१६९—तस्याः सासद्यमानाया लोलूयावान् रघूत्तमः ॥

असिं कौक्षेयमुद्यम्य चकाराऽप-नसं मुखम्. ॥ ३१ ॥

तस्या इति—सासद्यमानायाः समीपे गर्हितं सीदन्त्याः प्रविशन्त्याः ।
'२६३५। लुप-सद-१३।१।२४।' इत्यादिना यङ् । रघूत्तमो लक्ष्मणः । मुखमप-
नसमपगतनासिकं चकार । '८५८। उपसर्गाच्च । ५।४।११९।' इत्यच् । नासिका च
नसादेशमापद्यते । तत्र संज्ञायामिति नानुवर्तते । किं कृत्वा । कौक्षेयमसिमुद्यम्य
उत्क्षिप्य । कुक्षौ भव इति '१४३३। दति-कुक्षि-१।४।३।५६।' इत्यादिना ढञ् ।
कौक्षेयः । लोलूयावान् अलर्थं लवनक्रियायुक्तः । लुनातीति लोलूया । यङन्ताद्
'३२७९। अप्रत्ययात् । ३।३।१०२।' इत्यकारः । सा विद्यते यस्येति मनुप ॥

१७०—'अहं शूर्प-णखा नाम्ना

नूनं नाऽज्ञायिषि त्वया, ॥

दण्डो ऽयं क्षेत्रियो येन

मय्यपाती'ति सा ऽब्रवीत्. ॥ ३२ ॥

अहमित्यादि—सा राक्षसीत्यब्रवीत् । अहं शूर्पणखेति नाम्ना नूनमवश्यं
त्वया नाज्ञायिषि न ज्ञातास्मि । ज्ञा इत्यस्मात्कर्मणि लुङ् । '२७५७। स्व-सि-
। ६।४।६२।' इत्यादिना अजन्तत्वात् चिण्वदिद् । '२७६१। आतो युक् । ७।३।३३।' इति युक् ।
'५१०। स्वाङ्गाच्च-१।४।१।५४।' इति ङीष् प्राप्ते '५१४। नखमुखात् संज्ञायां । ४।१।५८।' इति प्रतिषेधः । '८५७। पूर्वपदात्संज्ञायां-१।८।४३।' इति
णत्वम् । अज्ञाने कारणमाह—येनार्यं दण्डो नासाच्छेदनलक्षणो मय्यपाति
पातितः । पातेः कर्मणि लुङ् । चिणादेशः । '२२८२। अत उपधायाः । ७।२।११६।' इति वृद्धिः ।
'२३२९। चिणो लुक् । ६।४।१०४।' क्षेत्रियः परक्षेत्रे चिकित्स्यः । परक्षेत्रे जन्मान्तरशरीरे यदि शक्यश्चिकित्सितुं तदा नासिकायाः सम्भवात् ।
'१८९२। क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः । ५।२।९२।' इति निपातनम् ॥

१७१—पर्यशाप्सीद् दिवि-ष्ठा ऽसौ संदर्श्य भय-दं वपुः ॥

अपिस्फवच्च बन्धूनां निनङ्क्षुर् विक्रमं मुहुः. ॥ ३३ ॥

पर्यशाप्सीदित्यादि—असौ राक्षसी पर्यशाप्सीत् आकुष्टवती । शपेरनिटः
सिचि हलन्तलक्षणा वृद्धिः । शप उपात्मभन इति तङ् न भवति । उपात्मभनं
हि वाचा शरीरस्पर्शनम् । दिविष्ठा नभसि वर्तमाना । '९७२। तत्पुरुषे कृति
बहुलम् । ६।३।१४।' इति सप्तम्या अलुक् । '२९१८। अम्बास्व-१।८।१९७।' इति षत्वम् ।
भयदं शौर्दं वपुः शरीरं संदर्श्य दर्शयित्वा । बन्धूनां विक्रमं शौर्यं मुहुः पुनः पुनः ।
अपिस्फवत् स्फीतीचकार । '२५७०। अर्तिह्री-१।७।३।३६।' इत्यादिना णाविल्यनुवृत्तौ '२५९७। स्फायो वः । ७।३।४१।' इति वकारः । स्फाय-

८२ भट्टिकाव्ये—प्रथमे प्रकीर्ण-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

तेश्चङि णिलोपः । ह्रस्वद्विवचनादि । अभ्यासस्य खयः शेषः । चत्सर्वमित्वं च सन्वद्भावे । निनङ्क्षुः नष्टमिच्छुरित्यर्थः । नशोः सति '२५१७। मस्जि-नशोर्झलि । ७।१।६०।' इति जुम् ॥

१७२-खर-दूषणयोर् भ्रात्रोः पर्यदेविष्ट सा पुरः, ॥

विजिग्राहयिषू रामं दण्डकारण्य-वासिनोः ॥ ३४ ॥

खरेत्यादि—खरदूषणयोर्भ्रात्रोर्दण्डकारण्यवासिनोः पुरः अग्रतः पर्यदेविष्ट परिदेवनं कृतवतीति । '५३४। देष्टुं देवने ।' इत्यस्मादात्मनेपदिनः सेटो लुङि रूपम् । परिदेवने कारणमाह—विजिग्राहयिषुः रामं विजिग्राहयितुं योधयितुमिच्छुः । ग्रहेण्यन्तस्य सन्नन्तस्य रूपम् । '१७३। रोरि । ८।३।१४।' इति रेफलोपः । '१७४। दू-लोपे-।६।३।१११।' इति दीर्घत्वम् ॥

किं पर्यदेविष्ट इत्याह—

१७३-कृते सौभागिनेयस्य भरतस्य विवासितौ ॥

पित्रा दौर्भागिनेयौ यौ, पश्यतं चेष्टितं तयोः ॥ ३५ ॥

कृते इत्यादि—भरतस्य कृते कार्यनिमित्तं राज्ये अभिषेक्तव्यमिति । सुभगा केकयी तस्या अपत्यं सौभागिनेयः '११२३। स्त्रीभ्यो ङक् । ४।१।१२०।' कल्याण्यादीनामिनङ् तत्र सुभगा दुर्भगा चेति पठ्यते । '११३३। हङ्ग-।७।३।१९।' इत्युभयपदवृद्धिः । पित्रा यौ विवासितौ निष्कासितौ दौर्भागिनेयौ कौसल्या सुमित्रा च दुर्भगे तयोरपत्ये रामलक्ष्मणौ तयोश्चेष्टितं नासाच्छेदनं पश्यतम् । विधौ प्रार्थनायां वा लोट् । थसस्तम् ॥

१७४-मम रावण-नाथाया

भगिन्या युवयोः पुनः ॥

अयं तापसकाद् ध्वंसः,

क्षमध्वं, यदि वः क्षमम् ॥ ३६ ॥

ममेत्यादि—रावणो नाथः प्रभुर्यस्याः मम विशेषणम् । युवयोर्भगिन्या अयं तापसकाद् कुतापसाद् । कुत्सायां कन् । ध्वंसो नासिकाविनाशः । यदि वः युष्माकं गुरुणां क्षमं युक्तम् क्षान्तमित्यर्थाद् । युष्मदि गुरावेकेषामिति बहुवचनं तयोर्ज्यैष्ठत्वाद् । तर्हि क्षमध्वं उपेक्षध्वम् । रावण एव ज्ञास्यतीति भावः ॥

पुनरप्येजयितुमाह—

१७५-अ-संस्कृत्रिम-संव्यानावनुत्त्रिम-फलाशिनौ ॥

अ-भृत्रिम-परीवारौ पर्यभूतां तथापि माम् ॥ ३७ ॥

असमित्यादि—संस्कारेण वापेन भरणेन च निर्वृत्तं संस्कृत्रिमम् । उत्प्लिभं भृत्रिमं च । '३२६६। डितः क्लिः । ३।३।८८। क्लेर्मम् निलम् । '२५५०। संप-युपेभ्यः-।६।३।१३७।' इति सुट् । सम्पूर्वस्य कचिदभूषणेऽपीष्यते । संस्कृत्रिमं

न विद्यते येषामिति नञ्समासः । असंस्कृत्रिमाणि संख्यानानि परिधानानि उत्त-
रीयाणि ययोः । वल्कवाससावित्यर्थः । अनुप्लिमाणि फलानि अशनमाहारो ययोः
तौ वन्यफलाहारौ न शालिभोजनौ । परित्रियतेऽनेनेति घञ् '२०४४। उपसर्गस्य
घञि-।६।३।१२२।' इति दीर्घः । मृगाणाममनुष्यत्वात् । अभृत्रिमः परीवारोऽनुजी-
विलोको ययोस्तौ मृगपरीवारौ । तथापि मां पर्यभूतां परिभूतवन्तौ । लुङि रूपम् ॥

१७६—'श्वःश्रेयसमवाप्तासि' भ्रातृभ्यां प्रत्यभाणि सा—॥

प्राणिवस् तव मानाऽर्थ, व्रजाऽऽश्वसिहि, मा रुदः ॥

श्वःश्रेयसमित्यादि—श्वःशब्दः प्रशंसासाह । शोभनं श्रेय इति वाक्ये
'१४८। श्वसो वसीयः श्रेयसः । ५।४।८०।' इत्यच् । मयूरव्यंसकादित्वात् सः । श्वःश्रे-
यसं कल्याणमवाप्तासि प्राप्स्यसि । भविष्यदनद्यतने लुङ् । मारयावत्तावित्युक्तं
भवति ताभ्यां भ्रातृभ्यां प्रत्यभाणि प्रतिभणिता सा । कर्मणि लुङ् । प्राणिवस्तव
मानार्थम् । तव मानखण्डनं मा भूदिति जीवावः । '११४३। श्वसं प्राणने' '११४४।
अनं च' । '२४७४। रुदादिभ्यः सार्वधातुके । ७।२।७६।' इति इट् । '२४७८। अनितेः
। ८।४।१९।' इति णत्वम् । तस्माद् व्रज यथास्थानं गच्छ । आश्वसिहि उद्वेगं
त्यज । विधौ प्रार्थनायां वा लोट् । मा रुदः । '२२१९। माङि लुङ् । ३।३।१७५।'
'२२६९। इरितो वा । ३।१।५७।' इत्यङ् यदा नास्ति तदा मा रोदीरिति ॥

१७७—जक्षिमोऽनपराधेऽपि

नरान् नक्तं-दिवं वयम्, ॥

कुतस्-त्यं भीरु! यत् तेभ्यो

द्रुह्यन्त्योऽपि क्षमामहे.' ॥ ३९ ॥

जक्षिम इत्यादि—वयं अनपराधेऽपि । नक्तं च दिवा च नक्तन्दिवम् ।
'१४५। अचतुर-। ५।४।७७।' इति निपातितम् । नरान् जक्षिमो भक्षयामः । '११४५।
जक्ष भक्ष-हसनयोः ।' इति भक्षार्थस्य '२४७४। रुदादिभ्यः-। ७।२।७६।' इतीट् ।
'८१८। अस्मदो द्वयोश्च । १।२।५९।' इति द्वित्वे वयमिति बहुवचनम् । यत् एवं
हे भीरु! संखुद्धौ गुणो न भवति 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इति । कुतस्त्यम्
कुत एतदागतम् । '१३२४। अव्ययात् त्यप् । ४।२।१०४।' अमेहकतसिलेभ्य इति
त्यप् । तेभ्यो नरेभ्यो द्रुह्यन्त्योऽपि द्रोहं कुर्वाण्येभ्योऽपि क्षमामहे । नैवेत्यर्थः ।
'५७५। कुघ-द्रुह-। १।४।३७।' इति सम्प्रदानत्वम् । क्षमेर्गम्यमानो नञर्थस्तस्या-
स्यार्थत्वात् क्षमध्वं यदि वः क्षममित्यस्य प्रतिवचनम् ॥

१७८—तौ चतुर्दश-साहस्रबलौ निर्ययतुस् ततः ॥

पारश्वधिक-धानुष्क-शाक्तिक-प्रासिकाऽन्वितौ, ॥४०

तावित्यादि—ततो निगदनादुत्तरकालं निर्ययतुर्विर्गतवन्तौ । चतुर्दशसह-
स्राणि परिमाणं यस्य बलस्य । तदस्य परिमाणमित्यस्मिन्विषये '१६९२। शत-

मानविंशतिकसहस्रवसनादण् ॥५११२७॥' प्राग्वतेः । '१७५२। सङ्ख्यायाः संवत्सर
॥७१३१५॥' इत्युत्तरपदवृद्धिः । चतुर्दशसाहस्रं बलं ययोः तौ । तथा पारश्वधिकधानु-
ष्कयाष्टिकप्रासिकान्वितौ । परश्वधः प्रहरणमेषामिति '१६०८। परश्वधात् ठञ् ॥४॥
४१५८॥' तथा धनुः प्रहरणमेषाम् । यष्टिः प्रहरणमेषामिति '५६०९। शक्ति-यष्ट्यो-
रीकक् ॥४१४१५९॥' प्रासः कुन्तः प्रहरणमित्यौत्सर्गिकष्टक् । तत्र धनुषष्टक् ॥१२२१॥
इसुसुकान्तात्कः ॥७१३१५१॥' ततः सेनाङ्गत्वात्कृतैकवद्भावः तेनान्वितावनुगतौ ॥

१७९—अथ सम्पततो भीमान् विशिखै राम-लक्ष्मणौ ॥

बहु-मूर्ध्नो द्वि-मूर्धाश्च त्रि-मूर्धाश् चाऽहतां मृधे. ४१

अथेत्यादि—अथ एतस्मिन् प्रस्तावे रामलक्ष्मणौ मृधे संग्रामे विशिखैः शरै-
रहतां हतवन्तौ । हन्तिः परस्मैपदी तस्माद्धि तसस्ताम् । तस्य छित्वे '२४२८।
अनुदात्त-॥६१४१३७॥' इत्यादिना अनुनासिकलोपः । कान्-राक्षसान् । विशेष-
णोपादानात् विशेष्यप्रतिपत्तिः । प्रकृतत्वाद्वा । सम्पततोऽभिपततः । बहुमूर्ध्नो
बहुशिरसः । तथा द्विमूर्धास्त्रिमूर्धाश्च । '८५४। द्वि-त्रिभ्यां ष मूर्ध्नः ॥५१४११५॥'
इति समासान्तः षः । अत एव भीमान् भयानकान् । त्रिमूर्धाश्चेत्यत्र '१४०।
नञ्छव्यप्रशान् ॥८१३७॥' इति रुः । पूर्वस्य त्वनुनासिकः । '१३८। विसर्जनीयस्य
सः ॥८१३३४॥' इति चुत्वम् ॥

१८०—तैर् वृक्ण-रुण-सम्भुग्न-क्षुण्ण-भिन्न-विपन्न-कैः ॥

निमग्नोद्विग्न-संह्रीणैः पप्रे दीनैश् च मेदिनी. ॥ ४२ ॥

तैरित्यादि—तैः राक्षसैर्मेदिनी पप्रे पूरिता '११३५। प्रा पूरणे ।' इत्य-
स्मात्कर्मणि लिट् । वृक्णैः छिन्नैः । रुणैः भग्नहस्तपादैः । सम्भुग्नैः वक्रीकृतदेहैः ।
क्षुण्णैः सम्पिष्टशरीरैः । भिन्नैः विदारितैः । विपन्नकैः नष्टैः । '२०३१। अनुक-
म्पायां कन् ॥५१३१७६॥' निमग्नैः परिभूतैः । उद्विग्नैर्भीतैः । संह्रीणैर्लज्जितैः ।
वयमपीदृशीं दशां प्राप्ता इति । दीनैः हा मातः हा आतरित्वेन भाषमाणैः । तत्र
वृश्चि-रुजि-भुजि-मसृजि-विजि-भ्यो निष्ठायां '३०१९। ओदितश्च ॥८१२४५॥' इति
नत्वम् । '३७८। चोः कुः ॥८१२३०॥' इति कुः । क्षुदि-मिदि-पदि-भ्यो '३०१६।
र-दाभ्यां-॥८१२४२॥' इति दुस्य च नः । संह्रीण इति '३०३७। नुद-विद-॥८१२।
५६॥' इत्यादिना । '१२०९। दी-ङ् क्षये ।' इत्यस्य स्वादय ओदितः इति '३०१९।
ओदितश्च ॥८१२४५॥' इति नत्वम् ॥

१८१—केचिद् वेपथुमासेदुरन्ये दवथुमुत्तमम्, ॥

सरक्तं वमथुं केचिद्, आजथुं न च केचन. ॥ ४३ ॥

केचिदित्यादि—तेषां मध्ये केचित् वेपथुं कम्पम् । '३९३। दु-वेष्टुं कम्पने ।'
आसेदुः प्राप्ताः । अन्ये दवथुमुपतापमुत्तमं महान्तम् । '१३३६। दु-दु उप-
तापे ।' केचिद्वमथुं ऊर्ध्वं सरक्तं सशोणितम् । '९०६। दु-वर्मे उद्विगणे ।' आजथुं

शोभां नैव केचन न केचिदपि '८०८। दु-आजू दीसौ ।' सर्वत्र '३२६७। द्वितो-
ऽधुच । ३। ३। ८९ ।' ॥

१८२—मृगयुमिव मृगो ऽथ दक्षिणेर्मा,

दिशमिव दाहवतीं मरावुदन्यन्, ॥

रघु-तनयमुपाययौ त्रि-मूर्धो;

विषभृदिवोऽग्र-मुखं पतत्रि-राजम्, ॥ ४४ ॥

मृगयुमित्यादि—अथैतस्मिन् राक्षसविध्वंसनप्रस्तावे त्रिमूर्धः त्रिशिरा नाम
राक्षसः रघुतनयमुपाययौ उपागतः । मृगयुमिव लुब्धकमिव । मृगान् यातीति
मृगयुः । मृगस्यादयश्चेलौणादिककुप्रत्ययान्तः । दक्षिणेर्मा दक्षिणे ईर्मं व्रणं यस्येति
। '८३५। दक्षिणेर्मा लुब्धयोगे । ५। ४। १२६।' इत्यनिच् । यथा मृगो लुब्धकव्रणि-
तदक्षिणाङ्गः तमेव मरणायोपयाति । दिशमिव दाहवतीं यथा दिशं दावाभियुतां
मरौ निर्जले देशे मृग उदन्यन् उदकपानाभिलाष उपयाति । उदकमिच्छति ।
'२६५७। सुप आत्मनः-। ३। १। ८।' इति क्यच् । उदकस्योदन् भावः । '२६६१।
असनायो-। ७। ४। ३४।' इत्यादिना निपातितः । तदन्ताल्लुद शतृप्रत्ययः । विषभृ-
दिव यथा विषधरः सर्प उग्रमुखं भीषणमुखं पतत्रिराजं गरुडमुपयाति तद्वत्त-
मिति । '७८८। राजाऽहःसखिभ्यष्टच् । ५। ४। ९१।' ॥

१८३—शित-विशिख-निकृत्तकृत्स्न-वक्रः

क्षिति-भृदिव क्षिति-कम्प-कीर्ण-शृङ्गः ॥

भयमुपनिदधे स राक्षसानाम्

अ-खिल-कुल-क्षय-पूर्व-लिङ्ग-तुल्यः. ॥ ४५ ॥

शितेत्यादि—त्रिमूर्धो राक्षसानां भयमुपनिदधे उपनिहितवान् । कीदृशः ।
शितविशिखैस्तीक्ष्णविशिखैः निकृत्तानि छिन्नानि कृत्स्नानि सर्वाणि वक्राणि मुखा-
नि यस्य सः । क्षितिभृदिव भूधर इव । कीदृशः । क्षितिकम्पकीर्णशृङ्गः क्षितेभूमौः
कम्पेन कीर्णानि क्षिप्तानि शृङ्गाणि यस्य क्षितिभृतः । अखिलस्य सर्वस्य कुलस्य
क्षये विनाशे यत् पूर्व लिङ्गं तेन तुल्यः असावप्यखिलराक्षसक्षयस्य पूर्वलिङ्गतुल्यः ॥

इति श्री-जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते श्री-भट्टिकाव्ये-

प्रथमे प्रकीर्ण-काण्डे लक्षणरूपे चतुर्थः परिच्छेदः (वर्गः),

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके श्री राम-प्रवासो नाम चतुर्थः

सर्गः पर्यवसितः ।

१—सर्गान्तत्वाद् वृत्तभेदः । तदर्थं समजातौ 'पुष्पिताग्रा' नाम । तल्लक्षणम्—
“अयुजि न-युग-रेफतो यकारो, युजि च न-जौ जर-गाश् च पुष्पिताग्रा ॥” इति
वृत्तरत्नाकरे भट्ट-कैदारः । २—(१८२) श्लोकस्य टीकनं प्रेक्ष्यम् ।

पञ्चमः सर्गः—

१८४—निराकरिष्णू वर्तिष्णू वर्धिष्णू परतो रणम् ॥

उत्पतिष्णू सहिष्णू च चेरतुः खर-दूषणौ. ॥ १ ॥

निरेत्यादि—खरदूषणौ रणं परितः समन्तात् । 'अभितः-' इत्यादिना द्वि-
तीया । चेरतुः भ्रान्तौ । निराकरिष्णू शत्रुनिराकरणशीलौ । वर्तिष्णू अभिमुखं
वर्तनशीलौ न पलायनशीलौ । वर्धिष्णू मायया महाप्राणोद्गावनशीलौ । उत्प-
तिष्णू नभ उत्पतनशीलौ । सहिष्णू शस्त्रप्रहारसहनशीलौ । सर्वत्र '३११६।
अलंकृञ्-।३।२।१३६।' इत्यादिना इष्णुच् ॥

१८५—तौ खड्ग-मुसल-प्रास-चक्र-बाण-गदा-करौ ॥

अकार्षामायुध-च्छायं रजः-सन्तमसे रणे. ॥ २ ॥

तावित्यादि—रणे रणभूमौ रजःसन्तमसे । सङ्गतं तमः सन्तमसम् ।
'९४७। अवसमन्धेभ्यस्तमसः । ५।४।७९।' इत्यच् । रजसा सन्तमसं अस्मिन् इति
रजःसन्तमसं तस्मिन् रजसा कृतान्धकारे तौ खरदूषणौ आयुधच्छायमायुधबा-
हुल्यमकार्षां कृतवन्तौ । आयुधानां छायेति '८२५। छाया-बाहुल्ये । २।४।२२।'
इति नपुंसकत्वे हस्त्वम् । खड्गादीनां बाणान्तानां द्वन्द्वैकवद्भावं कृत्वा पश्चात्तेन
सहिता गदेति शाकपार्थिवादित्वात् सः । अन्यथा समुदायस्य '९१०। जातिर-
प्राणिनाम् । २।४।६।' इत्येकवद्भावेन नपुंसकलिङ्गता स्यात् बाणगदमिति ।
खड्गमुसलप्रासचक्रबाणगदाः करे येषामिति समासे प्रहरणार्थेभ्य इत्यादिना
करशब्दस्य परनिपातः ॥

१८६—अथ तीक्ष्णाऽऽयसैर् बाणैरधि-मर्म रघूत्तमौ ॥

व्याधं व्याधर्म-मूढौ तौ यम-साच्च-चक्रतुर् द्विषौ. ॥ ३ ॥

अथेत्यादि—अथैतस्मिन् संग्रामे रघूत्तमौ रामलक्ष्मणौ कर्तुंभूतौ । कर्मभूतौ
द्विषाविति । '२९७५। सत्सूद्विष-।३।२।६१।' इत्यादिना क्तिप् । यमसाच्चक्रतुः
यमाधीनौ कृतवन्तौ । '२१२५। तदधीनवचने । ५।४।५४।' इति सातिः । तीक्ष्णा-
यसैर्बाणैः । तीक्ष्णमायसं फलं येषामिति । व्याधं व्याधं विच्छा विच्छा । '३३-
४३। आभीक्ष्ये णमुल् । ३।४।२२।' तत्र '३३२०। समानकर्तृकयोः पूर्वकाले
३।४।२१।' इति वर्तते । 'आभीक्ष्ये द्वे भवतः' इति द्विवचनम् । अधिममंति
विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । अमूढौ सावधानौ रामलक्ष्मणौ ॥

मर्मवेधमेवाह—

१८७—हत-बन्धुर् जगामाऽसौ ततः शूर्प-णखा वनात् ॥

पारे-समुद्रं लङ्कायां वसन्तं रावणं पतिम्. ॥ ४ ॥

हतेत्यादि—असौ शूर्पणखा हतबन्धुः व्यापादितभ्रातृद्वया ततो वनादण्ड-

कारण्यात् रावणं पतिं प्रभुं शरणं जगाम गतवती । पारेसमुद्रम् । समुद्रस्य पार इति '६७२। पारे मध्ये षष्ठा वा । २।१।१८।' इत्यव्ययीभावः । तत्सन्नियोगेन पूर्वपदस्यैकारान्तत्वम् । पश्चात्समी । '६५७। नाव्ययीभावात्—२।१।८३।' इत्यम्भावः । समुद्रस्य पारे स्थितायां लङ्कायां वसन्तं रावणमिति ॥

१८८—संप्राप्य राक्षस-सभं चक्रन्द क्रोध-विह्वला, ॥

नाम-ग्राहमरोदीत् सा भ्रातरौ रावणाऽन्तिके. ॥ ५ ॥

संप्राप्येत्यादि—सा शूर्पणखा राक्षससभं संप्राप्य दौकित्वा । राक्षसानां सभेति '८२६। सभा राजा—२।१।२३।' इत्यादिना नपुंसकता । चक्रन्द क्रन्दनं कृतवती । क्रोधविह्वला क्रोधविवशा । भ्रातरौ खरदूषणावरोदीत् रुदितवती । नामग्राहं नाम गृहीत्वा । भ्रातरौ खरदूषणाविति । '३३८०। नाङ्ग्यादिशिग्रहोः । ३।३।५८।' इति णमुत् । अत्र नामग्रहणविशिष्टाया रोदनक्रियाया व्यासुभिष्ट-त्वाद्बुद्धिः सकर्मकः । रावणान्तिके रावणसमीपे । सप्तम्यधिकरणे चेति चकारा-दूरान्तिकार्थेभ्य इति सप्तमी ॥

तयोः किं जातमिति रावणेन पृष्टाह—

१८९—'दण्डकान्ध्यवात्तां यौ वीर ! रक्षः-प्रकाण्डकौ, ॥

नृभ्यां संख्येऽकृषातां तौ स-भृत्यौ भूमि-वर्धनौ. ॥ ६ ॥

दण्डकानित्यादि—हे वीर ! दण्डकान् दण्डकारण्यसन्निवेशान् अध्यवात्ताम् अध्युषितवन्तौ । '१०७४। वसं निवासे ।' इत्यस्यालुङ् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । '२३३२। सः सि । ७।१।४९।' इत्यादिना धातुसकारस्य तत्वम् । '२२८१। झलो झलि । ८।२।२६।' इति सिचो लोपः । रक्षःप्रकाण्डकौ प्रशस्तौ राक्षसौ । '७४७। प्रशंसा-वचनैश्च । २।१।६६।' इति समासः । ततः स्वार्थे कन् 'स्वार्थिकाश्च प्रकृ-तितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते' इति नपुंसको न भवति । अन्यथा रुढिशब्दाः प्रशंसावचना आविष्टलिङ्गत्वादप्यलिङ्गेऽपि जातिशब्दे स्वलिङ्गोपादानादेव समा-नाधिकरणाः स्युः । यथा गोप्रकाण्डमिति । तौ नृभ्यां मनुष्याभ्यां सङ्ख्ये युद्धे भूमिवर्धनावकृषातां कृतौ । कर्मणि लुङ् । अचिण्वद्भावे रूपम् । वर्धन्ते इति वर्धनौ । '२८४१। 'कृत्यल्युटो बहुलम् । ३।३।११३।' इति कर्तरि ल्युट् । भूमेर्व-र्धनाविति सः । भस्मीकृतशरीरस्य भूमौ लीयमानत्वात् । सभृत्यौ नैकाकिनौ ॥

१९०—विग्रहस् तव शक्रेण बृहस्पति-पुरोधसा ॥

सार्धं कुमार-सेनान्या, शून्यश् चाऽसीति को नयः. ७

विग्रह इत्यादि—बृहस्पतिः पुरोधा मन्त्री यस्य शक्रस्य तेन । कार्येषु पुरो धीयत इति पुरोधाः । पुरःपूर्वाद्वाजः सर्वधातुभ्योऽसुन् । तथा कुमारः कार्ति-केयः सेनानीर्यस्य । सेनां नयतीति '२९७५। सत्सू-द्विष—३।२।६१।' इत्यादिना क्तिप् । तेन शक्रेण सार्धं सह तव विग्रह आसीत् । इदानीं कार्यनिपुणाभावात्

८८ भट्टि-काव्ये—प्रथमे प्रकीर्ण-काण्डे लक्षण-रूपे पञ्चमो वर्गः,

शून्यश्चासि '२१९१' तासस्योलोपः । ७।४।५०।' इति सकारलोपः । तस्मात्को
नयः । नय एव न भवतीत्यर्थः ॥

तदेव दर्शयन्त्याह—

१९१—यद्यहं नाथ ! ना ऽयास्यं विनासा हत-बान्धवा, ॥
ना ऽज्ञास्यस् त्वमिदं सर्वं प्रमाद्यंश् चार-दुर्-बलः. ८

यदीत्यादि—विनासा विगता नासा यस्याः । नासैव नासिकेति '८३४।
केऽणः । ७।४।१३।' इति ह्रस्वत्वे रूपं, तस्या नसादेशस्य विधीयमानत्वादत्र
संभव एव नास्ति । विनसेति पाठान्तरम् । तत्र विगता चासौ नासिका च
विनासिका । तत इत्थम्भूतलक्षणायां तृतीयायां '२२८। पद्मब्रह्मास्-१६।१।
६३।' इत्यादिना नसादेशः । विगतया नासिकयोपलक्षितेत्यर्थः । विगता नासि-
का अस्या इति बहुव्रीहिणा व्याख्याने अज्ञानासिकेत्यादिना अच् नसादेशश्च
प्राप्तः । तस्य संज्ञाविषयत्वादुपसर्गाच्चेत्यसंज्ञायां विधीयमानो न भवति चेन्नो
वक्तव्य इति प्रादेशो बाधकः । हे नाथ ! यद्यहं विनासा हतबान्धवा नायास्यं न
याताऽभविष्यम्; तर्हि तदिदं सर्वं आत्रोर्बन्धं नासाच्छेदं च नाज्ञास्यः न ज्ञातोऽ-
भविष्यः । क्रियातिपत्तौ लङ् । अज्ञाने कारणमाह—प्रमाद्यन् विषयेषु प्रमादं
गच्छन् । चारदुर्बलः चारहीनः । चारा हि चक्षू राज्ञां कार्याकार्यज्ञानाय लोके ।
चरतीति चरः पचाद्यच् । चर एव चारः '२१०६। प्रज्ञादि-१५।३।३८।' इत्यण् ॥

१९२—करिष्यमाणं विज्ञेयं कार्यं, किं नु कृतं परैः, ॥

अपकारे कृते ऽप्यज्ञो विजिगीषुर् न वा भवान्. ॥ ९ ॥

करिष्यमाणमित्यादि—परैः शत्रुभिरपचयचिकीर्षया करिष्यमाणं कार्यं
विज्ञेयम् । किं नु कृतमेव यत्तदवश्यमेव विज्ञेयमित्यर्थः । त्वं पुनः परैरप्रकृ-
तोऽपि अज्ञोऽविदितस्वरूपः । अतो विजिगीषुर्न वा भवान् । अतो न राज्यं
संभावयतीत्यर्थः ॥

१९३—वृतस् त्वं पात्रे-समितैः

खट्वाऽऽरूढः प्रमाद-वान् ॥

पान-शौण्डः श्रियं नेता

ना ऽत्यन्तीन-त्वमुन्मनाः. ॥ १० ॥

वृत इत्यादि—अत्यन्तं नामिनीति '१८१२। अवारपार-१५।२।११।' इत्या-
दिना खः । तस्य भावोऽत्यन्तीनत्वम् । नैवात्यन्तीनामत्यन्तगामिनीं श्रियं नेता
न प्रापणशीलः । '३११५। वृत् १३।२।१३५।' इति ताच्छीलिकस्तु । '६२७। न
लोक-१२।३।६९।' इति षष्ठीप्रतिषेधः । यद्यपि महोदयं राज्यं प्राप्तवानसि
तथापि न विरक्तालमित्यर्थः । यतस्त्वमुन्मनाः भ्रान्तचित्तः । यतः पानशौण्डः

पाने प्रसक्तः । '७१८। सप्तमी शौण्डैः । २। १। ४०।' इति सः । अत एव प्रमादवान् । अतोऽपि खट्वाकूढः उत्पथप्रस्थितः '६८८। खट्वाक्षेपे । २। १। २६।' इति द्वितीया सः । तत एव पात्रेसमितैः भोजन एव सन्निहितैः अनुजीविमिवृतः । '७२५। पात्रेसमितादयश्च । २। १। ४८।' इति क्षेपे सः ॥

१९४—अध्वरेष्वग्निचित्वत्सु सोमसुत्वत आश्रमान् ॥

अत्तुं महेन्द्रियं भागमेति दुश्च्यवनो ऽधुना, ॥ ११ ॥

अध्वरेष्वित्यादि—त्वय्येवम्भूतेऽधुना दुश्च्यवन इन्द्रः आश्रमानेति आगच्छति । आङ्पूर्वस्येणः '७३। एत्येधत्यूर । ६। १। ८९।' इति वृद्धिः । सोमसुत्वतः सोमं सुनोतीति '३०००। सोमे सुजः । ४। २। ९०।' इति क्तिप् । सोमसुतः सन्ति येष्वश्रमेष्विति मनुप् । '१८९६। तसौ मत्वर्थे । १। ४। १९।' इति भत्वे तकारस्य जश्त्वं न भवति । '१८९८। ज्ञयः । ८। २। १०।' इति मतोर्वत्वम् । किमर्थमेतीत्याह-अत्तुं भक्षयितुं महेन्द्रियं भागम् । महेन्द्रो देवता अस्येति । '१२३१। महेन्द्राद्वाणौ च । ४। २। २९।' इति वः । क । अध्वरेषु यज्ञेषु । अग्निचित्वत्सु । अग्नि चित्वन्तोऽग्निचितः आहिताग्नयः । '३००१। अग्नौ चेः । ४। २। ९१।' इति क्तिप् । ते सन्ति येष्विति पूर्ववन्मनुप् ॥

१९५—आमिक्षीयं दधि-क्षीरं पुरोडाश्यं तथौषधम् ॥

हविर् हैयङ्गवीनं च नाऽप्युपघ्नन्ति राक्षसाः. ॥ १२ ॥

आमीत्यादि—दद्या सहितं शृतं पय आमिक्षा । तस्मै हितमामिक्षीयम् । '१६६४। विभाषा हविरपूपादिभ्यः । ५। १। ४।' इति छयतौ । दधि च क्षीरं चेति । '९१६। विभाषा वृक्ष-। २। ४। १२।' इत्यादिना व्यञ्जनत्वादेकवद्भावः । पुरोडाशाय हितमौषधं नीवारतण्डुलादि पुरोडाश्यम् । अपूपादित्वाद्यत् । ओषधिरौषधम् '२१०५। ओषधेरजातौ । ५। ४। ३७।' इत्यण् । तण्डुलानामजातित्वात् । 'स्वार्थिकाश्च प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते' इति नपुंसकलिङ्गता । हविः हुयत इति हविः । 'अर्चि-शुचि' इत्यौणादिक इस् । हैयङ्गवीनं घृतम् । हेगो-दोहस्य विकार इत्यर्थे '१८२४। हैयङ्गवीनं संज्ञायाम् । ५। २। २३।' इति निपातनात् खञ् ह्रियं ग्वादेशश्च । तानि नाप्युपघ्नन्ति राक्षसाः त्वय्युदासीने सति ॥

इदानीं कार्यप्रदर्शनेन प्रोत्साहयितुमाह—

१९६—युव-जानिर् धनुष्-पाणिर् भूमि-ष्ठः स्व-विचारिणः ॥

रामो यज्ञ-द्रुहो हन्ति काल-कल्प-शिलीमुखः ॥ १३ ॥

युवेत्यादि—युवतिः यौवनवती जाया यस्य युवजानिः । '८७२। जायाया निङ् । ६। १। ७६।' वलि लोपः । '८३१। स्त्रियाः पुंवत्-। ६। ३। ३४।' इत्यादिना पुंवद्भावात् स्त्रीप्रत्ययो निवर्तते । धनुष्पाणिः पाणौ धनुर्यस्य । प्रहरणेत्यादिना

१० भट्टि-काव्ये—प्रथमे प्रकीर्ण-काण्डे लक्षण-रूपे पञ्चमो वर्गः,

परनिपातः । भूमिष्ठः भूमौ तिष्ठतीति भूमिष्ठः । नाकाशचरः । '२९१६। सुपि स्थः । १३।२।४।' इति कः । '२९१८। अम्बाम्ब-।८।३।९७।' इत्यादिना षत्वम् । कालकल्पशिलीमुखः मृत्युतुल्यशूरः । रामो यज्ञ-दुहो राक्षसान् हन्ति खविचारिणः आकाशविचरणशीलान् । '२९८८। सुप्यजातौ-।३।२।७८।' इति णिनिः ॥

१९७—मांसान्योष्ट्राऽवलोप्यानि साधनीयानि देवताः ॥

अश्रन्ति, रामाद् रक्षांसि विभ्यत्यश्रुवते दिशः ॥१४॥

मांसेत्यादि—ओष्ट्रावलोप्यानि ओष्ट्राभ्यां छेदार्हाणि शक्यानि वा । अर्हार्थे शक्यार्थे वा कृत्यः । '६९५। कृत्यैरधिकार्थवचने । २।१।३२।' इति सः । साधनीयानि यज्ञस्य साधनाय हितानि । '१६६५। तस्मै हितम् । ५।१।५।' इति छः । सावनीयानीति पाठान्तरम् । तत्र सवनं स्नानं तद्योगात्स्नातकोऽपि तथोच्यते तत्र भवः सावनो यज्ञः । '१६६५। तस्मै हितम् । ३।१।५।' इति छः । तानि मांसानि देवता अश्रन्ति भुञ्जते न राक्षसा रक्षांसि किन्तु रामाद्विभ्यति । '४४४। वा नपुंसकस्य । ७।१।७९।' इति शतुर्नुमभावपक्षे रूपम् । दिशोऽश्रुवते व्यामुवन्ति ॥

१९८—कुरु बुद्धिं कुशाऽग्रीयामनुकामीन-तां त्यज, ॥

लक्ष्मीं परम्परीणां त्वं पुत्र-पौत्रीण-तां नय. ॥ १५ ॥

कुर्वित्यादि—कुशाग्रीयां कुशाग्रमिव सूक्ष्माम् । '२०६०। कुशाग्राच्छः । ५।३।१०५।' इति इवार्थे छः । स्थूलबुद्धिर्मा भूदित्यर्थः । अनुकामीनतां त्यज यथेच्छगामितां त्यज । '१८१२। अवार-पार-।५।२।११।' इत्यादिना खः । परम्परीणां परांश्च परतरांश्च अनुभवतीत्यर्थे परशब्दात् '१८११। परोवर-।५।२।१०।' इत्यादिना खः परम्परादेशश्च । तां लक्ष्मीं क्रमायातां त्वं पुत्रपौत्रीणतां नय पुत्रांश्च पुत्रांश्चानुभवतीति खः । तस्य भावः । पुत्रपौत्रानुगामिनीं कुर्वित्यर्थः ॥

१९९—सहाय-वन्त उद्युक्ता बहवो निपुणाश् च याम् ॥

श्रियमांशासते, लोलां तां हस्ते-कृत्य मा श्वसीः ॥ १६ ॥

सहेत्यादि—यां च श्रियं त्वदीयां शौर्योपात्तां सहायवन्तः ससहाया उद्युक्ता उत्साहवन्तो निपुणाः कुशला आशासते इच्छन्ति । '१०९१। आङ्कः शालुं इच्छायाम्' इत्यादादिकस्यात्मनेपदिनो रूपम् । '२२५८। आत्मनेपदेष्वनतः । ७।१।५।' इत्यादादेशः । तां हस्तेकृत्य स्वीकृत्य । मा श्वसीः आश्वासं मा कार्षीः । चञ्चलत्वात् । यदाह लोलामिति । '२२९९। हयन्त-क्षण-श्वस-जागृ-णि-।७।२।५।' इति वृद्धिप्रतिषेधः । '२२६६। इट ईटि । ८।२।२८।' इति सिचो लोपः । '७७८। नित्यं हस्ते पाणौ-।१।१।७७।' इति गतिसंज्ञायां समासे ल्यबादेशः ॥

तां लोलतां दर्शयन्त्याह—

२००—लक्ष्मीः पुं-योगमाशंसुः ✓

कुलटेव कुतूहलात् ॥

अन्तिके ऽपि स्थिता पत्युश्च

छलेनाऽन्यं निरीक्षते. ॥ १७ ॥

लक्ष्मीरित्यादि—त्वयैवं न मन्तव्यम् अन्यैः प्रार्थ्यमानापि न मां परित्यजतीति । यतः छलेन व्याजेन अन्यं निरीक्षते । किमर्थं-पुंयोगमाशंसुः अभिलषन्ती । ‘३१४८। सनाशंस-भिक्ष उः । ३।२।१६८।’ कुतूहलात् कोऽस्य विशेष इति । स्नेहादन्तिके अदूरेऽपि स्थिता पत्युः । ‘६११। दूराऽन्तिकार्थैः- । २।३।३४।’ इत्यादिना षष्ठी । कुलटेव बन्धकीव । शकन्धवादिसु दर्शनात्पररूपम् ॥

युवजानिरित्युक्तं तद्योषित्प्रलोभनायाह—

२०१—योषिद्-वृन्दारिका तस्य दयिता हंस-गामिनी ॥

दूर्वा-काण्डमिव श्यामा न्यग्रोध-परिमण्डला. ॥ १८ ॥

योषिदित्यादि—योषिच्चासौ वृन्दारिका चेति । ‘७४१। वृन्दारक- । २।१। ६२।’ इत्यादिना सः । रूपेण प्रियेत्याह-दयिता प्रिया । प्रशस्तत्वे कारणमाह—हंस इव गन्तुं शीलं यस्याः । ‘२९८९। कर्तुर्युपमाने । ३।२।७९।’ इति णिनिः । दूर्वाकाण्डमिव श्यामा दूर्वास्तम्बं तदिव श्यामा । न्यग्रोधपरिमण्डला । ‘७३४। उपमानानि- । २।१।५५।’ इत्यादिना सः ॥

२०२—नाऽऽस्यं पश्यति यस् तस्या,

निंस्ते दन्त-च्छदं न वा, ॥

संशृणोति न चोक्तानि,

मिथ्याऽऽसौ विहितेन्द्रियः. ॥ १९ ॥

नास्यमित्यादि—तस्या आस्यं मुखं यो न पश्यति । दन्तच्छदं ओष्ठम् । छाद्यते अनेनेति घः । ‘३२९७। छादेर्घेऽद्युपसर्गस्य । ६।१।९६।’ इति ह्रस्वः । दन्तानां छदं नवा निंस्ते न चुम्बति । ‘१०९६। णिलिं चुम्बने ।’ इत्यादादिक आत्मनेपदी । ‘२२६२। इदितो नुस् धातोः । ७।१।५८।’ उक्तानि उदितानि न संशृणोति । ‘२६९९। समो गमि- । १।३।२९।’ इत्यादिना तद्ध न भवति । अकर्मकादित्याधिकारात् । मिथ्यासौ विहितेन्द्रियः । वृथैव तस्य वेधसा विहितानि इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि ॥

१—स्तनौ मु-कठिनौ यस्या, नितम्बे च विशालता, ॥

मध्ये क्षीणा भवेद् वा, सा न्यग्रोध-परिमण्डला. ॥ १ ॥

२०३-सारो ऽसाविन्द्रियाऽर्थानां,
यस्या ऽसौ तस्य नन्दथुः, ॥

तल्पे कान्ताऽन्तरैः सार्धं

मन्ये ऽहं धिङ् निमज्जथुम्. ॥ २० ॥

सार इत्यादि—इन्द्रियार्थानां मध्ये सारोऽसौ दयिता इन्द्रियार्थः । रूपाद्यतिशययोगात् । यस्यासौ संपद्यते तस्य नन्दथुः आनन्दश्चेतसः । तल्पे शयनीये यस्य कान्तान्तरैरन्यस्त्रीभिः सार्धं निमज्जथुं शयनम् । सर्वत्र '३२६७। द्वितोऽथुच् ॥३॥८९।' तस्य धिक् कुत्सितमहं मन्ये । 'उभसर्वतसोः' इत्यादिना धिग्योगे द्वितीया । तथा सार्धं शोभनमित्यर्थानुक्तं भवति ॥

२०४-न तं पश्यामि, यस्या ऽसौ

भवेन् नोदेजया मतेः ॥

त्रैलोक्येनाऽपि विन्दस् त्वं

तां क्रीत्वा सुकृती भव. ॥ २१ ॥

नतमित्यादि—सर्वथा न तं पश्यामि जानामि जगति यस्य संबन्धिन्याः मतेश्चेतसः उदेजया उत्कम्पिकासौ न भवेत् । चित्तक्षोभजनिकेत्यर्थः । उद्वेजयतीति '२९००। अनुपसर्गाह्णिम्प-॥३॥११३८।' इति कर्तरि शः कृद्योगे कर्मणि षष्ठी । तस्मात् त्रैलोक्येनापि । त्रयश्च ते लोकाश्च त्रिलोकाः । त एव त्रैलोक्यम् । चातुर्वर्ण्यादित्वात् स्वार्थे ष्यच् । 'स्वार्थिका अतिवर्तन्ते' इति नपुंसकत्वम् । तेनापि तां क्रीत्वा लब्ध्वा विन्दस्त्वं सुकृती भव पण्डितो भव । आढ्यो वा भव । पाण्डित्यमस्य त्रैलोक्यमात्रेणापि स्त्रीरहं क्रीत्वा लब्धमिति । विन्दतीति तेनैव सूत्रेण शः ॥

अन्या अपि स्त्रियः सन्तीति चेदाह—

२०५-नैवेन्द्राणी, न रुद्राणी,

न मानवी, न रोहिणी, ॥

वरुणानी न, नाऽग्रायी

तस्याः सीमन्तिनी समा. ॥ २२ ॥

नैवेत्यादि—तस्यास्तु सीतायाः । '६३०। तुल्याथैरतुलोपमाभ्याम् ॥२॥३०२।' इति षष्ठी । न काचित् सीमन्तिनी स्त्री समा तुल्या । 'सीमन्तः केशवेशे' इति पररूपत्वम् । अन्यत्र सीमाऽन्तः । स विद्यते यस्या इति इतिः । इन्द्राणी इन्द्रभार्या । न सम्यक् किं पुनरन्या । तथा रुद्राणी रुद्रभार्या । वरुणानी वरुणभार्या । '५०५ । इन्द्र-वरुण-॥३॥११४९। इत्यादिना आनुक् । मानवी मनुभार्या । '४९५। मनोरौ वा ॥३॥१३८।' इत्यौकारः । अग्रायी अग्निभार्या ।

‘४९४। वृषाकन्यग्नि-कुसित-कुसिद-।४।१।३७।’ इत्यादिना ऐरिति सर्वत्र ‘५०४। पुंयोगादाख्यायां ।४।१।४८।’ इति ङीष् । रोहिणी चन्द्रभार्या । रोहितशब्दात् ‘४९६। वर्णादनुदात्तात्-।४।१।३९।’ इत्यादिना ङीष् नकारश्च । वरुणानी न नाम्नायीत्यत्र प्रतिषेध एकः पूर्वेण योज्यः द्वितीयः परेणेति । न चाप्तायीति पाठान्तरम् ॥

२०६-प्रत्यूचे राक्षसेन्द्रस् ताम्—

‘आश्वसिहि, विभेषि किम्, ॥

त्यज नक्तञ्चरि ! क्षोभं,

वाचाटे ! रावणो ह्यहम्. ॥ २३ ॥

प्रत्यूच इत्यादि—राक्षसेन्द्रो रावणः । राक्षसीं प्रत्यूचे । प्रतिवचनमुक्तवान् । आश्वसिहि खेदं त्यज । ‘२४७४। रुदादि-।७।२।७६।’ इत्यादिना इद् । विभेषि किमर्थं तापसकात् । हे नक्तञ्चरि ! मद्विषये क्षोभं रोषं त्यज । वाचाटे बहुभाषिणि । ‘१९३१। आलजाटचौ बहुभाषिणि ।५।२।१२५।’ यस्माद्वावणोऽहम् । अनेनात्मोत्कर्षमावेदयति ॥

तमेव स्फुटयन्नाह—

२०७-मामुपास्त दिदक्षावान्

याष्टीक-व्याहतो हरिः ॥

आज्ञा-लाभोन्मुखो दूरात्

काक्षेणाऽनादरेक्षितः ॥ २४ ॥

मामित्यादि—मामुपास्त सेवितवान् । हरिरिन्द्रः । दिदक्षावान् द्रष्टुमिच्छावान् । आत्मदर्शनेच्छावानित्यर्थः । दूरादेव याष्टीकैः वेत्रग्राहिभिर्व्याहतोऽपसारितः । ‘६९४। कर्तृ-करणे कृता-।२।१।३२।’ इति सः । यष्टिः प्रहरणमेवामिति ‘१६५९। शक्ति-यध्योरीकम् ।४।४।५९।’ । आज्ञालाभे किमभिधास्यतीत्युत्सुक उन्मुखः तत्परः । सप्तमीति योगविभागात् सः । अनादरेक्षितः अवज्ञाविलो-कितः । काक्षेण कुदृष्ट्या । ‘१०३०। का पथ्यक्षयोः ।६।३।१०४।’ इति कुशब्दस्य कादेशः । यदि तत्पुरुष इत्यनुवर्तते तदा कुत्सितमक्षमिति विग्रहः । अक्षशब्द-स्येन्द्रियसामान्याभिधायित्वेऽपि ईक्षितशब्दोपपदत्वाच्चक्षुषि वर्तते । अथ तत्पुरुष इति नानुवर्तते सामान्येनादेशस्तदा कुत्सितमक्षि यस्येति । ‘८५२। बहुव्री-हौ सक्थ्यक्ष्णोः-।५।४।११३।’ इति षच् । काक्षेण मयेत्यर्थः ॥

२०८-विरुणो-दग्र-धाराऽग्रः कुलिशो मम वक्षसि ॥

अभिन्नं शत-धा ऽऽत्मानं मन्यते बलिनं बली. ॥२५॥

विरुग्नेत्यादि—विरुग्णानि अवसन्नानि कुण्डितानि उदग्राणि महान्ति धाराग्राणि यस्य स कुलिशो वज्रः मम वक्षसि पतितः सन् । बली । आत्मानम-भिज्ञं शतधा शतप्रकारम् । '१९८८। संख्याया विधार्थे धा । ५।३।४२।' बलिनं मन्यते । अहो बलवानहं न येन शतधा भग्न इति । तस्य देवतारूपत्वात् बल-मस्येव । आत्मानं बलिनं मन्यत इवेत्युपेक्षा ॥

२०९—कृत्वा लङ्काद्रुमाऽऽलानमहमैरावतं गजम् ॥

बन्धनेऽनुपयोगित्वान् नतं तृण-वदत्यजम् ॥ २६ ॥

कृत्वेत्यादि—एष्वालीयत इत्यालानम् । अधिकरणे ल्युट् । '२५०९। वि-भाषा लीयते । १।१।५१।' इत्यात्वम् । लङ्काद्रुमा आलानानि यस्यैरावताख्यस्य गजस्य तं कृत्वा । नतं नम्रमुखम् । तृणमिव मत्वा । सोऽहमत्यजं त्यक्तवान् । बन्धनेऽनुपयोगित्वात् प्रयोजनाभावात् ॥

२१०—आहोपुरुषिकां पश्य

मम, सद्-रत्न-कान्ति-भिः ॥

ध्वस्ताऽन्धकारेऽपि पुरे

पूर्णेन्दोः सन्निधिः सदा ॥ २७ ॥

आहो इत्यादि—अहोपुरुषस्य भावः । मनोज्ञादित्वाद्बुद्ध् । आहोपुरुषिका कार्यसिद्धावपि तत्साधने वृत्तिः । तां मम शूर्पणखे पश्य । सद्भक्तकान्तिभिः ध्वस्तान्धकारेऽपि पुरे पूर्णेन्दोः पूर्णचन्द्रस्य सन्निधिः सदा सन्निधानं । न पुनस्तेन कृत्यं रत्नप्रभाभिरेव तत्कृत्यस्य कृतत्वात् ॥

२११—हत-रत्नश् च्युतोद्योगो रक्षोभ्यः कर-दो दिवि ॥

पूतकृतायीमभ्येति सन्नपः किं न गोत्र-भित् ॥ २८ ॥

हतेत्यादि—हतोच्चैःश्रव आदिरत्नो गोत्रभिदिन्द्रः । अत एव च्युतोद्योगः । दिवि वर्तमानोऽपि रक्षोभ्यः करदः । राजग्राहं वित्तं प्रयच्छन् । पूतकृतायीं शर्ची '४९३। पूतकृतोरै च । १।१।३६।' इति ङीष् । पुंयोगादाख्यायामिति । सन्नपः समीडः । किं नाभ्येति न ढौकते ॥

२१२—अ-तुल्य-महसा सार्धं रामेण मम विग्रहः ॥

त्रपा-करस्, तथाप्येष यतिष्ये तद्-विनिग्रहे ॥ २९ ॥

अतुल्येत्यादि—तदेवंविधस्य मम अतुल्यमहसा अतुल्यतेजसा रामेण सह विग्रहसंपादकः । '२९३४। कृजो हेतु-।३।२।२०।' इत्यादिना टः । तथापि त्वव्या-र्थनया । एष च यतिष्ये तद्विनिग्रहे विविधनिग्रहविषये तस्य यतिष्ये यत्नं करिष्यामि । '२७८९। वर्तमान-सामीप्ये वर्तमानवद्वा । ३।३।१३१।' इति विक-ल्पेन लटो विधानात् लङुदाहृतः ॥

२१३—उत्पत्य खं दश-ग्रीवो मनो-यायी शिताऽस्त्र-भृत् ।

समुद्र-सविधाऽऽवासं मारीचं प्रति चक्रमे. ॥ ३० ॥

उत्पत्येत्यादि—उक्तवैवं खमाकाशमुत्पत्य मारीचं प्रति चक्रमे । यत्र मारी-
चो राक्षसस्तत्र गत इत्यर्थः । '२७१६। अनुपसर्गाद्वा । १।३।४३।' इति क्रमेस्तद् ।
मनोवदाशु यातुं शीलमस्येति । '२९८९। कर्तुर्युपमाने । ३।२।७९।' इति णिनिः ।
शितास्त्रभृत् गृहीततीक्ष्णचन्द्रहासः । समुद्रस्य सविधे समीपे आवासो यस्य
मारीचस्य । सह विधेन सविधमिति व्युत्पत्तिमात्रं शब्दस्तत्समीपवाची ॥

२१४—सम्पत्य तत्-सनीडेऽसौ तं वृत्तान्तमशिश्रवत्, ॥

ब्रह्मनाऽथ श्रुताऽर्थेन तेनाऽगादि दशाऽऽननः. ३१

सम्पत्येत्यादि—असौ दशग्रीवः तत्सनीडे मारीचस्य समीपे । अत्रापि
सह नीडेनेति व्युत्पत्तिमात्रम् । समेत्य यात्वा । तं वृत्तान्तम् शृण्वणस्वाकथितम-
शिश्रवत् श्रावितवान् । शृणोतेर्ण्यन्तस्य लुङि रूपम् । तेन मारीचेन श्रुतार्थेन
ब्रह्मना ब्रसनशीलेन दशाननः अगादि उक्तः । कर्मणि लुङ् ॥

२१५—'अन्तर्धत्स्व रघु-व्याघ्रात् तस्मात् त्वं राक्षसेश्वर !, ॥

यो रणे दुरुपस्थानो हस्त-रोधं दधद् धनुः, ॥ ३२ ॥

अन्तरित्यादि—हे राक्षसेश्वर ! त्वं तस्माद्रघुव्याघ्रादन्तर्धत्स्व अन्तर्हितो
भव व्यवहितो भवेति यावत् । दधातेर्लोढि '२४८३। श्वाभ्यस्तयोः—।६।१।१२।' इत्याकारलोपः । अभ्यासस्य '२५०१। दधस्तथोश्च । ८।२।३८।' इति भघूभावः ।
'५९१। अन्तर्धौ येना—।१।४।२८।' इत्यपादानसंज्ञा । यस्मात् स रामः रणे दुरु-
पस्थानः दुःखेन उपस्थीयते उपगम्यत इति । आतो युच् । यतो हस्तरोधं दध-
द् धनुः हस्तेन रुद्ध्वा सदैव यो धनुर्धत्ते स कथं दुरुपस्थानो न भवति । हस्तशब्दे
तृतीयान्त उपपदे '३३७०। सप्तम्यां चोपपीड-रुधः-कर्षः । ३।४।४९।' इति णमुल् ।
चकारेण तृतीयायाः समुच्चितत्वात् । अत्र '७८४। तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्
। २।२।२१।' इति सः ॥

तदेव दुरुपस्थानत्वं स्फुटयन्नाह—

२१६—भवन्तं कार्त्तवीर्यो यो हीन-सन्धिर्मचीकरत्, ॥

जिगाय तस्य हन्तारं स रामः सार्वलौकिकम्. ॥ ३३ ॥

भवेत्यादि—यः कार्त्तवीर्यः कृतवीर्यस्यापत्यं सहस्रबाहुः भवन्तं हीनसन्धि-
मचीकरत् । हीनेन दुर्बलेन यः सन्धिः तं भवन्तं कारितवान् । तेन हीनत्वम् ।
बलाभिर्जित्य कारित इति दुरुपस्थानमुक्तम् । '५४१। ह-कोरन्यतरस्याम्
। १।४।५४।' इति द्विकर्मकता । तस्य कार्त्तवीर्यस्य यो हन्ता परशुरामः । कृष्ययोगे
कर्मणि षष्ठी । तेन हि तस्याग्निहोत्रधेनुमपहृत्य गच्छतः परशुना बाहुसहस्रं
छिन्नम् । तस्य हन्तारं स रामो जिगाय जितवान् । जयतेर्लिङि धातुजकारस्य

‘२३३१। सँलियोर्जेः । ७।३।५७।’ इति कुत्वम् । सार्वलौकिकं सर्वलोके विदितम् ।
 ‘१७१०। लोक-सर्वलोकाभ्यां ङच् । ५।१।४४।’ । ‘१४३८। अनुशतिकादि-। ७।३।
 २०।’ इत्युक्तत्वादुभयपदवृद्धिः । सार्वलौकिक इति पाठान्तरम् । अत्र राम
 इति योज्यम् ॥

२१७—यमाऽऽस्य-दृश्वरी तस्य ताडका वेत्ति विक्रमम्; ॥

शूरं-मन्यो रणाच् चाऽहं निरस्तः सिंह-नर्दिना. ३४

यमेत्यादि—तस्य रामस्य विक्रमं ताडका वेत्ति ज्ञातवती । ‘२७८९। वर्त-
 मानसामीप्ये-। ३।३।१३१।’ इति भूते लट् । कीदृशी । यमास्यदृश्वरी । तच्छ-
 रताडिता यममुखं दृष्टवती मृतेत्यर्थः । ‘३००४। दृशेः कनिष् । ३।२।९४।’ ‘४५७।
 वनो र च । ४।१।७।’ इति ङीत्रेफौ । अहमपि शूरस्मन्यः शूरमात्मानं मन्य-
 मानः ‘२९९३। आत्ममाने खश्च । ३।२।८३।’ सिंहनर्दिना रामेण सिंह इव नर्दतीति
 ‘२९८९। कर्तुर्युपमाने-। ३।२।७९।’ इति णिनिः । रणाक्षिरस्तः बहिष्कृत इत्यर्थः ॥

२१८—न त्वं तेनाऽन्वभाविष्ठा,

नाऽन्वभावि त्वयाऽप्यसौ, ॥

अनुभूतो मया चाऽ, सौ,

तेन चाऽन्वभविष्यहम्, ॥ ३५ ॥

न त्वमित्यादि—तेन रामेण त्वं नान्वभाविष्ठाः । त्वमनेन नानुभूतः ।
 कर्मणि लुङ् । आसि ‘२७५७। स्य-सिच्-। ६।४।६२।’ इत्यादिना चिण्वदिद्
 ष्ट्वम् । नान्वभावि त्वयाऽप्यसौ नानुभूतः । येनैवमुच्यते । अत्र ‘२७५८। चिण्
 भाव-कर्मणोः । ३।१।६६।’ इति चिण् । अनुभूतो मया चासौ । चशब्दः पुन-
 रित्यर्थः । मया पुनरसावनुभूतः न शक्यो जेतुमिति । तेन रामेण चान्वभविष्य-
 हमनुभूतोऽहम् । तेन सह योद्धुमक्षम इति । अत्र चिण्वद्भावो न कृतः किन्तु
 लुङि उत्तमपुरुषैकवचने वलादिलक्षण इट् । तेन वृद्धभावात् गुण एवेति ॥

२१९—अध्यङ् शस्त्र-भृतां रामो,

न्यञ्चस् तं प्राप्य मद्-विधाः, ॥

स कन्या-शुल्कमभनङ्

मिथिलायां मखे धनुः ॥ ३६ ॥

अध्यङ्गित्यादि—शस्त्रभृतां मध्ये रामोऽध्यङ् अधिकः । अध्यङ्गत्याधिक्येन
 वर्तत इति ‘३७३। ऋत्विग्-। ३।२।५९।’ इत्यादिना किन् तसिन् लुप्ते ‘अनुना-
 सिकलोपे ‘३६१। उगिदचां-। ७।१।७०।’ इति नुम् । तस्यानुस्वारपरसवर्णत्वे
 कृते च हलङ्यादिसंयोगान्तलोपौ । नकारस्य ‘३७७। किन्प्रत्ययस्य कुः । ८।२।६२।’
 इति कुत्वेन ङकारः । तं तादृशं प्राप्य मद्भिधा न्यञ्चो हीनाः । निशब्दोऽन्नाद्यो

भावे वर्तते। न्यञ्ज इति पूर्ववत् किन्। अनुनासिकलोपः। नुम्। अलोपो नास्ति अहलत्वात् कुत्वं च नास्ति अपदसंज्ञत्वात्। यो मिथिलायां महद्धनुरभनक् भग्नवान् सोऽस्मादपि कारणात् शस्त्रभृतामध्यङ्। भञ्जेर्लुङि '२५४४। श्वाञ्चलोपः। १६।४।२३।' हलङ्यादिलोपः। कुत्वं च। कन्याशुल्कं कन्यामूल्यम्। तद्धि यो रौद्रं धनुरारोपितगुणं करोति तस्मै कन्या दीयत इति मूल्याकृत्य स्थापितम्॥

२२०—सं—वित्तः सह-युध्वानौ तच्-छक्तिं खर-दूषणौ, ॥

यज्वानश् च स-सुत्वानो, यानगोपीन् मखेषु सः. ३७

संवित्त इत्यादि—नाहमेव रामशक्तिमवैमि अपि तु खरदूषणावपि संवित्तः ज्ञातवन्तौ। '२७८९। वर्तमानसामीप्ये-१३।३।१३१।' इति भूते लट्। सकर्म-कत्वात् '२६९९। समो गम्य-११।३।२९।' इत्यादिना तद्ध न भवति तत्राकर्मका-दिति वर्तते। सहयुध्वानौ सह तेन युद्धवन्तौ। '३००६। सहे च। १३।२।९६।' इति युधेः कनिष्। यज्वानश्चाहिताग्रयः ससुत्वानः सोमयाजिसहिताः। '३०९१। सु-यजोर्ङनिष्। १३।२।१०३।' संविदन्तीति वचनविपरिणामेन योज्यम्। यान-गोपीन् अरक्षीन् मखेषु स रामः। लुङि रूपम्। तथा मखदुहो राक्षसान् व्रतो रामस्य शक्तिं ज्ञातवन्तः॥

२२१—सुख-जातः सुरा-पीतो

नृ-जग्धो माल्य-धारयः ॥

अधि-लङ्कं स्त्रियो दीव्य,

मा ऽऽरब्धा बलि-विग्रहम्.' ॥ ३८ ॥

सुखेत्यादि—यत एवं दुरूपस्थानः स तस्माद्वलिना रामेण विग्रहं माऽऽ-रब्धाः मा कार्षीः। रमेराङ्पूर्वात्। '२२१९। माङि लुङ्। १३।१।७५।' थास्। '२२८१। झलो झलि। १८।२।२६।' इति सिञ्जलोपः। '२२८०। झपस्तथोऽर्धोऽधः। १८।२।४०।'। ५२। झलां जश् झशि। १८।१।५३।'। किं कार्यमित्याह—अधिलङ्कं लङ्कायामधि। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। स्त्रियो दीव्य क्रीड। लोटि रूपम्। '५६२। दिवः कर्म च। ११।४।४३।' इति कर्मसंज्ञायां '३०२। वाऽम्-शस्योः। ६। ४।८०।' इतीयङ्। कीदृशः। सुखजातः। जातं सुखमस्येति बहुव्रीहिः। कृतास्-वपानत्वात्। यदा—सुरापीतः पीतमदिरः। नृजग्धः भुक्तमानुषः। निष्ठायामदो जग्धिः। पूर्ववद्धत्वम्। एषु वाहिताग्रयादिदर्शनात् परनिपातः। माल्यं धारय-तीति माल्यधारयः। '२९००। अनुपसर्गात् लिप्प-१३।१।१४८।' इत्यादिना शः॥

२२२—तं भीतं-कारमाकुश्य रावणः प्रत्यभाषत— ॥

'यात-यामं विजितवान् स रामं यदि, किं ततः॥ ३९॥

तमित्यादि—तं मारीचं पूर्वोक्तं निराकुर्वन् रावणः प्रत्यभाषत प्रत्युक्तवान्। लङि रूपम्। भीतङ्कारमाकुश्य। भीतं कृत्वा नीतोऽसीति। '३३४६। कर्मण्या-भ० का० ९

९८ भट्टि-काव्ये—प्रथमे प्रकीर्ण-काण्डे लक्षण-रूपे पञ्चमो वर्गः,

क्रोशे कृजः खमुज् । १३।१।२५।' यातयामं गतवयसम् । यदि विजितवान् रामो दाशरथिः । किं ततः किं तापसः शूरः ॥

२२३—अघानि ताडका तेन

लज्जा-भय-विभूषणा, ॥

स्त्री-जने यदि तच्च ह्लाध्यं,

धिग् लोकं क्षुद्र-मानसम् ॥ ४० ॥

अघान्तीत्यादि—तेन रामेण ताडका अघानि व्यापादिता । हन्तेः कर्मणि लुङ् । लज्जा च भयं च विभूषणं यस्याः । स्त्रीत्वान्न शौर्यम् । एवंविधाया अनेन रामेण यदि गह्वमपि हननं स्त्रीजने श्लाघ्यं श्लाघनीयम् । '६२९। कृत्यानां कर्तरि वा । २।१।७१।' इति तृतीया । तं धिक् लोकं क्षुद्रमानसं हीनमानसम् ॥

२२४—यद् गेहे-नर्दिनमसौ शरैर् भीरुमभाययत् ॥

कु-ब्रह्म-यज्ञ-के रामो भवन्तं, पौरुषं न तत् ॥ ४१ ॥

यद्रेह इत्यादि—असौ रामो यद्भवन्तं भीरुं शरैरभाययत् भायितवान् । युगात्मनेपदे न भवतः भयहेतोरभावात् । अत्र हि शरैरभ्यो भयम् नतु रामात् । तत् किम् । पौरुषकारः किमसौ । युवादित्वाद्गुणः । गेहेनर्दिनं गेह एव नर्दिनम् । '७२५। पात्रे समितादयश्च । २।१।४८।' इति सः । कुब्रह्मयज्ञके । कुत्सिता ब्रह्माणः कुब्रह्माः । कुः पापार्थ इति सः । '८०६। कु-महत्त्यामन्यतरस्याम् । ५।१।१०५।' इति समासान्तष्टच् । तेषां कुत्सितो यज्ञः । तस्मिन् सति कुत्सायां कन् । तेन शूरम्मन्योऽहं रणात्तेन निरस्तः इत्यपुष्कलमुक्तम् ॥

२२५—चिर-कालोषितं जीर्णं कीट-निष्कुषितं धनुः ॥

किं चित्रं यदि रामेण भग्नं क्षत्रिय-काऽन्तिके ॥ ४२ ॥

चिरेत्यादि—यदि रामेण क्षत्रियकान्तिके । कुत्सितक्षत्रियसमीपे । भग्नं धनुः किं तच्चित्रमाश्चर्यम् । क्षत्रिया जनकादयः तस्य कुत्सायां कन् । क्षत्रियक-स्यान्तिके । दूरान्तिकार्थयोगे षष्ठीसमासं विधाय पश्चात् । '६३३। सप्तम्यधि-करणे च । २।१।३६।' इति चकारादूरान्तिकार्थेभ्यश्चेति सप्तमी । किमिति न चित्रमित्याह—चिरकालमुषितमिति । '५५८। कालाऽध्वनोः-। २।१।५।' इति द्वितीयां विधाय । '६९१। अत्यन्त-संयोगे च । २।१।२९।' इति द्वितीयासमासः । जीर्णं चिरकालोषितत्वात् । '१२०५। जृष् वयोहानौ' । निष्ठा । '२३९०। ऋत इद्धातोः । ७।१।१००।' इको '३५४। हलि च । ८।२।७७।' इति दीर्घः । '३०१६। र-दाभ्याम्-। ८।२।४२।' इति निष्ठानत्वम् । कीटैर्धुपैर्निष्कुषितं खादितम् । निरः कुपः इत्यनुवर्तमाने '३०४५। इण् निष्ठायाम् । ७।२।४७।' इतीदम् ॥

२२६—वन-तापस-के वीरौ विपक्षे गलिताऽऽदरौ ॥

किं चित्रं यदि साऽवज्ञौ ममृतुः खर-दूषणौ ॥४३॥

वनेत्यादि—वने तापसो वनतापसः । कुत्सायां कन् । तस्मिन् वनतापसके रामे सावज्ञत्वाद्गलितादरौ विपक्षे किमयं करिष्यतीत्यश्रद्धयैव योधितवन्तौ खरदूषणौ वीरौ यदि ममृतुः मृतौ को दोषः किं चित्रम् । ‘२५३८। त्रियतेर्लु-ङ्लिङोश्च । १।३।६१’ इति नियमात् लिङ्यात्मनेपदं न भवति ॥

२२७—त्वं च भीरुः सु-दुर्बुद्धे ! नित्यं शरण-काम्यसि, ॥

गुणांश् चाऽपह्नुषेऽस्माकं, स्तौषि शत्रूंश् च नः सदा ॥

त्वं चेत्यादि—हे सुदुर्बुद्धे ! त्वं पुनः भीरुश्च भवसि नित्यं शरणकाम्यसि । आत्मनोऽनिशं शरणमिच्छसि । आत्मेच्छायां काम्यच् । अस्माकं च सतो गुणा-नपह्नुषे अपनयसि । ‘११५६। हुङ् अपनयने’ आदादिकः । छित्त्वात्तङ् । शत्रूंश्च नोऽस्माकं स्तौषि । स्तौतेः ‘२४४३। उतो वृद्धिर्लुकि हलि । ७।३।८९।’ ॥

२२८—शीर्षच्-छेद्यमतोऽहं त्वा करोमि क्षिति-वर्धनम्, ॥

कारयिष्यामि वा कृत्यं विजिघृक्षुर् वनौकसौ ॥४५॥

शीर्षेत्यादि—यत् एवविधस्त्वं दुष्टः अतोऽहम् । ‘४०७। त्वा-मौ द्वितीया-याः । ८।१।२३।’ इत्याद्यमिकलक्षणेन त्वादेशः । शीर्षच्छेद्यं शीर्षच्छेदाहम् । ‘१७३०। शीर्षच्छेदाद्यत् । ५।१।६५।’ क्षितिवर्धनं करोमि । शिरश्छित्त्वा व्यापा-दयामीत्यर्थः । अथवा कृत्यं करणीयम् । ‘२८७१। विभाषा कृ-वृषोः । ३।१।१२०।’ इति क्यप् । कारयिष्यामि । ‘५४१। ह-क्रोः-१।४।५३।’ इति द्विकर्मकता । विजिघृक्षुः विग्रहीतुमिच्छुः । ‘२६१०। सनि ग्रह-गुहोश्च । ७।२।१२।’ इतीदप्र-तिषेधः । ‘२६०९। रुद-विद-१।१।८।’ इत्यादिना सनः कित्त्वे ‘२४१२। ग्रहि-ज्या-१।६।१।१६।’ इत्यादिना संप्रसारणम् । ‘३२४। हो ङः । ८।२।३१।’ । ‘३२६। एकाचो वशो भष्-१।८।२।३७।’ । ‘२९५। षढोः कः सि । ८।२।४१।’ वनौकसौ रामलक्ष्मणौ । वनमोको गृहं ययोः । ‘६२७। न लोक-१।२।३।६९।’ इति कर्मणि षष्ठ्याः प्रतिषेधः ॥

२२९—तमुद्यत-निशाताऽसिं

प्रत्युवाच जिजीविषुः ॥

मारीचो ऽनुनयंस् त्रासाद्

‘अभ्यमित्र्यो भवामि ते, ॥ ४६ ॥

तमित्यादि—तं रावणं एवमुक्तवन्तम् । निशात इति ‘३०७५। शाच्छो-रन्यतरस्याम् । ७।४।४१।’ इतीत्वाभावपक्षे रूपम् । उद्यत उत्थापितः निशात-स्तीक्ष्णोऽसिर्येन तं मारीचस्त्रासात् प्रत्युवाच वचनमुक्तवान् । अभ्यमित्र्यो

भवामि ते । अमित्रस्याभिमुखमभ्यमित्र्यामिमुख्येऽव्ययीभावः । अभ्यमित्र-
मलंगामीत्यस्मिन्नर्थे '१८१८। अभ्यमित्राच्छ च । ५।२।१७।' इति चकाराद्यत्वौ
चेति यत् । त्वदमित्राभिमुखं गच्छामीत्यर्थः । अनुनयन् अनुकूलयन् । किमर्थं
जिजीविषुः जीवितुमिच्छुः ॥

२३०—हरामि राम-सौमित्रि मृगो भूत्वा मृग-द्युवौ, ॥

उद्योगमभ्यमित्रिणो यथेष्टं त्वं च.संतनु.' ॥ ४७ ॥

हरेत्यादि—अहं मृगो भूत्वा रामसौमित्रि हरामि । देशान्तरं प्रापयामि ।
आखेटकाभिरतत्वात् । यदाह मृगद्युवौ मृगैर्दिव्यत इति क्प् । '२५६१। च्छोः
श्लडनुनासिके च । ६।४।१९।' इति चकारात् कौ च ऊह यणादेशः । उवङ् ।
मृगद्युताविति पाठान्तरम् । तत्र 'द्यु अभिगमने' मृगान् द्यौति अभिगच्छतीति
क्प् । त्वं च यथेष्टं यथारुचि । तमुद्योगं संतनु विस्तारं कुर्वित्यर्थः । तनोते-
लोटि '२३३४। उतश्च-१६।४।१०६।' इति हेर्लुक् । अभ्यमित्रिणः अमित्राभिमु-
खमलंगामी । '१८१८। अभ्यमित्राच्छ च । ५।२।१७।' इति चकाराद्यत्वौ चेति खः ॥

२३१—ततश् चित्रियमाणो ऽसौ हेम-रत्न-मयो मृगः ॥

यथामुखीनः सीतायाः पुष्टुवे बहु लोभयन्. ॥ ४८ ॥

तत इत्यादि—उक्तानन्तरमसौ मारीचो मायामृगीभूतः सन् हेमरत्नमयः
रत्नं च हेम चेति विगृह्य । '१५२३। मयद्वैतयोर्भाषायाम्-१४।३।१४३।' इति
विकारे मयद् । निर्मलत्वात् । सीताया अप्रतो यथामुखीनः प्रतिविम्बाश्रय इव
भूत्वा पुष्टुवे अमति स्म । इवशब्दलोपो द्रष्टव्यः । '१८०७। यथामुखसंमुखस्य
दर्शनः खः । ५।२।१६।' बहु लोभयन् सुष्ठु स्पृहां जनयन् । यतश्चित्रियमाणः
आश्चर्यं भवन् । हेमरत्नमयत्वात् । '२६७५। नमोवरिव-१३।१।१९।' इत्यादिना
क्यच् । 'चित्र-ङ् आश्चर्ये' । लकारस्यात्मनेपदार्थत्वात् शानच् । अवयवकृतं
लिङ्गं समुदायस्य भवतीति ॥

२३२—तेना ऽदुद्यूषयद् रामं मृगेण मृग-लोचना ॥

मैथिली विपुलोरस्कं प्रावुवूर्षुर् मृगाजिनम्. ॥ ४९ ॥

तेनेत्यादि—तेन मृगेण मैथिली सीता राममदुद्यूषयत् क्रीडितुमिच्छतं प्रयु-
क्तवती गृह्यतामयमिति । इवन्तस्य दिवेः '२६१८। सनीवन्त-१७।२।४९।' इत्या-
दिना यदा नेद् तदा '२५६१। च्छोः श्लड-१६।४।१९।' द्विवचनम् । तस्मात्
सञ्चन्तप्यन्तात् लङि रूपम् । मृगलोचना मृगस्य लोचने इव लोचने यस्याः ।
मध्यमपदलोपी सः । विपुलोरस्कं विस्तीर्णवक्षस्थलम् । '८८९। उरःप्रभृतिभ्यः
कप् । ५।४।१५३।' । किमर्थयदुद्यूषयत् मृगाजिनं मृगचर्म प्रावुवूर्षुः प्रावरीतु-
मिच्छुः । प्राहपूर्वस्य '२६२५। इद् सनि वा । ७।२।४९।' इत्यनिदपक्षे '२६१४।

अञ्जनगमां सनि । ६।१।१६।' इति दीर्घः । '२२९४। उदोच्छपूर्वस्य । ७।१।१०२।'
इत्युत्वम् । रपरत्वम् । '४३३। वोरूपधाया दीर्घ इकः । ८।२।७६।' द्विवचनम् ।
'२११। इण्कोः । ८।३।५७।' इति षत्वम् । रेफस्येणग्रहणेन ग्रहणादन्त्योऽपि
वकार ओष्ठग्रहणेन गृह्यते ॥

२३३—योग-क्षेम-करं कृत्वा सीताया लक्ष्मणं ततः ॥

. मृगस्याऽनुपदी रामो जगाम गज-विक्रमः. ॥ ५० ॥

योगेत्यादि—ततो दुष्टूपानन्तरं रामो जगाम । योगक्षेमौ शरीरस्थितिपा-
लने करोतीति '२९३४। कृजो हेतु-।३।२।२०।' इत्यादिना हेतौ टः । ग्रहणवता
तदन्तविधेरभावात् '२९६१। क्षेमप्रियमद्रेऽण् च । ३।२।४४।' इत्यण्खचौ न
भवतः । सीतायाः स्थितिपालनहेतुभूतं लक्ष्मणं कृत्वा रामः मृगस्यानुपदी अन्वेष्टा
'१८९०। अनुपद्यन्वेष्टा-।५।२।९०।' इति निपातनात् साधुः । गजविक्रमः । गज-
गमनमिव गमनं यस्येत्यर्थः ॥

२३४—स्थायं स्थायं कचिद् यान्तं

क्रान्त्वा क्रान्त्वा स्थितं कचित् ॥

वीक्षमाणो मृगं रामश्

चित्र-वृत्तिं विसिष्मिये. ॥ ५१ ॥

स्थायमित्यादि—मृगं चित्रवृत्तिमद्भुतशरीरचेष्टं वीक्षमाणो रामो विसि-
ष्मिये विस्मितः । ष्मिङो डित्वादात्मनेपदम् । पोपदेशत्वाच्चाभ्यासेणः परस्य
सस्य षः । चित्रवृत्तितां दर्शयन्नाह—स्थायं स्थायं स्थित्वा स्थित्वा । कचित् प्रदेशे
यान्तं क्रान्त्वा क्रान्त्वा । कचित्प्रदेशे उत्प्लुत्योत्प्लुत्य स्थितम् । आभीक्ष्ण्ये णमुलि
क्त्वाणमुलौ द्विवचनं च ॥

२३५—चिरं क्लिशित्वा मर्मा-विद् रामो विलुभित-प्लवम् ॥

शब्दायमानमव्यात्सीत् भय-दं क्षणदा-चरम्. ॥ ५२ ॥

चिरमित्यादि—रामः क्षणदाचरं मारीचमव्यात्सीत् विद्ववान् । व्यधेलुङि
हलन्तलक्षणा वृद्धिः । मर्माविद्रामः मर्माणि विध्यतीति क्तिप् । '१०३७। नहि-
वृत्ति-।६।३।११६।' इत्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घत्वम् । चिरं क्लिशित्वा महान्तं काल-
मायस्य । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । '३०४९। क्लिशः क्तवानिष्टयोः । ७।२।५०।'
इति विकल्पेनेद् । तत्र '२६१७। रलो व्युपधात्-।१।२।२६।' इति क्तिविकल्पे
'३३२६। मृड-मृड-।१।२।७।' इत्यादिना क्तिवम् । विलुभितप्लवं व्याकुलितग-
मनम् । '३०४८। लुभो विमोहने । ७।२।५४।' इतीद् । विमोहनं व्याकुलीकर-
णम् । शब्दायमानं शब्दं कुर्वाणम् । '२६७३। शब्द-वैर-।३।१।१७।' इति
क्वङ् । भयदं निशाचरम् । शब्दविशेषणं वा ॥

१०२ भट्टि-काव्ये—प्रथमे प्रकीर्ण-काण्डे लक्षण-रूपे पञ्चमो वर्गः,

२३६—श्रुत्वा विस्फूर्जथु-प्रख्यं निनादं परिदेविनी ॥

मत्वा कष्ट-श्रितं रामं सौमित्रिं गन्तुमैजिहत्- ॥५३॥

श्रुत्वेत्यादि—विस्फूर्जथुप्रख्यं वज्रनिर्घोषतुल्यम् । '२४३। दु-ओ स्फूर्जां वज्र-निर्घोषे' । '३२६७। द्वितोऽथुच् । ३। ३। ८९।' निनादं शब्दम् । '३२४१। नौ गद-नद-। ३। ३। ६४।' इति विकल्पनात् पक्षे घञ् । श्रुत्वा मैथिली कष्टश्रितं कृच्छ्राप्तं रामम् । '६८६। द्वितीया श्रित-। २। १। २४।' इत्यादिना सः । मत्वा बुद्ध्वा । कृच्छ्राप्तेन रामेण मृतमिति परिदेविनी परिदेवनशीला शङ्कमाना । '३१२२। संपृचानुद्ध-। ३। २। १४२।' इत्यादिना घिनुण् । सौमित्रिं गन्तुमैजिहत् । ईहां कारितवती । ईर्ष्यन्तात् लुङि द्विर्वचनेऽचीति स्थानिवद्भावादजादेद्वितीयस्येति हिशब्दस्य द्विर्वचनम् । अभ्यासकार्यं च ॥

२३७—'एष प्रावृषि-जाऽम्भो-द-

नादी भ्राता विरौति ते, ॥

ज्ञातेयं कुरु सौमित्रे !

भयात् त्रायस्व राघवम्.' ॥ ५४ ॥

एष इत्यादि—एष ते भ्राता रौति । '२४४३। उतो वृद्धिः-। ७। ३। ८९।' इत्यौकारः । प्रावृषि जातः प्रावृषिजः । '३००७। सप्तम्यां जनेर्ङः । ३। २। ९७।' '९७३। प्रावृट्-। ६। ३। १५।' इत्यादिना सप्तम्या अलुक् । स चाम्भोदश्चेति विशेषणमिति सः । तद्वन्नदतीति '२९८९। कर्तर्युपमाने । ३। २। ७९।' इति णिनिः । तस्मात् सौमित्रे ! ज्ञातेयं ज्ञातिभावं तत्कर्म वा कुरु । '१७९२। कपि-ज्ञात्योर्ढक् । ५। १। १२७।' तेन भयाद्त्रायस्व राघवम् ॥

२३८—'राम-संघुषितं नैतन्, मृगस्यैव विवञ्चिषोः ॥

राम-स्वनित-सङ्काशः स्वान', इत्यवदत् स ताम्. ५५

रामेत्यादि—रामसंघुषितं रामशब्दितमेतन्न भवति । '१८५९। घुषिर्वि-शब्दार्थः ।' तस्य निष्ठायां '३०६९। रुष्यमत्वर-। ७। २। २८।' इत्यादिना विकल्पेनेह । मृगस्य विवञ्चिषोः छलयितुमिच्छोः । '१९८। वञ्चु गतौ ।' भौवादिकः । तस्यानेकार्थत्वात् । प्रलम्भन इति चौरादिकस्याप्यन्तस्य वा प्रयोगः । येषामनित्यप्यन्ताश्चुरादय इति दर्शनं तेषां मतेनात्रापि सिध्यति । एष स्वानो ध्वानः । '३२३९। स्वन-हसोर्वा । ३। ३। ६२।' इति पक्षे घञ् । कीदृशः । रामस्वनितसङ्काशः रामशब्दादुकारीति । तां सीतां एवमवदत् उक्तवान् । स लक्ष्मणः ॥

२३९-‘आप्यान-स्कन्ध-कण्ठाऽसं

रुषितं सहितुं रणे ॥

गोर्णुवन्तं दिशो बाणैः

काकुत्स्थं भीरु ! कः क्षमः ॥ ५६ ॥

आप्येत्यादि—‘१०३३। प्यै-इ वृद्धौ ।’ अस्मादाङ्पूर्वात् ‘३०१७। संयो-
गादेरातो धातोर्थण्वतः । ८।२।४३।’ इति निष्ठातो नः । ओ-प्यायी वृद्धावित्यस्य
वा रूपम् । ‘३०१९। ओदितश्च । ८।२।४५।’ इति निष्ठानत्वम् । पीभावस्तु आङ्-
पूर्वस्य त्वन्धूवसोरिति वचनात् इह न भवति आप्यानस्कन्ध इति । आप्यानं
स्थूलं स्कन्धकण्ठासं यस्य काकुत्स्थस्य । बाहुशिखरमंसः तस्य पश्चिमो भागः
स्कन्धः तं । रुषितं क्रुद्धम् । रणे संग्रामे सहितुं हे भीरु कातरे ! कः क्षमः शक्तः ।
अपि तु न कोऽपीत्यर्थः । क्षमेः शक्नोत्यर्थत्वात् तदुपपदे ‘३१७७। शक-घृष-
।३।४।६५।’ इत्यादिना तुमुन् । ‘२३४०। तीष-सह-।७।२।४८।’ इत्यादिना वेद् ।
ककुत्स्थस्यापत्यं काकुत्स्थः । ‘१११५। शिवादिभ्योऽण् । ४।१।११२।’ कस्माच्च
क्षम इत्याह—गोर्णुवन्तं दिशो बाणैः । यतः सर्वाः दिशः बाणैः छादयन्तम् ।
ऊर्णोतः शतरि उवङ् । क्षमत इति क्षमः । पचाद्यच् ॥

२४०-देहं विभ्रक्षुर-स्त्राऽग्नौ मृगः प्राणैर् दिदेविषन् ॥

ज्या-घुष्ट-कठिनाऽङ्गुष्ठं राममायान् मुमूर्षया । ॥ ५७ ॥

देहमित्यादि—एष मृगो राममायात् आगतवान् । यातेर्लङि रूपम् ।
किमर्थं देहं शरीरं अस्त्राग्नौ अस्त्रे अग्नौ विव । विभ्रक्षुः अष्टुमिच्छुः । असजेः
‘२६१८। सनीवन्तर्ध-।७।२।४९।’ इत्यत्रेडभावपक्षे ‘३८०। स्कोः संयोगाद्योः-
।८।२।२९।’ इत्यनेन सलोपे षत्वकुत्वयोश्च रूपम् । प्राणैर्दिदेविषन् क्रीडितुमि-
च्छन् । ‘५६२। दिवः कर्म च । १।१।४३३।’ इति चकारात् करणसंज्ञा । ‘२६१८।
सनीवन्त-।७।२।४९।’ इतीदृशे रूपम् । ज्याया गुणेन घुष्टौ निघृष्टौ अत एव
कठिनौ अङ्गुष्ठौ सव्यापसव्यकर्षणाद्यस्य । ‘३५६३। घुषिरविशब्दने । ७।२।२३।’
इति निष्ठायामनिह । मुमूर्षया मर्तुमिच्छया । मृडः सनि ‘२४९४। उदोष्ठ्य-
पूर्वस्य । ७।१।१०२।’ इत्युत्वम् । ‘३२७९। अ प्रत्ययात् । ३।३।१०२।’ ॥

२४१-शत्रून् भीषयमाणं तं रामं विस्मापयेत कः, ॥

मा स्म भैषीस्, त्वया ऽद्यैव कृताऽर्थो द्रक्ष्यते पतिः ।’

शत्रून् इत्यादि—तं रामं शत्रून् भीषयमाणं भीतान् कुर्वाणम् । ‘२५९५।
भियो हेतुभये पुक् । ७।३।४०।’ । ‘२५९४। भी-स्म्योर्हेतुभये । १।३।६८।’ इति
तङ् । विस्मापयेत कः क्षुभितचित्तं कः कुर्यात् । नैवेत्यर्थः । ‘२५९६। नित्यं स्मयतेः
। ६।१।५७।’ इति णावात्वम् । ‘२५७०। अर्तिही-।७।३।३६।’ इत्यादिना पुक् ।
निमग्नणे नियोगे वा लिङ् । पूर्ववदात्मनेपदम् । तस्मान्मा स्म भैषीः मा भूर्भी-

१०४ भट्टि-कान्ये—प्रथमे प्रकीर्ण-काण्डे लक्षण-रूपे पञ्चमो वर्गः,

ता '२२२०। स्तोत्रे लङ् च ।३।३।१७६।' इति चकारात् लुङ् । सिचि वृद्धिः ।
त्वया अद्यैव कृतार्थः पूर्णमनोरथः पतिर्द्रक्ष्यते । द्योः कर्मणि लृट् ॥

२४२—'यायास् त्वमिति कामो मे, गन्तुमुत्सहसे न च, ॥

इच्छुः कामयितुं त्वं माम्', इत्यसौ जगदे तथा. ५९

याया इत्यादि—तदन्वेषणाय यायास्त्वमिति कामोऽभिलाषः । '२८१०।
कामप्रवेदनेऽकञ्चित् ।३।३।१५३।' इत्यकञ्चित्युपपदे लिङ् । न च गन्तुमुत्स-
हसे । '३१७७। शक-ष्ट-३।४।७५।' इति तुमुन् । तस्मान्न मां कामयितु-
मिच्छुः एषणशीलः । '३१७६। समानकर्तृकेषु तुमुन् ।३।३।१५८।' । '३१४९।
विन्दुरिच्छुः ।३।२।१६९।' इति निपातनात्साधुः । इत्येवमसौ लक्ष्मणो जगदे
गदितस्तथा सीतया ॥

२४३—मृषोद्यं प्रवदन्तीं तां सत्य-वद्यो रघूत्तमः ॥

निरगात् 'शत्रु-हस्तं त्वं यास्यसी'ति शपन् वशी ॥६०॥

मृषोद्यमित्यादि—मां कामयितुमिच्छुरित्येतन्मृषोद्यम् मृषावादम् । '२८-
६५। राजसूय-३।१।११४।' इत्यादिना भावे क्यप् । यजादित्वात् सम्प्रसारणम् ।
प्रवदन्तीं तां सीताम् । रघूत्तमो लक्ष्मणः । शपन् शत्रुहस्तं त्वं यास्यसीति शापं
प्रयच्छन् । भौवादिकोऽत्र शपिर्न देवादिकः । निरगात् निर्गतः । तस्मादुटजादि-
त्यर्थात् । कथं मृषोद्यमित्याह—वशी वशनं वशः इन्द्रियसंयमनम् । 'वशिर-
ण्योरुपसंख्यानम्' इत्यप् । स यस्यास्ति स वशी जितेन्द्रियः । अत एव सत्यवद्योः
अवितथवादी । शत्रुहस्तं यास्यसीति सत्यं वदतीति '२८४१। कृत्य-ल्युटो बहु-
लम् ।३।३।११३।' इति कर्तरि यत् । '२८५४। वदः सुपि क्यप् च ।३।१।१०६।' इति
चकाराद्यत् । भावे वा यत् विधाय्याच् अशंभादित्वात् ॥

कैलापकम् (४)—

२४४—गते तस्मिन्, जल-शुचिः

शुद्ध-दन् रावणः शिखी ॥

जङ्गपूको ऽक्ष-माला-वान्

धारयो मृदलाबुनः ॥ ६१ ॥

गत इत्यादि—तस्मिन् लक्ष्मणे गते सति रावणः सीतामूच इति वक्ष्यमा-
णेन सम्बन्धः । कीदृशः । जलशुचिः स्नात इत्यर्थः । शुद्धदन् निर्मलदशनः शुद्धा
दन्ता यस्य । '८८३। अग्रान्त-१५।४।१४५।' इत्यादिना दन्तस्य ददादेशः । शिखा

अस्यास्तीति शिखी परिव्राजकः । बाह्वादिवादिनिः । जंजपूकः पापाशयत्वात्
गर्हितं जपतीति । '२६३५। लुप-सद-।३।१।२४।' इति यङ् । '२६३८। जप-जभ
-।७।४।८६।' इत्यभ्यासस्य नुक् । '३१४६। यज-जप-दशां यङ् । ३।२।१६६।' इत्युक् ।
अक्षमालावान् अक्षसूत्रयुक्तः । संसर्गे मतुप् । धारयतीति धारयः ।
'२९००। अनुपसर्गात्-।३।१।१३८।' इति शः । कस्य मृदलाब्जुनः । 'नजि लम्बे-
नलोपश्च' इत्यौणादिक ऊकारे प्रत्यये अलाबूः । तस्य विकारः फलमिति '१५१९।
ओरञ् । ३।३।१३९।' । तस्य फले लुक् । नपुंसकह्रस्वत्वम् । मृत्पूर्णमलाब्जु इति
मध्यमपदलोपी सः । कृत्प्रयोगे कर्मणि षष्ठी । '३२०। इकोऽचि विभक्तौ । ७।१।
७३।' इति नुम् ॥

२४५—कमण्डलु-कपालेन शिरसा च मृजा-वता ॥

संवख्य लाक्षिके वस्त्रे मात्राः संभाण्ड्य दण्ड-वान् ६२

कमेत्यादि—कमण्डलुना कपालेन च '९१०। जातिरप्राणिनाम् । १।४।६।' इति
द्वन्द्वैकवद्भावः । मृजावता निर्मलेन शिरसा च उपलक्षितः । इत्थम्भूते
तृतीया । संवख्य परिधाय । 'वस्त्रात्समाच्छादने' इति '२६७७। मुण्डमिश्र-
-।३।१।२१।' इत्यादिना णिच् । लाक्षिके वस्त्रे । लाक्षया रक्ते । '१२०३। लाक्षा-
रोचनात्-।४।२।२।' इत्यादिना ठक् । मात्राः कमण्डलवादिं सम्भाण्ड्य समा-
चित्य राक्षीकृत्येत्यर्थः । 'भाण्डात् समाचयने' इति '२६७६। पुच्छ-भाण्ड-।३।
१।२०।' इत्यादिना णिङ् । दण्डवान् गृहीतत्रिदण्डः । संसर्गे मतुप् ॥

२४६—अधीयन्नात्म-विद् विद्यां धारयन् मस्करि-व्रतम् ॥

वदन् बह्वङ्गुलि-स्फोटं भ्रू-क्षेपं च विलोकयन् ॥ ६३ ॥

अधीत्यादि—मा कुस्त कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसीत्येवं घोषयन्ति ये ते
मस्करिणः परिव्राजकाः । तेषां व्रतमकृच्छ्रमसौ धारयन् । '१०६८। मस्कर-म-
स्करिणौ-।६।१।१५४।' इति परिव्राजके सुट् । आत्मविदां योगिनाम् । विद्यामु-
पनिषदमधीयन् जपन् '३११०। इङ्-धायोः-।३।२।१३०।' इतीडो धारेश्च अकृ-
च्छ्रवति कर्तार शत्रुप्रत्ययः । अन्तरा बहु प्रभूतं वदन् । अङ्गुलिस्फोटं पुनः पुनः
स्फोटिकान्दत्त्वा भ्रूक्षेपं च विलोकयन् भ्रुवावुत्क्षिप्योत्क्षिप्य विलोकयन् । उभ-
यत्रापि '३३७६। स्वाङ्गेऽध्रुवे । ३।४।५४।' इति णमुल् ॥

२४७—संदिदर्शयिषुः साम निजुह्वुषुः क्षपाट-ताम् ॥

चंक्रमा-वान् समागत्य सीतामूचे—'सुखाभव.' ॥ ६४ ॥

संदीत्यादि—इह भयं मा भूदिति साम सान्त्वं संदिदर्शयिषुः संदिदर्शयि-
तुमिच्छुः । वदन् बह्वङ्गुलिस्फोटमिति योज्यम् । इशेर्ष्यन्तसन्नन्तत्वे रूपम् ।
क्षपाटतां राक्षसत्वं निजुह्वुर्निहोतुमिच्छुः । धारयन्मस्करिव्रतमिति योज्यम् ॥
होते '२६१४। अङ्गनगमां सनि । ६।४।१६।' इति दीर्घः । कुटिलं क्रमणं चंक्रमा ।

१०६ भट्टि-काव्ये—प्रथमे प्रकीर्ण-काण्डे लक्षण-रूपे पञ्चमो वर्गः,

क्रमेः '२६३४। नित्यं कौटिल्ये गतौ ।३।१।२३।' इति यद् । '२६४३। नुगतः
—।७।४।८५।' इत्यभ्यासस्य नुक् । '३२७९। अः प्रत्ययात् ।३।२।१०२।' इत्याकारः
। '२३०८। अतो लोपः ।६।४।४८।' । '२६३१। यस्य हलः ।६।४।४९।' टाप् । सा
यस्यास्ति चंक्रमावान् । कुटिलगतिमानित्यर्थः । समागत्य ढौकित्वा । सीतामूचे ।
किमित्याह—सुखाभवेति अनुकूला भवेत्यर्थः । यदहं प्रार्थये तत्र प्रतिकूला न भवेति
भावः । '२१३४। सुखप्रियादानुलोभ्ये ।५।४।६३।' इति कृभ्वस्तियोगे डाच् ॥

युग्मम्—

२४८—सायन्तनीं तिथि-प्रणयः पङ्कजानां दिवा-तनीम् ॥
कान्तिं कान्त्या सदा-तन्या हेपयन्ती शुचि-स्मिता.

सायमित्यादि—का त्वमिति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । सायं दिनावसानं तत्र
भवां कान्तिम् । यदा षोऽन्तकर्मणीत्येतस्मात् घञ्प्रत्ययान्तः तदा '१३९१।
सायंचिरं—।४।३।२४।' इति व्युत्प्लुलौ तुद् च मकारान्तत्वं च निपात्यते । यदा
सायंशब्दो मकारान्तः तदाप्यव्ययत्वादेव प्रत्ययागमौ स्याताम् । कस्येत्यपेक्षायां
तिथिप्रणयः चन्द्रमसः पञ्चदश कलाः तासां वृद्धिहासाभ्यां पञ्चदश तिथीः
प्रणयति प्रवर्तयति । '२९७५। सत्सू-द्विष-।३।२।६१।' इति क्तिप् । '२२८७। उप-
सर्गादसमासे—।८।४।१४।' इति णत्वम् । '२७२। एरनेकाचः—।६।४।८२।' इति
यणादेशः । पङ्कजानां च कान्तिं कीदृशीम् । दिवातनीं दिवाभवाम् । कान्त्या त्वदी-
यया सदातन्या सदाभवया हेपयन्ती लज्जयन्ती । दिवातन्याः सायन्तन्याश्च
सदाभवत्वात् । जिहेतेः '२५७०। अर्ति—।७।२।३६।' इत्यादिना णौ पुक् । शुचि-
स्मिता शुभ्रहासा ॥

२४९—का त्वमेकाकिनी भीरु ! निरन्वय-जने वने, ॥
क्षुध्यन्तो ऽप्यघसन् व्यालास् त्वाम्-पालां कथं न वा.

का त्वमित्यादि—का त्वं देवी मानुषी राक्षसी वेति । एकाकिनी अस-
हाया । '१९९८। एकादाकिनिच्चासहाये ।५।३।५२।' इति आकिनिच् । भीरु
इत्यामघ्नं भयप्रकृतित्वात् स्त्रीणाम् । निरन्वया निरनुगमा जना यस्यिन्वने
यत्र न कथंचिन्मनुष्याणां सम्भवः । क्षुध्यन्तोऽपि बुभुक्षमाणा अपि । दिवादि-
त्वात् इयन् । व्याला हिंसा व्याघ्रादयः कथं वा त्वां नाघसन् न भक्षितवन्तः ।
अदेः '२४२७। लुङ्मनोर्घस्तु ।२।४।३७।' लुदित्वात् स्लेरङ् । क्षुध्यन्तो नाघ-
सन्निति पाठान्तरम् । तत्र कथं न वा अपरिचितानेवाघसन् इति योज्यम् ।
अपालां सर्तीं अविद्यमानः पालो यस्या इति । '१७२६। पाल रक्षणे' इति चौरा-
दिकः । पालयतीति पालः । पचाद्यच् । यदा प्रयोजकविवक्षा तदा पातेर्लुगागमो
णौ चक्तव्य इति लुक् । ततः पचाद्यच् ॥

२५०—हृदयं-गम-मूर्तिस् त्वं सुभगं-भावुकं वनम् ॥

कुर्वाणा भीममप्येतद् वदाऽभ्यैः केन हेतुना ॥६७॥

हृदयमित्यादि—केन हेतुना इदं वनमभ्यैः अभिगतासि वद कथय । अभि-
पूर्वादिणो लङ् । मध्यमपुरुषैकवचनम् । ‘२२५४ आहजादीनाम् । ६।४।७२।’
‘२६९। आटश्च । ६।१।९०।’ इति वृद्धिः । हृदयं गच्छति या मूर्तिः शरीरमत्य-
न्तसौन्दर्यात् । ‘२९६४। गमश्च । ३।२।४७।’ इति खच् । सा एवंविधा मूर्तिर्य-
स्याः सा त्वं भीममप्येतद् वनं सुभगम्भावुकं सर्वस्यैवाप्रियं प्रियं कुर्वाणा । असु-
भगं भूत्वा सुभगं भवतीति ‘२९७४। कर्तरि भुवः-। ३।२।५७।’ इति खुकञ् ॥

२५१—सुकृतं प्रिय-कारी त्वं कं ह्रस्वपतिष्ठसे, ॥

पुण्य-कृच्च चाटु-कारस् ते किङ्करः सुरतेषु कः ॥६८॥

सुकृतमित्यादि—सुकृतं पुण्यकारिणं शोभनं कृतवानिति ‘२९९९। सुक-
र्म-पाप-। ३।१।८८।’ इत्यादिना क्तिप् । कं रहसि विजने त्वमुपतिष्ठसे उपश्लि-
ष्यसि । संगतकरणे तङ् । प्रियकारी अनुकूलवर्तिनी सती । प्रियमनुकूलं करो-
तीति ‘२९६१। क्षेम-प्रिय-मद्रेऽण् च । ३।२।४४।’ इति अण् ‘४७०। टिङ्गाणञ्-। ४।
१।१५।’ इत्यादिना ङीप् । पुण्यकृत् कृतपुण्यः । तस्य पूर्ववत् क्तिप् । चाटुकारः
प्रियवाक्यकरः । ‘२९३७। न शब्दश्लोक-। ३।२।२३।’ इत्यादिना टे प्रतिषिद्धे-
ऽणव भवति । ईदृशस्ते किङ्करः दासः । ‘२९३५। दिवा-विभा-। ३।२।२१।’ इति
टः । किञ्चिद्बहुषु कृजोऽज्जिधानमिति तत्स्त्रीविषये द्रष्टव्यम् । सुरतेषु शोभन-
रतेषु । ‘३०९०। नपुंसके भावे क्तः । ३।३।११४।’ । ‘२४२८। अनुदात्तो-। ६।४।
३७।’ इत्यादिनानुनासिकलोपः । अनेनोभयवचिराख्याता ॥

२५२—परि-पर्युदधे रूपमां-द्यु-लोकाच्च च दुर्-लभम् ॥

भावत्कं दृष्टवत्स्वेतदस्मास्वधि सु-जीवितम् ॥६९॥

परीत्यादि—एतद्रूपं भावत्कं भवत्या इदमिति ‘१३१९। भवतष्टकृच्छसौ
। ४।२।११४।’ इति ठक्छसौ । ‘ठक्छसोश्चोपसंख्यानम्’ इति पुंवद्भावः । ‘१२-
२१। इसुसुक्तान्तात्कः । ७।३।५१।’ दुर्लभं परिपर्युदधेः ‘५९६। अपपरी वर्जने ।
। १।४।८८।’ इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां द्वितीयायां प्राप्तायां ‘५९८। पञ्चम्यपा-
ङ्परिभिः । २।२।१०।’ इति पञ्चमी । ‘६६६। अप-परि-बहिरञ्चवः पञ्चम्या । २।१-
। १२।’ इति विभाषासमासश्च । असमासपक्षे ‘२१४१। परेर्वर्जने । ८।१।५।’ इति
द्विवचनम् । उदधिं वर्जयित्वा चतुर्दधिमेषलयायां सुवि दुर्लभमाद्युलोकाच्च
स्वर्गलोकान्तं च यावत् दुर्लभम् । अत्रापि पूर्ववत्पञ्चमी । तादृशं दृष्टवत्स्वस्मासु
अधि सुजीवितमस्मद्विषये आधिक्येन सुजीवितम् । अहो वा सुजीवितमिति
अहोशब्दार्थे अधिशब्दो वर्तते ॥

१०८ भट्टिकाव्ये—प्रथमे प्रकीर्ण-काण्डे लक्षण-रूपे पञ्चमो वर्गः,

२५३—आपीत-मधुका भृङ्गैः सुदिवैवाऽरविन्दिनी ॥

सत्-परिमल-लक्ष्मीका नाऽ-पुंस्काऽसीति मे मतिः.

अ

आपीतेत्यादि—परि सर्वतो मार्जनमिति परिमलः । कलत्रपक्षेत्यधिकृत्य मृजेष्टिलोपश्चेति कलप्रत्यय औणादिकः । इह सुरतोपभोगविमर्दः परिमलोऽभि-
प्रेतः । तस्य लक्ष्मीः तत्कृतत्वात् । सती विद्यमाना परिमलशोभा यस्याः । '८८९।
उरःप्रभृतिभ्यः कप् । ५।४।१५१।' सा त्वमपुंस्का अविद्यमानभर्तृका नासीति मे
मतिः । पूर्ववत्कप् । किमिव सुदिवैवारविन्दिनी पद्मिनी । शोभनं दिवा नीहा-
राद्यभावाद्दिवा दिवसं यस्याः । '८६०। सुप्रात-५।४।१२०।' इत्यादिना अच् ।
आपीतमधुका भृङ्गैः आपीतं मधु यस्याः । '८९१। शेषाद्दिभाषा ५।४।१५४।' इति कप् । यथेयं सत्परिमललक्ष्मीका तथा त्वमपीति ॥

२५४—मिथ्यैव श्रीः श्रियं-मन्या, श्रीमन्-मन्यो मृषा हरिः, ॥

साक्षात्-कृत्याऽभिमन्येऽहं त्वां हरन्तीं श्रियं श्रियः ७१

मिथ्यैवेत्यादि—श्रियः श्रियं रूपसम्पदं हरन्तीमभिमवन्तीं त्वां साक्षा-
त्कृत्य प्रत्यक्षीकृत्य । विभाषा कृमीत्यनुवर्तमाने '७७५। साक्षात्प्रभृतीनि च । १।-
४।७४।' इति गतिसंज्ञा । गतिसमासे ल्यबादेशः । अहमभिमन्ये किं मिथ्या श्रीः
श्रियंमन्या अहमेव श्रीर्नान्येति मन्यमाना श्रीर्मिथ्या नैव श्रीः किन्तु त्वमेवेति ।
'२९९३। आत्ममाने खश्-१३।२।८३।' । '२५०५। दिवादिभ्यः झ्यन् । १३।१।६९।' ।
'२९९४। इच एकाचोऽप्रत्ययवच्च । ६।३।६८।' इत्यम्भावः । तस्यामः प्रत्ययत्वा-
न्मलोपाभावः । '१९०। न विभक्तौ तुस्माः । १।३।४।' इति वचनात् । अचीतीय-
ळादेशः । किंवन्ता धातुत्वं न जहतीति किंवाचीत्यादिना श्रयतेरौणादिकः क्तिप् ।
हरिश्चात्मानं श्रीमन्तं मन्यमानो मृषा न श्रीमानित्यहमभिमन्ये ॥

२५५—नौदकण्ठिष्यताऽत्यर्थं, त्वामैक्षिष्यत चेत् स्मरः, ॥

खेलायन्ननिशं नापि सज्जः-कृत्य रतिं वसेत्, ॥७२॥

नौदेत्यादि—स्मरभार्या रतिः सापि रूपेण निष्ठेति दर्शयति । चेत् यदि
स्मरः त्वामैक्षिष्यत दृष्टवानभविष्यत् तदा अत्यर्थं नौदकण्ठिष्यत रतिं प्रति भृश-
मुत्कण्ठितो नाभविष्यत् । '६५२। ईक्षं दर्शने' इति, '२७३। कठि शोके' इति
भौवादिवाक् क्रियातिपत्तौ लृङ् । नापि रतिं स्वभार्या सज्जःकृत्य सहायीकृत्य
वसेत्, अपि तु परित्यजेत् । अत्र क्रियातिपत्तिर्न विवक्षिता किन्तु हेतुहेतुमद्भा-
वः । नापि रतिं सज्जःकृत्य वसेत् यदि त्वामीक्षेतेति हेतुपदमभ्यूह्य हेतुमद्भाव-
दर्शनत्वात् । ऊर्जादिषु 'सज्जः सहायः' इति वचनात् गतिसंज्ञा । खेलायन् अनिशं
कीडन् सर्वदा । खेलाशब्दात् कण्ठादित्वात् यक् ॥

२५६—वल्लूयन्तीं विलोक्य त्वां

स्त्री न मन्तूयतीह का, ॥

कान्तिं नाऽभिमनायेत

को वा स्थाणु-समो ऽपि ते. ॥ ७३ ॥

वल्लूयत्यादि—त्वां वल्लूयन्तीं शोभमानां विलोक्य न मन्तूयति स्त्रीह का । इह जगति का स्त्री न मन्तूयेत् कुप्येत् । सर्वदा कुप्यत्येव ईर्ष्यायुक्तत्वात् स्त्रीणाम् । असम्भावने लिङ् । वल्लू-मन्तुशब्दाभ्यां कण्ठादित्वाच्च । को वा को नाम स्थाणुसमोऽपि काष्ठतुल्योऽपि गुणदोषानभिज्ञत्वात्ते तव कान्तिं विलोक्य नाभिमनायेत पूर्वमदृष्टत्वादनभिमनाः सन् अभिमनाः सचेता न भवेत् । पूर्ववद्भिङ् । अभिमनसो भृशादित्वात्क्यङ् सलोपश्च । महादेवतुल्यो वा आस्तामन्यः सोऽपि तावदभिमनायेत् ॥

२५७—दुःखायते जनः सर्वः, स एवैकः सुखायते, ॥

यस्योत्सुकायमाना त्वं न प्रतीपायसेऽन्तिके. ॥ ७४ ॥

दुःखेत्यादि—स एवैको जनः सुखायते सुखं वेदयते । यस्यान्तिके समीपे न त्वं प्रतीपायसे न प्रतिकूलवर्तिनी भवसि । उत्सुकायमाना सती । यस्य पुनरन्तिके उत्सुकायमाना प्रतीपायसे स सर्वो जनः दुःखायते दुःखं वेदयते । सुख-दुःखशब्दाभ्यां '२६७४। सुखादिभ्यः कर्तृवेदनायाम् । ३। १। १८।' इति क्यङ् । उत्सुक-प्रतीपशब्दाभ्यां भृशादित्वात् ॥

२५८—कः पण्डितायमानस् त्वा-

मादायाऽऽमिष-सन्निभाम् ॥

त्रस्यन् वैरायमाणेभ्यः

शून्यमन्ववसद् वनम्.' ॥ ७५ ॥

क इत्यादि—पण्डितायमानः अपण्डितः कथमपि पण्डितो भवन् । भृशा-दित्वात् क्यङ् । त्वामामिषसन्निभां सर्वजनप्रार्थनीयत्वात् । आदाय गृहीत्वा कः शून्यं वनमन्ववसत् । शून्ये वने अवसदित्यर्थः । '५४४। उपान्वध्याङ्वसः । १। १। ४८।' इति कर्मसंज्ञा । कीदृशः । त्रस्यन् बिभ्यत् । वैरायमाणेभ्यः वैरं कुर्वाणेभ्यः । '२६७३। शब्द-वैर-३। १। १७।' इत्यादिना क्यङ् । '५८८। भीत्रार्थनाम्-१। १। २५।' इत्यपादानसंज्ञा ॥

२५९—ओजायमाना तस्या ऽर्घ्यं प्रणीय जनकाऽऽत्मजा ॥

उवाच दश-मूर्धानं साऽऽदरा गङ्गदं वचः ॥ ७६ ॥

ओजेत्यादि—एवमुक्तवति रावणे जनकसुता दशमूर्धानमुवाच । दश मूर्धानः शिरांसि यस्य तस्यार्घ्यं प्रणीय दत्त्वा अतिथिरयमिति । सम्प्रदानस्य भ० का० १०

११० भट्टिकाव्ये—प्रथमे प्रकीर्ण-काण्डे लक्षण-रूपे पञ्चमो वर्गः,

शेषत्वेन विवक्षितत्वात् षष्ठी । ओजायमाना ओज इकाचरन्ती '२६६५। कर्तुः
व्यङ्ग्यं संलोपश्च । ३।१।११।' 'ओजसोऽप्सरसो नित्यम्' इति वचनात् । मां
माभिभूदित्यतितेजस्विनी भवन्तीत्यर्थः । किमुवाच वचो वक्ष्यमाणम् । सादरा
सती । परिव्राजक इति । गद्गदमनभिव्यक्तमसंस्कृतत्वात् ॥

कलापकम् (४)—

२६०—'महा-कुलीन ऐक्ष्वाके वंशे दाशरथिर् मम ॥

पितुः प्रियं-करो भर्ता क्षेमं-कारस् तपस्विनाम् ॥७७॥

महेत्यादि—यदुक्तं तेन कं रहस्युपतिष्ठस इति अस्य प्रतिवचनं मम भर्ता
महाकुलीनः महाकुलस्यापत्यमिति । '११६४। महाकुलादङ्-खजौ । १।१।१४१।' इति खज् । किमादित्यवंशसंभवः, किं सोमवंशसंभवो वा महाकुलस्यापत्य-
मित्याह । ऐक्ष्वाके वंशे इक्ष्वाकूणामयमैक्ष्वाकः । ११४५। दाण्डिनायन-। ६।४।-
१७४।' इत्यादिना टिलोपनिपातनम् । अन्ये तत्र सन्तीत्याह । दाशरथिः दशरथ-
स्यापत्यं यः स मम भर्ता । महाकुलीनः । कीदृशः । पितुः प्रियंकरः अनुकूल-
कारी । तपस्विनां च क्षेमंकारः । '२९६१। क्षेमप्रियमद्रेऽण् च । १।२।४४।' इति
चकारात् खच् ॥

२६१—निहन्ता वैर-काराणां सतां बहु-करः सदा ॥

पारश्वधिक-रामस्य शक्तेरन्त-करो रणे ॥ ७८ ॥

निहन्तेत्यादि—वैरकाराणां शत्रूणाम् । वैरपूर्वात् कृजः '२९३७। न शब्द-
श्लोक-। १।२।२३।' इत्यादिना टे प्रतिषिद्धे अण्वेव भवति । निहन्तेति तुजन्तस्य
प्रयोगः । तत्र कर्मणि षष्ठी । सतां ध्रमे स्थितानां बहुकरः बहुकार्यं करोतीति ।
'२९३५। दिवा-विभा-। १।२।२१।' इति ठः । स्त्रीबिवक्षायां तु 'किं-यत्तद्बहुषु-'
इति करोतेरच् । आङ्परयोः 'खलिशृभ्यां ङिच्' इत्यौणादिकः कुः परशुशब्दः ।
तत्पर्याय एवाव्युत्पन्नः परश्वधशब्दः । स प्रहरणं यस्य '१६०८। परश्वधाट्ठच्
। १।४।५८।' तस्य परशुरामस्य सम्बन्धिण्याः शक्तेः सामर्थ्यस्यान्तकरो विनाश-
यिता । अन्तं करोतीति पूर्ववद्दः । रणे संग्रामे तत्र भवः ॥

२६२—अध्वरेष्विष्टिनां पाता पूर्ती कर्मसु सर्वदा ॥

पितुर्नियोगाद् राज-त्वं हित्वा योऽभ्यागमद् वनम् ॥

अध्वरेष्वित्यादि—इष्टमेभिरिति इष्टिनो यज्वानः । '१८८८। इष्टादिभ्यश्च
। ५।२।८८।' इतीनिः । किमिष्टवतः । अध्वरान् कर्माणि तत्र 'कस्येन्विषयस्य-'
इति कर्मणि सप्तमी । अध्वरेष्विष्टिनामिति कर्मणि षष्ठी कृद्योगे । पाता रक्षि-
ता । पूर्ती कर्मसु सर्वदा । पृणोतेर्निष्ठायां '२४९४। उदोश्चपूर्वस्य । ७।१।
१०२।' इत्युत्वम् । '३०४०। न ध्या-ख्या-। ८।२।५७।' इत्यादिना निष्ठानत्वप्र-
तिषेधः । पूर्वमनेनेति पूर्ववदिनिः । किं पूर्वमिति सर्वदा श्राद्धादिकर्मणि ।
पूर्ववत्सप्तमी । स राजत्वं राज्यम् । हित्वा त्यक्त्वा । वनमभ्यागमत् । आभि-

मुख्येन आगतवान् । लुङ् । च्लेरङि रूपम् । पितुर्नियोगात् । नायोग्यत्वात् ।
स मे भर्तेति योज्यम् ॥

२६३—पतत्रि-क्रोष्टु-जुष्टानि रक्षांसि भय-दे वने ॥

यस्य बाण-निकृत्तानि श्रेणी-भूतानि शेरते. ॥ ८० ॥

पतत्रीत्यादि—यस्य बाणैर्निकृत्तानि छिन्नानि रक्षांसि भयदे वने दीर्घनि-
द्रया शेरते स मम भर्तेति योज्यम् । शेरत इति '२४४२। शीङो रुट् । ७।१।६।'
कीदृशानि । अश्रेणयः श्रेणयो भूतानि । '७६२। ऊर्यादिचिड्डाचश्च । १।१।६१।'
इति च्यन्तानां '७६१। कुगतिप्रादयः । २।२।१८।' इति सः । '२१२०। च्वौ च
। ७।४।२६।' इति दीर्घः । च्यर्थानां तु '७३८। श्रेण्यादयः कृतादिभिः । २।१।
५९।' इत्ययं विषयः । पतत्रिभिः क्रोष्टुभिश्च जुष्टानि परिवृतानि ॥

२६४—दीव्यमानं शितान् बाणानस्यमानं महा-गदाः ॥

निघ्नानं शात्रवान् रामं कथं त्वं नाऽवगच्छसि. ॥ ८१ ॥

दीव्येत्यादि—शितान्सीक्ष्णान् बाणान् । दीव्यमानं क्षेप्तुं शक्तं तच्छीलं वा ।
अनेकार्थत्वाद्धातूनां दिवेः '३१०९। ताच्छील्य-वयोवचन-। ३।२।१२९।' इत्या-
दिना शानच् । '२०५। दिवादिभ्यः झ्यन् । ३।१।६९।' महागदाः अस्यमानं
क्षेप्तुं शक्तं तच्छीलं वा । पूर्ववच्छानच् । शात्रवान् शत्रून् । प्रज्ञादित्वादण् ।
निघ्नानं हन्तुं शक्तं तच्छीलं वा । पूर्ववत् प्रत्ययः । हन्ते '२६६३। गमहन-
। ६।४।९८।' इत्युपधालोपः । '३५८। हो हन्तेः—। ७।३।५४।' इति कुत्वम् । एवं-
विधं रामं कथं नावगच्छसि । तेन कर्मणा सर्वलोकविदितत्वादिति भावः ॥

२६५—भ्रातरि न्यस्य यातो मां मृगाविन् मृगयामसौ, ॥

एषितुं प्रेषितो यातो मया तस्याऽनु-जो वनम् ॥ ८२ ॥

भ्रातरीत्यादि—यद्येवं कासावित्याह । असौ रामो मां भ्रातरि न्यस्य अर्प-
यित्वा मृगयामाखेटकं यातः । मृगेः स्वार्थिको णिच् । अदन्तत्वाच्च गुणो न
भवति । तदन्तात् '३२७७। कृजः श च । ३।३।१००।' इत्यधिकृत्य 'परिचर्या-परि-
सर्या-मृगयाटाव्यानामुपसंख्यानम्' इति भावे शप्रत्ययः । यक् । अल्लोपाभा-
वश्च । टाप् । मृगान्विध्यतीति मृगावित् । कासौ, आतेति चेदाह । तस्यानुजः
कनिष्ठो मया प्रेषितः सन् यातो वनम् । अनु पश्चाज्जायत इति । '३०११।
अन्येष्वपि दृश्यते । ३।२।१०१।' इति डः । अनौ कर्मयुक्तमकर्मण्यपि भवति ।
किमर्थं । एषितुम् । तमेव ज्ञातुम् । '१२०२। इषं गतौ' इत्यस्य रूपम् । ज्ञाना-
र्थत्वात् । प्रेषित इति तस्यैव रूपम् ॥

२६६—अथाऽऽयस्यन् कषायाऽक्षः

स्यन्न-स्वेद-कणोल्बणः ॥

संदर्शिताऽऽन्तराकृतम्

तामवादीद् दशाननः, ॥ ८३ ॥

अथेत्यादि—अथैवमुक्तो जानक्या दशाननस्तामवादीत् उक्तवान् । आय-
स्वन् क्रोधाविष्टत्वात् शरीरं खेदयन् । ‘२२८७। यस्तु प्रयत्ने’ इति दैवादिकः पर-
सौपदी । क्रोधादेव कषायाक्षः । ‘८५२। बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः—।५।१।११३।’
इति षच् । स्यञ्चैः स्रुतैः स्वेदकणैरुल्लवणः उद्भटः व्यास इत्यर्थः । स्यन्देर्निष्ठायां
रूपम् । संदर्शितमान्तरमन्तर्गतमाकृतमभिप्रायो येन स एवंविधः ॥

२६७—‘कृते कानिष्ठिनेयस्य ज्यैष्ठिनेयं विवासितम् ॥

को नम्र-मुषित-प्रख्यं बहु मन्येत राघवम्. ॥ ८४ ॥

कृत इत्यादि—कनिष्ठाया अपत्यं ज्येष्ठाया अपत्यमिति ‘११२३। स्त्रीभ्यो
ढक् । १।१।१२०।’ । ‘११३१। कल्याण्यादीनामिन्द्र । १।१।१२६।’ तयोः कल्या-
ण्यादिषु पठितत्वात् । कनिष्ठामुतस्य भरतस्य कृते निमित्ते । ज्येष्ठायाः सुतः निरु-
पयोगितया विवासितः विसर्जितः । विपूर्वस्य वसतेर्हेतुमण्यन्तस्य निष्ठायां
रूपम् । तं नम्रमुषितप्रख्यं यथा कश्चिन्मुषितो नम्रो भवति तद्वद् भूतम् ।
‘७२६। पूर्वकाल-।२।१।४९।’ इति सः । तयोः पूर्वापरकालत्वात् । राजदन्तादि-
त्वात्परनिपातः । ईदृशं राघवं को बहु मन्येत श्लाघेत । नैवेत्यर्थः ॥

२६८—राक्षसान् बहु-यज्ञेषु पिण्डी-शूरान् निरस्तवान् ॥

यद्यसौ कूप-माण्डूकि ! तवैतावति कः स्मयः ॥ ८५ ॥

राक्षसानित्यादि—अध्वरेष्विष्टिनामित्यस्योत्तरमाह । यद्यसौ राक्षसान्
पिण्डीशूरान् पिण्ड्यामेव शूरान् भोजने एव शूरान् । ‘७२५। पात्रेसमिताद-
यश्च । २।१।४८।’ इति सः । बहुयज्ञेषु कुत्राह्वयज्ञेषु । निरस्तवान् तिरस्कृतवान् ।
हे कूपमाण्डूकि कूपे माण्डूकीव । पूर्ववत् सः । ‘११२२। ढक् च मण्डू-
कात् । १।१।१९।’ इति चकारादण् वापत्ये । एतावति स्वल्पे वस्तुनि तव कः
स्मयः । नैव युज्यते ॥

मत्पराक्रमे तु युक्तः तत्रापि मम न युक्तं वक्तुमित्याह—

२६९—मत्-पराक्रम-संक्षिप्त-राज्य-भोग-परिच्छदः ॥

युक्तं ममैव किं वक्तुं दरिद्राति यथा हरिः ॥ ८६ ॥

मत्परेत्यादि—राज्यभोगादयः परिच्छदो हस्त्यश्वादिः स मत्पराक्रमे
संक्षिप्तोऽपहतो यस्य हरेरिन्द्रस्य स यथा दरिद्राति निरर्थको भवति तन्ममैव
किं वक्तुं युक्तमात्मगुणवादस्य लज्जाकरत्वात् । दरिद्रातेरादादिकत्वाच्छपो लुक् ॥

२७०—निर-लङ्को वि-मदः स्वामी

धनानां हत-पुष्पकः ॥

अध्यास्ते ऽन्तर्-गिरं यस्मात्,
कस् तन् ना ऽवैति कारणम्. ॥ ८७ ॥

निर्लङ्क इत्यादि—यस्मात्कारणात् धनानां स्वामी धनदः । अन्तर्गिरम-
ध्यास्ते अध्यासितवान् । गिरेः कैलासस्यान्तर्मध्ये । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः ।
'६८३। गिरेश्च सेनकस्य । ५।४।११२।' इति टच् । '५४२। अधि-शीङ्-स्थाऽऽसा-
म्-।१।४।४६।' इति कर्मसंज्ञा । तेन '६५८। तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् । २।४।८४।'
इत्यम्भावो न भवति । '६५७। नाव्ययीभावात्-।२।४।८३।' इत्यमेव भवति ।
तत्कारणं मम पराक्रमं मां वा को नावैति न जानाति । कीदृशः । निर्लङ्कः लङ्का-
तो निष्क्रान्तः । 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति सः । '६५५। एकविभक्ति
च-।१।२।४४।' इत्युपसर्जनसंज्ञायां ह्रस्वत्वम् । हृतपुष्पकः हृतं आच्छिन्नं पुष्प-
काख्यं विमानं यस्य । अत एव विमदोऽपेतदर्पः । लङ्का पुष्पकं च धनदस्यासीत्
तदाच्छित्वा अनेन गृहीतमिति ॥

२७१—भिन्न-नौक इव ध्यायन्
मत्-तो विभ्यद् यमः स्वयम् ॥
कृष्णि-मानं दधानेन
मुखेना ऽऽस्ते निरुद्यतिः. ॥ ८८ ॥

भिन्नेत्यादि—स्वयं साक्षान्मत्तो विभ्यद् तस्यन् यमो वैलक्षण्यात् मुखेन
कृष्णिमानं कृष्णवर्णत्वम् । '१७८७। वर्णदृढादिभ्यः व्यञ्ज । ५।१।१२३।' इति चका-
रादिमनिच् । दधानेन धारयता । इत्थम्भूते तृतीया । निरुद्यतिः निरुद्यमः आस्ते ।
उत्पूर्वाद्यमेः '३२७२। स्त्रियां क्तिन् । ३।३।९४।' अनुनासिकलोपः । कीदृशः ।
ध्यायन् चिन्तयन् । 'किं मामापतितं यदहमनेन हृतसर्वस्वः' इति । भिन्ननौक
इव विपन्नपोतवणिगिव । '८८९। उरःप्रभृतिभ्यः-।५।४।१५१' ॥

एवं स्वपौरुषं प्रदर्श्य स्त्रीकर्तुमाह—

२७२—समुद्रोपत्यका हैमी पर्वताऽधित्यका पुरी ॥
रत्न-पारायणं नाम्ना लङ्केति मम मैथिलि ! ॥ ८९ ॥

समुद्रेत्यादि—हे मैथिलि ! लङ्केति नाम्ना मम पुरी । कीदृशी । समुद्र
एवोपत्यका आसन्ना भूर्यस्याः सा समुद्रोपत्यका । समुद्रस्य पर्वतोपत्यकात्वात् ।
समुद्रौपत्यकेति समास्ते साधुत्वं न भवति । यतः संज्ञाधिकारात् पर्वतस्यासन्ने
अधिरूढे उपाधिभ्यां त्यकन्प्रत्ययान्तयोरुपत्यकाधित्यकाशब्दयोः साधुत्वमुक्तम् ।
प्रतिषेधे त्यकन उपसंख्यानम्' इति '४६३। प्रत्ययस्थात्-।७।३।४४।' इतीकारो न
भवति । हैमी हेमविकारा । '१५३२। प्राणिरजतादिभ्योऽञ् । ४।३।१५४।' पर्व-
ताधित्यका । त्रिकूटपर्वतस्योपरि स्थिता । रत्नपारायणं यत्र रत्नानां पारमवसा-
नमयन्ते बुध्यन्ते तत्परीक्षकाः । सर्वरत्नस्थानमित्यर्थः ॥

दुर्गावस्थितानभिभवनीयतां रत्नोपचयात्समृद्धतां कथयन् प्रलोभयति—

२७३—आवासे सिक्त-संमृष्टे गन्धैस् त्वं लिप्त-वासिता ॥

अर्पितोरु-सुगन्धि-स्रक् तस्यां वस मया सह. ॥ ९० ॥

आवास इत्यादि—तस्यां पुर्यां आवासे गृहे । आवसत्यस्मिन्निति अधिक-रणे घञ् । मया सह त्वं वस । प्रार्थनायां लोट् । सिक्तसंमृष्टे पूर्वं सिक्ते पश्चात्संमृष्टे । गन्धैर्लिप्तवासिता सती पूर्वं लिप्ता चन्दनादिभिर्गन्धैः पश्चाद्वासिता धूपिता । संमृष्टादिभिः '७२६। पूर्वकाल-१२।१।४९।' इत्यादिना सः । अर्पिता न्यस्ता उर्वी महती सुगन्धिस्रक् सुरभिमाला यस्यां सा त्वम् ॥

किमिति त्वया सह वसामीति चेदाह—

२७४—संगच्छ पौष्णि ! स्त्रैणं मां युवानं तरुणी शुभे ! ॥

राघवः प्रोष्य-पापीयान्, जहीहि तम-किं-चनम्. ९१

संगच्छेत्यादि—हे पौष्णि ! पुमांसमर्हति तद्धिता वा । अर्थाय हितायै वा '१०७९। स्त्री-पुंसाभ्यां नञ्-स्त्रीजौ-१।५।१।८७।' स्त्रीप्रत्यये 'नञ्-स्त्रीजौकृ-र्युंस्तरुण-तलुनानामुपसंख्यानम्' इति । मां युवानं तरुणं संगच्छ अङ्गीकुरु । गमेः प्रार्थनायां लोट् । '२४००। इषु-गमि-१७।३।७७।' इत्यादिना छत्वम् । '२६९९। समो गम्युच्छि-१।३।२९।' इत्यादिना तङ् न भवति सकर्मकत्वात् । विशेषतः स्त्रैणं स्त्रियै हितमर्हन्तं वा । पूर्ववत्प्रत्ययः । तरुणी युवती सती शुभे कल्याणि शोभत इति इगुपधलक्षणः कः । ममापि तादृशो भर्तास्तीति चेदाह—राघवः प्रोष्यपापीयानिति । पापशब्दात् '२०२०। विन्मतोर्लुक् १।५।३।६५।' इति ईयसुन् लुक् मनुपः । प्रोष्यपापीयानिति '७५४। मयूरव्यंसकादयश्च १।२।१।७२।' इति सः । देशान्तरं यात्वा पापवत्तरः । तमकिञ्चनं दरिद्रम् । न विद्यते किञ्चन यस्येति । 'सर्वनामाव्ययसंज्ञाया उपसर्जनप्रतिषेधः' इति वचनाच्चाव्ययसंज्ञा । तेन न विभक्तिलोपः । जहीहि त्यज । ईत्वस्य '२४९८। जहातेश्च १।६।१।१६।' इति वा वचनाद्विकल्पः ॥

२७५—अश्रीत-पिबतीयन्ती प्रसिता स्मर-कर्मणि ॥

वशे-कृत्य दश-ग्रीवं मोदस्व वर-मन्दिरे. ॥ ९२ ॥

अश्रीतेत्यादि—अश्रीतपिबतेति '७५४। मयूरव्यंसक-१।२।१।७२।' इत्यादि-त्वात् सः । तत्र हि 'आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये' इति पठ्यते । सततमश्रीत पिबतेत्येवं श्रुत्यजनानादेशुमिच्छतीति '२६५७। सुप आत्मनः क्यच् १।३।१।८।' अश्रीतपिबतीयन्ती । प्रसिता स्मरकर्मणि आधिक्येन प्रवृत्ता कामव्यापारे । '६४१। प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च १।२।३।४१।' इति चकारात् सप्तमी । वशे-कृत्यानुवर्तिनं दशग्रीवं कृत्वा । '७७५। साक्षात्प्रभृतीनि च १।१।३।७४।' इति गतिसंज्ञा । मोदस्व हर्षं जनय । वरमन्दिरे श्रेष्ठगृहे स्थिता ॥

२७६—मा स्म भूर ग्राहिणी भीरु ! गन्तुमुत्साहिनी भव, ॥
उद्भासिनी च भूत्वा मे वक्षःसंमर्दिनी भव.' ॥ ९३ ॥

मा स्मेत्यादि—हे भीरु ! मा स्म भूर्ग्राहिणी प्रतिकूला मा भूः । न यास्या-
मीत्युपमर्थं गृह्णामीति कृत्वा । '२२२०। स्मोत्तरे लङ् च । ३।३।१७६।' इति
चकारात् लुङ् । गन्तुमुत्साहिनी उद्युक्ता भव । '३।१७७। शक-ष्टष-।३।४।६५।' इति
इत्यादिना तुमुन् । उत्साहिनीति सहोपपदत्वात् । ततश्चालंकृतशरीरत्वादुद्भा-
सिनी शोभमाना भूत्वा नो ऽस्माकं वक्षःसंमर्दिनी स्तनाभ्यामुरःस्थलस्य पीडिका
भव । ग्रहोत्साहोद्भाससंमर्दानां ग्रहादिषु पठितत्वात् कर्तरि णिनिः । '३०६।
ऋन्नेभ्यो ङीप् । ३।१।५।' ॥

२७७—तां प्रातिकूलिकीं मत्वा जिहीर्षु भीम-विग्रहः ॥
बाहूपपीडमाश्लिष्य जगाहे द्यां निशा-चरः. ॥ ९४ ॥

तामित्यादि—यदैवमभिधीयमाना न प्रतिपन्ना तदा तां प्रातिकूलिकीं
प्रतिकूलवर्तिनीं मत्वा ज्ञात्वा । 'ओजःसहोम्भसा वर्तते' इत्यधिकृत्य प्रतिकूलं
वर्तते इत्यस्मिन्नर्थे '१५७८। तत्प्रत्यनुपूर्व-।४।४।२८।' इत्यादिना ठक् । जिहीर्षुः
हर्तुमिच्छुः । भीमविग्रहः भीषणशरीरः । दृष्टराक्षसशरीररूपः । सुखेन हियत
इति बाहूपपीडमाश्लिष्य बाहुभिरुपपीड्य । '२३७०। सप्तम्यां चोपपीड-
।३।४।४९।' इति चकारात् तृतीयान्त उपपदे णमुल् । जगाहे रथेनोत्पत्य दामा-
काशं निशाचरी गाहते स्म । दिवशब्दसमानार्थो द्योशब्द औणादिकः । 'गमेडोः'
इत्यत्र द्युतेश्चेति वचनात् । '२८५। औतोऽम्शसोः । ६।१।९३।' इत्यात्वम् ।
कालापिनस्तु दिवशब्दादेव व्युत्पादयितुं सूत्रमधीयते वाम्येति । दिवः अमि
विकल्पेनाकारादेश इति ॥

२७८—त्रस्यन्तीं तां समादाय यतो रात्रि-चराऽऽलयम् ॥
तूष्णीं-भूय भयादासांचक्रिरे मृगपक्षिणः. ॥ ९५ ॥

त्रस्यन्तीमित्यादि—त्रस्यन्तीं च तां तद्रूपदर्शनात् समादाय गृहीत्वा
यतो गच्छतो रावणात् । यातेः शतरि पञ्चम्या रूपम् । किं यातो रात्रिचरालयं
लङ्काम् । रात्रौ चरतीति '२९३०। चरेष्टः । ३।२।१६।' । '१००८। रात्रेः कृति
विभाषा । ६।३।७२।' इति मुम् । तस्माद्वावणाद्यद्भयं ततो भयात् तूष्णीम्भूय ।
'३३८५। तूष्णीमि भुवः । ३।४।६३।' इति '७८५। क्त्वा च । २।२।२२।' इति
समासे ल्यवादेशः । आसांचक्रिरे आसिताः । '२३२४। दयायासश्च । ३।१।
३७।' इत्याम् । मृगपक्षिणः मृगाश्च पक्षिणश्च । समानजातीयानामिति वचना-
देकवद्भावोऽत्र न भवति ॥

२७९—उच्चै रारस्यमानां तां कृपणां राम-लक्ष्मणौ ॥

जटायुः प्राप पक्षीन्द्रः परुषं रावणं वदन्. ॥ ९६ ॥

॥ इति प्रकीर्ण-काण्डः प्रथमः समाप्तः ॥

उच्चैरित्यादि—तां सीतां जटायुः पक्षीन्द्रः । रावणं परुषं निष्टुरं वदन् प्राप प्राप्तवान् । कीदृशीम् । उच्चै रारख्यमानाम् । 'हा राम, हा लक्ष्मण' इति शब्दौ द्वौ उच्चैर्महता ध्वनिना पुनः पुनरसन्तीमित्यर्थः । रसेः शब्दकर्मकत्वात् क्रियासमभिहारे यद् । कृपणां दीनाम् ॥

॥ इति प्रकीर्ण-काण्डम् ॥

॥ अतः परमधिकार-काण्डम् ॥

तत्र प्रथमं टाधिकारः—

इतः परमधिकारकाण्डमुच्यते । यत्र प्राधान्येनैकैकमधिकृत्य लक्षणं प्रदर्शितं तदधिकारकाण्डम् । शेषलक्षणेपु प्रकीर्णकमेव द्रष्टव्यम् । एवं च कृत्वा अन्तरान्तरा तत्सूचनार्थं प्रकीर्णकश्लोकाभिधानम् । अत्र च काण्डे निर्दिष्टसंज्ञकाश्चत्वारः परिच्छेदाः । तत्र प्रथमे आद्यं टप्रत्ययमधिकृत्योच्यते । सर्गार्थस्य विवक्षितस्यापरिसमाप्तत्वात् तमेवाभिसन्धायाह—

२८०—'द्विषन् ! वने-चराऽऽयाणां त्वमादाय-चरो वने ॥

अग्रे-सरो जघन्यानां मा भूः पूर्व-सरो मम. ॥९७॥

द्विषन्नित्यादि—एवं च कृत्वा मिश्रक उच्यते द्वयोरप्यत्र प्राधान्येन विवक्षितत्वात् । परुषं वदन् । कीदृशम् । हे द्विषन् ! मा भूः पूर्वसरो ममेति । ममाग्रतो भूत्वा मा गा इत्यर्थः । पूर्व सरतीति '२९३३। पूर्वे कर्तारि । ३।२।१९।' इति टः । यतस्त्वमग्रेसरो जघन्यानाम् । अग्रेसरतीति '२९३२। पुरोऽग्रतः—। ३।२।१८।' इत्यादिना टः । जघन्य इति '२०५८। शाखादिभ्यो यः । ५।३।१०३।' इतीवार्थे यः । पापानां प्रथमस्त्वम् । कुतः आदायचरो वने । आदाय चरतीति '२९३१। भिक्षा-सेना—। ३।२।१७।' इत्यादिना । वने चरन्तीति वनेचराः । अधिकरणे चरेष्टः । तेषामग्र्याः प्रधाना ऋषयः । तानादाय चरसि भक्षयसि । कर्मणि षष्ठी ॥

२८१—यशस्-कर-समाचारं ख्यातं भुवि दया-करम् ॥

पितुर्वाक्य-करं रामं धिक् त्वां दुन्वन्तर्म-त्रपम् ॥९८॥

यशस्करेत्यादि—रामं दुन्वन्तमुपतापयन्तमत्रपं निर्लज्जं धिक् त्वाम् । गर्हो । '१३३६। दुर्दु उपतापे' इत्यस्य औवादिकस्य शतरि '२३८७। दु-श्रुवोः-सर्वधातुके । ६।४।८७।' इति यणादेशे रूपम् । कीदृशं रामम् । यशस्करसमाचारम् । समाचरणं समाचारः चरितं भावे घञ् । यशस्करोतीति यशस्करः । '२९३४। कृजो हेतु—। ३।२।२०।' इत्यादिना टः । '१३८। विसर्जनीयस्य सः । ८।३।३४।' यशस्करणहेतुभूतः समाचारो यस्य । ख्यातं भुवि प्रसिद्धं दयाकरं करुणाकरणशीलम् । ताच्छील्ये टः । पितुर्वाक्यकरं पितुर्वचनानुष्ठाने अनुकूलम् । आनुलोम्ये टः ॥

२८२—अहमन्त-करो नूनं ध्वान्तस्यैव दिवा-करः ॥

तव राक्षस ! रामस्य नेयः कर्म-करोपमः ॥ ९९ ॥

अहमित्यादि—हे राक्षस ! अहं तव नूनमवश्यमन्तकरोः विनाशयिता । कीदृशः । रामस्य नेयो वश्यः । ‘२८४२। अचो यत् । ३। १। ९७।’ कर्मकरोपमः भृतकतुल्यः । ‘२९३६। कर्मणि भृतौ । ३। २। २२।’ इति टः । ध्वान्तस्येव दिवा-करः । यथान्धकारस्यान्तकरो दिवाकरः सूर्यः तथा । अन्तकरदिवाकरौ ‘२९३५-दिवा-विभा-। ३। २। २१।’ इति टप्रत्ययान्तौ । एवमुक्त्वा खं पपातेति सम्बन्धः ॥

२८३—सतामरुष्-करं पक्षी वैर-कारं नराऽशिनम् ॥

हन्तुं कलह-कारोऽसौ शब्द-कारः पपात खम् ॥ १०० ॥

सतामित्यादि—एवमुक्त्वा असौ जटायुः पक्षी खमाकाशं पपात पतितः । किमर्थं नराशिनं राक्षसं हन्तुं हनिष्यामीति । कीदृशं राक्षसम् । सतामरुष्करं धर्मे स्थितानां पीडाकरम् । अरुःशब्दः पीडोपलक्षणपरः । ‘२९३५। दिवा-वि-भा-। ३। २। २१।’ इति टः । वैरकारं वैरकरणशीलम् । कलहकारः पक्षी कलहयितुमनुकूलः । अनयोः ‘२९३७। न शब्द-श्लोक-। ३। २। २३।’ इति टे प्रतिषिद्धेऽणोर्भवति । कर्मण्यणः प्राप्तिरस्तीति टाधिकार उदाहृतः । कियत्त्वं पपात । यावति दूरे शब्दपातस्तावत्त्वमिति ॥

॥ टाधिकारः समाप्तः ॥

अतः परं प्रकीर्णकाः ।

इतः प्रकीर्णकश्लोकानाह—

२८४—धुन्वन् सर्व-पथीनं खे वितानं पक्षयोरसौ ॥

मांस-शोणित-संदर्शं तुण्ड-घातमयुध्यत ॥ १०१ ॥

धुन्वन्नित्यादि—असौ पक्षी अयुध्यत युध्यते स्म । युधेदैवादिकस्य लङि रूपम् । तुण्डघातमिति क्रियाविशेषणम् । तुण्डेन चञ्चवा घातो हननं यस्मिन् युद्ध इति । ‘३४५८। करणे हनः । ३। ४। ३७।’ इति न णमुल्ल ‘३३६७। कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः । ३। ४। ४६।’ इति वचनात् अहिंसार्थत्वाच्च तदारम्भस्य यथा पादघातं भूमिं हन्तीति । ‘३३६८। हिंसार्थानां च समानकर्मकाणाम् । ३। ४। ४८।’ इत्यनेनापि न भवति समानकर्मकताभावात् । अकर्मकत्वाद्युधेः । तेन भावे घञ् । धुन्वन् कम्पयन् खे आकाशे पक्षयोर्वितानम् । सर्वपथीनं सर्वः पन्था इति ‘७२७। पूर्वकाल-। २। १। ४९।’ इत्यादिना सः । ‘९४०। ऋक्-पू-। ५। ४। ७४।’ इति समासान्तोऽकारः । सर्वपथान् व्याप्नोतीति ‘१८०८। तत्सर्वादेः-। ५। २। ७।’ इत्यादिना खः । मांसशोणितसन्दर्शं कारुर्येन मांसं शोणितं च दृष्ट्वा । ‘३३५०। कर्मणि दृशि-विदोः साकल्ये । ३। ४। २९।’ इति णमुल्ल । ‘७८३। अमै-वाव्ययेन । २। २। २०।’ इति सः ॥

२८५—न विभाय, न जिहाय, न चक्काम, न विव्यथे ॥

आघ्नानो विध्यमानो वा रणान् निववृते न च ॥१०२॥

नेत्यादि—आघ्नानः पक्षी प्रहरन् । ‘२६९५’ आढो यमहनः । ११३।२०।
इति तद् । न विभाय न भीतः । तस्मान्न जिहाय न लज्जितः । सम्यङ् मया
न हत इति न चक्काम न क्लान्तः । न विव्यथे । ‘२३५३’ व्यथो लिटि । ७।४।
६८।’ इति सम्प्रसारणम् । जितश्रमत्वात् । विध्यमानो वा । वाशब्दश्चार्थे ।
परेण हन्यमानश्च न विव्यथे न पीडां भेजे । सत्त्वाधिकत्वात् । रणाच्च न निव-
वृते न निवृत्तः । अभघ्नोत्साहत्वात् ॥

२८६—पिशाच-मुख-धौरेयं स-च्छत्र-कवचं रथम् ॥

युधि कद्-रथ-वद् भीमं बभञ्ज ध्वज-शालिनम् १०३

पिशाचेत्यादि—युधि संग्रामे पक्षी रथं बभञ्ज भगवान् । तस्य पुष्पका-
दन्यत्वात् । तथा हि कद्ग्रथवत् कुत्सितरथमिव । ‘१०२८। रथ-वदयोश्च । ६।३।
१०२।’ इति कदादेशः । धुरं वहन्ति धौरेया अश्वाः । ‘१६२८। धरो यङ्कुः
। ४।४।७७।’ पिशाचस्येव मुखं येषां ते धौरेया यत्र रथे तं पिशाचमुखधौरेयम् ।
सच्छोभनं छत्रं कवचं च यस्मिन् । तं भीमं भयानकं तथा धुर्यत्वात् । ध्वज-
शालिनं ध्वजवन्तम् । शालिन्शब्दः किन्प्रत्ययान्तस्तद्वन्तमाह । अन्यस्त्वाह
ध्वजेन शालितुं श्लाघयितुं शीलमस्येति णिनिः । अनेकार्थत्वाद्धातूनामिति ॥
एते प्रकीर्णकाः ॥

अतः परं आमधिकारः ।

इतः प्रभृत्याममधिकृत्याह—

२८७—सन्त्रासयांचकाराऽरिं, सुरान् पिप्राय पश्यतः, ॥

स त्याजयांचकाराऽरिं सीतां विंशति-बाहुना ॥१०४॥

सन्त्रासयामित्यादि—अथैतस्मिन् युद्धप्रस्तावे स पक्षी सीतां विंशतिबा-
हुना रावणेन त्याजयांचकार त्याजितवान् । गत्यादिषु त्यजेरसंग्रहात् तृतीयैव
भवति । कस्मात्त्याजितवानित्याह । सन्त्रासयांचकारारिं यस्मादरिं रावणं
त्रासितवान् । अकर्मकत्वात् त्रासेर्ण्यन्तावस्थायामरेः कर्मत्वम् । आभ्यां
हेतुमण्यन्ताभ्याम् ‘२३०६। कास्प्रत्ययात्-३।१।३५।’ इत्यादिना आम् । आमो-
ऽमित्वमदन्तत्वात् । ‘२२३८। आमः । २।४।८१।’ इति लुक् । ‘२३११। अया-
मन्त-६।४।५५।’ इत्यादिना अयादेशः । आमकारान्तस्य कृत्संज्ञायां प्रातिपदि-
कत्वे प्रथमैकवचनम् । तस्य ‘४५२। अव्ययात्-२।४।८२।’ इति लुक् । स्वरादिषु
‘अम् आम्’ इति पठितत्वाद्ध्ययत्वम् । आमन्तस्यानभिव्यक्तपदार्थत्वात् ‘२२-
३९। कृञ्ानुप्रयुज्यते-१३।१।४०।’ इत्यादिना लिट्परस्य कृञोऽनुप्रयोगः । कर्त्र-

मिप्रायाभावाभावेऽनुप्रयोगे तद् न भवति । सुरांश्च पश्यतो युद्धं जटायुः पिप्राय
ग्रीणितवान् । शत्रुनासनं सीतात्याजनं च देवानां प्रीतेः कारणम् ॥

२८८—अ-सीतो रावणः कासांचक्रे शस्त्रैर् निराकुलः, ॥

भूयस् तं भेदिकांचक्रे नख-तुण्डाऽऽयुधः ख-गः. १०५

असीत इत्यादि—असीतः परित्यक्तसीतो रावणः आकाशस्थः कासांचक्रे
कुत्सितमभिहितवान् । एह्येहीति विहगाधिपेति । ‘६६६। कास्त्वं शब्दकुत्सायाम्’
इत्यनुदात्तेत् । ‘२३८६। कास्-१३।१।३५।’ इत्यादिना आम् । शस्त्रैः । इत्थ-
म्भूते तृतीया । निराकुलः पूर्वं बाहुभिः सीताग्रहणे व्याकुलत्वात् । भूयः पुन-
रपि । खगः पक्षी । उपकरणे ‘३०११। अन्येष्वपि दृश्यते । ३।२।१०१।’ इति
वचनात् गमेडः । तं निशाचरं वेमिदांचक्रे अत्यर्थं भिन्नवान् । वेमिद्यतेर्यङ-
न्तादात् । नख-तुण्डान्येवायुधानि यस्य ॥

२८९—हन्तुं क्रोध-वशादीहांचक्राते तौ परस्परम्, ॥

न वा पलायांचक्रे विरू दयांचक्रे न राक्षसः. ॥ १०६ ॥

हन्तुमित्यादि—तौ पक्षि-रावणौ क्रोधवशात् क्रोधाधीनतया परस्परम-
न्योन्यं हन्तुमीहांचक्राते चेष्टां कृतवन्तौ । ‘२२३७। इजादेः—१३।१।३६।’ इत्या-
दिना आम् । विः पक्षी । जनि-वसिभ्यामित्यधिकृत्य ‘वेजो ङिच्च’ इत्यौणादिक
इङ् । न वा नैव । वाशब्द एवार्थे । पलायांचक्रे पलायितः । ‘२३२६। उपसर्ग-
स्यायतौ । ८।२।१९।’ इति लत्वम् । राक्षसश्च न दयांचक्रे न दयतेस्म ।
पक्षिणं खल्वहं कथं व्यापादयामीति । उभयत्रापि ‘२३२४। दयायासश्च ।
१३।१।३७।’ इत्याम् ॥

२९०—उपासांचक्रिरे द्रष्टुं देव-गन्धर्व-किन्नराः, ॥

छलेन पक्षौ लोलूयांचक्रे क्रव्यात् पतत्रिणः. ॥ १०७ ॥

उपेत्यादि—देवगन्धर्वकिन्नरा द्रष्टुं युद्धं द्रक्ष्याम इति उपासांचक्रिरे
उपगताः । पूर्ववदाम् । क्रव्याद् रावणः । क्रव्यं मांसमस्तीति क्रव्यात् । ‘२९७७।
अदोऽनन्ने । १३।२।६८।’ इति विट् । पतत्रिणः पक्षिणः पक्षौ लोलूयांचक्रे अत्यर्थं
लूतवान् । यङ्प्रत्ययान्तत्वादात् । छलेन मायया प्रसह्य जेतुं न शक्यत इति ।
भल्लेनेति पाठान्तरम् ॥

१२० भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे षष्ठो वर्गः,

२९१-प्रलुठितमवनौ विलोक्य कृतं

दश-वदनः स्व-चरोत्तमं प्रहृष्यन् ॥

रथ-वरमधिरुह्य भीम-धुर्यं

स्व-पुरमगात् परिगृह्य राम-कान्ताम् ॥१०८॥

प्रलुठितमित्यादि—स्वचराः पक्षिणः । खे चरन्तीति अधिकरणे ‘२९३०। चरेष्टः । १३।२।१६।’ तेषामुत्तमं जटायुं कृतं छिन्नं हतपक्षत्वात् । अवनौ भुवि प्रलुठितं विलोक्य प्रहृष्यन् हर्षं प्राप्नुवन् विवृत्तो विघ्नकारीति दशाननो रथवरं स्मरणात् प्राप्तं पुष्पकाख्यमारुह्य भीमधुर्यं रामकान्तां सीतां तथैव परिगृह्य स्वपुरमगात् गतवान् ॥

इति श्री-जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते श्री-भट्टिकाव्ये-
द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे पञ्चमः परिच्छेदः (वर्गः)
तथा लक्ष्य-रूपे कथानके सीता-हरणः श्री-राम-प्रवासो
नाम पञ्चमः सर्गः पर्यवसितः ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः—

अत्राधिकारस्यापरिसमाप्तत्वात्तमेवाममधिकृत्याह—

२९२-ओषांचकार कामाऽग्निर् दश-वक्रमहर-निशम् ॥

विदांचकार वैदेहीं रामादन्य-निरुत्सुकाम् ॥ १ ॥

ओषांचकारेत्यादि—अथशब्दो वक्ष्यमाणतृतीयश्लोके यः सोऽत्र दृष्टव्यः । अथ तस्मिन् सीतपरिग्रहे जाते कामाग्निः कामोऽग्निरिव दशवक्रं दशाननमो-
षांचकार दंदाह । ‘७४६। उषं दाहे’ । ‘२३४१। उष-विद-१३।१।३८।’ इत्याम् ।
अहर्निशं अहश्च-निशा च । ‘सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद्भवति’ इत्येकवद्भावात् ।
‘५५८। कालाध्वनोऽस्त्यन्तसंयोगे । २।३।५।’ इति द्वितीया । अह्नो नकारस्य
‘१७२। रो ऽसुपि । ८।२।६९।’ इति रत्वम् । कस्माद्दाह इत्याह । रावणो
वैदेहीमन्यनिरुत्सुकां रामादन्यस्मिन् सर्वत्र निरभिलाषां विदांचकार अगुणत्वं
विदेत्येवेति विदेरकारान्तनिपातनात् गुणाभावः ॥

१९३-प्रजागरांचकारारेरीहास्वनिशमादरात्, ॥

प्रविभयांचकाराऽसौ काकुत्स्थादभिशङ्कितः ॥ २ ॥

प्रजागरांचकारेत्यादि—अरे रामस्य ईहासु चेष्टासु । ‘३२८०। गुरोश्च-
१३।३।१०३।’ इत्यकारः । आदरादादरेण प्रजागरांचकार जागरितवान् । शत्रुवि-

१—(१८२) श्लोकसं दीकनं प्रेक्ष्यम् ।

कीर्षितज्ञानपरो बभूवेत्यर्थः । पूर्ववदाम् । अनिशम् अविच्छेदेन । (अनिशमिति निशक्रियाविच्छेदो नास्ति यस्मिन् प्रजागरण इति । निशेति क्रियाविच्छेदोपलक्षणम् । प्रायेण हि निशायां क्रियाणामप्रवर्तनम् ।) किमिति जागरितवानित्याह । काकुत्स्थादसौ प्रविभयांचकार प्रभीतवान् । '२४९१। भी ही-१३।१३९।' इत्यादिनाम् । श्लुवत्कार्ये धातोर्गुणायादेशौ । अभिशङ्कितः किमयं करिष्यतीति ॥

२९४—न जिह्यांचकारां ऽथ सीतामभ्यर्थ्य तर्जितः ॥

नाप्यूर्जा विभरामास वैदेह्यां प्रसितो भृशम् ॥ ३ ॥

न जिह्यांचकारेत्यादि—सीतामभ्यर्थ्य याचित्वा न जिह्यांचकार न लजितः । तर्जितः भर्त्सितोऽपि तथैवेत्यर्थात् । नाप्यूर्जा बलं विभरामास धारितवान् । '२२३९। कृञ्-१३।१।४०।' इति प्रत्याहारग्रहणादस्तेरप्यनुप्रयोगः । द्वीधातोर्गुणायादेशौ । '११६२। डुभृञ् धारणपोषणयोः' उभयत्रापि पूर्ववदाम् श्लुवच्च । कथं न धारितवान् इत्याह । वैदेह्यां प्रसितः प्रसक्तः । भृशमत्यर्थम् ॥

२९५—विदांकुर्वन्तु रामस्य वृत्तमित्यवदत् स्वकान् ॥

रक्षांसि रक्षितुं सीतामांशिषच्च च प्रयत्नवान् ॥ ४ ॥

विदांकुर्वन्वित्यादि—स्वकानात्मीयान् शुकसारणादीन् अवददुक्तवान् । किमित्याह—रामस्य वृत्तमनुष्ठितं किं तस्येहागन्तुमुद्यमोऽस्ति न वेति विदांकुर्वन्तु । '२४६५। विदांकुर्वन्वित्यन्यतरस्याम् । ३।१।४१।' इति निपातितम् । सीतां रक्षितुं रक्षांसि आशिषदादिष्टवान् । शासः '२३८२। सर्ति-१३।१।५६।' इत्यङ् । '२४८६। शास इदङ्ङ्लोः । ६।४।३४।' इति शासेरुपधाया इत्वं '२४१०। शासि-वसि-१८।३।६०।' इति षत्वम् । प्रयत्नवान् प्रयत्नमात्रम् । आशुभकारो गतः ॥

अथ प्रकीर्णकाः—

अथ प्रकीर्णश्लोकानाह—

२९६—रामोऽपि हत-मारीचो निवर्त्यन् खर-नादिनः ॥

क्रोष्टून् समशृणोत् क्रूरान् रसतो ऽशुभ-शंसिनः ॥ ५ ॥

राम इत्यादि—हतमारीचो रामोऽपि निवर्त्यन् प्रत्यागमिष्यन् । वलादिलक्षण इति प्राप्ते '२३४८ । न वृद्धः-१।७।२।५९।' इतीप्तिनषेधः । क्रोष्टून् शृगालान् । रसतः शब्दायमानान् । समशृणोत् संश्रुतवान् । सकर्मकत्वात् । '२६-९९। समो गम्यृच्छि-१।१।३।२९।' इत्यात्मनेपदं न भवति । लङि रूपम् । क्रूरान् भीषणान् । यतः खरनादिनः खरवन्नदन्ति । '२९८९ । कर्तरि-१।३।२।७९।' इति णिनिः । अशुभशंसिनः अनिष्टसूचनशीलान् ॥

१२२ भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

२९७—आशङ्कमानो वैदेहीं खादितां निहतां मृताम् ॥
स शत्रु-घ्नस्य सोदर्य दूरादायान्तमैक्षत. ॥ ६ ॥

आशङ्कमान इत्यादि—तथाविधाशुभश्रवणादाशङ्कमानो वितर्कयन् वैदेहीं किं खादितां निशाचरादिना । ततः निहतां त्यक्तप्राणाम् । आहो स्वयमेवायुःक्षयान्मृतां वा । स रामः शत्रुघ्नस्य सोदर्य आतुरम् । '१६६०। सोदराद्यः । १४१-१०९।' आयान्तमागच्छन्तमारदैक्षत दृष्टवान् । ईश्लेर्लङि रूपम् ॥

२९८—सीतां सौमित्रिणा त्यक्तां सध्रीचीं त्रस्तुमैकिकाम् ॥
विज्ञायां ऽमंस्त काकुत्स्थः—'क्षये क्षेमं सु-दुर्लभम्.' ७

सीतामित्यादि—सौमित्रिरेकाकिनो दृष्ट्वान्नियतमनेन त्यक्तेति तां विज्ञाय ज्ञात्वा काकुत्स्थो रामः । क्षये गृहे । क्षीयतेऽस्मिन्निति अधिकरणेऽच् । क्षेमं कल्याणम् । सुदुर्लभं सुदुःखेन लभ्यत इति । '३३०५। ईषद्-। ३। ३। १२६।' इत्यादिना खल । अमंस्त ज्ञातवान् । कथं क्षये क्षेमं सुदुर्लभमिति आह-सध्रीचीं सहचारिणीं न कचिदेकाकिनीं तिष्ठन्तीम् । सहाञ्जतीति '३७३। ऋत्विग्-। ३। २। ५९।' इत्यादिना किन् । '४२२। सहस्य सन्निः । ६। ३। ९५।' इत्यञ्जतौ वप्रत्यये सहस्य सञ्ज्ञादेशः । 'अञ्जतेश्चोपसंख्यानम्' इति ङीप् । '४१६। अचः । ६। ४। १३८।' इत्यकारलोपः । '४१७। चौ । ६। ३। १३८।' इति दीर्घः । कुतः त्रस्तुं त्रसनशीलाम् । क्रियाशब्दत्वादूह न भवति । एकिकां लक्ष्मणेन त्यक्तत्वात् । '१९९८। एकादाकिनिश्चासहाये । ५। ३। ५२।' इति चकारात्क्त् । '४६३। प्रत्यय-स्यात्-। ७। ३। ४४।' इतीत्वम् ॥ ॥ एते प्रकीर्णकाः ॥

अतः परं दुहादिः—

इतो द्विकर्माधिकारः—

२९९—सोऽपृच्छत् लक्ष्मणं सीतां याचमानः शिवं सुरान्, ॥
रामं यथास्थितं सर्वं भ्राता ब्रूते स्म विह्वलः ॥ ८ ॥

सोऽपृच्छदित्यादि—'५३९। अकथितं च । १। ४। ५३।' इत्यत्र दुहिया-चीत्यादिश्लोकैस्थान् धातुं प्रयुङ्क्ते कविः । तत्र रामोऽपृच्छत् सीतामिति प्रधानं कर्म । लक्ष्मणमित्यकथितं कर्म । याचमानः प्रार्थयमानः । शिवं कल्याणम् । अर्थात् सीतायाः शिवं प्रधानं कर्म सुरान् देवान् इत्यकथितं कर्म । भ्राता लक्ष्मणः सर्वं यथावत् स्थितं ब्रूते स्म उक्तवान् । सर्वमिति प्रधानं कर्म राममित्यकथितम् ॥

१—'५९७। समानोदर्य-सोदर्य-सगर्भ्य—सहजाः समाः ।' इति ना० अ० ।

२—'१३५४। निलयाऽपचयौ क्षयौ ।' इति ना० अ० ।

३—दुह-याच-पच्-दण्ड-रधि-प्रच्छि-वि-व-शासु-वि-मथ-मुषाम् । कर्म-युक् स्वाद-कथितं तथा स्थान् नी-द-कृष-बहाम् ॥ १ ॥

३००—संहृद्य शरणं शून्यं भिक्षमाणो वनं प्रियाम् ॥

प्राणान् दुहन्निवा ऽऽत्मानं शोकं चित्तमवारुधत् ९

संहृद्येत्यादि—रामः शरणं गृहं शून्यं संहृद्य दृष्ट्वा । शोकं चित्तमवारुधत् चित्तं शोकं प्रावेशयत् । कीदृशः । प्रियां जानकीं वनं भिक्षमाणः । प्राणान् दुहन्निव त्यजन्निव । प्राणानिति प्रधानं कर्म आत्मानमित्यकथितम् । आत्मनः प्राणान् त्यजन्निव ॥

३०१—‘गता स्यादवचिन्वाना कुसुमान्याश्रम-द्रुमान् ॥

आ यत्र तापसान् धर्मं सुतीक्ष्णः शास्ति, तत्र सा. १०

गतेत्यादि—यत्र यस्मिंस्तपोवने सुतीक्ष्णो नाम ऋषिः धर्मं शास्ति शिक्षयति । धर्ममिति प्रधानं कर्म तापसानित्यकथितम् । तत्र तपोवने गता स्यात् । सम्भावने लिङ् । आकारो निपातः स्मरणे । किं कुर्वती । कुसुमान्यवचिन्वाना । कुसुमानीति प्रधानं कर्म आश्रमद्रुमानित्यकथितम् । अवचिन्वानेति चिन्तोतेः कर्त्रभिप्राये तद् । दुह्यादिदण्डको गतः ॥

इति दुहादिर्द्विकर्मकः ।

अतः परं प्रकीर्णकाः—

प्रकीर्णकानाह—

३०२—आः, कष्टं, वत, ही-चित्रं, हूं, मातर, दैवतानि धिक्,
हा पितः !, कां ऽसि हे सु-भ्रु !, बह्वैवं विललाप सः,

आः कष्टमित्यादि—शोकेनाक्रान्तमना विलपन्नाह—आः पीडयाम् । पितृवियोगपीडितः आः इत्याह । अस्मद्वियोगेन पिता प्राणांस्त्यक्तवानित्यभिप्रायः । कष्टमित्याह । कष्टं कृच्छ्रम् । भर्तुमरणादस्मद्वियोगाच्च मातुः कावस्थेत्यभिप्रायेणाह वत इति । वतशब्दः खेदे । सौमित्रिरपि तथा सीतया अन्यादृशः सम्भावित इति विस्मितो हीत्याह । हीशब्दो विस्मये । यदि नाम स्त्रिया मूर्खेतया तथासिहितं सौमित्रिणा विदुषा कथं तादृशः शापो दत्त इत्यभिप्रायेणाह चित्रमिति । चित्रमाश्चर्यं । तदेवंविधोऽपि स्वलतीति । सर्वमेव तुर्जातं कैकेयीप्रभवमिति कुध्यन् हूं मातरित्याह । हूंशब्दः क्रोधे । अथवा सर्वमेतत् दैवचेष्टितं न ममानुष्ठितमित्यभिप्रायेणाह धिग्दैवतानीति । धिक् कुत्सायाम् । प्राणांस्त्यक्तवन्तमपि पितरं पुनरहं द्रष्टास्मीत्यभिप्रायेणाह । हा पितः क्व द्रष्टव्योऽसीति । हा शोके । हे सीते क्व गतासीति । ब्रूशब्दात् ‘अप्राणिजातेः’ इत्यादिनोङ् । उवर्णान्तमात्रस्य विधानाद्बहुव्रीहिः । उपसर्जनत्वं च । पुनः स्त्रियामूङ् । ‘७५। अन्तादिवच्च । ६। १। ८५।’ इति पूर्वं प्रत्यन्तवत्त्वात् प्रातिपदि-

१२४ भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

कत्वम् । अतः सम्बुद्धौ ह्रस्वत्वम् । विललाप स एवं कृत्वा बह्वनेकप्रकारं विलापं कृतवान् ॥

३०३—इहाऽऽसिष्टाऽशयिष्टेह सा, स-खेलमितोऽगमत्, ॥

अग्लासीत् संस्मरन्नित्यं मैथिल्या भरताऽग्रजः ॥ १२ ॥

इहेत्यादि—इह प्रदेशे आसिष्ट उपविष्टा । '१९५८। इदमो हः । १५। ११।' '१९४९। इदम इश । १५। १। १।' इह । अशयिष्ट शयितवती । आसेः शीङश्च लुङ् । सखेलं सलीलम् । इतः प्रदेशादगमत् गतवती इत्यमेवं प्रकारम् । मैथिल्याः स्मरन् । '६१३। अधीगर्थ-२। ३। ५२।' इति कर्मणि षष्ठी । भरता-ग्रजो रामोऽग्लासीत् ग्लानिं गतः । ग्लायतेलुङ् । '२३७७। यम-रम-१। ७। २। ७३।' इति सगितौ ॥

३०४—इदं नक्तं-तनं दाम पौष्पमैतद् दिवा-तनम्, ॥

शुचैर्वौद्ध्यं शाखायां प्रग्लायति तथा विना, ॥ १३ ॥

इदमित्यादि—नक्तंतनं निशाभवं इदं दाम पुष्पमाला पुनर्दिवातनं दिवस-भवम् । '१३९१। सायम्-१। ४। ३। २३।' इत्यादिना व्युत्प्लौ तुद् च । पौष्पं पुष्पाणामिति तस्येदमित्यण् । शुचैव शोकेनेव । सम्पदादित्वात्किप् । शाखाया-मुद्ध्व्य । आत्मानमित्यर्थात् । प्रग्लायति ग्लानिं गच्छति । ग्लायतेः शिलाया-देशः । शाखायां प्रलम्बमानं ग्लानिं गच्छन्तं वीक्ष्येदमुपेक्षितम् । कुतः शोका-त्तया विना सीताविच्छेदेन ॥

३०५—ऐक्षिष्महि मुहुः सुसां यां मृताऽऽशङ्कया वयम्, ॥

अ-काले दुर्मरमहो, यज् जीवामस् तथा विना, ॥ १४ ॥

ऐक्षिष्महीत्यादि—यां वयमैक्षिष्महि ईक्षितवन्तः । ईक्षेः सेटो लुङ् । मुहुः सुसां अविच्छिन्ननिद्रत्वात् । मृताशङ्कयेति अनिष्टशंसित्वात् प्रियजनहृदयस्य इदानीं तथा विना अहो वयं यज्जीवामस्तदकाले दुर्मरणमिति विललाप । जीवि-तस्यापूर्णकाले दुःखेन मरणमिति भावे खल्व् ॥

३०६—अ-क्षेमः परिहासोऽयं परीक्षां मा कृथा मम, ॥

मत्तो माऽन्तर्धिथाः सीते ! मा रंस्था जीवितेन नः, ॥

अक्षेम इत्यादि—परिहसनं परिहासः क्रीडा । अक्षेमो न कल्याणकरः । मम परीक्षां किं मामपश्यन् दुःखित आस्ते न वेति मा कृथाः मा कार्षीः अपि तु दर्शयात्मानम् मा निलीयस्व । '२३६८। उश्च । १। २। १। २।' इति कित्वाडुणा-भावः । '२३६९। ह्रस्वादङ्गात् । ८। २। २७।' इति सिचो लोपः । तस्माद्धेतोः सीते मान्तर्धिथाः । अन्तर्हिता मा भूः । '५९१। अन्तर्धौ-१। १। ४। २८।' इत्यपादानसं-ज्ञायां 'पञ्चम्यास्तसिः' । '१३७३। प्रत्ययोत्तरपदयोश्च । ७। २। ९८।' इति मदा-देशः । लुङि '२३८९। स्था-व्वोरिच्च । १। २। १। ७।' इति सिचः कित्त्वमित्त्वं च ।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके सुग्रीवाऽभिषेको नाम षष्ठः सर्गः— १२५

‘२३६९। ह्रस्वात्-।८।२।२७।’ इति सिचो लोपः । नोऽस्माकं जीवितेन मा रंस्थाः क्रीडां मा कार्षीः । रमेरात्मनेपदित्वात्तद्ध ॥ एते प्रकीर्णकाः ॥

अतःपरं सिजधिकारः—

सिचं सापवादमधिकृत्याह—

३०७—अहं न्यवधिषं भीमं राक्षसं क्रूर-विक्रमम्, ॥

मा घुक्षः पत्युरात्मानं, मा न श्लिक्षः प्रियं प्रिये. १६

अहमित्यादि—यतोऽहं राक्षसं मारीचं क्रूरविक्रमं भीमं भयानकं न्यव-
धिषं निहतवानस्मि । हन्तेः ‘२४३४। लुङि च ।२।४।४३।’ इति वधादेशः ।
अदन्तत्वाद्वृद्धभावः । तस्मान्मा घुक्षः न गोपय पत्युरात्मानम् । अन्तर्धावित्य-
पादानत्वम् । ‘२५५। ख्यत्यात्परस्य ।६।१।११२।’ इत्युत्वम् । गुहेः ‘२३३६। शल
इगुपधादनिटः क्सः ।३।१।४५।’ । ‘३२४ । हो ङः ।८।२।३१।’ भवभाव-कत्व-
त्वाति । सिपश्च विसर्जनीयः । मा न श्लिक्षः मा न परिरब्धाः अपितु श्लिष्य
प्रियं माम् । हे प्रिये । ‘२५१४। श्लिष आलिङ्गने ।३।१।४६।’ इति क्सः ॥

३०८—मा स्म द्राक्षीर् मृषा दोषं, भक्तं मां मातिचिक्लिशः, ॥

शैलं न्यशिथ्रियद् वामा, नदीं नु प्रत्यदुद्रुवत्. ॥१७॥

मा स्मेत्यादि—मृषा दोषं व्यलीकं दोषं मा द्राक्षीः । मयीत्यर्थात् ‘२२२०।
स्रोत्तरे लङ् च ।३।३।१७६।’ इति चकाराद्भुङ् । ‘२३३६। शल इगुपधात्-।३।१।
४५।’ इति क्सस्य ‘२४०७ न द्वाः ।३।२।४७।’ इति निषेधः । ‘२२६९। हरितो
वा ।३।१।५७।’ इत्यङभावे सिच् । ‘२४०५। सृजि-द्वाः-।६।१।५८।’ इत्यम् ।
हलन्तलक्षणा वृद्धिः । ‘२९४। व्रश्च-।८।२।३६।’ इत्यादिना षत्वम् । यतोऽहं
भक्तस्ततो मां भक्तं मातिचिक्लिशः नातिक्लेशय । क्लिशेर्ण्यन्तात् सिपि । ‘२३१२।
णि-ञि-।३।१।४८।’ इत्यादिना चङ् । णिलोप-ह्रस्व-द्विवचनानि । पुनर्विकल्पय-
ब्राह्म । मयि दोषदर्शनाद्वामा मत्प्रतिकूलवर्तिनी सती शैलं नु पर्वतं कमप्यशि-
थ्रियदाश्रिता उत नदीं प्रत्यदुद्रुवत् प्रतिगतेत्यर्थः । नुशब्दो वितर्कं । पूर्ववच्चङ् ॥

३०९—ए वाचं देहि. धैर्यं नस् तव हेतोरसुस्रुवत्. ॥

त्वं नो मतिमिवाऽधासीर् नष्टा, प्राणान्निवाऽदधः.

ए वाचमित्यादि—ऐशब्दो निपातोऽभिमुखीकरणे वर्तते । वाचं देहि ।
प्रार्थनायां लोट् । ‘२४७१। ध्वसोरेद्धौ-।६।४।११९।’ इत्येत्वम् । किमिति चेदा-
ह । धैर्यं नोऽस्माकं धीरता तव हेतोरसुस्रुवत् गलितम् । नष्टा अदर्शनं गता
सती त्वं नोऽस्माकं मतिं बुद्धिमधासीरिव पीतवतीव । बुद्धेरपगमात् । ‘२३७५।
विभाषा धेद-इव्योः ।३।१।४९।’ इति यदा न चङ् तदा ‘२३७७। यम-रम-
।७।२।७३।’ इति समिटौ । प्राणानदधः पीतवती । कायस्याचेष्टत्वात् । चङि
रूपम् । ‘२३८२। आतो लोपः ।६।४।६४।’ ॥

३१०—रुदतो ऽशिश्वयच् चक्षु-

रास्यं हेतोस् तवा ऽश्वयीत्, ॥

म्रिये ऽहं, मां निरास्थश् चेन्,

मा न वोचश् चिकीर्षितम्, ॥ १९ ॥

रुदत् इत्यादि—तवार्यं त्वां पश्यामीति रुदतो मम चक्षुरशिश्वयत् उच्छ्व-
नम् । आस्यं मुखं चाश्वयीत् । '२३७५। विभाषा घेद्-इव्योः । ३। १। ४९।' इति
चङ्-सिचौ । चङीयङ् । '२२९९। ह्यन्त-। ७। २। ५।' इति न वृद्धिः । '२२६६।
इट ईटि । ८। २। २८।' इति सिचो लोपः । गुणायादेशौ । मां निरास्थश्चेद्यदि मम
दर्शनं निरस्तवती त्वं तदा म्रियेऽहम् । '२५३८। म्रियतेर्लुङ्लिटोश्च । १। ३। ६१।' इति
चकाराच्छित्वात्मनेपदम् '२३६७। रिङ्-ञ-यङ्-। ७। ४। २८।' इति रिङ् । अतो
यस्त्वया चिकीर्षितं कर्तुमिष्टं तन्मा नावोचः मा नाभाषिष्ठाः अपि तु ब्रूहि ।
'२४३८। अत्यति-वक्ति-। ३। १। ५२।' इत्यङ् । '२४५४। वच उम् । ७। ४। २०।' ॥

३११—लक्ष्मणां ऽऽचक्ष्व, यद्याख्यत्

सा किञ्चित् कोप-कारणम्, ॥

दोषे प्रतिसमाधान-

मज्ञाते क्रियतां कथम्, ॥ २० ॥

लक्ष्मणेत्यादि—हे लक्ष्मण ! यदि सा किञ्चित्कोपकारणमाख्यदुक्तवती ।
इदं तेनाप्रियमाचरितम् । पूर्ववदङ् । तदाचक्ष्व कथय । अज्ञाते दोषे अनिर्धा-
रिते प्रतिसमाधानं कथं क्रियतां अनुष्ठीयतां । नैवेति भावः । कर्मणि लोट् ।
'२३६७। रिङ्-। ७। ४। २८।' इत्यादिना रिङ् ॥

३१२—इह सा व्यलिपद् गन्धैः, स्नान्तीहां ऽभ्यषिचज् जलैः,

इहा ऽहं द्रष्टुमाहं तां, स्मरन्नेवं मुमोह सः ॥ २१ ॥

इहेत्यादि—इह प्रदेशे सा सीता गन्धैर्व्यलिपत् समालिसवती । मामा-
त्मानं चेल्यथात् । इह स्नान्ती क्रीडापूर्वकमभ्यषिचत् । हस्तयत्रमुक्तसलिलेन
मामभिमुखं सित्तवतीत्यर्थः । '२२७६। प्राक्सितात्-। ८। ३। ६३।' इति षत्वम् ।
इह द्रष्टुं तामाहं आहूतवान् । '२४१८। लिपि-सिन्धि-ङ् । ३। १। ५३।' इति
च्लेरङ् । एवं स्मरन् मुमोह मोहं गतवान् ॥

३१३—तस्यां ऽलिपत् शोकाऽग्निः स्वान्तं काष्ठमिव ज्वलन्,
अलिप्तैर्वा ऽनिलः शीतो वने तं, न त्वजिह्वदत्, २२

१—६५३ । वक्त्रा ऽऽस्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम् । इति ना० अ० ।

२—१५३ । त्वितं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हन् मानसं मनः । इति ना० अ० ।

तथेत्यादि—तस्य रामस्य स्वान्तं मनः । '३०५८। क्षुब्ध-स्वान्त-१७।२।-१८।' इत्यादिना निपातितम् । शोकाग्निः शोकोऽग्निरिव । अलिपत दीपितवान् । परस्मैपदेषु '२४१८। लिपि-१३।१।५३।' इत्यादिना नित्ये प्राप्ते '२४१९। आत्मनेपदेऽन्त्यतरस्याम् । ३।१।५४।' इति विकल्पेनाह । '२१५८। स्वरितजितः-१।१।३।७२।' इति क्रियाफलविवक्षायामात्मनेपदम् । काष्ठमिव स्वान्तं ज्वलन् अभिवर्धमानः । अनिलो वायुः शीतोऽपि सन् वने तं राममलितेव दीपितवानिव । अङ्गभावपक्षे '२२८१। झलो झलि । ८।२।२६।' इति सिचो लोपः । ननु नैवाजिह्वदत् ह्लादितवान् । शोकाग्नेरुहुद्धत्वात् । ह्लादेर्ण्यन्तात् । '२३१२। णिश्चि-१३।१।४८।' इति चह् ॥

३१४—स्नानभ्यषिचताऽम्भोऽसौ रुदन् दयितया विना ॥

तथाऽभ्यषिक्तवारीणि पितृभ्यः शोक-मूर्च्छितः २३

स्नानित्यादि—असौ रामो दयितया विना । शोकमूर्च्छितः शोकेन मोहं नीतः । स्नातुमारब्धः । मूर्च्छेर्हेतुमण्यन्तस्य रूपम् । '११२६। णा शौचे' शतृ-प्रत्ययः । रुदन् अश्रु विमुञ्चन् । अम्भः सलिलं अभ्यषिचत क्षिप्तवान् । शिरस्यङ्गलिना । तथा स्नातः पितृभ्यो वारीणि अभ्यषिक्त दत्तवान् । सिचोः पूर्ववद्विभाषाह् । सिचिरन्त्रोत्सर्गे वर्तते । ततश्चार्थान्तरवृत्तिवाज्जलस्य कर्मत्वम् । अभ्युक्षणे तु करणत्वं यथा जलेन सिञ्चतीति ॥

३१५—तथाऽऽर्तोऽपि क्रियां धर्म्या

स काले नाऽमुचत् क्वचित्, ॥

महतां हि क्रिया नित्या

छिद्रे नैवाऽवसीदति. ॥ २४ ॥

तथेत्यादि—स रामस्तेन प्रकारेणार्तोऽपि क्वचिदपि धर्म्या क्रियां काले नामुचत् न त्यक्तवान् । यतो महतां सत्यपि छिद्रे व्यसने नित्या क्रिया नावसीदति नापयाति । आहपूर्वादर्थैर्ऋणोत्तेर्वा निष्ठायां ऋति धातौ वृद्धिः । मुचेः लृदनुबन्धत्वाद् । '३२७७। कृजः श्च । ३।३।१००।' रिडियडौ ॥

३१६—आह्लास्त स मुहुः शूरान्, मुहुराहूत राक्षसान्, ॥

'एत सीताद्रुहः संख्ये, प्रत्यर्थयत राघवम्, ॥ २५ ॥

आह्लास्तेत्यादि—पुनः पुनरभिभवितुं शूरानाह्लास्त आहूतवान् तथा राक्षसानाहूत । पूर्ववद्विकल्पः । '२७०४। 'स्पर्धायामाङः । १।३।३१।' इत्यात्मनेपदम् । कथमाहूतवानित्याह । हे सीताद्रुहः सीताहंसिकाः शूरा राक्षसा वा एत आगच्छत । आहपूर्वादिणो लोट् । संख्ये संग्रामे । राघवं प्रत्यर्थयत प्रत्यर्थिनं कुरुत ।

१—'८६९। युद्धमावोधनं जन्वं प्रधनं प्रविदारणम् । सृधमास्कन्दनं संख्यं समीकं चांपराधिकम् ॥' इति ना० अ० ।

१२८ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

प्रत्यर्थिनशब्दात्तत्करोतीत्यर्थे णिच् । तदन्ताद्धोटः परस्मैपदम् । २०५१ । अथ
याच्चायाम्' इत्यस्य तु स्वार्थिकण्यन्तस्य सर्वदात्मनेपदित्वात् प्रत्यर्थयध्वमिति
स्यात् ॥

३१७—स्व-पोषमपुषद् युष्मान् या पक्षि-मृग-शावकाः ! ॥
अद्युतच् चैन्दुना सार्धं, तां प्रब्रूत, गता यतः ॥ २६ ॥

स्वपोषमित्यादि—हे मृगपक्षिणां शावकाः पोताः ! या सीता युष्मान् स्व-
पोषमपुषत् पुष्टवती । '३३६१। स्त्रे पुषः । ३।४।४०।' इति णमुल् । '२८२७।
यथाविध्यनुप्रयोगश्च । ३।४।४।' '२३४३। पुषादि-३।१।५५।' इत्यङ् । तां प्रब्रूत
कथयत । यतो यत्र । आद्यादित्वात्तसिः । गता सत्यद्युतत् द्योतते स्म । पूर्वव-
दङ् । इन्दुना सार्धम् । चन्द्रमसा तुल्यकान्तित्वात् ॥

३१८—गिरिमन्वसुपद् रामो लिप्सुर् जनक-संभवाम्, ॥
तस्मिन्नायोधनं वृत्तं लक्ष्मणायाऽशिषन् महत्— २७

गिरिमित्यादि—गिरिमन्वसुपत् लक्ष्यीकृत्य गतः । लुदित्वादङ् । किमर्थं
लब्धुमिच्छुः '२६२३। सनि मी-मा-। ७।४।५४।' इत्यादिना इस् । '२६२०। अत्र
लोपः-। ७।४।५८।' इत्यभ्यासलोपः । '१२१। खरि च । ८।४।५५।' इति चर्त्वम् ।
जनकसंभवाम् । सम्भवत्यस्मादिति सम्भवः । '३२३२। ऋदोरप् । ३।३।५७।' ।
जनकः सम्भवो यस्यास्तस्माद्वा संभवो यस्यास्तां सीताम् । तस्मिन् गिरौ आयो-
धनं युद्धं महदतिशयत्वात् । वृत्तं लक्ष्मणायाशिषत्कथितवान् । क्रियायोगे चतुर्थी ।
'२३८२। सर्ति-। ३।२।५६।' इत्यादिनाऽङ् । '२४८६। शास इदङ्-हलोः । ६।४।
३४।' इतीत्वम् । '२४१०। शासि-वसि-। ८।३।७०।' इति षत्वम् ॥

कथमकथयदित्याह—

३१९—सीतां जिघांसू सौमित्रे ! राक्षसावारतां ध्रुवम्, ॥
इदं शोणितमभ्यग्रं संप्रहारं ऽच्युतत् तयोः ॥ २८ ॥

सीतामित्यादि—(इत्येवं लक्ष्मणायाशिषदिति श्लोकचतुष्टयं यावत्
सम्बध्यते) हे सौमित्रे ! सीतां हन्तुमिच्छन्तौ राक्षसावारतामागताविति ध्रुवं
निश्चितम् । अतैराङ्पूर्वात्पूर्ववदङ् । '२४०६। ऋ-द्वशोऽङि-। ७।४।१६।' इति
गुणः । कीदृशौ । सीतां जिघांसू हन्तुमिच्छू । हन्तेः सनि '२७१४। अज्जनगमां
सनि । ६।४।१६।' इति दीर्घः । '२४३०। अभ्यासाच्च । ७।३।५५।' इति कुत्वम् ।
तथाहि । तयोः सीताद्वेषानुनयाभ्यां संप्रहारं युद्धे इदं शोणितम् अच्युतत्
गलितम् । '४१। च्युतिर् क्षरणे' । अकर्मकोऽत्र । '२२६९। इरितो वा । ३।१।५७।' इत्यङ् । अभ्यग्रं प्रत्यग्रम् ॥

१—(३१६) श्लोकसं टीकनं प्रेक्ष्यम् । २—'८७०। अस्त्रियां समराऽनीकरणाः
कलह-विग्रहौ । संप्रहाराऽभिर्संपात-कलि-संस्फोट-संयुगाः ॥' इति ना० अ० ।

३२०—इदं कवचमच्योतीत्, साऽश्वो ऽयं चूर्णितो रथः, ॥

एह्यमुं गिरिमन्वेष्टुमवगाहावहे द्रुतम्. ॥ २९ ॥

इदमित्यादि—इदं कवचमच्योतीत् अष्टम् । अठभावे सिजेव भवति । अयं रथः साश्वचूर्णित आस्ते । यतश्चैवं तस्मादेहि आगच्छ द्रुतम् । किं पश्चाद्विलम्बसे । अमुं गिरिमवगाहावहे विलोडयावः । किमर्थं अन्वेष्टुम् । सीतामित्यर्थात् । एतत्सर्वं पर्वतसमीपे कथ्यते ॥

३२१—मन्युर् मन्ये ममां ऽस्तम्भीद्,

विषादो ऽस्तभर्दुद्यतिम्, ॥

अजारीर्दिव च प्रज्ञा,

बलं शोकात् तथाजरत्. ॥ ३० ॥

मन्युरित्यादि—मन्युः शोकः । मन्ये धमन्यौ । (क्रन्दतः उच्छ्वसे) । अस्तम्भीत् स्तब्धवान् । विषाद उद्यतिमस्तम्भत् । अत्र पक्षे अनुनासिकलोपः । प्रज्ञा च तत्त्वविवेकिनी बुद्धिः अजारीत् विवेकवैकल्यात् जीर्णैव । तथाशब्दः समुच्चये । बलं शोकादजरत् जीर्णम् । स्वकार्याकरणात् । '२४०६। ऋदशोऽङि-।७।४।१६।' इति गुणः । '२२९१। जृ-स्तम्भु-।३।१।५८।' इत्यादिना सिजडौ ॥

३२२—गृध्रस्येहाश्वतां पक्षौ कृत्तौ, वीक्षस्व लक्ष्मण ! ॥

जिघत्सोर् नूनमापादि ध्वंसो ऽयं तां निशा-चरात्. ॥

गृध्रस्येत्यादि—हे लक्ष्मण । इह प्रदेशे गृध्रस्य पक्षौ कृत्तौ छिन्नौ । अश्वतां शूनौ । पूर्ववदङि '२४२१। श्वयतेरः ।७।४।१८।' इति । वीक्षस्व नूनमवश्यं सीतां जिघत्सोरनुमिच्छोगृध्रस्य । अदेः '२४२७। लुङ्-सनोर्घस्त्व ।२।४।३७।' निशाचरादयं ध्वंसः पक्षच्छेद आपादि उत्पन्नः । कर्तरि लुङ् । '२५१३। चिण् ते पदः ।३।१।६०।' इति च्लेश्रिणादेशः । तशब्दस्य '२३२९। चिणो लुक् ।६।४।१०४।' ॥

३२३—क्रुद्धो ऽदीपि रघु-व्याघ्रो, रक्त-नेत्रो ऽजनि क्षणात्, ॥

अबोधि दुःस्थं त्रैलोक्यं, दीप्तैरापूरि भानु-वत्. ॥ ३२ ॥

क्रुद्ध इत्यादि—तदेवं रघुव्याघ्रो रामः क्रुद्धो अदीपि दीप्तवान् । क्षणाच्च रक्तनेत्रो ऽजनि जातः । '२५१२। जनि-वध्योश्च ।७।३।३५।' इति न वृद्धिः । त्रैलोक्यं निहन्मि यस्मिन् हन्यमाने सीताक्रुद्धोऽपि नश्यन्ति इत्यभिप्रायेण दुःस्थ-मबोधि बुध्यते स्म । किंवा रामस्य दारा हियन्ते तदान्येषु का कथा इति दुःस्थं त्रैलोक्यमबोधि । दीप्तैस्तेजोभिर्हेतुभिरापूरि वर्धते स्म । भानुवदादित्यवत् ।

१२० भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

दीर्घैरिति भावे निष्ठा । सर्वत्र कर्तरि लुङ् । '२३२८। दीप-जन-।३।१।६१'
इत्यादिना चिण् ॥

३२४—अतार्यस्योत्तमं सत्वमप्यायि कृत-कृत्य-वत्, ॥

उपाचायिष्ट सामर्थ्यं तस्य संरम्भिणो महत्. ॥ ३३ ॥

अतार्यीत्यादि—अस्य रामस्य उत्तमं सत्वमभिप्रायः शोकव्यसनयोरविका-
रित्वात् अतार्यि सन्ततं नान्तरा विच्छिद्यते स्म । अप्यायि वृंहितम् । कृतकृ-
त्यवत् समाप्तक्रियवत् । हस्तलक्ष्यं शत्रुवधं मन्यमानस्य । उभयत्रापि पूर्वव-
च्चिण् । तस्य रामस्य संरम्भिणः शत्रुविषये क्षुभितचित्तस्य सामर्थ्यं बलं महदुपा-
चायिष्ट स्वयमेवोपचीयते स्म । चिनोते: '२७६८। अचः कर्मकर्तरि ।३।१।६२।'
इति वा चिण् । पक्षे चिण्वदिद् ॥

३२५—अदोहीव विषादो ऽस्य, समरुद्धेव विक्रमः ॥

समभावि च कोपेन, न्यश्वसीच चाऽऽयतं मुहुः. ॥

अदोहीत्यादि—अस्य रामस्य विषादः प्रागुत्पन्नो ऽदोहीव स्वयं क्षरित
इव । अथवा अदोहीव प्रपूर्यते स्मेव । '२७६९। दुहश्च ।३।१।६३।' इति चिण् ।
विक्रमः पुरुषकारः समरुद्धेव स्वयं संरुध्यते स्म इव । '२७६६। कर्मवत्-।३।१।-
८७।' इत्यादिना कर्मवद्भावेन प्राप्तस्य चिणः '२७७०। न रुधः ।३।१।६४।' इति
निषेधः । तेन सिजेव भवति । '२२८१। झलो झलि ।८।२।२६।' इति सिचो
लोषः । '२२८०। झषस्तथोर्ध्वो ऽधः ।८।२।४०।' । '५२। झलं जश् झशि ।८।४।
५३।' इति धत्व-जश्त्वे । कोपेन च समभावि सम्भूतम् । '२७५९। चिण् भाव-
कर्मणोः ।३।१।६६।' इति भावे चिण् । त्रैलोक्यदौःस्थ्यावबोधाज्जातखेदः सन्
आयतं दीर्घं न्यश्वसीत् निःश्वसितवान् । '२२९९। ह्यन्त-।७।२।५।' इति वृद्धिर्न
भवति । मुहुरिति सर्वत्र योज्यम् ॥ ॥ इति सिजधिकारः ॥

श्रम-प्रकरणं कथ्यते—

इतः प्रभृति श्रम-प्रकरणमधिकृत्याह—

३२६—अथा ऽऽलम्ब्य धनू रामो जगर्ज गज-विक्रमः, ॥

'रुणधिम सवितुर् मार्गं, भिनन्नि कुल-पर्वतान्. ॥ ३५ ॥

अथेत्यादि—अथानन्तरं रामो धनुरालम्ब्य गृहीत्वा जगर्ज विस्फूर्जित-
वान् । धनू राम इति '१७४। द्रुलोपे-।६।३।१११।' इति दीर्घः । '२३५। गर्ज
गर्जने' । किं जगर्ज । सवितुः सूर्यस्य मार्गं पन्थानं रुणधिम आवृणोमि । शरै-
रित्यर्थात् । '२५४३। रुधादिभ्यः श्रम् ।३।१।७७।' तथा भिनन्नि विदारयामि
कुलपर्वतान् ॥

१—'८६८। विक्रमस्य त्वतिशक्तिः ।' इति ना० अ० । २—'महेन्द्रो मलयः सद्यः
शक्तिमान् क्रक्षपर्वतः । विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ॥'

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके सुग्रीवाऽभिषेको नाम षष्ठः सर्गः— १३१

३२७—रिणचिमि जलधेस् तोयं, विविनचिमि दिवः सुरान्, ॥

ध्रुणच्चि सर्पान् पाताले, छिनच्चि क्षणदा-चरान्. ३६

रिणचमीत्यादि—जलधेस्तोयं रिणचिमि रिक्तीकरोमि । ‘१५३५। रिचिर् विरेचने ।’ दिवः स्वर्गात् सुरान् विविनचिमि पृथक्करोमि । ‘१५३६। विचिर् पृथ-ग्भावे ।’ ध्रुणच्चि चूर्णयामि सर्पान् पाताले । ‘१५३७। ध्रुदिर् पेवणे’ । १९७। अद्-कु-प्वाङ्-। ८। १। २।’ इति णत्वम् । छिनच्चि क्षणदाचरान् राक्षसान् द्विधा करोमि । ‘१५३८। छिदिर् द्वैधीकरणे’ ॥

३२८—यमं युनजिमि कालेन समिन्धानो ऽस्त्र-कौशलम्, ॥

शुष्क-पेषं पिनष्मयुर्विमखिन्दानः स्व-तेजसा. ॥३७॥

यममित्यादि—यममपि कालेन तदधीनेन मृत्युना युनजिमि सम्बध्नामि । अस्त्रकौशलं समिन्धानः संवर्धयन् । ‘१५४२। जि-ह्वन्धी दीप्तौ’ । आत्मनेप-दिनो लटः शानच् । ‘२५४४। आन्नलोपः । ६। ४। २३।’ । ‘२४६९। असोरल्लोपः । ६। ४। १११।’ उर्वीं शुष्कां कृत्वा चूर्णयामि । ‘१५४६। पिष्टल्लं संचूर्णने’ । ‘३३५६। शुष्कचूर्णरूपेषु पिषः । ३। ४। ३५।’ इति णमुल्ल । अखिन्दानः स्वतेजसा दैन्यमभ-जन् अपरिश्राम्यन् । ‘१५४३। खिदँ दैन्ये’ । पूर्ववल्लोपः ॥

३२९—भूतिं तृणच्चि यक्षाणां, हिनस्मीन्द्रस्य विक्रमम्, ॥

भनजिमि सर्व-मर्यादास्, तनचिमि व्योमं विस्तृतम् ३८

भूतिमित्यादि—यक्षाणां भूतिं सम्पदं तृणच्चि उत्सादयामि । ‘१५४०। उ-तृदिर् हिंसाऽनादरयोः’ । इन्द्रस्य विक्रमं हिनस्मि अपनयामि । ‘१५५०। हिसि हिंसायाम्’ । ‘२२६२। इदितो जुम्-। ७। १। ५८।’ तस्य आन्नलोपः । सर्व-मर्यादाश्च व्यवस्थाः सर्वेषां भनजिमि मर्दयामि । ‘१५४७। भज्जो आमर्दने ।’ ‘२५४४। आन्नलोपः । ६। ४। २३।’ । तनचिमि व्योमं विस्तृतं सङ्कोचयामि । ‘१३-३१। स्तृन् आच्छादने’ सौवादिकस्य रूपं न ‘१५६९। स्तृन् आच्छादने’ इति क्रैयादिकस्य । ‘१५५३। तञ्चू सङ्कोचे’ । ‘१५४४। आन्नलोपः । ६। ४। २३।’ ॥

कस्मादेवं प्रवृत्तस्त्वमिति चेदाह—

३३०—न तृणेह्यीति लोकोऽयं मां विन्ते निष्-पराक्रमम्, ॥

एवं वदन् दाशरथिरपृणग् धनुषा शरम्. ॥ ३९ ॥

न तृणेह्यीत्यादि—न तृणेह्यि न मारयामि इति कृत्वा । ‘१५४९। तृहँ हिसि हिंसायाम्’ । अस्म । ‘२५४५। तृणह इम् । ७। ३। ९२।’ अयं लोको मां निष्परा-क्रमं निर्वीर्यं विन्ते विचारयति । ‘१५४४। विदँ विचारणे’ इत्यस्मादात्मनेप-

२—३०२ । सर्वसहा वसुमती वसुधोर्वी वसुधरा । गोत्रा जुः पृथिवी पृथ्वी क्षमाऽवनिर मेदिनी मही ॥’ इति ना० अ० । २—८० । ‘द्यो-दिवौ द्वे खियामन्नं व्योम पुष्क-रमम्बरम् । नभोऽन्तरिक्षं गगनमनन्तं सुरवत्सी खम् ॥’ इति ना० अ० ।

१३२ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

दिनः श्रम् । अलोपः । एवमुक्तेन प्रकारेण वदन् दाशरथिः धनुषा शरम् अपृ-
णक् पृणक्ति स्म । '१५५७। पृची संपर्के' । लङि श्रम् । हलङ्ग्यादिलोपः ।
कुत्वम् ॥ इति श्रम्विकरणनिर्देशनम् ॥

इतः प्रकीर्णकश्लोकानाह—

३३१—न्यवर्तयत् सुमित्रा-भूस् तं चिकीर्षु जगत्-क्षयम्, ॥

ऐक्षेतामाश्रमादाराद् गिरिकल्पं पतत्रिणम् ॥ ४० ॥

न्यवर्तयदित्यादि—तं रामं जगत्क्षयं चिकीर्षुं कर्तुमिच्छुम् । सुमित्राभू-
लक्ष्मणौ न्यवर्तयत् निवर्तितवान् । 'आतः । अलं कोपेन, त्वया सार्धं कः संग्रामे
युद्धं दातुं समर्थः ? यदत्र युक्तं तत्प्रतिविधीयताम्' इति । भवनं भूः । सम्पदा-
दित्वात् क्तिप् । सुमित्रायां भूर्यस्य । ऐक्षेतां रामलक्ष्मणौ दृष्टवन्तौ । लङि रूपम् ।
पक्षिणं गिरिकल्पं महाप्रमाणत्वात् । आश्रमादारात् समीपे । '६११। दूरान्ति-
कार्थैः—१२।३।३४।' इति पञ्चमी ॥

३३२—तं सीता-घातिनं मत्वा हन्तुं रामो ऽभ्यधावत, ॥

'मा वधिष्ठा जटायुं मां सीतां रामाऽहमैक्षिषि.' ॥ ४१ ॥

तमित्यादि—तं सीताघातिनं सीता हतानेनेति मत्वा रामो हनिष्यामीत्य-
भ्यधावत । '६४३। धावुं गति-शुच्योः' । इत्यस्मात्लङि स्वरितेत्वादात्मनेपदम् ।
तं हन्तुमुद्यतं रामं जटायुराह मा वधिष्ठा इति । हे राम, मां जटायुं मा वधिष्ठा
मा वधीः । 'वध बन्धने' इत्यस्यादनेकार्थत्वादात्मनेपदिनः सेटो लुङि रूपं,
न हन्तेः तस्य परस्मैपदित्वात् । सत्यप्याङि '२५९५। आङो यमहनः । १।३।२८।'
इत्यात्मनेपदं न भवति तत्राकर्मकादित्यनुवृत्तेः । स्वनामपरिकीर्तनं तव पितुरहं
सखेति ख्यापनार्थम् । सीतामैक्षिषि दृष्टवानहम् । लुङुत्तमैकवचने रूपम् ।
अतो मां मा वधिष्ठाः ॥

३३३—उपास्थितैवमुक्ते तं सखायं राघवः पितुः, ॥

पप्रच्छ जानकी-वार्ता संग्रामं च पतत्रिणम्, ॥

ततो रावणमाख्याय द्विषन्तं पततां वरः ॥ ४२ ॥

उपास्थितेत्यादि—पक्षिणैवमुक्ते सति राघवस्तं व्रणभङ्गाद्यनुष्ठानेन उपा-
स्थित परिचरितवान् । सङ्गतकरणे आत्मनेपदम् । '२३८९। स्थाच्चोरिच्च । १।२।-
१७।' इतीत्वम् । '२३६९। ह्रस्वादङ्गात् । ८।२।२७।' इति सिचो लोपः । पितुः
सखायमिति सखिशब्दस्य द्वितीयैकवचने रूपम् '२५३। सख्युरसम्बुद्धौ । ७।१।-
९२।' इति णित्वाट्टद्विरायादेशः । पप्रच्छ पृष्टवान् । तं पक्षिणं जटायुम् । किं

१—'१४५१। आराद् दूरसमीपयोः ।' ना० अ० ।

२—(२८९) श्लोकोक्तं टीकनं प्रेक्ष्यम् ।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके सुग्रीवाऽभिषेको नाम षष्ठः सर्गः— १३३

जानकीवार्ता संग्रामं च । तत उपस्थानानन्तरं रावणं द्विषन्तम् '३१११ द्विषो-
ऽमित्रे । ३।२।१३१' इति शत्रुप्रत्ययः । आख्याय सीता रावणेन हतेति कथ-
यित्वा । पततां पक्षिणां वरो जटायुर्ममारेति परेणान्वयः ॥

३३४—व्रण-वेदनया ग्लायन् ममार गिरि-कन्दरे, ॥

तस्याग्निम्बु-क्रियां कृत्वा प्रतस्थाते पुनर्वनम् ॥ ४३ ॥

व्रणेत्यादि—व्रणकृता वेदना पीडा । मध्यमपदलोपी समासः । तथा
ग्लायन् ग्लानिं गच्छन् । शतर्यायादेशः । ममार मृतः । क गिरिकन्दरे यं गिरिम-
न्वसुपत् तस्य निम्नप्रदेशे । कन्दं रातीति (कं दारयतीति वा) व्युत्पत्तिमात्रम् ।
तस्य जटायोरभ्यम्बुक्रियां दाहमुदकदानं च कृत्वा पुनर्भूयो वनमरणं प्रतस्थाते
प्रस्थितौ । '२६८९। समव-प्र-विभ्यः-। १।३।२२।' इत्यात्मनेपदम् ॥

३३५—सत्त्वानजस्रं घोरेण बलाऽपकर्षमश्रता ॥

क्षुध्यता जगृहाते तौ रक्षसा दीर्घ-बाहुना ॥ ४४ ॥

सत्त्वानित्यादि—तौ रामलक्ष्मणौ रक्षसा राक्षसेन जगृहाते गृहीतौ ।
कर्मणि लिट् । किनाम्ना । दीर्घबाहुना । अन्वर्था चेयं संज्ञा । एक एकेन बाहुना
द्वितीयो द्वितीयेनेति । क्षुध्यता बुभुक्षमाणेन घोरेण भीमेन । सत्त्वान् अजस्रं
सदा । नञ्पूर्वाजस्रः '३१४७। नमिकम्पि-। ३।२।१६७।' इति रः । अश्रता
भुञ्जानेन । किं कृत्वा । बलापकर्षं बलादाकृष्येव पाकादिकमनपेक्ष्य । '३३७३।
अपादाने परीप्सायाम् । ३।४।५२।' इति णमुल् ॥

३३६—भुजौ चकृततुम् तस्य निखिंशौभ्यां रघुत्तमौ, ॥

स छिन्न-बाहुरपतद् विह्वलो ह्वलयन् भुवम् ॥ ४५ ॥

इति प्रकीर्णकाः ।

भुजावित्यादि—रघुत्तमौ रामलक्ष्मणौ तस्य योजनबाहोः बाहू यथास्थान-
मागतौ चकृततुः छिन्नवन्तौ । '१५२९। कृतीं छेदने' । इत्यस्य रूपम् । काभ्यां ।
निखिंशाभ्यां खड्गाभ्याम् । निर्गतखिंशतोऽङ्गुलिभ्य इति वाक्ये 'डच्प्रकरणे
संख्यायास्तत्पुरुषस्योपसंख्यानम्' इति त्रिंशच्छब्दाङ्गुलिविधिः 'निरादयः-' इति
समासः । टिलोपः । स छिन्नबाहुः कृत्तभुजः सन् । अपतत् पतितः । पतेर्लुङि
रूपम् । लट्तिच्चादङ् । विह्वलो व्याकुलः भुवं भूमिं ह्वलयन् । '८६२। ह्वल
चलने' । घटादिस्वे ह्रस्वत्वम् ॥ इति प्रकीर्णकाः ॥

१—'२५८। अम्भोऽर्णस-तोय-पानीय-नीर-क्षीराऽम्बु-शम्बरम् ।' इति ना० अ० । २—'८५४।
खड्गे तु निखिंश-चन्द्रहासा-ऽसि-रिष्टयः ।' इति ना० अ० ।
भ० का० १२

१३४ भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

अथ कृत्याऽधिकारः—

इतः परं कृत्याधिकारः—

३३७—प्रष्टव्यं पृच्छतस् तस्य कथनीयमवीवचत् ॥

आत्मानं वन-वासं च जेयं चां ऽरिं रघूत्तमः ॥४६॥

प्रष्टव्यमित्यादि—स योजनबाहुः निहतो रामं पप्रच्छ 'को भवान्, कस्य पुत्रः, कथं तव वनवासः, कस्माच्चोद्विग्नः सन् भ्रमसि' इति । प्रष्टव्यं प्रश्नाहं पृच्छतस्तस्य । '२७३४। तव्यत्-तव्यानीयरः । ३।१।९६।' इति तव्यत् । '२९४। ब्रश्च-।८।२।३६। इति पत्वम् । घृत्वं च । रघूत्तमस्तदानीं कथनीयं कथनाहं प्रश्नानुरूपम् । तेनैवानीयर । अवीवचद्वक्ति स्स । '१९८५। वचं भाषणे ।' चौरादिकः । स्वार्थिको णिच् लुङ् चङ् । णिलोपः ह्रस्वः । द्विर्वचन-सम्बन्धावेत्वदीर्घ-त्वानि । किं तदित्याह—आत्मानं अहं रामो दाशरथिरिति । वनवासं पितुरा-देशात् वनवासः । जेयं चारिं जेतव्यं यः कनकमृगच्छलेन रावणः सीतामप-हृतवानिति ॥

३३८—'लभ्या कथं नु वैदेही, शक्यो द्रष्टुं कथं रिपुः, ॥

सह्यः कथं वियोगश् च, गद्यमेतत् त्वया मम.' ॥४७॥

लभ्येत्यादि—कथं केन प्रकारेण उपायेन वैदेही लभ्या प्राप्या । '२८४४। पोरदुपधात् । ३।१।९८।' इति यत् । शत्रुः केन प्रकारेण द्रष्टुं शक्यः । '३१७७। शक-धृष-।३।१।६५।' इत्यादिना तुमुन् । वियोगश्चायं सीतायाः कथं केन प्रका-रेण सह्यः सोढव्यः । '२८४७। शकि सहोश्च । ३।१।९९।' इति यत् । गद्यमेतत् कथनीयमेतत् । '२८४८। गद-मद-।३।१।१००।' इत्यादिना यत् । ममेति शेषविवक्षायां षष्ठी ॥

३३९—'अहं राम ! श्रियः पुत्रो मद्य-पीत इव भ्रमन्, ॥

पाप-चर्यो मुनेः शापाज् जात' इत्यवदत् स तम्. ४८

अहमित्यादि—हे राम ! अहं श्रियः पुत्रः मद्यपीत इव । '९००। बाहिता-इत्यादिषु । २।२।३७।' इति निष्ठान्तस्य परनिपातः । कार्याकार्यविवेकाभावात्पाप-चर्यो राक्षसः । मुनेः स्थूलशिरसः शापाज्जात उत्पन्नः । माद्यत्यनेनेति मद्यं चरितव्यं चर्यमेतौ पूर्ववद्यत्प्रत्ययान्तौ । पापं चर्यं यस्येत्यवदत् स योजनबाहुस्तं रामम् । वाक्यार्थोऽत्र कर्म ॥

३४०—'प्रयातस् तव यम्यत्वं शस्त्र-पूतो ब्रवीमि ते, ॥

रावणेन हता सीता लङ्कां नीता सुरारिणा. ॥ ४९ ॥

प्रयात इत्यादि—इदानीं तव यम्यत्वं वश्यत्वं प्रयातः । यमेः पूर्ववत् यत् । शस्त्रपूतस्तव शस्त्रेण पावितः सन् ब्रवीमि ते तुभ्यं कथयामि । युष्मदश्चतुर्थे-

तथा लक्ष्यरूपे कथानके सुग्रीवाऽसिषेको नाम षष्ठः सर्गः— १३५

कवचनस्य '४०६। ते-मयावेकवचनस्य । ८। १। २२।' इति ते आदेशः । क्रियायोगे चतुर्थी । कथनीयमाह—रावणेन सुरारिणा हता सीता लङ्कां नीता ॥

वैदेही प्राप्या कथमिति यमुपायं पृष्टवान् तं कथयन्नाह—

३४१—ऋष्यमूके ऽनुर्वद्यो ऽस्ति पण्य-भ्रातृ-वधः कपिः ॥
सुग्रीवो नाम, वर्यो ऽसौ भवता चारु-विक्रमः ॥ ५० ॥

ऋष्यमूक इत्यादि—ऋष्यमूकपर्वते सुग्रीवो नाम कपिः चारुविक्रमो महा-पराक्रमोऽस्ति । असौ भवता वर्यो वरणीयः प्रार्थनीयः '१९९५। वरं ईप्सा-याम्' इति चौरादिकास्त्रार्थिकण्यन्तात् '२८४२। अचो यत् । ३। १। ९७।' यद्वा '२८४९। अवद्य-पण्य-। ३। १। १०१।' इत्यत्र वृद्धो वर्येति स्त्रियामनिरोधे अप्रति-बन्धे निपातितत्वात् । सततप्रवर्तिनी अनिरोध्या वर्या प्रीतिर्यस्येत्यर्थाद्यच्च । स च भवता सह वर्यः प्रीतिमान् समानव्यसनत्वात् । यतः पण्यभ्रातृवधः सः पण्यो विक्रेतव्यो भ्रातुर्वालिनो वधो येन । यद्येवं तदा कथं मया पापीयान् वर्य इत्यत आह—अनवद्यः अगर्हणीयः । दारापहारित्वेन आततायिनो भ्रातु-र्वधेन निर्दोषत्वादिति भावः ॥

३४२—तेन वह्नेन हन्तासि त्वमर्यं पुरुषाऽशिनाम् ॥
राक्षसं क्रूर-कर्माणं शैक्राऽरिं दूर-वासिनम्. ॥ ५१ ॥

तेनेत्यादि—तेन सुग्रीवेण त्वं राक्षसं हन्तासि निहनिष्यसि । वह्नेन वह-त्यभिप्रेतमनेनेति '२८५०। वह्यं करणम् । ३। १। १०२।' इति यत् । कीदृशमर्यं स्वामिनम् । पुरुषाशिनां राक्षसानाम् । '२८५१। अर्यः स्वामि-वैश्ययोः । ३। १। १०३।' इति यन्निपात्यते । क्रूरकर्माणं पापाचारं शक्रारिं रावणम् । यद्येवमहमेव हन्तुं समर्थ इत्यभिप्रायेणाह—दूरवासिनं समुद्रान्तरितवासित्वात् एकाकिना हन्तुं न शक्यत इति भावः ॥

यद्यनवद्यस्तदा कथमस्य पण्यो भ्रातृवध इत्याह—

३४३—आस्ते स्मरन् स कान्ताया हताया वालिना कपिः ॥
वृषो यथोपसर्याया गोष्ठे गोर् दण्ड-ताडितः. ॥ ५२ ॥

आस्ते इत्यादि—वालिना हतायाः कान्तायाः स्मरन्नास्ते । कोऽन्यः सम्भ-वेत् यस्तं हत्वा त्वया मां योक्ष्यते, '६१३। अधीग्-। २। ३। ५२।' इति कर्मणि षष्ठी । कस्येव । वृषो यथा उपसर्याया आसन्नगर्भकालायाः गोः स्मरन् गोष्ठे

१—'११००। कुपूय-कुत्सिताऽवद्य-खेट-गर्वाऽणकाः समाः ।' २—'४७। इन्द्रो मरुत्वान् मधवा विडौजाः पाकशसनः ॥ वृद्धश्रवाः सुनासीरः पुरुहूतः पुरंदरः । जिष्णुर् लेखर्षभः शक्रः शतमन्युर दिवस्पतिः ॥' ३—'९५६। काव्योपसर्या प्रजने ।' इति सर्वत्र ना० अ० ।

१३६ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

आस्ते । '२८५२। उपसर्गां काल्या प्रजने ।३।१।१०४।' इति निपातितम् । दण्ड-
ताडितः सन् दण्डस्थानीयोऽत्र वाली ॥

३४४—तेन सङ्गतमार्येण रामा ऽजर्यं कुरु द्रुतम् ॥

लङ्कां प्राप्य ततः पापं दश-ग्रीवं हनिष्यसि ॥ ५३ ॥

तेनेत्यादि—हे राम ! तेन वानरेण संगतं सख्यं अजर्यं अनपायम् । न
जीर्यत इत्यस्मिन् वाक्ये '२८५३। अजर्यं संगतम् ।३।१।१०५।' इति निपातितम् ।
आदौ विशेष्यत्वेनोपात्तं संगतं तद्विशेषणमजर्यं कुरु द्रुतं यावत्तस्यानेन युष्म-
द्विधेन संगतं न भवति । आर्येण सदाचारेण । '२८७२। ऋ-हृणोर्यत् ।३।१।-
१२४।' ततः सङ्गतात् लङ्कां प्राप्य गत्वा पापं पापीयांसं रावणं हनिष्यसि ॥

ननु यावत्कार्यं न सिध्यति तावत्संगतं गच्छति कृतकृत्यस्तु नैवेत्यत आह—

३४५—अनृतोद्यं न तत्रास्ति, सत्य-वद्यं ब्रवीम्यहम् ॥

मित्र-भूयं गतस् तस्य रिपु-हत्यां करिष्यसि ॥ ५४ ॥

अनृतोद्यमित्यादि—सत्यमुद्यत इति कर्मणि यत् । अहं सत्यं वचो
ब्रवीमीत्यर्थः । अनृतोद्यं तत्र सुग्रीवे नास्ति । अनृतमसत्यं उद्यं वचनं अनृतो-
द्यम् । भावे क्यप् । यजादित्वात्संप्रसारणम् । उभयत्रापि '२८५४। वदः सुपि
क्यप् च ।३।१।१०६।' इति चकाराद्यत् । यस्मादेवं तस्मान्मित्रभूयं मित्रभावं
गतः । '२८५५। भुवो भावे ।३।१।१०७।' क्यप् । रिपुहत्यां करिष्यसि '२८५६।
हनस्त च ।३।१।१०८।' इति क्यप् तकारश्चान्तादेशः ॥

३४६—आहत्यस् तेन वृत्त्येन स्तुत्यो जुष्येण संगतः ॥

इत्यः शिष्येण गुरुवद् गृध्यमर्थमवाप्स्यसि ॥ ५५ ॥

आहत्य इत्यादि—तेन संगतः सन् गृध्यमभिलषणीयमवाप्स्यसि । '२८५९।
ऋदुपधात्-।३।१।१०९।' इति क्यप् । कीदृशः कीदृशेनेत्याह—आहत्यः आदर-
णीयः । वृत्त्येन वरणीयेन । स्तुत्यः स्तुवार्हः । जुष्येण सेव्येन हनूमत्पशुतीनाम् ।
क इव । शिष्येण गुरुरिव । यथोपाध्यायः शिष्येण शासनीयेन इत्यः अनुगम्यस्त-
द्वदिति । '२८५७। एति-स्तु-शास्वृ-।३।१।१०९।' इत्यादिना क्यप् । इह स्वस्य तुक् ॥

३४७—नाऽखेयः सागरो ऽर्थन्यस् तस्य सद्-भृत्य-शालिनः,

मन्युस् तस्य त्वया मार्ग्यो, मृज्यः शोकश् च तेन ते ।

नाखेय इत्यादि—तस्य सुग्रीवस्य सद्भृत्यशालिनः हनूमदादिभृत्ययुक्तस्य ।
'२८६१। भृजोऽसंज्ञायाम् ।३।१।११२।' इति क्यप् । अन्यो द्वितीयः सागरो-

१—'६५२। ग्रीवायां शिरोधिः कन्धरेत्यपि ।' २—'१४५७। गद्गां-समुच्चयप्रश्न-शङ्का-
सम्भावनास्त्वपि ।' ३—'१३६२। मन्युर दैन्ये क्रतौ कुपि ।' इति सर्वत्र ना० अ० ।

ऽपि नाखेयो न खननीयः अपि तु खननीय एव । अपिशब्दः सम्भावनायाम् । तस्य कारणं सद्गुणशालित्वम् । '२८६०। ई च खनः । ३। १। १। १।' इति क्यवी-कारौ । तस्य मन्युस्त्वया मार्ग्योऽपनेयः । ते तव तेन च शोको मृज्यः । '२८६२। मृजेर्विभाषा । ३। १। १। १।' इति यद्विकल्पे ण्यत् ॥

३४८—स राजसूय—यार्जीव तेजसा सूर्य-सन्निभः ॥

अ-मृषोद्यं वदन् रुच्यो जगाहे द्यां निशा-चरः ॥५७॥

स इत्यादि—स निशाचरो द्यामाकाशं जगाहे गतः । राजसूययार्जीव । राज्ञा सूयते राजा वा अनेन सूत इति राजसूयः क्रतुः । तेनेष्टवान् स राज-सूययार्जी । '२९९६। करणे यजः । ३। २। ८५।' इति णिनिः । तद्वदित्यर्थः । रुच्यः प्रियो जातो रामस्येत्यर्थात् । '२८६५। राजसूय-३। १। १। १।' इत्यादिना क्यबन्ता राजसूयादयः ॥

३४९—अ-कृष्ट-पच्याः पश्यन्तौ ततो दाशरथी लताः ॥

रत्नाऽन्न-पान-कुप्यानामाटतुर् नष्टसंस्मृती. ॥ ५८ ॥

अकृष्टपच्या इत्यादि—ततो निशाचरगमनानन्तरं दाशरथी रामलक्ष्मणा-वाटतुर्गतवन्तौ । कीदृशौ । नष्टा संस्मृतिः ययोः । केषां संस्मृतिः । रत्नान्नपान-कुप्यानाम् । रत्नान्नपानानि प्रसिद्धानि । कुप्यं स्पर्णरजताभ्यामन्यत् वस्तु तत् । संज्ञायां क्यप् । गुपेरादेः गकारस्य ककारः । कर्मणि षष्ठी । लताः पश्यन्तौ । कृष्टे पच्यन्ते इति कृष्टपच्याः । पूर्ववत् क्यप् । पश्चान्नञ्समासः । स्वयमेव पच्यन्ते यास्ता इत्यर्थः ॥

३५०—समुत्तरन्ताव-व्यथ्यौ नदान् भिद्योऽन्न-सन्निभान् ॥

सिध्य-तारामिव ख्यातां शबरीमापतुर् वने. ॥ ५९ ॥

समुत्तरन्तावित्यादि—तौ तस्मिन् वने शबरीमापतुः ग्रासवन्तौ । अन्यथ्यौ न व्यथेते इति पूर्ववत् क्यप् । परिश्रमवर्जितावित्यर्थः । नदान् समुत्तरन्तौ । कीदृशान् । भिद्योऽन्नसन्निभान् । भिद्योऽन्नौ नदविशेषौ । '२८६६। भिद्योऽन्नौ-३। १। १। १।' इति पूर्ववत् निपातितम् । भिनत्ति कूलमिति भिद्यः । उज्ज्वल्यु-दकमिति उच्चः । '१३८८। उज्ज्वं उत्सर्गः' । दकारात्परस्य धकारो निपात्यते । तत्सदृशान् नदान् । सिध्यतारामिव ख्याताम् । सिध्यन्त्यस्मिन्निति सिध्यः । '२८६७। पुण्य-सिध्यौ नक्षत्रे । ३। १। १। १।' इति निपातनात् । पुण्याख्यां तारा-मिव ख्यातां शबरीम् ॥

३५१—वसानां वल्कले शुद्धे

विपूयैः कृत-मेखलाम् ॥

क्षामामञ्जन-पिण्डाऽऽभा

दण्डिनीर्मजिनाऽऽस्तराम् ॥ ६० ॥

वसानामित्यादि—वसानां परिदधानां वल्कले त्वचौ । विपूर्यैर्मुञ्जैः कृत-
मेखलां कृतकटिसूत्राम् । यद्यपि विपूर्यस्य पवतेर्विपूर्य इत्यादिना मुञ्जे निपातितं,
तथापि मुञ्जानामनुपहतत्वं ज्ञापयितुं विपूर्यैरिति विशेषणं, पवित्रैरित्यर्थः ।
मुञ्जशब्दस्तदानीं सामान्यमाह । विपूर्यैरित्युक्ते मुञ्जैरित्युपादानमनर्थकम् । एवं
कृत्वा पाठान्तरमुच्यते वसानां वल्कले शुद्धे विपूर्यैरिति । क्षामां कृशाम् ।
‘३०३१। क्षायो मः । ८। २। ५३।’ इति निष्ठात्वम् । अञ्जनपिण्डस्येवाभा यस्या
अस्तीति तां कृष्णाम् । दण्डिनीं गृहीतदण्डाम् । आस्तीर्यत इति आस्तरः
‘३२३२। ऋदोरप् । १३। १। ५७।’ अजिनमास्तर उत्तरासङ्गो यस्यास्तामजिनास्तराम् ॥

३५२—प्रगृह्य-पद-वत् साध्वीं स्पष्ट-रूपाम्-विक्रियाम् ॥

अ-गृह्यां वीत-काम-त्वाद् देव-गृह्यार्म-निन्दिताम् ६१

प्रगृह्येत्यादि—अविक्रियामजातविकारां अत एव स्पष्टरूपाम् । एवं च
साध्वीं साधुचरिताम् । किमिव प्रगृह्यपदवत् । यस्य पदस्य प्रगृह्यसंज्ञा तत् पदं
प्रगृह्यम् । ‘२८६९। प्रत्यपिभ्यां ग्रहेः । १३। १। १८।’ इत्यनुवृत्तौ ‘२८७०। पदा-
स्त्रैरि-। १३। १। १९।’ इत्यादिना प्रपूर्वाद्ग्रहेः पदेऽभिधेये क्यप् । यथा तत्पदमवि-
काररूपत्वात् स्पष्टं साधु च । ‘९०। छुतप्रगृह्या अचि-। ६। १। १२५।’ इति प्रकृ-
तिभावेन स्वरसन्ध्यभावादित्यर्थः । कथमजातविक्रियेति चेदाह—अगृह्यां ग्रहेर-
स्त्रैरविषये क्यप् । गृह्या अस्त्रैरिणी अस्वतन्त्रा न भवतीत्यगृह्या । कस्मात् । वीत-
कामत्वात् । वीतरागा हि स्वतन्त्रा भवन्ति । देवगृह्याममरपक्षात् । पक्षविषये
क्यप् । एवं चानिन्दितामगर्हिताम् ॥

३५३—धर्म-कृत्य-रतां नित्यम-वृष्य-फल-भोजनाम् ॥

दृष्ट्वा ताममुचद् रामो युग्याऽऽयात इव श्रमम् ॥ ६२ ॥

धर्मकृत्यरतामित्यादि—पुण्यकर्मरतां नित्यम् । अवृष्यफलभोजनाम् ।
अवृष्याणीन्द्रियाविकारनिमित्तानि फलानि भोजनं यस्याः । ‘२८७१। विभाषा
कृ-वृषोः । १३। १। २०।’ इति क्यप् । दृष्ट्वा तां तथाविधाम् । श्रमममुचत् मुक्तवान् ।
तद्दर्शनाह्लादित्वात् । युग्यायात इव चाहर्तुं प्राप्त इव क्यप् । ‘२८७३। युग्यं च
पत्रे । १३। १। २१।’ इति निपातितम् ॥

३५४—स तामूचे ऽथ—‘कच्चित् त्वममावास्या-समन्वये ॥

पितृणां कुरुषे कार्यम-पाक्यैः स्वादुभिः फलैः ॥ ६३ ॥

स इत्यादि—अथानन्तरं त्यक्तश्रमः स रामः तां शबरीमूचे उक्तवान् ।
कच्चित् किं त्वं पितृणां कुरुषे कार्यम् । क्यबभावपक्षे ‘२८७२। ऋ-हलोर्ण्यत् ।

३।१।१२४।' कदा अमावास्यासमन्वये अमावास्यायाः सम्प्राप्तौ अमावास्याया-
मित्यर्थः । '२८७४। अमावस्यदन्यतरस्याम् । ३।१।१२२।' इति निपातनम् । तत्र
हि अमाशब्दे उपपदे वसेर्धातोरमा सह वसतो यस्मिन्काले सूर्याचन्द्रमसौ
इति कालेऽधिकरणे ण्यत् । तस्मिन्नन्यतरस्यां वृद्धभावः । कैः । फलैः स्वादुभिः
मिश्रैः । अपचनीयैः अनुपहतत्वात् '२८७२। ऋहलोर्ण्यत् । ३।१।१२४।' ॥

३५५—अवश्य-पाव्यं पवसे कञ्चित् त्वं देव-भार्गविः, ॥

आसाव्यमध्वरे सोमं द्विजैः कञ्चिन् नमस्यसि ॥ ६४ ॥

अवश्यपाव्यमित्यादि—देवभाक् देवान् भजत इति '२९७६। भजो णिवः
। ३।२।६२।' तद्धविः कञ्चित् किं पवसे पवित्रीकरोषि मन्नादिना । '११९। झथो
होऽन्यतरस्याम् । ८।४।६२।' इति हकारस्य पूर्वसवर्णः । '१०३७। पूङ् पवने'
इति भौवादिकः । कीदृशम् । अवश्यपाव्यमवश्यम्भावेन पावयितव्यमित्यर्थः ।
'२८८६। ओशवश्यके । ३।१।१२५।' इति ण्यत् । '७५४। मयूरव्यंसकादयः—
। २।१।७२।' इति समासः । 'लुप्तेदवश्यमः कृत्ये तुं काम-मनसोरपि' इति
मकारलोपः । सोममोषधिविशेषम् । असाव्यमभिषवाहम् । आङ्पूर्वात्सुनोतेः
'२८८७। आसुयु-वपि—। ३।१।१२६।' इत्यादिना ण्यत् । अध्वरे यज्ञे द्विजैः सह
कञ्चित्त्वं नमस्यसि नमस्करोषि ॥

३५६—आचाम्यं सन्ध्योः कञ्चित् सम्यक् ते न प्रहीयते, ॥

कञ्चिदग्निमिवाऽऽनाय्यं काले संमन्यसेऽतिथिम् ॥

आचाम्यमित्यादि—प्रभातेऽपराह्णे च सन्ध्ययोर्ब्रह्माचाम्यमुपस्पर्शनम् ।
पूर्ववत् ण्यत् । कञ्चित्सम्यक् यथावत्तव तत्र न प्रहीयते न तस्य हतिर्भवति ।
काले आतिथ्योचिते काले कञ्चित् अतिथिं संमन्यसे पूजयसि । अग्निमिवाना-
य्यम् यथा अग्निं आनाय्यम् । दक्षिणाग्निं मन्यसे तद्वत् । '२८८८। आनाय्यो
नित्ये । ३।१।१२७।' इति नयतेराङ्पूर्वस्य ण्यदायादेशौ निपात्येते ।

३५७—न प्रणाय्यो जनः कञ्चिन् निकाय्यं तेऽधितिष्ठति ॥

देव-कार्य-विघाताय धर्मद्रोही महोदये ! ॥ ६६ ॥

१—'७१९। यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर मखः क्रतुः ।' इति ना० अ० । २—'१२३६
दन्त-विप्रा ऽण्डजा द्विजाः ।' इति ना० अ० । द्विज-शब्दार्थाख्यः सुन्दरीवृत्तेन—'द्विज-
राज-शिरोभणेरभिदां द्विज-राज-ध्वज-शालिनश्च यः । कलयेन् मनसाऽपि, पात्यतेऽन्तक-भृत्यैः
खलु तद्-द्विजोऽऽवलिः ॥' इति कोशावतंसः । द्विजो विप्रः । द्विजोऽण्डजः पक्षी । द्विजो
दन्तः । ३—'१४८९ । कञ्चित् काम-प्रवेदने ।' ४—'६९७। यो गार्हपत्यादानीय दक्षिणाग्निः
प्रणीयते । तस्मिन्नानाय्यः ।' ५—'३२४ । गृहाः पुंसि च भूज्येव निकाय्य-निलयाऽऽलयाः'
सर्वत्र ना० अ० ।

न प्रणाय्य इत्यादि—महानुदयः स्वर्गापवर्गाणां यस्याः सा तथा हे महो-
दये ! देवकार्यविधाताय देवकार्यं विहनिष्यामीति । '२१८०। भाववचनाच्च
।३।३।११।' इति भविष्यति घञ् । ५८२। तुमर्थाच्च भाववचनात् । २।३।१५।' इति
चतुर्थी । प्रणाय्योऽसंमतो जनः । '२८८९। प्रणाय्योऽसंमतौ । ३।१।१२८।' इति
निपातितम् । कश्चित् निकायं गृहं ते तव नाधितिष्ठति नाधिवसति ।
'२८९०। पाय्य-।३।१।१२९।' इत्यादिना निवासे चिनोतेर्निपूर्वात् ण्यदायादेशो
आदेः कुत्वं च । '५४२। अधि-शीङ्-स्थाऽऽसां कर्म । १।१।४६।' इति कर्मसंज्ञा ।
धर्मद्रोही धर्मद्रोहशीलः ॥

३५८—कुण्ड-पाय्य-वतां कच्चिदग्निचित्या-वतां तथा ॥

कथाभी रमसे नित्यमुपचाय्य-वतां शुभे ! ॥ ६७ ॥

कुण्डपाय्यवतामित्यादि—कुण्डेन पीयतेऽत्र क्रतौ कुण्डपाय्यः क्रतुः ।
'२०९१। क्रतौ कुण्डपाय्य-संचायौ । ३।१।१३०।' इति निपातितम् । कच्चिद-
थाभी रमसे । '१७४। दलोपे-।६।३।१११।' इति दीर्घः । तथाग्निचित्यावतां
आहिताग्निकानां कथाभी रमसे । '२८९३। चित्याग्निचित्ये च । ३।१।१३२।' इति
निपात्यते । अग्निचयनमग्निचित्या । भावे क्यप् । लुक् । तद्वतां यथोपचाय्यवतां
उपचीयते इत्युपचाय्योऽग्निः । '२८९२। अग्नौपरिचाय्य-।३।१।१२९।' इति
निपातितः । उपपूर्वाच्चिनोतेर्ण्यदायादेशौ । तद्वतां कथाभी रमसे शुभे कल्याणि ॥
इति कृत्याधिकारः ॥

अथ प्रकीर्णकाः—

अतः परं प्रकीर्णकाः—

३५९—वर्धते ते तपो भीरु ! व्यजेष्ठा विघ्न-नायकान्, ॥

अजैषीः काम-संमोहौ, संप्राप्या विनयेन वा ॥ ६८ ॥

वर्धत इत्यादि—हे कातरचित्ते, तव तपो वर्धते तस्य च ये विघ्नास्तेषां ये
नायकाः प्रणेतास्तान् व्यजेष्ठाः जितवत्यसि । लुङि '२६८५। विपराभ्यां जेः
। १।३।९९।' इत्यात्मनेपदम् । कामसंमोहौ कच्चिदजैषीः जितवत्यसि । '२२९७।
सिचि वृद्धिः-। ७।२।१।' विनयेन वा संप्राप्याः संप्राप्तासि । कर्मणि लुङ् ।
'२२८१। झलो झलि । ८।२।२६।' इति सिचो लोपः । अत्रानुक्तमपि कच्चिदिति
पदमर्थाद्योज्यम् ॥

३६०—नाऽऽयस्यसि तपस्यन्ती, गुरुन् सम्यगंतूतुषः ॥

यमान् नौदविजिष्ठास् त्वं, निजाय तपसे ऽतुषः ६९

नायस्यसीत्यादि—तपस्यन्ती तपश्चरन्ती कच्चिन्नायस्यसि न विद्यसे । तपश्चरणश्रीलीभूतेत्यर्थः । ‘२६७१। कर्मणो रोमन्थ—१३।१।१५।’ इति क्यङ् । ‘तपसः परस्मैपदं च ।’ गुरुन् आचार्यादीन् सम्यक् यथावदनुवृत्त्याऽतुतुषः तोषितवत्यसि । तुषेर्ण्यन्तस्य लुङि रूपम् । चङि णिलोपादि । यमान्मृत्योर्नो-दविजिष्ठाः नामैषीः । पुण्यकृतां न मृत्युभयमित्यर्थः । ओविजेरात्मनेपदम् । लुङि सिच इद् । ‘२५३६। विज इद् । १।२।२।’ इति सिचो ङित्वे न गुणः । निजायात्मीयाय तपसे । अतुषः तुष्टवत्यसि । ‘२३४३। पुषादि—१३।१।५५।’ इत्यङ् ॥

३६१—अथाऽर्घ्यं मधुपर्काऽऽद्यमुपनीयाऽऽदरादसौ ॥

अर्चयित्वा फलैरर्च्यो सर्वत्राऽऽख्यदनामयम् ॥७०॥

अथेत्यादि—अथानन्तरमसौ शबरी अर्घ्यमर्घार्थम् । ‘२०९३। पादार्घ्याभ्यां च । ५।३।२५।’ इति यत् । मधुपर्काद्यम् । दधिमधुमिश्रमुदकं मधुपर्कः तदाद्यं आदौ भवमाद्यं तदुपनीयादरात् फलैरर्चयित्वा । अर्च्यो अर्चनार्हो ण्यत् । राम-लक्ष्मणौ सर्वत्रोक्तेषु अनामयं कल्याणं आख्यत्कथितवती । ‘२४३८। अस्यति—१३।१।५२।’ इत्यङ् ॥

इति प्रकीर्णकाः ।

अतः परं कृदधिकारः—

अथ कृदधिकारमाह—कृत्यानां कृदन्तर्भावेऽपि भावकर्मणोः कृत्या इति विशेषप्रतिपादनार्थः पृथगाधिकारः । शेषास्तु कृतः कर्तरि भवन्ति ‘७८१। तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् । ३।१।९२।’ इत्येतदधिकृतम् । यत्रैतन्नावतिष्ठते तान् कृतो दर्शयन्नाह—

३६२—‘सख्यस्य तव सुग्रीवः कारकः कपि-नन्दनः, ॥

द्रुतं द्रष्टासि मैथिल्याः,’ सैवमुक्त्वा तिरोऽभवत् ॥

सख्येत्यादि—सा शबरी तिरोऽभवदन्तर्भूता । एवमुक्त्वा । किं तद्-इत्याह—तव सख्यस्य सखित्वस्य । ‘१७९१। सख्युर्यः । ५।१।१२६।’ कर्मणि षष्ठी । कारकः सुग्रीवः । ‘२८९५। ण्वुल्-तृचौ । ३।१।१३३।’ इति ण्वुल् । त्वया सह मैत्रीं करिष्यति । कपिनन्दनः कपीनां नन्दयिता । ‘२८९६। नन्दि-ग्रहि—१३।१।१३४।’ इत्यादिना ल्युः । कृद्योगे षष्ठी । ततो द्रुतं द्रष्टासि मैथिल्याः । पूर्ववत्कर्तरि तृच् कर्मणि षष्ठी । असीति वर्तमाने लट् ॥

३६३—नन्दनानि मुनीन्द्राणां रमणानि वनौकसाम् ॥

वनानि भेजतुर् वीरौ ततः पाम्पानि राघवौ ॥७२॥

१४२ भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

नन्दनानीत्यादि—तत उक्तादनन्तरं वीरौ राघवौ रामलक्ष्मणौ वनानि
भेजतुः सेवितवन्तौ । एत्वाभ्यासलोपौ '२३०१ । दृ-फल-१६।१।१२२।' इत्या-
दिना । पाम्पानीति पम्पाया अदूरम् । '१२८२ । अदूरभवश्च । १२।७०।' इत्य-
ण् । मुनिन्द्राणां नन्दनानि प्रमोदकारीणि । वनौकसां वनेचराणाम् । '१३०२ ।
उच्चं समवाये ।' अस्मादौणादिकोऽसुम् । पृषोदरादित्वादर्णविपर्ययः । वनमोको
येषां तेषां रमणानि रतिजनकानि । '२८९६ । नन्दि-१३।१।१३४।' इत्यादिना
ल्युः । कर्मणि षष्ठी ॥

३६४—'भृङ्गाली-कोकिल-कुङ्भिर्

वाशनैः पश्य लक्ष्मण ! ॥

रोचनैर् भूषितां पम्पा-

मस्माकं हृदयाविधम् ॥ ७३ ॥

भृङ्गालीत्यादि—हे लक्ष्मण ! पम्पां पश्य । अस्माकं हृदयाविधम् । चेतः-
पीडयन्तीम् । हृदयं विध्यतीति क्तिप् । '२४१२ । ग्रहि ज्या-१६।१।१६।' इत्या-
दिना संप्रसारणम् । '१०३७ । नहि-वृत्ति-१६।३।११६।' इति पूर्वपदस्य दीर्घः ।
भूषितां । काभिः । भृङ्गालीभिः अमरपङ्क्तिभिः । कोकिलैः । कुङ्भिः कौञ्चैः ।
वाशनैः कूजद्भिः । रोचनैः शोभनैः । कुङ् इति '३७३ । ऋत्विग्-१३।२।५९।' इत्यादिना क्तिन् । निपातनसामर्थ्यादनुनासिकलोपाभावः । '५४ । संयोगान्तस्य
लोपः । ८।२।२३।' । '३७७ । क्तिन्प्रत्ययस्य-१८।२।६२।' इति कुत्वम् ॥

३६५—परिभावीणि ताराणां पश्य मन्थीनि चेतसाम् ॥

उद्भासीनि जले-जानि दुन्वन्त्य-दयितं जनम् ॥ ७४ ॥

परिभावीणीत्यादि—जलेजानि पद्मानि पश्य । '९७२ । तत्पुरुषे कृति-
१६।३।१४।' इत्यादिनाऽलुक् सप्तम्याः । उद्भासीनि भासमानानि । अत एव
ताराणां परिभावीणि तिरस्कृष्टाणि । ततश्चेतसा मन्थीनि पीडाकराणि । अतो
जनमदयितं प्रियारहितं दुन्वन्ति । '१३३६ । दुडु उपतापे' सौवादिकः । मन्थो-
द्भासपरिभूय्यो ग्रहादित्वाणिनिः ॥

३६६—सर्वत्र दयिताऽधीनं सु-व्यक्तं रामणीयकम्, ॥

येन जातं प्रियाऽपाये कद्-वदं हंस-कोकिलम् ॥ ७५ ॥

सर्वत्रेत्यादि—हे लक्ष्मण ! सर्वत्र यत्किञ्चिद्रामणीयकं रमणीयस्य भावः ।
'१७९७ । योपधात्-१५।१।१३२।' इति वुञ् । तत्सर्वं दयिताधीनं दयिताय-
त्तम् । '२०७९ । अवडक्ष-१५।३।७।' इत्यादिनाध्युत्तरपदात्त्वः । सुव्यक्तं स्पष्टम् ।
कुतः । प्रियाया अभावे सति हंसकोकिलं हंसाश्च कोकिलाश्चेति शकुनित्वात्
द्वन्द्वैकत्वम् । कद्दं कुत्सितप्रलपितं वदतीति पचाद्यच् । कुत्सितं वदतीति

‘१०२८। रथ-वदयोश्च । ६।३।१०२।’ इति कोः कदादेशः । दयितायां सत्यं मधुरप्रलापमासीदित्यर्थः ॥

३६७—पक्षिभिर् वितुदैर् यूनां

शाखिभिः कुसुमोत्किरैः ॥

अ-ज्ञो यो, यस्य वा ना ऽस्ति

प्रियः, प्रग्लो भवेन् न सः ॥ ७६ ॥

पक्षिमिरित्यादि—‘१५४०। उत्तदिर् हिंसाऽनादरयोः ।’ इत्यस्मादिगुपध-लक्षणः कः । यूना वितुदैः हिंसकैः पक्षिभिः शाखिभिर्वृक्षैश्च । व्रीह्यादित्वा-दिनिः । कुसुमोत्किरैः । उत्किरन्ति उत्क्षिपन्तीत्युत्किराः । पूर्ववत्कः । कुसुमा-नामुत्किराः । कृद्योगलक्षणां षष्ठीं विधाय समासः । तैर्हेतुभूतैः करणभूतैर्वर्षा स प्रग्लो न भवेत् । प्रकर्षेण ग्लायते प्रग्लः । ‘२८९८ आतश्चोपसर्गे । ३।१।-१३६।’ इति कः । योऽज्ञः गुणदोषानभिज्ञः । जानातीति ज्ञः । पूर्ववत्कः । यस्य वा प्रियो जनो नास्ति तस्य प्रयोजनाभावः सर्वत्र विवेकित्वात् । ग्रीणातीति प्रियः । पूर्ववत् कः ॥

३६८—ध्वनीनामुद्धमैरैभिर् मधूनामुद्धयैर् भृशम् ॥

आजिघ्रैः पुष्प-गन्धानां पतगैर् ग्लपिता वयम् ॥ ७७ ॥

ध्वनीनामित्यादि—पतगैर्भ्रमरैर्ग्लपिताः पीडिताः वयम् । ‘ग्ल-स्त्रा-व-जु-वमां च’ इति मित्वात् ह्रस्वः । ‘पतेरङ्गच् पक्षिणि’ इत्यौणादिकः । कीदृशैः । ध्वनीनामुद्धमैः ध्वनीन् कुर्वद्भिः । ‘२३६०। पा-त्रा-ध्मा-। ७।३।७८।’ इति धमा-देशः । मधूनामुद्धयैः मधूनि पुनः पुनः पिबद्भिः । ‘९६८। घेद् पाने’ इत्यस्याया-देशः । आजिघ्रैः पुष्पगन्धानां पुष्पगन्धान् जिघ्रद्भिः । पूर्ववजिघ्रादेशः । सर्वत्र ‘२८९९। पा-त्रा-ध्मा-घेद्-दृशः शः । ३।१।१३७।’ इति शः । कृद्योगलक्षणा षष्ठी ॥

३६९—धारयैः कुसुमोर्मीणां पारयैर् बाधितुं जनान् ॥

शाखिभिर् हा हता भूयो हृदयानामुदेजयैः ॥ ७८ ॥

धारयैरित्यादि—हा कष्टं शाखिभिर्दुर्भूयोऽत्यर्थं वयं हताः । कीदृशैः । हृदयानामुदेजयैः चेतसामुत्कम्पकैः । धारयैः कुसुमोर्मीणां कुसुमनिचयान् धार-यद्भिः । जनान् मद्विधान् बाधितुं पीडयितुं पारयद्भिः समर्थैः । ‘९६६। घञ् धारणे’, ‘११६०। पुं पालन-पूरणयोः’, ‘२३३। एज् कम्पने च ।’ एभ्यो णिजन्ते-भ्यः ‘२९००। अनुपसर्गांलिम्प-विन्द-। ३।१।१३८।’ इत्यादिना शः ॥

१४४ भट्टि-कान्वे—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

३७०—ददैर् दुःखस्य मादृग्भ्यो धायैरामोदमुत्तमम् ॥

लिम्पैरिव तनोर् वातैश् चेतयः स्याज् ज्वलो न कः.

ददैरित्यादि—वातैर्ददैः दुःखस्य दुःखं ददद्भिः । केभ्यः । मादृग्भ्यः । अस्मा-
दृशेभ्यो विरहिभ्यः । '४२९। त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च । ३।२।६०।' इति
किन् । '१०१७। दृग्-दृश्-वतुषु । ६।३।८९।' इत्याकारः । धायैरामोदमुत्तमं
आमोदं प्रियासङ्गमेन हर्षं यावद्विरहिभ्यो दत्तस्य दुःखस्य धायैः पोषकैरित्यर्थः ।
उत्तममिति क्रियाविशेषणम् । उत्तममामोदं धायैः कुसुमानां परिमलं धारय-
द्भिरिति व्याख्याने अनित्यत्वात् कृतप्रयोगे कर्मषष्ठ्यभावः । लिम्पैरिव तनोः शरीरं
लिम्पद्भिरिव । वातैर्हेतुभिः । को नाम विरहाग्निना यश्चेतयमानः ज्वलन्नाग्निरिव
न स्यात् । किन्तु भवेदेवेति भावः । ददैर्धायैरिति '२९०३। श्याब्धधा-। ३।१।-
१४१।' इति आकारान्तलक्षणे शे प्राप्ते '२९०१। ददाति-दधात्योः-। ३।१।१३९।' इति
शाणौ भवतः । शे आतो लोपः । णे चातो युक् । लिम्पश्चेतय इति
'२९००। अनुपसर्गात्-। ३।१।१३८।' इति शः । ज्वल इति '२९०२। ज्वलिति-
कसन्तेभ्यो णः । ३।१।१४०।' इति णस्य विकल्पनात्पचाच्च ॥

३७१—अवश्याय-कणाऽऽस्त्रावाश् चारु-मुक्ता-फल-त्विषः ॥

कुर्वन्ति चित्त-संस्त्रावं चलत्-पर्णाऽग्र-संभृताः ॥ ८० ॥

अवश्यायेत्यादि—अवश्यायत इत्यवश्यायः । तस्य कणा बिन्दवः । आस्त्र-
वन्तीत्यास्त्रावाः क्षरन्तः । '२९०३। श्याब्धधा-। ३।१।१४१।' इति णः कर्तरि ।
तयोर्विशेषणसमासे राजदन्तादिवात्परनिपातः । ते कुर्वन्ति चित्तसंस्त्रावम् ।
संस्त्रवतीति संस्त्रावः । पूर्ववत् णः । चित्तं संस्त्रावं चलत्कुर्वन्ति इत्यर्थः । पूर्ववत्
समास-परनिपातौ । कीदृशाः, चलत्पर्णाग्रसंभृताः संगलिताः । अत एव चारु-
मुक्ताफलत्विषः दर्शनीयमुक्ताफलानुकारिणः । सीताहारस्थमुक्ताफलानि स्मार-
यन्तीत्यर्थः ॥

३७२—अवसायो भविष्यामि दुःखस्याऽस्य कदा न्वहम्, ॥

न जीवस्याऽवहारो मां करोति सुखिनं यमः ॥ ८१ ॥

अवसाय इत्यादि—कदा नु काले अहं दुःखस्यानुभूयमानस्य अवसायो-
ऽन्तकरो भविष्यामि येन जीवस्यावहारोऽवहर्ता यमो मां सुखिनं न करोति
मारयतीत्यर्थः । अवस्यति इति अवसायः । '१२२२। षोऽन्तकर्मणि' । अवहर-
तीयवहारः । '२९०३। श्याब्धधा-। ३।१।१४१।' इति सर्वत्र णः । युक् ॥

३७३—दह्येऽहं मधुनो लेहैर् दावैर्ह्रैर् यथा गिरिः, ॥

नायः कोऽत्र स, येन स्यां वर्ताऽहं विगत-ज्वरः ॥ ८२ ॥

१—'१०१ अवश्यायस्य तु नीहारस्य तुषारस्य तुहिनं हिमम् । प्रालेयं मिहिका
च' इति ना० अ० ।

दह्य इत्यादि—मधुनो लेहैर्भृङ्गैः अहं दह्ये । ‘२९०३। श्याब्धधा-।३।१।-१४१।’ इति णः । दावैर्वनाग्निभिर्ह्रैः प्रचण्डैर्यथा गिरिर्दह्यते तद्वत् । अत्र को नायः नयतीति नायः उपायः ईप्सितप्रापकः । उभयत्र ‘२९०४। दु-न्योः-।३।-१।१४२।’ इति णः । येन नायेन विगतज्वरः विगतपीडः स्यामिति । आशंसायां लिङ् । बत खेदे ॥

३७४—समाविष्टं ग्रहेणैव ग्राहेणैवाऽऽत्तमर्णवे ॥

दृष्ट्वा गृहान् स्मरस्यैव वनाऽन्तान् मम मानसम्. ८३

समाविष्टमित्यादि—वनान्तान् वनपर्यन्तान् । स्मरस्य कामस्य गृहमिव । उन्मादकत्वात् । ‘२९०६। गेहे कः ।३।१।१४४।’ इति ग्रहेः कः । अर्धर्चादि-पाठात् पुंलिङ्गता । दृष्ट्वा मम स्थितस्येत्यर्थात् योज्यम् । अन्यथा कथं समा-नकर्तृकत्वम् । मानसं चेतः ग्रहेणाङ्गाकारकादिना । समाविष्टमिव विगृहीतमिव । ‘२९०५। विभाषा ग्रहः ।३।१।१४३।’ इति णप्रत्ययः । अचोऽपवादः । तत्र व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात् जलचरे ग्राहः ज्योतिषि ग्रह इति जलचरे वाच्ये-ऽचोपवादो णप्रत्ययः । ज्योतिषि वाच्येऽच् प्रत्ययः । ग्राहेणेवात्तमर्णवे । अर्णः पानीयं यत्रास्तीति । ‘१९१६। केशाद्भोऽन्यतरस्याम् ।५।२।१०९।’ इत्यत्र ‘अर्ण-सो लोपश्च’ इति भूञ्चि नित्ययोगेऽतिशायने वा वः सलोपश्च । अर्णवे समुद्रे वर्तमानेन ग्राहेण नक्रादिना आत्तं गृहीतम् । आङ्पूर्वस्य दाजः ‘३०७८। अच उपसर्गात्तः ।७।४।४७।’ ॥

३७५—वाताऽऽहति-चलच्च-च्छाखा नर्तका इव शाखिनः ॥

दुःसहा ही परिक्षिताः कणञ्जिरलि-गाथकैः. ॥ ८४ ॥

वातेत्यादि—ही कष्टं एते शाखिनः नर्तका इव । ‘२९०७। शिल्पिणि ध्वन् ।३।१।१४५।’ दुःसहा दुःखेन सह्यन्त इति ‘३३०५। ईषद्-।३।१।१२६।’ इत्यादिना खल् । नर्तकैः साधर्म्यमाह । वाताहतिचलच्छाखा वाताहतिभिः चलन्त्यः शाखा बाहुलता इव येषां ते । अल्यो भ्रमराः कणन्तः । गाथका गा-यना इव । ‘२९०८। गस्थकन् ।३।१।१४६।’ तैश्च परिक्षिताः परिवेष्टिता इति ॥

३७६—एक-हायन-सारङ्ग-गती रघु-कुलोत्तमौ ॥

लवकौ शत्रु-शक्तीनामृष्यमूकमगच्छताम्. ॥ ८५ ॥

एकहायनेत्यादि—रघुकुलोत्तमौ रामलक्ष्मणौ । ऋष्यमूकमगच्छतां गत-वन्तौ । लङ्गि रूपम् । हायनः संवत्सरः स एको यस्य सारङ्गस्य मृतस्य तस्येव गतिर्ययोः शीघ्रगामित्वात् । ‘२९१०। हश्च व्रीहि-कालयोः ।३।१।१४८।’ इति हा धातोर्ण्युद् । आतो युक् । तौ शत्रुशक्तीनां लवकौ अपनेतारौ । ‘२९११।

१—‘भूम निन्दा-प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।’ इति मत्वर्थीय इत्यर्थः । २—‘१५२। संवत्सरो वत्सरोऽब्दो हायनोऽस्त्री शरत् समाः ।’ इति ना० अ० ।

१४६ भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

मु-स-त्वः समभिहारे-॥३१११४९॥ इति । तत्र समभिहारग्रहणं साधुकारित्वोपलक्षणार्थम् ॥

३७७-तौ वालि-प्रणिधी मत्वा सुग्रीवोऽचिन्तयत् कपिः, ॥

‘बन्धुना विगृहीतोऽहं भूयासं जीवकः कथम्.’ ॥८६॥

तावित्यादि—तौ रामलक्ष्मणौ वालिनः प्रणिधी चरौ मत्वा सुग्रीवः कपि-रचिन्तयत् चिन्तितवान् । प्रणिधीयते नियुज्यते कार्येषु प्रणिधिः । ‘३२७०। उपसर्गे घोः किः ॥३११२२॥’ बन्धुना भ्रात्रा विगृहीतो विरोधितः सन् कथं जीवको भूयासमिति । आशंसायां लिङ् । जीवेः ‘२९१२। आशिषि च ॥३१११-१५०॥’ इति वुन् ॥

इति निरुपपदकृदधिकारः ।

इतः प्रभृति ‘७८१। तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् ॥३११२२॥’ इति अस्योपस्थापनेन कृतो दर्शयन्नाह—

३७८-स शत्रु-लावौ मन्वानो राघवौ मलयं गिरिम् ॥

जगाम स-परीवारो व्योम-मायमिवोत्थितम् ॥ ८७ ॥

स इत्यादि—स सुग्रीवः सपरीवारः सपरिकरः । ‘१०४४। उपसर्गस्य घञि-॥६॥१२२॥’ इति दीर्घः । कपीनाममनुष्यत्वात् । मलयं गिरिं जगाम । राघवौ शत्रुलावौ शत्रून् लुनातीति ‘२९१३। कर्मण्यण् ॥३२११॥’ शत्रूणांमुन्मूलकाविति मन्वानोऽवगच्छन् । ‘१५६६। मनु अवबोधने ।’ इत्यस्यादात्मनेपदिनः ‘२४६६। तनादिकृञ्भ्य उः ॥३११७९॥’ व्योममायमिवोत्थितं व्योम आकाशं मिमीत इति ‘२९१४। ह्वावामश्च ॥३२२२॥’ इत्यण् । नभः परिच्छेत्तुमिवोत्थितं कियत्प्रमाणमस्येति ॥

३७९-शर्म-दं मारुतिं दूतं विषम-स्थः कपि-द्विपम् ॥

शोकाऽपनुदर्म-व्यग्रं प्रायुङ्क्त कपि-कुञ्जरः. ॥ ८८ ॥

शर्मदमित्यादि—कपिकुञ्जरः सुग्रीवः हनुमन्तं दूतं प्रायुङ्क्त प्रस्थापित-वान् ‘७४१। वृन्दारक-नाग-कुञ्जरैः-॥२११६२॥’ इत्यादिना कर्मधारयः सः । वृत्तान्तं ज्ञातुमित्यर्थात् प्रायुङ्क्त इति ‘२७३५। प्रोपाभ्यां युजेः-॥११३१६१॥’ इत्यात्मनेपदम् । ‘२५४३। रुधादिभ्यः शम् ॥३११७८॥’ कपिकुञ्जरः किम्भूतः । विषमे दुर्गोपवर्ते तिष्ठतीति विषमस्थः । ‘२९१६। सुपि स्थः ॥३२१४॥’ इति कः । मारुतिं कीदृशम् । शर्म कल्याणं ददातीति शर्मदः । ‘२९१४। आतोऽनुप-सर्गे कः ॥३२१३॥’ इति कः । श्रेष्ठत्वमाह । कपिद्विपं कपिश्रेष्ठम् । द्वाभ्यां पिब-तीति द्विपः । कपिरयं द्विप इव । ‘७३५। उपमितं व्याघ्रादि-॥२११५६॥’ इत्या-

२-‘१७७६। यथार्हवर्णः प्रणिधिरपसर्पश् चरः स्वशः । चारश् च गृदपुरुषः ।’ इति ना० म० ।

दिना कर्मधारयः । युनः कीदृशम् । शोकापनुदं शोकमपनुदति । '२९१९। तुन्द-
शोकयोः-।३।२।५।' इति कः । अव्यग्रं सुचित्तमित्यर्थः ॥

३८०—विश्वास-प्रद-वेषो ऽसौ पथि-प्रज्ञः समाहितः ॥

चित्त-संख्यो जिगीषूणामुत्पपात नभस्-तलम्, ॥८९॥

विश्वासेत्यादि—असौ मारुतिर्नभस्तलमुत्पपात । विश्वासं प्रददातीति
विश्वासप्रदः । '२९२०। मे दाज्ञः ।३।२।६।' इति कः । विश्वासप्रदो वेषो यस्य
भिषुवेष इत्यर्थः । वेप्यते आत्मानेनेति '३१८८। अकर्तरि च कारके-।३।३।१९।' इति घञ् । '११७०। विप्लं व्यासौ' इत्यस्य रूपम् । पन्थानं प्रजानातीति पथि-
प्रज्ञः समाहितः अभ्रान्तचित्तः 'इदमादिष्टं इदं च मया तत्र वक्तव्यम्' इति ॥
जिगीषूणां जेतुमिच्छताम् । चित्तसंख्यः चित्तं संख्याति परिच्छिनसीति '२९२१।
समि ख्यः ।३।२।७।' इति कः ॥

३८१—सुरा-पैरिव घूर्णद्भिः शाखिभिः पवनाऽऽहतैः ॥

ऋष्यमूकमगाद् भृङ्गैः प्रगीतं साम-गैरिव. ॥ ९० ॥

सुरापैरित्यादि—मारुतिर्ऋष्यमूकमगात् । शाखिभिरुपलक्षितम् । घूर्णद्भिः
कम्पमानैः पवनाहतत्वात् । अत एव सुरापैरिव मत्तैरिव । '२९२२। गापोष्टक्
।३।२।८।' इत्यत्र 'पिबतेः सुरा-शीध्वोः' इति ठक् । प्रगीतं प्रगीयतेऽनेति ।
अधिकरणे क्तः । कैर्भृङ्गैः सामगैरिव सामवेदपाठकैरिव । साम गायन्तीति '२९२३।
गापोष्टक् ।३।२।८।' ॥

३८२—तं मनो-हरमागत्य गिरिं वर्म-हरौ कपिः ॥

वीरौ सुखाऽऽहरो ऽवोचद् भिक्षुर् भिक्षार्ह-विग्रहः. ॥

तमित्यादि—ऋष्यमूकं गिरिमागत्य कपिर्वीरौ रामलक्ष्मणौ अवोचत् उक्त-
वान् । कीदृशम् । मनोहरं रम्यत्वात् । मनो हरतीति '२९२३। हरतेरनुद्यमनेऽच्
।३।२।९।' वर्महरौ कवचं हर्तुं क्षमौ । संभाव्यमानवयसावित्यर्थः । '२९२४। वयसि
च ।३।२।१०।' इत्यच् । सुखाहरः सुखाहरणशीलः । '२९२५। आङि ताच्छील्ये
।३।२।११।' इत्यच् । भिक्षुः परित्राड्वेषः न कपिरूपः यतो विश्वासप्रदवेष इत्युक्तम् ।
भिक्षार्हविग्रहः भिक्षायोग्यशरीरः कृशत्वादित्यर्थः । भिक्षामर्हतीत्यच् ॥

३८३—'वल्लिनावमुमद्रीन्द्रं युवां स्तम्बे-रमारिव ॥

आचक्षाथां मिथः कस्माच्छङ्करेणां ऽपि दुर्गमम् ॥९२॥

१—'८२९। तनुत्रं वर्मं दर्शनम् ।' २—'६३४। अथ कलेवरम् । गात्रं वपुः संहननं शरीरं
वर्षी विग्रहः ॥' ३—'७९९। दन्ती दन्तावलो हस्ती द्विदोऽनेकपो द्विपः ॥ मतङ्गजो गजो
नागः कुञ्जरो वारणः करी । इभः स्तम्बेरमः पद्मी ।' इति ना० अ० ॥

१४८ भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

बलिनावित्यादि—युवां अमुं अदीन्द्रम् । कस्मात् कारणान्मिथः प्राप्तौ ।
'१११८। इण् गतौ ।' इत्यस्मात् '२७८९ । वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा
।३।३।१३।' इति यसि रूपम् । भूते लट् थस् । एतदाचक्षार्थां कथयतम् ।
लोपि रूपम् । बलिनौ बलवन्तौ । यतः शङ्करेणापि महादेवेनापि दुर्गमं दुःखेन
गम्यते । काविव । स्तम्भेरमाविव यथा मत्तद्विपौ प्राप्नुतस्तद्वत् । '२९२७।
स्तम्ब-कर्णयोः—।३।२।१३।' इत्यच् । कर्तरि हस्तिन्यभिधेये 'हस्तिमूचकयोः'
इति वचनात् । शङ्कर इति '२९२८। शमि धातोः—।३।२।१३।' इत्यच् ॥

दुर्गमत्वदर्शनायाह—

३८४—व्याप्तं गुहा-शयैः क्रूरैः क्रव्याद्भिः स-निशाचरैः ॥

तुङ्ग-शैल-तरु-च्छन्नं मानुषाणाम-गोचरम् ॥ ९३ ॥

व्याप्तमित्यादि—कीदृशमदीन्द्रं क्रव्यमपक्वमांसं भक्षयद्भिः । क्रव्योपपदा-
ददेः '२९७८। क्रव्ये च ।३।२।६९।' इति विद् । क्रूरैः हिंसकैः सिंहादिभिः
सनिशाचरैः राक्षससहितैर्व्याप्तम् । गुहाशयैः गुहायां शोरेते इति शीङः '२९२९।
अधिकरणे शोतेः ।३।२।१५।' इत्यच् । तुङ्गाः उच्चाः शैलाः शिलायां भवा ये
तरवस्तैश्छन्नं व्याप्तम् । अत एव मानुषाणामगोचरं अगम्यम् । '३२९८। गोचर-
सञ्चर—।३।३।११९।' इत्यादिना निपातितः ॥

प्रागुक्तधाधिकारः । इत ऊर्ध्वं खशादिप्रत्ययानाह—

३८५—सत्त्वमेजय-सिंहाऽऽढ्यान् स्तन-धय-सम-त्विषौ ॥

कथं नाडिधमान् मार्गानागतौ विषमोपलान् ॥ ९४ ॥

सत्त्वमित्यादि—युवामिमान् मार्गानागतौ । सत्त्वमेजयसिंहाढ्यान् । सत्त्व-
मेजयन्ति ये सिंहाः । '२९४१। एजेः खश् ।३।२।२८।' । '२९४२। अरुद्विषत्
—।६।३।६७।' इति मुम् । तैराढ्यान् व्याप्तान् । सिंहग्रहणं तद्वद्विषोपलक्षणार्थम् ।
हिनस्तीति सिंहः । पृषोदरादित्वाद्गुणविपर्ययः । नाडिधमानिति । उच्चनीचाधि-
रोहणात् मुहुर्मुहुर्निःश्वासैर्नाडिं धमन्तीति '२९४५। नाडी-मुष्ट्योश्च ।३।२।३०।'
इति खश् । '२९४३। खित्यनव्ययस्य ।६।३।६६।' इति ह्रस्वः । विषमोपलान्
उन्नतपाषाणयुक्तान् । स्तनन्धयसमत्विषौ बालवत्सुकुमारौ । सामर्थ्यं पुनर्युवयो-
रचिन्त्यम् । स्तनं धयतः पिबतः । '२९४४। नासिका-स्तनयोः—।३।२।२९।' इति
खश् । '२९४२। अरुद्विषद्—।६।३।६७।' इति मुम् ॥

३८६—उत्तीर्णौ वा कथं भीमाः सरितः कूलमुद्वहाः, ॥

आसादितौ कथं ब्रूतं न गजैः कूलमुद्वजैः ॥ ९५ ॥

उत्तीर्णावित्यादि—कथं वा केनोपायेन युवां सरितो नदीरुत्तीर्णौ । भीमा-

१—'१११५। उच्च-प्रांशुतदोदयोच्छितास् तुङ्गे' इति ना० अ० ।

स्त्रासकरीः यतः कूलमुद्रहाः कूलमापूर्य वहन्त्यः । '२९४६। उदि कूले-।३।२।३१।'
इति खश् । गजैः कूलमुद्रजैः कूलं भिन्दद्भिः कथं नासादितौ न व्यापादितौ इति
ब्रूतं कथयतम् ॥

३८७—रामो ऽवोचद्धनूमन्तम्

‘आवामभ्रं-लिहं गिरिम् ॥

एव विद्वन् ! पितुः कामात्

पान्तावल्पं-पचान् मुनीन् ॥ ९६ ॥

राम इत्यादि—हनुर्वदनैकदेशः स निन्दितोऽस्यास्तीति निन्दायां मतुप ।
'३५३९। अन्येषामपि दृश्यते । ६।३।१३७।' इति दीर्घः । 'हनूमान् हनुमानपि'
इति विश्वदर्शनात् । तस्य किल जातमात्रस्य आदित्यरथं गृह्णतो हनुद्रयं भग्नमिति
श्रूयते । तं रामोऽवोचत् उक्तवान् । तत् किमित्याह—हे विद्वन्, यदुक्तं गिरि-
मावामैव आगतौ तत् पितुः कामादभिप्रायात् । आङ्पूर्वादिणो लङि रूपम् ।
अभ्रंलिहमुच्चैस्तरम् । अभ्रं लेढीति '२९४७। वहाभ्रे लिहः । ३।२।३२।' इति
खश् । किं कुर्वाणौ । पान्तौ रक्षन्तौ । मुनीन् अल्पम्पचान् अल्पसन्तुष्टान् । अल्पं
पचन्तीति '२९४९। मितनखे च । ३।२।३४।' इति मितेत्यर्थग्रहणात् खश् ।
चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद्वा ॥

कः पुनः पिता यदादेशादागतावित्यत आह—

३८८—अ-मितं-पचमीशानं सर्व-भोगीणमुत्तमम् ॥

आवयोः पितरं विद्धि ख्यातं दशरथं भुवि ॥ ९७ ॥

अमितम्पचमित्यादि—आवयोः पितरं दशरथनामानं भुवि विख्यातं
विद्धि जानीहि । '२४२५। दु-ञ्जलभ्यो हेर्भिः । ६।४।१०१।' अमितम्पचं महास-
त्रिणं पूर्ववत् खश् मुम् च । ततो नञ्समासः । ईशानमीशानशीलं स्वामिनमि-
त्यर्थः । '३१०९। ताच्छील्य-।३।२।१२९।' इत्यादिना चानश् । सर्वभोगीणं
सर्वसत्त्वभोगाय हितम् । '१६७०। आत्मन्-विश्वजन-।५।१।९।' इति खः । भोग-
शब्दोऽत्र शरीरवाची । '१९७। अद्-कुप्वाङ्-।८।४।२।' इत्यादिना णत्वम् ॥

यदि पितुरादेशादागतौ किमत्र गमनेनान्वेषयथ इत्याह—

३८९—छलेन दयिता ऽरण्याद् रक्षसा ऽरुं-तुदेन नः ॥

अ-सूर्य-पश्यया मूर्त्या हता, तां मृगयावहे.' ॥ ९८ ॥

छलेनेत्यादि—नोऽस्माकं दयिता अरण्याद्वाक्षसेन हता । कीदृशेन । अरु-
न्तुदेन मर्मैस्पृशा । '२९५०। विध्वरुपोस्तुदः । ३।२।३५।' इति खश् । मुम् ।
असूर्यम्पश्यया आदित्यगोप्यया मूर्त्या शरीरेणोपलक्षिता । '२९४१। असूर्य-लला-

१५० भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

टयोः—१३।२।३६। इति खश् । तां हतां मृगयावहे गवेषयावः । '२०४६। मृग
अन्वेषणे' स्वार्थिकण्यन्तः । युवयोः पौरुषान्वितत्वात् कथं हतेत्याह—छलेन छद्मना ॥

त्वं पुनः कस्य वेत्यत आह—

३९०—प्रत्यूचे मारुती रामम्—'अस्ति वाली'ति वानरः ॥

शमयेदपि संग्रामे यो ललाटं-तपं रविम्. ॥ ९९ ॥

प्रत्यूच इत्यादि—रामं मारुतिः प्रत्यूचे प्रत्युक्तवान् । अस्ति वालीति
नाम्ना कपीश्वरः यः संग्रामे युद्धे ललाटन्तपं सर्वेषामुपरि वर्तमानं रविं पूर्ववत्
खश् । शमयेत् पराजयेदिति सम्भावने लिङ् । वालिशब्दो नान्तः इदन्तश्च ।
तथा च 'वाली वालिश्च कथ्यते' इति शब्दभेदः ॥

३९१—उग्रं-पश्येन सुग्रीवस् तेन भ्राता निराकृतः, ॥

तस्य मित्रीयतो दूतः संग्राप्तो ऽस्मि वशं-वदः, १००

उग्रम्पश्येनेत्यादि—तेन भ्राता उग्रम्पश्यता पापं विजानता । '२९५२।
उग्रम्पश्य-१३।२।३७।' इत्यादिना निपातितम् । यश्च सुग्रीवो निराकृतोऽभिभू-
तस्तस्य हि दूतः प्राप्तोऽस्मि । वशंवदः । वशमनुकूलं वदतीति वशंवदः ।
'२९३५। प्रियं-वशो वदः खच् । १३।२।३८।' कीदृशस्य । मित्रीयतो मित्रमिच्छतः ।
'२६५७। सुप आत्मनः क्यच् । १३।१।८।' ॥

किं तेन सख्येति चेदाह—

३९२—प्रियं-वदो ऽपि नैवां ऽहं ब्रुवे मिथ्यां परं-तप !, ॥

सख्या तेन दश-ग्रीवं निहन्तासि द्विषं-तपम्. ॥ १०१ ॥

प्रियंवद इत्यादि—प्रियंवदतया लोको मिथ्या वदति । अहं प्रियंवदोऽपि
नैव मिथ्या ब्रुवे वदामि । पूर्ववत् खच् । परन्तप शत्रूणामुपतापयितः । २९५४।
द्विषत्-परयोः—१३।२।३९।' इति खच् । तेन सुग्रीवेण सख्या मित्रेण दशग्रीवं
निहन्तासि हनिष्यसि । हन्तेर्लुटि रूपम् । कीदृशं द्विषन्तपम् । शत्रूणामुपतापयि-
तारम् । पूर्ववत् खच् ॥

३९३—वाचं-यमोऽहमनृते सत्यमेतद् ब्रवीमि ते, ॥

एहि, सर्वे-सहं मित्रं सुग्रीवं कुरु वानरम्. ॥ १०२ ॥

वाचंयम इत्यादि—'२९५७। वाचंयम-पुरन्दरौ च । ६।३।६९।' इति सुमा-
गमो निपात्यते । तस्मात् सत्यमेतत् पूर्वोक्तम् । ब्रवीमि ते तुभ्यम् । तादर्थ्यं

१—'१३८। सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् । प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष
धर्मः सनातनः ॥' मनुस्मृतिः अ० ४। इति मर्म जानन्नाह—'नैवाऽहं ब्रुवे मिथ्या' इत्यादि ।
२—'७४९। तपस्वी तापसः पारिकाङ्क्षी वाचंयमो मुनिः ।' इति ना० अ० ।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके सुग्रीवाऽभिषेको नाम षष्ठः सर्गः— १५१

चतुर्थी । यत एवं तस्मादेहि आगच्छ । सुग्रीवं वानरं मित्रं कुरु । कीदृशम् ।
सर्वसहं सर्वं सहत इति '२९५८। पूःसर्वयोः-॥३॥२॥४१।' इति खच् ॥

३९४—सर्व-कष-यशः-शाखं राम-कल्प-तरुं कपिः ॥

आदायाऽभ्रं-कषं प्रायान् मलयं फल-शालिनम्. १०३

सर्वङ्गपेत्यादि—रामः कल्पतरुरिव यस्तमादाय गृहीत्वा कपिः प्रायात्
गतः । कीदृशं रामम् । सर्वङ्गयशःशाखं सर्वं कषन्ति व्याप्नुवन्ति यानि यशांसि ।
'२९५९। सर्व-कूल-॥३॥२॥४२।' इत्यादिना खच् । तान्येव शाखा यस्य । फल-
शालिनमभिमतफलसम्पादनात् । अभ्रङ्गषमुच्चैस्तरं मलयम् । पूर्ववत् खच् ॥

३९५—मेघं-करमिवायान्तमृतुं रामं क्लमान्वितः ॥

दृष्ट्वा मेने न सुग्रीवो वालि-भानुं भयं-करम्. ॥१०४॥

मेघङ्करमित्यादि—राममायान्तं दृष्ट्वा । सुग्रीवो वालिनं भानुमिव भयंकरं
भीतिजनकं न मेने न बुद्धवान् । '२९६०। मेघर्ति-॥३॥२॥४३।' इत्यादिना खच् ।
क्लमान्वितो ग्लानो वालिभानुना पीडितत्वात् । कीदृशं रामम् । मेघङ्करं ऋतुमिव
प्रावृट्कालमिव । पूर्ववत् खच् ॥

३९६—उपा-ग्र्यकुरुतां सख्यमन्योन्यस्य प्रियं-करौ, ॥

क्षेमं-कराणि कार्याणि पर्यालोचयतां ततः. ॥ १०५ ॥

उपाग्रीत्यादि—उपाग्नि, अग्निसमीपे रामसुग्रीवौ सख्यमकुरुतां 'इतःप्रभृ-
त्वावयोः सख्यम्' इति । अन्योन्यस्य प्रियङ्करौ । '२९६१। क्षेम-प्रियमद्रेऽण्व
॥३॥२॥४४।' इति चकारात् । ततः सख्यकरणानन्तरं क्षेमङ्कराणि हितजनकानि
यथास्वं कार्याणि पर्यालोचयतां निरूपितवन्तावित्यर्थः । पटपुटेत्यत्र चुरादिकाण्डे
धातौ लोचु पठ्यते तस्य लङि रूपम् ॥

३९७—आशितं-भवमुत्कुष्टं वलितं शयितं स्थितम् ॥

बहुमन्यत काकुत्स्थः कपीनां स्वेच्छया कृतम्. १०६

आशितम्भवमित्यादि—आशितम्भवमशनम् । '२९६२। आशिते भुवः
करण-भावयोः ॥३॥२॥४५।' इति खच् । उत्कुष्टं किलकिलायितम् । वलितं धाव-
नम् । तथा शयितं स्थितं च कपीनां स्वेच्छया कृतं एतत्काकुत्स्थो बहुमन्यत
श्लाघितवान् । पुण्यभाज इमे यदेषां स्वेच्छाविहारिणां चेष्टितं, अस्माकं तु
शोकसन्तप्तानां न किञ्चिदस्तीति । सर्वत्र भावे निष्ठा ॥

३९८—ततो बलिं-दम-प्रख्यं कपि-र्विश्वं-भराऽधिपम् ॥

सुग्रीवः प्राब्रवीद् रामं वालिनो युधि विक्रमम् ॥१०७॥

तत इत्यादि—ततः कार्यालोचनानन्तरं सुग्रीवोऽब्रवीत् । लङि '२९५२।
ब्रुव ईद् ॥७॥३॥९३।' किमुक्तवान् । वालिनो युधि विक्रमं शौर्यमिति प्रधानं कर्म

१५३ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

राममित्यकथितम् । कीदृशं रामम् । बलिन्दमप्रख्यं विष्णुतुल्यम् । बलिं दमय-
तीति '२९६३। संज्ञायां भृ-वृ-जि-॥३॥२॥४६॥' इत्यादिना खच् । अमन्तस्य
मित्वहस्त्ववे । तथा विश्वं विभर्तीति विश्वम्भरा तस्या अधिपं अधिपातीत्यधिपः ।
'२८९८। आतश्चोपसर्गे-॥३॥१॥१३६॥' इति कः ॥

३९९—'वसुं-धरायां कृत्स्नायां नाऽस्ति वालि-समो बली, ॥
हृदयं-गममेतत् त्वां ब्रवीमि, न पराभवम्- ॥ १०८ ॥

वसुन्धरायामित्यादि—वसुन्धरायाम् । पूर्ववत् खच् । वालिना समो-
ऽन्यो बली बलयुक्तो नास्तीति हृदयङ्गमं मम । स्वानुभवं हि वस्तु हृदयङ्गममि-
त्युच्यते । तेन संज्ञायामित्यधिकृत्य '२९६४। गमश्च ॥३॥२॥४७॥' इति खच् । न
पुनस्त्वां पराभवमभिभवं ब्रवीमि ॥

इति खजधिकारः ।

एवंपराक्रमोऽसौ तत्र किं त्वं करिष्यसीत्याह—

४००—दूर-गैरन्त-गैर् बाणैर् भवानत्यन्त-गः श्रियः ॥

अपि संक्रन्दनस्य स्यात् क्रुद्धः, किमुत वालिनः १०९

दूरगैरित्यादि—यतो भवान् क्रुद्धः सन् संक्रन्दनस्यापि शक्रस्यापि । '२८-
९६। नन्दि-ग्रहि ॥३॥१॥१३६॥' इत्यादिना ल्युः । बाणैः करणभूतैः । दूरगैः दूरं
गच्छन्तीति । अन्तगैः कार्यसमापकैः । '२९६५। अन्तात्यन्त-॥३॥२॥४८॥' इत्या-
दिना डः । श्रियो लक्ष्म्या अत्यन्तगः विनाशयिता स्यात् । अत्यन्तं पर्यवसानं
गच्छतीति । किं पुनर्वालिनो लक्ष्म्या अत्यन्तगो भवान्विनाशयितेति ॥

४०१—वरेण तु मुनेर् वाली संजातो दैत्युहो रणे ॥

अ-वार्य-प्रसरः प्रातरुद्यन्निव तमोऽपहः ॥ ११० ॥

वरेणेत्यादि—मुनेस्तु वरेण दैत्युहः दैत्यून् शत्रून् वध्यादिति । '२९६६।
आशिषि हनः ॥३॥२॥४९॥' डः । अतो रणे अवार्यप्रसरोऽनभिभवनीयगतिः संजातः ।
क इव । तमोऽपह इव तमोऽपहः आदित्यः । तमोऽपहन्तीति । '२९६७। अमे
क्लेशतमसोः ॥३॥२॥५१॥' इति डः । प्रातः प्रभाते उद्यन् उद्गच्छन् । उत्पूर्वादिणः
शतरि इणो यण् । अवार्यप्रसरस्तद्दसावपि । सर्वं वाक्यं सावधारणं भवतीति
प्रातरुद्यन्नावार्यप्रसर एवेति तेन सर्वकाले अस्यावार्यप्रसरत्वं सिद्धं न तु प्रातरे-
वोद्यन्नावार्यप्रसर इति ॥

१—'५०। संक्रन्दनो दुक्ष्यवनस् तुराषाण मेघवाहनः । आखण्डलः सहस्राक्ष कमुक्षाः ।'
२—'७७६। रिपौ वैरि-सपत्न्याऽरि, द्विषद् द्वेषण-दुर्हृदः । द्विद्विपक्षाऽहिता-मित्र-दैत्यु-शात्रव-
ज्ञाववः ॥' ३—'१४४९। राहौ ध्वान्ते गुणे तमः ।' इति सर्वत्र ना० अ० । तमः शब्दार्था-
ख्यः—'तमः करि-हरिं सोमं प्रपीड्य कुरुते तमः । चकोरात् स-तमस्कान् यद् तद् युक्तं
तमसोऽप्य वै ॥' इति कोशावर्तसः । १—तमोऽन्वकारः । २—तमो राहुः । ३—तमो
युगः । स-तमस्कान् शोकयुक्तानित्यर्थः ।

४०२—अतिप्रियत्वान् न हि मे कातरं प्रतिपद्यते ॥

चेतो वालि-वधं राम ! क्लेशपहमुपस्थितम् ॥ १११ ॥

अतीत्यादि—हे राम ! मदीयं चेतो वालिवधं कर्माभूतमुपस्थितं प्राप्तं न हि प्रतिपद्यते नैव प्रत्येति । यस्मात् कातरं व्याकुलम् । वालिनोऽतिबलयुक्तत्वात् । कीदृशं वधम् । क्लेशापहं दुःखस्योन्मूलकम् । पूर्ववद्बुद्धिः । अतिप्रियत्वाद्वालिवधस्य । यस्य हि यत्प्रियं तत्सिद्धमपि असौ न प्रत्येति ॥

इति डाधिकारः ॥

उपस्थितोऽस्य वध इति कथं ज्ञायत इत्याह—

४०३—शीर्ष-घातिनमायातमरीणां त्वां विलोकयन् ॥

पतिघ्नी-लक्षणोपेतां मन्येऽहं वालिनः श्रियम् ॥ ११२ ॥

शीर्षेत्यादि—अरीणां शीर्षघातिनम् । '२९६८। कुमार-शीर्षयोर्णिनिः । ३।२।५३।' इति निपातनात् शिरसः शीर्षभावः । आयातं विलोकयन् वालिनः श्रियं पतिघ्नीलक्षणोपेतामहं मन्ये । पतिं हन्ति यल्लक्षणं तेनोपेतामिवेतीवार्योऽत्र द्रष्टव्यः । '२९७०। अमनुष्यकर्तृके च । ३।२।५३।' इति ठक् । '२३६३। गमहन- । ६।४।९८।' इत्युपधालोपः । '३५८। हो हन्ते- । १७।३।५४।' इति कुत्वम् ॥

४०४—शत्रुघ्नान् युधि हस्तिघ्नो

गिरीन् क्षिप्यन्न-कृत्रिमान् ॥

शिल्पिभिः पाणिघैः क्रुद्धस्

त्वया जय्यो ऽभ्युपाय-वान् ॥ ११३ ॥

शत्रुघ्नानित्यादि—किञ्च युधि संग्रामे वाली त्वया जय्यः जेतुं शक्यो यदि युष्मदस्त्राणां शक्तिर्दृष्टा तां च द्रष्टुमिच्छामीति वक्ष्यमाणाभिप्रायः । '६५। क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे । ६।१।८१।' इत्यादेशनिपातनम् । कीदृशः । अभ्युपायवान् युद्धोपाययुक्तः । किं कुर्वन् । क्रुद्धः क्षिप्यन् गिरीन् । दिवादित्वाच्छयन् । अकृत्रिमान् देवनिर्मितान् । शत्रुघ्नान् शत्रून् हन्तीति । '२९७०। अमनुष्य- । ३।२।५३।' इति ठक् । हस्तिघ्न इव हस्तिघ्नः हन्तुं शक्तः । '२९७१। शक्तौ हस्ति-कपाटयोः । ३।२।५४।' इति सूत्रस्य मनुष्यकर्तृकार्थारम्भकत्वात् । वाली चामनुष्यः । शिल्पिभिर्युद्धकुशलैः वानरैः सह क्षिप्यन् । सहायस्य गम्यमानत्वात् सहयोगे तृतीया । पाणिघैः पाणिवादकैः । ते हि हस्तियुद्धेऽन्यस्य वाद्यस्यासंभवात् हस्तिमुखमेव वादयित्वा गिरीन् प्रहरणान् क्षिप्यन्ति । '२९७२। पाणिघ-ताडघौ शिल्पिनि । ३।२।५५।' इति कर्तरि निपातनम् ॥

४०५—आढ्यं-करण-विक्रान्तो महिषस्य सुरद्विषः ॥

प्रियं-करणमिन्द्रस्य दुष्करं कृतवान् वधम् ॥ ११४ ॥

१५४ भट्टि-कान्वये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

आढ्यमित्यादि—अनाढ्यमाढ्यं करोत्यनेनेति । ‘२९७३। आढ्य-सुभग-
।३।२।५६।’ इत्यादिना करणे ख्युन् । आढ्यङ्करणं विक्रान्तं यस्य वालिनः । अना-
ढ्यः सन् विक्रान्तेनाढ्यो भूत इत्यर्थः । महिषस्य सुरद्विषो दुन्दुमेर्वधं मरणं यः
कृतवान् दुष्करं कृच्छ्रसाध्यं प्रियङ्करणमिन्द्रस्य दुष्टिकरम् । अप्रियं प्रियं करोत्य-
नेनेति पूर्ववत् ख्युन् ॥

४०६—प्रियं—भावुकतां यातस् तं क्षिपन् योजनं मृतम् ॥

स्वर्गे प्रियं-भविष्युश् च कृत्स्नं शक्तो ऽप्यबाधयन्’, ॥

प्रियमित्यादि—तमेवं सुरद्विषं मृतं पादाङ्गुष्ठेन योजनमध्वानं क्षिपन् प्रेर-
यन् । क्षिपेत्सौदादिकस्योभयपदिनो रूपम् । प्रियम्भावुकतां यातस्तथा स्वर्गे
प्रियम्भविष्युश्चासीत् । ‘२९७४। कर्तरि भुवः-।३।२।५७।’ इत्यनेनाढ्यादिषूपपदेषु
खिष्णुचक्षुकनौ । शक्तोऽपि समर्थोऽपि कृत्स्नं लोकमित्यर्थात् । अबाधयन् अपीड-
यन् । ‘१६५१। वध संयमे’ इति चौरादिकः तस्य शतरि रूपम् । स ईदृशस्त्वया
शक्त्यो जेतुं यदि त्वदस्त्राणां सामर्थ्यं दृष्टमित्यभिप्रायेणाब्रवीत् सुग्रीवः ॥

रामोऽपि तदभिप्रायं विदन् यत् कृतवान् तदाह—

४०७—जिज्ञासोः शक्तिमस्त्राणां रामो न्यून-धियः कपेः ॥

अभिनत् प्रतिपत्त्यर्थं सप्त व्योम-स्पृशस् तरुन्. ४१६

जिज्ञासोरित्यादि—अस्त्राणां शराणां शक्तिं जिज्ञासोः ज्ञातुमिच्छोः कपेः
सुग्रीवस्य न्यूनधियः स्वल्पबुद्धेः । यतः प्रमाणान्तरेणापरिज्ञानात् प्रत्यक्षेण ज्ञातु-
मिच्छतीति प्रतिपत्त्यर्थं संप्रत्ययार्थं रामः सप्त तरुन् ताडान् पङ्क्त्या स्थितान्
एकेन शरेणाभिनत् व्योमस्पृशः । ‘४३२। स्पृशोऽनुदके किन् ।३।२।५८।’ ॥

४०८—ततो वालि-पशौ वध्ये राम-त्विग्-जित-साध्वसः ॥

अभ्यभून् निलयं भ्रातुः सुग्रीवो निनदन् दधृक्. ॥

तत इत्यादि—ततस्तरुभेदादनन्तरं सुग्रीवो भ्रातुर्निलयमभ्यभूत् अभिभूत-
वान् । कीदृशः । दधृक् दृष्टः । ‘३७३। ऋत्विग्-।३।२।५९।’ इत्यादिना निपातितम् ।
दृष्टेः किन् । द्विर्वचनम् । ‘३७७। किन्प्रत्ययस्य कुः ।८।२।६२।’ इति कुत्वं खकारः
चत्वं ककारः । यस्माद्वालिलि पश्याविव वध्ये वधाहं । रामेण ऋत्विजा याजकेन
जितसाध्वसः अपनीतसाध्वसः तस्माद्दधृक् । ऋतौ यजति ऋतुं वा यजति
ऋतुप्रयुक्तो वा यजतीति ऋतुपूर्वाद्यजेः किन् । यजादित्वात् सम्प्रसारणम् ।
इदमृत्विक्शब्दनिर्वचनम् । रुढितस्तु याजयितृषु ब्राह्मणेषु किन्प्रत्ययस्य कुः ।
निनदन् किलकिलाशब्दं कुर्वन् ॥

४०९—गुहाया निरगाद् वाली सिंहो मृगमिव द्युवन् ॥

भ्रातरं युङ् भियः संख्ये घोषेणा ऽऽपूरयन् दिश ॥

गुहाया इत्यादि—तस्य शब्दमाकर्ण्य गुहाया निरगाद्वाली निर्गतः ।

‘२४५८। इणो गा लुङि ।२।१।४५।’ ‘२२२३। गाति-स्था-।२।१।७७।’ इति सिचो लुक् । आतरं ध्रुवन् अभिगच्छन् । ‘१११३। ध्रु अभिगमने’ अस्याद्वादि-कस्य वर्तमानसामीप्ये लटः शतरि उवडादेशे रूपम् । संख्ये युद्धे । भियो यद्भीतेर्योक्ता कर्मणि षष्ठी । भीतिं युञ्जन्नित्यर्थः । यजेः पूर्ववत् किन् । ‘३७६। यु-जेरसमासे ।७।१।७१।’ इति नुम् । संयोगान्तलोपः । किन्प्रत्ययस्य कुः । ङकारः । कः कमिव । सिंहो मृगमिव ध्रुवन् । घोषेण दिशः आपूरयन् । दिशन्ति इति दिशः पूर्ववत् किन् ॥

४१०—व्यायच्छमानयोर् मूढो भेदे सदृशयोस् तयोः ॥

बाणमुद्यतमायंसीदिक्ष्वाकु-कुल-नन्दनः. ॥ ११९ ॥

व्यायच्छेत्यादि—तयोर्बालिसुग्रीवयोर्व्यायच्छमानयोः कलहायमानयोः सदृशयोः समानयोः भेदे पृथक्त्वे मूढो भ्रान्तः सन् इक्ष्वाकुकुलनन्दनो रामो बाणमुद्यतं सजीकृतमायंसीत् उपसंहृतवान् । ‘२७४२। समुदाङ्गभ्यो यमो ग्रन्थे ।१।३।७५।’ इति तङ् न भवति । अकर्त्रभिप्रायत्वात् । तत्र ‘कर्त्रभिप्राये’ इति वर्तते । ‘२६९५। आङो यमहनः ।१।३।२८।’ इत्यनेनापि न स्यात् सकर्मकत्वात् तत्र ‘अकर्मकात्’ इति वर्तते । समानपूर्वस्य दृशेः ‘समानान्ययोश्च’ इत्युपसंख्यानात् ‘४२९। त्यदादिषु-।३।२।६०।’ इत्यादिना कञ् । ‘१०१७। दृग्-दृश्-व-तुषु ।६।३।८९।’ इति समानस्य सभावः ॥

४११—ऋष्यमूकमगात् क्लान्तः

कपिर् मृग-सदृग् द्रुतम् ॥

किष्किन्धाऽद्रिसदाऽऽत्यर्थं

निष्पिष्टः कोष्णमुच्छ्वसन्. ॥ १२० ॥

ऋष्यमूकमित्यादि—कपिः सुग्रीवः किष्किन्धाद्रिसदा बालिना किं किं दधातीति किष्किन्धा गुहा । ‘२९१५। आतोऽनुपसर्गे कः ।३।२।३।’ पारस्करादिदर्शनात् पूर्वस्य सुडागमो मलोपः षत्वं च निपात्यते । तदुपलक्षितोऽद्रिः किष्किन्धाद्रिः । तत्र सीदतीति ‘२९७५। सत्सूद्विष-।३।२।६१।’ इत्यादिना क्तिप् । तेनात्यर्थं निष्पिष्टः पीडितः । निष्पिष्टत्वात् क्लान्तः सन् ऋष्यमूकं मृगसदृक् द्रुतमगात् । समानोपपदात् दृशेः पूर्ववत् किन् । कोष्णमीषदुष्णमुच्छ्वसन् । ‘१०३३। कवं चोष्णे ।६।३।१०७।’ इति चकारात् कोः कादेशः ॥

४१२—कृत्वा बालि-द्रुहं रामो मालया स-विशेषणम्. ॥

अङ्गद-स्वं पुनर् हन्तुं कपिन्नाऽऽह्वययद् रणे. १२१

कृत्वेत्यादि—बालिद्रुहं सुग्रीवम् । बालिनं द्रुह्यतीति ‘२९७५। सत्सू-।३।२।६१।’ इत्यादिना क्तिप् । मालया सविशेषणं सचिह्नं कृत्वा भेदपरिज्ञानार्थं रामः अङ्गदस्वं बालिनम् । अङ्गदं सूत इति पूर्ववत् किन् । ‘२८१। ओः सुपि

१५६ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

१६।१।८३।' इति यणादेशः । तं रणे हन्तुं कपिना सुग्रीवेणाह्वययत् अभिभवं कारितवान् । ह्वयतेहेतुमणिनि '२५८५। शा-च्छान-७।३।३७।' इत्यादिना युक्त ॥

४१३—तयोर् वानर-सेनान्योः संप्रहारे तनुच्छिदम् ॥

वालिनो दूर-भाग् रामो बाणं प्राणाऽदमत्यजत् १२२

तयोरित्यादि—वानरसेनान्योः वानरस्वामिनोः '२७२। पुरनेकाचः-१६।१।-८२।' इति यण् । संप्रहारे युद्धे प्रवृत्ते रामो बाणमत्यजत् । वालिनस्तनुच्छिदं तनुं शरीरं छिनत्तीति पूर्ववत् क्तिप् '१४६। छे च १६।१।७३।' इति तुक् । प्राणादं प्राणापहरिणम् । प्राणानत्तीति प्राणादम् । '२९७७। अदोऽनन्ने १३।२।-६८।' इति विद् । दूरभाक् दूरमवस्थितो रामो दूरं भजत इति २९७६। भजो विवः १३।२।६२।' ॥

४१४—वालिनं पतितं दृष्ट्वा वानरा रिपु-घातिनम् ॥

बान्धवाऽऽक्रोशिनो भेजुरनाथाः कंकुभो दश. १२३

वालिनमित्यादि—रिपुघातिनं रिपून् हन्तुं शीलमस्येति '२९८८। सुप्य-जातौ णिनिः-१३।२।७८।' तं वालिनं पतितं दृष्ट्वा वानरा दश कंकुभो दश दिशो भेजुः । अनाथाः सन्तः स्वामिनो हतत्वात् । बान्धवाक्रोशिनो बान्धव इव आक्रोशन्तीति '२९८९। कर्तयुपमाने १३।२।७९।' इति णिनिः ॥

४१५—धिग् दाशरथिमित्यूचुर्

मुनयो वन-वर्तिनः. ॥

उपेयुर् मधु-पायिन्यः

क्रोशन्त्यस् तं कपि-स्त्रियः. ॥ १२४ ॥

धिनित्यादि—येषां सत्यन्यस्थाने वृत्तौ च वन एव वर्तितुं शास्त्रतो नियमः ते वनवर्तिनो मुनयः । '२९९०। व्रते १३।२।८०।' इति णिनिः । धिगिमं दाशर-थिमित्यूचुः उक्तवन्तः । येनानपराधेऽपि वालिनीदृशं कृतमिति । कपिस्त्रियश्च वालिनमुपेयुः मधुपायिन्यः । आभीक्ष्येन मधु पिबन्त्यः । '२९९१। बहुलमा-भीक्ष्ये १३।२।८१।' इति णिनिः । क्रोशन्त्यः । 'हा नाथ !' इति रुदन्त्यः ॥

४१६—राममुच्चैरुपालब्ध शूर-मानी कपि-प्रभुः ॥

व्रण-वेदनया ग्लायन् साधुं-मन्यम-साधुवत्. ॥ १२५ ॥

राममित्यादि—कपिप्रभुर्वाली राममुच्चैर्महता शब्देनोपालब्ध उपालब्ध-वान् । लभिरात्मनेपद्यनिद् । तस्य लुङि '२२८१। झलो झलि १८।२।२६।' इति सिचो लोपः । '२२८०। झपस्तयोर्धोऽधः १८।२।४०।' । '५२। झलां जश् झशि १८।१।५३।' । शूरमानी शूरमात्मानं मन्यमानः १२९९३। आत्ममाने खश्च १३।

१—'८२। दिशस्य तु कंकुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः ।' इति ना० अ० ।

२।८३।' इति चकाराणिनिः । व्रणवेदनया ग्लायन् ग्लानिमुपगच्छन् । साधु-
म्मन्यं साधुमात्मानं मन्यमानं रामम् । तेनैव खश्च । तस्मिन् सार्वधातुके परतो
दिवादित्वात् श्यन् । पूर्वपदस्य सुम् । असाधुवदसाधुमिव । असाधुना तुल्यं
वर्तते इति वतिः ॥

४१७—'मृषा ऽसि त्वं हविर्-याजी राघव ! छद्म-तापसः ॥

अन्य-व्यासक्त-धातित्वाद् ब्रह्मघ्नां पाप-संमितः १२६

मृषेत्यादि—हे राघव ! त्वं छद्मना तापसः स त्वं मृषैव मिथ्यैव हविर्याजी
हविषा करणेनेष्टवानसि न लोकप्राप्तय इत्यभिप्रायः । '२९९६ । करणे यजः
।३।२।८५।' इति भूते णिनिः । इतः प्रभृति भूत इत्यधिक्रियते । यतो
ब्रह्मघ्नां पापसंमितः ब्रह्म हतवन्ति इति '२९९८। ब्रह्म-।३।२।८७।' इत्यादिना
किप् । तेषां पापेन तुल्यः । कुतः । अन्यव्यासक्तधातित्वात् अन्यस्मिन् सुग्रीवे
व्यासक्तं मां हतवान् । '२९९७। कर्मणि हनः ।३।२।८६।' इति णिनिः । तत्र
'कुत्सितग्रहणं कर्तव्यम्' इत्युक्तम् । 'यदि सुग्रीवेण मम विरोधः किं तवायात-
मिति कुत्सितहननम् ॥

तदेव दर्शयन्नाह—

४१८—पाप-कृत् सुकृतां मध्ये राज्ञः पुण्यकृतः सुतः ॥

मामपापं दुराचार ! किं निहत्या ऽभिधास्यसि. १२७

पापकृदित्यादि—हे दुराचार ! मामपापं निहत्य पापकृत् कृतकिल्बिषः
राज्ञो दशार्थस्य पुण्यकृतः सुतः सुकृतां मध्ये किमभिधास्यसि वक्ष्यसि । किं
क्षेपे । न किंचिदभिधातव्यमस्तीति भावः । सर्वत्र '२९९९। सुकर्म-पाप-।३।२।८९।'
इत्यादिना किप् ॥

४१९—अग्नि-चित् सोम-सुद् राजा रथ-चक्र-चिदाऽऽदिषु ॥

अनलेष्विष्टवान् कस्मान् न त्वया ऽपेक्षितः पिता. ॥

अग्निचिदित्यादि—कस्मात्त्वया पिता नापेक्षितः नानुवृत्तः । येनैवं कृत-
वानसीति । कीदृशः । अग्निचित् आहिताग्निः । अग्निं चितवानिति '३००१ । अग्नौ
चेः ।३।२।९१।' इति किप् । सोमसुत् सोमं सुतवान् सोमयाजी । '३०००। सोमे
सुजः ।३।२।९०।' इति किप् । अनलेषु अग्निषु इष्टवान् । रथचक्रचिदादिषु
रथचक्रवच्चिद्यत इति '३००२। कर्मण्यङ्ग्याख्यायाम् ।३।२।९२।' इति किप् ।

१—'१४८० । मृषा मिथ्या च वितथे ।' इति ना० अ० । २—'९० । न कूटेरायुधैर्
हन्याद् युध्यमानो रणे रिपून् । न कर्णभिर नापि दग्धैर् नाग्नि-ज्वलित-तेजनैः ॥' '१०४ अमा-
यैव वर्तत न कथंचन मायया ।' मनुस्मृतिः अ० ७ । इत्यादिराजधर्मान् सारयन्नाह—'छद्म-
तापसः' इति । '२३० कपटोऽस्त्री व्याज-दम्भोपधयश्च छद्म-कैतवे ।' ३—'७१७। चितवानग्नि-
मग्निचित् ।' इति ना० अ० ।

१५८ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

आदिशब्दाच्छयेनचिदादिग्रहणम् । अन्वर्थो हि तदाकार इष्टकाचय इत्युच्यते
तद्वारेणाग्निरपि ॥

४२०—मांस-विक्रयिणः कर्म व्याधस्यां ऽपि विगर्हितम् ॥

मां घ्नता भवता ऽकारि निःशङ्कं पाप-दृश्वना. १२९

मांसेत्यादि—मांसविक्रयिणः कुत्सितकर्मकारिणो व्याधस्यापि विगर्हितं
निन्दितम् । '३००३। कर्मणीनिविक्रियः । ३।२।९३।' इति इनिः । तत्र 'कुत्सित-
ग्रहणं कर्तव्यम्' इत्युक्तम् । निष्कृष्टकर्मकरणेनेति यद्भवता पापदृश्वना पापं दृष्ट-
वता । '३००४। दृशेः कनिप् । ३।२।९४।' । '३५५। न संयोगाद्वमन्तात् । ६।४।-
१३७।' इति अलोपप्रतिषेधः । कर्म अकारि कृतम् । कर्मणि लुङ् । निःशङ्कं
शङ्कां त्यक्त्वा । किं कुर्वता । मां घ्नता मारयता । हन्तेः शतरि '२३६३। गम-हन-
-। ६।४।९८।' इत्युपधालोपः । '३५८। हो हन्तेः-। ७।३।५४।' इति कुत्वम् ॥

४२१—बुद्धिपूर्वं ध्रुवन् न त्वा राज-कृत्वा पिता खलम् ॥

सहयुध्वानमन्येन यो ऽहिनो मामनार्गसम् ॥ ३३० ॥

बुद्धिपूर्वमित्यादि—त्वत्पिता त्वां खलं असाधुचरितं ध्रुवन् गच्छन् '१४-
९२। ध्रु गतिस्थैर्ययोः' इति तुदादौ पठ्यते । तस्य गतौ ज्ञानार्थं वर्तमानस्य
शतरि विकरणलोपे उवडादेशे रूपम् । यन्न राजकृत्वा । कस्य तदेत्यर्थात् । '३००५।
राजनि युधि कृजः । ३।२।९५।' इति कनिप् । तत्तस्य बुद्धिपूर्वम् ध्रुवमवश्यं
तस्येति व्याख्याने कृत्प्रयोगे कर्मणि षष्ठ्या भवितव्यम् । यत्त्वं मामनागसमपा-
यमन्येन सहयुध्वानं अन्येन सुग्रीवेण सह योद्धुं प्रवृत्तम् । '३००६। सहे च
। ३।२।९६।' इति कनिप् । अहिनः हिंसितवान् । हिंसेर्लङि मध्यमपुरुषैकवचने
अभि श्रात्रलोपे हल्ङयादिलोपे रुवे च रूपम् ॥

मांसार्थं हत इति चेदाह—

४२२—पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ये प्रोक्ताः कृत-जैर् द्विजैः, ॥

कौशल्या-ज ! शशाऽदीनां तेषां नैको ऽप्यहं कपिः.

पञ्च पञ्चेत्यादि—हे कौशल्याज कौशल्याजात । '३००७। सप्तम्यां जनेर्डः
। ३।२।९७।' ये पञ्च पञ्चनखाः । 'शशकः शल्लकी गोधा खड्गी कूर्मश्च पञ्चमः'
इति । कृतजैः कृतयुगजातैः । सप्तम्यां जनेर्डः । द्विजैर्द्विजातैः । '३०११। अन्ये-
ष्वपि दृश्यते । ३।२।१०३। इति डः । सप्तम्यामित्युपलक्षणम् । असप्तम्यामपि
दृश्यते । भक्ष्याः भक्षणीयाः प्रोक्ताः । तेषामहमेकोऽपि न भविता अहं कपिः ।
तत्किमिति हतोऽहं त्वयेति ॥

४२३—कथं दुष्टुः स्वयं धर्मे प्रजास् त्वं पालयिष्यसि, ॥

आत्माऽनुजस्य जिहेषि सौमित्रेस् त्वं कथं न वा. १३२

कथमित्यादि—स्वयमात्मना धर्मे दुष्टुः दुःस्थः सन् । ‘अपदुःसुषु स्थः’ इत्यौणादिकः कुप्रत्ययः । कथं प्रजाः पालयिष्यसि नैवेति भावः । ‘३००९। उप-सर्गे च संज्ञायाम् । ३। २। ९९।’ इति जनेर्ङः । कथं वा सौमित्रेर्भातुरात्मानुजस्य कनीयसः । आत्मानमनुजात इति ‘२०१०। अणौ कर्मणि—३। २। १००।’ इति डः । न जिहेषि न लजसे ॥

४२४—मन्ये किं-जर्महं घ्नन्तं त्वाम-क्षत्रिय-जे रणे ॥

लक्ष्मणाऽधिज ! दुर्वृत्त ! प्रयुक्तमनुजेन नः’. १३३

मन्य इत्यादि—किंजं त्वामहं कुतोऽपि जातं न राजजातं मन्ये । ‘३००८। पञ्चम्यामजातौ । ३। २। ९८।’ इति डः । घ्नन्तं मारयन्तम् । अक्षत्रियजे रणे क्षत्रि-यादजाते । हे लक्ष्मणाधिज लक्ष्मणाप्रज ! दुर्वृत्त ! नोऽस्माकमनुजेन आत्रा प्रयुक्तं प्रेरितम् । तत्र ‘पञ्चम्यामजातौ’ इत्युक्तं जातावपि दृश्यते अक्षत्रियज इति । ‘उपसर्गे च संज्ञायाम्’ इत्युक्तं असंज्ञायामपि दृश्यते । लक्ष्मणाधिज इति ‘अनौ कर्मणि’ इत्युक्तं अकर्मण्यपि दृश्यते । अनुज इति सर्वत्रान्येष्वपि दृश्यत इति डः ॥ इत्युपपदाधिकारः ॥

४२५—प्रत्यूचे वालिनं रामो—‘नोऽकृतं कृतवानहम् ॥

यज्वभिः सुत्वभिः पूर्वैर् जैरद्भिश् च कपीश्वर ! १३४

प्रत्यूच इत्यादि—रामोऽपि वालिनं प्रत्यूचे प्रत्युक्तवान् । किमित्याह । हे कपीश्वर ! पूर्वैर्जैरद्भिर्वृद्धैः । ‘३०९२। जीर्यतेरतृन् । ३। २। १०४।’ यज्वभिः याज्ञिकैः सुत्वभिः सोमयाजिभिः । ‘३०९१। सु-यजोर्ङ्निप् । ३। १। १०३।’ नाकृतं कृतवानहं अपि तु कृतमेव कृतवानहम् । ‘८९९। निष्ठा । २। २। ३६।’ इति भूते क्तकत्वत् ॥

४२६—ते हि जालैर् गले पाशैस् तिरश्चामुपसेदुषाम् ॥

ऊषुषां पर-दारैश् च सार्धं निधनमैषिषुः. ॥ १३५ ॥

त इत्यादि—यस्मात्ते पूर्ववृद्धाः जालैर्गले पाशैश्च तिरश्चां मृगपक्षिसरीसृपाणां

१—‘२। ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि । सर्वस्याऽस्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्ष-णम् । मनु० अ० ७ इति स्मृत्या राज्ञां प्रजारक्षणमेव मुख्यो धर्मः स च दुष्टाचरणेन न संप-द्येतेति द्योतयन्नाह—‘कथं दुष्टुः स्वयं धर्मे—’ इत्यादि । २—ततो रामः परदारसेवनादिदुष्कर्म-करणात् दण्ड्य एव त्वं तथाभूतस्य च दण्डाकरणं ‘२० यदि न प्रणयाद्वाजा दण्डं दण्ड्येष्वत-न्द्रितः । शूले मत्स्यानिवाऽपक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः ।’ म० अ० ७ । इति स्मृते राज्ञां दोषा-यैवेति युक्तमेवैतदित्याह—‘नाऽकृतं कृतवान्’ इत्यादि । ३—‘६०५। प्रवयाः स्थविरो वृद्धो जीनो जीर्णो जरञ्चपि’ । ना० अ० ।

१६० भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

तिरोऽञ्जतीति '३७३। ऋत्विग्-।३।२।५९।' इत्यादिना किन् । आम् '४१६।
अचः ।६।१।१३८।' इत्यल्लोपः । तेषां निधनं विनाशमैषिषुः इष्टवन्तः । इषेर्लुङि
रूपम् । कीदृशम् । उपसेदुषां समीपमुपगतवतां तेषां समीपवर्तिनामुपद्रवका-
रित्वात् । '३०९७। भाषायाम्-।३।२।१०८।' इति कसुः । परदारैश्च सार्धमुपुषां
उषितवताम् । पूर्ववत्कसुः वसेर्यजादित्वात्संप्रसारणम् ॥

४२७—अहं तु शुश्रुवान्—आत्रा स्त्रियं भुक्तां कनीयसा ॥
उपेयिवाननूचानैर् निन्दितस्-त्वं लता-मृग ! ॥ १३६ ॥

अहमित्यादि—हे लतामृग हे शाखामृग ! अहं पुनः शुश्रुवान् श्रुतवान् ।
पूर्ववत् कसुः । यदुत आत्रा कनीयसा भुक्तां स्त्रियं त्वमुपेयिवान् सन् अनूचानैर्वे-
दविद्धिर्निन्दितस्ततो मे नैव दोषः । '३०९८। उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च ।३।२।
१०९।' इति उपेयिवानित्यादिना निपातितौ ॥

४२८—अन्वनैषीत् ततो वाली त्रपा-वानिव राघवम् ॥
न्यक्षिपच् चाऽङ्गदं यत्नात् काकुत्स्थे तनयं प्रियम् ॥

अन्वित्यादि—ततो रामवचनादनन्तरं वाली राघवमन्वनैषीत् अनुनीत-
वान् । 'देव क्षम्यतां यदज्ञानता मयोक्तम्' इति । नयतेर्लुङित्यनेन भूतसामान्ये
लुङ् । त्रपावानिव यथा लज्जामान् कश्चिदनुनयति तद्वत् । अङ्गदं च प्रियं तनयं
काकुत्स्थे रामे न्यक्षिपत् न्यस्तवान् । यत्नादादरात् । क्षिपेरनद्यतने लृङ् ।
लकारप्रत्ययस्यातिङीति प्रतिषेधान्न कृतसंज्ञा ॥

४२९—प्रियमाणः स सुग्रीवं प्रोचे सद्-भावमागतः— ॥
'संभविष्याव एकस्यामभिजानासि मातरि ॥ १३८ ॥

प्रियमाण इत्यादि—स वाली प्रियमाणः सन् सद्भावं शोभनभावमागतः
सन् सुग्रीवं प्रोचे । किमित्याह । अभिजानासि स्मरसि । एकस्यां मातरि संभ-
विष्यावः । समभवाव इत्यस्मिन्नर्थे '२७७३। अभिज्ञावचने लृङ् ।३।२।११२।' इत्यनद्यतने लृङ् । अभिजानासीत्यभिज्ञावचनस्योपपदत्वात् ॥

४३०—अवसाव नगेन्द्रेषु, यत् पास्यावो मधूनि च, ॥
अभिजानीहि तत् सर्वं, बन्धूनां समयो ह्ययम् ॥ १३९ ॥

अवसावेत्यादि—अभिजानीहि स्मर । यन्नगेन्द्रेषु अवसाव उषितवन्तौ ।
अत्राभिज्ञावचनस्य यच्छब्दसहितत्वात् '२७७४। न यदि ।३।२।११३।' इत्य-
नेन लृटि प्रतिषिद्धे लङेव भवति । अत्र वासमात्रं स्मर्यते । मधूनि च यत्पा-
स्यावः तत्र पीतवन्तौ तत्सर्वमभिजानीहि । अत्र '२७७५। विभाषा स्मकाङ्क्षे

१—'१४४३। वृद्धप्रशस्ययोर् ज्यायान् कनीयांस तु युवा ऽल्पयोः ।'

२—'७१५। अनूचानः प्रवचने साऽङ्केऽधीती ।' इति सर्वत्र ना० अ० ।

।३।२।११४।' इति पक्षे लट् । साकाङ्क्षता च प्रयोक्तुर्लक्ष्यलक्षणयोः संबन्धे । तत्र वासो लक्षणं पानं च लक्ष्यमिति । यस्माद्वन्धूनामयमेष समयः कालः ॥

४३१—दैवं न विदधे नूनं युगपत् सुखमावयोः, ॥

शश्वद् बभूव तद् दुःस्थं यतो न' इतिहाऽकरोत्. ॥

दैवमित्यादि—नूनमवश्यं दैवमावयोः सुखं युगपदेककालं न विदधे न हि विहितवत् । परोक्षे लिट् । जित्वात्तद् । अतो लोपः । यतो यस्मात्तत् दैवं शश्वत् नित्यं दुःस्थमननुकूलं नोऽस्माकं बभूव तस्मादितिह एवमकरोत् इत्येवं कृतवान् । यद्युगपदावयोः सुखविधानं तद्दुःस्थं शश्वद्बभूव । हाकरोदिति भूतानद्यतनपरोक्षे लिटि प्राप्ते '२७७६। ह-शश्वतोर्लङ् च ।३।२।११६।' इति लङ् । चकारात् लिट् । तत्र शश्वच्छब्दे उपपदे लिडेवोदाहृतः न लङ् । हशब्दे लडेव न लिङपीति ॥

४३२—ददौ स दयितां भ्रात्रे मालां चाऽग्र्यां हिरण्मयीम्, ॥

राज्यं संदिश्य भोगांश्च ममार व्रणपीडितः १४१

ददावित्यादि—स बाली दयितां ताराख्यां भ्रात्रे सुग्रीवाय ददौ मालां चाग्र्यां श्रेष्ठां हिरण्मयीं सुवर्णघटिताम् । राज्यं सामात्यादिद्रव्यप्रकृतिम् । संदिश्य दत्त्वा । भोगांश्च राज्याङ्गानि । ममार व्रणपीडितः । तत्रापि परोक्षे लिट् ॥

४३३—तस्य निर्वर्त्य कर्तव्यं सुग्रीवो राघवाऽऽज्ञया ॥

किष्किन्धाऽद्रि-गुहां गन्तुं मनः प्रणिदधे द्रुतम् १४२

तस्येत्यादि—तस्य मृतस्य कर्तव्यं पिण्डोदकादिकरणीयं कृत्वा सुग्रीवो राघवाज्ञया 'गच्छ वर्षासमयमतीत्य शरद्यागमिष्यसि' इति आज्ञया किष्किन्धा-द्रिगुहां गन्तुं मनः द्रुतं प्रणिदधे कृतवान् । अत्रापि परोक्षे लिट् ॥

४३४—नाम-ग्राहं कपिभिरंशनैः स्तूयमानः समन्ता-

दन्वग्-भावं रघु-वृषभयोर् वानरेन्द्रो विराजन् ॥

अभ्यर्णेऽम्भः-पतन-समये पर्णलीभूत-सानुं

किष्किन्धाद्रिं न्यविशत मधु-क्षीब-गुञ्जद्-द्विरेफम्.

१६२ भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

नामेत्यादि ॥ वानरेन्द्रः सुग्रीवः किष्किन्धाद्रिं न्यविशत निविष्टवान् ।
'२६८३। नेर्विशः । ११।३।१७।' इति तद् । अशनैः सुष्ठु कपिभिः स्तूयमानः ।
वर्तमाने लङ् । तस्य कर्मणि विहितत्वात् । '३१०३। लक्षणहेत्वोः क्रियायाः—।३।
२।१२६।' इति ज्ञानच् । नामग्राहं नाम गृहीत्वा । '३३८०। नाङ्गया दिशि-ग्रहोः
।३।४।५८।' इति णमुल् । समन्तात्सर्वतः । विराजन् शोभमानः । अत्र परस्मैप-
दसंज्ञकः शतृप्रत्ययः । किं कृत्वा । रघुवृषभयोरन्वग्भावं अनुकूलो भूत्वा । अन्व-
कपूर्वाङ्गवतेः '३३८६। अन्वच्यानुलोम्ये । ३।४।६४।' इति णमुल् । तदनुकूलव-
र्तित्वाद्विराजन् । कदा न्यविशत । अभ्यर्णे निकटे । अग्भःपतनसमये प्रावृषी-
त्यर्थः । पर्णलीभूतसानुं पर्णानि सन्ति येषामिति सिध्मादिपाठाल्लच् । तदन्ता-
दभूततद्भावे चिवः । पर्णलीभूताः सानव एकदेशा यस्याद्रेः । मधुक्षीबा
मधुमत्ता गुञ्जन्तो द्विरेफा यत्र । क्षीब इति '३०३५। अनुपसर्गात् फुल्ल-
क्षीब-कृशोल्लाघाः । ८।२।५५।' इति निपातितः । '४०७। क्षीवृ मदे ।' इत्यस्मात्
कप्रत्ययस्य लोप इडभावश्च निपात्यते । गुञ्जेल्लङ् । क्वचित् प्रथमासमानाधिक-
रणेऽपि शतृप्रत्ययः ॥

इति सोपपदकृतः ॥

इति श्री-जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते श्री-भट्टिकाव्ये
द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमः परिच्छेदः (वर्गः),
तथा लक्ष्य-रूपे कथानके सुग्रीवाऽभिषेको नामः
षष्ठः सर्गः पर्यवसितः ।

सप्तमः सर्गः ॥

इतस्ताच्छीलिकं कृतमधिकृत्योच्यते । ताच्छीलिकमित्युपलक्षणम् । तद्धर्मत-
त्साधुकारिण्वपि द्रष्टव्यम् । यतः '३११४। आक्रेस्तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु
।३।२।१५४।' इति तत्राधिक्रियते—

४३५—ततः कर्ता वनाऽऽकम्पं ववौ वर्षा-प्रभञ्जनः, ॥
नभः पूरयितारश् च समुन्नेमुः पयो-धराः, ॥ १ ॥

तत इत्यादि ॥ ततः प्रवेशानन्तरं वर्षाप्रभञ्जनः प्रावृङ्गातो ववौ वाति स्म ।
'११२४। वा गति-गन्धनयोः' इति । कर्ता वनाकम्पं साधु कुर्वन् । ३११५। तन्
।३।२।१३५।' इति तन् । '६२७। न लोक-।२।३।६९।' इति षष्ठीप्रतिषेधः ।
पयोधरा मेघाश्च समुन्नेमुः समुन्नताः । कीदृशाः । नभः पूरयितारः । तन् ॥

१—'१४२। खियां प्रावृट् खियां भृष्टि वर्षाः' । २—'७० । नभस्तद्वात-पवन-पव-
सान-प्रभञ्जना' । ३—'११७२ । स्त्री-स्तनाब्दौ पयो-धरा' । ना० अ० ।

४३६—तर्पणं प्रजनिष्णूनां शस्यानाम-मलं पयः ॥

रोचिष्णवः स-विस्फूर्जा मुमुचुर् भिन्न-वद् घनाः ॥२॥

तर्पणमित्यादि—घना अमलं पयो मुमुचुः । भिन्नवत् भिन्ना इव । कीदृशं पयः । तर्पणं शस्यानां तर्पणं तर्पयतीति '२८४३। कृत्यल्युटो बहुलम् । ३।२।-११३।' इति कर्तरि ल्युट् । प्रजनिष्णूनां साधु प्रादुर्भवताम् । रोचिष्णवः साधु दीप्यमानाः । सविस्फूर्जाः सवज्रनिस्त्रनाः । '३११६। अलंकृञ्-।३।२।१३६।' इत्यादिना दृष्णुच् ॥

४३७—निराकरिष्णवो भानुं दिवं वर्तिष्णवो ऽभितः ॥

अलंकरिष्णवो भान्तस् तडित्वन्तश् चरिष्णवः ॥३॥

निरेत्यादि—भानुं निराकरिष्णवो निराकरणशीला घनाः पयो मुमुचुरिति योज्यम् । दिवमभितो वर्तिष्णव आकाशमभितो वर्तनस्वभावाः । पूर्वपश्चिमयो-र्वर्तनहेतुत्वात् । पर्थभिभ्यां सर्वोभयार्थे तसिः । 'अभितःपरितः—' इति द्वितीया । तडित्वन्तः सविद्युतः । अत एव भान्तो दीप्यमानाः । एवं च कृत्वा अलंकरिष्णवोऽलङ्करणशीला इव । दिशश्चरिष्णवः इतस्ततो गमनशीलाः । पूर्ववदिष्णुच् ॥

४३८—तान् विलोक्या ऽसहिष्णुः सन्

विललापौन्मदिष्णुं-वत् ॥

वसन् माल्यवति ग्लास्तू

रामो जिष्णुरं-धृष्णु-वत्. ॥ ४ ॥

तानित्यादि ॥ तान् घनान्विलोक्य असहिष्णुरसहनशीलो रामः माल्यवति पर्वते वसन्विललाप । उन्मदिष्णुवत् उन्मदनशीलः उन्मत्तस्तद्वत् । पूर्ववदिष्णुच् । ग्लास्तूः ग्लानशीलः । जिष्णुर्जयशीलः । अधृष्णुवदप्रगल्भ इव । शोकभिभूत-त्वात् । '३११९। ग्ला-जि-स्थश्च ग्लुः । ३।२।१३९।' । धृष्णुरिति '३१२०। त्रसि-गृधि-।३।२।१४०।' इत्यादिना कृः ॥

१—'३६३। वृक्षाऽऽदीनां फलं शस्यम्' । २—'६६५। विभ्राह् आजिष्णु-रोचिष्णू' इति ना० अ० । ३—'१०७५। निराकरिष्णुः क्षिप्तः स्यात्' । ४।५—'१०७४। उत्पतिष्णुस् तूष्प-तिता, ऽलंकरिष्णुस् तु मण्डितः । भूष्णुर् भविष्णुर् भविता वर्तिष्णुर् वर्तनः समौ ।' ६—'९०। अन्नं मेवो वारिवाहः स्तनयिल्लुर् बलाहकः । धाराधरो जल-धरस् तडित्वान् वारिदोऽम्बु-शृत् ।' ७—'१११९। चरिष्णुजङ्गम-चरम्' । ८—'१०७६। सहिष्णुः सहनः क्षन्ता' । ९—'१०६८। सोन्मादस् तून्मदिष्णुः स्यात्' । १०—'६२१। ग्लान-ग्लास्तू, आमयावी विकृतो व्याधितोऽप्युः' । ११—'८४२। जेता जिष्णुश्च च जित्वरः ।' इति सर्वत्र ना० अ० ।

१६४ भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

किं तद्विलपनमित्याह—

४३९—‘भ्रमी कदम्ब-संभिन्नः पवनः शमिनामपि ॥

कृमि-त्वं कुरुतेऽत्यर्थं मेघ-शीकर-शीतलः. ॥ ५ ॥

भ्रमीत्यादि—भ्रमी भ्रमणशीलः । कदम्बसंभिन्नः कदम्बगन्धसंश्लिष्टः शमिनामपि शमनशीलानामपि कृमि-त्वं कुरुते अत्यर्थं ग्लानिं कुरुते । ‘३१२१ शमित्यष्टाभ्यो धिनुण् । ३।२।१४१।’ । ‘२७६३। नोदात्तोपदेश-। ७।३।३४।’ इत्यादिना उपधावृद्धिप्रतिषेधः ॥

४४०—संज्वारिणेव मनसा ध्वान्तमायासिना मया ॥

द्रोहि खद्योत-संपर्कि नयनाऽमोषि दुःसहम्. ॥ ६ ॥

संज्वारिणेत्यादि—मयैतत् ध्वान्तं तमो दुःसहं दुःखेन सह्यत इति । मनसा करणभूतेन । कीदृशेन । संज्वारिणेव रोगशीलेनेव । आयासिना आयास-शीलेन मयेति । द्रोहि अपकारशीलम् । ध्वान्तं खद्योतसंपर्कि ज्योतिरिङ्गणसं-सर्गशीलम् । नयनामोषि चक्षुर्मोषणशीलम् । ‘३१२२। संपृचानुरुध-। ३।२।१४२।’ इत्यादिना सर्वे धिनुणन्ताः ॥

४४१—कुर्वन्ति परिसारिण्यो विद्युतः परिदेविनम् ॥

अभ्याघातिभिरामिश्राश्चातकैः परिराटिभिः. ॥ ७ ॥

कुर्वन्तीत्यादि ॥ एता विद्युतः परिदेविनं परिदेवनशीलं कुर्वन्ति । मामि-त्यर्थात् । कीदृश्यः । परिसारिण्यः परिसरणशीलाः । चातकैः पक्षिविशेषैः परिरा-टिभिः परिरटनशीलैः । एवंचाभ्याघातिभिः अभिहननशीलैः । दुःखोत्पादनात् । आमिश्रा युक्ता विद्युतः । पूर्ववद्धिनुण् ॥

४४२—संसर्गी परिदाहीव शीतोऽप्याभाति शीकरः, ॥

सोढुमाक्रीडिनोऽशक्याः शिखिनः परिवादिनः. ॥ ८ ॥

संसर्गीत्यादि—संसर्गी संसर्जनशीलः । शीतोऽपि शीकरो बिन्दुः । परि-दाहीव परिदहनशील इवाभाति । शिखिनश्च मयूराः सोढुमशक्याः । आक्री-डिनो नर्तनशीलाः । परिवादिनः परिवदनशीला इव । इवशब्दश्चात्र लुप्तो द्रष्टव्यः । पूर्ववद् धिनुण् ॥

४४३—एता दैवानुरोधिन्यो द्वेषिण्य इव रागिणम् ॥

पीडयन्ति जनं धाराः पतन्त्योऽनुपकारिणम्. ॥ ९ ॥

१—‘९५। धारासंपात आसारः शीकरोऽम्बुकणाः स्युताः’ । २—‘५४८। समौ पतङ्ग-शलभौ, खद्योतो ज्योतिरिङ्गणः । ३—‘५३६। अथ सारङ्गः स्तोककश्चातकः समाः ।’ ४—‘५५९। मयूरो बहिणो बही नीलकण्ठो भुजङ्ग-भुक् । शिखावलः शिखी केकी मेघनादा-ऽनुलासपि ।’ इति सर्वत्र ना० अ० ॥

एता इत्यादि—एताः धाराः पतन्त्यो द्वेषिण्य इव द्वेषणशीला इव जनं रागिणं रागशीलम् । अनपकारिणमनपराधशीलं पीडयन्ति । दैवानुरोधिन्यः भाग्यानुरोधात् प्रवर्तनशीलाः । पूर्ववत् धिनुण् । धिनुणि च ‘रञ्जैरुपसंख्यानम्’ इत्यनुनासिकलोपः । कृताननुनासिकनिर्देशाद्वा लोपनिपातनम् ॥

४४४—कुर्याद् योगिनमप्येष स्फूर्जा-वान् परिमोहिनम् ॥

त्यागिनं सुख-दुःखस्य परिक्षेप्यम्भसामृतुः ॥ १० ॥

कुर्यादित्यादि—एष ऋतुर्मभसां जलानां परिक्षेपी परित्यजनशीलः । कर्मणि षष्ठी । योगिनमपि योगशीलमपि । सुखदुःखस्य त्यागिनं त्यागशीलम् । कर्मणि षष्ठी । परिमोहिनं परिमोहनशीलम् । कुर्यात् । कीदृशः । स्फूर्जावान् वज्र-निर्घोषयुक्तः । पूर्ववद् धिनुण् ॥

४४५—विकत्थी याचते प्रत्तम-विश्रम्भी मुहुर् जलम् ॥

पर्जन्यं चातकः पक्षी निकृन्तन्नैव मानसम् ॥ ११ ॥

विकत्थीत्यादि—चातको मानसं निकृन्तन्नैव खण्डयन्नैव । प्रत्तं प्रदत्तम् । ‘३०७८। अच उपसर्गात् तः । ७।४।४७।’ जलं याचत इति प्रधानं कर्म । पर्जन्यमित्यकथितम् । विकत्थी विकत्थनशील इव पर्जन्योऽपि मद्भं जलं ददाति । इवशब्दो लुप्तोऽत्र द्रष्टव्यः । अविश्रम्भी अविश्वासशीलः । मानसखण्डनात् ‘३१२३। वौ कष-लस-।३।२।१४३।’ इति धिनुण् ॥

४४६—प्रलापिनो भविष्यन्ति कदा न्वेतैऽपलापिणः’ ॥

प्रमाथिनो वियुक्तानां हिंसकाः पाप-दर्दुराः ॥ १२ ॥

प्रलापिन इत्यादि—एते पापदर्दुराः पापाश्च ते दर्दुराश्चेत्याक्रोशाभिधानम् । कदा तु अपलापिणो भविष्यन्ति । अपलषणशीलाः व्यपगतकामा इत्यर्थः । ‘९५३। लष कान्तौ ।’ ‘३१२४। अपे च लषः । ३।२।१४४।’ इति धिनुण् । प्रलापिनः प्रलपनशीलाः प्रमाथिनः प्रमथनशीलाः । चेतसामित्यर्थात् । ‘३१२५। प्रे-लप-३।२।१४५।’ इत्यादिना धिनुण् । अत एव वियुक्तानां मादृशां हिंसकाः हिंसन-शीलाः । इत्येवं विललाप । ‘३१२६। निन्द-हिंस-।३।२।१४६।’ इत्यादिना वुञ् ॥

४४७—निन्दको रजनिमन्यं दिवसं क्लेशको निशाम् ॥

प्रावृष्यनैषीत् काकुत्स्थः कथंचित् परिदेवकः ॥ १३ ॥

निन्दक इत्यादि—काकुत्स्थो दिवसं रजनिमन्यं रजनीमात्मानं मन्यमानं घनान्धकारित्वात् । ‘२९९३। आत्ममाने खश् च । ३।२।८३।’ । ‘२९४३। खिलनव्ययस्य । ६।३।३६।’ इति ह्रस्वत्वम् । निशां च प्रावृषि कथमप्यनैषीत् नीतवान् । निन्दकः निन्दनशीलः । नक्तंदिनस्येत्यर्थात् । क्लेशकः क्लेशनशीलः । परिदेवकः परिदेवनशीलः । आत्मन इत्यर्थात् ॥

१६६ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

४४८—अथोपशरदे ऽपश्यत् कौञ्चानां चेष्टनैः कुलैः ॥

उत्कण्ठा-वर्धनैः शुभ्रं रवणैरम्बरं ततम् ॥ १४ ॥

अथेत्यादि—अथानन्तरमुपशरदे शरत्समीपे इति । '६७७। अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः । ५।४।१०७। इति समासान्तष्टच् । '६५८। तृतीया-सप्तम्योर्वहु-लम् । २।४।८४।' इत्यमभावः । कौञ्चानां कुलैस्ततं व्यासमम्बरं शुभ्रं शुक्लमपश्यत् दृष्टवान् । चेष्टनैः व्यापारशीलैः । रवणैः शब्दनशीलैः । अनयोश्चलनशब्दार्थ-त्वात् '३१२८। चलनशब्द-। ३।२।१४८।' इत्यादिना युच् । उत्कण्ठावर्धनैः उत्क-ण्ठावर्धनशीलैः । '३१२९। अनुदात्तेतश्च-। ३।२।१४९।' इति युच् । कौञ्च इति किन्प्रत्ययान्तत्वात् प्रज्ञादित्वादण् ॥

४४९—विलोक्य द्योतनं चन्द्रं लक्ष्मणं शोचनो ऽवदत्— ॥

'पश्य दन्द्रमणान् हंसानरविन्द-समुत्सुकान् ॥ १५ ॥

विलोक्येत्यादि—चन्द्रं विलोक्य द्योतनं साधु द्योतमानम् । '३१२९। अनुदात्तेतश्च-। ३।२।१४९।' इति युच् । शोचनः शोचनशीलः । '३१३०। जुचङ्कम्य-। ३।२।१५०।' इत्यादिना युच् । रामो लक्ष्मणमवदत् । पश्य हंसान् दन्द्रमणान् शनैर्द्रमणशीलान् । द्रमेर्नित्यं कौटिल्य एव भवति नतु क्रियासममिहार इत्युक्तम् । तदन्ताद्युच् । अतो लोपः । यस्य हलः । अरविन्द-समुत्सुकान् '६४१। प्रसित-। २।३।४४।' इति सप्तमीं विधाय 'सप्तमी' इति योगविभागात् सः ॥

४५०—कपिश् चङ्क्रमणो ऽद्यापि ना ऽसौ भवति गर्धनः, ॥

कुर्वन्ति कोपनं तारा मण्डना गगनस्य माम् ॥ १६ ॥

कपिरित्यादि—नासौ कपिः सुग्रीवोऽद्यापि चङ्क्रमणः शनैर्गमनशीलो न भवति । यतो गर्धनो ऽभिलाषशीलः स्त्रीष्वित्यर्थात् । पूर्ववद्युच् । ताराश्च मां कोपनं कोपनशीलं तद्विषय एव कुर्वन्ति । कीदृश्यः । गगनस्य मण्डना भूषणाः । '३१३१। कुष-मण्डार्थेभ्यश्च । ३।२।१५१।' इति युच् ॥

४५१—ना ऽवैत्याप्यायितारं किं कमलानि रविं कपिः ॥

दीपितारं दिनाऽऽरम्भे निरस्त-ध्वान्त-संचयम् ॥ १७ ॥

नावैतीत्यादि—किमसौ कपिः रविं नावैति नावगच्छति । कमलान्याप्या-यितारं साधु वर्धयन्तम् । '३१२९। अनुदात्तेतश्च-। ३।२।१२९।' इति प्राप्ते । '३१३२। न यः । ३।२।१५२।' इति प्रतिषिद्धे वृत्तेव भवति । ततश्च '६२७। न लोक्-२।२।६९।' इति षष्ठीप्रतिषेधः । दिनारम्भे दीपितारं साधु दीप्यमानम् । पूर्ववद्युचि प्राप्ते

१—'१०८३। रवणः शब्दनो, नान्दीवादी नान्दीकरः समौ ।' २—'१०६७। गृह्यत् तु गर्धनः । लुब्धो ऽभिलाषुकस्य वृष्णक्, समौ लोडुप-लोडुभौ ।' ना० अ० ।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके सीताऽन्वेषणं नाम सप्तमः सर्गः— १६७

‘३१३३। सुद-दीप-दीक्ष-।३।२।१५३।’ इति प्रतिषेधः । निरस्तध्वान्तसंचयं अप-
नीतान्धकारसंहतिकं किमसौ शरत्समयं नावैतीत्यर्थः ॥

४५२—अतीते वर्षके काले, प्रमत्तः स्थायुको गृहे ॥

गामुको ध्रुवमध्वानं सुग्रीवो वालिना गतम् ॥ १८ ॥

अतीतेत्यादि—वर्षके वर्षणशीले काले अतीतेऽपि गृहे स्थायुकः स्थिति-
शीलः शरदि नागतत्वात् प्रमत्तः सन् सुग्रीवो वालिना गतं अध्वानं प्राप्तमार्गं
ध्रुवमवश्यं गामुकः साधु गन्ता । ‘३१३४। लघ-पत-।३।२।१५४।’ इत्युक्तम् ।
‘६२७। न लोक-।२।३।६९।’ इति षष्ठीप्रतिषेधः ॥

४५३—जल्पाकीभिः सहाऽऽसीनः

स्त्रीभिः प्रजविना त्वया ॥

गत्वा लक्ष्मण ! वक्तव्यो

जयिना निष्ठुरं वचः ॥ १९ ॥

जल्पाकीभिरित्यादि—हे लक्ष्मण ! त्वया प्रजविना प्रकृष्टगमनशीलेन ।
‘३१३६। प्रजोरिनिः।३।२।१५६।’ जयिना अभिभवनशीलेन । ‘३१३७। जि-द-क्षि-
।३।२।१५७।’ इत्यादिना इनिः । सुग्रीवो निष्ठुरं वचोऽभिधातव्यः । जल्पाकीभिः
जल्पनशीलाभिः स्त्रीभिः सहासीनः । ‘३१३५। जल्प-भिक्ष-।३।२।१५५।’ इति
षाकन् । पित्वात् डीष् । तन्मध्ये हि परुषमभिधीयमानः परिभवं मन्यत
इति भावः ॥

४५४—शैले विश्रयिणं क्षिप्रमनादरिणमभ्यमी ॥

न्याय्यं परिभवी ब्रूहि पापम-व्यथिनं कपिम् ॥ २० ॥

शैले इत्यादि—कपिं क्षिप्रं गत्वा ब्रूहि इत्यकथितं कर्म । न्याय्यं वच इति
प्रधानं कर्म । अस्य चातिस्पष्टार्थत्वादिदं तदिति संदिष्टम् । अनादरिणमनादर-
शीलं कपिं कालातिक्रमणात् । आङ्पूर्वो दृङ् । अत एव पापं दुराचारम् । अव्य-
थिनं निर्भयशीलम् । नञ्पूर्वो व्यथिः । शैले विश्रयिणं तत्र स्थितिशीलम् ।
विपूर्वः श्रयतिः । त्वं चाभ्यमी अभिमुखगमनशीलः । अभिपूर्वोऽमगत्यादिषु ।
परिभवी साधु परिभवं जनयन् । परिपूर्वो भवतिः । अत्र ‘सर्वत्र ‘३१३७।
जिदक्षि-।३।२।१५७।’ इत्यादिना इनिः ॥

१—‘१८१। स्याज् जल्पाकस् तु वाचालो वाचाटो बहुगर्हवाक् ।’ इत्यनुशासनात् त्रिषु
लिङ्गेष्वयं शब्दः ।

१६८ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

४५५—स्पृह्यालुं कपिं स्त्रीभ्यो निद्रालुर्म-दयालु-वत् ॥

श्रद्धालुं आमरं धारं सद्रुमद्रौ वद द्रुतम् ॥ २१ ॥

स्पृह्यालुमित्यादि—स्त्रीभ्यः स्पृह्यालुं कपिं साधु स्पृहयन्तम् । स्पृहिः स्वार्थिकण्यन्तोऽदन्तश्च । '२३११। अयामन्त-।६।४।५५।' इत्यादेशः । १५७४। स्पृहेरीप्सितः । १।४।३६।' इति सम्प्रदानसंज्ञा । द्रुतं वद ब्रूहि । अदयालुवत् अदयनशील इव । निद्रालुं निद्राशीलं अस्मत्कार्येष्वनवधानत्वात् शयनीय एव सर्वदा स्थितत्वात् स्त्रीभिः सह । श्रद्धालुं साध्वमिलषन्तम् । किम् । आमरं अमरैः कृतम् । '१४९९। शुद्रामर-।४।३।११९।' इत्यादिना अञ् । मध्वित्य-र्थात् । '६२७। न लोक-।२।३।६९।' इति षष्ठीप्रतिषेधः । '३१३८। स्पृहि-गृहि-।३।२।१५८।' इत्यादिना आलुच् । श्रद्धालुत्वादेव धारं साधु पिबन्तं आमर-मेव । सद्रुं साधु सीदन्तम् । क । अद्रौ । '३१३९। दा-धेद्-सि-शद-सदो रुः ।३।२।१५९।' ॥

४५६—सुमरो भङ्गुर-प्रज्ञो गृहीत्वा भासुरं धनुः ॥

विदुरो जित्वरः प्राप लक्ष्मणो गत्वरान् कपीन् ॥ २२ ॥

सुमर इत्यादि—लक्ष्मणः कपीन् प्राप । कीदृशः । सुमरः साधु गन्ता । '३१४०। स्वस्यदः कमरच् । ३।२।६०।' भङ्गुरा ये स्वयमेव भज्यन्ते । '३१४१। भञ्ज-भास । ३।२।१६१।' इति घुरच् । तान् प्रजानातीति भङ्गुरप्रज्ञः '२९२०। प्रे दाज्ञः । ३।२।६।' इति कः । विदुरः साधु वेदी । '३९४२। विदि-भिदि-च्छिदेः कुरच् । ३।२।१६२।' । जित्वरः साधु जयशीलः । '३१४३। इण्-नश्-जि-।३।२।१६३।' इत्यादिना कर्प् । गृहीत्वा धनुर्भासुरं भासनशीलम् । गत्वरान् गमनशीलान् कपीन् । अस्थिरप्रकृतीनित्यर्थः । 'गत्वरश्च' इति निपातितम् । गमेः करण्यनुना-सिकलोपः ॥

४५७—तं जागरूकः कार्येषु दन्दशूकं-रिपुं कपिः ॥

अ-कम्पं मारुतिर् दीपं नम्रः प्रावेशयद् गुहाम् ॥ २३ ॥

तमित्यादि—तं लक्ष्मणं कपिर्मारुतिः गुहां प्रावेशयत् । विशेहेतुमण्य-न्तात् लङि रूपम् । कार्येषु कृत्येषु जागरूकः सावधानः । '३१४५। जागरूकः । ३।२।१६५।' इति जागर्तेरूकः । दन्दशूकरिपुं हिंसारिम् । '३१४६। यज-जप् -।३।२।१६६।' इत्यादिना दंशेर्यङन्तादूकः । '२६३५। लुप-सद-।३।१।२४।' ॥

१—'१०७८। स्वप्नं शयालुर् निद्रालुर् निद्राण-शयितौ समौ' । २—'श्रद्धालुः श्रद्धया युक्ते' । ३—'१०७७। जागरूको जागरिता' । ४—'दन्दशूकस्य तु पुल्लिङ्गो राक्षसे च सरीसृपे' । इति कोशान्तरम् । ५—'११२०। चक्रं कम्पनं कम्पं, चलं लोलं चलाच-लम्' । इति सर्वत्र ना० अ० ।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके सीताऽन्वेषणं नाम सप्तमः सर्गः— १६९

इत्यादिना यद् । दीप्रं साधु दीप्यमानम् । अकम्प्रं अकम्पनशीलं अभीरुमित्यर्थः ।
नन्नः साधु प्रह्वीभूतः । सर्वत्र '३१४७। नमि-कम्पि-।३।२।१६७।' इत्यादिना रः ॥

४५८—कम्प्राभिरावृतः स्त्रीभिरीशंसुः क्षेममात्मनः ॥

इच्छुः प्रसादं प्रणयन् सुग्रीवः प्रावदन् नृपम् ॥२४॥

कम्प्राभिरित्यादि—सुग्रीवः प्रावदन् नृपं लक्ष्मणम् । स्त्रीभिरावृतः परि-
वृतः सन् प्रणमन् । ताभिः सहेत्यर्थः । कम्प्राभिः कमनशीलाभिः । पूर्ववद् ।
आत्मनः क्षेमं कल्याणमाशंसुः प्रार्थयमानः । '३१४८। सनाशंसमिक्ष उः ।३।२।
१६८।' '६२७। न लोक-।२।१।६९।' इति षष्ठीप्रतिषेधः । इच्छुः प्रसादं प्रसाद-
यिषणशीलः । 'अपि मे स्वामी प्रसन्नः स्यात्' इति । '३१४९। विन्दुरिच्छुः ।
३।२।१६९।' इति निपातनम् ॥

४५९—'अहं स्वप्नक् प्रसादेन तव वन्दारुभिः सह ॥

अ-भीरुरवसं स्त्रीभिर् भासुराभिरिहेश्वरः. ॥ २५ ॥

अहमित्यादि—अहं तव प्रसादेन इह गुहायामवसं उषितवान् स्वप्नक्
निद्रालुः विन्ताभावात् । '३१५२। स्वपि-नृपोर्नजिङ् ।३।२।१७२।' वन्दारुभिर्व-
न्दनशीलाभिः सह । '३१५३। शृ-वन्द्योरासुः ।३।२।१७३।' अभीरुः अभयशीलः ।
'३१५४। भियः कु-कुक्रौ ।३।२।१७४।' भासुराभिः भासनशीलाभिः । ईश्वरः
ईशानशीलः । '३१५५। स्थेश-भास-।३।२।१७५।' इति वरच् ॥

४६०—विद्युन्-नाशं रवेर् भासं

विभ्राजं शश-लाञ्छनम् ॥

राम-प्रत्तेषु भोगेषु

नाहमज्ञासिषं रतः. ॥ २६ ॥

विद्युदित्यादि—रामप्रत्तेषु रामदत्तेषु भोगेषु रतः सक्तः । नाहमज्ञासिषं
नाहं ज्ञातवान् । लुङि '२३७७। यम-रम-।७।२।७३।' इत्यादिना सगिटौ । विद्यु-
न्नाशं द्योतनशीला विद्युतः तासां नाशम् । रवेर्भाः भासनशीला दीप्तिः । ताम्
विभ्राजं साधु दीप्यमानं शशलाञ्छनं चन्द्रम् । प्रावृडतिक्क्रान्ता शरदायातेति
नाज्ञासिषमित्यर्थः । सर्वत्र '३१५७। आज-भास-।३।२।१७७।' इति क्प् ॥

१—'१०६९। कम्प्राः कामयिताऽभीकः कमनः कामनोऽभिकः । २—'१०७२ ।
आशंसुराशंसितारि' । ३—(४५५) श्लोकस्य टिप्पणं प्रेक्षणीयम् । ४—'१०७३ ।
वन्दारुर्भवाद्दे' इति स० ना० अ० ॥
भ० का० १५

१७० भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

४६१—एष शोक-च्छिदो वीरान् प्रभो ! सम्प्रति वानरान् ॥
धरा-शैल-समुद्राणामन्त-गान् प्रहिणोम्यहम्. ॥२७॥'

इति ताच्छीलिकाः समासाः ।

एष इत्यादि—हे प्रभो ! एषोऽहं सम्प्रति वानरान् प्रहिणोमि प्रस्थाप-
यामि । कीदृशान् । शोकच्छिदः शोकापनोदनशीलान् । अन्येभ्योऽपि दृश्यत
इति क्विप् । वीरान् शूरान् । धराशैलसमुद्राणां अन्तं गच्छन्ति ये तानन्तगान् ।
'२९६५। अन्तात्यन्त—।३।२।४८।' इति डः । धरा पृथ्वी । धरासमुद्रशैलाना-
मिति पाठान्तरम् । अत्र 'बहुष्वनियमः' इति पूर्वनिपातः । यथा वीणाशङ्खदुन्दु-
भयः ॥ इति ताच्छीलिककृतः ॥

अथ निरधिकारकृत-

इतो विशेषाधिकाराभावात् निर्विशेषकृतो दर्शयन्नाह—

४६२—राघवस्य ततः कार्यं कारु वानर-पुङ्गवः ॥

सर्व-वानर-सेनानामाश्वगमनमादिशत्. ॥ २८ ॥

राघवस्येत्यादि—ततोऽभिधानानन्तरं वानरपुङ्गवः सुग्रीवः सर्ववानरसेना-
नामाञ्छु शीघ्रमागमनमादिशत् आदिष्टवान् । पुमांश्चासौ गौश्चेति । '७२९। गोर-
तद्विवलुकि ।५।४।९२।' इति समासान्तष्टच् । व्युत्पत्तिमात्रमेतत् । पुङ्गवशब्दस्तु
प्रधानमाचष्टे । कारुः करोतीति '३१६९। उणादयो बहुलम् ।३।३।१।' इत्यौणादिकः ।
'कृ-वा-पा-जि-' इत्यादिना उण् । एवमाञ्छु । कस्य कर्तेत्याह । राघवस्य कार्यम् ॥

४६३—'वयमद्यैव गच्छामो रामं द्रष्टुं त्वराऽन्विताः ॥

कारका मित्र-कार्याणि सीता-लाभाय', सोऽब्रवीत्. ॥

वयमित्यादि—आगमनमादिश्य सुग्रीवोऽब्रवीत् उक्तवान् । वयमद्यैव
गच्छाम इति । रामं द्रष्टुं रामं दृश्याम इति । त्वरान्विताः त्वरिता इत्यर्थः ।
कीदृशा वयम् । सीतालाभाय सीतां प्राप्स्याम इति । कारका मित्रकार्याणि राव-
णवधादेः कार्यस्य कर्तारो भविष्याम इति । गच्छाम इति क्रिया । तस्यां
क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे तुमुन् ण्वुलौ भविष्यति काले स्याताम् । मित्रकार्या-
णीति । '६२८। अकेनोभविष्यदाधमर्ण्ययोः ।२।३।७०।' इति षष्ठीप्रतिषेधे द्विती-
यैव स्यात् । सीतालाभायेति '३१८०। भाववचनाच्च ।३।३।११।' इति क्रियायां
क्रियार्थायामुपपदे भविष्यति षच् । '५८२। तुमर्थाच्च भाववचनाच्च ।२।३।१५।' इति चतुर्थी ॥

४६४—ततः कपीनां संघाता हर्षाद् राघव-भूतये ॥

पूरयन्तः समाजग्मुर् भय-दाया दिशो दश. ॥ ३० ॥

तत इत्यादि—तत आदेशादनन्तरं कपीनां संघाताः समाजगमुः । हर्षात् हर्षेण । आदेशादानमेव हर्षहेतुः । राघवभूतये कापि नाम राघवस्य संपत्त्या-दिति समाजगमुरित्यस्यां क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे '३१८०। भाववचनाच्च ।३।३।११।' इति भविष्यति क्तिन् । चतुर्थी च पूर्ववत् । पूरयतो व्यामुवन्तः । दश दिशः । भयदायाः भयं दास्याम इत्यस्यां क्रियायामुपपदे '३१८१। अण् कर्मणि च ।३।३।१२।' इत्यण् । आतो युक् ॥

४६५—सुग्रीवाऽन्तिकमासेदुः सादयिष्याम इत्यरिम् ॥

करिष्यन्त इवाऽकस्माद् भुवनं निर्दशाननम्. ३१

सुग्रीवेत्यादि—अरिं ज्ञातुं सादयिष्यामो व्यापादयिष्याम इति सुग्रीवा-न्तिकमासेदुः आगताः । '२१९३। लृट् शेषे च ।३।३।१३।' इति चकारात् क्रिया-र्थायामुपपदे भविष्यति लृट् । आसेदुरिति क्रिया क्रियार्था । अकस्मादतर्कितं भुवनत्रयं निर्दशाननं रावणरहितं करिष्यन्त इव तथाविधमहासंरम्भदर्शनादुत्प्रे-क्ष्यते । '२१९३। लृट् शेषे च ।३।३।१३।' इति लृट् । अत्र क्रियायाः क्रियार्थाया अन्यः शुद्धो भविष्यत्कालः शेषः ॥

४६६—कर्ता ऽस्मि कार्यमायातैरेभिरित्यवगम्य सः ॥

काकुत्स्थ-पादप-च्छायां शीत-स्पर्शमुपागमत्. ॥ ३२ ॥

कर्तासीत्यादि—एभिरायातैर्वांनरैः कार्यं सीतान्वेषणादि कर्तास्मि करि-ष्यामीति अवगम्य । अनद्यतने भविष्यति लृट् । सुग्रीवः काकुत्स्थपादपच्छाया-मुपागमत् । पद्यन्त इति पादाः । '३१८२। पद-रुज-।३।३।१६।' इति कर्तरि घञ् । तत्र भविष्यतीति निवृत्तम् । पादैः पिबतीति पादपो वृक्षः । '२९१५। आतो-ऽनुपसर्गे कः ।३।२।३।' । काकुत्स्थः पादप इव समाश्रयणीयत्वात् । तस्य छायां शीतस्पर्शाम् अनुद्वेजनकरीम् । स्पृश्यत इति स्पर्शस्तन्मात्र उच्यते । '३१८८। अकर्तरि च-।३।३।१९।' इति घञ् । नतु '३१८२। पद-रुज-।३।३।१६।' इत्यादिना । तत्र हि 'स्पृश उपताप इति वक्तव्यम्' इत्युक्तं, स्पृशतीति स्पर्श उपतापः ॥

४६७—कार्यं सार-निभं दृष्ट्वा वानराणां समागमम् ॥

अवैन नाशं दशाऽऽस्यस्य निर्वृत्तमिव राघवः. ॥ ३३ ॥

इति निरधिकारकृत् ॥

कार्यमित्यादि—राघवो वानराणां समागमं दृष्ट्वा कार्यं सारनिभं सीताला-भतुल्यम् । सरति कालान्तरे तिष्ठतीति कर्तरि कारके '३१८३। सृस्थिरे ।३।३।१७।' इति घञ् । दशास्यस्य रावणस्य नाशं विनाशं निर्वृत्तमिव निष्पन्नमिव अवैत् ज्ञात-वान् । अवपूर्वादिणो लङि रूपम् ॥

इति निरधिकाराः कृतः ॥

१७२ भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

अतः परं भावेऽकर्तरि च कारक इत्यधिकृत्य कृदुच्यते—

४६८—ततः कपि-समाहारमैऽकनिश्चायमागतम् ॥

उपाध्यायऽइवाऽऽयामं सुग्रीवोऽध्यापिपद् दिशाम् ३४

तत इत्यादि—ततः कपिसमागमानन्तरं सुग्रीवः कपिसमाहारं कपिस-
मूहं दिशामायाममध्यापिपद् बोधितवान् । अमुका अमुका दिक् ईदृशीति ।
'५४०' गतिबुद्धि-॥११४५२१' इत्यादिना समाहारस्य कर्मसंज्ञा । आयामपरि-
ज्ञानं चास्य वालिभयादूरपरिभ्रमणात् । एकनिश्चयमागतं एकराशितां प्राप्तं आया-
ममित्यर्थः । निश्चायमिति '३१९०' परिमाणाख्यायाम्-॥३१३२०॥ इति घञ् ।
पश्चादेवशब्देन '७२६' पूर्वकालैक-॥२११४९१' इति सः । क इव । उपाध्याय
इवेति । उपेत्याधीयते अस्मादिति '३१९१' इडश्च ॥३१३२१' इति घञ् ॥

४६९—स-जलऽम्भो-द-संरावं हनु-मन्तं सहाऽङ्गदम् ॥

जाम्बवं नील-सहितं चारु-सन्द्रावमब्रवीत्- ॥ ३५ ॥

सजलेत्यादि—सुग्रीवो हनुमन्तमब्रवीत् । सजलाम्भोदसंरावं सजलमेव-
स्येव संरावो यस्य हनुमतः । '३१९२' उपसर्गे हवः ॥३१३२२॥ इति घञ् ।
सहाङ्गदं अङ्गदसहितम् । तथा जाम्बवं ऋक्षाधिपतिं नीलसहितमब्रवीत् ।
जाम्बवशब्दोऽकारान्तो द्रष्टव्यः । चारुसन्द्रावं चारुगतिम् । '३१९३' समि
युदुदुवः ॥३१३२३॥ इति घञ् ॥

कुलकम् ३६-४०—

४७०—यात यूयं यम-श्रायं दिशं नायेन दक्षिणाम् ॥

विक्षावैस् तोय-विश्रावं तर्जयन्तो महोदधेः ॥ ३६ ॥

यातेत्यादि—यूयं यात गच्छत । यमश्रायं यमस्थानम् । श्रयत्येनमिति
'३१९५' श्रि-णी-मुवोऽनुपसर्गे ॥३१३२४॥ इति घञ् कर्मणि । काम् । दक्षिणां
दिशम् । सामान्याभिधानाद्विशेषाभिधानम् । नायेन नीत्या सामादिना । नीय-
तेऽनेनेति पूर्ववत्करणे घञ् । महोदधेस्तोयविश्रावं तोयध्वनिं तर्जयन्तो न्यक्कु-
र्वाणाः । कैः । विक्षावैः स्वैः शब्दैः । उभयत्रापि '३१९६' वौ क्षुश्रुवः ॥३१३२५॥
इति कर्मणि घञ् ॥

१—'७१२' उपाध्यायोऽध्यापकः । २—'१९५' शब्दे निनाद-निनद-ध्वनि-ध्वान-रव-
ध्वनाः । १९६' स्थान-निर्घोष-निर्घाद-नाद-निस्वान-निःस्वनाः । आरवाऽऽराव-संराव-विरावाः ।
३—'८७६' प्रद्रावोद्राव-सन्द्राव-संदावा विद्रवोद्रवः । ४—'११७०' उन्नाय उन्नाये, श्रायः
श्रयणे, जयने जयः । ५—'११९५' निगारोद्गारविक्षावोद्-ग्राहाम् तु गरणादिषु । इति
स० ना० अ० ॥

४७१—उन्नायानधिगच्छन्तः प्रद्रावैर् वसुधा-भृताम् ॥

वनाऽभिलावान् कुर्वन्तः स्वेच्छया चारु-विक्रमाः ३७

उन्नायानित्यादि—वसुधाभृतां पर्वतानां उन्नायानुच्चयानुच्चत्वान्यधिगच्छन्तः जानन्तः । '३१९७। अवोदोर्नियः । ३। ३। २६।' इति भावे घञ् । कैः । प्रद्रावैः प्रकृष्टगतिभिः । '३१९८। प्रे द्रु-स्तु-स्तुवः । ३। ३। २७।' इति घञ् । वनाभिलावान् वनविध्वंसान् । '३१९९। निरभ्योः पू-त्वोः । ३। ३। २८।' इति भावे घञ् । स्वेच्छया कुर्वन्तः । चारुविक्रमाः असाधारणपराक्रमाः । यात यूयमिति संबन्धः ॥

४७२—सदोद्गार-सुगन्धीनां फलानामलमाशिताः ॥

उत्कारेषु च धान्यानामनभीष्ट-परिग्रहाः ॥ ३८ ॥

सदेत्यादि—सदा सर्वदा उद्गारे भक्षणानन्तरं श्वसनपूर्वके शब्दोच्चारणे यानि सुगन्धीनि तेषामलं पर्याप्तमाशिताः । '१५९५। 'गृ शब्दे' इत्यस्मादुत्पूर्वात् '३२००। उद्योर्ग्रः । ३। ३। २९।' इति घञ् । आङ्पूर्वादश्नोतेः । '३०५३। आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च । ३। ४। ७१।' इति कर्तरि क्तः । कृत्प्रयोगे कर्मणि षष्ठी न लोकेति निषिद्धाऽतः शेषे षष्ठी । उत्कारेषु च राशिषु धान्यानाम् । '१५०३। विश्लेषे' इत्यस्मादुत्पूर्वात् '३०२१। कृ धान्ये । ३। ३। ३०।' इति कर्मणि घञ् । अनभीष्टपरिग्रहाः अनभिलाषुका इत्यर्थः ॥

४७३—संस्तावमिव शृण्वन्तश्छन्दोगानां महाध्वरे ॥

शिक्षितं मधु-लेहानां पुष्प-प्रस्तार-शायिनाम् ॥ ३९ ॥

संस्तावमित्यादि—मधुलेहानां अमराणां पुष्पप्रस्तारशायिनाम् । '३२०३। प्रेक्षोऽयज्ञे । ३। ३। ३२।' इति घञ् । शिक्षितं शृण्वन्तः यूयं यात । छन्दोगानां महाध्वरे संस्तावमिव सम्भूय स्तवनमिव पाठध्वनिविशेषमिव वा । '३२०२। यज्ञे समि स्तुवः । ३। ३। ३१।' इति घञ् ॥

४७४—आलोचयन्तो विस्तारमम्भसां दक्षिणोदधेः ॥

स्वादयन्तः फल-रसं मुष्टि-संग्राह-पीडितम् ॥ ४० ॥

१—(४७०) श्लोकस्य टीकनमवलोक्यम् । २—(४६९) श्लोकस्य टिप्पणमालोचनीयम् । ३—'११८२ लवोऽभिलावो लवने निष्पावः पवने पवः' । ४—(४७०) श्लोकस्य टीकनं प्रेक्ष्यम् । ५—'११९४। उत्कारश्च च निकारश्च च द्वौ धान्योत्क्षेप-णार्थकौ' । ६—'१९७। अथ मनैरः । स्वनिते वस्त्र-पर्णानां भूषणानां तु शिक्षितम्' इति सर्वत्र ना० अ० ॥

१७४ भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

आलोचयन्त इत्यादि—इक्षिणोदधेरम्भसां विस्तारं विस्तीर्णताम् । विप-
र्वात् स्तृणातेः '३२०४। प्रथमे वावशब्दे । ३।३।३३।' इति घञ् । आलोचयन्तो
निरूपयन्तः । इयानस्य विस्तार इति । फलरसमास्वादयन्तः । मुष्टिसंग्राहपीडितम् ।
मुष्टेः संग्राहेण हस्तेन पीडितम् । ग्रहेः '३२०८। समि मुष्टौ । ३।३।३६।' घञ् ।
भावे मुष्टिविषये व्युत्पादितत्वात् । मुष्टिग्रहणमभिव्यक्त्यर्थे ज्ञातव्यम् ॥

४७५—न्याय्यं यद् यत्र, तत् कार्यं पर्यायेणां ऽविरोधिभिः, ॥

निशोपशायः कर्तव्यः फलोच्चायश् च संहतैः ॥ ४१ ॥

न्याय्यमित्यादि—यदत्र न्यायादनपेतं तत्कार्यमविरोधिभिर्युष्माभिः ।
'३२०९। परिन्योर्नीणोः—। ३।३।३७।' इति घञ् । पदार्थानामनपचारेणेत्यर्थः । '३२-
११। व्युपयोः शेतेः पर्याये । ३।३।३८।' इति घञ् । पर्यायेण परिपाठ्या । '३२१०।
परावनुपालय इजः । ३।३।३९।' इति भावे घञ् । अनुपालयः पर्यायः । निशो-
पशायः कर्तव्यः । युष्माभिर्निशायामुपशायः पर्यायशयनं कर्तव्यम् । '३२११।
व्युपयोः शेतेः पर्याये । ३।३।३८।' इति घञ् । फलोच्चायश्च संहतैः युष्माभिः
कर्तव्यः '३२१२। हस्तादाने—। ३।३।४०।' इति घञ् । हस्तादानं चादेयस्य प्रत्यासत्तिः ।

४७६—सीता रक्षो-निकायेषु स्तोक-कायैश् छलेन च ॥

मृग्या शत्रु-निकायानां व्यावहासीमनाश्रितैः ॥ ४२ ॥

सीतेत्यादि—छलेन युष्माभिः सीता मृग्या । रक्षोनिकायेषु निवासेषु ।
निवसन्त्यस्मिन्निति अधिकरणे '३२१३। निवास-चिति—। ३।३।४१।' इत्यादिना
घञ् । आदेशश्च ककारः । स्तोककायैर्युष्माभिः । चिन्वन्त्यस्माच्छुभमिति कायः ।
शरीरे घञ् । शत्रुनिकायानां अरिसमूहानाम् । निचीयत इति निकायः । '३२१४।
संघे चानौत्तराधये । ३।३।४२।' इति कर्मणि घञ् । आदेशश्च ककारः । तेषां संबन्धिनीं
व्यावहासीं परस्परहसनम् । अनाश्रितैः । व्यवपूर्वाद्धसः कर्मव्यतीहारे '३२१६।
णचः स्त्रियाम्—। ५।४।१४।' इति स्त्रीलिङ्गे भावे णच् विधाय णचः स्त्रियामञ् ।
'३२१७। न कर्मव्यतिहारे । ७।३।२६।' इति वृद्धिप्रतिषेधः ॥

४७७—साराविणं न कर्तव्यं, यावन् नाऽऽयाति दर्शनम्, ॥

संहृष्टायां तु वैदेह्यां निग्राहो वोऽर्थवानरेः, ॥ ४३ ॥

साराविणमित्यादि—साराविणमभिव्याहृत्या भाषणं न कर्तव्यं युष्माभिः
यावन्नायाति दर्शनं सीतेत्यर्थात् । संपूर्वाद्गौतेः '३२१८। अभिविधौ भाव इनुण्
। ३।३।४३।' तदन्तादणिनुण इत्यण् । तस्मिन् '१२४५। इण्यनपत्ये । ६।४।१६४।' इति
प्रकृतिभावः । यस्मात्संहृष्टायां चैतस्यां वैदेह्यां अरेर्निग्राहः आक्रोशोऽभिभ-
वलक्षणः वो युष्माकमर्थवान् । '३२२०। आक्रोशोऽवन्थोर्ग्रहः । ३।३।४५।' इति
भावे घञ् ॥

२—'११९०। उपशायो विशायश् च पर्याय-शयनार्थकौ' इति ना० अ० ॥

४७८—प्रग्राहैरिव पात्राणामन्वेष्ट्या मैथिली कृतैः ॥

ज्ञातव्या चैङ्गितैर्धर्म्यैर्ध्यायन्ती राघवाऽऽगमम् ॥

प्रग्राहैरित्यादि—पात्राणां भिक्षाभाजनानां प्रग्राहैरिव कृतैरन्वेष्ट्या मैथिली । भिक्षुकवैरिव युष्माभिरित्यर्थः । ग्रहेः '३२२१। ग्रे लिप्सायाम् । ३।३।४६।' इति भावे घञ् । कर्मणि षष्ठी । इङ्गितैर्धर्म्यैः चेष्टितैः कुलाङ्गनोचितैः ज्ञातव्या सा ध्यायन्ती रामागमम् । कुलाङ्गना हि प्रोषितभर्तृका सर्वदा भर्तुरागमनं ध्यायति ॥

४७९—'वेदि-वत् स-परिग्राहा यज्ञियैः संस्कृता द्विजैः ॥

दृश्या मास-तमादहः प्राग-निन्दित-वेश-भृत् ॥४८॥

वेदिवदित्यादि—यथा यज्ञियैर्यज्ञकर्माहैर्द्विजैः ब्राह्मणैः । वेदिः यज्ञस्थली । सपरिग्राहा परिगृहीता यथा संस्कृता तथा साऽपि अतिपवित्रत्वात् । ग्रहेः '३२२२। परौ यजे । ३।३।४७।' इति यज्ञविषये घञ् । मासतमादहः प्राग्दृश्या दर्शनाहं । मासस्य पूरणं यदहः । '१८५७। नित्यं शतादिमास-। ५।२।५७।' इत्यादिना तमडागमः । अस्मादेव निपातनात् मासस्यासंख्यावाचित्वे इदम् । मासतमेऽङ्गीति हेतुं दर्शयन्नाह । तस्याः पूतत्वाच्चद्वदनिन्दितवेशभृत् मैथिली मङ्गलमात्राभरणा दर्शनाहं । तां द्रष्टुं भवतां न चिरकालो भवतीति मासावधिना प्रेषिताः ॥

४८०—नीवार-फल-मूलऽशानृपीनप्यतिशेरेते ॥

यस्या गुणा निरुद्धावास् तां द्रुतं यात, पश्यत ॥४८॥

नीवारेत्यादि—यस्या गुणा ब्रह्मचर्यादयः ऋषीनप्यतिशेरेते न्यकुर्वते तां द्रुतं यात पश्यत । तत्र नीवारः अकृष्टपच्यधान्यम् । '३२२३। नौ वृ धान्ये । ३।३।४८।' इति घञ् । '१०४३। उपसर्गस्य घञ्-। ६।३।१२२।' इति दीर्घत्वम् । फलं मोचादि । मूलं शालकादि । एतान्यश्नन्ति ये ऋषयः । कीदृशा गुणाः । निरुद्धावाः स्थिराः । '३२३४। उदि श्रयति-। ३।३।४९।' इति घञ् ॥

४८१—उच्छ्राय-वान् घनाऽऽरावो वानरं जलदाऽऽरवम् ॥

दूराऽऽप्लावं हनू-मन्तं रामः प्रोचे गजाऽऽप्लवः ॥४९॥

उच्छ्रायवानित्यादि—रामो हनूमन्तं प्रोचे । कीदृशः । उच्छ्रायवानुव्रति-युक्तः । पूर्ववद् घञ् । घनस्येवारावो यस्य । '३२२५। विभाषाऽङि रुड्वोः । ३।३।५०।' इति भावे घञ् । गजाप्लवः गजगमनः । पक्षे पूर्ववदप । कीदृशम् । दूराप्लावं दूरादाप्लाव उद्गमनं यस्य । पूर्ववत् घञ् ॥

१—'७२३ । वेदिः परिष्कृता भूमिः, समे स्थण्डिल-चत्वरे।' २—'(३५५) श्लोकस्य टिप्पणं प्रेक्षणीयम्' । ३—'९१० । तुण-धान्यानि नीवाराः ।' इति ना० अ० । ४—'(४६९) श्लोकस्य टीकानमवलोकनीयम्' ।

१७६ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

४८२—‘अवग्राहे यथा वृष्टिं प्रार्थयन्ते कृषीवलाः, ॥

प्रार्थयध्वं तथा सीतां, यात सुग्रीव-शासनम् ॥ ४८ ॥

अवग्राह इत्यादि—अवग्राहो वर्षप्रतिबन्धः । ‘३२२६। अवे ग्रहः—
१३।३।५१।’ इति पक्षे अप् । यथा अवग्राहे कृषीवला वृष्टिं प्रार्थयन्ते तथा
सीतां यूयं प्रार्थयध्वम् । तस्या दुर्लभत्वादत्यन्तादरणीयत्वाच्च । यात सुग्रीव-
शासनात् ॥

४८३—वणिक् प्रग्राहवान् यद्वत् काले चरति सिद्धये, ॥

देशाऽपेक्षास् तथा यूयं याताऽऽदायाऽङ्गुलीयकम्.’

वणिगित्यादि—तुला प्रगृह्यते येन सूत्रेण स प्रग्राहः । ‘३२३७। ग्रे वणि-
जाम् । ३।३।५२।’ इति करणे घञ् । स तुलासंबन्धी विद्यते यस्य वणिजः ।
संसर्गे मनुष्ये । यथा तुलाप्रग्राहवान् तदुपलक्षितो वणिक् काले उचिते क्रय-
सिद्धये चरति, तथा यूयं अङ्गुलीयकं तुलासूत्रस्थानीयं चिह्नमादाय देशापेक्षाः
तत्तद्देशस्थितास्तत्र हि चिह्नेन रामदूता इति लक्ष्यन्ते ॥

४८४—अभिज्ञानं गृहीत्वा ते समुत्पेतुर् नभस्-तलम् ॥

वाजिनः स्यन्दने भानोर् विमुक्त-प्रग्रहा इव. ॥ ५० ॥

अभिज्ञानमित्यादि—ते वानरा नभस्तलमुत्पेतुः । वाजिन इव विमुक्तप्र-
ग्रहाः । विमुक्तः प्रग्रहो नियमरज्जुर्येषामिति । ‘३२२८। रश्मौ च । ३।३।५३।’
इति विभाषाग्रहणमनुवर्तते । घनभावपक्षे ‘३२३२। ग्रह-वृ-द-निश्चि-गमश्च
१३।३।५८।’ इत्यप् । स्यन्दने रथे भानोरादित्यस्य । किं कृत्वा । अभिज्ञानं गृहीत्वा
चिह्नमङ्गुलीयकमादाय ॥

४८५—उदक् शतवलिं कोट्या, सुषेणं पश्चिमां तथा ॥

दिशं प्रास्थापयद् राजा वानराणां कृत-त्वरः ॥ ५१ ॥

उदगित्यादि—वानराणां राजा सुग्रीवः शतवलिं नाम वानरं वानराणां
कोट्या सह उदगुदीचीं दिशं प्रास्थापयत् । तिष्ठतेर्पर्यन्तस्य लङि रूपम् । उदी-
चीशब्दात् प्रथमान्तादिदिशि वर्तमानादस्मातिः । तस्याञ्चतेर्लुक् । लुक् तद्धितलु-
कीति स्त्रीप्रत्ययस्य लुक् । तस्मिन्निवृत्ते भसंज्ञाभावादीत्वमपि निवर्तते । तस्मि-
न्नादिस्तद्धित एधाच्पर्यन्त इत्यव्ययत्वे द्वितीयालुक् । तथैव सुषेणं वानरं पश्चिमां
दिशं प्रास्थापयत् । कृतत्वरः त्वरितः ॥

१—‘५५। वृष्टिर् वर्षं तद्विधाते ऽवग्राहाऽवग्रहौ समौ ।’ २—‘१४४५। तुला सूत्रे-
ऽवग्रहिरश्मौ प्रग्राहः प्रग्रहोऽपि च ।’ ३—‘(४८३) श्लोकस्य टीकनं प्रेक्ष्यम्’ इति ना० अ० ।

४८६—प्राचीं तावद्भिर-व्यग्रः कपिभिर् विनतो ययौ ॥

अ-प्रग्राहैरिवाऽऽदित्यो वाजिभिर्-दूर-पातिभिः. ५२

प्राचीमित्यादि—कपिभिस्तावद्भिरित्येककोटिसंघातैः सह विनतः प्रणतः । सुग्रीव इत्यर्थात् । अव्यग्रः अनाकुलः । प्राचीं पूर्वा दिशं ययौ । यथा आदित्यो वाजिभिरप्रग्राहैः मुक्तबन्धनैः करणभूतैः । '३२२८। रश्मौ च । ३।३।५३।' इति घञ् । दूरपातिभिः दूरयायिभिः ॥

४८७—ययुर् विन्ध्यं शरन्-मेघैः प्रावारैः प्रवरैरिव ॥

प्रच्छन्नं मारुति-प्रष्टाः सीतां द्रष्टुं स्रवङ्गमाः ॥ ५३ ॥

ययुरित्यादि—मारुतिप्रष्टाः हनूमदग्रेसराः सीतां द्रष्टुं विन्ध्यपर्वतं ययुः । शरन्मेघैः प्रावारैरिव प्रच्छन्नम् '३२२९। वृणोतेराच्छादने । ३।३।५४।' इति घञ् । प्रवरैः श्रेष्ठैः । अनाच्छादने ग्रहेत्यादिना अप् ॥

४८८—परिभावं मृगेन्द्राणां कुर्वन्तो नगै-मूर्धसु ॥

विन्ध्ये तिग्मांशु-मार्गस्य चेरुः परिभवोपमे. ॥ ५४ ॥

परीत्यादि—मृगेन्द्राणां सिंहानां परिभावमभिभवं कुर्वन्तः । विन्ध्ये चेरुः भ्रान्ताः । '३२३०। परौ सुवोऽवज्ञाने । ३।३।५५।' इति घञ् । कीदृशे [तिग्मांशु-मार्गस्य] परिभवोपमे । आदित्यमार्गस्य परिभवनम् । अत्युच्चत्वात् । घञभाव-पक्षे अप् ॥

४८९—भ्रेमुः शिलोच्चयांस् तुङ्गानुत्तेरुतरान् नदान् ॥

आशंसवो लवं शत्रोः सीतायाश्च च विनिश्चयम् ५५

भ्रेमुरित्यादि—उत्पूर्वाच्चिनोतेः '३२३१। इरच् । ३।३।५६।' इत्यच् । शिला-भिरुच्चयो येषां तान् शिलोच्चयान् । भ्रेमुः भ्रमणक्रियाया व्याप्यत्वात् सकर्म-कता । नदान् अतरान् तरितुमशक्यान् उत्तेरुः उत्तीर्णवन्तः । शत्रोर्लवमुच्छेद-नम् । सीतायाश्च विनिश्चयं विनिर्णयम् । आशंसवः आशंसनशीलाः । '३१४८। सनाशंसमिक्ष उः । ३।२।१६८।' तरलवौ '३२३२। ऋदोरप् । ३।३।५७।' इति अप्प्रत्ययान्तो विनिश्चयमिति ग्रहे ल्यप् ॥

४९०—आदरेण गमं चक्रुर्

विषमेष्वप्य-सङ्घसाः ॥

व्यामुवन्तो दिशो ऽन्यादान्

कुर्वन्तः स-व्यधान् हरीन्. ॥ ५६ ॥

१७८ भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

आदरेणेत्यादि—विषमेष्वपि प्रदेशेषु गमं गमनं चक्रुः । आदरेणानवज्ञया ।
ग्रहे लप् । असङ्घसाः त्यक्ताहाराः । '३२३५ उपसर्गोऽदः । ३।३।५९।' इत्यपि
'३२३६ घजपोश्च । २।४।३८।' इति अदेर्घस्लादेशः । हरीन् सिंहान् । स्वयधान्
सप्रहारान् । '३२३७ व्यध-जपोः-।३।३।६१।' इत्यप् । सप्रहारत्वादन्यादान
परित्यक्ताहारान् कुर्वन्तः । '३२३७ नौ ण च । ३।३।६०।' इति निपूर्वाददोऽण्
प्रत्ययः । तस्मिन्नदेर्न वस्लादेशः । चकारादपि तत्र निवसः । दिशो व्यामुवन्तः
सर्वव्यापिनः ॥

४९१-संचेरुः स-हसाः केचिदं, स्वनाः केचिदाटिषुः ॥

संयाम-वन्तो यति-वन्, निर्गदानपरे ऽमुचन् ॥५७॥

संचेरुरित्यादि—सहसाः सस्मिताः । अस्वनास्तूष्णीकाः । '३२३९ स्वन-
हसोर्वा । ३।३।६२।' इत्यप् । यतिवत् संयामवन्तः नियमवन्तः '३२४० यमः
समुप-नि-विषु च । ३।३।६३।' इति घञ् । आटिषुः अटितवन्तः । अटेर्लुङि रूपम् ।
अपरे निगदान्वचनान्यमुचन् । '३२४१ नौ गद—।३।३।६४।' इत्यादिना
विकल्पेनापो विधानात् घञ् ॥

४९२-अथ क्लमादं-निःक्राणा नराः क्षीण-पणां इव ॥

अ-मदाः सेदुरैकस्मिन् नितम्बे निखिला गिरेः ॥५८॥

अथेत्यादि—अथ परिभ्रमणादनन्तरं क्लमेन परिभ्रमेण अमदाः गतहर्षाः ।
'३२४४ मदो ऽनुपसर्गो । ३।३।६७।' इत्यप् । अत एव निःक्राणाः निःशब्दाः
'३२४२ क्रणो वीणायां च । ३।३।६५।' इत्यपो विकल्पेन घञ् । वीणादिविषयमे-
तत् । क्रणेर्निपूर्वादनुपसर्गाद्वीणादिविषयाच्च विकल्पेनाप्यप्रत्यय इत्युक्तम् । एक-
स्मिन् गिरेर्नितम्बे सेदुः निषण्णाः । निखिलाः समस्ता वानराः क्षीणपणा इव
अर्थरहिता नरा इव । पण्यन्त इति पणाः । व्यवहाराय कृते पणे व्यवस्थाप्यन्ते
। '३२४३ नित्यं पणः परिमाणे । ३।३।६९।' इत्यप् ॥

४९३-ततः स-संमदास् तत्र निरैक्षन्त पतत्रिणः ॥

गुहा-द्वारेण निर्यातः संमजेन पशूनिव ॥ ५९ ॥

तत इत्यादि—ततो विश्रामानन्तरं ते तत्र तस्मिन् पर्वते पतत्रिणः पक्षिणो
निरैक्षन्त ईक्षितवन्तः । ईक्षेर्लुङि रूपम् । कीदृशान् । गुहाद्वारेण निर्यातः निर्ग-

१-११७० । निगादो निगदे, मादो मद, उद्रेण उद्धमः । २-११७ । निगाणो
निकणः क्राणः कणः कणनमित्यपि । १९८ वीणायाः कणिते प्रादेः प्रकाणः प्रकाणादयः ।
३-१२५३ । पणो घूताऽऽदिपूत्सष्टे भृतौ मूल्ये धनेऽपि च । ४-३४४ । कटकोऽखी
नितम्बोऽद्रेः स्तुः प्रस्यः सानुरक्षियाम् । ५-५६२ । पशूनां समजोऽप्येषां समाजोऽथ
सधर्मिणाम् । इति सर्वत्र ना० अ० ॥

च्छतः । निष्पूर्वाघातेः शत्रन्तस्य शस्ति रूपम् । ससंमदाः सहर्षाः । '३२४५। प्रमद-संमदौ-।३।३।६८।' इति निपातितम् । समजेन वृन्देन पञ्चनिव निर्यातः '३२४६। समुदोरजः पञ्चषु ।३।३।६९।' इत्यप् ॥

४९४—वीनामुपसरं दृष्ट्वा ते ऽन्योन्योपहवा गुहाम् ॥

प्राविशन्नाहव-प्रज्ञा आहावमुपलिप्सवः. ॥ ६० ॥

वीनामित्यादि—वीनां पक्षिणामुपसरं नैरन्तर्येण निर्गमनं दृष्ट्वा । उपसर इव उपसरः नैरन्तर्यमात्रेणोपलक्षितत्वात् । उपसरो हि स्त्रीगवीषु पुङ्गवानाम-भिगमनमुच्यते स च नैरन्तर्येण भवति । '३२४८। प्रजने सतैः ।३।३।७१। इत्यप् । ते वानरा अन्योन्योपहवाः परस्परमाह्वानं येषां आगच्छतागच्छत प्रविशत इति । '२५६८। ह्यः संप्रसारणम् ।६।१।३२।' इत्यप् संप्रसारणं च । गुहां प्रावि-शन् प्रविष्टवन्तः । आहवप्रज्ञाः युद्धप्रज्ञाः । आहूयते युद्धाय स्पर्धतेऽत्र । '३२-५०। आळि युद्धे ।३।३।७३।' इत्यप् संप्रसारणं च । आहावमुपलिप्सवः उदका-धारमुपलब्धुमिच्छवः । '३२५१। निपानमाहावः ।३।३।७४।' इति घञि संप्रसारणं निपात्यते वृद्धिरस्त्येव । अप्रप्रत्यये त्ववृद्धिः ॥

४९५—कुर्वन्तो हवमाप्तानां पिपासा-वध-काङ्क्षिणः ॥

द्वारं तमो-घनं-प्रख्यं गुहायाः प्राविशन् द्रुतम्. ॥ ६१ ॥

कुर्वन्त इत्यादि—गुहां प्रविश्य तस्याः द्वारमपरं प्राविशन् । आप्तानां स्त्रि-गधानां हवमाह्वानं कुर्वन्तः । '३२५२। भावेऽनुपसर्गस्य ।३।३।७५।' इत्यप् संप्र-सारणं च । पिपासा पातुमिच्छा तस्या वधोऽपनयनम् । '३२५३। हनश्च वधः ।३।३।७६।' इत्यप् वधादेशश्च । तं काङ्क्षितुं शीलं येषामिति । '७१७। काक्षि-माक्षि काङ्क्षयाम्' इत्यस्मात् '२९८८। सुप्यजातौ णिनिः-।३।२।७८।' । '२२-६२। इदितो नुम्-।७।१।५८।' साधुकारिणि वा । कीदृशं द्वारम् । तमोघनप्रख्यं तमसो घनः मूर्तिः काठिन्यं तेन सदृशम् ३२५४ । मूर्तौ घनः ।३।३।७७।' इति हन्तेरपप्रत्ययो घनादेशश्च निपात्यते । मूर्तिमत्तम इव द्वारमित्यर्थः ॥

४९६—तस्मिन्नन्तर्घणे ऽपश्यन् प्रघाणे सौध-सन्ननः. ॥

लौहोद्धन-घन-स्कन्धा ललिताऽपघर्णनां स्त्रियम्. ६२

तस्मिन्नित्यादि—द्वारमतिक्रम्य यः सावकाशप्रदेशः सो ऽन्तर्घण इत्युच्यते । तथाह्यन्तर्हन्त्यते क्रीडीभवत्यस्मिन्निति अनुगतार्थत्वम् । ३२५५। अन्तर्घनो देशे.

१—'११८३। प्रजनः स्यादुपसरः ।' २—'८७१। अभ्यामर्द्ध-समावात-संग्रामाऽभ्यागमा-ऽऽहवाः ।' ३—'२८० आहावस्य तु निपानं स्यादुपकूप-जलाशये ।' ४—'१३१८। घनो मेघे मूर्तिगुणे त्रिषु मूर्ते निन्तरे ।' ५—'३३३। प्रघाण-प्रवणोऽलिन्दा बहिर्द्वारप्रकोष्ठके ।' ६—'११९३। निधाय तक्ष्यते यत्र काष्ठे काष्ठं स उद्ध्वनः ।' ७—'६३४। अङ्गं प्रतीको-ऽवयवोऽपघनोऽथ कलेवरम् ।' इति स० ना० अ० ॥

१८० भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

।३।३।७८।' इत्यन्तःपूर्वाद्धन्तेरप् घनादेशः, घणादेशो वा ये णकारं पठन्ति । यत्तु संज्ञीभूतो वाहीकेषु देशविशेष इत्युक्तं तत् संज्ञाशब्दमाश्रित्य । तस्मिन्नन्तरे यत् सौधसन्न धवलगृहं तस्य प्रघणे एकदेशे । '३२५६। प्रघणः प्रघाणश्च ।३।३।७९।' इति निपातितम् । स्त्रियं ललितापघनां ललिताङ्गीमपघनम् । '३२५९। अपघनो ऽङ्गम् ।३।३।८१।' इति निपातनम् । लौहोद्घनघनस्कन्धाः । यस्मिन् स्थापयित्वा काष्ठादीनि संस्क्रियन्ते स उद्धनः तद्वद्धनः स्कन्धो येषामिति । '३२५७। उद्ध-नोऽस्याधानम् ।३।३।८०।' इति निपातनम् ॥

४९७—सा स्तम्बघ्न-पद-न्यासान् विघनेन्दु-सम-द्युतिः ॥
परिघोरु-भुजानाह हसन्ती स्वागतं कपीन् ॥ ६३ ॥

सेत्यादि—सा स्त्री हसन्ती कपीन् स्वागतं वच आह । कीदृशी । विघनेन्दु-समद्युतिः । विहन्यते अभिभूयते अन्या द्युतिर्येन स विघनः । '३२५९। करणे-ऽयोविद्वेषु ।३।३।८२।' इत्यप् घनादेशश्च । स चेन्दुश्चेति सः । तत्समा द्युति-र्यस्याः । स्तम्बो हन्यते येन पादन्यासेन स स्तम्बघ्नः । तृणकाष्ठादिः । '३२६०। स्तम्बे क च ।३।३।८३।' इति करणे कः । '२३६३। गम-हन-६।४।९८।' इत्यु-पधालोपः । तादृशः पादन्यासो येषां कपीनामिति । परिहन्यते येन । '३२६१। परौ घः ।३।३।८४।' इत्यप् घादेशश्च । परिघोर्गलः । तदनुकारिणो विपुला बाहवो येषामिति ॥

४९८—पिप्रायां ऽद्रि-गुहोपघ्नानुद्घान् संघसमागतान् ॥
फलैर्नाना-रसैश्चित्रैः स्वादु-शीतैश्च वारिभिः ६४

पिप्रायेत्यादि—तान्विविधैः फलैर्वारिभिश्च पिप्राय तर्पितवती । अद्रिगुहो-पघ्नान् । अद्रिगुहैव उपघ्न आश्रयो येषां कपीनाम् '३२६३। उपघ्न आश्रये ।३।३।८५।' इत्यप् उपधालोपश्च निपात्यते । संघसमागतान् समूहेनागतान् । उद्घान् प्रशस्तान् । '३२६४। संघोद्घौ गण-प्रशंसयोः ।३।३।८६।' इति समुदोरुपपदयोः हन्तेरपि टिलोपश्च निपात्यते ॥

४९९—निघाऽनिघ-तरु-च्छन्ने तस्मिंस् ते लब्धिभैः फलैः ॥
तृप्तास् तां भ्राजथु-मतीं पप्रच्छुः—'कस्य पूरियम्.' ६५

निघेत्यादि—तस्मिन्प्रघणे निघानिघैर्निमित्तानिमित्तैस्तस्मिन्च्छन्ने । '३२६५। निघो निमित्तम् ।३।३।८७।' इति निपूर्वाद्धन्तेरपि टिलोपो निपात्यते । समारोहप-रिरोहाभ्यां निमित्तमित्युच्यते । ते कपयः । लब्धिभैर्लाभनिवृत्तैः । '४२६६। द्वितः

१—'११९३। स्तम्बघ्नस्य तु स्तम्बघनः स्तम्बो येन निहन्यते । २—'११७६ स्यादु-पघ्नो ऽन्तिकाश्रये । ३—'१४९। मतलिका मचचिका प्रकाण्डमुद्घ-तलजौ । प्रशस्त-वाचकान्यमूनि ।' इति सर्वत्र ना० अ० ।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके सीताऽन्वेषणं नाम सप्तमः सर्गः— १८१

किः । ३।३।८८।' फलैस्त्वृत्ताः सन्तस्तां स्त्रियं आज्युमतीं शोभावतीम् । पप्रच्छुः
पृष्टवन्तः कस्येयं पूरिति । '३२६७। द्वितो ऽथुच ३।३।८९।' तदन्तान्मतुप ॥

५००—'रक्षणं करोषि कस्मात् त्वं, यत्नेनाऽऽख्यायतां शुभे ! ॥
स्वप्ने निधि-वदाभाति तव संदर्शनं हि नः ॥ ६६ ॥

रक्षणमित्यादि—हे शुभे ! कस्माद्वा रक्षणं रक्षां करोषि । एतद्यत्नेनादरेण
नोऽस्माकमाख्यायताम् । उभयत्रापि '३२६८। यज-याच-३।३।९०।' इति नह ।
यस्मात्स्वप्ने निधिवत् निधिरिव तव संदर्शनमाभाति । नोऽस्माकमतिदुर्लभ-
त्वात् । स्वप्ने इति '३२६९। स्वप्ने नन् ३।३।९१।' निधिरिति '३२७०। उप-
सर्गे घोः किः ३।३।९२।' ॥

५०१—ततो जलधि-गम्भीरान् वानरान् प्रत्युवाच सा—॥
'इयं दानव-राजस्य पूः सृष्टिर् विश्वकर्मणः ॥ ६७ ॥

तत इत्यादि—ततस्तस्मादनन्तरं सा प्रत्युवाच । जलं धीयते अस्मिन्निति
अधिकरणे चेति किः । जलधिः समुद्रः । तद्गम्भीरानक्षोभ्यत्वात् । इयं पूः
दानवराजस्य विश्वकर्मणः सृष्टिः । सृज्यत इति सृष्टिः । कर्मणि '३२७२। स्त्रियां
क्तिन् ३।३।९३।' ॥

इतः खीलिङ्गमधिकृत्योच्यते—

५०२—निहतश् च स्थितिं भिन्दन् दानवोऽसौ बल-द्विषा, ॥
दुहिता मेरुसावर्णेः हं नाम्ना स्वयं-प्रभा. ॥ ६८ ॥

निहत इत्यादि—असौ दानवराजः स्थितिं मर्यादां भिन्दन् । '३२७३।
स्थागा पा-पचो भावे ३।३।९५।' इति क्तिन् । बलद्विषा इन्द्रेण निहतः । यस्य
चाहं दुहिता । स पिता । नाम्ना मेरुसावर्णिः, अहं च नाम्ना स्वयंप्रभेति ॥

५०३—जूतिमिच्छथ चेत् तूर्णं, कीर्तिं वा पातुमात्मनः ॥
करोमि वो बहिर्-यूतीन्, पिधध्वं पाणिभिर्दशः ६९'

जूतिमित्यादि—यदि तूर्णं शीघ्रं जूतिं गमनमिच्छथ । कीर्तिं वा आत्मनः पातुं
रक्षितुम् । वः युष्मान् बहिर्यूतीन् बहिर्भूतान् । '३२७४। ऊति-यूति-३।३।९७।'
इत्यादिना निपातितः । तत्र यौतेर्जवतेश्च क्तिन् दीर्घत्वं च निपात्यते । कीर्तिरपि
'१७७५। कृत संशब्दने' स्वार्थिको णिच् । '२५७१। उपधायाश्च ७।१।१०१।' इति
तत्त्वान् तस्मात् क्तिन् । अतः पाणिभिः । दशो दृष्टीः पिधध्वं आच्छादयध्वम् ।
अपिपूर्वाद्धाजो लोटि द्विर्वचने '२५०१। दध-स्तथोश्च ८।२।३८।' इति अभ्यासस्य
भङ्गावे '२४८३। श्राभ्यस्तयोः-१६।४।११२।' इत्याकारलोपे '५२। झलां जश् झशि
८।४।५३।' इति धातोर्दकारे 'वष्टि भागुरिः-' इत्युपसर्गाकारलोपे च रूपम् ॥

१—'११६६। रक्षणस्त्राणे, रणः कणे ।' इति ॥ २—'११९६। जवने जूतिः सातिः ।'
इति सर्वत्र ना० व० ॥

१८२ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

५०४—ब्रज्या-यती निरुद्धाऽक्षान् विद्येवाऽनुष्ठित-क्रियान् ॥
निरचिक्रमदिच्छा-तो वानरांश् चङ्कमा-वतः ॥ ७० ॥

ब्रजेत्यादि—सा ब्रज्यावती प्रशस्तगमनवती । '३२७५। ब्रज-यजोर्भावे क्यप् । ३।३।१८।' प्रशंसायां मनुप् । वानराश्चिरुद्धाक्षान् निरचिक्रमत् निष्कासितवती । क्रमेर्ण्यन्तस्य लुङि '२३१६। सन्वल्लघुनि-। ७।४।१३।' इति सन्वल्गावात् '२३१७। सन्यतः । ७।४।७९।' इतीत्वम् । '२३१८। दीर्घो लघोः । ७।४।१४।' इति न दीर्घत्वं संयोगपरस्य गुरुत्वात् । अनुष्ठितक्रियानाचरिततदुपदिष्टव्यापारान् । '३२७७। कृजः श च । ३।३।१००।' इति शः । '२७५६। सार्वधातुके यङ् । ३।३।६७।' । रिङादेशश्च । चङ्कमावतः कुटिलगतिमतः । '३२७९। अः प्रत्ययात् । ३।३।१०२।' इत्यकारः । इच्छात इति वानराणामिच्छायाः । '३२७८। इच्छा । ३।३।१०१।' इति निपातितम् । इषेः शप् प्रत्ययः छभावश्च निपात्यते । विद्या । '३२७६। संज्ञा-याम् । ३।३।१९।' इति क्यप् । यथा विद्या अनुष्ठितक्रियान् कृतपुरश्चरणान् पुरुषानिच्छातोऽभीष्टं सम्पादयति तद्वत्सेति ॥

५०५—निष्क्रम्य शिक्षया तस्यास् त्रपा-वन्तो रसा-तलात् ॥
ज्ञात्वा मासमतिक्रान्तं व्यथामवललम्बिरे. ॥ ७१ ॥

निष्क्रम्येत्यादि—तस्याः शिक्षया उपदेशेन '३२८०। गुरोश्च हलः । ३।३।१०३।' इत्यकारः । तस्माद् रसातलात् निष्क्रम्य निर्गत्य त्रपावन्तः स्त्रिया उपदेशेन निष्क्रान्ता वयमिति त्रपेति । '३२८१। षिङ्गिदादिभ्योऽङ् । ३।३।१०४।' मास-मतिक्रान्तं ज्ञात्वा बहिर्निर्गताः सन्तः व्यथां भयम् । भिदादित्वादङ् । अवलल-म्बिरे वयं मासावधिना प्रेषिताः स च मासो विनैव कार्येणातिक्रान्त इति स्वामिनो भयम् ॥

५०६—चिन्ता-वन्तः कथां चक्रुर्धर्मा-भेद-भीरवः ॥

‘अ-कृत्वा नृ-पतेः कार्यं पूजां लप्स्यामहे कथम्. ७२

चिन्तेत्यादि—उपधानमुपधा परीक्षा । '३२८३। आतश्चोपसर्गे । ३।३।१०६।' इत्यङ् । तत्परिशुद्धो हि श्रुत्यः कार्येषु नियुज्यते । तदकरणादुपधाया भेदोऽभावः तस्माद्भीरवः । चिन्तावन्त इति कर्तव्यतामूढाः कथां चक्रुः कृतवन्तः । कीदृशीमित्याह । अकृत्वा नृपतेः कार्यं पूजां लप्स्यामहे कथमिति, नैवेत्यर्थः । चिन्तादयः । '३२८२। चिन्ति-पूजि-। ३।३।१०५।' इत्यादिना अङन्ताः ॥

५०७—प्रायोपासनया शान्तिं मन्वानो वालि-संभवः ॥

युक्त्वा योगं स्थितः शैले विवृण्वंश्चित्त-वेदनाम्. ॥ ७३ ॥

प्राय इत्यादि—उपासनेति । '३२८४। ण्यासश्चान्त्यो युञ्च । ३।३।१०७।' प्रायेण अविच्छेदेन उपवासेनोपासनया अनशनेनासनमित्यर्थः । तथा शान्तिं

१—'७८७। भेदोपजापादुपधा धर्माऽऽर्थैर्यत्परीक्षणम् ।' इति ना० अ० ।

कल्याणं मन्वानोऽवगच्छन् उपायान्तराभावात् । बालिसम्भवोऽङ्गदः । योग-
श्चित्तवृत्तिनिरोधः । तं युक्त्वा संबध्य शैले स्थितः । चित्तवेदनां चित्तपीडां विवृ-
ण्वन् । ‘घट्टि-विदि-वन्दिभ्यो युञ्ज वक्तव्यः’ इति युञ्ज ॥

५०८—प्रस्कन्दिकामिव प्राप्तो

ध्यात्वा ब्रूते स्म जाम्बवान् ॥

‘धिक् शालभञ्जिका-प्रख्यानं

विषयान् कल्पना-रुचीन्, ॥ ७४ ॥

प्रस्कन्दिकामित्यादि—त्वया का क्रिया कर्तव्येत्यन्तैः पृष्ठः सन् जाम्बवान्
ध्यात्वा विचिन्त्य ब्रूते स्म । प्रस्कन्दिकामिव रोगविशेषमिव प्राप्तो यातः उत्सा-
हाभावात् । ‘३२७५। रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम् । ३।३।१०८।’ शालभञ्जिका-
क्रीडाविशेषः । ‘३२८६। संज्ञायाम् । ३।३।१०९।’ इति ण्वुल् । ‘७११।’ नित्यं
क्रीडा—।२।२।१७।’ इत्यादिना सः । तत्प्रख्या विषया रूपादयः अतिनुच्छत्वात् ।
अतस्तान् धिक् । किन्तु कल्पनारुचीन् कल्पनीयान् ॥

५०९—यां कारिं राज-पुत्रो, ऽयमनुतिष्ठति, तां क्रियाम् ॥

अहमप्यनुतिष्ठामि’ सो ऽप्युक्तवैवमुपाविशत्. ॥ ७५ ॥

यामित्यादि—अयं राजपुत्रो ऽङ्गदो यां कारिं क्रियामनुतिष्ठति तां क्रियां
अहमप्यनुतिष्ठामि । ‘३२८७। विभाषा ऽऽख्यान-परिप्रश्नयोरिञ् च । ३।३।११०।’
इति करोतेरिञ् । पक्षे ‘३२७७। कृजः श च । ३।३।१००।’ इति शः । सोऽप्ये-
वमुक्त्वा उपाविशत् अनशनेन स्थितः ॥

५१०—उवाच मारुतिर् वृद्धे संन्यासिन्यत्र वानरान् ॥

‘अहं पर्याय-संप्राप्तां कुर्वे प्रायोपवेशिकाम्. ॥ ७६ ॥

उवाचेत्यादि—मारुतिर्वानरानुवाच—वृद्धे जाम्बवति संन्यासिनि अनशन-
वति अहमप्यत्र शैले पर्यायेण परिपाठ्या संप्राप्तां प्रायोपवेशिकां अनशनं कुर्वे ।
‘३२८८। पर्यायार्हण-।३।३।१११।’ इत्यादिना ण्वुल् ॥

५११—अ-भावे भवतां यो ऽस्मिन्

जीवेत्, तस्याऽस्त्व-जीवनिः, ॥’

इत्युक्त्वा सर्व एवां ऽस्थुर्

बद्धा योगाऽऽसनानि ते. ॥ ७७ ॥

अभाव इत्यादि—अभावे विनाशे भवतां योऽस्मिन् लोके जीवेत् तस्या-
स्त्वजीवनिः धिग्जीवितम् । ‘३२८९। आक्रोशे नञ्यनिः । ३।३।११२।’ एवमुक्त्वा
सर्व एव अस्थुः स्थिताः । तिष्ठतेः ‘२२२३। गति-स्था-।२।३।७७।’ इति सिचो
लुक् । बद्धा योगासनानि विरचय्य पञ्चासनदीनि ॥

१८४ भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

इतस्त्रीलिङ्गभावं निवर्त्य कृदुदाह्रियते—

५१२-अ-क्लेश्यमसिना ऽभ्यन्तं कबन्ध-वधमभ्यधुः, ॥

धिङ् नः प्रपतनं घोरं क्लेशाऽन्तत्वम-नाथ-वत्. ७८

अक्लेश्यमित्यादि—कबन्धवधं योजनबाहोर्वधमभ्यधुः अभिहितवन्तः । अभिपूर्वां धाजभिधाने वर्तते । कीदृशम् । अक्लेश्यं प्रयासरहितम् । अकस्मात् असिना सुखमरणात् तं चाभ्यन्तं अन्ते तस्याग्निरभूत् । अस्माकं धिक् प्रपतनं विनाशम् । दुःखेन घोरत्वात् । क्लेशान्तत्वं अन्ते पूर्तीभावं तद्यत्रास्ति । अर्शआ-दित्वाद् च । अनाथानामिव । अक्लेश्यप्रपतनशब्दौ भावसाधनौ । कृत्यल्युटो बहुलमिति ॥

५१३-ततो मन्द-गतः पक्षी तेषां प्रायोपवेशनम् ॥

अशनीयमिवाशंसुर् महानायाद-शोभनः ॥ ७९ ॥

तत इत्यादि—ततो ऽभिहितानन्तरं महान् पक्षी सम्पातिनामा जटायु-आता । आयात् आगतः । मन्दगतो मन्दगमनः । '३०९०। नपुंसके भावे क्तः । ३।३।११४।' आहिताग्नित्वात् परनिपातः । तेषां यत्प्रायोपवेशनं तदशनीयमिव भोजनीयमिव । '२८४१। कृत्यल्युटो बहुलम् । ३।३।११३।' इति कृत्यः । आशंसुः आशंसनशीलः । अशोभनः शोभारहितः । दावाग्निना छुष्टशरीरत्वात् । '३२९०। ल्युट् च । ३।३।११५।' इति भावे ल्युट् । '३२९१। कर्मणि च येन-। ३।३।११६।' इत्येतत्परिहृत्योदाहृतत्वात् ॥

५१४-देह-व्रश्चन-तुण्डाऽग्रं तं विलोक्या ऽशुभाऽऽकरम् ॥

पापगोचरमात्मानमशोचन् वानरा मुहुः ॥ ८० ॥

देहेत्यादि—वृश्च्यते येन तुण्डाग्रेण । '३२९३। करणाधिकरणयोश्च । ३।३।११७।' इति करणे ल्युट् । देहस्य व्रश्चनमिति कुबोणे षष्ठी । देहव्रश्चनं तुण्डाग्रं यस्य तं विलोक्य । वानरा अशुभाकरं पापस्योत्पत्तिस्थानम् । आकर इवाकरः । '३२९६। पुंसि संज्ञायां घः-। ३।३।११८।' तत्र हि करणाधिकरणयोरिति वर्तते । एवं उत्तरत्रापि चात्मानं पापगोचरं पापविषयं पापविषये पतिता वयमिति सुहृदशोचन् शोचितवन्तः । '३२९८। गोचर-सञ्चर-। ३।३।११९।' इत्यधिकरणे निपातितः ॥

५१५-जटायुः पुण्य-कृत् पक्षी दण्डकारण्य-सञ्चरः ॥

कृत्वा राघव-कार्यं यः स्वराऽऽरूढो ऽग्नि-संस्कृतः ८१

जटायुरित्यादि—कृत्वा राघवकार्यम् । अग्नि-संस्कृतः अग्निना कृतसंस्कारः । स्वः स्वर्गमारूढः । जटायुः पुण्यकृत् । संचरत्यस्मिन्निति संचरः । पूर्ववत् निपा-तितः । दण्डकारण्यं संचरोऽवस्थानं यस्येति ॥

१-१०२० । व्रश्चनः पत्रपरशुरीषिका तूलिका समे ।' इति ना० अ० ॥

५१६—नरकस्याऽवतारोऽयं प्रत्यक्षोऽस्माकमागतः, ॥

अ-चेष्टा यदिहाऽन्यायादनेनाऽत्स्यामहे वयम्. ८२

नरकस्येत्यादि—अवतीर्यते येन कर्मणेति । ‘३२९९। अवे तृस्त्रोर्ध्व । ३।३।१२०।’ स एवायं नरकस्यावतारः प्रत्यक्षोऽस्माकमागतः । यद्यस्माद्वयम-
चेष्टाः निश्चलाः अनेन पक्षिणा अन्यायादयुक्त्या । नीयते अनेनेति निपूर्वादिणः
‘३३०१। अध्याय-न्याय-।३।३।१२२।’ इति निपातनात् घञ् । अत्स्यामहे भक्ष-
यिष्यामहे । कर्मणि लृट् ॥

५१७—हृदयोदङ्क-संस्थानं कृतान्ताऽऽनार्य-सन्निभम् ॥

शरीराऽऽखन-तुण्डाऽग्रं प्राप्या-ऽमुं शर्म दुर्लभम्. ८३

हृदयेत्यादि—अमुं पक्षिणं प्राप्य । कीदृशं हृदयोदङ्कसंस्थानम् उदङ्ग्यते आ-
कृष्यते अनेनेति उत्पूर्वादङ्गतेः । ‘३३०२। उदङ्गोऽनुदके । ३।३।१२३।’ इति घञ्
निपात्यते । हृदयस्योदङ्कः संदेशः तत् संस्थानं तत्सदृशम् । कृतान्तानायसन्नि-
भं यमजालतुल्यम् । तद्विष्टस्य दुःखेन निर्गमत्वात् । ‘३३०३। जालमानायः
।३।३।१२४।’ इति नयतेराङ्पूर्वात्करणे घञ् निपात्यते । आखन्यते येन तुण्डा-
ग्रेण । खनो घञ् । शरीरस्याखनं तादृक् तुण्डाग्रं यस्येति । प्राप्य शर्म सुखं
दुर्लभं कृच्छ्रलभ्यम् । ‘३३०५। ईषद्-।३।३।१२६।’ इत्यादिना खल । अत्र कर-
णाधिकरणयोश्चेति निवृत्तम् । ‘२८३३। तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः । ३।४।७०।’
इति योज्यम् । ‘३३०६। उपसर्गात् खल-घञोः । ७।१।६७।’ इति प्राप्तस्य नुमः
‘३३०७। न सुदुर्भ्याम्-। ७।१।६८।’ इति प्रतिषेधः ॥

५१८—ईषदाढ्यङ्करोऽप्येष न परत्राऽशुभ-क्रियः, ॥

अस्मान्तुर्मितोऽभ्येति परिग्लानो बुभुक्षया. ॥८४॥

ईषदित्यादि—य एष अस्मान्तुर्मितः प्रदेशादभ्येति आगच्छति स परत्र
परलोके ईषदाढ्यङ्करोऽपि अनाढ्यैरीषदाढ्योऽपि न कृतः । अशुभेन कर्मणेत्य-
र्थात् । ‘३३०८। कर्तृ-कर्मणोश्च भू-कृतोः । ३।३।१२७।’ इति ल्यर्थे कर्मोपपदा-
त्करोतेः खल । यतः परिग्लानो बुभुक्षया । यो हि कर्मणा शुभेन ईषदाढ्यङ्करो-
ऽपि न कृतः स कथं न बुभुक्षया पीड्यते । परिग्लायतीति कर्तरि बहुलवचनात्
ल्युट् । निष्ठान्तो वा । ‘३०१७। संयोगादेः-। ८।२।४३।’ इत्यादिना निष्ठानत्वम् ।
अशुभक्रियः सत्त्वद्रोहाभिरतत्वात् ॥

५१९—संप्राप्य वानरान् पक्षी जगाद मधुरं वचः—॥

‘के यूयं दुरुपस्थाने मनसाऽप्यद्रि-मूर्धनि. ॥ ८५ ॥

इति हृदधिकारः ।

१८६ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

संप्राप्येत्यादि—वानरान् संप्राप्य पक्षी जगाद् गदितवान् । के यूयं अद्रि-
मूर्धनि पर्वतशिखरसि दुरुपस्थाने दुःखेनोपस्थातुं शक्ये मनसापि किं पुनः शरी-
रेण । ‘३३०९। आतो युच्-।३।३।१२८।’ तत्रापि द्वैषदादयोऽनुवर्तन्ते । कर्तृ-
कर्मणोरिति न स्मर्यते ॥

इति कृदधिकारः ॥

अथ प्रकीर्णकाः ।

इतः प्रकीर्णकश्लोकानाह—

५२०—आत्मनः परिदेवध्वे कुर्वन्तो राम-संकथाम्, ॥

समानोदर्यमस्माकं जटायुं च स्तुथा ऽऽदरात् ॥ ८६ ॥

आत्मन इत्यादि—आत्मनः परिदेवध्वे शोचथ । ‘५३४। देव देवने’ इति
भौवादिकः । शसि ‘३५५। न संयोगाद्वमन्तात् । ६।४।१३७।’ इत्यल्लोपो न भव-
ति । जटायुं च समानोदर्यं आतरमस्माकम् । ‘१६५९। समानोदरे शयितः-
।४।४।१०८।’ इति यत् । आदरात् प्रस्तुथ स्तुतिं कुरुथ । जटायुः पुण्यकृदि-
त्यादिना । रामसंकथां च कुर्वन्तः अतः के यूयमिति ॥

५२१—शङ्का-ध्वित्र-वचनं प्रत्यूचुर् वानराः खगम्— ॥

‘वयं शत्रु-लवित्रेषोर् दूता रामस्य भूपतेः ॥ ८७ ॥

शङ्केत्यादि—धुनोलपनयत्यनेनेति ध्वित्रम् । ‘३१३५। अति लघू-।३।२।-
१८४।’ इत्यादिना करणे इत्रः । किमयं करिष्यतीति शङ्काध्वित्रं वचनं यस्य तं
खगं वानराः प्रत्यूचुः । शत्रुलवित्रा इषवो बाणा यस्य रामस्य भूपतेस्तस्य वयं
दूताः । पूर्ववद्वित्रं कृत्वा सः ॥

५२२—केना ऽपि दौष्कुलेयेन कुल्यां माहाकुलीं प्रियाम् ॥

हतां माहाकुलीनस्य तस्य लिप्तामहे वयम् ॥ ८८ ॥

केनेत्यादि—तस्य रामस्य प्रियां केनापि दौष्कुलेयेन हताम् । दुष्कुलस्या-
पत्यमिति ‘११६५। दुष्कुलाद्वक् । १।१।१४२।’ कुल्यां कुले साध्वीं ‘१६५० ।
तत्र साधुः । १।४।१८।’ इति यत् । माहाकुलीं माहाकुलीनस्येति माहाकुलस्याप-
त्यमिति ‘११६४। माहाकुलादन्-खजौ । १।१।१४३।’ इति अन्खजौ । लिप्तामहे
वयं लब्धुमिच्छामः ॥

५२३—त्रिंशत्तममहर् यातं मत्वा प्रत्यागमाऽवधिम् ॥

अ-कृताऽर्था विषीदन्तः परलोकमुपास्महे ॥ ८९ ॥

१—‘५९७। समानोदर्य-सोदर्य-सगर्भ-सहजाः समाः ।’ २—‘७२९। ध्वित्रं व्यजनं
यद् यद् रचितं मृगचर्मणा ।’ ३—‘८९८। दात्रं लवित्र-मावन्धो योत्रं योक्रमयो फलम् ।’
इति सर्वत्र ना० अ० ।

त्रिंशदित्यादि—त्रिंशतः पूरणम् । '१८५६। विंशत्यादिभ्यः—१५।२।५६।' इति तमद् । त्रिंशत्तमं यदहः तत् प्रत्यागमावधिं प्रत्यागमनस्यावधिं यातं अती-
तं मत्वा अकृतार्था अनिष्पादितप्रयोजना विधीदन्तो विषादं गच्छन्तो वयं पर-
लोकमुपास्महे प्रायोपवेशनेन त्रियामहे ॥

५२४—त्रियामहे, न गच्छामः कौशल्यायनि-वल्लभाम् ॥

उपलम्भ्याम-पश्यन्तः कौमारीं पततां वर ! ॥९०॥'

त्रियामहे इत्यादि—हे पततां पक्षिणां वर ! त्रियामहे न गच्छामः किमिति
कौमारीं अकृतपूर्वदारपतिं लब्धवतीम् । '१२१४। कौमारापूर्ववचने । १४।२।१३।' इति साधुः । कौशल्यायनिवल्लभाम् । कौशल्याया अपत्यं कौशल्यायनी रामः ।
'११७९। कौशल्य-कार्मार्याभ्यां च । ४।१।१५५।' इति फिन् । फस्यायनादेशः ।
तस्य वल्लभां इष्टां उपलम्भ्यां प्रशस्ताम् । '२८४४। पोरदुपधात् । ३।१।९८।' इति यत् । '२८४६। उपात्प्रशंसायाम् । ७।१।६६।' इति यत्प्रत्यये जुम् । अपश्य-
न्तोऽनुपलभमानाः एते प्रकीर्णकाः ॥

इतः छिदतिशेषमधिकृत्याह—

५२५—जगाद वानरान् पक्षी-नाध्यगीदुं ध्रुवं स्मृतिम् ॥

यूयं संकुटितुं यस्मात् काले ऽस्मिन्नध्यवस्यथ. ॥२१॥

जगादेत्यादि—ध्रुवं अवश्यं स्मृतिं स्मृतिशास्त्रं नाध्यगीदुं नाधीतवन्त
इति पक्षी वानरान् जगाद । '२४६०। विभाषा लुङ्-लङोः । २।१।५०।' इति वि-
भाषा गाडादेशः । '२४६१। गाङ्कुटादिभ्यः—१।१।२।१।' इति सिचो ङित्वम् ।
'२३६२। घुमा-स्था—६।१।६६।' इतीत्वम् । '२२४९। धि च । ८।२।२५।' इति सि-
चो लोपः । '२२४७। इणः षीध्वम् । ८।३।७८।' इति मूर्धन्यः । यस्माद्युयमस्मिन्
काले संकुटितुं अवसातुमध्यवस्यथ अभिप्रायं कुरुथ । कुटादित्वात् ङित्वम् ॥

अयमेवावसातुं काल इति चेदाह—

५२६—नाऽयमुद्विजितुं कालः स्वामि-कार्याद् भवादृशाम् ॥

हृत-भार्ये च्युते राज्याद् रामे पर्युत्सुके भृशम्. ॥९२॥

नायमित्यादि—भवादृशां युष्मद्विधानां स्वामिकार्यादुद्विजितुं नायं कालः ।
'२५३६। विजः—१।१।२।२।' इति ङित्वम् । किमिति न भवतीति चेदाह—राज्या-
च्युते अष्टे रामे निर्वासितत्वात् । तत्रापि हृतभार्ये भृशमत्यर्थं पर्युत्सुके सीतायाम् ॥

५२७—यत्नं प्रोर्णवितुं तूर्णं दिशं कुरुत दक्षिणाम्, ॥

प्रोर्णवित्रीं दिवस् तत्र पुरीं द्रक्ष्यथ काञ्चनीम्. ॥९३॥

यत्नमित्यादि—दक्षिणां दिशं प्रोर्णवितुं आच्छादयितुं छादयिष्याम इति
तुमन् । तूर्णं शीघ्रं यत्नं कुरुत । तस्यां दिशि पुरीं द्रक्ष्यथ । काञ्चनीम् । '१५३२।
प्राणिरजतादिभ्यो ऽञ् । ४।३।१५४।' प्रोर्णवित्रीं अभिव्यापिनीम् । तृचि रूपम् ।

१८८ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

दिव आकाशस्य । कर्मणि षष्ठी । '२४४७ । विभाषोर्णोः । ११२।३।' इति डित्त्वपक्षे
उवङ् । अडित्वपक्षे च गुणः । कुस्तेति '२२३४ । सार्धधातुकमपित् । ११२।३।' इति
डित्वे विकरणस्य गुणो न भवति । तस्य चार्धधातुकत्वात् अडित्वे धातो-
र्गुणः । '२४६७ । अत उत् सार्धधातुके । ६।४।११०।' इति उत् ॥

कलापकम् ९४-९७-

५२८—लङ्कां नाम्ना गिरेर् मूर्ध्नि राक्षसेन्द्रेण पालिताम् ॥

निर्जित्य शक्रमानीता ददृशुर् यां सुर-स्त्रियः ॥९४॥

लङ्कामित्यादि—यां पुरीं नाम्ना लङ्कां सुरस्त्रियो ददृशुः दृष्टवत्यः । '२२४२ ।
असंयोगाल्लिङ् कित् । ११२।५।' इति कित्त्वम् । तां यातेति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ।
गिरेः सुवेलस्य मूर्ध्नि स्थितां राक्षसेन्द्रेण पालितामिति दुर्गमत्वमाख्यातम् । शक्रं
निर्जित्य सुरस्त्रिय आनीता इति च रावणस्य माहात्म्यम् ॥

५२९—बभूव या ऽधिशैलेन्द्रं मृदित्वैवेन्द्र-गोचरम् ॥

कुषित्वा जगतां सारं सैका शङ्के कृता भुवि. ॥९५॥

बभूवेत्यादि—अधिशैलेन्द्रं शैलेन्द्रस्य सुमेरोरुपरि । सप्तम्यर्थेऽव्ययीभावः ।
इन्द्रगोचरमिन्द्रनिलयममरावत्याख्यं मृदित्वेव तिरस्कृत्वेव बभूव । '३३९३ ।
इन्धि-भवतिभ्यां च । ११२।६।' इति कित्त्वम् । जगतां सारं कुषित्वा निष्कुप्य ।
सैका भुवि कृता निर्मितेत्यहं शङ्के । तां यात मृदित्वा कुषित्वेति '३३२२ । न
क्त्वा सेदं । ११२।१८।' इति कित्त्वप्रतिषेधे प्राप्ते '३२२३ । मृड-मृद-११२।७'
इत्यादिना कित्त्वम् ॥

५३०—अ-मृडित्वा सहस्राऽक्षं क्लिशित्वा कौशलैर् निजैः ॥

उदित्वा ऽलं चिरं यत्नात् सैका धात्रा विनिर्मिता. ९६

अमृडित्वेत्यादि—सहस्राक्षमिन्द्रममृडित्वा असुखिनं कृत्वा । निजैः
आत्मीयैः कौशलैः चिरं क्लिशित्वा प्रयत्नं कृत्वा । उदित्वा अभिधायालं पर्याप्तमेवं
करिष्यामीति । यत्नात् महता प्रयासेन सैका धात्रा विनिर्मिता । पूर्ववत्कित्त्वम् ॥

५३१—मुषित्वा धन-दं पापो यां गृहीत्वा ऽवसद् द्विषन्, ॥

तां रुदित्वैव शक्रेण यात लङ्कामुपेक्षिताम्. ॥ ९७ ॥

मुषित्वेत्यादि—मुषित्वा धनदं वैश्रवणं तस्मात्पुरं पुष्पकं च विमानमपह-
तम् । पापः पापाचरणात् यां गृहीत्वा अवसत् उषितः । द्विषन् शत्रुः । शक्रेण
रुदित्वेवोपेक्षितामवधीरिताम् । '२६०९ । रुद-विद-११२।८।' इति कित्त्वम् ।
तत्र चकारेण क्वेत्यनुवर्तते ॥

१-७६ । कुबेरस्य-त्र्यम्बक-सखो यक्षराट् गुह्यकेश्वरः । मनुष्य-धर्मा धन-दो राजराजो
धनाधिपः ॥ इति नां अ० ॥

५३२—विदित्वा शक्तिमात्मीयां रावणं विजिघृक्षवः ॥

उक्तं पिपृच्छिषूणां वो मा स्म भूत सुषुप्सवः ॥१९८॥

विदित्वेत्यादि—आत्मीयां शक्तिं सामर्थ्यं विदित्वा । पूर्ववत्किञ्चित् । रावणं विजिघृक्षवः विग्रहीतुमिच्छवः । सुषुप्सवः शयितुमिच्छवो मा स्म भूत । न प्रमत्ता भवतेत्यर्थः । रावणस्य बलीयस्त्वादिदमुक्तं मया वो युष्माकं पिपृच्छिषूणां प्रष्टुमिच्छूनाम् । अत्र '२६०९। रुद-विद-।१।२।८।' इति सनः क्तिन्वे सम्प्रसारणम् । प्रच्छेः '२६११। किरश्च पञ्चभ्यः ।७।२।७५।' इतीडागमः ॥

५३३—ना ऽविविदिषुर्मभ्येति सम्पद् रुरुदिषुं नरम्, ॥

किं मुमुषिषु-वद् यात द्विषो ना ऽपचिकीर्षया ॥१९९॥

नेत्यादि—वेदितुं ज्ञातुमिच्छुर्यो न भवति तं नरमविविदिषुं रुरुदिषुं रोदि-तुमेषणस्वभावं सम्पद्विभूतिर्नाभ्येति नागच्छतीति वो मयोक्तमिति योज्यम् । किं न यात न गच्छत । मुमुषिषुवत् चौरवदित्यर्थः । पूर्ववत्किञ्चित् । द्विषः शत्रोरपचिकीर्षया अपकर्तुमिच्छया । '२६१२। इको झल् ।१।२।९।' इति क्तिन्वे गुणो न भवतीति '२६१४। अज्ज्ञानगमां सनि ।३।४।१६।' इति दीर्घः । '२३९०। ऋत इद्वातोः ।७।४।१००।' ॥

५३४—बुभुत्सवो द्रुतं सीतां भुत्सीध्वं, प्रब्रवीमि वः, ॥

मा च भुद्ध्वं मृषोक्तं नः, कृषीद्वं स्वामिने हितं १००

बुभुत्सव इत्यादि—बुभुत्सवो ज्ञातुमिच्छवः यदि सीताम् । बुधेः सन्न-न्तात् '२६१३। हलन्ताच्च ।१।२।१०।' इति क्तिन्वम् । '३२६। एकाचः ।८।२।३७।' इति भष्भावः । तदा द्रुतं तां भुत्सीध्वं जानीतेति वो युष्मान् ब्रवीमि । '२३००। लिङ्-सिचौ-।१।२।११।' इति क्तिन्वम् । मृषोक्तं मिथ्योक्तं नोऽस्माकं मा च भुद्ध्वं न जानीत, अपि तु सत्यम् । '२२८१। झलो झलि ।८।२।२६।' इति सिचो लोपः । '५२। झलां जश् झशि ।८।४।५३।' क्तिन्वं पूर्ववत् । अतो यूयं स्वामिने रामाय हितं कृषीद्वं कुरुत । '२३६८। उश्च ।१।२।१२।' इति क्तिन्वम् । '२२४७। इणः षीध्वं-।८।३।७८।' इति मूर्धन्यः ॥

५३५—समगध्वं पुरः शत्रोर्, मोदयध्वं रघूत्तमम्, ॥

नोपायध्वं भयं, सीतां नोपायंस्त दशाननः ॥ १०१ ॥

समगध्वमित्यादि—इदमहमाशंसे यदुत शत्रोः रावणस्य पुरः अग्रतः समगध्वं संगता भवत । '२७९०। आशंसायां भूतवच्च ।३।३।१३२।' इति लुङ् । '२६९९। समो गम्यृच्छि-।१।२।३।' इति तङ् । '२७००। वा गमः ।१।३।२९।' इति सिचः क्तिन्वे '२४२८। अनुदात्त-।६।४।३७।' इत्यनुनासिकलोपः । '२३-

१९० भट्टि-कान्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

६९। ह्रस्वादङ्गात् । ८। २। २७।' इति सिचो लोपः । मोदयध्वं रघूत्तमं हर्षयत । तत्कार्यकरणात् । मा च भयमुपायध्वं सूचयत । भयं मा कार्ष्णेत्यर्थः । '२६९५। आङो यमहनः । १। ३। २८।' इति तङ् । '२६९८। यमो गन्धने । १। २। १५।' इति तङ् । यमो गन्धन इति सिचः क्त्वे अनुनासिकलोपः । गन्धनं सूचनम् । अन्यथा युष्मासु गन्धितनयेषु नियतमसौ दशाननः सीतामुपायंस्त स्वीकृतवान् स्यात् । तस्य दुर्वृत्तत्वात् । '२७९०। आशंसायां भूतवच्च । ३। ३। १३२।' इत्यनि-
ष्टाशंसायां लुङ् । '२७९१। उपाद्यमः स्वकरणे । १। ३। ५६।' इति तङ् । स्वक-
रणं चात्र विवाहनमुक्तम् । '२७३०। विभाषोपयमने । १। २। १६।' इति अकि-
त्वपक्षे रूपम् ॥

५३६—ततः प्रास्थिषता ऽद्रीन्द्रं महेन्द्रं वानरा द्रुतम् ॥
सर्वे किलकिलायन्तो, धैर्यं चाऽऽधिषता ऽधिकम् ॥

तत इत्यादि—ततः सम्पातिवचनानन्तरं सर्वे वानरा महेन्द्रं पर्वतं प्रास्थि-
षत प्रस्थितवन्तः । धैर्यं चाधिकमाधिषत आहितवन्त आत्मनि । तिष्ठतेर्दधा-
तेश्च '२३८९। स्था-ध्वोरिच्च । १। २। १७।' इति क्त्विमिषत्वं च । तिष्ठतेः '२६८९।
समव-प्र-विभ्यः स्थः-। १। ३। २२।' इति तङ् । किलकिलायन्तः किलकिलाध्वनिं
कुर्वाणाः । '८१। अव्यक्तानुकरण-। ६। १। ९८।' इत्यादिना डाच् तदन्तात् । '२६-
६८। लोहितादिडाजभ्यः क्यष् । ३। १। १३।' । '२६६९। वा क्यषः । १। ३। ९०।'
इति परस्मैपदम् ॥

कुलकम् १०३-१०७—

५३७—निकुञ्जे तस्य वर्तित्वा रम्ये प्रक्ष्वेदिताः परम् ॥
मणि-रत्नाऽधिषयितं प्रत्युदैक्षन्त तोय-धिम् ॥ १०३ ॥

निकुञ्ज इत्यादि—तस्य पर्वतस्य निकुञ्जे लतादिपिहितस्थाने वर्तित्वा
स्थित्वा । '३३२२। न क्त्वा सेह । १। २। १८।' इति क्त्विप्रतिषेधः । परं प्रक्ष्वेदिताः
उच्चैरव्यक्तशब्दं कुर्वाणाः । '३०५२। निष्ठा शीङ्-। १। २। १९।' इति क्त्विप्र-
तिषेधः । तोयधिं प्रत्युदैक्षन्त दृष्टवन्तः । लङि रूपम् । कीदृशं मणिरत्नाधिषा-
यितम् । '३०८७। क्तोऽधिकरणे च । ३। १। ७६।' इति क्तः पूर्ववत्क्त्विप्रतिषेधः ।
मणिर्यद्ब्रह्ममिति स्त्रीरत्नादावपि रत्नशब्दस्य दृष्टत्वात् एकपदव्यभिचारे विशेष-
णविशेष्यभावः । तस्याधिषयितमवस्थानमित्यर्थः ॥

५३८—अ-मर्षितमिव घ्नन्तं तटाऽद्रीन् सलिलैर्मिभिः ॥
श्रिया समग्रं द्युतितं मदेनेव प्रलोठितम् ॥ १०४ ॥

१—'३४८। निकुञ्ज-कुञ्जौ वा ङीवे लतादिपिहितोदरे ।' । २—'२५९। भङ्गस-
तरङ्गं कर्मिर् वा स्त्रियां वीप्तिरधोर्मिषु ।' इति ना० अ० ।

अमर्षित इत्यादि—सलिलोर्मिभिः कल्लोलैः । तटादीन् तटस्थान् पर्वतान्
घ्नन्तं प्रत्युदैक्षन्त । अमर्षितमिव '३०५५। मृषस्तितिक्षायाम् । ११।२।२०।' इति
किञ्चप्रतिषेधः पश्चात् नञ्समासः । श्रिया हेतुभूतया समग्रं संपूर्णम् । द्युति-
तमिति कर्तरि निष्ठा । यदि वा श्रिया कर्तृभूतया द्युतितं शोभितम् । यत्रेत्य-
ध्याहृत्य तमैक्षन्तेति योज्यम् । एवं च कृत्वा '३०५६ । उदुपधात्-११।२।२१'
इत्यादिना भावे निष्ठायां विकल्पेन किञ्चप्रतिषेधात् किञ्चमुदाहृतम् । मदेनेव
मत्तयेव । श्रिया हेतुभूतया प्रलोठितं घूर्णितुमारब्धम् । '३०५३। आदिकर्म-
णि-१३।४।७१।' निष्ठायामकिञ्चमुदाहृतम् ॥

५३९—पूतं शीतैर् नभस्वद्भिर् ग्रन्थित्वैव स्थितं रुचः ॥

गुम्फित्वैव निरस्यन्तं तरङ्गान् सर्वतो मुहुः ॥१०५॥

पूतमित्यादि—नभस्वद्भिर्वायुभिः शीतैः पूतं पवित्रीकृतम् । '३०५०।
पूङ्श्च । ७।२।५१।' इति विकल्पेनेद् । अत एव पक्षे पूजः क्तवानिष्ठयोः किञ्च-
प्रतिषेधोऽत्र न भवति । तत्र सेडित्यनुवर्तते । रुचो दीप्तीर्ग्रन्थित्वेव संदर्भ्येव
स्थितम् । '३३२४। नोपधात्थफान्ताद्वा । ११।२।२३।' इति किञ्चप्रतिषेधपक्षे रूप-
म् । सर्वतस्तरङ्गान् गुम्फित्वेव निरस्यन्तं क्षिपन्तम् । नोपधादिति विकल्पेन
किञ्चप्रतिषेधः । यत्रेत्यध्याहृत्य तमैक्षन्तेति योज्यम् ॥

५४०—वञ्चित्वा ऽप्यम्बरं दूरं स्वस्मिन् तिष्ठन्तमात्मनि ॥

तृषित्वैवा ऽनिशं स्वादु पिबन्तं सरितां पयः ॥१०६॥

वञ्चित्वेत्यादि—स्थित्यनतिक्रमादम्बरं दूरं वञ्चित्वातिक्रम्य । '३३२५।
वञ्चि लुञ्चि-१।२।२४।' इति किञ्चप्रतिषेधः । स्वस्मिन्नात्मनि स्वरूपे तिष्ठन्तम् ।
अत्र '१४०। नश्छव्यप्रशान् । ८।३।७।' इति नकारस्य रुत्वम् । पूर्वस्य त्वनुनासि-
कादेशः । तृषित्वेव तृषित इव भूत्वा । '३३२६। तृषि-मृषि-११।२।२५।' इत्या-
दिना [किञ्चविकल्पः ।] प्रतिषेधः । तत्सलिलस्य स्वादुत्वात् । सरितां पयः
स्वादु पिबन्तं अनिशमजस्रम् ॥

५४१—द्युतित्वा शशिना नक्तं रश्मिभिः परिवर्धितम् ॥

मेरोर् जेतुमिवा ऽऽभोगमुच्चैर् दिद्योतिषु मुहुः ॥१०७॥

द्युतित्वेत्यादि—शशिना नक्तम् रात्रौ द्युतित्वा दीप्तिमत्ता भूत्वा । रश्मि-
भिः परिवर्धितं वृद्धिं नीतं सन्तं तोयधिं मेरोराभोगं महत्त्वं जेतुमिव मुहुरुच्चै-
र्दिद्योतिषु वर्धितुमिच्छुमित्यर्थः । अनेकार्थत्वाद्वातूनाम् । द्युतित्वा दिद्योतिषु-
मिति '२६१७। रलो व्युपधात्-११।२।२६।' इति किञ्चाकिञ्चे । तत्र ह्युकारो-

१—'७० । नभस्वद्वात-पवन-पवमान-प्रभजनाः ।' २—(५३८) श्लोकस्य टिप्पणं
विलोकनीयम् । ३—'१४७१। दिवाऽह्नीत्यथ दोषा च नक्तं च रजनावपि ।' ४—'११८।
किरणसमयूखांशुगमस्ति-वृणि-रश्मयः ।' इति सर्वत्र ना० अ० ।

१९२ भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

पधादिकारोपधाच्च रलन्ताद्वलादेर्धातोः परौ क्त्वासनौ वा न कितौ भवत
इति सूत्रार्थः ॥

५४२—विलोक्य सलिलोच्चयानधि-समुद्रमभ्रलिहान्
भ्रमन्-मकर-भीषणं समधिगम्य चाऽधः पयः ॥

गमाऽऽगम-सहं द्रुतं कपि-वृषाः परिप्रैषयन्

गजेन्द्र-गुरु-विक्रमं तरु-मृगोत्तमं मारुतिम् ॥१०८॥

विलोकयेत्यादि—कपिवृषाः कपिमुख्याः मारुतिं हनुमन्तं द्रुतं परिप्रैषयन्
व्यसर्जयन् । परिप्रपूर्वात् '१२०२। इष गतौ' इत्यस्मात् हेतुमण्यन्तात् लङि
रूपम् । किं कृवेत्याह । विलोक्य सलिलोच्चयान् सलिलोर्मीन् । ऊर्ध्वं चीयत
इति '३२३१। एरच् । ३। ३। ५६।' अधिसमुद्रं समुद्रस्योपरि । अभ्रलिहान् दूर-
मुच्छित्तान् । अधश्च पयः समधिगम्य ज्ञात्वा । कीदृशम् । भ्रमन्मिर्मकरैर्भीषणं
भयानकम् । भीषयतीति नन्वादिवाह्युः । गमागमसहं गमनागमनयोग्यं मा-
रुतिम् । गजेन्द्रस्येव गुरुर्विक्रमो यस्य । तरुमृगेषु वानरेषूत्तममिति । सप्तमीति
योगविभागात् सः ॥

॥ इति द्वित्वाधिकारः ॥

इति श्री-जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते श्री-भट्टिकाव्ये-

द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयः परिच्छेदः (वर्गः),

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके सीताऽन्वेषणं नाम सप्तमः

सर्गः पर्यवसितः ।

अष्टमः सर्गः ।

आत्मनेपदमधिकृत्याह—

५४३—अगाधत ततो व्योम हनूमानुरु-विग्रहः, ॥

अत्यशेरत तद्-वेगं न सुपर्णाऽर्क-मारुताः ॥ १ ॥

अगाधतेति—ततो विसर्जनान्तरं हनूमान् समुद्रलङ्घनाय व्योमाकाशम-
गाधत प्रस्थितवान् । '४। गाध प्रतिष्ठा-लिप्सयोः ।' इत्यसालङ् । '२१५७। अनुदा-
त्तहितः—१। ३। १२।' इत्यनुदात्तेत्वादात्मनेपदम् । उरुविग्रहः कामरूपित्वात् तदा-
नीमुत्पादितविपुलकायः । तस्य चोत्पत्ततो वेगं गरुडादित्यपवनाः नात्यशेरत नाति-

१—'पथेऽस्मिन् पृथ्वी वृत्तम् । तल्लक्षणं तु—'९४। ज-सौ ज-स-य-ला वसु-ग्रहयतिश् च
पृथ्वी गुरुः ।' इति वृत्तरत्नाकरे भट्टकेशर आह । २—'१४२९। शुक्ले मूषके श्रेष्ठे सुकृते
वृषमे वृषः ।' ३—'३३। गरुत्मान् गरुडस्य ताक्ष्यो वैनतेयः खगेश्वरः । ३४। नागान्तको
विष्णुरथः सुपर्णः पद्मगाऽक्षयः ।' इति सर्वत्र आ० अ० ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'ऽशोकवनिना-भङ्गो' नामाष्टमः सर्गः—१९३

शयितवन्तः । डित्वात्तङ् । '२४४२। शीङो रुद्र । ७। १। ६।' । '२४४३। शीङिः
सार्वधातुके गुणः । ७। १। २। १।' ॥

५४४—अभायत यथाऽर्केण सुप्रातेन शरन्-मुखे, ॥

गम्यमानं न तेनाऽऽसीदगतं क्रामता पुरः. ॥ २ ॥

अभायतेत्यादि—यथा अर्केण सुप्रातेन सुप्रभातेन नीहाराद्यभावात् ।
शोभनं प्रातरनेनेति । '८६०। सुप्रात-सुश्व-। ५। ४। १२०।' इति समासान्तनिपात-
नम् । शरन्मुखे शरदारम्भे । अभायत दीप्यते स्म । '२६७९। भाव-कर्मणोः
। १। ३। १३।' इति भावे तङ् । तद्वत्तेनाभायत । पुरोऽप्रतो यदुर्केण गम्यमानमव-
ष्टभ्यमानं वत्तैत्यर्थात् कर्मण्यात्मनेपदम् । तेन हनूमता क्रामता गच्छता ।
शिति क्रम इति दीर्घत्वम् । नागतमासीत् अपि तु सर्वमेव गतमिति ॥

५४५—वियति व्यत्यतन्वातां मूर्तीं हरि-पयोनिधी, ॥

व्यत्यैतां चोत्तमं मार्गमर्केन्द्रेन्दु-निषेवितम्. ॥ ३ ॥

वियतीत्यादि—हरिपयोनिधी हनूमत्समुद्रौ मूर्तीं स्वदेहौ वियत्याकाशे
व्यत्यतन्वातां व्यतिविस्तारितवन्तौ । तनोतेर्लङ् । '२६८०। कर्तरि कर्मव्यतिहारे
। १। ३। १४।' इत्यात्मनेपदम् । उत्तमं च मार्गं अर्केन्द्रेन्दुनिषेवितं व्यत्यैतां व्यतिग-
तवन्तौ । इणः परस्य लङः कर्मव्यतिहार इत्यात्मनेपदं प्राप्तं '२६८१। न गति-
हिसार्थेभ्यः । १। ३। १५।' इति गत्यर्थत्वात् प्रतिषिद्धं, तेन तसस्तामादेशः । तत्र
हरेर्गच्छतः पुरतो यस्मिन्विषयप्रदेशे स्वमूर्तिं विस्तारितुमवसरो भविता, तत्र
पयोनिधिरुर्मिभिः स्वमूर्तिं वितस्तार । पयोनिधेश्च वेला तटं गच्छतो यत्र स्वमू-
र्तिविस्तारावसरो भावी तत्र हरिः स्वमूर्तिं वितस्तार । यथा पयोनिधेर्यं मार्गं
गन्तुमवसरो भविता, हरिरुपत्य तं मार्गं गन्तुमैच्छत् । यं च हरेर्मार्गं गन्तुमव-
सरो भविता तं मार्गं पयोनिधिरभ्रंलिहैरुर्मिभिरैच्छत् । यत्र यत्क्रियावसरे क्रियां
करोति स तत्र तत्क्रियाकारीत्युपचर्यते । यथा देवदत्तसाध्यां क्रियां यज्ञदत्तः
कुर्वन् तत्कारीत्युच्यते । ततश्चेतरेणेतत्संबन्धिन्याः क्रियायाः करणात् अन्यतर-
संबन्धिन्याश्चेत् सम्भवति कर्मव्यतिहारः ॥

५४६—व्यतिजिग्ये समुद्रोऽपि न धैर्यं तस्य गच्छतः ॥

व्यत्यगच्छन् न च गतं प्रचण्डोऽपि प्रभञ्जनः ॥ ४ ॥

व्यतीत्यादि—तस्य हरेर्गच्छतः स्वदेहस्याल्पतां कर्तुं योऽवसरो भावी तत्र
समुद्रो नातिशयधैर्यं कृतवान् । तेन तस्य धैर्यं न जितं, तदानीं तस्योद्धतकह्लो-
लत्वात् । अपिशब्दाच्च हनूमानपि समुद्रस्य शान्तत्वं कर्तुं योऽवसरो भावी तत्र
नातिशयधैर्यं कृतवान् । तेन तस्य धैर्यं वा न जितं, तदानीं तस्य विपुलकायत्वात् ।

१—'२३८३। यमाऽनिलेन्द्र-चन्द्राऽर्के-विष्णु-सिंहांशु-वाजिषु । शुकाऽहि-कपि-भेकेषु हरि-
ना कपिले त्रिषु ।' इति नानार्थेऽमरः ।

भ० का० १७

१९४ भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

तदेवं हनूमतः समुद्रो हनूमानपि समुद्रस्य धैर्यं न व्यतिजिग्ये नाभिवभूव ।
एकवचनस्य प्रत्येकाभिसंबन्धात् । कर्मव्यतीहारे पूर्ववदात्मनेपदम् । '२३३१ ।
सैलिटोर्जे' । ७।३।५७।' इति कृत्वम् । तस्य हनूमतो गतं गमनं प्रचण्डोऽपि महान्
प्रभञ्जनो वायुर्न व्यत्यगच्छत् प्राप्तवान् ॥

तस्यातिजवेन गच्छतः पथि राक्षसी संप्राप्ता तामसौ व्यापादितवानित्याह—

५४७—व्यतिघ्नन्तीं व्यतिघ्नन्तां राक्षसीं पवनाऽऽत्मजः ॥

जघानाऽऽविश्य वदनं निर्यात् भित्त्वोदरं द्रुतम् ॥ ५ ॥

व्यतीत्यादि—हनिष्याम्येनमिति राक्षस्या यो वधकरणावसरः तत्र व्यतिघ्नन्
व्यतिघ्नन्तीं तस्यैनां हनिष्यामीति यो वधकरणावसरः तत्र घ्नन्तीं तदेवमितरे-
तरक्रियाकरणेन व्यतिघ्नन्तीं राक्षसीम् । न गतीत्यादिना हिंसाधत्वादात्मनेपदप्र-
तिषेधः । तां पवनात्मजो हनूमान् जघान । कथं, वदनमाविश्य उदरं भित्त्वा
द्रुतं निर्यात् निर्गच्छन् । यातेः शतरि रूपम् ॥

५४८—अन्योन्यं स्म व्यतियुतः

शब्दान् शब्दैस् तु भीषणान् ॥

उदन्वांश् चानिलोद्धूतो

त्रियमाणा च राक्षसी. ॥ ६ ॥

अन्योन्यमित्यादि—अन्योन्यमित्यन्योन्यस्येत्यर्थः । 'कर्मव्यतिहारे सर्व-
नाशो द्वे भवतः स्त्रीनपुंसकयोगामभाव इति वक्तव्यम्' । अन्योन्यस्य संब-
न्धिभिः शब्दैः उदन्वद्राक्षसौ शब्दान् भीषणानात्मीयान् व्यतियुतः स्म मिश्रि-
तवन्तौ । '११०६। यु मिश्रणे' इत्यस्मात् '२७७८ । लट् स्त्रे । ३।२।११८।' इति
भूते लट् । '२६८२। इतरेतर—। १।३।१६।' इत्यादिना कर्मव्यतिहार आत्मनेपद-
प्रतिषेधः । तत्रोदन्वतः शब्दकरणाद्यो भीषणशब्दमिश्रणावसरो भावी तत्र
राक्षसी त्रियमाणा शब्दान् भीषणानुदन्वच्छब्दैर्युयाव । राक्षस्याः शब्दकरणाद्यो
भीषणशब्दमिश्रणावसरो भावी तत्रोदन्वानलिलोद्धूतः शब्दान् भीषणान् राक्ष-
सीशब्दैर्युयाव ॥

५४९—न्यविक्षत महाग्राह-संकुलं मकराऽऽलयम् ॥

सैका बहूनां कुर्वाणा नक्राणां स्वाऽऽशितम्भवम् ॥ ७ ॥

न्यविक्षतेत्यादि—महन्निग्रहैः संकुलं मकरालयं समुद्रं न्यविक्षतं प्रवि-
ष्टवती । '२६८३ । नेर्विशः । १।३।१७।' इत्यात्मनेपदम् '२३३६। शल इगुपधा-
दितिः कसः । ३।१।४५।' बहूनां नक्राणामेकापि सती स्वाशितम्भवं सुष्टु तृप्तिं
कुर्वाणा । '२८६२। आशिते भुवः—। ३।२।४५।' इति भावे खच् ॥

१ '२७५ । ग्राहोऽजहारो, नक्रस्य तु कुम्भीरः ।' इति ना० अ० ।

५५०—कृतेनोपकृतं वायोः परिक्रीणानमुत्थितम् ॥

पित्रा संरक्षितं शक्रात् स मैनाकाऽद्रिमैक्षत. ॥ ८ ॥

कृतेनेत्यादि—स हनूमान् समुद्रादुत्थितं मैनाकाद्रिमैक्षत । वायोरुपकृत-
मुपकारं कृतेन प्रत्युपकारेण परिक्रीणानं परिक्रयं विचिन्वन्तम् । '२६८४। परि-
व्यवेभ्यः क्रियः । १।३।१८।' इत्यर्कत्रयमिष्टायविषयमात्मनेपदम् । पित्रा वायुना
रक्षितं शक्रात् । तेन हि पक्षच्छेदकाले महता वेगेन समुद्रं नीत्वा रक्षित इति
श्रूयते ॥

५५१—खं पराजयमानोऽसावुन्नत्या पवनाऽत्मजम् ॥

जगादाऽद्रिर् 'विजेषीष्ठा मयि विश्रम्य वैरिणम्. ॥९॥

खमित्यादि—असावद्रिः उन्नत्या उन्नततया खं पराजयमानोऽभिभवन् पव-
नात्मजं जगाद । मयि विश्रम्य स्थित्वा वैरिणं शत्रुं विजेषीष्ठाः त्वमभिभूयाः ।
आशिषि लिङ् । उभयत्रापि '२६८५। वि-पराभ्यां जेः । १।३।१९।' इति तङ् ।

५५२—फलान्यादत्स्व चित्राणि, परिक्रीडस्व सानुषु, ॥

साध्वनुक्रीडमानानि पश्य वृन्दानि पक्षिणाम्. ॥१०॥

फलानीत्यादि—चित्राणि नानाविधानि फलानि आदत्स्व गृहाण । '२६८६।
आडोडोऽनास्यविहणे । १।३।२०।' इत्यात्मनेपदम् । सानुषु ममैकदेशेषु परिक्रीड-
स्व विहर । पक्षिणां च वृन्दानि साधु शोभनं अनुक्रीडमानानि विहरन्ति सन्ति
पश्य । उभयत्र '२६८७। क्रीडोऽनु-सं-परिभ्यश्च । १।३।२१।' इति तङ् ।

५५३—क्षणं भद्राऽवतिष्ठस्व, ततः प्रस्थास्यसे पुनः ॥

न तत् संस्थास्यते कार्यं दक्षेणोरीकृतं त्वया. ॥ ११ ॥

क्षणमित्यादि—हे भद्र कल्याण ! क्षणमवतिष्ठस्व । ततः पश्चात्प्रस्थास्यसे
यास्यसि । यच्च कार्यं करणीयं दक्षेणानलसेन त्वया ऊरीकृतमङ्गीकृतं न च
संस्थास्यते अपि तु निष्पत्स्यत एवेत्यर्थः । सर्वत्र '२६८९। समव-प्र-विभ्यः स्थः
१।३।२२।' इति तङ् ।

५५४—त्वयि नस् तिष्ठते प्रीतिस् तुभ्यं तिष्ठामहे वयम्, ॥

उत्तिष्ठमानं मित्राऽर्थे कस् त्वां न बहु मन्यते. ॥१२॥

त्वयीत्यादि—त्वयि विषये अस्माकं प्रीतिरस्ति । तेन संशये अस्माभिरन्यो
निर्णेता नान्वेषणीयः । किन्तु नोऽस्माकं प्रीतिरेव निर्णयं पश्यन्ती त्वयि तिष्ठ-
ते । '२६९०। प्रकाशन-स्थेयाख्ययोश्च । १।३।२३।' इत्यात्मनेपदम् । विवादपद-
निर्णेता स्थेय उच्यते तुभ्यं तिष्ठामहे वयमिति त्वयि विषये अस्माकं चेतो

१९६ भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

वर्तत इति स्वाभिप्रायम् । तुभ्यं तिष्ठामहे स्वाभिप्रायं निवेदयाम इत्यर्थः । अत्र प्रकाशनं च स्वाभिप्रायकथनम् । '५७२। श्लाघ-हुङ्-स्था-शपां शीप्यमानः । ११३४' इति सम्प्रदानसंज्ञायां चतुर्थी । कस्मादेवं मां श्लाघस इति चेदाह । मित्रार्थे उत्तिष्ठमानं यतमानम् । '२६९१। उदोऽनूर्ध्वकर्मणि । ११३। २४।' इत्यात्म-नेपदम् । कस्त्वां न बहु मन्यते न श्लाघते ॥

५५५—ये सूर्यमुपतिष्ठन्ते मन्त्रैः संध्या-त्रयं द्विजाः, ॥

रक्षोभिस् तापितास् तेऽपि सिद्धिं ध्यायन्ति तेऽधुना.

य इत्यादि—ये द्विजा मन्त्रैः करणभूतैः सूर्यमुपतिष्ठन्ते प्रत्युपासते । २६-९२। उपान्मन्त्रकरणे । ११३। २५।' इत्यात्मनेपदम् । संध्यात्रयं त्रिसन्ध्यम् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । तेऽपि रक्षोभिस्तापिता उपद्रुताः अधुना ते सिद्धिं ध्यायन्ति । किं पुनरहं यत्ते पितुः सुहृत् ॥

तदेव दर्शयन्नाह—

५५६—अ-व्यग्रमुपतिष्ठस्व वीर ! वायोरहं सुहृत्. ॥

रविर् वितपतेऽत्यर्थमाश्वस्य मयि गम्यताम्. ॥ १४ ॥

अव्यग्रमित्यादि—हे वीर ! अव्यग्रमनाकुलं मय्युपतिष्ठस्व सन्निहितो भव । '२६९३ । अकर्मकाच्च । ११३। २६।' इत्यात्मनेपदम् । यतो वायोऽसौ पितुरहं सुहृत् । रविरत्यर्थं वितपते दीप्यते । '२६९४। उद्-विभ्याम्-। ११३। २७।' इत्यात्मनेपदम् । तत्राकर्मकादिति वर्तते । तस्मादाश्वस्य मयि विश्रम्य गम्यताम् ॥

५५७—तीव्रमुत्तपमानो ऽयम-शक्यः सोढुमातर्पः, ॥

आग्नान इव संदीप्तैरलातैः सर्वतो मुहुः. ॥ १५ ॥

तीव्रमित्यादि—तीव्रं सुष्ठु उत्तपमानो दीप्यमान आतपः सोढुमशक्यः । पूर्ववदात्मनेपदम् । अलातैः उल्मुकैः संदीप्तैः सर्वत्र आग्नान इव ताडयन्निव । '२६९५। आडो यमहनः । ११३। २८।' इत्यविवक्षितकर्मकत्वादात्मनेपदम् '२३६३ गम-हन-। ६। ४। ९८' इत्युपधालोपः '३५४। हो हन्ते-। ७। ३। ५४।' इति कृत्वम् ॥

५५८—संशृणुष्व कपे ! मत्कैः संगच्छस्व वनैः शुभैः, ॥

समारन्त ममा ऽभीष्टाः संकल्पास् त्वय्युपागते. १६

संशृणुष्वेत्यादि—हे कपे ! संशृणुष्व आकर्णय । '२६९९। समो गम्य-च्छि-। ११३। २९।' इत्यादिविवक्षितकर्मकत्वादात्मनेपदम् । शुभैः शोभमानैः । इत्युपधलक्षणः कः । वनैर्मत्कैः मत्स्वामिकैः । अहं स्वामी येषामिति '१८७७ ।

१—'१२० । रोन्निः शोचिर्हमे डीवे, प्रकाशो द्योत आतपः ।' २—'९१५। अथ स्त्री स्वादिङ्गारोऽल्लतमुल्लुकम् ।' ३—'१५५। धीर् धारणावती मेधा, संकल्पः कर्म मान-सम् ।' इति सर्वत्र ना० अ० ।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'ऽशोक-वनिका-भङ्गो' नामाष्टमः सर्गः— १९७

स एषां ग्रामणीः । ५।२।७८। इति कः । '१३७३। प्रत्ययोत्तरपदयोश्च । ७।२।९८।' इति मदादेशः । संगच्छस्व संगतो भव । पूर्ववदात्मनेपदम् । समारन्त ममा-भीष्टा इति ममाभिप्रेता ये संकल्पा अभिप्रायाः 'कदा नु मे सुहृत्तया वा कश्चि-देष्यति यस्याहमुपयोगी स्याम्' इति ते समारन्त आगताः त्वय्युपागते सति । अतैल्लुङि पूर्ववदात्मनेपदम् । '२३८२। सर्ति-शास्यतिभ्यश्च । ३।१।५६। इत्यङि '२४०६। ऋ-दशोऽङि गुणः । ७।४।१६।' । '२२५४। आडजादीनाम् । ६।४।७२।' भाषाविषयस्य प्रयोगः ॥

न चैवं मिथ्या वायुर्मे सुहृदित्याह—

५५९—के न संविद्रते, वायोर् मैनाकाऽद्रिर् यथा सखा, ॥

यत्नादुपाह्वये प्रीतः, संह्वयस्व विवक्षितम् ॥ १७ ॥'

क इत्यादि—वायोर्मैनाकाद्रियथा सखेति के न संविद्रते न जानन्ति । वेत्तेः पूर्ववदात्मनेपदम् । '२७०१। वेत्तेर्विभाषा । ७।१।७।' इति रुद्र । तस्मात् । प्रीतः सन् अहं यत्नादुपाह्वये भवन्तमाह्वयामि । ततः संह्वयस्व कथय विवक्षितमभि-प्रेतम् । '२७०३। नि-समुपविभ्यो ह्रः । १।३।३०।' इत्यकर्त्रभिप्राये लट् लोटोरा-त्मनेपदम् । ततोऽकर्मकादिति निवृत्तम् । सामान्येन विधानम् ॥

५६०—द्यामिवावयमानं तमवोचद् भूधरं कपिः ॥

उपकुर्वन्तमत्यर्थं प्रकुर्वाणोऽनुजीवि-वत् ॥ १८ ॥

द्यामित्यादि—द्यामिवाकाशमिवाह्वयमानं महत्तया स्पर्धमानम् । २७०४ । स्पर्धायामाडः । १।३।१।' इत्यात्मनेपदम् । अत्यर्थमुपकुर्वन्त आतिथ्येन तमीदृशं भूधरमवोचत् । कपिः प्रकुर्वाणः सेवमानो ऽनुजीविवत् भृत्यवत् । '२७०५। गन्धन-१।३।३२।' इत्यादिना सेवने तद् ॥

५६१—'कुल-भार्या प्रकुर्वाणमहं द्रष्टुं दशाननम् ॥

यामि त्वरा-वान् शैलेन्द्र !, मा कस्यचिदुपस्कृथाः १९

कुलभार्यामित्यादि—अहं दशाननं द्रष्टुं यामि कुलभार्या प्रकुर्वाणं कुल-नारीमभिगच्छन्तम् । तस्यां सहसा प्रवर्तमानमित्यर्थः । साहसिक्ये तद् । त्व-रावान् त्वरायुक्तः । अतः हे शैलेन्द्र ! मा कस्यचिदशानपानादिकस्य उपस्कृथाः अतिशयवन्तं मा कार्षीरित्यर्थः । माङि लुङ् । प्रतियत्ने तद् । '२५४७। तनादि-भ्यस्त-थासोः । २।४।७९।' इति सिचो लुक् । '२५५२। उपात्प्रतियत्न-१६।१।-१३९।' इति सुट् । कस्यचिदिति '७१४ । कृजः प्रतियत्ने । २।३।५३।' इति कर्मणि षष्ठी ॥

१ '७७७ । वयस्यः स्निग्धः सवया, अथ मित्रं सखा सुहृत् ।' । २—'८० । द्यो-दिवौ द्वे स्त्रियामग्रं व्योम पुष्करमम्बरम् । नभोऽन्तरिक्षं गगनमनन्तं सुरवर्त्म खम् । वियद् विष्णुपदं वा तु पुंस्याकाश-विहायसी ॥' ३—'७७४। षण्डो वर्ष-वरस् तुल्यौ' सेवकार्यनुजीविनः ।' इति सर्वत्र ना० अ० ॥

१९८ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

५६२—योऽपचक्रे वनात् सीतामंधिचक्रे न यं हरिः, ॥

विकुर्वाणः स्वरानद्य बलं तस्य निहन्म्यहम्. ॥२०॥

य इत्यादि—यः सीतामपचक्रे अभिबभूव । अवक्षेपणे तद् । वनादिति वनमुपगम्य । ह्यबलोपे कर्मणि पञ्चमी । हरिरिन्द्रो नाधिचक्रे न प्रसेहे । '२७०६। अघेः प्रसहने । ११३।३३।' इति तद् । तस्य बलं दशाननस्य सामर्थ्यं कीदृशम् । स्वरान् विकुर्वाणं विविधान् स्वरान् कुर्वाणम् । '२७०७। वेः शब्द-कर्मणः । ११२।३४।' इति तद् । तस्य दशाननस्य बलं निहन्मि ॥

५६३—विकुर्वे नगरे तस्य पापस्या ऽद्य रघु-द्विषः ॥

विनेष्ये वा प्रियान् प्राणानुदानेष्येऽथवा यशः. २१

विकुर्वे इत्यादि—तस्य रघुद्विषो रामशत्रोः पापस्य नगरे पुर्यां अहमद्य विकुर्वे विविधं चेष्टे । '२७१८। अकर्मकाच्च । ११३।४५।' इति तद् । तत्र विकुर्वाणो यदि वा प्रियानपि प्राणान् स्वाभ्यर्थे विनेष्ये अपनेष्यामि । '२७०९। संमानन-११३।३६।' इत्यादिना व्यये तद् । यतो धर्मादिषु विनियोगो व्ययः । यशो वा उदानेष्ये ऊर्ध्वं नेष्यामि तस्यापकारकरणात् । अत्रोत्सज्जने तद् । उत्सज्जन-मुत्क्षेपणम् ॥

५६४—विनेष्ये क्रोधमथवा क्रममाणोऽरि-संसदि ॥

इत्युक्त्वा खे पराक्रंस्त तूर्णं सूनुर नभस्वतः. ॥२२॥

विनेष्य इत्यादि—यदि वा क्रोधमात्मनो विनेष्ये अपनेष्यामि । '२७२०। कर्तृस्थे च-११३।३७।' इति तद् । कर्तृस्थस्य क्रोधकर्मणोऽशरीरत्वान् अत्र व्यथो न संभवतीति । अरिसंसदि शत्रुसभायां क्रममाणः । अप्रतिबन्धेन प्रवर्तमानः । '२७११। वृत्ति-सर्ग-११३।३८।' इत्यादिना वृत्तौ तद् । वृत्तिप्रतिबन्धः । इत्येवमुक्त्वा नभस्वतः सूनुर्यांस्तनयः खे तूर्णं पराक्रंस्त शीघ्रमुत्सेहे । '२७१२। उप-पराभ्याम् । ११३।३९।' इत्यनेन सर्गे तद् । सर्ग उत्साहः ॥

५६५—परीक्षितुमुपाक्रंस्त राक्षसी तस्य विक्रमम् ॥

दिवमाक्रममाणेव केतु-तारा भय-प्रदा. ॥ २३ ॥

परीत्यादि—तस्य हनूमतो विक्रमं शौर्यं परीक्षितुं राक्षसी उपाक्रंस्त उत्सेहे पूर्ववत्तद् । दिवमाक्रममाणेव । यथा केतुः स्वर्भानुः तारा नभस्युद्गच्छति भयंकरा । '२७१३। आह उद्गमने । ११३।४०।' इति तद् । तत्र हि ज्योतिरुद्गमन इत्युक्तम् । केतुतारायाश्च ज्योतिःस्वभावात् ॥

१—(५४५) श्लोकस्य टिप्पणमालोचनीयम् । २—'७२० । समज्वा परिषद् गोष्ठी समासमिति संसद् । १ । ३—(५३९) श्लोकस्य टीकनं मिलेक्यताम् । ४—' १२६७ । ग्रह-मेदे स्वजे केतुः; पार्थिवे तनये सुतः ।' इति सर्वत्र ना० अ० ।

५६६—जले विक्रममाणाया हनूमान् शत-योजनम् ॥

आस्यं प्रविश्य निरयादणूभूया ऽप्रचेतितः. ॥ २४ ॥

जल इत्यादि—विक्रममाणायाः पद्भ्यां विचरन्त्याः । '२७१४' वेः पादवि-
हरणे । १।३।४१।' इति तङ् । जलग्रहणात् गतिविशेषं दर्शयति । आस्यं शतयोजनं
शतं योजनानि यस्य प्रमाणतः । तदणूभूय सूक्ष्मीभूय प्रविश्य निरगात् निर्गतः ।
उदरं विदार्येत्यात् । अप्रचेतितः अविज्ञातः ॥

५६७—द्रष्टुं प्रक्रममाणो ऽसौ सीतामम्भोनिधेस् तटम्, ॥

उपाक्रंस्ता ऽऽकुलं घोरैः क्रममाणैर् निशाचरैः ॥२५॥

द्रष्टुमित्यादि—असौ हनूमान् सीतां द्रष्टुं प्रक्रममाणः आरभमाणः आदिक-
र्मणि यथा भोक्तुं प्रक्रमते इति । उदधेस्तटमुपाक्रंस्त गन्तुं प्रारब्धवानित्यर्थः ।
ततश्च प्रोपयोरादिकर्मणि समानार्थत्वात् '२७१५' प्रोपाभ्यां समर्थभ्याम् । १।३।-
४२।' इति तङ् । घोरैः रौद्रैः निशाचरैराकुलं व्याप्तम् । तटं क्रममाणैः इतस्ततो
गच्छद्भिः । '२७१६' अनुपसर्गाद्वा । १।३।४३।' इति तङ् ॥

५६८—आत्मानमपजानानः शश-मात्रो ऽनयद् दिनम्, ॥

ज्ञास्ये रात्राविति प्राज्ञः प्रत्यज्ञास्त क्रिया-पटुः. ॥२६॥

आत्मानमित्यादि—मा कश्चिद्द्राक्षीदिति तथाविधमात्मानं शरीरमव-
जानान अपह्वानः । '२७१७' अपह्ववे ज्ञः । १।२।४३।' इति तङ् । यो हि शश-
मात्रो भूत्वा स्थितः तेन कथमात्मा लोके नापलपितः स्यात् । अनयद्दिनं अगम-
यद्विसम् । ज्ञास्ये रात्राविति प्रत्यज्ञास्त प्रतिज्ञातवानित्यर्थः । '२७१९' सं-प्रति-
भ्यामनाध्याने । १।३।४६।' इत्यात्मनेपदं लुङ्गे भवति । आध्यानं चोत्कण्ठनम् ।
ज्ञास्ये इत्यकर्मकाच्चेत्यकर्मकक्रियावचनत्वादात्मनेपदम् । प्राज्ञः क्रियापटुरिति
बुद्धिकौशलं कर्मकौशलं च दर्शयति ॥

५६९—संजानानान् परिहरन् रावणाऽनुचरान् बहून् ॥

लङ्कां समाविशद् रात्रौ वदमानोऽरि-दुर्गमाम्. ॥२७॥

संजानानानित्यादि—रावणस्यार्थेषु कार्येषु ये चरन्तीति '२९३०' चरेष्टः
। १।२।१६।' तान् बहून् संजानानान् चेतयतः परिहरन् । अनाध्याने तङ् । रात्रौ
लङ्कां समाविशत् प्रविष्टवान् । अरिदुर्गमां राक्षसदुर्गमाम् । वदमानो भासमा-
नः । '२७२०' भासनोपसंभाषा-। १।३।४७।' इत्यादिना आत्मनेपदम् ॥

५७०—कंचिन् नोपावदिष्टा ऽसौ, केनचिद् व्यवदिष्ट न, ॥

शृण्वन् संप्रवदमानाद् रावणस्य गुणान् जनात्. २८

२०० भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

कंचिदित्यादि—असौ प्रविष्टः सन् न कंचिदुपावदिष्ट उपसान्वितवान्
उपसम्भाषायां तद् । केनचिद्वचदिष्ट न, न भाषितवान् । विमतौ तद् । विम
तिर्नानामतिः शृण्वन् आकर्णयन् । जनात् संप्रवदमानात् संभूय भाषमाणात्
रावणस्य संबन्धिनो गुणान् । ‘२७२१। व्यक्तवाचाम्-११३।४८।’ इत्यात्मनेपद
म् । जनानां व्यक्तवाक्त्वात् ॥

५७१—जल्पितोत्कुष्ट-संगीत-प्रनृत्त-स्मित-वैलिंगितैः ॥

घोषस्यान्ववदिष्टेव लङ्का पूत-क्रतोः पुरः. ॥ २९ ॥

जल्पितेत्यादि—पूतक्रतोरिन्द्रस्य या पूः तस्या अमरावत्याः संबन्धिनो
घोषस्यान्ववदिष्टेव लङ्का । अनुशब्दः सादृश्ये । सदृशं वादं कृतवती । तैर्जल्पि-
तादिभिः । उभयत्रापि जल्पितादिघोषस्य तुल्यत्वात् । लङ्केति तस्थो जन उच्य-
ते । तेन व्यक्तवाग्विषयत्वात् ‘२७२२। अनोरकर्मकात्-११३।४९।’ इति तद् ।
तत्र व्यक्तवाचामित्यनुवर्तते न समुच्चारण इति ॥

५७२—ऐद् विप्रवदमानैस् तां संयुक्तां ब्रह्म-राक्षसैः ॥

तथाऽवगिरमाणैश् च पिशाचैर् मांस-शोणितम्. ३०

ऐदित्यादि—तां ब्रह्मराक्षसैः संयुक्तां हनूमानैव जगाम । इणो लङि रूप-
म् । विप्रवदमानैः परस्परविरुद्धार्थाभिधायिभिः । विप्रलापात्मके व्यक्तवाचां
समुच्चारणे ‘२७२३। विभाषा विप्रलापे ११३।५०।’ इति तद् । तथा पिशाचै-
र्मांसशोणितमवगिरमाणैः भक्षयद्भिः संयुक्ताम् । गिरतेरभ्यवहारार्थत्वात् ‘२७२४।
अवाद् ग्रः ११३।५१।’ इति तद् । मांसशोणितमिति ‘९१०। जातिरप्राणिनाम्
१२।४।६।’ इत्येकवद्भावः ॥

५७३—यथा-स्वं संगिरन्ते स्म गोष्ठीषु स्वामिनो गुणान्, ॥

पान-शौण्डोः पथः क्षीबा वृन्दैर्दचरन्त च. ॥३१॥

यथास्वमित्यादि—ब्रह्मराक्षसाः पिशाचाश्च यथास्वमात्मीयस्य स्वामिनो
गुणान् गोष्ठीषु गोष्ठीमध्ये संगिरन्ते स्म अभ्युपगतवन्तः । ‘२७२५। समः प्रति-
ज्ञाने ११३।५२।’ इति तद् । पानशौण्डाः पानसक्ताः क्षीबा मत्ताः सन्तः पथो
मार्गानुदचरन्त उल्लस्य गच्छन्ति स्म । ‘२७२६। उदश्चरः सकर्मकात् ११३।५३।’
इति तद् । वृन्दैरिति सम्भूयेत्यर्थः ॥

१—‘११५३ । उक्तं भाषितमुदितं जल्पितमाख्यातमभिहितं लपितम् ।’ २—‘२३५।
क्रन्दितं रुदितं कुण्डं, जृम्भस् तु त्रिषु जृम्भणम् ।’ ३—‘८१४ । आस्कन्दितं
घोरितकं रेचितं वलितं झुतम् ।’ ४—‘(५६४) श्लोकस्य टिप्पणं विलोक्यताम् ।
५—‘१०६८ । मत्ते शौण्डोत्क्षीबाः कामुके कम्पिताऽनुकः’ इति सर्वत्र
ना० अ० ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'ऽशोक-वनिका-भङ्गो' नामाष्टमः सर्गः—२०१

५७४—यानैः समचरन्ता ऽन्ये कुञ्जराऽश्व-रथाऽऽदिभिः, ॥

संप्रायच्छन्त बन्दीभिरन्ये पुष्प-फलं शुभम्. ॥ ३२ ॥

यानैरित्यादि—अन्ये यानैः कुञ्जरादिभिः समचरन्त संचरन्ते स्म । '२७-२७। समस्तृतीयायुक्तात् । १।३।५४।' इति तङ् । अन्ये बन्दीभिरानीताभिः । सम्प्रदाने तृतीया । अशिष्टव्यवहारे तृतीया चतुर्थ्यर्थे भवति इति वचनाद्वन्दी-भ्य इत्यर्थः । पुष्पफलं शोभनं संप्रायच्छन्त ददति स्म । '२७२६ । दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे । १।३।५५।' इति तङ् । पुष्पफलमिति जातेरेकवद्भावः ॥

५७५—कोपात् काश्चित् प्रियैः प्रत्तमुपायंसत नाऽऽसवम्. ॥

प्रेम जिज्ञासमानाभ्यस् ताभ्योऽऽशप्सत कामिनः ३३

कोपादित्यादि—काश्चित् स्त्रियः कोपात् अन्यस्त्रीगमनजनितात् । आसवं मद्यविशेषं नोपायंसत न स्वीकृतवत्यः । २७३०। विभाषोपयमने । १।२।१६।' इत्य-क्त्वपक्षे रूपम् । '२७२९। उपाद्यमः स्वरूपे । १।३।५६।' इति तङ् । पाणिग्रहण-पूर्वस्य स्वीकरणस्य तत्र स्थितत्वादौपचारिकमत्र स्वीकरणं द्रष्टव्यम् । '२७४२ । समुदाङ्भ्यो यमो ग्रन्थे । १।३।७५।' इति वा तङ् । उदाङ्पूर्वस्य यम आदाना-र्थत्वात् । अवसरप्राप्तं सूत्रद्वयमुपाहतं स्यात् । प्रियैः प्रत्तं दत्तम् । '३०७८। अच उपसर्गात्तः । ७।४।४७।' प्रेम जिज्ञासमानाभ्यः किमस्मासु प्रेमास्ति वा न वेति कृतकोपप्रकाशेन ज्ञातुमिच्छन्तीभ्यः । '२७३१। ज्ञा-श्रु-स्मृ-दशां सनः । १।३।५७।' इति तङ् । ताभ्यो योषिभ्यः । कामिनः अशप्सत न मे त्वदन्या प्रियास्तीति तदीयशरीरस्पर्शनेन शपथं चक्रुः । शप उपालम्भने इत्यात्मनेपदम् । वाचा उपा-लम्भनं शरीरस्पर्शनम् । '५७२। श्लाघ-हुङ्- । १।४।३४।' इत्यादिना सम्प्रदानसंज्ञया चतुर्थी । तासां ज्ञापयितुमिष्यमाणत्वात् ॥

५७६—प्रादिदक्षत नो नृत्यं, ना ऽशुश्रूषत गायनान् ॥

रामं सुस्मूर्षमाणोऽसौ कपिर् विरह-दुःखितम्. ॥ ३४ ॥

प्रादिदक्षतेत्यादि—असौ कपिलङ्कायां नो नृत्यं प्रादिदक्षत । गायनान् गायकान् । '२९०८। गत्यकन् । ३।१।१४६।' ण्युद् च । नाशुश्रूषत न श्रोतुमिष्ट-वान् किमिति रामं विरहदुःखितं सुस्मूर्षमाणः स्मर्तुमिच्छन् । सन्नन्तेभ्यः पूर्व-वदात्मनेपदम् । '२६१५। अज्जनगमां सनि । ६।४।१६।' इति दीर्घत्वम् । '२४९४। उदोद्यपूर्वस्य । ७।१।१०२।' इत्युत्त्वम् ॥

१—'८२३। सर्वं स्याद् वाहनं यानं युगं यत्र च धोरणम् ।' २—'८६३। स्युर मागधाच्च तु मगधा बन्दिनस्य स्तुतिपाठकाः ।' ३—'१०३९। मैरेयमासवः सीधुर मेदको जगलः समो ।' इति सर्वत्र ना० अ० ॥

२०२ भट्टि-कान्वे—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

५७७—अनुजिज्ञासतेवाऽथ लङ्का-दर्शनमिन्दुना ॥

तमोऽपहविमुक्तांऽशु पूर्वस्यां दिश्युदैयत. ॥ ३५ ॥

अन्वित्यादि—अथैतस्मिन् प्रस्तावे इन्दुना चन्द्रेण उदैयत उदितम् । इणो भावे लङि रूपम् । पूर्वस्यां दिशीति पूर्णेनेति दर्शयति । इश्यते तत् दर्शनं रूपम् । लङ्काया रूपमनुजिज्ञासतेव । पूर्वेण प्राप्तस्यात्मनेपदस्य '२७३२ । नानोर्ज्ञः ११३१५८' इति प्रतिषेधः । तमोपहास्तमो ध्वंसमानाः विमुक्ताः प्रेरिता अंशवो यस्मिन् उदय इति ॥

५७८—आशुश्रूषन् स मैथिल्या वार्ता हर्म्येषु रक्षसाम् ॥

शीयमानाऽन्धकारेषु समचारीद-शङ्कितः. ॥ ३६ ॥

आशुश्रूषन्नित्यादि—स कपिमैथिल्याः सीताया वार्तामाशुश्रूषन् श्रोतुमिच्छन् । '२७३३ । प्रत्याङ्म्यां श्रुवः ११३१५९' इत्यात्मनेपदप्रतिषेधः । रक्षसां हर्म्येषु गृहेषु । समचारीत् संक्रान्तवान् । '२३३० । अतो ह्रान्तस्य १७१२२' इति वृद्धिः । शीयमानान्धकारेषु अपगच्छतमः सु । '९१२ । शट्टु शातने' । '२३६२ । शदेः शितः ११३१६०' इति तङ् । '२३६० । पा-आ-१७१३७८' इति शीयादेशः । अशङ्कितः शङ्कारहितः ॥

५७९—शत-साहस्रमारक्षं मध्यगं रक्षसां कपिः ॥

ददर्श, यं कृतान्तोऽपि त्रियेताऽऽसाद्य भीषणम्, ३७

शतेत्यादि—मध्यगं मध्यप्रकोष्ठगतं आरक्षं गोपकं शतसाहस्रं रक्षसां लक्ष-मात्रं ददर्श विलोकितवान् । शतसहस्रं परिमाणमस्येति प्राग्वतेः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमल्लुकीति वचनात् । '१६९२ । शतमानविंशतिक-१५११२७' इत्यादिना अपि । '१७५२ । संख्यायाः संवत्सर-१७१३१५' इत्युत्तरपदवृद्धिः । भीषणं भयानकं आसाद्य प्राप्य । कृतान्तोऽपि यमोऽपि त्रियेत प्राणान् संत्यजेत् । '२५३८ । त्रियतेर्लुङ्लिङोश्च ११३१६१' इति तङ् । तत्र हि शित इत्यनुवर्तते ॥

५८०—अध्यासिसिषमाणे ऽथ वियन्-मध्यं निशा-करे ॥

कासांचक्रे पुरी सौधैरतीवोद्भासिभिः सितैः ॥ ३८ ॥

अधीत्यादि—अथ निशाकरे चन्द्रमसि वियन्मध्यं अध्यासितुमारोढुमिच्छति सति । '२७३४ । पूर्ववत्सनः ११३१६२' इत्यात्मनेपदम् । अस्तेरनुदात्तेरवमात्मनेपदनिमित्तम् । तेनैव सन्नन्तादपि भवति । अत्र सनि इटि कृते अजादेर्द्वितीय-

१—'१४४७ । व्यूहो वृन्देऽप्यहिर वृन्देऽप्यग्नीन्द्रकांस तमोपहाः ।' २—'३२९१ । हर्म्याऽदि धनिनां वासः, प्रासादो देवभूयुजाम् ।' ३—'६६ । कृतान्तो-यमुना-भ्राता शमनो यमराज यमः ।' ४—'३२९१ । सौधोऽखी राजसदनमुपकार्योप-कारिका ।' इति सर्वत्र ना० अ० ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'ऽशोक-चनिका-भङ्गो' नामाष्टमः सर्गः— २०३

स्येति द्विर्वचनम् । पुरी लङ्का कासांचके शोभते स्म । सौधैः सौधानां ज्योत्स्नया चोद्भास्यमानत्वात् । '२२४०। आम्प्रत्ययवत्-।१।३।६३।' इति तद् ॥

५८१—इन्दुं चषक-संक्रान्तमुपायुङ्क्त यथाऽमृतम् ॥

प्रयुञ्जानः प्रिया वाचः समाजाऽनुरतो जनः ॥३९॥

इन्दुमित्यादि—एवं शोभितायां लङ्कायां समाजानुरतः पानगोष्ठीरतो जनः चषकसंक्रान्तं मद्यभाजने प्रतिविम्बेन संक्रान्तमिन्दुमुपायुङ्क्त उपभुक्तवान् । प्रतिविम्बावच्छिन्नस्य मद्यस्योपलक्ष्यमाणत्वादेवमुक्तम् । यथाऽमृतं अमृतमिव । प्रिया अनुकूला वाचः प्रयुञ्जानः अभिदधानः । २७३५। प्रोपाभ्याम्-।१।३।६४।' इति तद् ॥

५८२—संक्षुवान इवोत्कण्ठामुपाभुङ्क्त सुरामलम् ॥

ज्योत्स्नायां विगलन्-मानस् तरुणो रक्षसां गणः ४०

संक्षुवान इत्यादि—रक्षसां तरुणो गणः उत्कण्ठां प्रियासु संस्मरणं संक्षुवान इव समुत्तेजयन्निव । '२७३६। समः क्षुण्वः ।१।३।६५।' इति तद् । ज्योत्स्नायां सुरां अलं पर्यासमुपाभुङ्क्त अभ्याहतवान् । '२७३७। भुजोऽनवने ।१।३।६६।' इति तद् । विगलन्मानः ॥

५८३—मध्वपाययत स्वच्छं सोत्पलं दयिताऽन्तिके ॥

आत्मानं सुरताऽऽभोग-विश्रम्भोत्पादनं मुहुः ॥४१॥

मध्वित्यादि—कीदृशम् । मधु स्वच्छत्वात् सोत्पलतया सुरभित्वात् शोभनं जातं यतः स्वयमात्मानं सुदुरपाययत पायितवत् । '२७३८। णेरणौ—।१।३।६७।' इति तद् । दयितान्तिके दयितस्य समीपे । सुरताभोगः सुरतविमर्दः तत्र विश्रम्भः तस्योत्पादनं जनकम् । उत्पादयतीति '२८४१। कृत्स्नयुतो बहुलम् ।१।३।११३।' इति कर्तरि ल्युट् ॥

५८४—अभीषयन्त ये शक्रं राक्षसा रण-पण्डिताः ॥

अविस्मापयमानस् तान् कपिरादीद् गृहाद् गृहम्, ४२

अभीषयन्तेत्यादि—एवं रक्षःसु यथायथं चेष्टमानेषु ये राक्षसा रणपण्डिताः संग्रामविज्ञाः शक्रमभीषयन्त भीषितवन्तः । '२५८४। भी-स्योर्हेतुभये ।१।३।६८।' इति तद् । '२५९५। भियो हेतुभये षुक् ।७।३।४०।' भयग्रहणमुपलक्षणं तेन स्मयतेरपि भवति । तानसौ कपिरविस्मापयमानः विस्मयमकारयन् ।

१—'१०४० । चषकोऽस्त्री पानपात्रं सरकोऽप्यनुतर्पणम् ।' २—'१०० । चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना प्रसादस् तु प्रसन्नता ।' ३—'७८९। समौ विश्रम्भ-विश्वास्तौ श्रेषो अंशो यथोन्निता ।' ४—'४७। इन्द्रो मरुत्वान् मधवा विडौजाः पाकशासनः । वृद्धश्वाः शुनासीरः पुरुहूतः पुरन्दरः । जिष्णुर् लेखर्षभः शक्रः ।' इति सर्वत्र ना० अ० ॥

२०४ भट्टि-कान्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

‘२५९६। नित्यं स्मयतेः । ६।१।५७।’ इत्यात्वम् । गृहाद्गृहमाटीत् गतवान् । लुटि रूपम् ॥

५८५—सीतां दिदक्षुः प्रच्छन्नः सो ऽगर्धयत राक्षसान्, ॥

अवञ्चयत मायाश् च स्व-मायाभिर् नरद्विषाम्, ४३

सीतामित्यादि—स कपिः सीतां दिदक्षुः सीतां द्रष्टुमिच्छुः प्रच्छन्नः राक्षसानगर्धयत । व्यामोहयत् । स्वमायाभिश्च नरद्विषां मायाश्च अवञ्चयत अतिसंहितवान् । ‘२७३९। गृधि-वञ्चयोः प्रलम्बने । १।३।६९।’ इति तद् ॥

५८६—अपलापयमानस्य शत्रूंस् तस्याऽभवन् मतिः ॥

‘मिथ्या कारयते चारैर् घोषणां राक्षसाऽधिपः’ ॥४४॥

अपेत्यादि—तस्य कपेः शत्रून् राक्षसान् अपलापयमानस्य न्यकुर्वतः । ‘२५२९। विभाषा लीयतेः । ६।१।५।’ इत्यात्वे ‘२५९२। लिखः सम्मानन-। १।३।७०।’ इत्यादिना शालिनीकरणे न्यग्भावने आत्मनेपदम् । मतिरभवत् । कीदृशीत्याह—मिथ्याकारयत इति । अयं राक्षसाधिपतिश्चारैर्दण्डवाहकैः यां घोषणां पुनः पुनः कारयति जागृत जागृतेति तां मिथ्या कारयते येनाहमविज्ञात एव प्रविष्टः । ‘२७४०। मिथ्योपपदात् कृजोऽभ्यासे । १।३।७१।’ इति तद् । अभ्यासश्च पुनः पुनः करणम् ॥

कुलकम् ४५-४९—

५८७—गूहमानः स्व-माहात्म्यमटित्वा मन्त्रि-संसदः ॥

नृभ्यो ऽपवदमानस्य रावणस्य गृहं ययौ, ॥ ४५ ॥

गूहमान इत्यादि—स्वमाहात्म्यं स्वपराक्रमं गूहमानः आवृण्वन् । ‘२३५४। ऊदुपधाया गोहः । ६।१।८९।’ इत्युत्वम् । ‘२१५८। स्वरितजितः-। १।३।७२।’ इति तद् । अटित्वा मन्त्रिसंसदः शुकसारणादिगृहाणि गत्वा रावणस्य गृहं ययौ । कीदृशस्य । नृभ्यो ऽपवदमानस्य कुप्यतः असूयतो वा । ‘२७४१। अपा-द्वदः । २।३।७३।’ इति तद् । नृभ्य इति ‘५७५। कुघ-द्वह-। १।३।३७।’ इति सम्प्रदानसंज्ञायां चतुर्थी ॥

कीदृशं गृहमित्याह—

५८८—दिशो द्योतयमानाभिर् दिव्य-नारीभिराकुलम् ॥

श्रियमायच्छमानाभिरुत्तमाभिरनुत्तमाम् ॥ ४६ ॥

१—‘७७९। चारश् च गूढ-पुरुषश्, चाऽऽप्त-प्रत्ययितौ समौ ।’ २—‘१८३। आत्रेडितं द्विस्-त्रिस्तमुच्चैर् घुष्टं तु घोषणा ।’ ३—‘७७०। मन्त्री धीसन्निवोऽमालो, ऽन्ये कनीसन्निवास ततः ।’ इति सर्वत्र ना० अ० । ४—(५६४) श्लोकस्य दीकनमवलीकयन्तु । इति ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'ऽशोक-वनिका-भङ्गो' नामाष्टमः सर्गः—२०५

दिश इत्यादि—दिशः द्योतयमानाभिः भासयमानाभिः । '२५६४। णिचश्च ११३।७४।' इति तद् । दिव्यनारीभिः उत्तमाभिः प्रधाननायिकाभिराकुलं व्यासम् । श्रियमनुत्तमामतिशयवतीं आयच्छमानाभिः स्त्रीकुर्वाणाभिः । '२७४२। समुदाङ्म्यः—११३।७५।' इति तद् ॥

५८९—नित्यमुद्यच्छमानाभिः सरसंभोग-कर्मसु ॥

जानानाभिरलं लीला-किलकिंचित-विभ्रमान् ॥४७॥

नित्यमित्यादि—सरसंभोगकर्मसु कामोपभोगक्रियासु । नित्यमुद्यच्छमा-नाभिः उत्साहमानाभिः । लीलाः स्त्रीणां शृङ्गारचेष्टाविशेषाः । अलं जानानाभिः । '२७४३। अनुपसर्गाज्जः ११३।७६।' इति तद् । पूर्ववत्तद् । तथा चोक्तम्—'विलास-लीलाः किलकिंचितानि विव्वोक-मोहायित-विभ्रमाणि । विच्छित्त-माकुटिमितेश्चितानि योज्यानि तज्ज्ञैः सुकुमारनृत्ते' इति । लक्षणं चैषां नाट्यशास्त्रे ॥

५९०—स्वं कर्म कारयन्नास्ते निश्चिन्तो या झष-ध्वजः, ॥

स्वाऽर्थं कारयमाणाभिर् यूनो मद-विमोहितान् ॥४८॥

स्वमित्यादि—स्वमात्मीयं मोहनादिकर्म दिव्यनारीः कारयन् अनुष्टापयन् एष झषध्वजः कामदेवः निश्चिन्त आस्ते । तामिराकुलमिति योज्यम् । '५४१। ह-क्रोरन्यतरस्याम् ११३।५३।' इति द्विकर्मकता । यूनः स्वार्थं स्वप्रयोजनं मैथु-नाख्यं कारयमाणाभिः आकुलम् । ता हनूमानिति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । कीदृ-शान् । मदविमोहितान् मधुपानमदपरवशान् । ताभिः ॥

कीदृशीभिरित्याह—

५९१—कान्तिं स्वां वहमानाभिर्

यजन्तीभिः स्व-विग्रहान् ॥

नेत्रैरिव पिबन्तीभिः

पश्यतां चित्त-संहतीः ॥ ४९ ॥

कान्तिमित्यादि—स्वां कान्तिं शोभां वहमानाभिः । यजन्तीभिः स्वविग्र-हान् ददतीभिः कामिभ्यः । तत्र स्वं कर्मेति णिचश्चेत्यस्य विषयः । कान्तिं स्वां स्वविग्रहानिति स्वरितेत इत्यस्य विषयः । '२७४४। विभाषोपपदेन प्रतीयमाने ११३।७७।' इति विभाषा आत्मनेपदम् ॥ इत्यात्मनेपदाधिकारः ॥ शेष-भूतत्वात् परस्मैपदविधानमाह—नेत्रैरिति । पश्यतां चित्तसंहतीः । चित्तसंदोहान् पिबन्तीभिरिव गृह्णन्तीभिरिव । '२१५९। शेषात्कर्तरि परस्मैपदम् ११३।७८।' ॥

१—'६३४ । अथ कलेवरम् । गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्षं विग्रहः । कायो देहः ङीवपुंसोः, स्त्रियां मूर्तिस तनुस् तनूः ।' इति ना० अ० ॥

भ० का० १८

२०६ भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

५९२—ता हनूमान् पराकुर्वन्नगमत् पुष्पकं प्रति ॥

विमानं मन्दरस्याद्रिरनुकुर्वदिव श्रियम् ॥ ५० ॥

ता इत्यादि—ता दिव्यनारीः पराकुर्वन्नपक्षिपत् । अगमत् । पुष्पकं प्रति पुष्पकविमानं प्रति । येन पुष्पकविमानेन जगाम । कीदृशं । मन्दरस्याद्रेः श्रियम-नुकुर्वदिव । '२७४५। अनु-पराभ्यां कृजः । ११३। ७९।' कर्त्रभिप्राये चात्मनेपदस्य प्राप्तत्वात् ॥

युगम् ५१, ५२—

५९३—तस्मिन् कैलास-संकैशं शिरैः—शृङ्गं भज-द्रुमम् ॥

अभिक्षिपन्तमैक्षिष्ट रावणं पर्वत-श्रियम् ॥ ५१ ॥

तस्मिन्नित्यादि—तस्मिन् विमाने रावणमैक्षिष्ट । कैलाससंकैशं कैलासतु-ल्यम् । शिरैःशृङ्गं शिरांसि शृङ्गाणीव यस्य । भुजद्रुमं भुजा द्रुमा इव यस्य । तं पर्वतस्य श्रियमभिक्षिपन्तं अभिभवन्तम् । '२७४६। अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः । ११३। ८०।' इति परस्मैपदम् । तस्य स्वरितेत्त्वात् कर्त्रभिप्राये आत्मनेपदं प्राप्तम् ॥

५९४—प्रवहन्तं सद्दामोदं सुप्तं परिजनाऽन्वितम् ॥

मघोने परिमृष्यन्तमारभन्तं परं स्मरे ॥ ५२ ॥

प्रवहन्तमित्यादि—सद्दामोदं कस्तूरिकादिपरिमलं प्रवहन्तम् । '२७४७। प्राद्वहः । ११३। ८१।' इति परस्मैपदं स्वरितेत्त्वात् । सुप्तं शयने संविष्टम् । परिजनान्वितं पारिपार्श्विकाधिष्ठितम् । मघोने इन्द्राय परिमृष्यन्तं असूयन्तम् । '२७४८। परे-सृषः । ११३। ८२।' इति परस्मैपदं । मृषेः स्वरितेत्त्वात् । '५७५। कुध-द्रुह-। १। ३। ३७।' इति सम्प्रदानसंज्ञायां चतुर्थी । स्मरे कामे परमत्यर्थं आरभन्तं सक्तिं कुर्वा-णम् । '२७४९। व्याङ्परिभ्यो रमः । ११३। ८३।' इति परस्मैपदम् । स्मेरनुदात्तेत्त्वात् ।

५९५—व्यरमत् प्रधानाद् यस्मात् परित्रस्तः सहस्र-दृक्, ॥

क्षणं पर्यरमत् तस्य दर्शनान् मारुताऽऽत्मजः ॥ ५३ ॥

१—'७८। अस्यो(कुवेरस्य)धानं चैत्ररथं, पुत्रस्य तु नलकूबरः, । कैलासः स्थान-मलका पूरं, विमानं तु पुष्पकम् ।' इति ना० अ० । २—'श्रीर् वेपरचना शोभा भारती सरल-द्रुमे । लक्ष्म्यां त्रि-वर्ग-संपत्तौ वेपोपकरणे मत्तौ ।' इति विश्व-मेदिन्यौ । ३—'१०३५ । निभ-संकैश-नीकाश-प्रतीकाशोपमादयः ।' इति ना० अ० ॥ ४—अस्मिन् 'शिरैःशृङ्गं' पदे इवादेरुपमावाचकस्य साधारणधर्मस्य च लोपात् समासगो लुप्तो-पमा—'वादेर् लोपे समासे सा कर्माधार-व्ययि व्यङ्गि । कर्म-कर्त्राणामुल्लेखे तद् द्विलोपे किप-समासगो ॥' इति तल्लक्षणं काव्यप्रकाशे दशम उल्लासे दृश्यते । ५—'१६४। विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जन-मनोहरे । आमोदः सोऽतिनिहारी, वाच्य-लिङ्गत्वमा-गुणात् ।' ६—(५८८) श्लोकस्थं टिप्पणं पश्यन्तु । ७—'८६९। सुद्धमायोधनं जन्यं प्रधानं प्रविदारणम् ।' इति ना० अ० ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'ऽशोक-चनिका-भङ्गो' नामाष्टमः सर्गः— २०७

व्यरमदित्यादि—यस्माद्रावणात् सहस्रदृगिन्द्रः परित्रस्तः '५८८। मीत्रार्था-
नाम्-११४।२५।' इत्यपादाने पञ्चमी । प्रथनात् युद्धात् । व्यरमत् उपरतव्या-
पारोऽभूत् । '२७४९। व्याङ्-परिभ्यो रमः ११३।८३।' इति परस्मैपदम् । जुगुप्सा-
विराम-प्रमादार्थानामपादाने पञ्चमी । तस्य दर्शनान्मास्तात्मजः हनुमान् क्षणं
पर्यरमत् तुष्टिमानभवदित्यर्थः । 'साधु रावण' इति । पूर्ववल्लङ्घः परस्मैपदम् ॥

५९६—उपारंसीच्च च संपश्यन् वानरस् तं चिकीर्षितात् ॥

रम्यं मेरुमिवाऽऽधूत-काननं श्वसनोर्मिभिः ॥ ५४ ॥

उपेत्यादि—तं रावणं पश्यन् वानरः चिकीर्षितात्कर्तुमिष्टात् सीतान्वेषणा-
दुपारंसीत् निवृत्तः । उपाचैत्यधिकृत्य '२७५१। विभाषाऽकर्मकात् ११३।८५।' इति लुङ्घः परस्मैपदम् । तस्य मेरोरिव रम्यत्वात् तदाह मेरुमिव । श्वसनोर्मिभिः
वातसमूहैः । आधूतकाननं प्रचलितवनं मेरुम् । तथा श्वसनोर्मिभिः श्वसित-
कल्लोलैः आधूतानि शिरांस्थाननानि च यस्येति ॥

५९७—दृष्ट्वा दयितया साकं रहीभूतं दशाननम् ॥

ना ऽत्र सीतेत्युपारंस्त दुर्मना वायु-संभवः ॥ ५५ ॥

दृष्ट्वेत्यादि—रहीभूतं विजनस्थं दशाननम् । '२१२१। अरुमनश्चक्षुः-१५१४।-
५१।' इत्यादिना च्चौ सलोपः । दयितया साकं दृष्ट्वा नात्र सीतेति कृत्वा उपारंस्त
विमना निवर्तते स्म । '२७५१। विभाषाऽकर्मकात् ११३।८५।' इति तङ् ।
वायुसंभवो हनुमान् ॥

५९८—ततः प्राकारमारोहत् क्षपाटानविबोधयन्, ॥

नाऽयोधयत् समर्थोऽपि सीता-दर्शन-लालसः ॥ ५६ ॥

तत इत्यादि—तत उत्तरकालं प्राकारमारोहत् आरूढवान् । क्षपाटान् राक्ष-
सान् अविबोधयन् अचेतयन् । '२५६४। णिचश्च ११३।७४।' इत्यात्मनेपदे प्राप्ते
'२७५२। बुध-युध-११३।८६।' इत्यादिना वा लट्घः परस्मैपदम् । बुधेरणौ सकर्मकस्य
चित्तवत्कर्तृत्वात् हनूमतश्चित्तवत्त्वात् । तत्र ह्यकर्मका ये तेषामचित्तवत्कर्तृ-
कत्वाथमुपादानमित्युक्तम् । तान्नायोधयत् समर्थोऽपि न संग्रामितवान् । यतः
सीतादर्शनलालसः लम्पटः । '२७५४। अणावकर्मकात्-११३।८८।' इत्यनेन
उभयत्रापि लङ्घः परस्मैपदम् । युधैरेकस्याचित्तवत्कर्तृकत्वात् ॥

५९९—अध्यासीद्, 'राघवस्या ऽहं नाशयेयं कथं शुचम्, ॥

वैदेह्या जनयेयं वा कथमानन्दमुत्तमम् ॥ ५७ ॥

अध्यासीदित्यादि—राघवस्याहं कथं केन प्रकारेण शुचं शोकं नाशयेयम् ।
कथं वा वैदेह्याः सीताया आनन्दं जनयेयमिति हनुमान् अध्यासीत् चिन्तितवान् ।

१—'१२०५। कं क्षिरोन्वनोः १' २—'१०५३। दुर्मना विमना अन्तर्मेनाः स्यादुत्क
उन्मनाः १' ३—'३२२। प्राकारो वरणः सालः १' इति सर्वत्र ना० अ० ॥

२०८ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

‘२७४। ध्यै चिन्तायाम्’ इत्यस्य लुङि रूपम् । नशिजन्योरकर्मकत्वात् ‘३७५४। अणौ-।१।३।८८।’ इत्यनेन लिङः परस्मैपदम् । न बुधेत्यादिना जनीजृषित्यादिना । जनेर्मित्संज्ञायां ह्रस्वत्वम् ॥

६००—दृष्ट्वा राघव-कान्तां तां द्रावयिष्यामि राक्षसान्, ॥
तस्या हि दर्शनात् पूर्वं विक्रमः कार्य-नाश-कृत् ॥५८॥

दृष्ट्वेत्यादि—इयमसाविति राघवस्य कान्तां दृष्ट्वा द्रावयिष्यामि राक्षसान् पलाययिष्यामि । अत्र अणावित्यनेन न बुधेत्यादिना तस्याकर्मकस्य चित्तवत्कर्तृ-कत्वात् । हि यस्मात् तस्याः सीताया दर्शनात्पूर्वं विक्रमः कार्यस्य सीतादर्शन-रूपस्य नाशकृत् ॥

६०१—चिन्तयन्नित्यमुत्तुङ्गैः प्रावयन्तीं दिवं वनैः ॥

अशोक-वनिकामारादपश्यत् स्तवकाऽऽचिताम् ५९

चिन्तयन्नित्यादि—इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण चिन्तयन्नारात्समीपे अशोकवनि-कामपश्यत् । उत्तुङ्गैरुच्चैर्वनैर्दिवमाकाशं प्रावयन्तीं व्यामुवानाम् । ‘२७५२। बुध-युध-।१।३।८६।’ इत्यादिना तिप् । प्रवतेरकर्मकस्याचित्तवत्कर्तृकत्वात् । अशोक-वनिकायाश्चाचित्तवतीत्वात् । स्तवकाचितां अशोकपुष्पस्तवकैः छन्नाम् ॥

कुलकम् ६०—६४—

६०२—तां प्राविशत् कपि-व्याघ्रस् तरून-चलयन् शनैः ॥

अ-त्रासयन् वन-शयान् सुप्तान् शाखासु पक्षिणः ६०

तामित्यादि—तामशोकवनिकां कपिव्याघ्रः कपिव्याघ्र इव शनैर्मन्दं प्रा-विशत् । तरूनचलयन् अकम्पयन् । चलेरकर्मकत्वाच्चित्तवत्कर्तृकादणावित्यनेन च लटः परस्मैपदं न निगरणेत्यादिना । तद्धि तत्र सकर्मकार्थं अचित्तवत्कर्तृकार्थं चेत्युक्तम् । वनशयान् पक्षिणः शाखासु सुप्तान् अत्रासयन् । ‘२७५४। अणौ-।१।३।८८।’ इत्यनेन परस्मैपदम् । वने शेरत इति ‘२९२९। अधिकरणे शेतेः ।३।३।१५।’ इत्यच् । ‘२७६। शय-वास-वासिषु-।६।३।१८।’ इत्यादिना सप्तम्या विभाषा अलुक् ॥

६०३—अवाद् वायुः शनैर् यस्यां लतां नर्तयमान-वत् ॥

नाऽऽयासयन्त संव्रस्ता ऋतवोऽन्योन्य-संपदः ॥६१॥

१—‘१११५। उच्च-प्रांश्चततोदग्रोच्छ्रितास तुङ्गे ।’ २—‘१४५१ । आराद् दूर-समीपयोः ।’ ३—‘३६४। स्याद् गुच्छकस्य तु स्तवकः, कुड्मलो मुकुलोऽभि-याम् ।’ ४—‘३५३ । वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्य तरुः ।’ ५—‘३५९ । समे शाखा-लते, स्कन्धशाखा-शाले, शिफा जटे ।’ इति सर्वत्र ना० अ० ।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'ऽशोक-वनिका-भङ्गो' नामाष्टमः सर्गः—२०९

अवादित्यादि—यस्यामशोकवनिकायां वायुर्वातः शनैर्मन्दमवात् वाति स्म । तामाटेति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । लतां नर्तयमानवत् नृत्यमिव कारयन् । नृतिश्चलने वर्तते । ततश्च । '२७५३। निगरण-११।३।८७।' इत्यादिना परस्मैपदं प्राप्तं । '२७५५। न पादमि-११।३।८९।' इत्यादिना प्रतिषिद्धम् । ऋतवोऽन्योन्यसंपदः परस्परस्य विभूतीः नायासयन्त नोपपीडयन्ति स्म । संव्रस्ता रावणात् । आङ्गपूर्वाद्यसेः चित्तवत्कर्तृकत्वात् अणावित्यादिना परस्मैपदं प्राप्तं 'न पादमि' इत्यादिना प्रतिषिद्धम् ॥

६०४—ज्योत्स्नाऽमृतं शशी यस्यां वापीर् विकसितोत्पलाः ॥

अपाययत संपूर्णः सदा दश-मुखाऽऽज्ञया. ॥ ६२ ॥

ज्योत्स्नेत्यादि—यस्यां रावणाज्ञया शशी सदा संपूर्णः सन् ज्योत्स्नामृतं वापीरपाययत पायितवान् । निगरणार्थत्वात्तिपि प्राप्ते न पादमीत्यादिना प्रतिषिद्धे निचश्चेति तद् ॥

६०५—प्रादमयन्त पुष्पेषु यस्यां बन्धः समाहृताः. ॥

परिमोहयमाणाभी राक्षसीभिः समावृताः. ॥ ६३ ॥

प्रादमयन्तेत्यादि—यस्यां बन्धः समाहृताः समानीताः पुष्पेषु कामं प्रादमयन्ते शमितवत्यः । तन्मतस्याचरणात् । कीदृश्यः । परिमोहयमाणाभिः व्यामोहयन्तीभिः राक्षसीभिः समावृताः परिवृताः । दमि-परिसुहोः अणावित्यादिना प्राप्तस्य परस्मैपदस्य न पादमीत्यादिना प्रतिषेधे निचश्चेत्यात्मनेपदम् ॥

६०६—यस्यां वासयते सीतां केवलं स्म रिपुः स्मरात् ॥

न त्वरोचयता ऽऽत्मानं चतुरो वृद्धि-मानपि ॥ ६४ ॥

यस्यामित्यादि—रिपुर्दृशाननः स्मरात् कामाद्धेतोः केवलं निष्फलं यस्यां सीतां वासयते स्म वासितवान् । न त्वरोचयत आत्मानं नैवात्मानमुपरोचितवान् । चतुरोऽपि योषिदाराधनकुशलोऽपि । वृद्धिमानपि संप्रयुक्तोऽपि । रोचि-वास्त्योराणावित्यादिना प्राप्तस्यापि च परस्मैपदस्य न पादमीति प्रतिषेधे निचश्चेति तद् ॥

६०७—मन्दायमान-गमनो हरितायत्-तरुं कपिः, ॥

द्रुमैः शकशकायद्भिर् मारुतेना ऽऽट सर्वतः. ॥ ६५ ॥

मन्देत्यादि—कपिः सर्वतः सर्वत्र तामाट विजहार । यत्तद्वेर्नित्यसंबन्धात्तामिति गम्यते । मन्दायमानगमनः मन्दीभवद्गमनः । कीदृशीम् । हरितायत्तरुं शाहूलीभवद्दृक्षाम् । अप्राणिजातेष्वेत्यूङ् । द्रुमैरुपलक्षिताम् । कीदृशैः ।

१—'२८२। वापी, तु दीर्घिका ।' २—बन्दिशालास्थिताः स्त्रिय इत्यर्थः । '८८४। प्रमहोपग्रहौ बन्धां, कारा स्याद् बन्धनालये ।' ३—'२७। मदनो मन्मथो मारः कामः पञ्चशरः स्मरः ।' इति सर्वत्र ना० अ० ।

२१० भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

शकशकायद्धिः शकस्त्रभावैः शकीभवद्धिः । केन । मारुतेन । अत्रामन्दं मन्दं भवति अहरिता हरिता भवन्तीति लोहितादित्वात् क्यप् । अशकाः शका भवन्तीति वाक्ये । '२१२८। अव्यक्तानुकरणात्-१५।४।५७।' इति डाच् । तस्मिन्विषयभूते 'डाचि बहुलं द्वे भवतः ।' 'नित्यमात्रेडिते डाचि' इति पररूपत्वम् डाजन्तात् शकशकाशब्दात् क्यप् । '२६६९। वा क्यप् ११।३।९०।' इति परस्मैपदं आत्मनेपदं च ॥

६०८—अस्यन्दन्निन्दु-मणयो, व्यरुचन् कुमुदाऽऽकराः, ॥

अलोठिषत वातेन प्रकीर्णाः स्तबकोच्चयाः. ॥ ६६ ॥

अस्यन्दन्नित्यादि—चन्द्रोदयादिन्दुमणयः अस्यन्दन् स्यन्दन्ते स्म । तामाटेति योज्यम् । व्यरुचन् कुमुदाकराः विराजितवन्तः । स्तबकोच्चयाः गुच्छराशयः । वातेन प्रकीर्णा इतस्ततो विक्षिप्ताः सन्तः अलोठिषत लुठन्ते स्म । सर्वत्र '२३४५। चुच्चो लुडि ११।३।९१।' इति विभाषा परस्मैपदम् । द्युतादयश्च कृपूपर्यन्ताः ॥

६०९—सीताऽन्तिके विवृत्सन्तं वर्त्यत्-सिद्धिं प्लवङ्गमम् ॥

पेतत्रिणः शुभा मन्द्रमानुवानास् त्वजिह्वदन्. ॥ ६७ ॥

सीतेत्यादि—सीतासमीपे विवृत्सन्तं वर्तिषुमिच्छन्तं प्लवङ्गमं वर्त्यत्सिद्धिं वर्त्यन्ती भविष्यन्ती सिद्धिः सीतादर्शनलक्षणा यस्य । '२३४७। वृच्चः स्य-सनो ११।३।९२।' इति विभाषा तिप् । तं पक्षिणः शुभाः प्रशस्ता अजिह्वदन् सुखयन्ति स्म । णिचि लुडि चडि रूपम् । कीदृशाः । मन्द्रं गम्भीरं मधुरमानुवानाः वाश्यमानाः । 'आडि नु-प्रच्छयोरुपसंख्यानं' इति तङ् । '११०८। णु स्तुतौ' इत्यादादिकस्य परस्मैपदित्वात् ॥

६१०—वर्तिष्यमाणमात्मानं सीता पत्युरिवाऽन्तिके ॥

उदपश्यत् तदा तथ्यैर् निमित्तैरिष्ट-दर्शनैः. ॥ ६८ ॥

वर्तिष्यमाणमित्यादि—सीतापि तदा तस्मिन् काले पत्यु रामस्यान्तिके आत्मानं वर्तिष्यमाणमिव उदपश्यत् उत्प्रेक्षते स्म । '२३४७। वृच्चः स्य-सनो ११।३।९२।' इति विभाषावचनात्तङ् । निमित्तैश्चक्षुःस्पन्दनादिभिः । तथ्यैरविसंवादिभिः इष्टदर्शनैः इष्टार्थप्रकाशकैः । दर्शनमिति । '२८४१। कृत्यल्युदो बहुलम् १३।३।१३।' इति कर्तरि ल्युट् ॥

१—'१११२। समीपे निकटाऽऽसन्न-सन्निकृष्ट-सनीडवत् । सदेशाभ्याश-सविध-समर्याद-सदेशवत् ॥ १११३। उपकण्ठान्तिकाऽभ्यर्णाऽभ्यग्रा अर्प्यभितोऽव्ययम् ।' २—'५५२। शकुन्ति-पक्षि-शकुनि-शकुन्त-शकुन-द्विजाः । ५५३। पतत्रि-पत्रि-पतग-पतत-पत्रथा-ण्डजाः ।' ३—'११५। सत्यं तथ्यर्थं सम्यगमूनि त्रिषु तदति ।' ४—'१२८३। निमित्तं हेतु-लक्ष्मणोः ।' इति सर्वत्र ना० अ० ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'ऽशोक-चनिका-भङ्गो' नामाष्टमः सर्गः—२११

६११—'निरवर्त्यन् न चेद् वार्ता सीताया, वितथैव नः ॥
अकल्पस्य दुर्घतिः सर्वा', हनूमानित्यचिन्तयत् ॥६९॥

इत्यात्मनेपदाधिकारः ।

निरवर्त्यन्नित्यादि—चेदिति यद्यर्थे । यदि सीताया वार्ता न निरवर्त्यन् निर्वृत्तिं नायास्यत्, तदा वृथैव निष्फलैव नोऽस्माकमुद्यतिः सर्वा अयमुद्यमः समुद्रलङ्घनादिकः । अकल्पस्य अभविष्यत् । इत्येवं हनूमानचिन्तयत् । क्रिया-तिपत्तौ लङ् । तत्र निरवर्त्यदिति '२३४७। वृद्ध्यः स्य-सनोः । ११३।९२।' इति विभाषापरस्मैपदम् । अकल्पस्यदिति '२३५१। लुटि च कूपः । ११३।९३।' इति चकारात् स्य-सनोरपि भवति विभाषापरस्मैपदम् । उद्यतिरिति यमेः '३२७२। स्त्रियां क्तिन् । १३।९४।' । '२४२८। अनुदात्त-। ६।४।३७।' इत्यादिना अनु-नासिकलोपः ॥ इत्यात्मनेपदाधिकारः ॥

इतः प्रवृत्ति कारकमधिकृत्याह—

विशेषकम् ७०-७२—

६१२—वृक्षाद् वृक्षं परिक्रामन् रावणाद् बिभ्यतीं भृशम् ॥
शत्रोस् त्राणम-पश्यन्तीम-दृश्यो जनकाऽऽत्मजाम् ७०

वृक्षादित्यादि—तां जनकात्मजां सीतां स कपिकुञ्जरोऽपश्यदिति वक्ष्य-माणेन संबन्धः । वृक्षाद् वृक्षं परिक्रामन् गच्छन् । '५८६। ध्रुवमपायेऽपादा-नम् । ११।४।२४।' इत्यपादानसंज्ञायां पञ्चमी । रावणात् बिभ्यतीं भृशं त्रस्यन्तीं अत्यर्थं शत्रो रावणाद्रक्षामपश्यन्तीं यतो भयं ततः कुतो रक्षेति '५८८। मीत्रा-र्थानाम्—। ११।४।२५।' इत्यपादानसंज्ञा । अदृश्यः प्रच्छन्नो भूत्वा । '२८५९। ऋदुपध-। ३। ११।११०।' इत्यादिना क्यप् ॥

६१३—तां पराजयमानां स प्रीते रक्ष्यां दशाऽऽननात् ॥
अन्तर्दधानां रक्षोभ्यो मलिनां म्लान-मूर्धजाम् ॥७१॥

तामित्यादि—प्रीतेः रावणसंबन्धिन्या पराजयमानां विमुखीभवन्तीम् । '५८९। पराजेरसोढः । ११।४।२६।' इत्यपादानत्वम् । असोढोऽर्थः प्रीतिः । रक्ष्यां दशाननात् रावणविषये स्वयं निवार्यप्रसराम् । '५९०। वारणार्थानामीप्सितः । ११।४।२७।' इत्यपादानत्वम् । प्रवृत्तिविधातलक्षणेन रक्षणक्रियया आत्मसंबन्धि-न्या दशाननस्य व्याप्तुमभिप्रेतत्वात् । अन्तर्दधानां रक्षोभ्यः मा मां रक्षांसि द्राक्षुरिति । ततश्च '५९१। अन्तर्धौ येनादर्शनम्—। ११।४।२८।' इत्यपादानसंज्ञा । अन्तर्धिनिमित्तं हि रक्षोभिरात्मनो दर्शनस्यानीप्सितत्वात् । मलिनां शरीरेण म्लानमूर्धजां मलिनकेशां बद्धवेणीत्वात् ॥

२१२ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

६१४—रामादधीत-संदेशो वायोर् जातश्च च्युत-स्मिताम् ॥

प्रभवन्तीमिवादित्यादपश्यत् कपि-कुञ्जरः. ॥ ७२ ॥

रामादित्यादि—सत्कृत्य अधीतसंदेशो गृहीतसंदेशः कपिकुञ्जरः । '५९२ आख्यातोपयोगे । ११४।२९।' इत्यपादानसंज्ञा । रामस्याख्यातृत्वात् । सावधानतया संदेशग्रहणात् नियमपूर्वकविद्यावत् संदेशग्रहणम् । वायोर्जात इति '५९३। जन्ति-कर्तुः—११४।३०।' इत्यपादानसंज्ञा । जन्यर्थस्य जन्मनः कर्ता हनुमान् तस्य वायुः प्रकृतिः कारणम् । च्युतस्मितां शोकाक्रान्तत्वात् । प्रभवन्तीमिवादित्यात् । '५९४। सुवः प्रभवः । ११४।३१।' इत्यनेन भवत्यर्थस्य सीतायाः कर्तृभूतायाः प्रथमत उपलभ्यमानत्वात् । अतः प्रभव आदित्यः तस्यास्तेजस्वित्वात् ॥

६१५—रोचमानः कु-दृष्टिभ्यो रक्षोभ्यः प्रत्तवान् श्रियम् ॥

श्लाघमानः पर-स्त्रीभ्यस् तत्राऽऽगाद् राक्षसाऽधिपः. ॥

रोचमान इत्यादि—तत्र तस्यामशोकवनिकायां राक्षसाधिपो रावणः आ-गात् आगतः । रोचमानः कुदृष्टिभ्यः त्यक्तत्रयीधर्मत्वात् । ये कुदृष्टयः कुबुद्धयः तान् स्वविषये स्पृहावतः कारयन्नित्यर्थः । '५७१। रुच्यर्थानां प्रीयमाणः । ११४। ३३।' इति सम्प्रदानसंज्ञायां चतुर्थी । रुचेरभिलाषस्य तत्रावस्थानात् । कुदृष्टयः प्रीयमाणाः । रक्षोभ्यः श्रियं विभूतिं प्रत्तवान् । '५६९। कर्मणा यमभिप्रैति—११४।३२।' इति सम्प्रदानम् । ददातिक्रियया राक्षसानामभिप्रीयमाणत्वात् । श्लाघमानः परस्त्रीभ्यः युष्मद्विषये ऽस्माकं श्लाघेति परकलत्राणि ज्ञापयितुमे-ष्यन् । '५७२। श्लाघ-हुङ्—११४।३३।' इत्यादिना सम्प्रदानत्वम् । श्लाघया बहु-मानेन ज्ञापयितुमिष्यमाणत्वात्तासाम् ॥

६१६—अशप्त निहुवानो ऽसौ सीतायै स्मर-मोहितः, ॥

धारयन्निव चैतस्यै वसूनि प्रत्यपद्यत. ॥ ७४ ॥

अशप्तेत्यादि—सीतायै निहुवानः क्रौर्यादिकं न मेऽस्तीति सीतां ज्ञापयि-तुमेष्यन्नित्यर्थः । तस्यै सीतायै अशप्त । शपथं सीतां ज्ञापयितुमैषदित्यर्थः । किमित्येवमाह । स्मरमोहितः । अत्र शपथापहृतिक्रियया सीतामाज्ञापयितुमि-ष्यमाणत्वात् । पूर्ववत् सम्प्रदानसंज्ञा । किंचास्यै सीतायै स्वामिनीभूतायै वसूनि द्रव्याणि प्रत्यपद्यत अङ्गीकृतवान् । धारयन्निव गृहीतवित्त इव । अत्र '५७३। धारेरुत्तमर्णः । ११४।३५।' इति सीतायाः कदाचिदुत्तमर्णया तुल्यत्वात् ॥

६१७—तस्यै स्पृहयमाणो ऽसौ बहु प्रियमभाषत, ॥

सानुनीतिश्च सीतायै नाऽक्रुध्यन्, नाप्यसूयत. ७५

तस्यामित्यादि—असौ राक्षसाधिपः स्पृहयमाणः सीतामामुमिच्छन् बहु-प्रियमभाषत वक्ष्यमाणम् । '५७४। स्पृहेरीप्सितः । ११४।३६।' इति स्पृहयतेः स्वार्थिकण्यन्तस्य प्रयोगे सीताया ईप्स्यमानत्वात् । सानुनीतिश्च सानुनयः सीता-

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'ऽशोक-वनिका-भङ्गो' नामाष्टमः सर्गः—२१३

ये नाकुध्यत् तां प्रति कोपं न कृतवान् । नाप्यसूयत दोषाविष्करणलक्षणामसूयां न कृतवान् । कुध्यतिसूयत्योर्दिवादिकयोरुदात्तेर्ङितोर्लङि प्रयोगे '५७५। कुध-द्रुह-११।४।३७।' इत्यादिना सम्प्रदानम् ॥

६१८—'संकुध्यसि मृषा किं त्वं दिदृक्षुं मां मृगेक्षणे !, ॥

ईक्षितव्यं पर-स्त्रीभ्यः स्व-धर्मो रक्षसामयम् ॥ ७६ ॥

संकुध्यसीत्यादि—किं त्वं शुभाशुभे दिदृक्षुं द्रष्टुमिच्छुं मां हे मृगेक्षणे ! संकुध्यसि । '५७६। कुध-द्रुहोरुपसृष्टयोः-११।४।३८।' इति कर्मसंज्ञा । कुधेरुप-सर्गेण युक्तत्वात् । कुतस्ते परिज्ञानं यत्परस्त्रीषु शुभाशुभं निरूपयसि अन्यत्र दुष्टाशयत्वात् । अथ कथं मृषा संकुध्यामीति चेदाह—ईक्षितव्यं परस्त्रीभ्यः का शुभा न शुभेति यदीक्षितव्यमीक्षणीयं तदयं स्वधर्मो रक्षसाम् । '५७७। राक्षी-क्ष्योर्यस्य विप्रश्नः ११।४।३९।' इति सम्प्रदानसंज्ञा । यतः स्त्रीविषये विविधस्य प्रश्नस्य क्रियमाणत्वात् ॥

६१९—शृण्वद्भ्यः प्रतिशृण्वन्ति मध्यमा भीरुं ! नोत्तमाः, ॥

गृण्वद्भ्यो ऽनुगृणन्त्यन्ये ऽकृताऽर्था, नैव मद्-विधाः, ॥

शृण्वद्भ्य इत्यादि—अनेनात्मनः प्रभावं दर्शयति । शृण्वद्भ्यः प्रार्थयमानेभ्यः स्वामिन्निदं क्रियतामिति मध्यमाः प्रभवः प्रतिशृण्वन्ति ओमित्युपगच्छन्ति । हे भीरु ! नोत्तमा मादृशाः । ते हि स्वातन्त्र्यात्स्वयमेव हितं प्रतिपद्यन्ति इति भावः । '५७८। प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता ११।४।४०।' इति सम्प्रदानसंज्ञा । पूर्वस्याः प्रार्थनक्रियायाः प्रार्थयितुः कर्तृत्वात् । अन्ये प्रभवोऽकृतार्थाः अलब्धलाभाः गृणद्भ्यः अनुग्राह्यस्य श्रुत्यस्य कस्यचिन्न स्तुतिं कुर्वद्भ्यो मन्त्रिभ्यः अनुगृणन्ति तान् प्रोत्साहयन्ति । अनुगृणीत अनुगृणीतेति ममानुगतो भवतीति नैव मद्भिधा अनुगृणन्ति कृतार्थत्वात् । '१५९५। गृ शब्दे' इत्यस्य प्रयोगे '५७९। अनु प्रतिगृणश्च ११।४।४१।' इति सम्प्रदानसंज्ञा । गृणातेः स्तुतिक्रियापेक्षया कर्तृत्वात् ॥

६२०—इच्छ स्नेहेन दीव्यन्ती विषयान् भुवनेश्वरम्, ॥

संभोगाय परिक्रीतः कर्तास्मि तव ना ऽप्रियम् ॥ ७८ ॥

इच्छेत्यादि—इदृशं पूजितं भुवनेश्वरं त्रिलोकविजयिनमिच्छ अङ्गीकुरु । आत्मानमुद्दिश्य स्नेहेन प्रेम्णा । '५६०। साधकतमं करणम्-११।४।४२।' इति करणसंज्ञा । दीव्यन्ती क्रीडन्ती विषयान् शब्दादिभिरित्यर्थः । '५६२। दिवः कर्म च-११।४।४३।' इति करणसंज्ञापवादात् कर्मसंज्ञा । संभोगाय परिक्रीतः त्वद्विषयभोगेन परिक्रीत इत्यर्थः । '५८०। परिक्रयणे सम्प्रदानम्-११।४।४४।' इति सम्प्रदानत्वम् । तव नाप्रियं कर्तास्मि न करिष्यामि ॥

१—'५६६। विशेषात् त्वङ्गना भीरुः कामिनी वामलोचना ।' इति ना० अ० । 'भीरुराते त्रिलिङ्गः स्याद् वरयोषिति ।' इति मेदिनी च ।

२१४ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

६२१—आस्व साकं मया सौधे, माऽधिष्ठा निरू-जनं वनम् ।
मा ऽधिवात्सीर् भुवं, शय्यामधिषेष्वा स्मरोत्सुका. ७९

आस्वेत्यादि—मया साकं सार्धं सौधे धवलगृहे आस्व तिष्ठ । आसे-
लोटि रूपम् । ‘६७२। आधारेऽधिकरणम् । १।१।४५।’ इत्यधिकरणसंज्ञायां
सप्तमी । मा ऽधिष्ठा निर्जनं वनम् । ‘५४२। अधि-शीङ्-स्थासां कर्म । १।१।४६।’
इत्यधिकरणे कर्मसंज्ञा । लुङि रूपम् । माऽधिवात्सीः भुवं भूमौ मा शयिष्ठाः ।
माङि लुङि रूपम् । ‘५४४। उपान्वध्याङ्वसः । १।१।४८।’ इति अधिकरणे
कर्मसंज्ञा । किंतु । शय्यामधिषेष्वा । शीङो लोटि रूपम् । ‘५४२। अधिशीङ्-
१।१।४६।’ इति कर्मसंज्ञा । स्मरोत्सुका कामार्थिनी ॥

६२२—अभिन्यविक्षथास् त्वं मे यथैवाऽव्याहता मनः, ॥

तवाऽप्यध्यावसन्तं मां मा रौत्सीर् हृदयं तथा. ॥८०॥

अभीत्यादि—यथैव त्वमव्याहता अनिवारिता सती मे मम मनः अभिन्य-
विक्षथाः अभिनिविष्टासि । लुङि रूपम् । ‘३६८३। नेर्विशः । १।१।१७।’ इति
तङ् । ‘५४३। अभि-नि-विशश्च । १।१।४७।’ इत्यधिकरणे मनसः कर्मसंज्ञा । तथा
त्वमपि त्वद्भृदयमध्यावसन्तं मां मां रौत्सीः मा निवारय । रुधेलुङि रूपम् ।
‘५४४। उपान्वध्याङ्-१।१।४८।’ इति हृदयस्य कर्मसंज्ञा ॥

६२३—मा ऽवमंस्था नमस्यन्तर्म-कार्य-ज्ञे ! जगत्-पतिम्, ॥
संदष्टे मयि काकुत्स्थर्म-धन्यं कामयेत का ? ॥८१॥

मेत्यादि—हे अकार्यज्ञे अविशेषज्ञे ! मां जगत्पतिं नमस्यन्तं माऽवमंस्थाः ।
लुङि रूपम् । ‘४३५। कर्तुरीप्सिततमम्-१।१।४९।’ इति कर्मसंज्ञा । अवमान-
क्रियया कर्तृसंबन्धिन्या जगत्पतेरासुमिष्टत्वात् । संदष्टे मयि काकुत्स्थमधन्यं
मन्दभाग्यं का कामयेत का इच्छेत् । नैवेत्यर्थः । ‘५३८। तथायुक्तं चानीप्सितम्
१।१।५०।’ इति कर्मसंज्ञा । येनैव प्रकारेण कर्तुरीप्सिततमं क्रियया युक्तं तेनैवे-
प्सितादन्यस्य रामस्य प्रयुज्यमानत्वात् ॥

६२४—यः पयो दोग्धि पाषाणं, स रामाद् भूतिमाप्नुयात्, ॥
रावणं गमय प्रीतिं बोधयन्तं हिताऽहितम्. ॥ ८२ ॥

य इत्यादि—यथा पाषाणात् पयो न संभवति तथा रामादपि विभूतिरिति
नैराशं दर्शयति । पयसः पूर्वैणैव कर्मसंज्ञा । पाषाणस्य ‘५३९। अकथितं च
१।१।५१।’ इत्यनेन । रावणं गमय प्रीतिं भवत्या सह प्रीतिं गच्छन्तं गमय
प्रीतिम् । स्वयमेव हिताहितं भवतीं बुध्यमानां बोधयन्तम् । ‘५४७। गति-बुद्धि-
१।१।५२।’ इत्यादिना कर्मसंज्ञा । गति-बुद्धोरण्यन्तावस्थायां तयोः कर्तृत्वात् ॥

२—४१। विभूतिर् भूतिरैश्वर्यमणिमादिकमष्टथा । इति ना० अ० ।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'ऽशोक-चनिका-भङ्गो' नामाष्टमः सर्गः— २१५

६२५—प्रीतो ऽहं भोजयिष्यामि भवतीं भुवन-त्रयम्, ॥

किं विलापयसेऽत्यर्थं, पार्श्वे शायय रावणम्. ॥८३॥

प्रीत इत्यादि—अहं प्रीतः सन् भुवनत्रयं तत्समुत्थं भोज्यं भोक्तुं योग्यं भवतीं भोजयिष्यामि । प्रत्यवसानार्थत्वात्कर्मसंज्ञा । प्रत्यवसानमभ्यवहारः । अकर्त्रभिप्राये '२५६४।१।३।७४।' इत्यात्मनेपदं न भवति । विलपन्तं विविधं भाषमाणं किं विलापयसेऽत्यर्थं नाहं त्वामिच्छामीति भुवाणा । अत्र शब्दकर्मत्वात् कर्मसंज्ञा । कर्त्रभिप्राये णिचश्चेत्यात्मनेपदम् । तस्मादिदं प्रार्थये—पार्श्वे रावणं शायय । अत्राकर्मकत्वात्कर्मसंज्ञा ॥

६२६—आज्ञां कारय रक्षोभिर्, मा प्रियाण्युपहारय, ॥

कः शक्रेण कृतं नैच्छेदधिमूर्धानमञ्जलिम्. ॥ ८४ ॥

इति कारकाधिकारः ॥

आज्ञामित्यादि—रक्षांसि त्वदाज्ञां कुर्वन्त्येव । कारय प्रियाणि च त्वत्संबन्धीनि मासुपहरन्तमुपहारय उत्पादय । '५४१। ह-कोरन्त्यतरस्याम् । १।१।५३।' इति कर्मसंज्ञा । शक्रेण कृतं विरचितं अञ्जलिमधिमूर्धानं अधिगतः प्राप्तो मूर्धा येनेति । को नैच्छेत् '५५९। स्वतन्त्रः—१।१।५४।' इति कर्तृसंज्ञा । शक्रेण प्रणतोऽहमित्यर्थः । प्रयोज्यकर्त्रा नोदाहृतोप्यन्तावस्थायामुदाहृतत्वात् ॥ इति कारकाधिकारः ॥

इतः प्रभृति कर्मप्रवचनीयमधिकृत्याह—

६२७—वचनं रक्षसां पत्युरनु क्रुद्धा पति-प्रिया ॥

पापानुवासितं सीता रावणं प्राब्रवीद् वचः ॥ ८५ ॥

वचनमित्यादि—रक्षसां पत्यू रावणस्य वचनमनु लक्ष्यीकृत्य । '५४७। अनुलक्षणे । १।१।८४।' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां द्वितीया । क्रुद्धा सती सीता । पतिप्रिया पतिः प्रियो यस्या इति । रावणं प्राब्रवीद्ब्रूवो वक्ष्यमाणम् । पापानुवासितं पापेन संयुक्तम् । '५४९। तृतीयार्थे । १।१।८५।' इत्यनेन कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां द्वितीया । पापमन्ववसित इति । द्वितीयेति योगविभागात् सः सुप्तुपेति वा ॥

६२८—'न भवाननु रामं चेदुप शूरेषु वा, ततः ॥

अपवाह्य छलाद् वीरौ किमर्थं मामिहा ऽहरः, ॥८६॥

नेत्यादि—यदि भवान्नुरामं रामान्न हीन इत्यर्थः । '५५०। हीने । १।१।८६।' इत्यनेन कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । अनुशब्दश्च स्वहीनार्थद्योतकः । हीनश्चोत्कृष्टापेक्षः । उपशूरेषु वा शूरेभ्यो वा यद्यधिको भवान् । '५५१। उपोऽधिके च । १।१।८७।' इति चकाराद्धीने उपशब्दस्य कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । यस्मादधिकमित्यनेन सप्त-

२१६ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

मी । उपशब्दस्याधिकद्योतनात् । किमर्थं कनकमृगच्छलेन । वीरौ रामलक्ष्मणे अपवाह्य अन्यतो नीत्वा । मामिहाहरः लङ्कामानीतवान् ॥

६२९—‘उप-शूरं न ते वृत्तं कथं रात्रिचराऽधम ! ॥

यत् संप्रत्यपलोकेभ्यो लङ्कायां वसतिर् भयात् ॥ ८७ ॥

उपेत्यादि—हे रात्रिचराधम ! कथं ते वृत्तं चरितं नोपशूरं शूरेभ्यो न हीनम् । ‘५५१। उपोऽधिके च । १।१।८७।’ इति चकाराद्धीने उपशब्दस्य कर्म-प्रवचनीयसंज्ञा । यद्यस्मात् संप्रत्यधुना भयाल्लङ्कायां जलपर्वतदुर्गायां वसतिः । वसेरतिः ‘वहि-वस्यतिभ्यश्चित्’ इत्यौणादिकः । अपलोकेभ्यो लोकान् वर्जयित्वा । ‘५९६। अप-परी वर्जने । १।१।८८।’ इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां ‘५९८। पञ्चम्य-पाङ्-परिभिः । २।३।१०।’ इति पञ्चमी ॥

६३०—आ राम-दर्शनात् पाप ! विद्योतस्व स्त्रियः प्रति ॥

सद्-वृत्ताननु दुर्-वृत्तः परस्त्रीं जात-मन्मथः ॥ ८८ ॥

आ रामेत्यादि—हे पाप ! आ रामदर्शनात् रामदर्शनं यावत् । ‘५९७। आङ् मर्यादावचने । १।१।८९।’ इति पूर्ववत्पञ्चमी । स्त्रियः प्रति योषितो लक्ष्मी-कृत्य । विद्योतस्व स्थिरो भव । स्त्रियः इति ‘३०२। वाऽम्-शसमोः । ६।१।८०।’ इति इयङ् । ‘५५२। लक्षणेत्थंभूत-१।१।९०।’ इत्यादिना कर्मप्रवचनीयत्वम् । सद्वृत्ताननु दुर्वृत्तः सदाचारिणामुपरि दुर्वृत्त इत्यर्थः । इत्थंभूताख्यानोऽनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् । परस्त्रीं जातमन्मथः । अत्र वीप्सायां कर्मप्रवचनीयत्वम् ॥

६३१—अभि द्योतिष्यते रामो भवन्तर्म-चिरादिह, ॥

उद्गूर्ण-बाणः संग्रामे यो नारायणतः प्रति ॥ ८९ ॥

अभीत्यादि—भवन्तमभि भवन्तं लक्ष्मीकृत्य । ‘५५५। अभिरभागे । १।१।९१।’ इति कर्मप्रवचनीयत्वम् । अचिरादिह लङ्कायां रामो द्योतिष्यते असह्य-तेजाः भविष्यति । य उद्गूर्णबाणः संग्रामे नारायणतः प्रति तेन तुल्यः । ‘५९९। प्रतिः प्रतिनिधि-प्रतिदानयोः । १।१।९२।’ इति प्रतिनिधौ कर्मप्रवचनीयत्वम् । ‘६००। प्रतिनिधि-प्रतिदाने च यस्मात् । २।३।११।’ इति पञ्चमी । प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः । मुख्यसदृशः प्रतिनिधिः ॥

६३२—कुतो ऽधियास्यसि क्रूर ! निहतस् तेन पत्रिभिः ॥

न सूक्तं भवता ऽत्युग्रमतिरामं मदोद्धत ! ॥ ९० ॥

कुत इत्यादि—हे क्रूर ! तेन रामेण उद्गूर्णबाणेन पत्रिभिः शरैः निहतः सन् कुतोऽधियास्यसि केन प्रकारेण निःसरिष्यसि । ‘५५४। अधि-परी अनर्थकौ’ । १।१।९३।’ इति अधेः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । धात्वर्थव्यतिरेकार्थस्यानभिधाना-दनर्थकत्वम् । संज्ञा च गत्युपसर्गसंज्ञाबाधनार्था । तेन ‘३९७८। तिङि चोदात्त-

तथा लक्ष्यरूपे कथानके 'ऽशोक-वनिका-भङ्गो' नामाष्टमः सर्गः—२१७

वति । ८।१।७१' इति निघाताभावो द्रष्टव्यः । पञ्चमी च 'प्रश्नाख्यानयोः' इत्यु-
पसंख्यानान्भवति । किमिति हनिष्यतीति चेत्—यतो भवता न सूक्तं प्रशस्तमु-
क्तम् । '५५५। सुः पूजायाम् । १।४।९४' इति कर्मप्रवचनीयत्वम् । '३७८३।
गतिरनन्तरः । ६।२।४९।' इति स्वराभावः । अत्युग्रमतिरौद्रम् । अतिरामं राम-
मधिक्षिप्य । काकुत्स्थमधन्यमिति । '५५६। अतिरतिक्रमणे च । १।४।९५।'
इति कर्मप्रवचनीयत्वम् । चकारात्पूजायां च तत्र चाप्युक्तमिति प्रयोगः । हे
मदोद्धत ! ॥

६३३—परिशेषं न नामा ऽपि स्थापयिष्यति ते विभुः, ॥

अपि स्थाणुं जयेद् रामो, भवतो ग्रहणं कियत्. ९१

परीत्यादि—रामो विभुः प्रभुः ते परिशेषं नामापि संज्ञामपि न स्थापयि-
ष्यति, किमु देहम् । '५५७। अपिः पदार्थ—१।४।९६।' इत्यादिना पदार्थे कर्मप्र-
वचनीयसंज्ञा । पदस्य देहस्याप्रयुज्यमानस्यार्थे अपिशब्दो वर्तते । अपि स्थाणुं
जयेद्रामो यमाराध्याधिपत्यं प्राप्तवानसि तमपि स्थाणुं महादेवं जेतुं संभाव्यते
भवतो ग्रहणं कियत् । यस्त्वेव न भवति । अत्र संभावनायां कर्मप्रवचनीयत्वम् ।
संभावने लिङ् । उपसर्गबाधनत्वात्संज्ञायाः '२२७०। उपसर्गात्सुनोति । ८।३।६५।'
इत्यादिना षत्वं न भवति ॥

६३४—अपि स्तुह्यपिसेधा ऽस्मांस् तथ्यमुक्तं नराऽशन !, ॥

अपि सिञ्चेः कृशानौ त्वं दर्प, मय्यपि यो ऽभिकः ९२

अपीत्यादि—हे नराशन ! मया तथ्यमुक्तं यन्नामपि न स्थापयिष्यतीति ।
अस्मानपि स्तुहि साधूक्तमिति प्रशंस । '२२०१। सेह्यपिञ्च । ३।४।८७।' इति
अपिति द्वित्वाद्गुणाभावः । अपिसेध निगुहाण यथेच्छं तथा क्रियताम् । मया तु
सत्यमेवोक्तमिति भावः । अत्रान्वयसर्गे कामचारानुज्ञाने कर्मप्रवचनीयसंज्ञा ।
किञ्च कृशानावमौ दर्प अपि सिञ्चेः क्षरेस्त्वम् । अत्र गर्हायां लिङि रूपम् । यो-
ऽयं मय्यपि मद्विषयेऽपि अभिकः कामयिता । '१८७४। अनुकाभिका—१।५।२।-
७४।' इत्यादिना निपातितः । उपसर्गसंज्ञाबाधनार्थत्वात् स्तौति-सेवि-सिचां
षत्वं न भवति ॥

६३५—अधिरामे पराक्रान्तमधिकर्ता स ते क्षयम्, ॥'

इत्युक्त्वा मैथिली तूष्णीमासांचक्रे दशाननम्. ॥९३॥

अधीत्यादि—पराक्रान्तस्य शौर्यस्य राम ईशितेत्यस्मिन्नर्थे अधिरामे परा-
क्रान्तम् । '३०९०। ननुसके भावे क्तः । ३।३।११४।' । '६४४। अधिरीश्वरे
। १।१।९७।' इति स्वस्वामिसंबन्धे अधेः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । '६४५। यस्माद-

१—'३९। व्योमकेशो भवो भीमः स्थाणू रुद्र उमा-पतिः ।' इति ना० अ० । स्थाणुः
कीले हरे पुमान् इति कोशान्तरं च । २—'५१। अग्निर्-' इत्यादित आरभ्य '६२ ।
आश्रयाशो बृहद्-भानुः कृशानुः पावकोऽनलः ।' इति ना० अ० ॥

२१८ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

धिकम्-१२।३।९। इत्यादिना सप्तमी । यश्चैवं स रामस्ते क्षयमधिकर्ता करिष्यति
अत्र कर्मण्येव द्वितीया । न '५४८। कर्मप्रवचनीययुक्ते-१२।३।८।' इति
'७७४। विभाषा कृजि १।१।१२।' इति या संज्ञा तस्या गत्युपसर्गसंज्ञाबाध
नार्थत्वात् । संज्ञापक्षे '३९७८। तिङि चोदात्तवति-१८।१।७१।' इति निघाता-
भावो द्रष्टव्य इति । एवमुक्त्वा दशाननं मैथिली तूष्णीमासांचके तूष्णीं स्थि-
तवती ॥

इति कर्मप्रवचनीयाधिकारः ॥

इतः प्रभृति 'अनभिहिते' इत्यधिकृत्य विभक्तिविधानमाह—

६३६—ततः खड्गं समुद्यम्य रावणः क्रूर-विग्रहः ॥

वैदेहीमन्तरा क्रुद्धः क्षणमूचे विनिश्चसन् ॥ ९४ ॥

तत इत्यादि—ततः सीतावचनादुत्तरकालं रावणः खड्गं समुद्यम्य उत्तिष्ठ्य ।
कर्मणि द्वितीया । क्रूरविग्रहः दुष्प्रेक्ष्यत्वात् । वैदेहीमन्तरा क्रुद्धः वैदेह्या
वधे कुपितः । '५४५। अन्तराऽन्तरेण युक्ते १२।३।४।' इति षष्ठ्यपवादाद्वितीया ।
अन्तराशब्दो मध्यमाधेयप्रधानमाचष्टे, आधेयश्चात्र वधः, क्षणमूचे उक्तवान् ।
उत्तिक्रियया क्षणस्य कालस्य साकल्येन संबन्धात् '५५८। कालाध्वनोः-१२।३।५।' इति द्वितीया । विनिश्चसन् क्रोधात् ॥

६३७—चिरेणाऽनुगुणं प्रोक्ता प्रतिपत्ति-पराङ्मुखी ॥

न मासे प्रतिपत्तासे मां चेन्, मर्तासि मैथिलि ! ९५'

चिरेणेत्यादि—हे मैथिलि ! चिरेणापि कालेनानुगुणमनुकूलं मया
प्रोक्तापि सती प्रतिपत्तिपराङ्मुखी । उक्तस्यार्थस्यानुष्ठानं प्रतिपत्तिः तस्यां परा-
ङ्मुखी इदानीं यदि त्वं मासे त्रिंशद्विवसलक्षणे मां न प्रतिपत्तासे नाङ्गीकरि-
ष्यसि तदा मर्तासि मरिष्यसि । उभयमपि लुटि रूपम् । तत्र चिरेण प्रोक्ता
इति । '५६३। अपवर्गे तृतीया १२।३।६।' विवक्षितार्थप्रकाशनेन फलं तस्य प्राप्तौ
तत्क्रियापरिसमाप्तिरपवर्ग इति । मां मासे न प्रतिपत्तास इति '६४३। सप्तमी-
पञ्चम्यौ कारकमध्ये १२।३।७।' इति सप्तमी । कर्मकर्त्रोः कारकयोर्मध्यत्वात्
मासस्य ॥

६३८—प्रायुङ्क्त राक्षसीर् भीमा मन्दिराय प्रतिव्रजन् ॥

'भयानि दत्त सीतायै सर्वा यूयं कृते मम ॥ ९६ ॥'

प्रायुङ्केत्यादि—रावणो राक्षसीर्भीमा भयानकाः प्रायुङ्क्त समादिष्टवान् ।
लङि रूपम् । मन्दिराय प्रतिव्रजन् गृहाय प्रतिव्रजन् । '५८५। गत्यर्थकर्मणि-
१२।३।१२।' इत्यादिना तु चतुर्थी । कर्मप्रवचनीयादिसूत्रचतुष्टयेनोदाहृतं कर्मप्र-
वचनीयाधिकार एव दर्शितत्वात् । किमादिशदित्याह—सर्वा यूयं सीतायै भयानि
दत्त । लोटि रूपम् । चतुर्थी संप्रदाने । संपूज्यादस्य प्रकर्षेण दीयत इति
संप्रदानम् । मम कृते मदनुग्रहनिमित्तम् ॥

६३९—गते तस्मिन् समाजग्मुर् भयाय प्रति मैथिलीम् ॥

राक्षस्यो, रावण-प्रीत्यै क्रूरं चोचुरलं मुहुः ॥ ९७ ॥

गत इत्यादि—तस्मिन् रावणे गते सति राक्षस्यः समाजग्मुः संभूय गताः । '३६९९। समो गम्यच्छि—।१।३।२९।' इत्यादिना आत्मनेपदं न भवति । आङ्ग व्यवहितत्वात् । मैथिलीं प्रति लक्ष्मीकृत्य भयाय सीतायै भयं दातुम् । '५८१। क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः ।२।३।१४।' इति चतुर्थी । ददातेः क्रियार्थोपपदस्य स्थानिनः प्रयुज्यमानस्य भयं कर्म । क्रिया चात्र समागमः । तत्रोपपदं क्रियार्थमिति क्रूरं च भयानकम् । मुहुः प्रतिक्षणं अलं पर्याप्तमूचुः उक्तवत्यः । रावणप्रीत्यै रावणस्यैवं प्रीतिः स्यादिति । '५८२। तुमर्थाच्च भाववचनात् ।२।३।१५।' इति चतुर्थी । क्रियायां क्रियार्थायामिति तुमुना समानार्थत्वात् । भाववचनाश्चेत्यनेन विहितस्य क्तिनः क्रियार्थं उपपदं क्रूराभिधानम् ॥

६४०—'रावणाय नमस्क्रुर्थाः, स्यात् सीते ! स्वस्ति ते ध्रुवम् ॥

अन्यथा प्रातराशाय कुर्याम त्वामलं वयम् ॥ ९८ ॥

रावणायेत्यादि—हे सीते ! रावणाय नमस्क्रुर्थाः रावणं नमस्कुरु । एवं च सति ते तुभ्यं स्वस्ति कल्याणं ध्रुवं स्यात् । शुष्मच्छब्दस्य चतुर्थ्येकवचनान्तस्य तेऽआदेशः । नमस्कृत्येति पाठान्तरम् । तत्र नमस्कृत्वा स्थितायै तुभ्यमित्यध्याहृत्य योज्यम् । अन्यथा ह्यसमानकर्तृकत्वात् क्वाप्रत्ययो न घटते । नमस्कृत्येति पाठान्तरम् । साक्षात्प्रभृतिषु नमःशब्दस्य विकल्पेन गतिसंज्ञा । गत्यभावपक्षे नित्यं गतिसमासाभावे ल्यवादेशः । '१५४। नमस्पुरसोर्गल्योः ।८।३।४०।' इति विसर्जनीयस्य सकारादेशश्च न संभवतीति । अन्यथेति यदि न नमस्क्रुर्थाः तदा अलं प्रातराशाय प्रातर्भोजनाय त्वां कुर्याम वयमित्यूचुः । '२२००। नित्यं ङितः ।३।४।९९।' इति सलोपः । रावणायेत्यादिषु '५८३। नमःस्वस्ति—।२।३।१६।' इत्यादिना चतुर्थी ॥

६४१—तृणाय मत्वा ताः सर्वा वदन्तीस् त्रिजटा ऽवदत् ॥

'आत्मानं हत दुर्वृत्ताः ! स्व-मांसैः कुरुता ऽशनम् ९९

१—अत्र 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर् वलीयसी' इति वार्तिकबलात् कर्मणि द्वितीयैव प्राप्ता, परं च तस्याप्यपवादभूतेन '५८१। क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः ।२।३।१४।' इति सूत्रेण चतुर्थ्येव भवति । तेन 'नमस्क्रुर्मो नृसिंहाय, स्वयंभुवे नमस्कृत्य' इत्यादिवत् 'रावणाय' इत्यस्य रावणं प्रसादयितुमित्यर्थो युक्त इति ज्ञेयम् । एवं सति 'नमःस्वस्ति-इत्यादिना चतुर्थी' इति टीकाकृतं प्रमादगर्भितम् । केवलं 'नमःस्वस्ति' इत्याकारकशब्दयोग एव तस्या विधानादिति भाति । किंतु 'प्रातराशाय त्वां अलं कुर्याम' इत्यत्र तु अलंशब्दयोगात् 'नमःस्वस्ति' इत्यनेनैवेति । अत्र युक्त्यायुक्तविवेचनं तु विद्वदधीनमित्यलम् ।

२२० भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

तृणायेत्यादि—अथानन्तरं राक्षसीर्वदन्तीः त्रिजटा रावणस्वसा अवदत्
उक्तवती । तृणाय मत्वा तृणमिव संगणय्य । ‘५८४। मन्यकर्मण्यनादरे—।२।३।१७।
इति चतुर्थी । तत्र ‘कुत्सितग्रहणं कर्तव्यम्’ इत्युक्तम् । इह मा भूत् तृणं मत्वे-
ति । किमवदत्, आत्मानं हत मारयत । दुर्वृत्ताः दुराचाराः । स्वमांसैः कुस्त-
शनमिति करणे तृतीया ॥

किमर्थमेवमाहेत्याह—

६४२—अद्य सीता मया दृष्टा सूर्य चन्द्रमसा सह ॥

स्वप्ने स्पृशन्ती मध्येन तनुः श्यामा सुलोचना. १००’

अद्येत्यादि—स्वप्ने मया अद्य सीता दृष्टा । कर्तरि तृतीया । सूर्य स्पृशन्ती
चन्द्रमसा सह । सहयोगे तृतीया । सूर्याचन्द्रमसाविति रामलक्ष्मणाविति भावः ।
मध्येन तनुः तन्वी । ‘५६६। इत्थंभूतलक्षणे ।२।३।२१।’ तृतीया ‘५०२। वोतो
गुणवचनात् ।१।१।४४।’ इति ङीबभावपक्षे रूपम् । श्यामा वर्णेन । सुलोचना
शोभननेत्रा ॥

६४३—तास् तया तर्जिताः सर्वा मुखैर् भीमा यथाऽऽगतम् ॥

ययुः सुषुप्सवस् तत्पं भीमैर् वचन-कर्मभिः ॥१०१॥

ता इत्यादि—ता राक्षस्यस्तया त्रिजटया तर्जिता भस्मिताः । सुषुप्सवः स्वसु-
प्तिच्छवस्तत्पं शयनीयं ययुर्गताः । यथागतं यतो यतस्तत्पादुत्थाय गताः । ‘६६१।
यथाऽसादृश्ये ।२।१।७।’ इति वीप्सायामव्ययीभावः । मुखैर्भीमा रौद्राः
मुखानां विकृतत्वात् । ‘५६५। येनाङ्गविकारः ।२।३।२०।’ इति तृतीया । भीमै-
र्वचनकर्मभिः उपलक्षिताः । इत्थंभूते तृतीया ॥

६४४—गतासु तासु मैथिल्या संजानानो ऽनिलाऽऽत्मजः ॥

आयातेन दशाऽऽस्यस्य संस्थितो ऽन्तर्हितश् चिरम् ॥

गतास्वित्यादि—तासु राक्षसीषु गतासु । अनिलात्मजो हनूमान् ‘रामसं-
कथां प्रास्तावीत्’ इति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । मैथिल्या संजानानः इयं सेत्यव-
गच्छन् । ‘५६७। संज्ञो ऽन्यतरस्याम्—।२।३।२२।’ इति कर्मणि तृतीया । ‘२७१९।
सं-प्रतिभ्याम्—।१।३।४६।’ इति तद् । दशास्यस्यायातेनागमनेन हेतुना चिरम-
न्तर्हितो निलीनः स्थितः । ‘५६८। हेतौ ।२।३।२३।’ इति तृतीया ॥

६४५—ऋणाद् बद्ध इवोन्मुक्तो वियोगेन क्रतु-द्विषः ॥

हेतोर् बोधस्य मैथिल्याः प्रास्तावीद् राम-संकथाम् ॥

ऋणादित्यादि—ऋणाद्धेतोर्बद्ध इवोन्मुक्तो यथा स्थानान्तरं गतवान् ।
‘६०१। अकर्तर्युणे—।२।३।२४।’ इति पञ्चमी । ऋणस्याकर्तृहेतुत्वात् । ऋणेन
बन्धित इवेति नोक्तम् । अप्रयोजककर्तृत्वाद्गणस्य । उन्मुक्तः क्रतुद्विषो रावणस्य
वियोगेन विश्लेषेण । ‘६०२। विभाषा गुणे ऽस्त्रियाम्—।२।३।२५।’ इति पक्षे तृती-

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'ऽशोक-वनिका-भङ्गो' नामाष्टमः सर्गः २२१

योदाहता न पञ्चमी । वियोगस्य गुणपदार्थत्वात् । किमिति संकथां प्रास्तावीदि-
त्याह—हेतोर्बोधस्य मैथिल्याः । एष रामदूत इति मैथिल्या बोधो ऽवगमः स्या-
त् । '६०७। षष्ठी हेतुप्रयोगे । २।३।२६।' इति बोधशब्दस्य षष्ठी । प्रास्ता-
वीदिति '२३८५। स्तु-सु-धूम्यः परस्मैपदेषु । ७।२।७२।' इतीदं । '२२६८। नेति
। ७।२।३।' इति हलन्तलक्षणाया वृद्धेः प्रतिषेधः नेगन्तलक्षणायाः ॥

६४६—तं दृष्ट्वा ऽचिन्तयत् सीता—'हेतोः कस्यैष रावणः ॥

अवरुह्य तरोरादैति वानर-विग्रहः ॥ १०४ ॥

तमित्यादि—तं हनूमन्तं रामं स्तुवन्तं दृष्ट्वा सीता अचिन्तयत् । कस्य हेतोः
रावणो वानरविग्रहः सन् ऐति आयाति । आङ्पूर्वस्थेणो रूपम् । '६०८। सर्वना-
म्नस्तृतीया च । २।३।२७।' इति षष्ठी । किंशब्दस्य सर्वनामत्वात् । आरात्
अन्तिके । तरोरिति '५९५। अन्यारात्-। २।३।२९।' इत्याराच्छब्दयोगे पञ्चमी ।
अवरुह्यावतीर्येति । अवरोहणापेक्षया ह्यपादाने पञ्चमी । अपेक्षाया यौगपद्याभा-
वात् । 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' आराद्योगे न वर्तते ॥

६४७—पूर्वस्मादन्य-वद् भाति भावाद् दांशरथिं स्तुवन्, ॥

ऋते क्रौर्यात् समायातो मां विश्वासयितुं नु किम् ? ॥

पूर्वस्मादित्यादि—पूर्वस्माद्रावणादन्यवद्भाति ज्ञायते । अन्येन तुल्यं वर्तते
इति कृत्वा अन्यशब्दयोगे पञ्चमी । यतो भावात् खेहादांशरथिं स्तुवन् । किं नु
क्रौर्यादते क्रौर्यं वर्जयित्वा । ऋतेशब्दयोगे पञ्चमी । मां विश्वासयितुं संभावयितुं
किमागत इत्यचिन्तयत् ॥

६४८—इतरो रावणादेष राघवाऽनुचरो यदि, ॥

स-फलानि निमित्तानि प्राक् प्रभातात् ततो मम. १०६

इतर इत्यादि—यदि रावणादितरः प्रतियोगी राघवानुचरः राघवार्थकारी ।
इतरयोगे पञ्चमी । ततो मम सफलानि स्वप्नलक्षणानि दर्शनादीनि निमित्तानि ।
प्राक् प्रभावात् आदित्योदयात्पूर्वस्मिन् काले । अन्यस्य हि प्रभातादुत्तरकालं
सफलानि । अञ्चतरपदयोगे पञ्चमी ॥

६४९—उत्तराहि वसन् रामः समुद्राद् रक्षसां पुरम् ॥

अवैल्ल लवण-तोयस्य स्थितां दक्षिणतः कथम्. १०७

उत्तराहीत्यादि—रामदूतो ऽयमिति न संभाव्यते । यतः समुद्रादुत्तरा या
दिक् तस्यामुत्तराहि वसन् रामः । आहि च दूरे उत्तराच्चेति । तत्राहिप्रत्ययान्तेन
उत्तराहिशब्देन योगे समुद्रादिति पञ्चमी । लवणतोयस्य लवणसमुद्रस्य दक्षि-
णतो दक्षिणस्यां दिशि स्थितां रक्षसां पुरीं लङ्कां कथमवैत् ज्ञातवान् । दक्षिणत
इति '१९७८। दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् । ५।३।२८।' तदन्तेन योगे '६०९। षष्ठ्य-
तसर्थप्रत्ययेन । २।३।३०।' इति षष्ठी ॥

२२२ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

६५०—दण्डकान् दक्षिणेना ऽहं सरितो ऽद्रीन् वनानि च ॥
अतिक्रम्या ऽम्बुधिं चैव पुंसारगममाहता. ॥ १०८ ॥

दण्डकानित्यादि—दण्डकानामदूरे या दक्षिणा दिक् तस्यामिति । ‘१९८४। एनबन्यतरस्याम्—।५।३।३५।’ इति सप्तम्यन्तादेनप्र प्रत्ययः । तदन्तेन योने ‘६१०। एनपा द्वितीया ।२।३।३१।’ इति द्वितीया । दक्षिणेन दण्डकानां दक्षिणस्यां दिशि । सरितो ऽद्रीन् वनानि च अम्बुधिं चातिक्रम्य पुंसारगममगम्यम् । ‘३२३४। ग्रह-वृ-ह-निश्चि गमश्च ।३।३।५८।’ इत्यप् । अहमाहता आनीता । तत्कथमवैदित्यचिन्तयत् ॥

६५१—पृथङ् नभस्वतश् चण्डाद् वैनतेयेन वा विना ॥
गन्तुमुत्सहते नैह कश्चित् किमुत वानरः. ॥ १०९ ॥

पृथगित्यादि—नभस्वतो वातात् चण्डात् पृथक् वायुं त्यक्त्वा । वैनतेयेन वा विना गरुडं वा वर्जयित्वा । ‘६०३। पृथग्विना—।२।३।३२।’ इत्यादिना तृतीयापञ्चम्यौ । इह लङ्कायां कश्चित् गन्तुं नोत्सहते किमुत वानरः ॥

६५२—इति चिन्ता-वतीं कृच्छ्रात् समासाद्य कपि-द्विपः ॥
मुक्तां स्तोकेन रक्षोभिः प्रोचे—‘ऽहं राम-किङ्करः ११०

इतीत्यादि—एवमुक्तेन प्रकारेण चिन्तावतीं कपिद्विपो हनूमान् । कृच्छ्रात्समासाद्य कथमप्युपगम्य । अहं रामकिङ्करः रामप्रेषणकर इति प्रोचे । मुक्तां स्तोकेनाल्पेन रक्षोभिः कर्तुंभिः । ‘६०४। करणे च स्तोकाल्प—।२।३।३३।’ इत्यादिना तृतीयापञ्चम्यौ । कृच्छ्र-स्तोकोरसत्त्ववचनयोः करणत्वात् ॥

यदि त्वं रामकिङ्करः कासावित्याह—

६५३—विप्रकृष्टं महेन्द्रस्य न दूरं विन्ध्य-पर्वतात् ॥

ना ऽनभ्याशे समुद्रस्य तव माल्यवति प्रियः. ॥ १११ ॥

विप्रेत्यादि—माल्यवति पर्वते तव प्रियो रामः महेन्द्रस्य पर्वतस्य विप्रकृष्टं दूरं । विन्ध्यपर्वताच्च न दूरम् । ‘६११। दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् ।२।३।३४।’ इति षष्ठी-पञ्चम्यौ । महेन्द्रपर्वत-विन्ध्ययोर्दूरविप्रकृष्टयोस्तु ‘६०५। दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च ।२।३।३५।’ इति द्वितीया । नानभ्याशे न दूरे समुद्रस्य । ‘६११। दूरान्तिकार्थैः—।२।३।३४।’ इति षष्ठी । माल्यवति ‘६३३। सप्तम्यधिकरणे—।२।३।३६।’ इति सप्तमी । चकारादूरान्तिकार्थेभ्यश्च । तेनानभ्याश इति सप्तमी ॥

६५४—अ-संप्राप्ते दश-ग्रीवे प्रविष्टो ऽहमिदं वनम् ॥

तस्मिन् प्रतिगते द्रष्टुं त्वामुपाक्रंस्यचेतितः ॥ ११२ ॥

असमित्यादि—दशग्रीवे दशवदने असंप्राप्ते अप्रविष्टे अहमचेतितः सम इदं वनमशोकवनिष्काख्यं प्रविष्ट इति । तस्मिन् प्रतिगते त्वां द्रष्टुमुपाक्रं-

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'ऽशोक-चनिका-भङ्गो' नामाष्टमः सर्गः—२१३

सि समुत्सहे स्म । '६३४। यस्य च भावेन—१२।३।३७।' इति सप्तमी । कपेः प्रवेशोपक्रमयोः रावणसंप्राप्तिप्रतिगमनक्रियाभ्यां लक्ष्यमाणत्वात् । उपाक्रंसीति । '२७१२। उपपराभ्याम्—११।३।३९।' इत्यनेन वृत्त्यादिषु सर्ग उत्साहे क्रमेस्तद् । उत्तमपुरुषैकवचनम् । '२३२३। क्षु-क्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते । ७।२।३६।' इति सिच इदं न भवति ॥

यथादावेव प्रविष्टो ऽसि तर्हि किमिति स्वकर्म न दर्शितवानसीत्याह—

६५५—तस्मिन् वदति रुष्टो ऽपि ना ऽकार्षं देवि ! विक्रमम् ॥

अ-विनाशाय कार्यस्य विचिन्वानः परापरम् ॥ ११३ ॥

तस्मिन्नित्यादि—हे देवि ! तस्मिन् वदति रुष्टोऽपि विक्रमं नाकार्षं, तं तथा वदन्तमनादृत्य विक्रमं नाकार्षमित्यर्थः । '६३५। षष्ठी चानादरे । २।३।३८।' इति चकारात्सप्तमी । किमर्थं कार्यस्य संदेशकथादेरविनाशाय । विचिन्वानः परापरं पौर्वापर्यं निरूपयन् । कर्त्रभिप्राये तद् ॥

कथं वानरस्त्वं तस्य किङ्कर इत्याह—

६५६—वानरेषु कपिः स्वामी नरेष्वधिपतेः सखा ॥

जातो रामस्य सुग्रीवसु ततो दूतो ऽहमागतः ॥ ११४ ॥

वानरेष्वित्यादि—वानरेषु स्वामी यः कपिः सुग्रीवः स नरेष्वधिपतेः रामस्य सखा जातः । '६३६। स्वामीश्वर—१२।३।३९।' इत्यादिना षष्ठी-सप्तम्यो-र्विधानात् सप्तम्युदाहृता । ततो ऽहं दूत आगतः ॥

आगत्य च लङ्कां प्रविश्य इहायात इत्याह—

युगम्—११५—११६

६५७—ईश्वरस्य निशाटानां विलोक्य निखिलां पुरीम् ॥

कुशलो ऽन्वेषणस्याऽहमायुक्तो दूत-कर्मणि ॥ ११५ ॥

ईश्वरस्येत्यादि—निशाटानां राक्षसानामीश्वरस्य दशाननस्य । अत्र षष्ठ्युदाहृता । पुरीं निखिलां निःशेषां विलोक्य किं तत्र वर्तत इति । प्राप्त इति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । कुशलो ऽन्वेषणस्याहं सीताया अन्वेषणस्य निपुणः । आयुक्तो दूतकर्मणि दूतक्रियायां व्यापृतः । '६३७। आयुक्त-कुशलाभ्याम्—१२।३।४०।' इति षष्ठी-सप्तम्यौ ॥

६५८—दर्शनीय-तमाः पश्यन्

स्त्रीषु दिव्यास्वपि स्त्रियः ॥

प्राप्तो व्याल-तमान् व्यस्यन्

भुजङ्गेभ्यो ऽपि राक्षसान् ॥ ११६ ॥

१२४ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

दर्शनीयेत्यादि—तत्र दिव्यास्वपि स्त्रीषु मध्ये दर्शनीयतमाः स्त्रियः पश्यन् । ‘६३८। यतश्च निर्धारणम् । २।३।४१।’ इति सप्तमी । दर्शनीयतमत्वेन गुणेन पृथक्करणत् । भुजङ्गेभ्यो ऽपि व्यालतमान् हिंस्रान् राक्षसान् व्यस्यन् अपक्षि-
पन् । ‘६३९। पञ्चमी विभक्ते । २।३।४२।’ इति पञ्चमी । भुजङ्गेभ्यो राक्षसानां विभागात् प्राप्तो देव्याः पादमूलमित्यर्थात् ॥

किमवस्थो राम इत्याह—

६५९—भवत्यामुत्सुको रामः प्रसितः संगमेन ते ॥

मघासु कृत-निर्वापः पितृभ्यो मां व्यसर्जयत् ॥ ११७॥

भवत्यामित्यादि—भवत्यां त्वयि उत्सुकः उन्मनाः रामः । तव संगमेन प्रसितः प्रसक्तः । ‘६४१। प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च । २।३।४४।’ इति चका-
रात्सप्तमी । मघाभिर्युक्तः कालः तत्सप्तमीये चन्द्रमसो वर्तमानत्वात् । ‘१२०४।
नक्षत्रेण युक्तः कालः । ४।२।३।’ इत्यण् । तस्य ‘१२०५। लुबविशेषे । ४।२।४।’
इति लुप् । तस्मिन् काले पितृभ्यः कृतनिर्वापः दत्तदानः मां व्यसर्जयत् ।
‘६४२। नक्षत्रे च लुपि । २।३।४५।’ इति सप्तमी । तत्रापि ‘१२९४। लुपि युक्त-
वद्भाक्त्वचने । १।२।५१।’ इति स्त्रीलिङ्ग-बहुवचने भवतः । व्यसर्जयदिति विश-
ब्दात् ‘५३२। प्रातिपदिक-। २।३।४६।’ इत्यादिना प्रातिपदिकमात्रे प्रथमा ॥

संदेहनिवृत्त्यर्थं चाभिज्ञानं दर्शयन्नाह—

६६०—अयं मैथिल्यभिज्ञानं काकुत्स्थस्या ऽङ्गुलीयकः ॥

भवत्याः स्मरता ऽत्यर्थमर्पितः सादरं मम ॥ ११८॥

अयमित्यादि—काकुत्स्थस्यायमङ्गुलीयकोऽभिज्ञानं चिह्नमयमभिज्ञानमिति
लिङ्गाधिके प्रातिपदिकमात्रे प्रथमा । मैथिलीति संबोधनादिके ‘५३३। संबोधने
च । २।३।४७।’ इति । सामन्त्रितं संबुद्धिश्चात्रैव द्रष्टव्यम् । काकुत्स्थस्येति ‘६०६।
षष्ठी शेषे । २।३।५०।’ इति षष्ठी । भवत्या अत्यर्थं स्मरता सादरमर्पितम् । ‘६१३।
अधीगर्थ-। २।३।५२।’ इत्यादिना स्मरणार्थं कर्मणः शेषत्वविवक्षायां षष्ठी ॥

६६१—रामस्य दयमानो ऽसार्वध्येति तव लक्ष्मणः, ॥

उपास्कृषातां राजेन्द्रावागमस्यैह, मा त्रसीः ॥ ११९॥

रामस्येत्यादि—असौ लक्ष्मणो रामस्य दयमानो रामं रक्षन् शुकं मा
कार्षीरिति । दयतेः कर्मणि षष्ठी । तवाध्येति त्वां स्मरति । ‘६१३। अधीगर्थ-
। २।३।५२।’ इति षष्ठी । आश्वासनार्थमाह—मा त्रसीः उद्वेगं मा कार्षीः । त्रसे-
रीदित्वाञ्छिष्टायामिदप्रतिषेधात् सिच इदं भवति । यतो राजेन्द्रौ रामलक्ष्मणौ ।
इहागमस्यागमनस्य । भावे अप् । उपास्कृषातां प्रतियत्नं कृतवन्तौ । आगमनस्य
निश्चितत्वात् तस्यैव सुग्रीवसख्येन गुणाधानात् तेन ‘६१४। कृजः प्रतियत्ने । २।३-
५३।’ इति कर्मणि षष्ठी । प्रतियत्ने लुङ् तद् सुद ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'ऽशोक-वनिका-भङ्गो' नामाष्टमः सर्गः—२२५

६६२—रावणस्यैह रोक्ष्यन्ति कपयो भीम-विक्रमाः, ॥

धृत्या नाथस्व वैदेहि !, मन्योरुजासयाऽऽत्मनः १२०

रावणस्येत्यादि—इह लङ्कायां कपयो भीमविक्रमाः असह्यपराक्रमाः राव-
णस्य रोक्ष्यन्ति सरोरं रावणं करिष्यन्ति । भीमविक्रमा इति गुणप्रधानो निर्दे-
शः । ततश्च विक्रमे रुजः भावकर्तृकत्वात् '६१५। रुजार्थानां भाववचनानामञ्ज्वरेः
।२।३।५४।' इति षष्ठी । अतो हे वैदेहि ! धृत्या नाथस्व आशंसस्व । धृतिं
लभस्वेत्यर्थः । '६१६। आशिषि नाथः ।२।३।५५।' इति कर्मणि षष्ठी । आशिषि
नाथ इत्युपसंख्यानोत्तङ् । मन्योरुजासयात्मनो मन्युं नाशय । '१८५१। जसु
हिंसायां ताडने ।' चौरादिकस्य हिंसार्थत्वात्तेन '६१७। जासि-निग्रहण-।२।३।५६।' इति कर्मणि षष्ठी ॥

६६३—राक्षसानां मयि गते रामः प्रणिहनिष्यति ॥

प्राणानामपणिष्टाऽयं रावणस् त्वामिहानयन् ॥१२१॥

राक्षसानामित्यादि—मयि गते रामो राक्षसानां प्रणिहनिष्यति राक्षसान्
मारयिष्यति । पूर्ववत् कर्मणि षष्ठी । निग्रहण इति संघातविगृहीतविपर्यस्तग्रह-
णमित्युक्तम् । '२२८५। नेर्गद-।८।४।१७।' इत्यादिना णत्वम् । किंच प्राणाना-
मपणिष्टायमिति अयं रावणस्त्वामिहानयन् प्राणानपणिष्ट विक्रीतवान् । '६१८।
व्यवह-पणोः समर्थयोः ।२।३।५७।' इति षष्ठी । 'प्राणानामपणायिष्ट' इति
पाठान्तरम् । तदयुक्तं, स्तुत्यर्थस्य पणेस्तत्र ग्रहणात् '२३०३। गुप्-धूप-।३।१।२८।' इत्यादिना आयप्रत्ययो न भवति ॥

६६४—अदेवीद् बन्धु-भोगानां, प्रादेवीदात्म-संपदम्, ॥

शत-कृत्वस् तवैकस्याः स्मरत्यहो रघूत्तमः ॥१२२॥

अदेवीदित्यादि—न केवलं प्राणानपणिष्ट बन्धुभोगानामदेवीत् बन्धुभो-
गान् विक्रीतवान् । '६१९। दिवस्तदर्थस्य ।२।३।५८।' इति षष्ठी । दिवो व्यव-
हारार्थत्वात् । प्रादेवीदात्मसंपदं विक्रीतवान् । '६२०। विभाषोपसर्गे ।२।३।५९।' इति पक्षे द्वितीया । प्रशब्देन युक्तत्वात् । रामानुरागं पुनर्दर्शयन्नाह । शतकृत्व इति बहुत्वोपलक्षणार्थम् । '२०८५। क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच ।५।४।१७।' तवैकस्याहो रघूत्तमः स्मरति । '६१३। अधीगर्थ-।२।३।५२।' इति षष्ठी । अह इति एकस्मिन्नप्यह्नि । '६२२। कृत्वोऽर्थप्रयोगे काले ऽधिकरणे ।२।३।६४।' इति षष्ठी ॥

एवं तामाश्वास्य संदेशं दापयितुमाह—

६६५—तवोपशायिका यावद् राक्षस्यश् चेतयन्ति न, ॥

प्रतिसंदिश्यतां तावद् भर्तुः शार्ङ्गस्य मैथिलि ! १२३

२२६ भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

तवेत्यादि—हे मैथिलि ! तवोपशायिका परिपाठ्या शयनं यामी राक्षसी-
भिः सहेत्यर्थात् । ‘३२८८। पर्यायार्हणोत्पत्तिषु ण्वुच् । ३।३।१११।’ यावन्न
चेतयन्ति न प्रतिबुध्यन्ते तावत् प्रतिसंदिश्यतां प्रतिसंदेशो दीयताम् । शार्ङ्गस्य
भर्तुः शार्ङ्गं धनुर्धारयतो रामस्य । तव शार्ङ्गस्येति यथाक्रमं ‘६२३। कर्तृ-कर्मणोः
कृति । २।३।६५।’ इति षष्ठी ॥

६६६—पुरः प्रवेशमाश्चर्यं बुद्ध्वा शाखा-मृगेण सा ॥

चूडा-मणिमभिज्ञानं ददौ रामस्य संमतम् ॥ १२४ ॥

पुर इत्यादि—शाखामृगेण मर्कटेन पुरो लङ्कायाः दुष्प्रवेशायाः प्रवेशः
तमाश्चर्यमद्भुतं बुद्ध्वा सा सीता चूडामणिमभिज्ञानं ददौ सर्वमुक्तमस्य संभाव्यत
इति । ‘६२४। उभयप्राप्तौ कर्मणि । २।३।६६।’ इति षष्ठी । प्रवेश इत्युभयप्राप्तौ
कृति लङ्का-हनूमतोः कर्मकर्तृत्वात् । रामस्य संमतं प्रियम् । ‘३०८९। मतिबुद्धि-
। ३।२।१८८।’ इत्यादिना वर्तमाने निष्ठा । ‘६२७। न लोक-। २।३।६९।’ इति
षष्ठीप्रतिषेधे प्राप्ते ‘६२५। कस्य च वर्तमाने । २।३।६७।’ इति षष्ठी ॥

६६७—रामस्य शयितं भुक्तं जल्पितं हसितं स्थितम् ॥

प्रक्रान्तं च मुहुः पृष्ट्वा हनूमन्तं व्यसर्जयत् ॥ १२५ ॥

रामस्येत्यादि—रामस्य अभिज्ञानं दत्त्वा शयितादिकं मुहुः पृष्ट्वा हनूमन्तं
व्यसर्जयत् प्रेषितवती । तस्य शयितुं शयनस्थानं किं भूमौ शेते अन्यत्रेति वा ।
भुक्तं भोजनस्थानं किं गृहे मुक्ते मुनिजनगृहे वेति । जल्पितं मन्त्रस्थानं किं
रहसि मन्त्रयते प्रकाशे वेति । हसितं हसनस्थानं किं शृङ्गारवस्तुनि हसति वीर-
वस्तुनि वेति । स्थितं निवासस्थानं किं गुहायां तिष्ठत्युत तरुतले वेति । प्रक्रान्तं
प्रचङ्कमणस्थानम् । ‘२६६६। अनुनासिकस्य-। ६।४।१५।’ इत्यादिना दीर्घः । किं
अङ्गने क्रम्यते अन्यत्र वेति । एषां ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थत्वात् । ‘३०८७। क्तो-
ऽधिकरणे च-। ३।४।७६।’ इति क्तः । तस्य प्रयोगे ‘६२६। अधिकरणवाचिनश्च
। २।३।६८।’ इति षष्ठी ॥

६६८—असौ दधदभिज्ञानं

चिकीर्षुः कर्म दारुणम् ॥

गामुकोऽप्यन्तिकं भर्तुर्

मनसाऽचिन्तयत् क्षणम् ॥ १२६ ॥

असावित्यादि—असौ हनूमान् दधत् धारयन्नभिज्ञानं चिह्नम् । ‘६२३।
कर्तृ-कर्मणोः कृति । २।३।६५।’ इति षष्ठां प्राप्तायां ‘६२७। न लोक-। २।३।६९।’
इति लप्रयोगे प्रतिषेधः । ल इति शाननादयो गृहीताः । दारुणमशोक-वतिका-
मङ्गादिकं कर्म चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुः । उकारप्रश्लेषात् षष्ठाः प्रतिषेधः । भर्तुः

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'ऽशोक-वनिका-भङ्गो' नामाष्टमः सर्गः— २२७

स्वामिनः अन्तिकं समीपं गामुको ऽपि गमनशीलो ऽपि । उक्तप्रयोगे प्रतिषेधः । मनसा क्षणं चिन्तितवान् वक्ष्यमाणं कर्म ॥

६६९—'कृत्वा कर्म यथाऽऽदिष्टं पूर्व-कार्याऽविरोधि यः ॥

करोत्यभ्यधिकं कृत्यं, तमाहुर् दूतमुत्तमम्. ॥ १२७ ॥

कृत्वेत्यादि—यो दूतो यथोद्दिष्टं कर्म कार्यं कृत्वा । अत्र कृत्वेत्यव्ययप्रयोगे प्रतिषेधः । तत उत्तरकालं पूर्वकर्माविरोधि पूर्वकृत्यकार्यस्य यदविरोधि तदधिकं करोति तमुत्तमं दूतमाहुर्विदुः । नीतिविद इति शेषः । मया यथोद्दिष्टं सीतान्वेषणं कृतमिति भावः ॥

तदेव च दर्शयन्नाह—

६७०—वैदेहीं दृष्टवान् कर्म कृत्वा ऽन्यैरपि दुष्करम् ॥

यशो यास्याम्युपादाता वार्तामाख्यायकः प्रभोः. १२८

वैदेहीमित्यादि—अहमद्य तावद्वैदेहीं दृष्टवान् । निष्ठाप्रयोगे प्रतिषेधः । अन्यदपि कार्यमतिदुष्करं कृत्वा । खलुप्रयोगे प्रतिषेधः । ततो यश उपादाता । आत्मसाकर्ता । इदमतिदुष्करं तेन कृतमिति । तृचन्तस्य प्रयोगे प्रतिषेधः । वार्तामाख्यायकः प्रभोर्वार्तामाख्यातास्मीति भविष्यदधिकारात् '३१७५। तुमुन्-ण्वुलौ क्रियायाम्-१३।३।१०।' इति ण्वुल् । '६२८। अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः १२।३।७०।' इति प्रतिषेधः ॥

६७१—राक्षसेन्द्रस्य संरक्ष्यं मया लब्धमिदं वनम्, ॥'

इति संचिन्त्य सदृशं नन्दनस्या ऽभनक् कपिः. १२९

राक्षसेत्यादि—इदं वनमशोकवनिकाख्यं राक्षसेन्द्रस्य संरक्ष्यं रक्षाहम् । '२८२२। अहं कृत्य-१३।३।१६९।' '२८७२। ऋ-हलोर्ण्यत् १३।१।१२४।' तन्मया लब्धं लवनीयम् । '६२९। कृत्यानां कर्तरि वा १२।३।७१।' इति षष्ठीनृतीये कर्तरि भवतः । इत्येवं संचिन्त्य कपिर्नन्दनस्य वनस्य सदृशं तुल्यं । '६३० । तुल्यार्थैः १२।३।७२।' इति पक्षे षष्ठी । अभनक् भग्नवान् । भञ्जेल्लङि '२५४४। श्रावलोपः १६।४।२३।' इति नलोपे हलङ्यादिलोपे जङ्गवे चत्वे च रूपम् ॥

६७२—राघवाभ्यां शिवं, दूतस् तयोरहमिति ब्रुवन् ॥

हितो भनज्मि रामस्य, कः किं ब्रूते ऽत्र राक्षसः, १३०

राघवाभ्यामित्यादि—राघवाभ्यां रामलक्ष्मणाभ्यां शिवं भद्रमस्तु । तयोर्हन्तृमान् दूतो हितो रामस्य भनज्मीदं वनम् । एवं च क्रियमाणे को भवतां मध्ये राक्षसः किं ब्रूते इत्येवं ब्रुवन् । बभञ्ज पवनात्मजो रिपुवनमिति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । राघवाभ्यां शिवं हितो रामस्येति '६३१। चतुर्थी चाशिष्य-१२।३।७३।' इत्यादिना षष्ठी-चतुर्थी ॥

इति विभक्त्यधिकारः ॥

२२८ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

६७३—विलुलित-पुष्प-रेणु-कपिशं

प्रशान्त-कलिका-पलाश-कुसुमं
कुसुम-निपात-विचित्र-वसुधं

स-शब्द-निपतद् द्रुमोत्क-शकुनम् ॥

शकुन-निनाद-नादि-ककुब्

विलोल-विपलायमान-हरिणं

हरिण-विलोचनाऽधिवसति

वभञ्ज पवनाऽऽत्मजो रिपु-वनम्. ॥ १३१ ॥

विलुलितेत्यादि—कीदृशं वभञ्ज । विलुलितानां पुष्पाणां रेणुभिः कपिशं पिङ्गम् । प्रशान्ता अवसन्नाः कलिकाः पलाशानि पत्राणि कुसुमानि च यत्र । कुसुमानां निपातेन विचित्रा वसुधा यत्र । सशब्दैर्निपतद्भिर्द्रुमैरुत्का उन्मनसः शकुना यत्र । शकुनानां पलायमानानां निनादेन नादिताः संजातनादाः ककुभो दिशो यत्र । विलोला व्याकुला विपलायमाना हरिणा यत्र । हरिणस्येव लोचने यस्याः सीतायाः तस्या अधिवसति निवासम् ॥

इत्यनभिहिताधिकारः ॥

इति श्री-जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते श्री-भट्टिकाव्ये-
द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयः परिच्छेदः (वर्गः),
तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'ऽशोकवनिकाभङ्गो' नामाष्टमः

सर्गः पर्यवसितः ।

नवमः सर्गः ।

अथ प्रकीर्णकाः—

अत्रान्तरे प्रकीर्णकश्लोकानाह—

६७४—द्रु-भङ्ग-ध्वनि-संविम्नाः कुवद्-पक्षि-कुलाऽऽकुलाः ॥

अकार्षुः क्षणदा-चर्यो रावणस्य निवेदनम्. ॥ १ ॥

द्रुभङ्गेत्यादि—क्षणदाचर्यो निशाचर्यः । '२९३०। चरेष्टः । ३।२।१६।' राव-
णस्य निवेदनमकार्षुः कृतवत्यः वक्ष्यमाणप्रकारेण । द्रु-भङ्ग-ध्वनि-संविम्नाः शाखा-
भङ्गशब्देन संन्रस्ताः । '१३७३। ओविजी भय-चलनयोः ।' '३०१९। ओदितश्च
। ८।२।३५।' इति निष्ठानत्वम् । कुवत्पक्षिकुलाकुलाः कूजद्भिः पक्षिकुलैः व्यस्तमा-
नसाः । '१११५। कु शब्दे ।' आदादिकस्तस्य उवङादेशः ॥

१—पक्षेऽस्मिन् अश्वललितं वृत्तम् । तल्लक्षणं तु—'वदिह न-जौ- भजौ म-ज-भगाय
तदश्वललितं हराकै-यतिमत् ।' इति वृत्तरत्नाकरे भट्टकेदार आह ।

६७५—'यदताप्सीच्च छनैर्भानुर्, यत्राऽवासीन् मितं मरुत् ॥

यदाप्यानं हिमोस्त्रेण, भनक्त्युपवनं कपिः. ॥ २ ॥'

यदित्यादि—यद्वनं भानुः शनैर्मन्दमताप्सीत् तपति स्म । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । मरुत् मितं स्लोकमवासीत् वाति स्म । हिमोस्त्रेण शिशिररश्मिना आप्यानं वृद्धिं नीतम् । प्यायते: '८७३। लोपो व्योर्वलि । ६।१।६६।' इति यलोपः । ओदित्वाश्रित्वम् । तदुपवनं कपिर्भनक्ति चूर्णयतीति निवेदनमकार्षुः ॥

६७६—ततो ऽशीति-सहस्राणि किङ्कराणां समादिशत् ॥

इन्द्रजित्-सूर विनाशाय मारुतेः क्रोध-मूर्च्छितः. ॥ ३ ॥

तत इत्यादि—निवेदनानन्तरमिन्द्रजित्सूः रावणः । इन्द्रजितं सूत इति '२९७५। सत्सूद्विष-।३।२।६१।' इत्यादिनानुपसर्गे क्तिप् । मारुतेर्हनूमतो विनाशाय । अशीतिसहस्राणि समादिशत् समादिष्टवान् । किङ्कराणां किं कुर्वन्तीति '२९३५। दिवा विभा-।३।२।२१।' इत्यादिना टच् । क्रोधमूर्च्छितः क्रोधोद्धतः । मूर्च्छेः समुच्छ्राये वर्तमानत्वात् ॥

६७७—शक्त्यष्टि-परिध-प्रास-गदा-मुद्गर-पाणयः ॥

व्यश्रुवाना दिशः प्रापुर् वनं दृष्टि-विषोपमाः. ॥ ४ ॥

शक्तीत्यादि—ते किङ्करा वनं प्रापुः प्राप्तवन्तः । शक्त्यादयः प्रहरण-विशेषाः पाणौ घेषामिति प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः । व्यश्रुवानाः दिशो व्यामुवन्तः । '१३४५। अशू व्यासौ' सौवादिकः । दृष्टिविषोपमाः, मुजङ्ग-वत् दृष्ट्यैव विनाशयन्त इत्यर्थः ॥

६७८—दध्वान मेघ-वद् भीममादाय परिधं कपिः ॥

नेदुर् दीप्तायुधास् तेऽपि तडित्वन्त इवाऽम्बुदाः. ॥ ५ ॥

दध्वानेत्यादि—कपिर्भीमं परिधं भयानकमर्गलमादाय मेघवद्दध्वान ध्वनति स्म । तेऽपि किङ्कराः तडित्वन्त इवाऽम्बुदाः । नेदुः नदन्ति स्म । किङ्कराणां कृष्णत्वात् मेघैः सादृश्यं आयुधानां च तडितेति ॥

६७९—कपिना ऽम्भोधि-धीरेण समगंसत राक्षसाः ॥

वर्षासूद्धत-तोयौघाः समुद्रेणैव सिन्धवः. ॥ ६ ॥

कपिनेत्यादि—कपिना अम्भोधिधीरेणाक्षोभ्यत्वात् । राक्षसाः समगंसत संगताः । '२६९९। समो गम्यच्छि-।१।३।२९।' इत्यादिना तङ् लुङ् । यथा सिन्धवो नद्यः उद्धततोयौघाः उद्रिक्तजलपूराः समुद्रेण सङ्गच्छन्ते ॥

६८०—लाङ्गूलमुद्धतं धुन्वन्नुद्धहन् परिधं गुरुम् ॥

तस्यौ तोरणमारुह्य, पूर्वं न प्रजहार सः. ॥ ७ ॥

२३० भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

लाङ्गूलमित्यादि—स हनूमान् लाङ्गूलं पुच्छमुद्धतं उरिक्षसं धुन्वन् । ‘१३३५’
‘धूञ् कम्पने’ इति स्वादौ पठितः । परिधं गुहं उद्ग्रहन् तोरणमाख्य तस्थौ । न
तु पूर्वं प्रजहार प्रहतवान् शूराणां पश्चात् प्रहारित्वात् ॥ एते प्रकीर्णकाः ॥

इतःपरं सिचि वृद्धिमधिकृत्याह—

६८१—अक्षारिषुः शराभ्भांसि तस्मिन् रक्षः-पयोधराः, ॥

न चाऽह्वालीन्, न चाऽव्राजीत् त्रासं कपि-महीधरः. ८

अक्षारिषुरित्यादि—तस्मिन् वने रक्षःपयोधराः रक्षांसि पयोधरा इव ।
शराभ्भांसि शरान् अभ्भांसीव । अक्षारिषुः क्षरितवन्तः । क्षरतिरकर्मकः क्षरे-
त्क्षतजवृत्तिरित्यादि प्रयोगेषु दृश्यते । इह तु सकर्मको विवक्षितः । कपिमहीधर
इव । न चाह्वालीन् न चलितवान् । द्वयोरपि ‘२२८४’ अतो हलादेर्लघोः । ७।-
२।७।’ इति विकल्पे प्राप्ते ‘२३३०’ । अतो व्रान्तस्य । ७।२।२।’ इति सिचि वृद्धिः ।
नाव्राजीत् त्रासं भयं च न जगाम । महीधरतुल्यत्वात् । ‘२२६८’ नेटि । ७।२।-
४।’ इति प्रतिषेधस्य ‘२२८४’ अतो हलादेर्लघोः । ७।२।७।’ इति विकल्पे प्राप्ते
‘२२६७’ वद-व्रज-। ७।२।३।’ इत्यादिना वृद्धिः ॥

६८२—अवादीत् तिष्ठतेत्युच्चैः, प्रादेवीत् परिधं कपिः ॥

तथा, यथा रणे प्राणान् बहूनामग्रहीद् द्विषाम्. ॥९॥

अवादीदित्यादि—तत् उत्तरकालं कपिस्तिष्ठत मा पलायध्वमिति उच्चैस्ता-
नवादीत् । पूर्ववद्वृद्धिः । तथा तेन प्रकारेण परिधं परिषेण प्रादेवीत् विजिगीषते
स्य । ‘५६२’ दिवः कर्म च । १।१।४३।’ इति परिषस्य कर्मसंज्ञा । दिवः ‘२२६८’
‘नेटि । ७।२।४।’ इति वृद्धिप्रतिषेधः । यथा बहूनां द्विषां शत्रूणां प्राणानग्रहीत्
गृहीतवान् । ‘२२८४’ अतो हलादेः-। ७।२।७।’ इति विकल्पे प्राप्ते ‘२२९९’
‘हयन्त-क्षण-ध्वस-। ७।२।५।’ इति प्रतिषेधः ॥

६८३—व्रणैरवमिषू रक्तं, देहैः प्रौर्णाविषुर् भुवम्, ॥

दिशः प्रौर्णाविषुश् चाऽन्ये यातुधाना भवद्-भियः १०

व्रणैरित्यादि—यातुधाना राक्षसा व्रणैः प्रहारमागैः रक्तं शोणितमवमिषुः
वमन्ति स्म । ‘२२९९’ हयन्त-। ७।२।५।’ इति वृद्धिप्रतिषेधः । देहैर्भुवं प्रौर्णा-
विषुः छादितवन्तः । अन्ये यातुधानाः भवद्भियः भवन्ती भीर्येषामिति भयात्प-
लायमानाः । दिशः प्रौर्णाविषुः छादितवन्तः । ‘२४४९’ ऊर्णोतेर्विभाषा । ७।२।६।’
इति विकल्पः । ऊर्णोतेः ‘२४४७’ विभाषोर्णोः । १।२।३।’ इत्यङित्वपक्षे द्रष्टव्यः ।
‘ङित्वे गुणवृद्धिप्रतिषेधात् ॥

६८४—अरासिषुश् च्युतोत्साहा भिन्न-देहाः प्रियाऽसवः ॥

कपेरत्रासिषुर् नादान् मृगाः सिंह-ध्वनेरिव ॥ ११ ॥

इति सिचि वृद्ध्याधिकारः ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'मारुतिसंयमो' नाम नवमः सर्गः— २३१

अरासिपुरित्यादि—च्युतोत्साहाः निरुत्साहाः अरासिपुः मृताः स्य इति शब्दितवन्तः । यतः प्रियासवः प्रियप्राणाः । कपेः संबन्धिनो नादादत्रासिपुः त्रस्ताः । उभयत्रापि '२२६८। नेटि । ७।२।४।' इति प्रतिषिद्धोऽतो हलादेरिति विकल्पः ॥

इति सिचि वृध्यधिकारः ॥

इत इदप्रतिषेधमधिकृत्याह—

६८५—मायानामीश्वरास् ते ऽपि शस्त्र-हस्ता रथैः कपिम् ॥
प्रत्याववृतिरे हन्तुं हन्तव्या मारुतेः पुनः ॥ १२ ॥

मायानामित्यादि—अथानन्तरं राक्षसा ये दिशो गताः ते कपिं हन्तुं पुनः प्रत्याववृतिरे प्रतिनिवृत्ताः । मायानामीश्वराः प्रभवः । '३१५५। स्थेश-। ३।२।१७५।' इति वरच् । '२९८१। नेड्वशि कृति । ७।२।८।' इति नेट् । आर्धधातुकेत्यादिना प्राप्तत्वात् । रथैस्तत्र गताः सन्तः । शस्त्रहस्ताः शस्त्राणि हस्तेषु येषामिति । हनि-कुशे-त्यादिना रमेरौणादिकः कथन् । रथाः । अमि-चमीत्यादिना शसेरौणादिकस्त्रन् । हसि-मृगव-ज्वेत्यादिना हसेस्त्रन् । तयोस्तितुत्रेत्यादिना इदप्रतिषेधः । हन्तव्या मारुतेरिति हनूमतो वधाहर्हाः । '६२९। कृत्यानां कर्तरि वा । २।३।७१।' इति षष्ठी । '२२४६। एकाचः-। ७।२।१०।' इत्यादिना इदप्रतिषेधः । हन्तेर्नमान्तेष्वनिदत्त्वात् ॥

६८६—तांश् चेतव्यान् क्षितौ श्रित्वा

✓ वानरस् तोरणं युतान् ॥

जघानाऽऽधूय परिधं

विजिघृक्षून् समागतान् ॥ १३ ॥

तानित्यादि—समुदिता एकस्यामेव वेलायां मया हन्तव्या इति वानरस्तोर-णमाश्रितवान् । स तोरणं श्रित्वा तान् राक्षसान् विजिघृक्षून् विग्रहीतुमिच्छन् । युतान् समुदितान् । समागतान् दौकितान् । क्षितौ पृथिव्यां चेतव्यान् पुञ्जीकर्तव्यान् जघान हतवान् । परिधमाधूय परिभ्राम्य । तत्र चेतव्यानि '२२४६। एकाचः-। ७।२-। १०।' इतिदप्रतिषेधः । क्षिताविति '३३१३। क्तिच्-क्तौ च संज्ञायाम् । ३।३।१७४।' इति क्तिच् । '३१६३। ति-तु-त्रत-। ७।२।९।' इत्यादिना इदप्रतिषेधः । श्रित्वा युता-निति '३३८१। श्र्युकः किति । ७।२।११।' इति इदप्रतिषेधः । विजिघृक्षूनि '२६-१०। सनि ग्रह-गुहोश्च । ७।२।१२।' इति । तत्र '२६०९। रुद-विद्-। १।२।८।' इति सनः किरवं '२४१२। ग्रहि-ज्या-। ६।१।१६।' इति संप्रसारणं ढत्व-कत्व-षत्वानि ॥

६८७—संजुघुक्ष्व आयूंषि ततः प्रतिरूपवः ॥

रावणाऽन्तिकमाजग्मुर् हत-शेषा निशा-चराः ॥ १४ ॥

२३२ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

संजुयुक्षव इत्यादि—तत् उत्तरकालं ये हतशेषा निशाचराः ते संजुयुक्षव
आयुषि जीवितानि गोहितुमिच्छवः । गृहेः पूर्ववत्प्रतिषेधः । रावणान्तिकमाज-
गुः आगताः । प्रतिरूपवः वक्ष्यमाणमर्थं कथयितुमिच्छवः । अत्रापि पूर्ववत्प्र-
तिषेधः । तत्र चकारेणोगन्तानां सनि समुचितत्वात् ॥

६८८—‘एकेन बहवः शूराः साऽऽविष्काराः प्रमत्त-वत् ॥
वैमुख्यं चकृर्मै’त्युच्चैरुचुर दश-मुखाऽन्तिके. ॥१५॥

एकेनेत्यादि—वयं बहवः शूराः साविष्काराः साहंकारा अपि सन्तः एके-
नापि कपिना हेतुभूतेन वैमुख्यं चकृम पराङ्मुखत्वमनुष्ठितवन्तः प्रमत्तवत् मद्य-
पानमत्ता इव । एवं च चित्तव्याप्तेपादुत्तमपुरुषे लिटि कृते ‘२२९३। कृ-सु-।७।-
२।१३।’ इत्यादिना इदप्रतिषेधः नियमित इति । एवं दशमुखान्तिके उच्चैरुचुः ॥

६८९—मांसोपभोग-संशूनानुद्विग्नांस् तानवेत्य सः ॥

उद्धृत्त-नयनो मित्रान् मन्त्रिणः स्वान् व्यसर्जयत् ॥१६॥

मांसेत्यादि—स दशमुखस्तानुद्विग्नान् भीतानवेत्य ज्ञात्वा स्वानात्मीयान्
मन्त्रिणो व्यसर्जयत् ग्राहिणोत् । कीदृशास्तान् । मांसोपभोगसंशूनान् मांसोपभो-
गेन स्थूलवर्ष्मणः । उभयत्रापि । ‘३०३९। श्रीदितो निष्ठायाम् ।७।२।१४।’ इती-
दप्रतिषेधः । तत्र श्वयतेर्यजादित्वात् संप्रसारणं ‘२५५९। हलः ।६।४।२।’ इति
संप्रसारणस्य दीर्घः । द्वयोरप्योदित्वाग्निष्ठानत्वम् । उद्धृत्तनयनो रोषात् निष्का-
न्ततारकः । ‘३०२५। यस्य विभाषा ।७।२।१५।’ इतीदप्रतिषेधः वृतेरुदित्वात् ।
मित्रान् स्निग्धान् मन्त्रिणः । ‘२०३६। ओदितश्च ।७।२।१६।’ इतीदप्रतिषेधः ।
‘३०१६। रदाभ्याम्-।८।२।४२।’ इति निष्ठानत्वम् ॥

६९०—प्रमेदिताः स-पुत्रास् ते

सु-स्वान्ता बाढ-विक्रमाः ॥

अ-म्लिष्ट-नादा निरगुः

फाण्टचित्राऽस्त्र-पाणयः. ॥ १७ ॥

प्रमेदिता इत्यादि—ते मन्त्रिणः सपुत्राः पुत्रैः सह निरगुः निर्गताः । ‘२४-
५८। इणो गा लुङि ।२।४।४५।’ प्रमेदिताः स्निग्धीभवितुमारब्धाः । आदिकर्मणि
निष्ठा । ततो ‘३०५४। विभाषा भावादिकर्मणोः’ इति प्रतिषेधः । इदपक्षे ‘३०-
५२। निष्ठा शीङ्-।१।२।१९।’ इत्यादिना कित्वप्रतिषेधात् गुणः । सुस्वान्ताः स्वा-
मिनि कल्याणमनसः । बाढविक्रमाः शृशपराक्रमाः अम्लिष्टनादाः विस्पष्टवाचः
मन्त्रिणां वाग्मित्वात् । फाण्टचित्रास्त्रपाणयः यदशृतमपिष्टं कषायमुदकसंपर्कमा-
त्राद्विभक्तसं ईषदुष्णं तदल्पप्रयाससाध्यत्वात् अनायाससाध्यं फाण्टमित्युच्यते
तेन चित्राणि रञ्जितानि अस्त्राणि पाणौ येषामिति स्वान्तादयः ‘३०५८। क्षुब्ध-
स्वान्त-।७।२।१८।’ इत्यादिना निपातिताः ॥

युग्मम् १८-१९-

६९१-तान् दृष्ट्वा ऽतिदृढान् धृष्टान्

प्राप्तान् परिवृढाऽऽज्ञया ॥

कष्टं विनर्दतः क्रूरान्

शस्त्र-धुष्ट-करान् कपिः ॥ १८ ॥

तानित्यादि—तान् दृष्ट्वा कपिः आर्दिददिति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । किंभू-
तान् धृष्टान् । धृष्णोतीति धृष्टः । '३०५९। धृषि-शसी वैयाले । ७।२।१९।' इती-
दप्रतिषेधः । अतिदृढान् बलवतः । '३०६०। दृढः स्थूल-बलयोः । ७।२।२०।' इति
निपातनम् । परिवृढाज्ञया परिवृढस्य प्रभोराज्ञया प्राप्तान् । '३०६१। प्रभौ
परिवृढः । ७।२।२१।' इति निपातनम् । कष्टं विनर्दतः कृच्छ्रं ध्वनतः । गम्भीररवं
वा । '३०६२। कृच्छ्र-गहनयोः कषः । ७।२।२२।' इतीदप्रतिषेधः । क्रूरान् हिंस्रान् ।
शस्त्रधुष्टकरान् । '३०६३। धुषिरविशब्दने । ७।२।२३।' इतीदप्रतिषेधः ॥

६९२-अ-व्यर्णो गिरि-कूटाभान्भ्यार्णानांदिदद् द्रुतम् ॥

वृत्त-शस्त्रान् महाऽरम्भान्-दान्तांस् त्रिदशैरपि ॥ १९ ॥

अव्यर्ण इत्यादि—अव्यर्णोऽपीडितः । '३०६४ अर्देः सं-नि-विभ्यः । ७।२।-
२४।' इतीदप्रतिषेधः । गिरिकूटाभान् महागिरिसदृशप्रमाणान् । अभ्यर्णानविदू-
रान् । '३०६५। अभ्यर्णानविदूर्ये । ७।२।२५।' इतीदप्रतिषेधः । द्रुतमार्दिदत् हिंसी-
तवान् । अर्देः स्वार्थिकण्यन्तस्य लुङि रूपम् । वृत्तशस्त्रोऽधीतशस्त्रविधयः । '३०६६।
गेरध्वयने वृत्तम् । ७।२।२६।' इति इडभावो णिलुक् च निपात्यते । महार-
म्भान् अनल्पव्यापारान् । त्रिदशैरप्यदान्तान् अशमितान् । ३०६८। वा दान्त-
-। ७।२।२७।' इत्यादिना इडभावो णिलुक् च निपात्यते ॥

६९३-दमितार्ऽरिः प्रशान्तौजा नादाऽऽपूरित-दिङ्मुखः ॥

जघान रुषितो रुष्टांस् त्वरितस् तूर्णमागतान् ॥ २० ॥

दमितारित्यादि—ये तु प्रशान्तौजसः शमितबलाः सन्तो रुष्टाः तूर्णमा-
गताः तान् कपिर्जघान व्यापादितवान् । प्रतापाद्दाम्यन्तोऽरयो दमिता येन
दमितारिः । प्रशान्तं शत्रुणामोजो येन स प्रशान्तौजाः । नादापूरितदिङ्मुखः
तस्य हृष्टत्वात् । रुषितः क्रुद्धः । त्वरितः ससंभ्रमः । अत्र दमितप्रशमितपूरिताः
प्यन्ताः '३०६८। वा दान्त-। ७।२।२७।' इत्यादिना विकल्पितेष्टः । रुष्टरुषितत्वं
रिताः '३०६९। रुष्यमत्वर-। ७।२।२८।' इत्यादिना ॥

६९४-तेषां निहन्यमानानां संघुष्टैः कर्ण-भेदिभिः ॥

अभूदभ्यमित-त्रासमास्वान्ताऽशेष-दिग् जगत् ॥ २१ ॥

२३४ भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

तेषामित्यादि—तेषां रक्षसां निहन्यमानानां संघुष्टैः शब्दैः कर्णभेदिभिः
बाधिर्यकरैः । अभ्यमितत्रासं अभिगतत्रासं जगदभूत् । आस्वान्ताः अशेषा
दिशो यस्मिन् जगति । संघुष्टाभ्यमितस्वान्ताः '३०६९। रुष्यमत्वर-।७।२।२८।'
इति विकल्पितेः ॥

६९५—भय-संहृष्ट-रोमाणस् ततस् ते ऽपचित-द्विषः ॥

क्षणेन क्षीण-विक्रान्ताः कपिना ऽनेषत क्षयम् ॥२२॥

इतीद-प्रतीषेधाधिकारः ॥

भयेत्यादि—ततस्ते राक्षसाः कपिना क्षणेन क्षयं विनाशमनेषत नीताः ।
कर्मेणि लुङ् । भयसंहृष्टरोमाणः भयोद्वितरोमाञ्चाः । '३०७०। हृषेलोमसु ।७।२।
२९।' इति विभाषिते । अपचितद्विषः अपचितानां पूजितानां ऋषीणां शत्रवः ।
'३०७१ । अपचितश्च ।७।२।३०।' इति निपातः । क्षीणविक्रान्ताः क्षीणं
विक्रान्तं पराक्रमो येषाम् । '३०१५। क्षियो दीर्घात् ।८।२।४६।' इति निष्ठात-
कारस्य नः ॥

इतीद-प्रतीषेधाधिकारः ।

इतः प्रभृतीदमधिकृत्याह—

६९६—हत्वा रक्षांसि लवितुर्मक्रमीन् मारुतिः पुनः ॥

अशोकवनिकामेव निगृहीताऽरि-शासनः ॥ २३ ॥

हत्वेत्यादि—रक्षांसि हत्वा मारुतिरशोकवनिकामेकामेव पुनर्लवितुं छेतुम् ।
आर्धधातुकस्येद । अक्रमीत् गतवान् । '२३२३। खु-क्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते
७।२।३६।' इतीद । निगृहीतारिशासनः ध्वस्तारिव्यवस्थः । '२५६२। ग्रहोऽल्लिदि
दीर्घः ।७।२।३७।' इतीदो दीर्घत्वम् ॥

६९७—आवरीतुमिवा ऽऽकाशं वरितुं वीर्निवोत्थितम् ॥

वनं प्रभञ्जन-सुतो ना ऽदयिष्ट विनाशयन् ॥ २४ ॥

आवरीतुमित्यादि—प्रभञ्जनसुतो हनूमान् । वनमशोकवनिकारूपं विना-
शयन् नादयिष्ट दयां न कृतवान् । लुङि रूपम् । आकाशमावरीतुमिव अव-
बुधुमिवोत्थितं वनम् । वीन् पक्षिणो वरितुं प्रार्थयितुमिवोत्थितं 'आगच्छत'
नान्यत्र यात, 'इहैव फलवृद्धिं प्राप्स्यथ' इति । आवरीतुं वरितुमिति '२३९१।
वृतो वा ।७।२।३८।' इति विकल्पेनेदो दीर्घत्वम् ॥

६९८—वरिषीष्ट शिवं क्षिप्यन्

मैथिल्याः कल्प-शाखिनः, ॥

प्रावारिषुरिव क्षोणीं

क्षिप्ता वृक्षाः समन्ततः ॥ २५ ॥

वरिषीष्ट्यादि—ये कल्पशाखिनः कल्पवृक्षाः स्वर्गादादारोपितास्तानु-
न्मूल्य यथास्थानं क्षिप्यन् मैथिल्याः शिवं कल्याणं वरिषीष्ट प्रार्थितवान् ।
मैथिल्या भद्रमस्त्वित्याशंसावचने लिङ् । '२५२९। न लिङि । ७।२।३९।' इति
दीर्घप्रतिषेधः । अन्ये च वृक्षास्तेन समन्ततः क्षिप्ताः सन्तः क्षोणीं पृथ्वीं प्रावा-
रिषुरिवाच्छादितवन्त इव । तेषामनाच्छादितत्वादिति वार्थः । '२२९७। सिचि
वृद्धिः परस्मैपदेषु । ७।२।३।' इति वृद्धिः ॥

६९९—संवुवूर्धुः स्वमाकूतमाज्ञां विवरिषुर् द्रुतम् ॥

अवरिष्टाक्षर्मक्षम्यं कपिं हन्तुं दशाननः ॥ २६ ॥

समित्यादि—रामदूतेन कपिना कर्मदशं कृतमिति स्वमाकूतमभिप्रायं
संवुवूर्धुः संवरीतुमिच्छुः । दशाननो द्रुतमाज्ञां विवरिषुः प्रकटितुमिच्छुः । अक्षं
स्वसुतमवरिष्ट प्रार्थितवान् । कर्त्रभिप्राये तङ् । किमर्थं, कपिं हन्तुं हनिष्यामीति ।
अक्षम्यं क्षन्तुमशक्यम् । '२८४४ । पोरदुपधात् । ३।१।९८।' इति यत् । संवुवूर्धुः
विवरिषुरिति उगन्तत्वात् । '२६१०। सनि ग्रह-गुहोश्च । ७।२।१२।' इति चकारे-
णेदप्रतिषेधे प्राप्ते '२६२५। इद्र सनि वा । ७।२।४१।' इति विभाषेद् । तत्रानिद्रपक्षे
'२६१२। इको झल् । १।२।९।' इति क्त्वे '२४९४। उदोध्यपूर्वस्य । ७।१।१०२।' इत्युत्वपक्षे गुण एव ॥

७००—ऊचे-संवरीषीष्ठास् त्वं गच्छ शत्रोः पराक्रमम्, ॥

ध्वृषीष्ठा युधि मायाभिः स्वरिता शत्रु-सम्मुखम् ॥ २७ ॥

ऊच इत्यादि—किमित्याह—त्वं गच्छ शत्रोः पराक्रमं संवरीषीष्ठाः संच्छादय ।
आशिषि '२५२८। लिङ्-सिचोरात्मनेपदेषु । ७।२।४२।' इति वृजो विभाषेद् ।
'२३६८। उश्च । १।२।१२।' इतीदृशे न क्त्वम् । ध्वृषीष्ठाः युधि मायाभिः कर्तुं
भूताभिः त्वं कुटिलीकृषीष्ठाः '१००५। ध्वृ हृच्छने', '२२०। हुच्छा कौटिल्ये ।'
तस्य चोदात्तत्वात् आशिषि कर्मणि लिङ् । '२५२६। ऋतश्च संयोगादेः—। ७।२।
४३।' इति विभाषेद् । अनिद्रपक्षे उश्चेति क्त्वम् । स्वरिता उपतापयिता । शत्रु-
संमुखं शत्रोरग्रतः । अतो द्रुतं संस्वरिषीष्ठा इवेति वक्ष्यमाणेन योज्यम् । '९९८। स्तु
शब्दोपतापयोः ।' इत्यस्य '२२७९। स्वरति-सूति-सूयति—। ७।२।४४।' इत्यादिना
विभाषेद् लिङ्सिचोरिति नानुवर्तते ॥

७०१—द्रुतं संस्वरिषीष्ठास् त्वं निर्भयः प्रधनोत्तमे ॥

स मायानामगात् सोता कपेर विधवितुं द्युतिम् ॥ २८ ॥

द्रुतमित्यादि—संस्वरिषीष्ठाः उपतापय । निर्भयः सन् । आशिषि लिङ् ।
'२६९९। समो गम्यृच्छि—। १।३।२९।' इत्यात्मनेपदम् । अत्र ऋतश्चेतीद् । प्रध-

२३६ भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

नोत्तमे संग्रामवरे । एवमुक्तः सन् स मायानां सोता जनकः कपेद्युतिं तेजो विधु-
वितुमपनेतुमगात् गतः । सोता धवितुमिति '२२७९। स्वरति-।७।२।४४।' इत्या-
दिसूत्रेण विभाषेद् ॥

७०२-विगाढा ऽरं वनस्या ऽसौ शत्रूणां गाहिता कपिः ॥

अक्षं रधितुमारेभे रद्धा लङ्काऽनिवासिनाम् ॥ २९ ॥

विगाढारमित्यादि—असौ कपिः वनस्य विगाढा अवलोडयिता । अरं
शीघ्रम् । शत्रूणां गाहिता विनाशयिता । कर्मणि षष्ठी । ऊदित्वाद्भिभाषेद् '२२-
७९। स्वरति-।७।२।४४।' इत्यादिना अक्षं रधितुं हिंसितुमारेभे प्रवृत्तः । लङ्का-
निवासिनां रक्षसां रद्धा हिंसिता । '२५१५। रधादिभ्यश्च ।७।२।४५।' इति
विभाषेद् ॥

७०३-निष्कोषितव्यान् निष्कोष्ठं

प्राणान् दशमुखाऽऽत्मजात् ॥

आदाय परिधं तस्थौ

वनान् निष्कुषित-द्रुमः ॥ ३० ॥

निष्कोषितव्यानित्यादि—दशमुखात्मजादक्षात् । प्राणान्निष्कोषितव्यान्
अपनेतव्यान् अपनयार्हान् निष्कोष्ठं अपनेष्यामीति परिधमादाय तस्थौ । '२५-
६०। निरः कुषः ।७।२।४६।' इति विभाषेद् । निष्कुषितद्रुमः वनादपनीतवृक्षः ।
'३०४५। इण् निष्ठायाम् ।७।२।४७।' इतीद् ॥

७०४-एष्टारमेषिता संख्ये सोढारं सहिता भृशम् ॥

रेष्टारं रेषितं व्यास्यद् रोष्टाऽक्षः शस्त्र-संहतीः ॥ ३१ ॥

एष्टारमित्यादि—कपिं युद्धस्यैष्टारं एषिता एषणशीलोऽक्षः । ताच्छील्ये
वृत् । '६२७। न लोक-।२।३।६९।' इति षष्ठीप्रतिषेधः । सोढारं ग्रहरणस्य सहि-
तारं सहिता भृशं सहनशीलः । रेष्टारं हिंसकं रेषितुं हिंसितुम् । रोष्टा रोषण-
शीलः शस्त्रसंहतीर्व्यास्यत् क्षिप्तवान् । लङि रूपम् । सर्वत्र '२३४० । तीष-सह
-।७।२।४८।' इत्यादिना वेद् ॥

७०५-शस्त्रैर् दिदेविषुं संख्ये दुद्यूषुः परिधं कपिः ॥

अर्दिधिषुर् यशः कीर्तिमीर्त्तुं वृक्षैरताडयत् ॥ ३२ ॥

शस्त्रैरित्यादि—कपिः अर्दिधिषुः यशो वर्धितुमिच्छुः । परिवं दुद्यूषुः ।
परिघेण क्रीडितुमिच्छुः । अक्षं वृक्षैरताडयत् हतवान् । कीदृशम् । शस्त्रैर्दिदेविषुं
क्रीडितुमिच्छुम् । कीर्तिमीर्त्तुं वर्धितुमिच्छुम् । दिवेरिवन्तस्य '१३२४। ऋडु
वृद्धौ' इत्यस्य च '२६१८। सनीवन्तर्ध-।७।२।४९।' इत्यादिना विभाषितेद् । तत्र
दिवेरिडभावपक्षे '२५७१। छोः शूद्र-।६।४।१९।' ऋधेः '२६१९। आपृज्जप्यृधा-
सीत् ।७।४।५५।' इतीत्वं अभ्यासलोपश्च ॥

७०६—भूयस् तं धिप्सुमाहूय राज-पुत्रं दिदम्भिषुः ॥

अहंस् ततः स मूर्च्छा-वान् संशिशीषुरभूद् ध्वजम् ३३

भूय इत्यादि—तं राजपुत्रं अक्षं धिप्सुं दम्भितुं वञ्चयितुमिच्छुम् । भूयः पुनरपि दिदम्भिषुः वञ्चयितुमिच्छुः । आहूयागच्छेत्यहन् हतवान् । ततः सोऽक्षः मूर्च्छावान् मूर्च्छायुक्तः । ध्वजमात्मीयं संशिशीषुः संश्रयितुमिच्छुः अभूत् भूतः । अत्र दम्भेः श्रयतेश्च '२६१८। सनीवन्तर्ध—१७।२।४९।' इतीद् । अत्र श्रयतेरनि-द्रपक्षे '२६१४। अज्ज्ञनगमां सनि । ६।४।१६।' इति दीर्घः । द्वितीयस्य च '२६-२१। दम्भ इच्च । ७।४।५६।' अभ्यासलोपः । दम्भेर्हलग्रहणस्य जातिपरत्वात्सिद्ध-मिति किञ्चे अनुनासिकलोपः । '३२६। एकाचो वशः—१८।२।३७।' इति भष् । '१२१। खरि च । ८।४।५५।' इति चत्वंम् ॥

७०७—आश्वस्या ऽक्षः क्षणाल् लोकान् बिभ्रधुरिव तेजसा ॥

रुषा बिभ्रजिषु-प्रख्यं कपिं बाणैरवाकिरत् ॥ ३४ ॥

आश्वस्येत्यादि—क्षणाल् क्षणमात्रेणाश्वस्य संज्ञां लब्ध्वा लोकान् जनान् तेजसा क्रोधोत्थेन बिभ्रधुरिव । अथ स कपिं बाणैरवाकिरत् संच्छादितवान् । कीदृशम् । बिभ्रजिषुप्रख्यं अभितुल्यम् । बिभ्रजिषुः बिभ्रधुरिति '२६१८। स-नीवन्तर्ध—१७।२।४९।' इत्यादिना विभाषेद् । तत्रानिद्रपक्षे '३८०। स्कोः—१८।२।-२९।' इति सलोपः । '२९४। व्रश्च—१८।२।३६।' इति षः । इद्रपक्षे सकारस्य जश्त्वं श्रुत्वं च ॥

७०८—संयुयूषुं दिशो बाणैरक्षं यियविषुर् द्रुमैः ॥

कपिर् मायामिवा ऽकार्षीद् दर्शयन् विक्रमंरणे ॥ ३५ ॥

संयुयूषुमित्यादि—बाणैर्दिशः संयुयूषुं मिश्रयितुमिच्छुं अक्षं कपिः द्रुमै-रियविषुः योतुमिच्छुर्मायामिवेन्द्रजालमिवाकार्षीत् कृतवान् रणे विक्रमं दर्श-यन् । यौतेः सन् । '२६१८। सनीवन्तर्ध—१७।२।२९।' इति विभाषेद् । '२५७७। ओः पु-यण्-ज्यपरे । ७।४।८०।' इतीत्वम् । '२६१४। अज्ज्ञन-गमां सनि । ६।४।-१६।' इति दीर्घः ॥

७०९—वानरं प्रोर्णुनविषुः शस्त्रैरक्षो विदिद्युते, ॥

तं प्रोर्णुनूषुरुपलैः स-वृक्षैरावभौ कपिः, ॥ ३६ ॥

वानरमित्यादि—वानरं प्रोर्णुनविषुः छादयितुमिच्छुरक्षः विदिद्युते विद्यो-तते स्म । '२३४४। द्युति-स्त्राप्योः—१७।४।६७।' इति संप्रसारणम् । कपिरपि त-मक्षं उपलैर्वृक्षसहितैः प्रोर्णुनूषुः संवरीतुमिच्छुरावभौ भाति स्म । ऊर्णोतेः पूर्व-वद्विभाषेद् । इद्रपक्षे गुणः अन्यत्र '२६१४। अज्ज्ञन—६।४।१६।' इति दीर्घः । उभयत्र '२४४६।' न न्द्राः—६।१।३।' इति रेफो न द्विरुच्यते ॥

२३८ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

७१०—स्वां जिज्ञापयिषू शक्तिं बुभूषू नु जगन्ति किम् ॥
शस्त्रैरित्यकृषातां तौ पश्यतां बुद्धिमाहवे. ॥ ३७ ॥

स्वामित्यादि—तौ कपिराक्षसौ किं स्वां शक्तिं जिज्ञापयिषू बोधयितुमिच्छू इव बुभूषू त्रिजगन्ति किं नु त्रैलोक्यं शस्त्रेण भर्तुं पुरयितुमिच्छू इत्येवं बुद्धिमाहवे पश्यतां प्रेक्षकाणां अकृषातां कृतवतौ । जिज्ञापयिषू बुभूषू इति विभाषेद् । तत्र '९६४। भृञ् भरणे' इति भौवादिकस्य ग्रहणम् । '२६१८। सनीवन्तर्ध-।७।२।४९।' इति सूत्रे भरेति शपा निर्देशात् ॥

७११—मायाभिः सु-चिरं क्लिष्टा राक्षसो ऽक्लिशित-क्रियम् ॥
संप्राप्य वानरं भूमौ पपात परिघाऽऽहतः. ॥ ३८ ॥

मायाभिरित्यादि—राक्षसो मायाभिः सुचिरं क्लिष्टा क्लेशं कृत्वा वानरं अक्लिशितक्रियमनभिभूतव्यापारं संप्राप्य परिवाहतो भूमौ पपात । '३०४९। क्लिशः क्त्वा-निष्ठयोः ।७।२।५०।' इति विभाषेद् ॥

युगम् ३९-४०-

७१२—पवितो ऽनुगुणैर् वातैः शीतैः पूत्वा पयो-निधौ ॥
बभञ्जाऽध्युषितं भूयः क्षुधित्वा पत्रिभिर् वनम् ॥ ३९ ॥

पवित इत्यादि—कपिरपि पयोनिधौ पूत्वा स्नात्वा अनुगुणैरनुकूलैः शीतैर्वातैः पवितः पवित्रीकृतः । '३०५०। पूढश्च ।७।२।५१।' इति विभाषेद् । भूयः पुनर्वनं बभञ्ज । कीदृशम् । पत्रिभिः पक्षिभिः क्षुधितैर्भूत्वा । अध्युषितं कृतनिवासम् । '३०४६। वसति-क्षुधोः-।७।२।५२।' इतीद् ॥

७१३—उच्चैरञ्चित-लाङ्गूलः शिरो ऽञ्चित्वैव संवहन् ॥
दधद् विलुभितं वातैः केशरं वह्नि-पिङ्गलम् ॥ ४० ॥

उच्चैरित्यादि—उच्चैरुर्ध्वं अञ्चितं पूजितं लाङ्गूलं पुच्छं यस्य । शोभनविन्यासेन स्थितत्वात् । शिरोऽञ्चित्वेव संवहन् अनञ्जत्वात् पूजयित्वेव शिरो विभ्राणः । '३०४७। अञ्जेः पूजायाम् ।७।२।५३।' इति विभाषेद् । वह्निपिङ्गलं च केशरं सदां दधत् विभ्रत् । वातैर्विलुभितं आकुलितम् । '३०४८। लुभो विमोहने ।७।२।५४।' इतीद् । विमोहनमाकुलीकरणम् ॥

७१४—जरित्वेव जवेना ऽन्ये निपेतुस् तस्य शाखिनः, ॥

ब्रश्चित्वा विवशान्न्यान् बलेना ऽपातयत् तरुन्. ४१

जरित्वेत्यादि—तस्य कपेर्जवेन वेगेन अन्ये शाखिनः जरित्वेव जीर्णा इव भूत्वा निपेतुः । अन्यांस्तारुन् बलेन ब्रश्चित्वा छित्वा । विवशान् सस्तपल्लवानपातयत् पातितवान् । '३३२७। जृ-ब्रश्चोः क्त्वा ।७।२।५५।' इतीद् ॥

७१५—दमित्वाऽप्यरि-संघातान्श्रान्त्वा कपि-केशरी ॥

वनं चचार कर्तिष्यन् नत्स्यन्निव निरङ्कुशः ॥ ४२ ॥

दमित्वेत्यादि—कपिकेशरी हनुमान् अरिसंघातान् दमित्वा उपशमं नीत्वा । अश्रान्त्वा अपरिश्रान्तो भूत्वा वनं चचार । '३३२८' इदितो वा । ७।२।५६। इति विकल्पेनेद् । निरङ्कुशः निरवग्रहः । कर्तिष्यन् छेत्स्यन् । नत्स्यन्निव नर्तुकाम इव । '२५०६' सेऽसिचि-७।२।५१। इत्यादिना विभाषेद् ॥

७१६—पारं जिगमिषन् सो ऽथ पुनरावत्स्यतां द्विषाम् ॥

मत्त-द्विरद-वद् रेमे वने लङ्का-निवासिनाम् ॥ ४३ ॥

पारमित्यादि—अथ स कपिर्द्विषां पारं जिगमिषन् गन्तुमिच्छन् । '२४०१' गमेरिद् परस्मैपदेषु । ७।२।५८। पुनरवत्स्यतां प्रतीपीभविष्यताम् । '२३४८' न वृद्धः-७।२।५९। इतीदप्रतिषेधः । '२३४७' वृद्धः स्य-सनोः । १।१।९२। इति परस्मैपदम् । लङ्कानिवासिनां वने मत्तद्विरद इव रेमे क्रीडितवान् ॥

७१७—'यद्यकल्पस्यदभिप्रायो योद्धुं रक्षः-पतेः स्वयम्, ॥

तमप्यकत्स्यमद्या ऽहं' वदन्नित्यं चरत् कपिः ॥ ४४ ॥

यदीत्यादि—रक्षःपतेः रावणस्य स्वयं योद्धुं यद्यभिप्रायोऽकल्पस्यत् सम-पत्स्यत् । '२३५२' तासि च क्लृपः । ७।२।६०। इति चकारात् त्यकारे च नेद् । तदा तमप्यहमकत्स्यं उत्साश्यामि । अहमद्येति एवं वदन् कपिर्बैनमचरत् । '२५०६' सेऽसिचि-७।२।५७। इत्यादिना विभाषेद् । अकल्पस्यदकत्स्य-मिति च '२२२९' लिङ्निमित्ते-१।३।१३९। इती लङ् । हेतुहेतुमद्भावश्च लिङो निमित्तम् ॥

७१८—'हते तस्मिन् प्रियं श्रुत्वा कल्पा प्रीतिं परां प्रभुः ॥

तोषो ऽद्यैव च सीतायाः परश्चेतसि कल्पस्यति ४५'

हत इत्यादि—तस्मिन् रक्षःपतौ हते प्रियं श्रुत्वा प्रभुः रामः परां प्रीतिं कल्पा जनयिता । अत्रान्तर्भावितो ण्यर्थः । धातोरकर्मकत्वात् । सीतायाश्चाद्यैव चेतसि तोषः परो महान् कल्पस्यते संपत्स्यते । '२३५२' तासि च क्लृपः । ७।२।६०। इतीदप्रतिषेधः । २३५१। लुटि च क्लृपः । १।१।९३। इति परस्मैपदम् ॥

७१९—आहूय रावणो ऽवोचदथेन्द्रजितमन्तिकात् ॥

'वने मत्त इव क्रुद्धो गजेन्द्रः प्रधनेष्वटन् ॥ ४६ ॥

आहूयेत्यादि—अथ रावणः इन्द्रजितमाहूय अन्तिकमवोचत् । किमवोचदित्याह—वने मत्त इव । यथा गजेन्द्रो मत्तः क्रुद्धो वने पर्यटन् द्विषामन्तं गतवान् तथा त्वं प्रधनेषु संग्रामेष्वटन् । द्विषामन्तं यथाथेति वक्ष्यमाण-श्लोकैरान्वयः ॥

२४० भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

७२०—ययाथ त्वं द्विषामन्तं, भूयो यातासि चा ऽसकृत् ॥
शशक्थ जेतुं त्वं देवान्, मायाः सस्मर्थ संयति ॥४७॥

ययाथेत्यादि—न केवलं ययाथ, भूयः पुनरपि यातासि यास्यसि । याते
क्रादिनियमात् प्राप्तस्येष्टः । ‘२२९४। अचस्तास्त्रथल्यनिटो नित्यम् । ७।२।६१।’
इति प्रतिषेधः । तस्य हि तासौ नित्यमनिदत्वम् । ‘अजन्ता धातवोऽनुदात्ताः’
इति वचनात् । देवान् जेतुं त्वमसकृत् बहुधा शशक्थ शक्तोऽसि । ‘२२९५।
उपदेशेऽज्वतः । ७।२।६२।’ इति थलीदप्रतिषेधः । शक्तेस्तासौ नित्यानिदत्वम् ।
शक्तिस्तु कान्त इति वचनात् । मायाश्च कृत्ययुद्धानि । संयति युद्धे । सस्मर्थ
ज्ञातवानसि । ‘२२९६। क्रतो भारद्वाजस्य । ७।२।६३।’ इतीदप्रतिषेधः ॥

७२१—त्वं ससर्जिथ शस्त्राणि, दद्रष्टा ऽरींश् च दुःसहान्, ॥
शस्त्रैरादिथ शस्त्राणि त्वमेव महतामपि ॥ ४८ ॥

त्वमित्यादि—शस्त्राणि त्वं ससर्जिथ क्षिप्तवानसि । अरींश्च दुःसहान् यु-
ध्यतः दद्रष्ट दृष्टवानसि न पलायितोऽसि । ‘२४०४। विभाषा सृजि-दृशोः
। ७।२।६५।’ इति थलि विभाषेद । अनिदपक्षे ‘२४०५। सृजि-दृशोर्ज्ञल्यमकिति
। ६।१।५८।’ इति पत्वष्टृत्वे । महतामपि मध्ये त्वमेव शस्त्राणि परकीयानि श-
स्त्रैः स्त्रैरादिथ जग्धवानसि । ‘२३८४। इडत्यतिव्ययतीनाम् । ७।२।६६।’
इत्यादेरिदृ ॥

७२२—स त्वं हनिष्यन् दुर-बुद्धिं

कर्पिं ब्रज ममा ऽऽज्ञया, ॥

मा ना ऽञ्जी राक्षसीर् मायाः,

प्रस्तावीर् मा न विक्रमम् ॥ ४९ ॥

स त्वमित्यादि—स त्वमेवंविधः कर्पिं दुर्बुद्धिं चपलत्वाद्धनिष्यन् हनिष्या-
मीति मदाज्ञया ब्रज । ‘२३६६। कृद्धनोः स्वे । ७।२।७०।’ इतीद । वस्त्रेकाजिति
सूत्रत्रयं नोदाहृतम् । वस्त्रादेशश्च छन्दोविषयत्वात् । राक्षसीर्माया मा नाञ्जीः
मा न व्यक्तीकुरु । अपि तु व्यक्तीकुर्वित्यर्थः । ‘२५४६। अञ्जेः सिचि । ७।२।७१।’
इतीद । विक्रमं न मा प्रस्तावीः मा न प्रारभस्व । ‘२३८५। स्तु-सु-धूञ्भ्यः
। ७।२।७२।’ इतीद ॥

७२३—मा न सावीर् महाऽस्त्राणि, मा न धावीररिं रणे, ॥
वानरं मा न संयंसीर्, ब्रज तूर्णमशङ्कितः ॥ ५० ॥

मा नेत्यादि—रणे महास्त्राणि मा न सावीः मा न प्रसुहि, मा न मुञ्चेत्यर्थः ।
‘१००७। पु प्रसवैश्वर्ययोः’ इत्यस्य रूपम् । अरींश्च मा न धावीः मा न कम्पय
अपि तु भीषयत्वैत्यर्थः । पूर्ववदिदं । वानरं मा न संयंसीः मा न वधीः ।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'मारुतिसंयमो' नाम नवमः सर्गः— २४१

‘२३७७। यम-रम-।७।२।७३।’ इत्यादिना सगितौ । ‘२७४२। समुदाङ्गभ्यो यमः—।१।३।७५।’ इति तद् न भवति तत्राकर्मकादिति वर्तते । यत एवं तस्मादश-
ङ्कितस्तूर्णं व्रज ॥

७२४—अनंसीच्च चरणौ तस्य मन्दिरादिन्द्रजिद् व्रजन्, ॥

अवाप्य चाऽऽशिषस् तस्मादायासीत् प्रीतिमुत्तमाम् ॥

अनंसीदित्यादि—एवमुक्त इन्द्रजित् मन्दिरात् व्रजन् गमिष्यन् । ‘२७८५।
वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवत् । ३।३।१३१।’ इति लट् । तस्य पितृश्रवणावनंसीत्
नतवान् । तस्माद्रावणादाशिषमवाप्योत्तमां प्रीतिमायासीत् । पूर्ववत्सगितौ ॥

७२५—गते तस्मिन्नुपारंसीत् संरम्भाद् रक्षसां पतिः ॥

इन्द्रजिद् विक्रमाऽभिज्ञो मन्वानो वानरं जितम्, ५२

गत इत्यादि—गते तस्मिन् रक्षसां पतिः रावणः संरम्भात् क्रोधादुपारंसीत्
निवृत्तवान् । पूर्ववत्सगितौ । रमेः ‘२७५०। उपाच्च । १।३।८४।’ इति तिप् । स
इन्द्रजित् वानरं जितं मन्वानोऽवगच्छन् । यतो विक्रमाभिज्ञः । अगादिति
वक्ष्यमाणेन संबन्धः ॥

युग्मम् ५३-५४

७२६—संसिस्मयिषमाणो ऽगान् मायां व्यञ्जिजिषुर् द्विषः ॥

जगत् पिपविषुर् वायुः कल्पान्त इव दुर्धरः ॥ ५३ ॥

संसिस्मयिषमाण इत्यादि—संसिस्मयिषमाणः उपासितुमिच्छन् द्विषः
शत्रून् । अगात् गतवान् । ‘२७३४। पूर्ववत्सनः । १।३।६२।’ इति तट् । मायां
व्यञ्जिजिषुः व्यक्तीकर्तुमिच्छुः । २६२६। सि-पृङ्-रञ्जवशां सनि । ७।२।७४।’
इतीद । तत्राक्षेः ‘२४४६। न न्द्राः—।६।१।३।’ इति नकारो न द्विरुच्यते ।
कल्पान्ते युगान्ते वायुरिव दुर्धरः जगत् पिपविषुः पवितुमुत्क्षेपुमिच्छुः ॥

७२७—लोकानां शिशिषोस् तुल्यः कृतान्तस्य विपर्यये ॥

वने चिकरिषोर वृक्षान् बलं जिगरिषुः कपेः ॥ ५४ ॥

लोकानित्यादि—विपर्यये विनाशकाले लोकानां शिशिषोः भक्षयितुमिच्छोः
कृतान्तस्य तुल्योऽगादिति पूर्वेण संबन्धः । पूर्ववदिदं । वने वृक्षांश्चिकरिषोः
विक्षेपुमिच्छोः । कपेर्बलं सामर्थ्यं जिगरिषुः अपनेतुमिच्छुः । कृप्रोरुगन्तत्वात्
‘२६१०। सनि ग्रह-गुहोश्च । ७।२।१२।’ इति प्रतिषेधे प्राप्ते ‘२६२५। इद् सनि
वा । ७।२।४२।’ इति विकल्पे । ‘२६११। किरश्च पञ्चभ्यः । ७।२।७५।’ इतीदं ।
किरतेरियो दीर्घत्वं नेच्छन्तीति न दीर्घः ॥

७२८—रोदिति स्मैव चा ऽऽयाति तस्मिन् पक्षि-गणः शुचा ॥

मुक्त-कण्ठं हतान् वृक्षान् बन्धून् बन्धोरिवा ऽऽगमे ५५

भ० का० २१

२४२ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

रोदितीत्यादि—तस्मिन्निन्द्रजिति आयात्यागच्छति सति पक्षिगणः हतान् वृक्षान् कपिनाशितान् शुचा शोकेन मुक्तकण्ठं सशब्दं नामग्राहं रोदिति स्वेव रुदितवानिव । नामग्रहणपूर्वया रोदनक्रियया व्याप्यमानत्वात् वृक्षाणां कर्म-संज्ञा । '२४७४। रुदादिभ्यः—।७।२।७६।' इतीद्र । बन्धून् बन्धोरिव यथा बन्धो-रागमने कश्चित् बन्धून् रोदिति ॥

७२९—आश्वसीदिव चा ऽऽयाति तद् वेग-पवनाऽऽहतम् ॥

विचित्र-स्तवकोद्भासि वनं लुलित-पल्लवम् ॥ ५६ ॥

आश्वसीदित्यादि—तस्मिन्नायाति वनं तद्वेगपवनाहतं सत् आश्वसीदिव संजीवितमिव । लङि रूपम् । यतो विचित्रस्तवकोद्भासि लुलितपल्लवं च जातम् । पूर्ववदिद्र ॥

७३०—'न प्राणिषि दुराचार !, मायानामीशिषे न च. ॥

नेडिषे यदि काकुत्स्थं' तमूचे वानरो वचः ॥ ५७ ॥

इतीडधिकारः ।

नेत्यादि—वानरस्तमागच्छन्तमिदं वचनमूचे । हे दुराचार ! न प्राणिषि न जीवसि । '११४४। अन च' इत्यस्य रूपम् । पूर्ववदिद्र । '२४७८। अनितेः । ८।४।-१९।' इति णत्वम् । नच मायानामीशिषे नेशिता भवसि । '२४३९। ईशः से । ७।२।७७।' इति इद्र । '६१३। अधीगर्थ—।२।३।५२।' इति कर्मणि षष्ठी । यदि काकुत्स्थं नेडिषे न स्तौषि । '२४४०। ईडजनोर्ध्वे च । ७।२।७८। इति चकारात् सेचेतीद्र ॥

॥ इतीडधिकारः ॥

इदानीं '१३८। विसर्जनीयस्य सः । ८।३।३४।' इत्यधिकृत्याह—

७३१—स-सैन्यश्छादयन् संख्ये प्रावर्तिष्ट तमिन्द्रजित् ॥

शरैः क्षुरग्रैर् मायाभिः शतशः सर्वतो मुहुः ॥ ५८ ॥

ससैन्य इत्यादि—इन्द्रजित् ससैन्यः सबलः तं वानरं सर्वतः शरैः क्षुरग्रैः भलैः छादयन् मुहुः क्षणं मायाभिः शतशोऽनेकधा संख्ये प्रावर्तिष्ट प्रवृत्तः । लुङि रूपम् । तत्र ससैन्यश्छादयन् इति । '१३८। विसर्जनीयस्य सः । ८।३।३४।' इति सत्वं छकारे परे श्रुत्वम् । शरैः क्षुरग्रैरिति सत्त्वापवादः । शर्परि खरि विसर्जनीयस्य विसर्जनीयः विसर्जनीयस्य विकारनिवृत्त्यर्थः । मायाभिः शतशः सर्वतः इति '१५१। वा शरि । ८।३।३६।' इति विकल्पः विसर्जनीयः सकारो वा ॥

७३२—वानरः कुल-शैलाऽऽभः

१

प्रसह्या ऽऽयुध-शीकरम् ॥

रक्षस्-पाशान् यशस्-काम्यंस्

तमस्-कल्पानन्दुद्रवत्. ॥ ५९ ॥

वानर इत्यादि—वानरः कुलशैलामः संग्रामे स्थिरत्वात् । आयुधं शीकर-
मिव नैरन्तर्येण पतनात् । प्रसङ्गाभिभूय । '१४२। कुण्डोऽकःपौ च । ८।३।३७।'
इति जिह्ममूलीयोपध्मानीयो । रक्षस्पाशान् कुत्सितराक्षसान् । '१९९३।
याप्ये पाशप् । ५।३।४७।' स्वार्थिका अपि प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते ।
यशस्काभ्यन् आत्मनो यश इच्छन् । अत्र तकारे परतो '१४०। नञ्छव्यप्रदान् ।
८।३।७।' इति रुत्वं विसर्जनीयसकारौ च पूर्वस्यानुनासिकः । तमस्कल्पान् ईषद-
समाप्ततमसः । कुण्डोरपवादः । '१५२। सो ऽपदादौ । ८।३।३८।' सकारः । तत्र
'पाश-कल्प-क-काम्येषु' इति परिगणनम् । अदुदुवत् ङौकते स्म । '२३१२।
णि-ञि-३।१।४८।' इत्यादिना चङ् ॥

७३३—धनुष्-पाश-भृतः संख्ये ज्योतिष्-कल्पोरु-केशरः ॥

दुधाव निर्-नमस्-कारान् राक्षसेन्द्र-पुरस्-कृतान् । ६०

धनुरित्यादि—धनुष्पाशभृतः कुत्सितधनुर्धरान् । राक्षसान् ज्योतिष्कल्पो-
रुकेशरः अमितुल्यबृहत्सटो वानरः । '१५३। इणः षः । ८।३।३९।' इति पाशा-
दिष्वेव विसर्जनीयस्य षत्वम् । दुधाव कम्पितवान् । यस्मान्निर्ममस्कारान् अग्र-
णामान् । राक्षसेन्द्रेणेन्द्रजिता पुरस्कृतान् अग्रतः स्थापितान् । '१५४। नमस्-
पुरसोर्गलोः । ८।३।४०।' इति विसर्जनीयस्य सकारः । इण उत्तरस्य तु विसर्जनी-
यस्य स एवाधिक्रियते । तत्र नमःशब्दस्य साक्षात्प्रभृतिषु पाठात् । पुरःशब्दस्य
'७६८। पुरो ऽव्ययम् । १।१।६७।' इति गतिसंज्ञा ॥

७३४—स्वामिनो निष्-क्रयं गन्तुमाविष्-कृत-बलः कपिः ॥

रराज समरे शत्रून् घ्नन् दुष्-कृत-बहिष्-कृतः । ६१॥

स्वामिन इत्यादि—स्वामिनः सुग्रीवस्य निष्क्रयमानृण्यं गन्तुं शत्रून् घ्नन्
विनाशयन् कपिः समरे रराज । आविष्कृतबलः प्रकटितसामर्थ्यः । दुष्कृतबहि-
ष्कृतः । दुष्कृतं पापं बहिष्कृतमनेनेति । '९००। वाहिताभ्यादिषु । २।२।३७।'
द्रष्टव्यम् । सर्वत्र '१५५। इदुदुपधस्य च-८।३।४१।' इत्यनेनाप्रत्ययविसर्जनी-
यस्य षत्वम् ॥

७३५—चतुष्-काष्ठं क्षिपन् वृक्षान् तिरस्-कुर्वन्नरीन् रणे ॥

तिरस्-कृत-दिगाभोगो ददृशे बहुधा भ्रमन् । ६२ ॥

चतुरित्यादि—चतस्रः काष्ठा दिशो यस्मिन् क्षेपण इति क्रियाविशेषणम् ।
पूर्ववत् षत्वम् । चतसृषु दिक्षु वृक्षान् रणे भ्रमन् एकोऽपि बहुधा ददृशे दृष्टः
कपिः । क्षिपन्निति तौदादिकः । अरींस्तिरस्कुर्वन् अभिभवन् । तिरस्कृतदिगा-
भोगः अपनीतदिग्विस्तारः । '१५६। तिरसोऽन्यतरस्याम् । ८।३।४२।' इति पक्षे
सत्वम् ॥

२४४ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

युग्मम् ६३-६४

७३६-द्विष-कुर्वतां चतुष-कुर्वन्नभिघातं नगैर् द्विषाम् ॥

बहिष्-करिष्यन् संग्रामाद् रिपून् ज्वलन-पिङ्गलः ६३

द्विष्कुर्वतामित्यादि—असौ कपिरादीदिति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । कीदृशः । द्विष्कुर्वतां द्वौ वारावभिघातं कुर्वतां द्विषां चतुष्कुर्वन् चतुरो वारान् नगैर्वृक्षैर्-भिघातं कुर्वन् । ‘१५७। द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे । ८।३।४३।’ इति विसर्जनी-यस्य वा षत्वम् । अरीन् संग्रामाद्बहिष्करिष्यन् अपनेष्यामीति । ‘१५८। इसुसोः सामर्थ्ये । ८।३।५४।’ इति विसर्जनीयस्य षत्वं पक्षे । सामर्थ्यं चात्र व्यपेक्षा, नैकार्थीभावः । बहिष्करिष्यन्निति द्वयोः परस्परव्यपेक्षत्वात् ॥

७३७-ज्योतिष्-कुर्वन्निवैको ऽसावाटीत् संख्ये परार्थ्य-वत् ॥

तमनायुष्-करं प्राप शक्र-शत्रुर् धनुष्-करः ॥ ६४ ॥

ज्योतिरित्यादि—एकोऽपि ज्वलनपिङ्गलः ज्योतिष्कुर्वन्निव अग्निं दीपय-न्निव । पूर्ववत्पक्षे विसर्जनीयस्य षः । परार्थ्यवत् दिव्य इव । परार्थो ह्युलोकः । ब्रह्माण्डसंबन्धिघन ऊर्ध्वभागस्योत्कृष्टत्वात् । तत्र भव इति ‘१३७५। परावराध-म-।४।३।५।’ इति यत् । संख्ये संग्रामे आटीत् परिचक्राम ‘२२६६। इट ईटि ८।२।२८।’ इति सिचो लोपः । तं वानरमनायुष्करं प्राणापहारिणं शक्रशत्रुरिन्द्रजित् प्राप प्राप्तवान् । धनुष्करः धनुः करे यस्येति । ‘१६९। नित्यं समासे-।८।३।४५।’ इत्यादिना षत्वम् ॥

७३८-अस्यन्नरुष्-करान् बाणान् ज्योतिष्-कर-सम-द्युतिः ॥

यशस्-करो-यशस्-कामं कपिं बाणैरताडयत् ॥ ६५ ॥

अस्यन्नित्यादि—बाणानरुष्करान् व्रणजनकान् । ‘२९३५। दिवा-विभा-।३।२।२१।’ इत्यादिना टः । अस्यन् क्षिप्यन् । ज्योतिष्करसमद्युतिः ज्योतिष्कर-णशीलः आदित्यः । ‘२९३४। कृजो हेतु-।३।२।२०।’ इत्यादिना टः । तेन तुल्य इत्यर्थः । पूर्ववत् षत्वम् । यशस्करो यशोजननशीलः । इन्द्रजित् यशस्कामं य-शसि कामोऽस्येति तं कपिं बाणैरवाक्रित् अताडयत् । ‘१६०। अतः कृकमि-।८।३।४६।’ इत्यादिनानव्ययविसर्जनीयस्य सत्वम् ॥

७३९-चकारा ऽधस्-पदं ना ऽसौ चरन् वियति मारुतिः ॥

मर्मा-विद्भिस् तमस्-काण्डैर् विध्यमानोऽप्यनेकधा ६६

इति सत्त्वाधिकारः ।

चकारेत्यादि—असौ मारुतिर्वियति चरत् अधस्पदं पृथिव्यां पदं न च-कार । अधस्पदमिति मयूरव्यंसकादित्वात्सः ‘१४४। कस्कादिषु च । ८।३।४८।’ इति सत्वम् । मर्माणि विध्यन्तीति क्तिप् । ‘१९३७। नहि-वृति-।६।३।११६।’ इत्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घत्वम् ॥ इति सत्त्वाधिकारः ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'मारुतिसंयमो' नाम नवमः सर्गः— २४५

इतः प्रभृति '२१०। 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः । ८।३।५५।' इत्यधिकृत्याह—

७४०—पुरुहूत-द्विषो धूर्षु युक्तान् यानस्य वाजिनः ॥

आयूंषि त्वक्षु निर्भिद्य प्राभञ्जनिरमोचयत् ॥ ६७ ॥

पुरुहूतेत्यादि—पुरुहूतद्विष इन्द्रजितः संबन्धिनो यानस्य रथस्य धूर्षु युक्तान् वाजिनः त्वक्षु चर्मसु निर्भिद्य प्राभञ्जनिरमोचयत् जीवितानि अमोचयत् त्याजितवान् । धूर्षु त्वक्ष्विति '११२। आदेश-प्रत्यययोः । ८।३।५९।' इति षः । प्रत्ययसकारत्वात् । तत्र हि 'इण्कोः' इति वर्तते । परेण च णकारेण प्रत्याहारः । आयूंषीति '४३४। नुम्-विसर्जनीय-। ८।३।५८।' इत्यादिना । '३३५। सहेः साडः सः । ८।३।५६।' इति छन्दोविषयत्वाच्चादाहतम् । ततः '३४०९। छन्दसि सहः । ३।२।६३।' इति ण्विप्रत्ययस्य विधानात् । एवं च पृतनाषाडद्विष इति पाठान्तरमयुक्तम् ॥

७४१—सुषुपुस् ते यदा भूमौ, रावणिः सारथिं तदा ॥

आहर्तुमन्यान् शिषत् प्रोषित-त्रास-कर्कशः ॥ ६८ ॥

सुषुपुरित्यादि—ते यदा भूमौ सुषुपुः निपेतुः । आदेशसकारत्वात् पूर्ववत् षत्वम् । तदा रावणिरन्यानश्चानाहर्तुमानेतुं सारथिमशिषत् आदिष्टवान् । '२३-८२। सर्ति-शास्ति-। ३।१।५६।' इत्यङ् । '२४८६। शास इदङ् हलोः । ६।४।३४।' इति इकारः । '२४१०। शासि-वसि-। ८।३।६०।' इति षत्वम् । प्रोषितत्रासः प्रोषिताद्रामादुपगतभयः । कर्कशश्च रौद्रः । प्रोषित इति यजादित्वात्संप्रसारणम् । षत्वं पूर्ववत् ॥

७४२—प्रतुष्टूषुः पुनर् युद्धमासिषञ्जयिषुर् भयम् ॥

आतस्थौ रथमात्मीयानुत्तिसाहयिषन्निव ॥ ६९ ॥

प्रतुष्टूषुरित्यादि—अथा आनीता इति पुनरपि युद्धं प्रतुष्टूषुः प्रस्तोतुमारब्धुमिच्छुः सन् । '२६१४। अञ्जनगमां सनि । ६।४।१६।' इति दीर्घः । ३।१४८। सनाशंसमिक्ष उः । ३।२।१६८।' । '६२७। न लोक-। २।३।६९।' इति षष्ठीप्रतिषेधः । रथमातस्थौ आरूढवान् । भयमासिषञ्जयिषुः संश्लेषयितुमिच्छुः हनूमता । अत्र स्तौतेः सनि षत्वभूतसञ्ज्ञे '२६२७। स्तौति-ण्योः-। ८।३।६१।' इति अभ्यासादुत्तरस्य षत्वम् । आत्मीयान् श्रुत्यानुत्तिसाहयिषन्निव उत्साहयितुमिच्छन्निव युध्यध्वमिति । स्तौतीत्यादिना षत्वे प्राप्ते '२६२८। सः स्विदि-। ८।३।६२।' इत्यादिना षकारस्य सत्वम् ॥

७४३—बलान्यभिषिषिक्षन्तं तरुभिः कपि-वारिदम् ॥

विजिगीषुः पुनश् चक्रे व्यूहं दुर-जयमिन्द्रजित् ७०

बलानीत्यादि—कपिवारिदं कपिं वारिदमिव । बलान्यभिषिषिक्षन्तं तरुभिः अभिषेक्तुं छादयितुमिच्छन्तम् । '२२७७। स्थादिध्वभ्यासेन-। ८।३।६४।' इत्यादिना तु सकारस्थाभ्याससकारस्य च षत्वम् । तमेवंविधं कपिम् विजिगी-

२४६ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

पुर्विजेतुमिच्छुः इन्द्रजित् । '२३३१। सन्-लियोजैः । ७११।५७।' इति कुत्वम् ।
पुनर्व्यूहं बलसन्निवेशं दुर्जयाख्यं चक्रे । हस्त्यश्वादिस्त्रैकानां मण्डलस्थित्या
विरच्यते ॥

७४४—अभिष्यन्तः कपिं क्रोधादभ्यषिञ्चन्निवा ऽऽत्मनः ॥
संप्रहार-समुद्भूतै रक्तैः कोष्णैरुरुश-च्युतैः. ॥ ७१ ॥

अभिष्यन्त इत्यादि—राक्षसाः क्रोधादात्मनोऽभिष्यन्तः अन्तं नयन्तः ।
'१२१२। षोऽन्तकर्मणि ।' इत्यस्य शतरि '२५१०। ओतः इयनि । ७।३।७१।'
इत्योकारलोपः । '२२७०। उपसर्गात्-।८।३।६५।' इति षत्वम् । संप्रहारसमुद्भूतैः
रक्तैः कोष्णैरीषदुष्णैः । अरुश्च्युतैः व्रणान्निर्गतैः । कपिमभ्यषिञ्चन्निव अभिषिक्त-
वन्त इव । लङि रूपम् । '२२७६। प्राक् सितादङ्-व्यवायेऽपि । ८।३।६३।' इति
षत्वम् ॥

७४५—संप्रामे तानधिष्ठास्यन् निषद्य पुर-तोरणम् ॥

अविषीदन्नवष्टब्धान् व्यष्टभ्रान् नर-विष्वगान् ॥ ७२ ॥

संप्राम इत्यादि—ये प्राणिनः अभिषिञ्चन्ति तान्नरविष्वगान् राक्षसान् ।
संप्रामे अधिष्ठास्यन् अस्वतन्त्रीकरिष्यन् । कपिः । '२२७०। उपसर्गात्-।८।३।६५।'
इति षत्वम् । पुरतोरणं पुरद्वारं व्यष्टभ्रात् आश्रितवान् । निषद्य तत्रैव पुरतोरणे
स्थित्वा प्राणिनो मा प्रविशुरिति अविषीदन् विषादमगच्छन् । निषद्य अविषीद-
न्निति '२२७१। सदिरप्रतेः । ८।३।६६।' इति षत्वम् । अवष्टब्धान् अविदूरां ।
'२२७३। अवाच्चालम्बनाविदूर्ययैः । ८।३।६८।' इति षत्वम् । व्यष्टभ्रादिति अङ्-व्य-
वाये वेः '२२७३। स्तम्भेः । ८।३।६७।' इति षत्वम् । '२५५५। स्तम्भु-स्तम्भु-
-।३।१।८२।' इत्यादिना श्नाप्रत्ययः । सशब्दायामभ्यवहारक्रियायां स्वनतिर्वर्तते ।
नराणां विष्वगा इति सः । नरान् सशब्दमभ्यवहरन्त इत्यर्थः । '२२७४। वेश्च
स्वनो भोजने । ८।३।६९।' इति षत्वम् ॥

७४६—विषह्य राक्षसाः क्रुद्धाः शस्त्र-जालमवाकिरन्, ॥

यन् न व्यषहतेन्द्रो ऽपि; कपिः पर्यषहिष्ट तत्. ॥ ७३ ॥

विषह्येत्यादि—विषह्य सोढ्वा कपिचेष्टितमित्यर्थात् । '२१२३। सात्पदाद्योः
। ८।३।१११।' इति प्रतिषेधे प्राप्ते '२२७५। परि-नि-विभ्यः-। ८।३।७०।' इति
षत्वम् । राक्षसाः क्रुद्धाः शस्त्रजालमवाकिरन् विश्विस्तवन्तः । लङि रूपम् । यच्च
शस्त्रजालमिन्द्रोऽपि न व्यषहत न सोढवान् । लङि रूपम् । तत्कपिः पर्यष-
हिष्ट । लुङि रूपम् । सहैः '२३५९। सिवादीनाम्-। ८।३।७१।' इत्यादिना विभाषा
षत्वम् ॥

७४७—विष्यन्दमान-रुधिरो रक्त-विस्यन्द-पाटलान् ॥

विष्कन्तून् परिधेणा ऽहन्नविस्कन्ता कपिर् द्विषः. ७४

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'मारुतिसंयमो' नाम नवमः सङ्गः— २४७

विष्यन्देत्यादि—विष्यन्दमानरुधिरः क्षरद्रक्तः कपिः परिघेणाहन् ताडितवान् । द्विषः शत्रून् । रक्तविस्यन्दपाटलान् रक्तखुतिलोहितान् । '२३४९। अनुवि-पर्यभि-निभ्यः स्यन्दतेः-।८।३।७२।' इति विभाषा षत्वं रक्तस्याप्राणित्वात् । विष्कन्तृन् । विविधं स्कन्तुं गन्तुं शीलमेषामिति तृन् । अविस्कन्ता कपिः अगमनशीलः स्थानशील इत्यर्थः । '२३९८। वेः स्कन्देरतिष्ठायाम् ।८।३।७३।' इति विभाषा षत्वम् ॥

७४८—मेघ-नादः परिस्कन्दन् परिष्कन्दन्तमाश्वरिम् ॥

अवघ्नादपरिस्कन्दं ब्रह्म-पाशेन विस्फुरन्. ॥ ७५ ॥

मेघनाद इत्यादि—मेघनाद इन्द्रजित् परिस्कन्दन् परितो भ्रमन् । परिष्कन्दन्तं परिभ्रमन्तमरिं कपिं ब्रह्मपाशेन ब्रह्मणा दत्तेन पाशेन शीघ्रमवघ्नात् बद्धवान् । लिङि आप्रत्यये रूपम् । '२३९९। परेश्च ।८।३।७४।' इति वा षत्वम् । अपरिस्कन्दं अप्राच्यभरतत्वात् । तेन 'परिस्कन्दः प्राच्यभरतेषु' इति निपातनम् । विस्फुरन् द्वेषादुद्गच्छन्नित्यर्थः । '२५३७। स्फुरति-स्फुल्लयोः-।८।३।७५।' इति विभाषा षत्वम् ॥

७४९—विस्फुलङ्गिर् गृहीतो ऽसौ निष्फुलः पुरुषाऽशनैः ॥

विष्कम्भितुं समर्थो ऽपि नाऽचलद् ब्रह्म-गौरवात्. ७६

विस्फुलङ्गिरित्यादि—असौ कपिः पुरुषाशनैः राक्षसैः विस्फुलङ्गिः हर्षाच्चलङ्गिर्गृहीतः । निष्फुलः सतेजाः । निष्फुलति दीप्यतीति पचाद्यच् । पूर्ववद्विभाषा षत्वम् । विष्कम्भितुं व्यापारितुं समर्थोऽपि ब्रह्मगौरवान्नाचलत् न चलितः । मा भून्मोघो ब्राह्मः पाश इति । '२५५६। वेः स्कन्नातेः-।८।३।७७।' इति षत्वम् ।

७५०—कृषीद्वं भर्तुरानन्दं, मा न प्रोढं द्रुतं वियत् ॥

वानरं नेतुमित्युच्चैरिन्द्र-जित् प्रावदत् स्वकान्. ॥ ७७ ॥

कृषीद्वमित्यादि—भर्तुः रावणस्य आनन्दं कृषीद्वं कुरुध्वम् । लिङि रूपम् । अतो वानरं द्रुतं नेतुं वियदाकाशं मा न प्रोढं मा नोत्पतिष्ट । माङि लुङ् । '२२४७। इणः षीध्वम्-।८।३।७७।' इति धकारस्य मूर्धन्यठकारः । इत्येवमुच्चैरिन्द्रजित् स्वकान् भृत्यान् प्रावदत् । वदेर्लिङि रूपम् ॥

७५१—गतमङ्गुलि-षङ्गं त्वां भीरु-ष्ठानादिहा ऽऽगतम् ॥

खादिष्याम' इति प्रोचुर् नयन्तो मारुतिं द्विषः. ॥ ७८ ॥

गतमित्यादि—अङ्गुलीनां सङ्गः अङ्गुलिषङ्गः । तं गतं प्राप्तं हस्तप्राप्तमित्यर्थः । '१०१९। समासेऽङ्गुले सङ्गः ।८।३।८०।' इति षत्वम् । भीरोः कातरस्य यत् स्थानं तस्माद्भीरुष्ठानादिहागतम् । '१०२०। भीरोः स्थानम् ।८।३।८१।' इति षत्वम् । खादिष्याम इति प्रोचुः । द्विषो राक्षसा मारुतिं नयन्तो नेष्यन्तः । वर्तमानसामीप्ये भविष्यति लट् ॥

२४८ भट्टिकाव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

७५२—अग्निष्टोमादि-संस्थेषु ज्योतिष्टोमाऽऽदिषु द्विजान् ॥

यो ऽरक्षीत्, तस्य दूतो ऽयं मानुषस्येति चाऽवदन्. ७९
अग्नीत्यादि—अग्निष्टोमादिसंस्थेषु सदृशेषु ज्योतिष्टोमादिषु यो द्विजानरक्षीत्
तस्य मानुषस्यायं दूत इति चावदन् नयन्तो द्विषः । '९२४। अग्नेः स्तुत-स्तोम-
सोमाः । ८।३।८२।' । '१०२१। ज्योतिरायुषः स्तोमः । ८।२।८३।' इत षत्वम् ।

७५३—'नासां मातृ-ष्वसेय्याश् च रावणस्य लुलाव यः, ॥

मातुः स्वसुश् च तनयान् खराऽऽदीन् विजघान यः ॥

नासामित्यादि—रावणस्य या मातुः स्वसा भगिनी सा मातृष्वसा । '९८४।
मातृ-पितृभ्याम्-८।३।८४।' इति षत्वम् । तस्या अपत्यं मातृष्वसेयी '११४०।
मातृष्वसुश्च । ४।१।१३४।' इति ठगन्तलोपौ । तस्या यो नासां लुलाव । मातुः
स्वसुश्च तनयान् खरादीन्विजघान । '९८३। मातुःपितृभ्यामन्यतरस्याम् । ८।३।८५।' इति षत्वाभावपक्षे '९८२। विभाषा स्वसृपत्योः । ६।३।२४।' इति षष्ठ्या अलुक् ॥

७५४—प्रादुःषन्ति न संत्रासा यस्य रक्षः-समागमे, ॥

तस्य क्षत्रिय-दुःषूतेरयं प्रणिधिरागतः. ॥ ८१ ॥

प्रादुरित्यादि—यस्य रक्षःसमागमे संत्रासाः भयानि न प्रादुःषन्ति न
प्रादुर्भवन्ति । '२४७२। उपसर्गप्रादुर्भ्याम्-८।३।८७।' इत्यादिना दुःशब्दादुत्तर-
स्यास्तिसकारस्य '२४६९। असोरल्लोपः । ६।४।१११।' इत्यल्लोपे कृते षत्वम् ।
प्रादुःसकारस्य च घृत्वम् । तस्य क्षत्रियदुःषूतेः दुष्पुत्रस्यायं प्रणिधिरागत इति
चावदन् नयन्तः । सूयत इति सूतिः । दुर्निन्दायामिति सूतेः सकारस्य '२४७७।
सु-वि-निर्-दुर्भ्यः-८।३।८८।' इति षत्वम् ॥

७५५—दृष्ट्वा सु-षुप्तं राजेन्द्रं पापो ऽयं विषमाऽशयः ॥

चार-कर्मणि निष्णातः प्रविष्टः प्रमदा-वनम्. ॥ ८२ ॥

दृष्टेत्यादि—राजेन्द्रं रावणं दृष्ट्वा प्रमदावनं प्रविष्टः । सुषुप्तं गाढनिद्रम् ।
'२४०९। वचि-८।१।१५।' इत्यादिना सम्प्रसारणम् । पापोऽयं विषमाशयः ।
'२४७७। सुपि-८।३।८९।' इत्यादिना षत्वम् । चारकर्मणि निष्णातः कुशलः ।
'३०८२। नि-नङीभ्यां स्नातेः कौशले । ८।३।८९।' इति षत्वम् ॥

कुलकम् ८३-८७-

७५६—सुप्रतिष्णात-सूत्राणां कपिष्ठल-सम-त्विषाम् ॥

स्थितां वृत्ते द्विजातीनां रात्रावैक्षत मैथिलीम् ॥ ८३ ॥

सुप्रतीत्यादि—येषां द्विजातीनां सुप्रतिष्णातानि ग्रन्थतोऽर्थतश्च निश्चिता-
नि सूत्राणि तेषां सुप्रतिष्णातसूत्राणाम् । '३०८३। सूत्रं प्रतिष्णातम् । ८।३।९०।' इति निपातनम् । कपिष्ठलसमत्विषां कपिष्ठलो नाम द्विजर्षभो गोत्रप्रवर्तकः ।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'मारुतिसंयमो' नाम नवमः सर्गः— २४९

'३०८४। कपिष्ठलो गोत्रे । ८।३।९१।' इति साधुः । तत्तुल्यतेजसां द्विजातीनां वृत्ते चरिते स्थितां मैथिलीं [रात्रौ] ऐक्षत ॥

कीदृशीमित्याह—

७५७—सर्व-नारी-गुणैः प्रष्टां विष्टर-स्थां गवि-ष्ठिराम् ॥

शयानां कु-ष्ठले तारां दिवि-ष्ठार्मिव निर्-मलाम् ॥ ८४ ॥

सर्वेत्यादि—यावन्तो नारीगुणाः तैः प्रष्टां अग्रगामिनीम् । '२१९७। प्रष्टो-ऽग्रगामिनि । ८।३।९२।' इति साधुः । विष्टरस्थामासनस्थाम् । '३२३३। वृक्षास-नयोर्विष्टरः । ८।३।९३।' इति साधुः । गविष्ठिरां वाचि स्थिराम् । '९६७। गवि-युधिष्ठ्याम्—८।३।९५।' इति षत्वम् । अस्मादेव वचनात् सप्तम्या अलुक् । कुष्ठले शयानां कोः स्थले भूतले शुद्धे । '३०९५। मिकु-शमि—८।३।९६।' इत्यादीना षत्वम् । दिविष्ठं दिवि तिष्ठतीति '२९१६। सुपि स्थः । ३।२।४।' इति कः । '९७२। तत्पुरुषे कृति बहुलम् । ६।३।१४।' इति सप्तम्या अलुक् । गगनस्थां तारामिव निर्मलाम् । '२९१८। अम्बाम्ब—८।३।९७।' इत्यादिना षत्वम् ॥

७५८—सु-षास्त्रीं सर्व-तेजस्सु तन्वीं ज्योतिष्टमां शुभाम् ॥

निष्टपन्तीमित्रा ऽऽत्मानं ज्योतिःसात्-कुर्वतीं वनम् ८५

सुषास्त्रीमित्यादि—शोभनं साम यस्या इति विगृह्य '४६२। अन उपधा-लोपिनोऽन्यतरस्थाम् । ४।१।२८।' इति ङीप् । '१०२२। सुषामादिषु च । ८।३।९८।' इति षत्वम् । सुष्ठु प्रियंवदामित्यर्थः । तन्वीं कृशाम् । शुभां कल्याणीम् । सर्वतेजस्सु ज्योतिष्टमां अतिशयेन ज्योतिष्मतीम् । '१३२५। ह्रस्वात्तादौ तद्धिते । ८।३।१०१।' इति षत्वम् । एवं च कृत्वा निष्टपन्तीमित्रात्मानं सकृज्ज्वलयन्ती-मित्रात्मानम् । '२४०३। निसस्तपतावनासेवने । ८।३।१०२।' इति षत्वम् । वनं ज्योतिःसात्कुर्वतीं अज्योतिर्ज्योतिः कुर्वाणाम् । कार्त्तर्येन दीपवतीमित्यर्थः । कार्त्तर्ये सातिप्रत्ययः । तत्र '४३४। नुम्-विसर्जनीय—८।३।५८।' इत्यादिना प्राप्तस्य षत्वस्य '२१२३। सात्-पदाद्योः । ८।३।१११।' इति प्रतिषेधः । युष्मदि-त्यादि नोदाहृतं छान्दसत्वात् ॥

७५९—मधुसाद्-भूत-किञ्जल्क-पिञ्जर-भ्रमराऽऽकुलाम् ॥

उल्लसत्-कुसुमां पुण्यां हेम-रत्न-लतामिव ॥ ८६ ॥

मध्वित्यादि—मधुसाद्भूतकिञ्जल्कं कार्त्तर्येन मधुतामापन्नं यत्किञ्जल्कं पुष्पकेसरं तन्मधुसाद्भूतकिञ्जल्कम् । '२१२। आदेश-प्रत्यययोः । ८।३।५९।' इति प्राप्तस्य पूर्ववत्प्रतिषेधः । तेन पिञ्जराः पिङ्गलाः ये भ्रमराः तैराकुलाम् । उल्लसत्-कुसुमां चलत्पुष्पाम् हेमरत्नलतामिव । यथा हेमरत्नमयीं कल्पतरुलतां पुण्यां पवित्रां तद्वत्तामपीत्यर्थः ॥

७६०—विलोचनाऽम्बु मुञ्चन्तीं कुर्वाणां परि-सेसिचाम् ॥

हृदयस्यैव शोकाऽग्नि-संतप्तस्योत्तम-व्रताम् ॥ ८७ ॥

२५० भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

विलोचनेत्यादि—विलोचनाम्बु अश्रु मुञ्चन्तीं विक्षिपन्तीम् । हृदयस्य शोकाग्निस्तप्तस्य परिसेसिचाम् शृशं निर्वाणमिव कुर्वाणामैक्षतेति पूर्वेण संबन्धः । सिचेर्यङन्तात् स्त्रीलिङ्गे भावे अकारप्रत्ययः । '२२७०। उपसर्गात् । ८।३।६५।' इत्यादिना अभ्यासव्यवायेऽपि प्राप्तस्य षत्वस्य '२६४०। सिचो यङि । ८।३।११२। इति प्रतिषेधः । उत्तमव्रतां पतिव्रतां पतिव्रतात्वात् ॥

७६१—दृष्ट्वा तामभनग् वृक्षान् द्विषो घ्नन् परिसेधतः ॥

परितस् तान् विचिक्षेप कुद्रः स्वयमिवा ऽनिलः ८८

दृष्टेत्यादि—तां दृष्ट्वा वृक्षानभनक् चूर्णितवान् । द्विषः शत्रून् परिसेधतः आगच्छतः घ्नन् हिंसन् । पूर्ववत्प्राप्तस्य '२२७८। सेधतेर्गौ । ८।३।११३।' इति प्रतिषेधः । परितश्च समन्तादुद्विचिक्षेप उन्मूलितवान् । लिटः संयोगाद्विवाद-क्त्वे गुणः । कुद्रः स्वयमिव साक्षादिवानिलः ॥

७६२—अ-प्रतिस्तब्ध-विक्रान्तम-निस्तब्धो महाऽऽहवे, ॥

विसोढवन्तमस्त्राणि व्यतस्तम्भद् घन-ध्वनिः' ॥ ८९ ॥

अप्रतीत्यादि—घनध्वनिर्मेघनादः अनिस्तब्धोऽनभिभूतः अप्रतिस्तब्धवि-क्रान्तं अनभिभूतविक्रमं कपिम् । '२२७२। स्तम्भेः । ८।३।६७।' इति प्राप्तस्य षत्वस्य '३०२७। प्रतिस्तब्ध-निस्तब्धौ च । ८।३।११४।' इति प्रतिषेधनिपातनम् । अस्त्राणि महाहवे विसोढवन्तं '२३५८। सोढः । ८।३।११५।' इति प्रतिषेधः । व्यतस्तम्भत् निष्पादितवान् । एवं नयन्तोऽवदक्षिति योज्यम् । स्तम्भेर्ण्यन्तस्य '२५८०। स्तम्भु-सिबु-सहां चङि । ८।३।११६।' इति षत्वप्रतिषेधः ॥

७६३—ते विज्ञाया ऽभिसोष्यन्तं रक्तै रक्षांसि स-व्यथाः ॥

अन्यैरप्यायतं नेहुर् वरत्रा-शृङ्खलाऽऽदिभिः ॥ ९० ॥

त इत्यादि—ते राक्षसाः ये मारुतिं नेष्यन्तः । रक्तैः रक्षांसि विसोष्यन्तं अभिषेक्ष्यन्तं कपिम् । '२५२४। सुनोतेः स्य-सनोः । ८।३।११७।' इति [न] षत्वम् । यद्याकृष्यमाणो न नीयेत अवश्यं राक्षसान् रक्तैः सोष्यतीति विज्ञाय सव्यथाः सभयाः सन्तः अन्यैरपि वरत्राशृङ्खलादिभिरायतं दीर्घं नेहुः बध्नन्ति स्म । '१२४१। णह बन्धने' इत्यस्य लिटि रूपम् ॥

७६४—विषसादेन्द्रजिद् बुद्ध्वा बन्धे बन्धाऽन्तरक्रियाम् ॥

दिव्य-बन्धो विषहते ना ऽपरं बन्धनं यतः ॥ ९१ ॥

इति षत्वाधिकारः ।

विषसादेत्यादि—बन्धे दिव्ये बन्धान्तरक्रियां बन्धनविशेषकरणं बुद्ध्वा इन्द्रजित् विषसाद् विषादमुपगतः । नियतं दिव्यबन्धं मुक्तवानिति । यतो दिव्यबन्धो नापरं स्वयं बन्धनं विषहते । अतो विषसादेति योज्यम् । सदिसि-

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'मारुतिसंयमो' नाम नवमः सर्गः— २५१

अयोः परस्य लिटि षत्वप्रतिषेधः । पूर्वस्य तु '२२७१।सदिरप्रतेः।८।३।६६।' इति भवत्येव । विषहृत इति न प्रतिषेधः । तत्र सोद्गुरुपस्य ग्रहणात् ॥
इति मूर्धन्याधिकारः ॥

इतःप्रभृति णत्वमधिकृत्याह—

७६५—मुष्णन्तमिव तेजांसि विस्तीर्णोरस-स्थलं पुरः ।

उपसेदुर् दश-ग्रीवं गृहीत्वा राक्षसाः कपिम् ॥ ९२ ॥

मुष्णन्तमित्यादि—राक्षसाः पुरः कपिमादाय दशग्रीवमासेदुः दौकित-
वन्तः । नतु दर्शनगोचरं गताः । अप्रभातत्वात् । कीदृशम् । तेजांसि मुष्णन्तं
खण्डयन्तमिव विस्तीर्णोरःस्थलं विस्तृतवक्षसम् । तत्र '२३५।२-षाभ्यां नो णः
-।८।४।१।' इति णत्वम् ॥

७६६—बहुधा भिन्न-मर्माणो भीमाः खरणसाऽऽदयः ॥

अग्रे-वर्णं वर्तमाने प्रतीच्यां चन्द्र-मण्डले ॥ ९३ ॥

बहुधेत्यादि—वानरद्विषो राक्षसा ऊचुरिति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । कीदृशाः
किमूचुरित्याह—बहुधा भिन्नमर्माण इति । यानि कालान्तरे प्राणहराणि मर्माणि
तानि बहुधा भिन्नानि येषामिति बहुव्रीहिः । अदपवर्गसमुदायस्य व्यवधानात्
'१९७।अ-कु-प्वाङ्—।८।४।२।' इत्यादिना णत्वम् । खरणसादयः खरस्येव
नासिका यस्येति । '८५६।अञ् नासिकायाः-।५।४।११८।' इत्यञ् नसादेशश्च ।
'८५७।पूर्वपदात्संज्ञायाम्-।५।४।११८।' इति णत्वम् । खरणसादयो राक्षसाः
वनस्याग्रे अग्रेवणम् । राजदन्तादित्वात्परनिपातः । '१०३९।वनं-पुरगा-।८।४।
३।' इति णत्वम् । प्रतीच्यां दिशि यद्वनं तस्य वनस्याग्रे उपरि वर्तमाने चन्द्रम-
ण्डले प्रभातसंध्यायामित्यर्थः ॥

७६७—निर्वणं कृतमुद्यानमनेना ऽऽम्रवणाऽऽदिभिः ॥

देवदारु-वनामिश्रै रित्यूचुर् वानर-द्विषः ॥ ९४ ॥

निर्वणमित्यादि—उद्यानं संनिवेशविशेषः निर्वणं वृक्षरहितं अनेन कपिना
कृतम् । आम्रवणादिमिरुपलक्षितम् । उभयत्रापि '१०५०।प्रनिरन्तः-।८।४।५।' इति
णत्वम् । देवदारुवनामिश्रैः '१०५१।विभाषौषधि-।८।४।६।' इत्यादिना
णत्वं न भवति । 'व्यक्षर-त्र्यक्षरेभ्य इति वक्तव्यम्' इति वचनात् । इत्येवमूचुः ॥

७६८—उपास्थिषत संप्रीताः पूर्वाह्णे रोष-वाहणम् ॥

राक्षसाः कपिमादाय पतिं रुधिर-पायिणाम् ॥ ९५ ॥

उपेत्यादि—ते राक्षसाः पतिमुपास्थिषत उपागताः । दृष्टिपथं गता इत्यर्थः ।
'उपादेवपूजा-' इत्यादिना संगतिकरणे तद्ध । '२३८९।स्था-त्वोरिच्च।१।२।१७।' संप्रीताः
हृष्टाः तेषामनुज्ञातप्रवेशत्वात् । पूर्वाह्णे प्रत्यूषसि । '७९१।अहो-
ऽदन्तात्।८।४।७।' इति णत्वम् । रोषवाहणं कपिमादाय । रोषस्यासनीकृतम् ।

२५२ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

‘१०५२। वाहनमाहितात् । ८।१।८।’ इति णत्वम् । रोषस्य तत्राधीयमानत्वात् ।
यतिं रुधिरपायिणां राक्षसानाम् । ‘१०५३। पानं देशे । ८।१।९।’ इति णत्वम् ॥

७६९—सुरा-पाण-परिक्षीबं रिपु-दर्प-हरोदयम् ॥

पर-स्त्री-वाहिनं प्रापुः साऽऽविष्कारं सुरा-पिणः. ९६

सुरेत्यादि—सुरापाणात्परिक्षीबं मत्तं रावणम् । ‘१०५४। वा भाव-करण-
योः । ८।१।१०।’ इति णत्वम् । रिपुदर्पहर उदयो वृद्धिर्यस्य तम् । परस्त्रियं वाह-
यितुमुपभोक्तुं शीलं यस्य तं परस्त्रीवाहिनम् । ‘१०५५। प्रातिपदिकान्त-८।१।-
११।’ इति णत्वाभावः पाक्षिकः । प्रापुः सुष्ठु निकटीकृताः । साविष्काराः साहं-
काराः । सुरापिणः सुरापैर्युक्ताः । सुरां पिबन्तीति ‘२९२२। गापोष्टक १३।२।८।’
ते येषां सन्तीति मत्वर्थीयः । ‘३०७। एकाजुत्तरपदे णः । ८।१।१२।’ इति णत्वम् ।
उत्तरस्य प्रातिपदिकान्तस्यैकाच्चात् ॥

७७०—संघर्ष-योगिणः पादौ प्रणेमुस् त्रिदश-द्विषः ॥

ग्रहिण्वन्तो हनूमन्तं प्रमीणन्तं द्विषन्-मतीः. ॥९७॥

समित्यादि—संघर्षयोगिणः स्पर्धायोगिनः । ‘१०५६। कुमति च । ८।१।१३।’
इति णत्वम् । ते अन्योन्याभिभवेच्छया त्रिदशद्विषो रावणस्य पादौ प्रणेमुः ।
‘२२८७। उपसर्गादसमासेऽपि-८।१।१४।’ इति णत्वम् । हनूमन्तं ग्रहिण्वन्तः
दौक्यन्तः । द्विषन्मतीः शत्रुबुद्धीः प्रमीणन्तं अभिभवन्तम् । ‘१५७१। मीञ्
हिंसायाम् ।’ क्रैयादिकः । ‘२५३०। हिनु मीना । ८।१।१५।’ इति णत्वम् ॥

७७१—‘प्रवपाणि शिरो भूमौ वानरस्य वनच्छिदः ॥’

आमन्त्रयत संक्रुद्धः समितिं रक्षसां पतिः. ॥ ९८ ॥

प्रवपाणीत्यादि—अस्य वानरस्य वनच्छिदः शिरो भूमौ प्रवपाणि छित्त्वा
पातयामि । ‘२२३१। आनि लोट् । ८।१।१६।’ इति णत्वम् । वपिरत्र पातने
वर्तते । संक्रुद्धः रक्षसां पतिः स्वामी समितिं समूहं आमन्त्रयत भाषितवान् ॥

७७२—प्रण्यगादीत् प्रणिघ्नन्तं घनः प्रणिनदन्निव ॥

ततः प्रणिहितः स्वार्थे राक्षसेन्द्रं विभीषणः. ॥९९॥

प्रण्यगादीदित्यादि—तत उत्तरकालं विभीषणो राक्षसेन्द्रं प्रणिघ्नन्तं
हन्यमानभमाणं प्रण्यगादीत् वक्तुं प्रवृत्तः । घन इव प्रणिनदन् गर्जन् । स्वार्थे ।
राक्षसेन्द्रस्य प्रणिहितोऽवहितमनाः । सर्वत्र ‘२२८५। नेर्गद-८।१।१७।’
इति णत्वम् ॥

७७३—प्रणिशाम्य दश-ग्रीव !, प्रणियातुर्मलं रुषम्, ॥

प्रणिजानीहि, हन्यन्ते दूता दोषे न सत्यपि. ॥१००॥

प्रणिशाम्येत्यादि—हे दशग्रीव ! प्रणिशाम्य रोषं त्यज । लोटि इयति
रूपम् । ‘२५१९। शमामष्टानाम्-१७।२।७४।’ इति दीर्घः । रुषं प्रणियातुर्मलं न

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'मारुतिसंयमो' नाम नवमः सर्गः— २५३

किञ्चित् । पूर्ववर्णत्वम् । प्रणिजानीहि अवगच्छ । सत्यपि दोषे न हन्यन्ते दूता इति । जानातेः शेषधातोरुपदेशावस्थायां अकस्माद्यथान्तत्वात् । '२२३२। शेषे विभाषा-॥८।४।१८। इत्यादिना णत्वम् ॥

७७४-प्राणयन्तमरिं प्रोचे

राक्षसेन्द्रो विभीषणम् ॥

'प्राणिणिषुर् न पापो ऽयं,

यो ऽभाङ्क्षीत् प्रमदा-वनम् ॥ १०१ ॥

प्राणयन्तमित्यादि—अरिं कपिं यः प्राणयति जीवयति तं प्राणयन्तं विभीषणम् । '११४३। श्वस प्राणने ।' '११४४। अन च' इत्यस्य रूपम् । '२४७८। अनितेः ।८।४।१९।' इति णत्वम् । प्रोचे राक्षसेन्द्रः । न प्राणिणिषुः न जीविषुः मिच्छुरयं पापः । '२६०६। उभौ साम्यासस्य ।८।४।२१।' इति णत्वं द्वयोरपि । योऽभाङ्क्षीत् भगवान् प्रमदावनम् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः ॥

७७५-प्राधानिषत रक्षांसि येना ऽऽप्तानि वने मम, ॥

न ग्रहणमः कथं पापं वद पूर्वाऽपकारिणम् ॥ १०२ ॥

प्राधानिषतेत्यादि—मम आप्तानि अक्षप्रभृतीनि येन वने प्राधानिषत मारितानि । कर्मणि लुङ् । चिण्वदिट् । '३५८। हो हन्तेः-॥७।३।५४।' इति घत्वम् । तपरपरिच्छिन्नाकारपूर्वस्य नकारस्य 'हन्तेरत्पूर्वस्य' इति णत्वं न भवति । तं पूर्वापकारिणं पापं कथं न ग्रहणमः मारयाम इति वद कथय । '२४२९। वमोर्वा ।८।४।२३।' इति णत्वम् ॥

७७६-वेश्माऽन्तर-हणनं कोपान् मम शत्रोः करिष्यतः ॥

मा कार्षीरिऽन्तर्यणं, प्रयाणाऽहर्मवेह्यमुम् ॥ १०३ ॥

वेश्मेत्यादि—शत्रोर्वेश्मान्तः गृहमध्य एव हननं कोपान्मम करिष्यतः । '३२९४। अन्तर देशे ।८।४।२४।' इति दकारस्य णत्वम् । हननस्याभावरूपस्यादे-शत्वात् । अन्तर्यणमन्तरायणं विघातं मा कार्षीः । '३२९५। अयनं च ।८।४।२५।' इति णत्वम् । प्रयाणार्हं दीर्घप्रस्थानार्हममुमवेहि अवगच्छ । '२८३५। कृत्यचः ।८।४।२९।' इति णत्वम् । अच उत्तरस्य नकारस्य कृत्स्थत्वात् ॥

७७७-प्रहीण-जीवितं कुर्युर् ये न शत्रुमुपस्थितम् ॥

न्याय्याया अपि ते लक्ष्म्याः कुर्वन्त्यांशु प्रहापणम् १०४

प्रहीणेत्यादि—शत्रुमुपस्थितं प्रहीणजीवितं ये न कुर्युः । जहातेः '३०१५। ओदितश्च ।८।२।४५।' इति निष्ठादेशनकारस्य पूर्ववर्णत्वम् । ते न्याय्याया अपि कुलक्रमादागताया अपि लक्ष्म्याः प्रहापणं त्याजनं आशु कुर्वन्ति । '२८३६। णेर्वि-भाषा ।८।४।३०।' इति णत्वम् ॥

२५४ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

७७८—कः कृत्वा रावणाऽऽमर्ष-प्रकोपणमवध-धीः ॥

शक्तो जगति शक्तो ऽपि कर्तुमायुः-प्रगोपणम्. ॥१०५॥

कः कृत्वेत्यादि—अवधधीः योऽबुद्धिः रावणामर्षस्य प्रकोपणमभिवृद्धिं कृत्वा आयुःप्रगोपणं कर्तुं शक्तोऽपि कः शक्तः । ‘२८३७। हलश्चेनुपधात् । ८।४।३१’ इति णत्वम् । कुपगुपयोर्हलन्तयोरिगुपधत्वात् ॥

७७९—वनाऽन्त-प्रेङ्खणः पापः फलानां परिणिंसकः ॥

प्रणिक्षिप्यति नो भूयः प्रणिन्धा ऽस्मान् मधून्ययम् ॥

वनेत्यादि—प्रेङ्खति गच्छतीति प्रपूर्वादिङ्हेः कर्तरि ल्युट् । वनान्तस्य वन-समीपस्य प्रेङ्खणः । ‘२८३८। इजादेः सनुमः । ८।४।३२।’ इति णत्वम् । फलानां परिणिंसकः भक्षयिता । ‘१०९६। णिति चुम्बने’ इत्यस्य रूपम् । अस्मान् प्रणिन्धति रस्कृत्य । भूयः पुनरप्ययं मधूनि नोऽस्माकं प्रणिक्षिप्यति भोक्षयति । ‘७०७। णिष् चुम्बने’ इत्यस्य रूपम् । ‘२८३९। वा निस-निक्ष-निन्दाम् । ८।३।३३।’ इति णत्वम् ॥

७८०—हरेः प्रगमनं नाऽस्ति, न प्रभानं हिम-द्रुहः, ॥

ना ऽति-प्रवेपनं वायोर् मया गोपायिते वने. ॥१०७॥

हरेरित्यादि—मया गोपायिते रक्षिते वने हरेरिन्द्रस्यापि चन्द्रस्य वा प्रगमनं संचारो नास्ति । हिमद्रुहः आदित्यस्य न प्रभानं न प्रकर्षेण दीप्तिः । वायोर्नातिप्रवेपनं मन्दगमनम् । तदनेन भग्नमित्यर्थात् । ‘२८३५। कृत्यचः । ८।४।२९।’ इति प्रासस्य णत्वस्य ‘२८४०। न भा-भू-पू-कमि-गमि-८।४।३४।’ इत्यादिना प्रतिषेधः ॥

७८१—दुष्पानः पुनरैतेन कपिना भृङ्ग-संभृतः ॥

प्रनष्ट-विनयेना ऽग्र्यः स्वादुः पुष्पाऽऽसवो वने. ॥१०८॥

दुष्पान इत्यादि—पुनरैतेन प्रनष्टविनयेन कपिना पुष्पासवो दुष्पानः दुःखेन पास्यत इति ‘३३०९। आतो युच् । ३।३।१२८।’ । ‘३३१०। घात्पदान्तात् । ८।४।३५।’ इति णत्वस्य प्रतिषेधः । भृङ्गसंभृतो अमरसंचितः । प्रनष्ट इति ‘२९१८। नशेः घान्तस्य । ८।४।३६।’ इति प्रतिषेधः । अग्र्यः श्रेष्ठः ॥

७८२—रोष-भीम-मुखेनैवं क्षुभ्रतोके, स्रवङ्गमः ॥

प्रोचे साऽऽनुनयं वाक्यं रावणं स्वाऽर्थ-सिद्धये. ॥१०९॥

इति णत्वाऽधिकारः ।

रोषेत्यादि—रोषभीममुखेन इति ‘१०५७। पदव्यवायेऽपि । ८।३।३८।’ इति णत्वप्रतिषेधः । भीममुख इत्यनेन निमित्तनिमित्तिनोर्व्यवधानात् । ‘७९२। क्षुभ्रादिषु च । ८।४।३९।’ इति णत्वप्रतिषेधः । एवमुक्ते सति स्रवङ्गमः

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'मारुतिसंयमो' नाम नवमः सर्गः— २५५

रावणं प्रोचे वक्तुं प्रवृत्तः । वाक्यं वक्ष्यमाणं सानुनयं अनुकूलम् । किमर्थं
स्वार्थस्य सिद्धये । स्वार्थश्च सीताप्रत्यर्पणम् ॥ ॥ इति णत्वाधिकारः ॥

इतः प्रभृति प्रकीर्णकश्लोकानाह—

७८३—'दूतमैकं कपिं बद्धमानीतं वेदम पश्यतः ॥

लोक-त्रय-पतेः क्रोधः कथं तृण-लघुसु तव ॥११०॥

दूतमित्यादि—दूतं संदेशस्य हारकं एकमद्वितीयं बद्धं अस्वतन्त्रीकृतं वेदमा-
नीतं पश्यत इति सर्वमेतन्न रोषकारणम् । अतो लोकत्रयपतेस्तवायं तृणवल्लघुर-
सारः कथं कोपः ॥

७८४—अध्याहित-जन-प्रहे विजिगीषा-पराङ्मुखे ॥

कस्माद् वा नीति-निष्णस्य संरम्भसु तव तापसे ॥१११॥

अग्नीत्यादि—अध्याहितजनप्रहे आहिताग्नौ जने प्रवणे । वाहिताध्यादिषु
पूर्वनिपातः । तस्मिन् विजिगीषापराङ्मुखे त्यक्तराज्यत्वात् तापसे रामे । '१९०९।
तपःसहस्राभ्यां विनीनी । ५।२।१०२।' । '१९१० । अण् च । ५।२।१०३।' इत्यण् ।
नीतिनिष्णस्य तव । नीतौ पटुप्रज्ञस्य कस्माद्धेतोः संरम्भः रोषः ॥

७८५—न सर्व-रात्र-कल्याण्यः स्त्रियो वा रत्न-भूमयः ॥

यं विनिर्जित्य लभ्यन्ते, कः कुर्यात् तेन विग्रहम् ॥११२॥

नेत्यादि—यं विनिर्जित्य सर्वरात्रं कल्याण्यः स्त्रियो न लभ्यन्ते । सर्वाश्च ता
रात्रयश्चेति '७२६। पूर्वकाल-१२।१।४९।' इति सः । '७८७। अहःसर्व-५।४।८७।'
इत्यादिना अच् । सर्वरात्रं कल्याण्य इति सः । न रत्नभूमयः रत्नाकराः रत्नानि
भूमयश्चेति सः । कः तेन सह विग्रहं कुर्यात् सन्धिरेव युक्तः ॥

तदेव दर्शयन्नाह—

७८६—संगच्छ राम-सुग्रीवौ भुवनस्य समृद्धये ॥

रत्न-पूर्णाविवा ऽम्भोधी हिमवान् पूर्व-पश्चिमौ ॥११३॥

संगच्छेत्यादि—यथा रत्नपूर्णावम्भोनिधी पूर्वपश्चिमौ भुवनस्य समृद्धये
हिमवान् संगतवान् तथा त्वमपि रामसुग्रीवौ भुवनस्य समृद्धये संगच्छ संगतिं
कुरु । सकर्मकत्वात् '२६९९। समो गमि-१।३।२९। इति तद्ध न भवति ॥

तच्च संततं परदारार्पणेनैवेति दर्शयन्नाह—

७८७—सुहृदौ राम-सुग्रीवौ, किंकराः कपि-यूथ-पाः, ॥

पर-दाराऽर्पणेनैव लभ्यन्ते, मुञ्च मैथिलीम् ॥११४॥

सुहृदवित्यादि—रामसुग्रीवौ सुहृदौ लभ्येते । '८८८। सुहृद्दुर्हृदौ मित्रा-
मित्रयोः-५।४।१५०।' इति निपातनम् । तन्प्रीतिलाभात् किङ्करा लभ्यन्ते । किं

२५६ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

कुर्वन्तीति '२९३५। दिवा-विभा-॥३१।२१।' इति टः । कपि-यूथपा नीलप्रभृ-
तयः । तस्मान्मुञ्च मैथिलीमिति ॥

किंच सीताप्रत्यर्पणात् पुरुषार्थप्राप्तिरिति दर्शयन्नाह—

७८८—धर्मं प्रत्यर्पयन् सीतामर्थं रामेण मित्रताम् ॥

कामं विश्वास-वासेन सीतां दत्त्वा ऽऽमुहि त्रयम्. ११५

धर्ममित्यादि—सीतां प्रत्यर्पयन् धर्मम् । अधर्मविरतेः अर्थम् । रामेण
मित्रताम् । सर्वलाभानामर्थसंपन्नमित्रलाभस्य महत्त्वात् । विश्वासवासेन रामवि-
श्वासपूर्वकेणावस्थानेन कामम् । अतः सीतां दत्त्वा आमुहि लभस्व । त्रयं त्रिवर्गं
त्रयोऽवयवा अख्येति । '१८४४। द्वि-त्रिभ्यां तयस्यायज्वा । ५।२।४३।' ॥

रिपुरेवास्तु किं तेन मित्रीकृतेन, न वासौ शक्तोऽपकर्तुमिति चेदाह—

७८९—विराध-ताडका-वालि-कबन्ध-खर-दूषणैः ॥

न च न ज्ञापितो यादृङ् मारीचेना ऽपि ते रिपुः ॥११६॥

विराधेत्यादि—यादृगसौ रिपुः तादृग्विराधादिभिः न च न ज्ञापितः तव ।
अपि तु ज्ञापित एवेत्यर्थः । तस्मात्तेन सह मैत्री युक्ता न विग्रह इति भावः ।
यादृगिति '४२९ । त्यदादिषु द्वाः-॥३१।२।६०।' इति किन् । '४३०। आ
सर्वनाम्नः । ६।३।९१।' ॥

खरादीन् व्यापादयता तेनैव वैरकारणमाचरितं न मयेति चेदाह—

७९०—खराऽऽदि-निधनं चा ऽपि मा मंस्था वैर-कारणम्, ॥

आत्मानं रक्षितुं यस्मात् कृतं तन् न जिगीषया'. ११७

खरेत्यादि—खरादिनिधनं चापि वैरकारणं मा मंस्थाः मा ज्ञासीः । लुङि
रूपम् । यस्मादात्मानं संरक्षितुम् तत् खरादिनिधनं कृतं, न तु जिगीषया
विजेतुमिच्छया ॥

७९१—ततः क्रोधाऽनिलाऽऽपात-

कम्प्राऽऽस्याऽम्भोज-संहतिः ॥

महा-हृद इव क्षुभ्यन्

कपिमाह स्म रावणः. ॥ ११८ ॥

तत इत्यादि—ततः कपिवाक्यानन्तरं क्रोधोऽनिल इव तस्यापातेन संश्लेषेण
कम्प्रा कम्पनशीला आस्याम्भोजानां मुखपद्मानां संहतिर्यस्य स एव महाहृद इव
क्षुभ्यन् चलन् । दिवादित्वाच्छयन् ॥

७९२—'हत-राक्षस-योधस्य विरुग्णोद्यान-शाखिनः ॥

दूतो ऽस्मीति ब्रुवाणस्य किं? दूत-सदृशं तव. ॥११९॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'माहृतिसंयमो' नाम नवमः सर्गः— २५७

हतेत्यादि—हताः राक्षसयोधाः अक्षप्रभृतयो येन । विरुणा भग्नाः ।
'३०११। ओदितश्च । ८। २। ४५।' इति निष्ठानत्वम् । उद्यानशाखिनो येन । तस्यैवंवि-
धस्य तव दूतो ऽस्मीति ब्रुवाणस्य किं दूतसदृशम् ? । संदेशमात्रस्य प्रापका हि
दूता इति भावः ॥

अङ्ग्याहितजनग्रहे तापसे कस्मात्संरम्भ इत्याह—

७९३—पङ्गु-बाल-स्त्रियो निघ्नन् कवन्ध-खर-ताडकाः ॥

तपस्वी यदि काकुत्स्थः, कीदृक् ? कथय पातकी. १२०

पङ्गुबालेत्यादि—पङ्गुमङ्गविकलं कवन्धं, बालं खरं, स्त्रियं ताडकां निघ्नन्
व्यापादयन् यदि तपस्वी काकुत्स्थः, कीदृक् पातकीति कथय । '१०१८। इदं-
किमोरीश की । ६। ३। ९०।' ॥

यदुक्तं 'यं विनिर्जित्य स्त्रियो रत्नभूमयश्च न लभ्यन्ते' इत्याह—

७९४—अभिमान-फलं जानन् महत्त्वं कथमुक्तवान् ॥

रत्नाऽऽदि-लाभ-शून्य-त्वान् निष्फलं राम-विग्रहम् १२१

अभीत्यादि—अभिमानः फलं यस्य महत्त्वस्य तज्जानन् रत्नादिलाभशून्यं
रामविग्रहं कथं निष्फलमुक्तवानसि ? । विग्रहे सति अभिमानफलं महत्त्वं स्यात् ॥

'सीतां प्रत्यर्पयन् धर्ममाप्नुहि' इत्येतदप्ययुक्तमित्याह—

७९५—पर-स्त्री-भोग-हरणं धर्म एव नराऽशिनाम्, ॥

मुखमस्तीत्यभाषिष्ठाः, का ? मे साऽऽशङ्कता त्वयि. १२२

परेत्यादि—परस्त्रीणां हरणं परेषां भोगहरणं च द्वयमपि नराशिनां धर्म
एव आचार एव । अतो मुखमस्तीत्यभाषिष्ठाः अभिहितवानसीति सीतां प्रत्यर्प-
यन् धर्ममाप्नुहीति । लुङि रूपम् । भयात् प्रत्यर्पयसि चेदाह—का मे साशङ्कता
त्वयीति त्रैलोक्यविजयित्वात् । त्वयीति हनूमद्यपदेशेन रामं सूचयति ॥

'संगच्छ रामसुग्रीवौ' इत्येतदपि न घटत इत्याह—

७९६—ब्रूहि दूर-विभिन्नानामृद्धि-शील-क्रियाऽन्वयैः ॥

हनूमन् ! कीदृशं सख्यं ? नर-वानर-रक्षसाम्. ॥ १२३ ॥

ब्रूहीत्यादि—ऋद्ध्या विभूत्या, शीलेन स्वभावेन, क्रियया अनुष्ठानेन,
अन्वयेन कुलेन दूरविभिन्नानां नरादीनां कीदृशं सख्यमिति ? हे हनूमन् !
त्वमेव ब्रूहि ॥

'विराधादिभिर्ज्ञापितोऽसि यादगारिः' (७८९) इत्यत्रोत्तरमाह—

७९७—एको द्वाभ्यां विराधस् तु जिताभ्यार्म-विवक्षितः ॥

हतश्छलेन मूढोऽयं, तेनाऽपि तव कः स्मयः ? १२४

२५८ भट्टि-काव्ये—द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

एक इत्यादि—एकेनापि विराधेन प्रथमं द्वावपि जितौ ताभ्यां पश्चाद्धतः । तत्रापि न प्रकाशं अपि तु छलेन । यतो ऽसौ मूढोऽल्पबुद्धिः । तथाप्यविवक्षितः शौर्याच्च प्रतीतः । तेनापि हतेन तव विस्मयो जातः ॥

७९८—मन्-नियोगाच्च च मारीचः पलायन-परायणः ॥

युयुत्सा-रहितो रामं ममारा ऽपहरन् वने ॥ १२५ ॥

मन्त्रियोगादित्यादि—मारीचस्तु यतो राममपहरन् ममार । मन्त्रियोगा-दादेशात् । पलायनपरायणः अपसर्पणनिष्ठः सन् । पलायनपरायण इति परस्य नामरूपत्वादनुपसर्गत्वाच्च लत्वम् । युयुत्सारहितः योद्धुमिच्छारहितः । मन्त्रियो-गादिति '१३७३। प्रत्ययोत्तरपदयोश्च । ७।२।९८।' इति अस्मदो मदादेशः ॥

७९९—निजघाना ऽन्य-संसक्तं सत्यं रामो लता-मृगम् ॥

त्वमेव ब्रूहि संचिन्त्य, युक्तं तन् महतां यदि ॥ १२६ ॥

निजघानेत्यादि—रामो लतामृगं वानरं वालिनं निजघानेति सत्यमेतत् । किंतु अन्यसंयुक्तं सुग्रीवेण सह युध्यमानं हतवान् । तच्च त्वमेव संचिन्त्य ब्रूहि युक्तं तन्महतां यदि ॥

८००—पुंसा भक्ष्येण बन्धूनामात्मानं रक्षितुं वधः ॥

क्षमिष्यते दशाऽऽस्येन, क-त्येयं तव दुर्-मतिः ॥ १२७ ॥

पुंसेत्यादि—आत्मानं रक्षितुं पुंसा भक्ष्येण भक्षणाहेण । सतां बन्धूनां खरदूषणादीनां वधो दशास्येन क्षमिष्यते सहिष्यते कत्येयं कभवेयं तव दुर्मति-र्दुष्टबुद्धिः । कशब्दात् '१३२४। अव्ययात्त्यप् । ४।२।१०४।' 'अमेह क-त-सि-त्रेभ्यः' इति परिगणनात् ॥

इदानीं कपिर्दशाननोक्तं दूषयन्नाह—

८०१—कपिर् जगाद—'दूतो ऽहमुपायं तव दर्शने ॥

द्रुम-राक्षस-विध्वंसमकार्षं बुद्धि-पूर्वकम् ॥ २२८ ॥

कपिरित्यादि—तव दर्शने अन्य उपायो नास्तीति बुद्धिपूर्वकं निरूप्य द्रुम-भङ्गं राक्षसविनाशं च उपायमकार्षं कृतवानस्मीति कपिर्जगाद । अन्यथा दूतो-ऽहमागत इति मदावलिसः को मां गणयेत् ? । अतः सदृशमेव मया कृतमिति ॥

८०२—आ-त्रिकूटमकार्षुर् ये त्वत्-का निर्-जङ्गमं जगत्, ॥

दशग्रीव ! कथं ब्रूषे ? तान-वध्यान् मही-पतेः ॥ १२९ ॥

आत्रीत्यादि—हे दशग्रीव ! ये त्वत्काः त्वद्ग्रामणीकाः कबन्धादयः । '१८७८। स एषां ग्रामणीः । ५।२।७८।' इति कन् । आ त्रिकूटं त्रिकूटपर्वतमभिव्याप्य जगत् निर्जङ्गमं निर्जन्तुकमकार्षुः । तान् महीपतेः रामस्य कथमवध्यान् ब्रूषे ? । अशिष्टनिग्रहो हि महीपतेर्धर्मः । जङ्गम इति गमेर्यङ्लुगन्तस्यापि रूपम् ॥

८०३—अभिमान-फलं प्रोक्तं यत् त्वया राम-विग्रहे, ॥

विनेशुस् तेन शत-शः कुलान्यसुर-रक्षसाम्. ॥१३०॥

अभीत्यादि—'मा भूद्रामविग्रहे रत्नादिलाभः अभिमानफलं महत्त्वमस्ति' इति यश्वया प्रोक्तं तेन निमित्तेन शतशोऽनेकशः असुररक्षसां कुलानि विनेशुः विनष्टानि ॥

८०४—यत् स्व-धर्म-धर्मं त्वं दुर-वलं प्रत्यपद्यथाः ॥

रिपौ रामे च निः-शङ्को, नैतत् क्षेमंकरं चिरम् ॥१३१॥

यत्स्वेत्यादि—यद्धर्मं परस्त्रीभोगहरणं दुर्वलं असारं अश्रेयसां आवाहक-त्वात् । स्वधर्ममात्मीयमाचारं त्वं प्रत्यपद्यथाः प्रतिपन्नवानसि 'स्वधर्म एव नश-शिनाम्' इति । लङि श्यनि रूपम् । यच्च रिपौ रामे निःशङ्कः निर्भयः विहरसि 'का मे साशङ्कता त्वयि' इति । तदेतदुभयमपि न चिरं क्षेमंकरं कल्याणकरम् । '२९६१। क्षेम-प्रिय-मद्रे ऽण्च । ३। २। ४४।' इति खच् ॥

८०५—अन्वयाऽऽदि-विभिन्नानां यथा सख्यमनीप्सितम् ॥

नैषीर्, विरोधमप्येवं सार्धं पुरुष-वानरैः. ॥ १३२ ॥

अन्वयेत्यादि—यथा नरादीनां अन्वयादिभिर्दूरविभिन्नत्वात् सख्यमनीप्सितं आप्तुमनिष्टं, एवं पुरुषवानरैः सार्धं विग्रहमपि नैषीः नेष्टवानसि ॥

८०६—विराधं तपसां विघ्नं जघान विजितो यदि ॥

वरो धनुर्-भृतां रामः, स कथं न विवक्षितः? १३३

विराधमित्यादि—तपसां विघ्नं विराधम् । विहन्यतेऽस्मिन्निति 'घञर्थे क्वविधानम्' इति कः । तादृक्कलेनापि हन्तुं न दोषायेति दर्शयति—धनुर्भृतां वरः श्रेष्ठः सन् विजितोऽभिभूतोऽपि, रामो यदि जघान स कथं न विवक्षितः? । यतो राममप्यसौ जितवान् ॥

८०७—प्रणश्यन्नपि ना ऽशक्नोदत्येतुं बाण-गोचरम् ॥

त्वयैवोक्तं महा-मायो मारीचो राम-हस्तिनः. ॥१३४॥

प्रणश्यन्नित्यादि—मारीचः प्रणश्यन्नपि पलायनपरो ऽपि सन् महामायः कनकमृगरूपधारित्वात् । रामहस्तिनः रामो हस्तीव तस्य बाणगोचरं बाणपदवीं अत्येतुं अतिक्रमितुं नाशक्नोत् न शक्तवानिति त्वयैवोक्तं ममारेत्यभिदधता, न मया । यदि शक्नोति अतिक्रमितुं न ममार ॥

८०८—अन्याऽऽसक्तस्य यद् वीर्यं न त्वं स्मरसि वालिनः ॥

मूर्च्छा-वान् नमतः संध्यां ध्रुवं तद् बाहु-पीडितः. १३५

अन्येत्यादि—संध्यां देवतां नमतः अन्यासक्तस्य वालिनो यद्वीर्यं सामर्थ्यं

२६० भट्टिकाव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

तत् ध्रुवमवश्यं त्वं न स्मरसि न चेतयसि । कुतः बाहुपीडितः सन् मूर्च्छावान्
जातः । अत एव न स्मरसि येनैवमुक्तवानसि 'निजवानान्यसंसक्तम्' इति ॥

८०९—अ-सद्-बन्धु-वधोपज्ञं विमुञ्च बलि-विग्रहम्, ॥

सीतामर्पय नन्तव्ये कोश-दण्डाऽऽत्म-भूमिभिः. १३६

असदित्यादि—यतो बलवत्त्वोऽपि बलीयान् रामः तस्माद्वलिना रामेण
सह विग्रहं मुञ्च त्यज । कीदृशम् । बन्धुवधोपज्ञं प्रथमतो ज्ञातिविनाशेन विदि-
तमित्यर्थः । उपज्ञायत इत्युपज्ञा । '२८९७ इगुपध-१३।१।३५।' इति कः ।
बन्धुवधस्योपज्ञेति सः । '८२४। उपज्ञोपक्रमम्-१२।४।२१।' इति नपुंसकलिङ्गिता ।
तत्सामानाधिकरण्यादसदिति नपुंसकलिङ्गिता । नन्तव्ये प्रणामार्हे । 'कोशदण्डा-
त्मभूमिभिः सह सीतामर्पय ॥

८१०—स्फुट-परुषम-सह्यमित्थमुच्चैः

सदसि मरुत्-तनयेन भाष्यमाणः ॥

परिजनमभितो विलोक्य दाहं

दश-वदनः प्रदिदेश वानरस्य. ॥ १३७ ॥

इति भट्टिकाव्ये नवमः सर्गः ॥

इति प्रकीर्णकाः ।

स्फुटेत्यादि—इत्थं स्फुटपरुषं उक्तप्रकारेण स्फुटं स्पष्टं, परुषं रुक्षं अत
एवासह्यं सोढुमशक्यम् । उच्चैर्महता ध्वनिना सदसि सभायां मरुत्तनयेन भाष्य-
माणोऽभिहितः, इत्थमित्यनेन वस्तुनः परिसमापितत्वात् । तेन वर्तमानसामीप्य
इति लट् । परिजनमभितः उभयपार्श्वे स्थितान् भृत्यान् विलोक्य वानरस्य दाहं
प्रदिदेश आदिष्टवान् ॥

इति श्री-जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते श्री-भट्टिकाव्ये
द्वितीयेऽधिकार-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थः परिच्छेदः (वर्गः),

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'मारुतिसंयमो' नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः—

शब्दलक्षणमुक्तमपि लक्ष्यन् काव्यलक्षणार्थं प्रसन्न-काण्डसुच्यते—काव्य-
स्यात्र प्रसन्नत्वात् । प्रथमं चेदं लक्षणं यत् प्रसन्नता नाम 'अविद्वद्भनाबालप्रती-
तार्थं प्रसन्नव'दिति । शब्दलक्षणं पुनः प्रकीर्णमेव द्रष्टव्यम् । तत्रास्मिन् काण्डे
चत्वारः परिच्छेदाः । अलंकार-माधुर्यप्रदर्शन-दोषाः भाषासमावेशश्चेति । तत्रालं-

१—अपरवक्रमिदं वृत्तम् । तल्लक्षणं च—'अयुजि नन-र-ला गुरुः समे न्जमपरवक्रमिदं
ततो ज-रौ' इति वृत्तरत्नाकरे भ० के० आह.

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सीताभिज्ञानदर्शनं' नाम दशमः सर्गः— १६१

कारो द्विविधः शब्दालंकारोऽर्थालंकारश्चेति । तत्र पूर्वो द्विविधः । अनुप्रासो यमकं चेति उभयं दर्शयन्नाह—

अनुप्रासवत्—

८११—अथ स वल्क-दुकूल-कुथाऽऽदिभिः

परिगतो ज्वलदुद्धत-वालधिः ॥

उदपतद् दिवमाकुल-लोचनैर्

नृ-रिपुभिः स-भयैरभिवीक्षितः ॥ १ ॥

अथेत्यादि—अथ दाहादेशानन्तरं स वानरो वियदाकाशमुदपतत् उत्पति-
तवान् । वल्कं अंशुकम् । शुल्क-वल्को-ल्का इति निपातनम् । आदिशब्दाद्-
न्यैरपि मुञ्जादिभिः परिगतः परिवेष्टितः । ज्वलदुद्धत ऊर्ध्वीकृतो वालधिः पुच्छं
यस्य सः नृरिपुभिः राक्षसैः । सभयैराकुललोचनैरभिवीक्षितः किमयमनुष्ठास्य-
तीति । अनुप्रासवदिति अनुप्रासो यस्मिन् विद्यत इति । तस्य च लक्षणं—
'सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते' इति ॥

यमकस्यापि लक्षणम्—'तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम् । वर्णानां
यः पुनर्वादो यमकं तन्निरूप्यते ॥' इति । तदनेकविधं दर्शयन्नाह—

युक्पाद-यमकम्—

८१२—रण-पण्डितो ऽग्र्य-विबुधाऽरि-पुरे

कलहं स राम-महितः कृतवान्, ॥

ज्वलद्ग्निरावण-गृहं च बलात्

कलहंस-रामम-हितः कृतवान् ॥ २ ॥

रणेत्यादि—स कपिः वियदुत्पतितो राममहितो रामपूजितः । रणपण्डितो
युद्धकुशलः । अग्र्यविबुधारिपुरे अग्र्यो यो विबुधः इन्द्रः तस्य यो ऽरिर्देशानन-
स्तस्य पुरे लङ्कायां कलहं कृतवान् । कलहंसान् रमयतीति कलहंसरामम् । रमे-
र्ण्यन्तात्कर्मण्यण् । तादृशं रावणगृहं बलाद्वार्यमाणोऽपि ज्वलद्ग्निरावण-
वकं । कृतवान् कृतं विद्यते यस्येति कृतापेक्षीत्यर्थः । अहितः शत्रुः । युक्पाद-
यमकमिति युजोर्द्वितीयचतुर्थयोः पादयोर्यमितत्वात् ॥

पादाऽन्त-यमकम्—

८१३—निखिला ऽभवन् न स-हसा सहसा

ज्वलनेन पूः प्रभवता भवता ॥

१—द्रुतविलम्बितं वृत्तमिदम्—'द्रुतविलम्बितमाह नमौ भरौ' इति तद्वक्षणात् ।

२—इतः श्लोकद्वये प्रमिताक्षरा वृत्तम् । 'प्रमिताक्षरा स-ज-स-सैः' इत्युक्तत्वात् ।

वनिता-जनेन वियता वियता

त्रि-पुराऽऽपदं नगमिता गमिता. ॥ ३ ॥

निखिलेत्यादि—ज्वलनेनाग्निना प्रभवता वृद्धिं गच्छता भवता समुत्पद्यमानेन सहसा तत्क्षणं पूः पुरी निखिला सर्वा न सहसा अभवत् सानन्दा न जाता । हासस्यानन्दकार्यत्वात् । एवमुक्तम् । ‘३२३९। स्वनहसोर्वा । ३।३।६२।’ इत्यपि रूपम् । वनिताजनेन वियता नभसा वियता भयादितस्ततो गच्छता त्रिपुरापदं गमिता प्रापिता पूः त्रिपुरेष्वपि दह्यमानेषु भयादितस्ततो जनो गतः नगं त्रिकूटपर्वतमिता सती । पादान्तयमकमिति पादान्तेषु यमितत्वात् ॥

पादाऽऽदि-यमकम्—

८१४—सरसां सरसां परिमुच्य तनुं

पततां पततां ककुभो बहुशः ॥

स-कलैः सकलैः परितः करुणै-

रुदितै रुदितैरिव खं निचितम्. ॥ ४ ॥

सरसामित्यादि—सरसां तोयाशयानां तनुं शरीरम् । सरसां साद्रां परिमुच्य त्रासात्त्यक्त्वा पततां पक्षिणां बहुशः बहून् वारान् ककुभो दिशः पततां गच्छतां उदितैः शब्दितैः । वदेर्यजादित्वात्सम्प्रसारणम् । सकलैः समस्तैः सकलैः माधुर्यवद्भिः । कलशब्दस्य गुणमात्रवृत्तित्वान्न तद्वति वर्तते । ततश्च सहशब्देन समासो भवति । करुणैः कारुण्यजनकै रुदितैरिव क्रुन्दितैरिव परितः समन्तात् समाकाशं निचितं व्याप्तम् । पादादियमकमिति पादानामादौ यमितत्वात् ॥

पाद-मध्य-यमकम्—

८१५—न च कांचन काञ्चन-सद्म-चितिं

न कपिः शिखिना शिखिना समयौत् , ॥

न च न द्रवता द्रवता परितो

हिम-हान-कृता न कृता क्व च न. ॥ ५ ॥

न चेत्यादि—काञ्चनसद्मचितिं सौवर्णगृहसंहतिं कांचन कांचिदपि शिखिना अग्निना शिखिना ज्वालावता न कपिर्न च समयौत् न च न मिश्रितवान् । अपि तु संश्लेषं नीतवान् । यौतेर्लुङि ‘२४४३। उतो वृद्धिर्लुङि हलि । ७।३।८९।’ इति वृद्धिः । क्व च क्वचिन्नाम हिमहानकृता हिमहानस्य हिमापचयस्य कर्त्रा शिखिना । जहातेर्भावे ल्युट् । न च न द्रवता न च न विसर्पता अपि तु

१—तोटकवृत्तमिदं श्लोकद्वये नवमश्लोके च । ‘इह तोटकमम्बुधितैः प्रथितम्’ इति वृत्तरत्नाकरे तल्लक्षणात् ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सीताभिज्ञानदर्शनं' नाम दशमः सर्गः—२६३

इतस्ततो गच्छता द्रवता द्रवभावः परितः न न कृता । किंतु कृतैव । काञ्चन-
सञ्चचितेरित्यर्थात् । पादमध्ययमकमिति पादानां मध्ये यमितत्वात् ॥

चक्रवाल-यमकम्—

८१६—अवसितं हसितं प्रसितं, मुदा

विलसितं हसितं स्मर-भासितम्, ॥

न स-मदाः प्रमदा हत-संमदाः,

पुर-हितं विहितं न समीहितम्. ॥ ६ ॥

अवसितमित्यादि—हसितं यत्प्रसितं संततप्रवृत्तम् । नित्यप्रमुदितत्वा-
त्तत्रत्यजनस्य तदग्निसङ्गमादवसितं अपगतम् । '१२२२। षो ऽन्तकर्मणि' इत्यस्य
'३०७४। घति-स्यति-॥७।४।४०।' इतीत्वम् । मुदाहर्षेण यद्विलसितं शृङ्गारवि-
चेष्टितं लसितं श्लिष्टमनुबद्धमिति यावत् । स्मरभासितं मन्मथदीपितम् । हसितं
अल्पीकृतम् । प्रमदाश्च स्त्रियः न समदाः सदर्पा न जाताः हतसंमदा
ध्वस्तहर्षाः '३२४५। प्रमद-संमदौ हर्षे ।३।३।६८।' इति निपातनम् । यच्च पुरः
हितं पुरानुकूलं समीहितं कर्तुरीप्सितं तन्न विहितं नानुष्ठितमित्यर्थः । चक्रवा-
लयमकमिति मण्डलाकारेण यमितत्वात् । तथाहि । द्वयोर्द्वयोः पदयोरन्यव-
र्णानां नेमिवदवस्थितत्वात् मध्यस्य वर्णस्य विसदृशस्य नाभिवदिति । तथा-
चास्य लक्षणम्—'पदानामवसाने तु वाक्ये स्यात्तुल्यवर्णता । प्रतिपादं भवेद्यत्र
चक्रवालं तदुच्यते ॥' इति ॥

समुद्र-यमकम्—

८१७—समिद्ध-शरणादीप्ता देहे लङ्का मत्तेश्वरा ॥

समिद्ध-ध-शरणाऽऽदीप्ता देहेऽलं-काम-तेश्वरा ॥७॥

समिद्धेत्यादि—देहे अभ्यन्तरभागे समिद्धशरणा उज्ज्वलगुहा तत एव
दीप्ता शोभावती लङ्का पुरी मत्तेश्वरा ज्ञातमहादेवा । तत्रान्यदेवस्य नामापि
न गृह्यते । समिद्धो दधति हतवन्तो वेति समिद्धा ऋषयः । पूर्वस्मात् '२९१५।
आतो ऽनुपसर्गे कः ।३।२।३।' इति कः । द्वितीयस्मात् '३०११। अन्येष्वपि
दृश्यते ।३।२।१०१।' इति डः । अपिशब्दस्य सर्वोपाधिव्यभिचारार्थत्वात् धात्व-
न्तरादपि भवति । '११९। ज्ञयो होऽन्यतरस्याम् ।८।४।६२।' इति पूर्वसवर्णः ।
तान् शृण्वन्ति हिंसन्तीति । '२८४१। कृत्यल्युटो बहुलम् ।३।३।११३।' इति कर्तरि
ल्युट् । समिद्धशरणा राक्षसास्तान् दानमानाभ्यामादीपयति प्रोत्साहयतीति
किप् । समिद्धशरणादीप् । रावणः तेन ताप्यते इति ताप्यतेः कर्मणि कारके विव-

२६४ मट्टि-काव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

क्षिते संपदादिदर्शनात् किप् । '३७४ । वेरपृक्तस्य । ६।१।६७।' इति लोपात्पूर्वं
'८७३। लोपो व्योर्वलि । ६।१।६६।' इति लोपः । समिद्धशरणा दीप्ता रावणस्य
पालनीया । समिद्धशरणादीप्ता लङ्का देहे दग्धा । अलं कामो ऽस्येत्यलंकामः ।
तद्भावः अलंकामता । तस्यामलंकामतायां पर्यासेच्छायां ईश्वरा लङ्का । सर्वेच्छा-
सम्पादनात् । समुद्रयमकमिति समुद्राकारेण यमितत्वात् पादद्वययोरर्धद्वय-
योश्च संपुटवत्सादृश्यात् ॥

काञ्ची-यमकम्—

८१८—पिशिताऽशिनामनु-दिशं स्फुटतां

स्फुटतां जगाम परिविह्वल-ता, ॥

हलता जनेन बहुधा चरितं

चरितं महत्त्व-रहितं महता. ॥ ८ ॥

पिशिताशिनामित्यादि—पिशिताशिनां मांसाशिनां राक्षसानामनुदिशं
दिशि दिशि । '६७७। अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः । ५।४।१०७।' इति टच् ।
स्फुटतां पलायमानानां परिविह्वलता स्फुटतां स्पष्टतां जगाम । अनेन चेतरेण
हलता चलता महता शौर्यादिगुणयुक्तेनापि सता यच्चरितं चेष्टितं बहुधा बहुप्रकारं
तन्महत्त्वरहितं महसा विकलमाचरितं अनुष्ठितं भयात् । काञ्चीयमकमिति
रसनाकारेण यमितत्वात् । तथाचपादस्यान्ते परस्यादौ च सदृशो विन्यासः ॥

यमकाऽऽवली—

८१९—न गजा नग-जा दयिता, दयिता

वि-गतं विगतं, ललितं ललितम्, ॥

प्रमदा प्र-मदा ऽऽम-हता, महता-

म-रणं मरणं समयात् समयात्. ॥ ९ ॥

नेत्यादि—गजा हस्तिनः नगजाः पर्वतजाताः । अत एव दयिता इष्टा न
दयिताः न रक्षिताः । दयतिरत्र रक्षणार्थः । विगतं वीनां पक्षिणां गतं गमन-
मपि विगतं नष्टम् । ललितं यदीप्सितं वस्तु तल्ललितं पीडितम् । प्रमदा योषित्
प्रमदा प्रगतो मदो यस्या इति प्रमदा । हर्षश्चक्षुष्यैत्यर्थः । आमहता रोग-
पीडितेव । आमो रोगः । इवशब्दलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । आमेन पीडिता पलाय-
नहता वा । '४९८। अम गत्यादिषु ।' महतां शूराणां अरणं अविद्यमानयुद्धं
मरणं विनाशं समयात् संप्राप्तम् । यातेर्लङि रूपम् । समयात् कालेन यमका-
वलीति यमकमाला ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सीताभिज्ञानदर्शनं' नाम दशमः सर्गः—२६५

अ-युग्म-पाद-यमकम्—

८२०—न वानरैः पराक्रान्तां महद्भिर् भीम-विक्रमैः ॥

न वा नरैः पराक्रान्तां ददाह नगरीं कपिः. ॥ १० ॥

नेत्यादि—वानरैरन्यैर्महद्भिर्महाप्राणैर्भीमविक्रमैः असह्यशौचैः शक्रादिभिः न पराक्रान्तां नावष्टब्धां नगरीं लङ्कां नरैर्मेनुष्यैर्न च पराक्रान्तां विगृहीतां कपिर्ह-
नूमान् ददाह दग्धवान् । अयुक्पादयमकमिति प्रथमतृतीययोर्धर्मितत्वात् ॥

पादाद्यन्त-यमकम्—

८२१—द्रुतं द्रुतं वह्नि-समागतं गतं

महीमहीन-द्युति-रोचितं चितम् ॥

समं समन्तादप-गोपुरं पुरं

परैः परैरप्यनिराकृतं कृतम् ॥ ११ ॥

द्रुतमित्यादि—यत्पुरं चितं सौवर्णगृहसंहत्या व्याप्तं तद्वह्निसमागतं अग्नि-
संयुक्तं द्रुतं विलीनम् । द्रुतं प्रवाहेण प्रवृत्तं द्रुतं शीघ्रं अहीनया उत्कृष्टया द्युत्या
तेजसा रोदितं भासितं महीं गतं प्राप्तं अपगोपुरं अपगतपुरद्वारं अत एव
समन्तात्सर्वतः समं तुल्यं कृतम् । परैः शत्रुभिः परैरपि उत्कृष्टैरपि शक्रादिभिर-
निराकृतं अनभिभूतं सत् । पादाद्यन्तयमकमिति पादस्यादावन्ते च यमितत्वात् ॥

मिथुन-यमकम्—

८२२—नश्यन्ति ददर्श वृन्दानि कपीन्द्रः ॥

हारीण्य-बलानां हारीण्य-बलानाम्. ॥ १२ ॥

नश्यन्तीत्यादि—अबलानां स्त्रीणां अबलानां अविद्यमानरक्षकाणां वृन्दानि
समूहान् । हारीणि हारयन्ति, हारीणि अवश्यं हरन्ति । आवश्यके णितिः ।
चेतस इत्यर्थात् । नश्यन्ति पलायमानानि सन्ति कपीन्द्रो ददर्श । मिथुनयम-
कमिति पादद्वयस्य चक्रवाकमिथुनवदवस्थितत्वात् ॥

वृन्त-यमकम्—

८२३—नारीणामपनुनुदुर् न देह-खेदो न

ना ऽऽरीणां ऽमल-सलिला हिरण्य-वाप्यः, ॥

१—वंशस्थं वृत्तम् । 'जन्तौ तु वंशस्थमुदीरितं ज-रौ' इति तल्लक्षणात् । २—इदं तनु-
मध्यावृत्तम् । तदुक्तम्—'तथौ स्तम् तनुमध्या' इति । ३—प्रहर्षिणीवृत्तम् । 'मू-नौ
ज-रौ गम् त्रिदश-यतिः प्रहर्षिणीयम्' इति तल्लक्षणात् ।

२६६ भट्टि-काव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

ना ऽऽरीणाम^१नल^२-परीत^३-पत्र^४-पुष्पान् ॥

नाऽऽरीणाम^१भवदु^२पेत्य शर्म^३ वृक्षान्^४ ॥ १३ ॥

नारीणामित्यादि—अरीणां संबन्धिभ्यो हिरण्यवाप्यः सुवर्णघटिता वाप्यः । नारीणां स्त्रीणाम् अमितापान्देहखेदान्नापनुनुदुः नापनीतवत्यः । कुतः । आरी-णामलसलिलाः । '११३८। रीङ् स्रवणे ।' इत्यस्मादाहपूर्वात् 'स्वादय ओदितः' इति निष्ठानत्वम् । आरीणं गतममलं सलिलं यासु हिरण्यवापीष्विति । वृक्षांश्चो-पेत्य गत्वा तासां शर्म सुखं नाभवत् न जातम् । अनलपरीतपत्रपुष्पत्वावृक्षा-णाम् । आरीणां नारीणामिति योज्यम् । शत्रुसंबन्धिनीनामित्यर्थः । अरीणा-मिमा इति '१५००। तस्येदम् । १४३। १२०।' इत्यण् । तदन्तात् '३७०। टिङ्गणञ् - १४। १। १५।' इत्यादीना ङीप् । अत्र वृक्षानुपेत्य स्थितानामित्यध्याहर्तव्यम् । अन्यथा समानकर्तृकत्वात् पूर्वकाले क्त्वाप्रत्ययो न स्यात् । वृन्तयमकमिति प्रतिपदं पुष्पफलस्येव मूलेऽवस्थितत्वात् ॥

पुष्प-यमकम्—

८२४—अथ लुलित-पत्रत्रि-मालं

रुग्णासन^१-बाण^२-केशर-तमालम् ॥

स वनं विविक्त-मालं

सीतां^१ द्रष्टुं जगा^२माऽलम् ॥ १४ ॥

अथेत्यादि—दाहानन्तरं लुलितानां चलितानां पत्रत्रिणां पक्षिणां माला सहतिर्यस्मिन् तद्वनमशोकवनिकारुखं स कपिर्जगाम । रुग्णाः भग्ना असनादयो यस्मिन् वने । तत्रासनः पीतसालः, बाणः ग्रन्थिका, केशरो नागकेशरो देवव-ल्लभो वा । विविक्ताः शुचयो मालाः स्रजो यस्मिन् तद्विविक्तमालम् । सीतां द्रष्टुं अलं पर्याप्तः सीतां द्रक्ष्यामीति जगाम । पुष्पयमकमिति प्रतिपादं वृन्ता-दुपरि पुष्पमिवावस्थितत्वात् ॥

पादाऽऽदि-मध्य-यमकम्—

८२५—धन-गिरीन्द्र-विलङ्घन-शालिना

१ वन-गता वन-ज-द्युति-लोचना ॥

जन्म-मत्त ददृशे जनकाऽऽत्मजा

१ तरु-मृगेण तरु-स्थल-शायिनी ॥ १५ ॥

१—गाथावृत्तमिदम् । विषमाक्षरपादत्वात् । तदुक्तम्—'विषमाक्षरपादं वा पादैरसमं दश-भवेत् । यच्च छन्दो नोक्तमत्र गाथेति तत् सूरिभिः प्रोक्तम् ॥' इति भट्टकेदारैः । २—अस्य लक्षणमुक्तं प्राक् (पतत्सर्गस्य १ श्लोकटिप्पणे) ।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सीताभिज्ञानदर्शनं' नाम दशमः सर्गः—२६७

घनेत्यादि—तरुमृगेण कपिना जनकात्मजा दृष्टो दृष्टा । घनाः निरन्तराः ये गिरिन्द्राः मेघसदृशा वा तेषां यल्लङ्घनं अतिक्रमणं तेन शालिना युक्तेन कपिना । वनलता काननस्था वनजद्युतिलोचना पद्मस्येव कान्तिर्यथोल्लोचनयोः ते तथाविधे लोचने यस्याः । '५१२। न क्रोडादिबद्धचः । ४। १। ५६।' इति ङीप्प्रतिषेधः । जनमता जनेनावबुद्धा पतिव्रतेयमिति । '१५६६। मनु अवबोधने' इत्यस्य भूते निष्ठायां रूपम् । '६२७। न लोक-। २। ३। ६९।' इति षष्ठीप्रतिषेधः । कर्तरि तृतीया । तस्यां च '६९४। कर्तृकरणे-। २। १। ३२।' इति समासः । वर्तमाने तु । '३०८९। मति-बुद्धि-। ३। २। १८।' इत्यादिना कप्रत्ययः । '६२५। कस्य च वर्तमाने । २। ३। ६७।' इति षष्ठी । तस्यां च '७०६। केन च पूजायाम् । २। २। १२।' इति समास-प्रतिषेधः स्यात् । तरुस्थलशायिनी तरुमूले यत् स्थलं तत्रैव शयाना सत्यपि शयने । तेन '२९९०। व्रते । ३। २। ८०।' इति णितिः । आदिमध्ययमकमिति पादानामादौ मध्ये च घन-वन-जन-तरुशब्दानां यमितत्वात् ॥

वि-पथ-यमकम्—

८२६—कान्ता सहमाना दुःखं च्युत-भूषा ॥ (१० दृष्टेः)
रामस्य वियुक्ता कान्ता सह-माना ॥ १६ ॥

कान्तेत्यादि—कान्ता कमनीया सहमाना वेदयेमाना दुःखं वियोगजम् । च्युतभूषणा रामस्य कान्ता प्रिया वियुक्ता वियोगिनी सहमाना सह मानेन वर्तत इति । '८४९। वोपसर्जनस्य । ६। ३। ८२।' इति सभावविकल्पः । दृष्ट इति संबन्धः । विपथयमकमिति पादद्वयातिक्रमाद्विपथेन विमार्गेण यमितत्वात् ॥

८२७—मितमवदुदुदरं तां हनूमान् मुदा ॥
रघु-वृषभ-सकाशं यामि देवि ! प्रकाशम् ॥

तव विदित-विषादो दृष्ट-कृत्स्नाऽऽमिषादः

श्रियमनिशमवन्तं पर्वतं माल्यवन्तम् ॥ १७ ॥

मितमित्यादि—मितं अल्पाक्षरं अर्थावगाढं तां सीतां हनूमान् मुदा हर्षेण युक्तः अवदत् कथितवान् । किमित्याह—अरं शीघ्रं हे देवि ! रघुवृषभसकाशं रामस-मीपं माल्यवन्तं पर्वतं प्रकाशं प्रकटं यामि । तव विदितविषादो ज्ञातावसादः । दृष्टकृत्स्नामिषादः वीक्षिताशेषनिशाचरः । आमिषं मांसमदन्तीति '२९१३। कर्म-ण्यण् । ३। २। ११।' । '२८३०। वा सरूपोऽस्त्रियाम् । ३। १। ९४।' इति वचनात् । '२९७७। अदोऽनन्त्रे । ३। २। ६८।' इति विद्वत्प्रत्ययेनाणो विकल्पेन बाधनात् । श्रियं

१—एतल्लक्षणं द्वादशश्लोकटिप्पणे द्रष्टव्यम् । २—मालिनीवृत्तमिदम् । तल्लक्षणं च—
'न-न-म-य-य-युतेयं मालिनी भोगि-लोकैः' इति वृत्तरत्नाकरे भ० के० ॥

२६८ भट्टि-काव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

शोभां अनिशमवन्तं रक्षन्तं पर्वतम् । मध्यान्तयमकमिति पादस्य मध्ये अन्ते च यमितत्वात् ॥

गर्भ-यमकम्—

८२८—उदपतद् वियद-प्रगमः परै-

रुचितमुन्नति-मत् पृथु-सत्त्व-वत् ॥

रुचितमुन् नति-मत् पृथु-सत्त्व-वत्

प्रतिविधाय वपुर् भयदं द्विषाम् ॥ १८ ॥

उदपतदित्यादि—वियदाकाशमुदपतत् उत्पत्तात् । परैः शत्रुभिरप्रगमः अनभिभवनीयः । गमेः '३२३४। ग्रह वृ-द-निश्चि-गमश्च ॥३॥५८।' इति कर्म-ण्यप् । '६२३। कर्तु-कर्मणोः कृति ॥२॥६५।' इत्यत्र 'विभाषोपसर्गं' इति मण्डू-कमुल्या अनुवर्तनीयम् । सोपसर्गस्य प्रयोगे विभाषा षष्ठी । रुचितं शोभितं विय-न्निर्मलत्वात् । अथवा अप्रगमोऽन्येषामित्यर्थात् । परैरुत्कृष्टैरन्तरिक्षचारिभिः रुचितं दीपितम् । उन्नतिमत् उच्छ्राययुक्तम् । पृथुसत्त्ववद्भिः प्राणिभिर्युक्तम् । किं कृत्वा उदपतदित्याह-वपुः शरीरं प्रतिविधाय कृत्वा । रुचितान् तुष्टान्मो-दयतीति रुचितमुत् । ण्यर्थोऽन्तान्तर्भूतः । द्विषां शत्रूणां भयदम् । नतिमत् तदानीं देवेषु कृतशिरःप्रणामत्वात् । अथवा रुचिरमेवाभीष्टमेव वपुः । उन्नति-मत् विभूतिमत् । पृथुसत्त्ववत् विस्तीर्णसत्त्ववत् । सत्त्वगुणयुक्तं वा । गर्भयमक-मिति द्वयोः पादयोर्मध्ये पादद्वयस्य यमितत्वात् ॥

सर्व-यमकम्—

८२९—बभौ मरुत्वान् विकृतः स-मुद्रो,

बभौ मरुत्वान् विकृतः स-मुद्रः,

बभौ मरुत्वान् विकृतः समुद्रो,

बभौ मरुत्वान् विकृतः स मुद्रः ॥ १९ ॥

बभावित्यादि—मरुत्वान् हनूमान् पितृत्वेन मरुद्विद्यते अत्येति कृत्वा '१८९८। शयः ॥८॥१०।' इति वत्त्वम् । विविधं कृतं वनभञ्जादि कर्म येन विविधं वा कृन्ततीति विकृतः । इगुपधलक्षणः कः । वृक्षादीनां छेदक इत्यर्थः । समुद्रो मुद्रयाभिज्ञानेन चूडामणिना वा सह वर्तते इति । समुत्पतितो नभसि तेजःपुञ्ज इव बभौ दीप्यते स्म । इत्ययं प्रथमः पादः । तस्मिन् तथाभूते मरु-त्वानिन्द्रः । अनुजीवितया मरुतो देवा अस्य सन्तीति कृत्वा । विकृतः रावण-परिभवात् विहतदेवाधिपत्यः विकृतः । स च समुद्रः मुद्रया अप्सरसा सह

१—उपेन्द्रवज्रावृत्तमिदम् । 'उपेन्द्रवज्रा जन्त-जाप् ततो गौ' इति वृत्तरत्नाकरे तलक्षणात् ।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सीताभिज्ञानदर्शनं' नाम दशमः सर्गः—२६९

वर्तमानः । समुपलब्धमारातिवृत्तान्तः बभौ हृष्टवान् । कपिना तावदिदं कृतं रामः पुनः समूलं छेत्स्यतीति । अनेकार्थत्वाद्वातूनां भातिरत्र तुष्टौ वर्तते । इत्ययं द्वितीयः । समुद्रो जलनिधिः मरुवान् हनूमदुत्पतनजनितवायुना युक्तः अत एव विकृतोऽतिक्रान्तमर्यादः बभौ बभूव । अत्र सत्तायां प्रयुक्तः । इत्ययं तृतीयः । सलोकपालो मरुवान् महाभूतात्मकेन युक्तः मरुवान् । पूर्ववन्मतुप् । मरुवा-
निति व्याख्याने '८४। झलां जशोऽन्ते । ८। २। ३९।' इति जश् स्यात् । मुद्रो हर्षस्य दाता । पुत्रो मे सुखेन यास्यतीति मुद्रं राति ददातीति '२९९५। आतो-
ऽनुपसर्गे कः । ३। २। ३।' विकृतो मन्दगतिः । बभौ वाति स्म । अत्र गतौ प्रयुक्तः ।
इत्ययं चतुर्थः । अन्यस्त्वाह यमकेषु क्रियापदस्याभिधेयत्वं न दुष्यतीति तेन
दीप्त्यर्थ एव योज्यः । सर्वयमकमिति चतुर्णामपि पादानां सदृशत्वात् ॥

महा-यमकम्—

८३०—अभियाता वरं तुङ्गं भू-भृतं रुचिरं पुरः ॥

कर्कशं प्रथितं धाम स-सत्त्वं पुष्करेक्षणम् ॥ २० ॥

अभियातेत्यादि—भूभृतं राम वरं श्रेष्ठं तुङ्गं महाकुलीनत्वादिति सर्वेषामु-
परि स्थितं गुणै रुचिरं सर्वाङ्गसुन्दरं पुरोऽग्रतो वक्षःस्थले कर्कशं लोमशं प्रथितं
लोके प्रख्यातं धाम गृहं वर्णाश्रमधर्माणां ससत्त्वं पराक्रमयोगात् । पुष्करेक्षणं
पद्मलोचनं अभियाता आभिमुख्येन यास्यति हनूमान् । लुटि रूपम् ॥

अभिया स्ताऽऽवरं तुङ्गं भू-भृतं रुचिरं पुरः ॥

कर्कशं प्रथितं धाम स-सत्त्वं पुष्करेक्षणम् ॥ २१ ॥

अभियातेत्यादि—भूभृतं पर्वतं यत्राङ्गदादयः स्थिताः तमभिया अभिग-
च्छता हनूमता । कुतः । पुरो लङ्कायाः सकाशात् । पुष्करे आकाशे धाम तेजः
क्षणं मुहूर्तं प्रथितं विस्तारितम् । अभियातीति '३९५८। अन्येभ्योऽपि दृश्यते
। ३। २। १७८।' इति क्प् । तृतीयैकवचने '२४०। आतो धातोः । ६। ४। १४०।' इत्या-
कारलोपे अभियेति रूपम् । कीदृशं अतावरं सातत्येनाततीति पचाद्यच् । अतो
वायुः आदित्यो वा आवृणोतीत्यप् । आवरः । अतस्यावरं यतस्तुङ्गं उच्चैस्तरम् ।
रुचिरं तुष्टिदं रुचिं रातीति । कर्कशं कठिनस्वभावम् । ससत्त्वं प्राणियुक्तम् ।
महायमकमिति श्लोकस्यैकस्य द्वितीयेन श्लोकेन यमितत्वात् ॥

श्लोकाद्यन्त-यमकम्—

८३१—चित्रं चित्रमिवाऽऽयातो विचित्रं तस्य भू-भृतम् ॥

हरयो वेगमासाद्य संत्रस्ता मुमुहुर मुहुः ॥ २२ ॥

चित्रमित्यादि—[भूभृतम्] भूधरं पर्वतं चित्रं गैरिकादिभिर्नानावर्णं अत
एव चित्रमिवालेख्यमिव । आयातः आगच्छतस्तस्य हनूमतः वेगं जवं चित्रं अद्भुत-

अतः वायुः आश्रयोति इति आवरः

२७० भट्टि-काव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

मासाद्य प्राप्य हरयः कपयः संत्रस्ताः सभयाः सुमुहुः मुहुः क्षणम् । श्लोका-
द्यन्तयमकमिति श्लोकस्यादावन्ते च यमितत्वात् ॥

अर्थालंकारस्तु दीपकरूपकादिभेदेनानेकप्रकारः । तत्र वाक्यार्थप्रकाशनादीपक-
मुच्यते । तदादिमध्यान्तभेदाद्विविधमिति दर्शयन्नाह—

आदि-दीपकम्—

८३२—गच्छन् स वारीण्यकिरत् पयोधेः,

कूल-स्थितांस्तानि-तरुनधुन्वन्, ॥

पुष्पाऽऽस्तरांस्ते ऽङ्ग-सुखान्तन्वन्,

तान् किन्नरा मन्मथिनोऽध्यतिष्ठन् ॥ २३ ॥

गच्छन्नित्यादि—स हनूमान् वेगेन गच्छन् पयोधेर्वारीणि वेगजेन वायुना
अकिरत् निक्षिप्तवान् । तानि वारीणि अधिक्षिप्तानि कूलस्थितांस्तरुनधुन्वन्
कम्पितवन्ति । ‘१३२५। धूज कम्पने’ इति भौवादिकः । ते तरवः कम्पिताः
पुष्पास्तरान् पुष्पाणां प्रकारान् आस्तीर्यन्त इति ‘३२३२। ऋदोरप् । ३। १। ५७।’
अङ्गसुखान् मृदुस्पर्शत्वात् कायस्य सुखहेतुनतन्वन् विस्तारितवन्तः । तान् पुष्पा-
स्तरान् किन्नराः मन्मथिनः कामवन्तः, अध्यतिष्ठन् अध्यासितवन्तः । ‘५४२।
अधि-शीङ्—१। १। ४। ४६।’ इत्यादिनाधिकरणस्य कर्मसंज्ञा । आदिदीपकमिति
क्रियापदस्यादौ श्रूयमाणत्वात् । द्विविधं ह्यादिदीपकम् । एकतिङ्नेकतिङ्गसहितं
च । तत्र यत्पूर्वं तदेकमप्यनेकार्थप्रकाशकम् । यथाह भामहः—‘मदो जनयति
प्रीतिमानन्दं मानभङ्गुरम् । यत्प्रियासंगमोत्कण्ठामसह्यां मनसः शुचम् ॥’ इति ।
यत्तु द्वितीयं तत्समस्तवाक्यार्थप्रकाशं यथेदमेव । तत्र ह्युत्तरेषां वाक्यार्थानामा-
द्येनैव दीपनात् । तस्मिन्नसति शेषाणामस्फुटत्वात् । पूर्वकं परित्यज्य द्वितीयस्य
प्रदर्शनं यत् तत्प्रतीपदीपकं नाम चतुर्थमस्तीति दर्शनार्थम् । तद्यथा—‘तृष्णां
छिन्धि, भज क्षमां, जहि मदं, पापे रतिं मा कृथाः, सखं ब्रूह्यनुयाहि साधुप-
दवीं, सेवस्व विद्वज्जनान् ॥ मान्यान्मानय, विद्विषोऽप्यनुनय, प्रस्थापय स्वान्
गुणान्, कीर्तिं पालय, दुःखिते कुरु दयामेतत्सतां चेष्टितम् ॥’ इति । शेषो
यदत्र परस्परमसंबद्धमिति ॥

अन्त-दीपकम्—

८३३—स गिरिं तरु-खण्ड-मण्डितं

समवाप्य त्वरया लता-मृगः ॥

१—इदं चेन्द्रवज्रावृत्तम् । तल्लक्षणमपि तत्रैव—‘स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः’ इति ।

तथा लक्ष्ये-रूपे कथानके 'सीताभिज्ञानदर्शनं' नाम दशमः सर्गः—२७१

स्मित-दर्शित-कार्य-निश्चयः १. पुरोमर ६९
कपि-सैन्यैर् मुदितैर्मण्डयत् ॥ २४ ॥

स गिरिमित्यादि—स लतामृगो हनूमान् प्रयोजककर्ता । गिरिमङ्गदादि-
भिरध्यासितं तरुखण्डमण्डितं त्वरया वेगेन समवाप्य कपिसैन्यैर्मुदितैर्हृष्टैः प्रयो-
ज्यकर्तृभिः अमण्डयत् । '३३६। मडि भूषायाम्' इति भौवादिकः । चौरादिके तु
कपिसैन्यैः करणभूतैरिति योज्यम् । मुदितत्वे कारणमाह—स्मितदर्शितकार्यनि-
श्चयः ईषद्वस्मितप्रकटीकृतसीतोपलब्धिनिश्चयः । अन्तर्दीपकमिति अमण्डयदिति
क्रियापदस्यान्ते निर्दिष्टत्वात् ॥

मध्य-दीपकम्—

८३४—गरुडाऽनिल-सिम्ह-रश्मयः

पततां यद्यपि संमतां जवे, ॥

अ-चिरेण कृताऽर्थमागतं

तमन्यन्त तथाप्यतीव ते. ॥ २५ ॥

गरुडेत्यादि—पततां गच्छतां मध्ये यद्यपि गरुडादयो जवे वेगविषये
संमताः अभिमताः तथापि तं हनूमन्तं अचिरेणैव कालेन कृतार्थं कृतकृत्यमागतं
अतीव जविनं ते कपयः अमन्यन्त । मन्यतेर्लङि रूपम् । मध्यदीपकमिति
क्रियापदस्य मध्ये निर्दिष्टत्वात् ॥

रूपकम्—

८३५—व्रण-कन्दर-लीन-शस्त्र-सर्पः

पृथु-वक्षःस्थल-कर्कशोरु-भित्तिः ॥

च्युत-शोणित-बद्ध-धातु-रागः

शुशुभे वानर-भू-धरस् तदा ऽसौ. ॥ २६ ॥

व्रणेत्यादि—असौ वानरो भूधर इव वानरभूधरः । '७३५। उपमितम्
॥२११५६॥' इत्यादिना समासः । तदा तस्मिन्वानरमध्यगमनकाले कृतार्थः
शुशुभे शोभते स्म । व्रणानि शस्त्रकृतानि कन्दराणीव । शस्त्राणि सर्पा इव शस्त्र-
सर्पाः व्रणकन्दरेषु लीनाः शस्त्रसर्पा यस्य । वक्षःस्थलं कर्कशोरुभित्तिरिव सा
पृथुला विस्तीर्णा यस्य सः । शोणितं बद्धधातुराग इव श्लिष्टगैरिकादिराग इव स
च्युतो यस्य । सर्वत्र '७३५। उपमितम्—॥२११५६॥' इत्यादिना समासः । रूपक-
मिति सावयवेन भूधरेणोपमानेन सावयवस्य कपरूपमेयस्य तत्त्वभावतयाध्या-
रोपितत्वात् । यथोक्तम्—'उपमानेन तुल्यत्वमुपमेयस्य रूप्यते ॥ गुणानां समतां
दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः ॥' इति ॥

अस्यैव भेदा अपरे चत्वारः—

एतद् विशिष्टोपमा-युक्तं रूपकम्—

८३६—चल-पिङ्ग-केशर-हिरण्य-लताः

स्फुट-नेत्र-पङ्क्ति-मणि-संहतयः ॥

कलधौत-सानव इवाऽथ गिरेः

कपयो बभुः पवन-जाऽऽगमने ॥ २७ ॥

चलेत्यादि—अथ पवनजागमने हनूमदागमने कपयो गिरेस्तस्यैव कलधौ-
तसानव इव सौवर्णैकदेशा इव बभुः शोभन्ते स्म । पिङ्गकेशराणि पिङ्गलसटाः
तानि हिरण्यलता इव सुवर्णलता इव ताश्चला येषां कपीनाम् । नेत्रपङ्क्तयो मणि-
संहतय इव ताः स्फुटा उज्ज्वला येषामिति । एतदपि रूपकमेव । किंतु कलधौ-
तत्वेन सानूनां विशिष्टत्वाद्विशिष्टोपमायुक्तं कमलकं नाम ॥

एतच्छेषाऽर्थाऽन्ववसितमवतंसकम्—

८३७—कपि-तोय-निधीन् प्लवङ्गमेन्दुर्

मदयित्वा मधुरेण दर्शनेन ॥

वचनाऽमृत-दीधितीर् वितन्व-

न्नकृता ऽऽनन्द-परीत-नेत्र-वारीन् ॥ २८ ॥

कपीत्यादि—प्लवङ्गम इन्दुरिव प्लवङ्गमेन्दुः । कपयस्तोयनिधय इव कपि-
तोयनिधीन् । मधुरेण सुखेन दर्शनेन मदयित्वा हर्षयित्वा । ‘८७२। मदी हर्ष-
ग्लेपनयोः ।’ इति घटादित्वान्मिच्छे ह्रस्वत्वम् । वचनानि अमृतमयदीधितय इव
वचनामृतदीधितीर्वितन्वन् विस्तारयन् । लोकवृत्तान्तसंबोधकमाह्लादकं वचनमु-
दाहरन्नित्यर्थः । आनन्देन हर्षेण परीतं संजातं नेत्रवारि येषां तानेवंविधानकृत
कृतवान् । एतद्रूपकं शेषार्थान्ववसितम् । रूपितादन्यो योऽर्थः ‘आनन्दप-
रीतनेत्रवारीन्’ इति स शेषः तेनान्ववसितं युक्तमवतंसकं नाम विसदृशस्यार्थस्य
लपितत्वात् । तदेवान्यैः खण्डरूपकमित्युच्यते ॥

अर्ध-रूपकम्—

८३८—परिखेदित-विन्ध्य-वीरुधः

परिपीताऽमल-निर्झराऽम्भसः ॥

१—‘१२८३। कलधौतं रूप्य-हेम्नोः ।’ २—‘११९। भानुः करो मरीचिः स्त्री-पुंसयोर्
दीधितिः स्त्रियाम् ।’ इति सर्वत्र ना० अ० ।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सीताभिज्ञानदर्शनं' नाम दशमः सर्गः—२७३

दुधुवुर् मधु-काननं ततः

कपि-नागा मुदिताऽङ्गदाऽऽज्ञया. ॥ २९ ॥

परिखेदितेत्यादि—तत उत्तरकालं कपयो नागा इव हस्तिन इव कपिनागाः मुदितस्याङ्गदस्याज्ञया मधुकाननं सुग्रीवस्य क्रीडोद्यानं दुधुवुः कम्पितवन्तः । मधून्युपभुज्य संभ्रममकुर्वन्नित्यर्थः । परिखेदिताः परिमुदिताः विन्ध्यवीरुधो विन्ध्यलतागुल्मा यैः । परिपीतममलनिर्झरान्मो यैः । अर्धरूपकमिति पश्चिमाधे कपिनागा इति रूपितम् ॥

एतदन्वर्थोपमा-युक्तं ललामकम्—

८३९—विटपि-मृग-विषाद-ध्वान्त-नुद् वानराऽर्कः

प्रिय-वचन-मयूखैर् बोधिताऽर्थाऽरविन्दः, ॥

उदय-गिरिमिवाऽद्रिं संप्रमुच्याऽभ्यगात् स्थं

नृप-हृदय-गुहा-स्थं घ्नन् प्र-मोहाऽन्धकारम्. ॥ ३० ॥

विटपीत्यादि—वानरार्कः वानरोऽर्क इव वानरार्कः । उदयगिरिमिवाद्रिं पर्वतं महेन्द्रं संप्रमुच्य खमाकाशमभ्यगात् अभिगतवान् । विटपिमृगाणां यो विषाद आसीत् कथं सीतान्वेषणीयेति स ध्वान्तमिव तं नुदतीति क्विप् । प्रियवचनानि मयूखा इव तैः करणभूतैः बोधितमर्थारविन्दं येन । अर्थः सीतोपलब्धिः सोऽरविन्दमिव । नृपहृदयं गुहेव तत्र तिष्ठतीति नृपहृदयगुहास्थम् । प्रमोहो विवादोऽन्धकार इव तं घ्नन् हनिष्यन् । वर्तमानसमीपत्वात् भविष्यति लट् । एतदिति रूपकं अन्वर्थोपमया युक्तं ललाम नाम । यत उदेत्यस्मादित्युदकः '३१८८। अकर्तरि च कारके-॥३॥१९१' इत्यच् । स चासौ गिरिश्चेत्यनुगतार्थता । यत्रान्वर्थता नास्त्युपमायाः तदुपमायुक्तमेव रूपकं द्रष्टव्यम् ॥

उपमालंकारं दर्शयन्नाह—

इवोपमा—

८४०—रघु-तनयमगात् तपो-वन-स्थं

विधृत-जटाऽजिन-वल्कलं हनूमान् ॥

परमिव पुरुषं नरेण युक्तं

सम-शम-वेश-समाधिनाऽनुजेन, ॥ ३१ ॥

रघुतनयमित्यादि—हनूमान् रघुतनयमगात् प्राप्तवान् । तपःप्रधानं वनं तपोवनं तत्र स्थितम् । विधृता जटा अजिनं चर्म वल्कलं च येन तम् । अनुजेन कनीयसा आत्रा लक्ष्मणेन समास्तुल्याः शमा वेशाः समाधयश्च यस्य तेन युक्तं परममुत्तमं पुरुषमिव पुरुषोत्तममिव नरेण युक्तम् । बदरिकाश्रमे नरनारायण-योस्तपश्चर्यया स्थितत्वात् । इवोपमेति इवशब्देनोपमार्थस्य गम्यमानत्वात् ।

२७४ भट्टिकाव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

उपमाया लक्षणम्—‘विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः ॥ उपमेयस्य यत्साम्यं गुणमात्रेण सोपमा ॥’ इति । अत्र विरुद्धदेशकालक्रियागुणः पुरुषोत्तम उपमानं तेन रागस्योपमेयस्य तपोवनस्थत्वेन विधृतजटाजिनवल्कलत्वेन नरानुकारिलक्ष्मणेनानुगतत्वेन च गुणमात्रेण साम्यमुपमानम् ॥

यथेवशब्द उपमार्थसूचकस्तथान्योऽपीति दर्शयन्नाह—

यथोपमा—

८४१—कर-पुट-निहितं दधत् स रत्नं

परिविरलाङ्गुलि निर्गताऽल्प-दीप्ति ॥

तनु-कपिल-घन-स्थितं यथेन्दुं

नृपमनमत् परिभुग्न-जानु-मूर्धा. ॥ ३२ ॥

करपुटनिहितमित्यादि—करपुटे करयुग्मे निहितं न्यस्तं रत्नं सीताचूडामणिं परिविरलाङ्गुलिभ्यो निर्गता अल्पा दीप्तयो यस्य तद्रत्नं दधद्धारयन् स हनूमान् नृपं राममनमत् प्रणतवान् । परिभुगे अवनते जानुनी मूर्धा च यस्य हनूमतः यथेन्दुं इन्दुमिव तनुः अच्छः कपिलश्च यो घनः मेघः तत्र स्थितमिन्दुमिव रत्नम् । यथोपमेति यथाशब्देनोपमार्थस्य गम्यमानत्वात् ॥

सहोपमा—

८४२—रुचिरोन्नत-रत्न-गौरवः

परिपूर्णा-ऽमृत-रश्मि-मण्डलः ॥

समदृश्यत जीविताऽऽशया

सह रामेण वधू-शिरो-मणिः. ॥ ३३ ॥

रुचिर इत्यादि—वधूशिरोमणिः सीताचूडामणिः । उन्नतं महद्गतगौरवं महार्घ्यादिलक्षणं यस्य रुचिरो दीप्तिमांश्चासौ उन्नतरत्नगौरवश्चेति सः । परिपूर्ण-स्यामृतरश्मेश्चन्द्रमसो मण्डलमिव मण्डलं यस्य सः । रामेण समदृश्यत संदृष्टः । कर्मणि लङ् । जीविताशया सह सार्धं तद्दर्शनतो जीवितोऽस्मीति तदाशया सह । सा रुचिरा तुष्टिदा रुचिं राति ददातीति कृत्वा । उन्नतरत्नगौरवादुन्नतं रत्नेष्विव गौरवं बहुमानो यस्यामिति । परिपूर्णममृतममरणं रश्मिमण्डलं यस्यामिति । सहोपमेति सहशब्देन जीविताशया उपमाद्योतनात् ॥

तद्वितोपमा—

८४३—अवसन्न-रुचिं वनाऽऽगतं

तमनाऽऽमृष्टरजो-विधूसरम् ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सीताभिज्ञानदर्शनं' नाम दशमः सर्गः—२७५

समपश्यदपेत-मैथिलिं

दधतं गौरव-मात्रमात्म-वत् ॥ ३४ ॥

अवसन्नरुचिमित्यादि—तं शिरोमणिं आत्मवदात्मानमिव समपश्यद्रामः ।
'१७७८। तेन तुल्यम्-१५।१।११५।' इति वतिः । अवसन्नरुचिं मन्दप्रभं
वेणीबन्धनमलिनत्वात् । इतरत्र सशोक्तत्वात् । वनागतं अशोकवनिःकाख्याद्वना-
दागतं इतरं पितुरादेशाद्गनमागतम् । सुप्सुपेति समासः । अनामृष्टं अनपनीतं
यद्रजः तेन विधूसरम् । अभयमपि अपेतमैथिलिं अपेता मैथिली येन यस्माद्वा ।
दधतं गौरवमात्रं गुरुत्वमेव न दीप्त्यादिकं इतरं माहात्म्यं दधतम् । तद्धितोप-
मेति तद्धितप्रत्यया द्रष्टव्याः ॥

लुप्तोपमा—

८४४—सामर्थ्य-संपादित-वाञ्छिताऽर्थश्च

चिन्ता-मणिः स्यान् न कथं हनूमान्, ॥

स-लक्ष्मणो भूमि-पतिस् तदानीं

शाखा-मृगाऽनीक-पतिश् च मेने. ॥ ३५ ॥

सामर्थ्येत्यादि—सामर्थ्येन शक्त्या संपादितो निष्पादितो वाञ्छितोऽभिलषि-
तोऽर्थो येन स हनूमान् कथं चिन्तामणिश्चिन्तामणिरिव न स्यात् । इति तदानीं
मेने ज्ञातवान् । सलक्ष्मणः सह लक्ष्मणेन भूमिपती रामः शाखामृगानीकपतिश्च
सुग्रीवः । लुप्तोपमेति चिन्तामणिरित्यत्रेवशब्दार्थस्य गम्यमानत्वात् लुप्तोपमेति ॥

समोपमा—

८४५—'युष्मान्-चेतन् क्षय-वायु-कल्पान्

सीता-स्फुलिङ्गं परिगृह्य जाल्मः ॥

लङ्का-वनं सिंह-समो ऽधिशेते

मर्तुं द्विषन्नित्यवदद्धनूमान् ॥ ३६ ॥

युष्मानित्यादि—युष्मान् रामादीन् क्षयवायुकल्पान् प्रलयकालमहावायु-
सदृशान् अचेतन् अजानन् । '३९। चिती संज्ञाने' इति भौवादिकः । द्विषन् दृशा-
ननः जाल्मः मूर्खः सीतास्फुलिङ्गं सीतामग्निकणमिव परिगृह्यादाय लङ्का-वनमि-
वाधिशेते । मर्तुं मरिष्यामीति सिंहसम इत्यवदद्धनूमान् । समोपमे सम-
शब्देनोपमाया अभिधानात् । अत्र निभ-सदृशादयोऽपि द्रष्टव्याः ॥

इदानीमलंकारान्तराण्याह—

अर्थाऽन्तर-न्यासः—

८४६—‘अहत धनेश्वरस्य युधि यः समेत-मायो धनं,
तमहमितो विलोक्य विबुधैः कृतोत्तमाऽऽयोधनम् ॥
विभव-मदेन निहृत-ह्रिया ऽतिमात्र-संपन्नकं,
व्यथयति सत्-पथादधिगता ऽथवेह संपन् न कम्. ३७

अहतेत्यादि—यो द्विषन् युधि संग्रामे समेतमायः समेता प्राप्ता माया येनेति तृतीयार्थं बहुव्रीहिः । मायावीत्यर्थः । धनेश्वरस्य धनदस्य धनमहत हत-वान् । ‘२३६९। ह्रस्वादङ्गात् । ८। २। २७।’ इति सिचो लोपः । तं विबुधैर्देवैः सह कृतोत्तमायोधनं कृतमहासंग्रामम् । निहृता अपलपिता हीलंजा येन विभवम-देन तेन निहृतह्रिया अतिमात्रं सुष्ठु सम्पन्नकं युक्तं येन परस्त्रियमपहृत्यानीतवा-नसौ तं विलोक्य अहमितः प्राप्तः । विभवमदो लजां त्याज्यतीत्यमुमेवार्थं अनुसृताथान्तरमाह—अथवेति । अथवाशब्दे निपातसमुदायः यस्मादर्थे वर्तते । यस्मादिह लोके संपत् विभूतिरधिगता प्राप्ता सत्पथात् सन्मार्गात् कं न व्यथयति चलयति । व्यथिरत्र चलने वर्तते । अर्थाऽन्तरन्यास इति उक्तादर्थो-दन्यस्योपन्यासात् । यथोक्तम्—‘उपन्यसनमर्थस्य प्रक्रान्तादपरस्य यत् ॥ ज्ञेयः सोऽर्थाऽन्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा ॥’ इति ॥

आक्षेपः—

८४७—ऋद्धि-मान् राक्षसो मूढश्च, चित्रं नाऽसौ यदुद्धतः ॥
को वा हेतुरनार्याणां धर्म्ये वर्त्मनि वर्तिनुम्. ॥ ३८ ॥

ऋद्धिमानित्यादि—यदस्यबुद्धतो दुर्वृत्तः न तच्चित्रमाश्रयम् । यस्मादसौ ऋद्धिमान् राक्षसश्च । उभयथा विमूढ इत्येतदयुक्तमिति प्रतिषेधयन्नाह—को वेति किमनेनोक्तेन यस्मादनार्याणां तद्विधानां धर्म्ये धर्मादनपेते वर्त्मनि मार्गे वर्तिनुं को वा हेतुः किं नाम कारणम् । नैवेत्यर्थः । आक्षेप इति प्रतिषेधो नाम । यथो-क्तम्—प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ॥ आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति द्विविधो यथा ॥’ इति । अत्र पूर्वार्धेनोक्तो य इष्टोऽर्थः तस्य को वेत्यादिना विशेषप्रतिपादनेच्छया प्रतिषेध इति । स च उक्त-वक्ष्यमाणविषयभेदाद्विविधः । अयमुक्तविषयः ॥

आक्षेप एव—

८४८—तस्या ऽधिवासे तनुरुत्सुका ऽसौ
दृष्टा मया राम-पतिः प्र-मन्युः, ॥
कार्यस्य सारो ऽयमुदीरितो वः,
प्रोक्तेन शेषेण किमुद्धतेन. ॥ ३९ ॥

तथा लक्ष्यरूपे कथानके 'सीताभिज्ञानदर्शनं' नाम दशमः सर्गः—२७७

तस्येत्यादि—तस्य रावणस्याधिवासे लङ्कायां असौ रामपतिः सीता मया दृष्टा । रामः पतिर्यस्या इति । '४९१। विभाषा सपूर्वस्य । ४। १। ३४।' इति नका-
राभावपक्षे रूपम् । तनुः कृशाङ्गी । '५०२। वोतो गुणवचनात् । ४। १। ४४।' इति
डीपो विकल्पः । उत्सुका सोत्कण्ठा, प्रकृष्टशोका । '५२१। ऊडुतः । ४। १। ६६।' इत्यूह
न भवति । तत्राऽयोपधादिति वर्तते । अयं कार्यस्यास्मदायत्तस्य सारः
शरीरं सीतादर्शनम् उदीरितः कथितः । वो युष्मभ्यम् । शेषेणोद्धतेन अशोकव-
निकाभङ्गादिना किं प्रोक्तेन । न किञ्चित् प्रयोजनम् । स एवेत्ययमप्याक्षेप एव
किंतु वक्ष्यमाणविषयः । अत्र पूर्वार्धेनोक्तो य इष्टोऽर्थः तस्य विशेषाभिधित्सया
प्रोक्तेनेत्यादिना शेषार्थप्रतिषेधः ॥

व्यतिरेकः—

८४९—समतां शशि-लेखयोपयाया-

दवदाता प्र-तनुः क्षयेण सीता, ॥

यदि नाम कलङ्क इन्दु-लेखा-

मतिवृत्तो लघयेन् न चाऽपि भावी. ॥ ४० ॥

समतामित्यादि—सीता अवदाता शुद्धा प्रतनुः प्रकर्षेण तन्वी क्षयेण दौर्ब-
ल्येन एतावता तुल्यधर्मेत्वाच्छिलेखया समतां तुल्यतामुपयायात् उपगच्छेत् ।
यदि कलङ्को नामापरोऽतिवृत्तोऽतिक्रान्तः इन्दुलेखां न लघयेत् न न्यूनयेत् ।
तथा भावी आगामी नालवयिष्यत् यदि । न चैवं तस्मान्नन्दलेखया न समेति
भावः । व्यतिरेक इति अयं व्यतिरेको नाम अन्वयः । पूर्वार्धेनोपमानोपमेययो-
रर्थो दर्शितः तस्य पश्चार्धेन भेददर्शनात् । यथोक्तम्—'उपमानवतोऽर्थस्य यद्विशे-
षनिर्दर्शनम् ॥ व्यतिरेकं तमिच्छन्ति विशेषोत्पादनाद्यथा ॥' इति ॥

विभावना—

८५०—अ-परीक्षित-कारिणा गृहीतां

त्वमनासेवित-वृद्ध-पण्डितेन ॥

अ-विरोधित-निष्ठुरेण साध्वीं

दयितां त्रातुमलं घटस्व राजन् !' ॥ ४१ ॥

अपरीक्षितकारिणेत्यादि—अपरीक्षितकारिणा अविचारितकरणशीलेन,
अनासेवितवृद्धपण्डितेन अपर्युपासितज्ञानवृद्धसत्पथेन, अविरोधितनिष्ठुरेणानप-
कृतोऽपि क्रूरः सन् यः शत्रुः तेन गृहीतां साध्वीं पतिव्रतां दयितामिष्टां त्राणाहं
त्रातुं रक्षितुमलं पर्याप्तं त्वं घटस्व यतस्व । हे राज्ञित्यवददन्मान् । विभाव-
नेति परीक्षा सेवा विरोधनं चेति तिस्रः क्रियाः तासां यः प्रतिषेधः नञा तेन
अपरीक्षापूर्वकं यत् करणं तथा वृद्धसेवापूर्वकं यत्पण्डितत्वं यच्चाविरोधपूर्वकं
निष्ठुरत्वं तस्य क्रियाफलस्य विभावनात् प्रकाशनात् । यथोक्तम्—'क्रियायाः प्रतिषे-
धेन तत्फलस्य विभावनात् ॥ ज्ञेया विभावनैवासौ सान्वयः कथ्यते यथा ॥' इति ॥

समासोक्तिः—

८५१—स च विह्वल-सत्त्व-संकुलः

परिशुष्यन्नभवन् महा-हृदः ॥

परितः परिताप-मूर्च्छितः,

पतितं चाऽम्बु निरभ्रमीप्सितम्. ॥ ४२ ॥

स चेत्यादि—स च रामो महाहृदः महाहृदसमः सीताविरहात् विह्वलेना-
कुलेन सत्त्वेन चेतसा संकुलो व्याप्तः । परिशुष्यन् शोषमुपगच्छन् परितः समन्तात्
परितापमूर्च्छितः शोकसंतापेन मूर्च्छान्वितोऽभवत् भूतः । अनन्तरं चाम्बु जलं
सीतावार्ताश्रवणमीप्सितं अभिप्रेतं निरभ्रमाकस्मिकं पतितमित्येकोऽर्थः । महाहृदः
परिशुष्यन् विह्वलैः सत्त्वैर्मत्स्यादिभिः संकुलो व्याप्तः । परितापमूर्च्छितः अर्कतापा-
न्वितोऽभवत् । अम्बु च निरभ्रं विना मेघेन पतितमिति द्वितीयः । समासोक्तिः ।
यथोक्तम्—‘यत्रोक्तेर्गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः ॥ सा समासोक्तिरुदिता
संक्षिप्तार्थतया यथा ॥’ इति । एवं च कृत्वा अयं श्लेषाद्भिद्यते । श्लेषे हि द्वयोरपि
श्रूयमाणत्वात् ॥

अतिशयोक्तिः—

८५२—अथ लक्ष्मण-तुल्य-रूप-वेशं

गमनाऽऽदेश-विनिर्गतऽग्र-हस्तम् ॥

कपयोऽनुययुः समेत्य रामं

नत-सुग्रीव-गृहीत-साऽऽदराज्ञम्. ॥ ४३ ॥

अथेत्यादि—अथ वार्ताश्रवणानन्तरं कपयः समेत्य मिलित्वा राममनुययुः
अनुगतवन्तः । लक्ष्मणेन तुल्यं रूपं वेशश्च यस्य रामस्य गमनाय प्रयाणाय
आदेशः तदर्थं विनिर्गतौ अग्रहस्तौ यस्य । नतेन प्रणतेन सुग्रीवेण गृहीता प्रति-
ष्ठिता सादराज्ञा यस्य तं रामम् । अतिशयोक्तिरिति अतिशयाभिधानात् ।
अत्र सुष्ठुपि नामासौ लक्ष्मणे च तुल्यरूपवेशः स्यात् न तु प्रत्यक्षप्रमाणपरिच्छेद्य
इति लोकातिक्रान्तवचनमेतद्वचनम् । अवश्यं च कश्चिद्विशेषोऽस्ति । यथोक्तम्—
‘निमित्ततो यत्र वचो लोकातिक्रान्तगोचरम् ॥ मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलं-
कारतया यथा ॥’ इति ॥

कुलकम् ४३-४९-

यथा-संख्यम्—

८५३—कपि-पृष्ठ-गतौ ततो नरेन्द्रौ.

कपयश्च च ज्वलितऽग्नि-पिङ्गलाऽक्षाः ॥

मुमुचुः, प्रययुर्, द्रुतं समीयुर्,
वसुधां, व्योम, महीधरं महेन्द्रम् ॥ ४४ ॥

कपिपृष्ठगतावित्यादि—ततोऽनन्तरं नरेन्द्रौ रामलक्ष्मणौ कपयश्च सर्वे
एते मुमुचुः वसुधां त्यक्तवन्तः । प्रययुर्व्योम आकाशम् । महेन्द्रं महीधरं समीयुः
गतवन्तः । लिटः क्त्वे गुणाभावाद्वातो रियङ् । नरेन्द्रौ किंभूतौ । कपिपृष्ठगतौ
हनूमन्तमारूढौ । यथासंख्यमिति मुमुचुरित्यादिना क्रियाणां वसुधादीनां च
कर्मणामनुक्रमशो निर्देशात् । यथोक्तम्—'भूयसामुपदिष्टानां क्रियाणामथ कर्म-
णाम् ॥ क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्यं तदुच्यते ॥' इति ॥

उत्प्रेक्षा—

८५४—स्थितमिव परिरक्षितुं समन्ता-
दुदधि-जलौघ-परिप्लवाद् धरित्रीम् ॥
गगन-तल-वसुन्धराऽन्तराले
जल-निधि-वेग-सहं प्रसार्य देहम् ॥ ४५ ॥

स्थितमित्यादि—उदधिजलौघात्समन्ततो यः परिरुवो विनाशः तस्माद्-
रित्रीं परिरक्षितुमिव गगनतलवसुन्धरयोरन्तराले देहं शरीरं जलनिधिवेगं सहत
इति मूलविभुजादित्वाक्कः । प्रसार्य स्थितं महेन्द्रं समीयुः । उत्प्रेक्षेति । यथो-
क्तम्—'अविवक्षितसामान्यात्किञ्चिन्नोपमया सह ॥ अतद्गुणक्रियारोपादुत्प्रेक्षा-
तिशयान्विता ॥' इति । अत्र महीधरसामान्यस्यापि विवक्षितत्वादविवक्षितं
सामान्यत्वं रक्षितुमिवेति किञ्चिदुपमया सह महेन्द्रगिरेरतद्गुणतया रक्षणक्रिया-
योगः । गगनतलं वसुन्धरां व्याप्य स्थितमित्यतिशयान्विता ॥

वार्ता—

८५५—विष-धर-निलये निविष्ट-मूलं
शिखर-शतैः परिमृष्ट-देव-लोकम् ॥
घन-विपुल-नितम्ब-पूरितांशं
फल-कुसुमाऽऽचित-वृक्ष-रम्य-कुञ्जम् ॥ ४६ ॥

विषधरनिलय इत्यादि—विषधरनिलये पाताले निविष्टमूलं महेन्द्रम् ।
शिखरशतैः करणभूतैः परिमृष्टः संमृष्टः देवलोको येन । घनैर्निरन्तरैर्विपुलैर्वि-
स्तीर्णैर्नितम्बैर्मेखलाभागैः पूरिता व्याप्ता आशा दिशो येन । फलकुसुमाचितैर्वृक्षैः
रम्यं कुञ्जं गहनं यस्मिन् । वार्तैति तत्त्वार्थकथनात् । सा द्विविधा विशिष्टा
निर्विशिष्टा च । तत्र या पूर्वा स्वभावोक्तिरुदिता । यथेयमेव । तथा चोक्तम्—
'स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित्प्रचक्षते ॥ अर्थस्य तादवस्थये च स्वभावोऽभिहितो
यथा ॥' इति । निर्विशिष्टा वार्ता नामालंकारः । यथोक्तम्—'गतोऽस्त्रमर्को भाती-
न्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः । इत्येवमादिकं काव्यं वार्तामेतां प्रचक्षते ॥' इति ॥

२८० भट्टि-काव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

प्रेयः—

८५६—मधु-कर-विरुतैः प्रियाध्वनीनां

सरसि-रुहैर् दयिताऽऽस्य-हास्य-लक्ष्म्याः ॥

स्फुटमनुहरमाणमादधानं

पुरुष-पतेः सहसा परं प्रमोदम् ॥ ४७ ॥

मधुकरविरुतैरित्यादि—प्रियाध्वनीनां सीतासंबन्धिनां जल्पितानां मधु-
करविरुतैः स्फुटं स्पष्टमनुहरमाणमनुकुर्वन्तं सादृश्यमित्यर्थात् । दयितायाः सीतायाः
यदास्यं हासश्चैतयोर्लक्ष्म्याः सरसिरुहैः सादृश्यमनुहरमाणं सन्तं महेन्द्रम् ।
तत्र पद्मैरास्यलक्ष्म्याः कुमुदैर्हासलक्ष्म्याः । अथवा '६३०। तुल्यार्थैः—।२।३।७२।' इति षष्ठी ।
अनुहरमाणशब्दस्य तुल्यार्थत्वात् । सदृशी भवन्तमित्यर्थः । पुरुषपतेः
रामस्य सहसा तत्क्षणं आगतमात्रस्येत्यर्थः । परमुत्कृष्टं प्रमोदमादधानं जनयन्तं
समीयुः । प्रेय इति प्रियतमवस्त्वभिधानात् ॥

रसवत्—

८५७—ग्रह-मणि-रसनं दिवो नितम्बं

विपुलमनुत्तम-लब्ध-कान्ति-योगम् ॥

च्युत-घन-वसनं मनोऽभिरामं

शिखर-करैर् मदनादिव स्पृशन्तम् ॥ ४८ ॥

ग्रहेत्यादि—दिवो नितम्बं मध्यभागं ग्रहाः मणिरसनेव यस्य । विपुलं
विस्तीर्णम् । न विद्यते उत्तमोऽस्मादित्यनुत्तम अतिशयवान् । लब्धः कान्त्या
योगो येन । च्युतो घनो वसनमिव यस्मात् । शिखरैः करैरिव मदनादिव स्पृशन्तं
महेन्द्रम् । रसवदिति दिवो गिरेश्च स्त्रीपुंसयोरिव शृङ्गाररसाभिधानात् ।
तथा चोक्तम्—'रसवद्दर्शितं स्पष्टं शृङ्गारादिरसं यथा ।' इति ॥

ऊर्जस्वी—

८५८—प्रचपलम-गुरुं भराऽसहिष्णुं

जनमसमानमनूर्जितं विवर्ज्य ॥

कृत-वसतिमिवाऽर्णवोपकण्ठे

स्थिरम-तुलोज्जतिमूढ-तुङ्ग-मेघम् ॥ ४९ ॥

प्रचपलमित्यादि—जनं लोकं प्रचपलं अस्थिरं अगुरुं लघुं अत एव भरा-
सहिष्णुं अनूर्जितं अनहंकारं विवर्ज्यैवासमानत्वात् अर्णवस्य समुद्रस्योपकण्ठं

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सीताभिज्ञानदर्शनं' नाम दशमः सर्गः—२८१

समीपे कृतवसतिं कृतावस्थानं समीयुः । तदेवासमानत्वं दर्शयन्नाह—स्थिरं
अचलं अतुल्योन्नतिं असाधारणमहत्त्वमूढतुङ्गमेवं उद्धृतमहामेघं आश्रयणीयत्वात् ।
ऊर्जस्वीति साहंकारवस्त्वभिधानात् ॥

पर्यायोक्तिः—

८५९—स्फटिक-मणि-गृहैः स-रत्न-दीपैः

प्रतरुण-किन्नर-गीत-निस्वनैश्च च ॥

अमर-पुर-मतिं सुराङ्गनानां

दधतम-दुःखमनल्प-कल्प-वृक्षम् ॥ ५० ॥

स्फटिकमणिगृहैरित्यादि—स्फटिकमणिगृहैः रत्नदीपयुक्तैः प्रतरुणानां कि-
न्नराणां गीतनिस्वनैश्च हेतुभूतैः अमरपुरमतिं स्वर्गबुद्धिं सुराङ्गनानां दधतं जनय-
न्तम् । अदुःखं न विद्यते दुःखमस्मिन्निति सुखहेतुमित्यर्थः । बहुकल्पवृक्षं समीयुः ।
पर्यायोक्तिरिति अमरपुरमतिं दधतमित्यनेन पर्यायेण वचनगत्या तदेवामरपुर-
मिति प्रतिपादनात् । तथा चोक्तम्—'पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते' इति ॥

समाहितम्—

८६०—अथ ददृशुरुदीर्ण-धूम-धूमां

दिशमुदधि-व्यवधिं समेत-सीताम् ॥

सह-रघुतनयाः प्लवङ्ग-सेनाः

पवन-सुताङ्गुलि-दर्शितामुदक्षाः ॥ ५१ ॥

अथेत्यादि—अथ ग्राह्यनन्तरं प्लवङ्गसेनाः सहरघुतनया दिशं ददृशुः । उद-
धिर्व्यवधिं सजलधिव्यवधानां दक्षिणामित्यर्थः । '३२७०। उपसर्गे चोः किः
।३।३।९२।' उदीर्णेन महता धूमेन धूमाग्रमस्पष्टाम् । समेतसीतां संगता सीतान-
येति तृतीयार्थे बहुव्रीहिः । पवनसुतस्याङ्गुल्या दर्शिताम् । उदक्षाः ऊर्ध्वीकृताक्षाः ।
'८५२। बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः-।५।४।११३।' इति षच् । पिल्लक्ष्णो ङीष् न
भवति तस्यानित्यत्वात् । तेन दंष्ट्रेत्युपपन्नं भवति । समाहितमिति अनन्यमन-
स्कतया दिशो ऽवलोकनात् ॥

कलापकं चतुर्भिः ५१-५४-

उदारम्—

८६१—जल-निधिर्मगमन् महेन्द्र-कुञ्जात्

प्रचय-तिरोहित-तिग्म-रश्मि-भासः ॥

सलिल-समुदयैर् महा-तरङ्गैर्

भुवन-भर-क्षममर्प्य-भिन्न-वेलम् ॥ ५२ ॥

जलनिधिसित्यादि—महेन्द्रकुञ्जात् जलनिधिमगमन् गतवत्यः प्लवङ्गसेनाः । लुदित्वाञ्छेत् । प्रचयेन उच्चतया तिरोहितास्तिग्मरश्मिभासो येन निकुञ्जेन तस्मान्निकुञ्जात् । सलिलसमुदयैर्महातरङ्गैर्महोर्मिभिः भुवनस्य भरणे क्षममपि शक्तमपि । ‘१५८६। भृ भरणे’ इति क्रैयादिकः । तस्य ऋतोरपि रूपम् । अभिन्नवेलं अनतिक्रान्तमर्यादं जलनिधिम् । उदारमिति उदात्तमित्यर्थः । महानुभावताप्रतिपादनात् । यतो महातरङ्गैर्जलसमूहैर्भुवनभरक्षममपि अभिन्नवेलमिति । द्विविधमुदारं महानुभावतया विविधरत्नयोगाच्चेति । इयं महानुभावता दर्शिता ॥

द्वितीयमाह—

उदारमेव—

८६२—पृथु-गुरु-मणि-शुक्ति-गर्भ-भासा

ग्लपित-रसा-तल-संभृताऽन्धकारम् ॥

उपहत-रवि-रश्मि-वृत्तिमुच्चैः

प्रलघु-परिप्लवमान-वज्र-जालैः ॥ ५३ ॥

पृथ्वित्यादि—पृथ्वो महान्तः गुरवस्तु न परिच्छेद्या मणयो मौक्तिका यासां शुक्तीनां तथाविधानां गर्भस्य भासा दीप्त्या ग्लपितं क्षयितं रसातले संभृतमुपचितमन्धकारं येन तम् । उच्चैरुपरि प्रलघूनामल्पानां परिप्लवमानानां वज्राणां यानि जालानि समूहाः तैरुपहता रविरश्मिवृत्तयो यस्मिन् सः । तं जलनिधिमगमन् । यद्वज्रं वारिणि तरति तत्प्रशस्तमित्युक्तम् । ‘एतदेवापरेऽन्येन वाक्यार्थेनान्यथा विदुः ॥ नानारत्नवियुक्तं यत्तत्किलोदारमुच्यते ॥’ इति ॥

उदारमेव—

८६३—समुपचित-जलं विवर्धमानै-

रं-मल-सरित्-सलिलैर् विभावरीषु ॥

स्फुटमवगमयन्तमूढ-वारीन्

शश-धर-रत्न-मयान् महेन्द्र-सानून् ॥ ५४ ॥

समुपचितजलमित्यादि—विभावरीषु विवर्धमानैरमलैः सरित्सलिलैः समुपचितजलं उदधिं स्पष्टमवगमयन्तं बोधयन्तम् । किमित्याह—महेन्द्रसानून् शशधररत्नमयान् चन्द्रकान्तस्वभावान् ऊढवारीन् । अन्यथा कथं धीयते जलं यदि चन्द्रकान्तसानवो न स्युः । उदारमेवेति रत्नयोगात् ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सीतामिज्ञानदर्शनं' नाम दशमः सर्गः— २८३

श्लिष्टम्—

८६४—भुवन-भर-सहान-लङ्घ्य-धाम्नः

पुरु-रुचि-रत्न-भृतो गुरुर्देहान् ॥

श्रम-विधुर-विलीन-कूर्म-नक्रान्

दधतमुदूढ-भुवो गिरीनर्हीश च ॥ ५५ ॥

भुवनभरसहानित्यादि—गिरीन् भुवनभरसहान् अर्हीश्च तादृशानेव दधतं जलनिधिमगमन् । गिरीनलङ्घ्यधाम्नः अर्हीश्चानभिभवनीयतेजसः । गिरीन् पुरुरुचिरत्नभृतः अर्हीश्च महारुचिरत्नभृतः । गिरीन् गुरुदेहान् अर्हीश्च महाकायान् । श्रमविधुराः श्रमपीडिताः विलीनाः कूर्मा नक्राश्च येषु तान् गिरीनर्हीश्वो-दूढभुवो दधतवसुधान् । गिरीनर्हीश्च । '१४०। न च्छव्यप्रशान् ॥७।३।७।' इति ह्रस्वं पूर्वस्यानुनासिकः । श्लिष्टमिति । उपमानेनोपमेयत्वस्य साधनात् । तथा चोक्तं विशेषणेन श्लिष्टम्—'उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य साध्यते ॥ क्रिया-गुणाभ्यां नाम्ना च श्लिष्टं तदभिधीयते ॥' इति । अत्रोपमानभूतैरहिभिरुपमेय-भूतानां गिरीणां तत्त्वस्य ताद्रूप्यस्य भुवनभरादिताद्रूप्यक्रियया तदुणेन च साध-नेन गिरिभिरहिभिश्च नाम्ना च शब्देन भुवनभरसहानित्यादिना साध्यमान-त्वात् । रूपकमपीदृशमेव । किंतु श्लिष्टस्य भेदेनोपमेययोर्युगपत्प्रयोगात् । रूपके पुनरेकस्यैवोपमेयपुरुषस्य व्याघ्र उपमानम् । तथा चोक्तम्—'लक्षणं रूपकेऽपीदं विद्यते काममत्र तु ॥ दृष्टः प्रयोगो युगपदुपमानोपमेययोः ॥' इति । तदुक्तम् । लक्षणं श्लिष्टं सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशाब्रिविधम् । यथोक्तम्—'श्लेषादेवार्थवच-सोर्यस्य च क्रियते भिदा ॥ तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशाब्रिविधं यथा ॥' इति । तत्रेदं सहोक्तिश्लिष्टमुक्तं गिरीनर्हीश्चेति सहोक्त्या निर्देशात् ॥

श्लिष्टमेव—

८६५—प्रददृशुरु-मुक्त-शीकरौघान्

विमल-मणि-द्युति-संभृतेन्द्र-चापान् ॥

जल-मुच इव धीर-मन्द्र-घोषान्

क्षिति-परिताप-हतो महा-तरङ्गान् ॥ ५६ ॥

१—'१३३१। गृह-देह-त्विष्ट-प्रभावा धामानि-' इति नानार्थात् गिरिपक्षे अलङ्घ्यानि धामानि देहा येषामित्यर्थः । अहिपक्षे च धामानि तेजांसीति । २—गुरुवः जडाः उरवः विशालाश्च देहा येषामिति विग्रहः । ३—अत्र गिरिपक्षे अर्थेष्टीकायां स्फुट एव । अहिपक्षे तु श्रमेण भयादितस्ततः पलायनप्रयत्नेन विधुराः श्रान्ताः सन्तो विलीनाः विशेषेण लयं नाशं प्राप्ताः कूर्मादयो येष्वित्यर्थः ।

प्रददशुरित्यादि—महातरङ्गान् जलमुच इव मेघानिव प्रददशुः प्रदष्टवत्यः ।
उरवो महान्तो मुक्ताः प्रकीर्णाः शीकरौघा येषु । विमलमणिद्युतय एव सन्ततानि
इन्द्रचापानि येषु । धीरमन्द्रघोषान् मधुरगम्भीरध्वनीन् । क्षितिपरितापहतः
पृथिवीसन्तापहारिणः । इदमपि यथानिर्दिष्टविशेषणात् श्लिष्टं जलमुच इवेत्युप-
माननिर्देशात् ॥

कुलकम् ५६-६०-

हेतु-श्लिष्टम्—

८६६-विद्रुम-मणि-कृत-भूषा

मुक्ता-फल-निकर-रञ्जिताऽऽत्मानः ॥

वभुरुदक-नाग-भग्ना

वेला-तट-शिखरिणो यत्र, ॥ ५७ ॥

विद्रुमेत्यादि—वेलातटशिखरिणो यत्रेति जलनिधौ बभुः शोभन्ते स्म ।
ते तमीयुरिति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । वेलातटाः शिखरिणश्चेति द्वन्द्वः । शेषाणि
विशेषणान्युभयत्र तुल्यानि । इदमपि यथानिर्दिष्टमेव । किंतु हेतुश्लिष्टं हेतुद्वारेण
विशेषणानां निर्देशात् । विद्रुममणिकृतभूषात्वात् जलहस्तिभग्नत्वाच्च बभुरिति ॥

अपह्नुतिः—

८६७-भृत-निखिल-रसा-तलः स-रत्नः

शिखरि-समोर्मि-तिरोहिताऽन्तरीक्षः ॥

कुत इह परमाऽर्थतो जलौघो

जल-निधिमीयुरतः समेत्य मायाम् ॥ ५८ ॥

भृतनिखिलरसातल इत्यादि—एवंगुणविशिष्टो जलौघः कुत इह प्रदेशे
परमार्थतः परमार्थेन विद्यते । किं तर्हि माया । यतः पूरिताशेषपातालत्वात् सरत्न-
त्वात् । शिखरिसमैरुर्मिभिः पिहितान्तरिक्षत्वाच्च । सराववाः प्लवङ्गसेनाः समेत्य
मायामिव जलनिधिमीयुः ज्ञातवत्यः । सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति । ‘१६४। भृञ्
भरणे’ इति भौवादिकः । अपह्नुतिरिति मायामित्यन्तर्गतोपमारूपतया निर्देशात् ।
विद्यमानार्थस्य चापह्नुत्वात् । तथा चोक्तम्—‘अपह्नुतिरितीष्टात्र किञ्चिदन्तर्गतो-
पमा ॥ भृतार्थापह्नुत्वादेवा क्रियतेऽस्याभिदा यथा ॥’ इति ।

विशेषोक्तिः—

८६८-शशि-रहितमपि प्रभूत-कान्तिं

विबुध-हृत-श्रियमर्ण्य-नष्ट-शोभम् ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सीताभिज्ञानदर्शनं' नाम दशमः सर्गः—२८५

मथितमपि सुरैर् दिवं जलौघैः

समभिभवन्तर्म-विक्षत-प्रभावम् ॥ ५९ ॥

शशिरहितमित्यादि—शशिरहितमपि सुगन्धचन्द्ररहितमपि प्रभूतकान्ति पद्मरागादिरत्नावभासितत्वात् । विबुधहृतश्रियमपि अनष्टशोभं सर्वदा शोभास्प-
दत्वात् । सुरैर्मथितमपि दिवमाकाशं जलौघैः समभिभवन्तं अत्युच्छ्रितत्वात्
तदेवमविक्षतप्रभावं अखण्डिताभिमानमीयुः ज्ञातव्यः । विशेषोक्तेरिति शश्या-
देरेकदेशस्य विगमे ऽपि प्रसूतकान्त्या गुणान्तरेण स्तुतिविशेषस्य प्रतिपादनात् ।
यथोक्तम्—'एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्तुतिः ॥ विशेषप्रथनायासौ विशे-
षोक्तिर्मता यथा ॥' इति ॥

व्याज-स्तुतिः—

८६९—क्षिति-कुल-गिरि-शेष-दिग्-गजेन्द्रान्

सलिल-गतामिव नावमुद्रहन्तम् ॥

धृत-विधुर-धरं महा-वराहं

गिरि-गुरु-पोत्रमपीहितैर् जयन्तम् ॥ ६० ॥

क्षितीत्यादि—क्षितिं पृथिवीं, कुलगिरीन् कुलपर्वतान्, शेषं नागराजं,
दिग्गजेन्द्रानैरावतादीन् । सलिलगतामिव नावमुद्रहन्तं जलनिधिं महावराहं
धृतविधुरधरं धृता उद्धृता विधुरा विह्वला धरा मही येनेति । गिरिगुरुपोत्रं गिरि-
वत् गुरु पोत्रं यस्य तमपीहितैश्चेष्टितैर्जयन्तं जलनिधिमयीः । व्याजस्तुतिरिति
क्षित्यादिधारणादधिकगुणस्य जलनिधेस्तोत्रव्यपदेशेन वराहेण तुल्यत्वात् । तम-
पि महावराहं जयन्तमिति किञ्चिद्विधातुमिच्छया निन्दनात् । तथा चोक्तम्—
'दूराधिकगुणस्तोत्रव्यपदेशेन तुल्यता ॥ किञ्चिद्विधित्सया निन्दा व्याजस्तुतिरसौ
यथा ॥' इति ॥

उपमा-रूपकम्—

८७०—गिरि-परिगत-चञ्चलाऽऽपगाऽन्तं

जल-निवहं दधतं मनोऽभिरामम् ॥

गलितमिव भुवो विलोक्य रामं

धरणि-धर-स्तन-शुक्ल-चीन-पट्टम् ॥ ६१ ॥

गिरीत्यादि—गिरिभिः परिगताः संसृष्टाः चञ्चला विलोला आपगान्ता
नद्यन्ता यस्मिन् जलनिवहे, तं जलनिवहं दधतं धारयन्तं समुद्रमीयुः । कीदृश-

मिव जलनिवहम् । रामं भर्तारं विलोक्य हृष्टाय इत्यर्थप्राप्तम् । ततश्च पूर्वकाले क्त्वा । भुवः पृथिव्या इव धरणिधरस्तनयोः शुक्लचीनपट्टमिव गलितम् । उप-
मारूपकमिति । तथोक्तम्—‘उपमानस्य तद्भावमुपमेयस्य रूपयन् ॥ यो वदत्यु-
पमाभेदमुपमारूपकं यथा ॥’ इति ॥

तुल्ययोगिता—

८७१—अ-परिमित-महाद्भुतैर् विचित्रश्र

च्युत-मलिनः शुचिभिर् महान्-लङ्घ्यैः ॥

तरु-मृग-पति-लक्ष्मण-क्षितीन्द्रैः

समधिगतो जलधिः परं बभासे. ॥ ६२ ॥

अपरिमितमहाद्भुतैरित्यादि—तरुमृगपतिलक्ष्मणक्षितीन्द्रैः सुग्रीवलक्ष्म-
णरामैः समधिगतः प्राप्तो जलधिः परं सुष्ठु बभासे शोभते स्म । कीदृशैः कीदृश
इत्याह—अपरिमितमहाद्भुतैर्विचित्रः नानाद्भुतः । शुचिभिर्विमलैः च्युतमलिनो
निर्मलोऽलङ्घ्यैरनभिभवनीयैः महान् अनभिभवनीयः । एवं च कृत्वा तेनापि
ते समधिगताः परं बभासिर इति । तुल्ययोगितेति न्यूनानामपि तेषां सुग्री-
वादीनां विशिष्टेन जलनिधिना महाद्भुतत्वादिगुणसाम्यविवक्षया तुल्यस्य कार्यस्य
भासनलक्षणस्यानुष्ठानेन तुल्ययोगात् । तथा चोक्तम्—‘न्यूनस्यापि विशिष्टेन
गुणसाम्यविवक्षया ॥ तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता ॥’ इति ॥

निदर्शनम्—

८७२—न भवति महिमा विना विपत्ते-

रवगमयन्निव पश्यतः पयोधिः ॥

अ-विरतमभवत् क्षणे क्षणे ऽसौ

शिखरि-पृथु-प्रथित-प्रशान्त-वीचिः. ॥ ६३ ॥

न भवतीत्यादि—महिमा महत्त्वं विना विपत्तेः विनाशं विना न भवति
‘६०३। पृथग्विना-।२।३।३२।’ इत्यादिना पञ्चमी । नास्त्येव तन्महत्त्वं यस्य
विनाशो नास्तीत्येवमवगमयन् बोधयन्निव पयोधिस्तान् पश्यतो रामादीन् अवि-
रतमविच्छेदेन शिखरिवत् पृथवः प्रथिताः प्रशान्ताश्च वीचयो यस्य स एवं क्षणे
क्षणे अभवत् भूतवान् । निदर्शनेति प्रतिक्षणं वीचीनां पृथुत्वप्रशान्तत्वभवन-
क्रियैव महिमभवनस्य तदर्थस्य विपत्तिफलस्य उपादानात् । न यथेववतिश-
ब्दानां प्रयोगात् । तथा चोक्तम्—‘क्रियैव तदर्थस्य विशिष्टस्योपदर्शनात् ॥ इष्टा
निदर्शना नाम यथेववतिभिर्विना ॥’ इति ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सीताभिज्ञानदर्शनं' नाम दशमः सर्गः—२८७

समुद्रोपकण्ठे रामस्य मदनावस्थामाह—

विरोधः—

८७३—मृदुभिरपि विभेद पुष्प-वाणैश्च
चलशिशिरैरपि मारुतैर् ददाह ॥
रघु-तनयमनर्थ-पण्डितो ऽसौ,
न च मदनः क्षतमाततान, ना ऽर्चिः ॥ ६४ ॥

मृदुभिरित्यादि—मदनोऽनर्थपण्डितः निष्प्रयोजनकुशलः पुष्पवाणैरपि मृदुभिः रघुतनयं विभेद । न चासौ क्षतं खण्डनमाततान जनिवान् । जलशिशिरैर्मारुतैस्त्वमेव रघुतनयं ददाह न चासावर्चिर्ज्वालामाततान । विरोध इति पुष्पवाणानां यन्मादवं मरुतां च जलसंसर्गाद्यच्छैत्यं तयोर्भेददाहलक्षणे क्रिये विरुद्धे तयोर्भिधानात् । तयोश्च क्रिययोर्वा विरोधिनी क्रिया क्षतार्चिषोरवतानलक्षणा तस्याः कामोद्वेकप्रतिपादनाभिधानात् । तथा चोक्तम्—'गुणस्य च क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियाभिधा । या विशेषाभिधानाय विरोधं तं विदुर्यथा ॥' इति ॥

उपमेयोपमा—

८७४—अथ मृदु-मलिन-प्रभौ दिनाऽन्ते
जलधि-समीप-गतावतीत-लोकौ ॥
अनुकृतिर्मितरेतरस्य मूर्त्योर्
दिन-कर-राघव-नन्दनावकाष्टाम् ॥ ६५ ॥

अथेत्यादि—अथ यथोक्तवस्त्वनन्तरं मृदुमलिनप्रभौ मृदुरप्रचण्डा मलिना प्रभा ययोः तौ दिनकरराघवनन्दनौ । रघोरपत्यं राघवः दशरथस्तन्नन्दनो रामः दिनान्ते अन्योन्यस्य दिवाकरो रामस्य रामो ऽपि दिवाकरस्येति मूर्त्योर्दिहयोरनुकृतिमिवानुकारमिव यथोक्तधर्मतुल्यतया अकाष्टां कृतवन्तौ । अतीतलोकौ त्यक्तलोकौ । उपमेयोपमेति । तयोः पर्यायेण उपमानोपमेयत्वात् । तथा चोक्तम्—'उपमानोपमेयत्वं यत्र पर्यायतो भवेत् ॥ उपमेयोपमां धीरा ब्रुवते तां यथोदिताम् ॥' इति ॥

सहोक्तिः—

८७५—अपहरदिव सर्वतो विनोदान्
दयित-गतं दधदैकधा समाधिम् ॥
घन-रुचि ववृधे ततो ऽन्धकारं
सह-रघु-नन्दन-मन्मथोदयेन ॥ ६६ ॥

२८८ भट्टि-काव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

अपहरदित्यादि—ततस्तत्तरकालं दिवसे ये विनोदाः चेतसः संस्थापकाः
तान् सर्वतः सर्वान् सर्वेण वा प्रकारेण । आद्यादित्वात्तसिः । अपहरदिव अपनयदि-
वान्धकारं दयितगतं प्रियागतं च । समाधिं चित्तैकाग्रतां एकधा एकप्रकारं दधत्
धारयत् । धनरुचि बहुलच्छायं ववृधे वर्धते स्म । सह रघुनन्दनमन्मथोदयेन तदानीं
तस्य कामोदयोऽपि ववृधे । सहोक्तिरिति अन्धकारवन्मन्मथाश्रितयोर्वर्धनक्रिय-
योस्तुल्यकालयोः ववृध इत्यनेन पदेन कथनात् । तथा चोक्तम्—‘तुल्यकालक्रिये
यत्र वस्तुद्वयसमाश्रिते ॥ वाक्येनैकेन कथ्येते सहोक्तिः सा मता यथा ॥’ इति ॥

परिवृत्तिः—

८७६—अधि-जलधि तमः क्षिपन् हिमांशुः

परिददृशे ऽथ दृशां कृताऽवकाशः ॥

विदधदिव जगत् पुनः प्रलीनम्.

भवति महान् हि पराऽर्थ एव सर्वः. ॥ ६७ ॥

अधिजलधीत्यादि—अथ हिमांशुरन्धकारवर्धनानन्तरम् । अधिजलधि
जलधेरुपरि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । तमः क्षिपन् अपनयन् । परिददृशे दृष्टः ।
दृशां चक्षुषां कृतावकाशः दत्तावसरः । जगल्लोकं प्रलीनं तिरोभूतं पुनर्विदधदिव
सृजन्निव । कस्मात्तेनैवं कृतमित्याह—यस्माद्यो महान् स सर्वः परार्थ एव पर-
प्रयोजन एव भवति । परिवृत्तिरिति दृशां कृतावकाश इत्यनेन विशिष्टस्य
वस्तुन आदानात् । तमः क्षिपन्नित्यनेनास्य वस्तुनः अपोहात्, भवतीत्यादिना
अर्थान्तरन्यासात् । तथा चोक्तम्—‘विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुनः ॥
अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा ॥’ इति ॥

स-सन्देहः—

८७७—अशनिरयमसौ, कुतो निरञ्जे.

शित-शर-वर्षम-सत् तदप्य-शार्ङ्गम्. ॥

इति मदन-वशो मुहुः शशाङ्के

रघु-तनयो, न च निश्चिकाय चन्द्रम्. ॥ ६८ ॥

अशनिरित्यादि—असौ यश्चन्द्रः किमयमशतिर्वज्रं, असौ कुतो निरञ्जे नभसि
कुतः, यतोऽसौ मेघादुत्पद्यत इति । उत निशितानां शराणां वर्षं तदप्यशार्ङ्गम-
विद्यमानधनुः असदविद्यमानमित्ययं मदनवशः कामाभिभूतो मुहुः क्षणं शशाङ्के
शशाङ्कविषये रघुतनयोऽभूदित्यर्थात् द्रष्टव्यम् । न च चन्द्रं निश्चिकाय निश्चि-
नोति स्म । ‘२५२५ विभाषा चेः ॥७३१५८॥’ इति कुत्वम् । ससन्देह
इति । अशनिशरवर्षाभ्यां उपमेयस्य चन्द्रस्य तत्त्वं अशनिशरवर्षमिति प्रयो-
क्तुरभिधानात् । कुतो निरञ्जे तदप्यशार्ङ्गमिति पुनरुपमानोपमेययोर्भेदाभि-

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सीताऽभिज्ञानदर्शनं' नाम दशमः सर्गः—२८९

धानात् न निश्चिकाय चन्द्रमिति स्तुत्यर्थं सन्देहवचोऽभिधानाच्च । तथा चोक्तम्—
'उपमानोपमेयस्य तत्त्वं च वदतः पुनः ॥ ससन्देहवचः स्तुत्यै ससन्देहं
विदुर्यथा ॥' इति ॥

अनन्वयः—

८७८—कुमुद-वन-चयेषु कीर्ण-रश्मिः

क्षत-तिमिरेषु च दिग्-वधू-मुखेषु ॥

वियति च विललास तद्-वर्दिन्दुर,

विलसति चन्द्रमसो न यद्-वर्दन्यः ॥ ६९ ॥

कुमुदवनचयेष्वित्यादि—कुमुदवनानां चयेषु समूहेषु, दिग्बधूमुखेषु,
वियति च, क्षततिमिरेषु खण्डिततमःसु यतस्तेषु विकीर्णरश्मिः क्षिप्तमयूखः
विललास तद्दिन्दुः शोभते स्म । चन्द्रमसः सकाशात् अन्यो यद्वद्यथा न विकसति
तथा विललास । इदमुक्तं भवति । इन्दुर्विललास चन्द्र इवेति । अनन्वय इति
सत्सदृशस्य साम्यस्याविवक्षातश्चन्द्रस्योपमानोपमेयत्वात् । तथा चोक्तम्—'यत्र तेनैव
तस्य स्यादुपमानोपमेयता ॥ सादृश्यस्याविवक्षातस्तमित्यादुरनन्वयम् ॥' इति ॥

उत्प्रेक्षाऽवयवः—

८७९—शरणमिव गतं तमो निकुञ्जे

विटपि-निराकृत-चन्द्र-रश्म्यरातौ ॥

पृथु-विषम-शिलाऽन्तराल-संस्थं

स-जल-घन-द्युति भीत-वत् ससाद. ॥ ७० ॥

शरणमित्यादि—पृथुविषमशिलानां यान्यन्तरालानि तेषु संस्थं संतिष्ठ-
मानं सत्तमः निकुञ्जे गहने विटपिभिर्निराकृताश्चन्द्रस्य रश्मय एवारातयो यस्मा-
न्निकुञ्जात् तस्मिन् ससाद विलीनं शरणमिव । यथा कश्चित् भीतो दुर्गे निली-
यते । सजलस्य घनस्येव द्युतिर्यस्य तमसः । उत्प्रेक्षावयव इति । भीतवत्स-
सादेति उपमाश्लेषलक्षणस्य श्लिष्टस्यार्थेन योगात् शरणमिव गतमित्युत्प्रेक्षायो-
गात्, 'विटपिनिराकृतचन्द्ररश्म्यरातौ' इति रूपकार्थेन योगात् । तथा चोक्तम्—
'श्लिष्टस्यार्थेन संयुक्तः किञ्चिद्विषयान्वितः ॥ रूपकार्थेन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो
यथा ॥' इति ॥ 'विटपितिरस्कृतचन्द्ररश्मियोगः' इति पाठान्तरं तत्र रूपकार्थो
नास्तीति असंपूर्णलक्षणता ॥

संसृष्टिः—

८८०—अथ नयन-मनो-हरो ऽभिरामः

स्मर इव चित्त-भवोऽप्य-वाम-शीलः ॥

रघु-सुतमनुजो जगाद वाचं

स-जल-घन-स्तनयितु-तुल्य-घोषः—॥ ७१ ॥

अथेत्यादि—अथ चन्द्रदर्शनानन्तरं रघुसुतं राममभिरामः कामाभिभूत-
त्वादाभिमुख्येन रम्यत इति । अनुजः कनीयान् आता वाचं वक्ष्यमाणां जगाद
गदितवान् । नयनमनोहरः प्रेक्षणीय इत्यर्थः । अत्र नयने मनश्चावर्जयन् नयन-
मनोहर इति तुल्ययोगिता । न्यूनस्य लक्ष्मणस्याधिकेन सहाभिरमणीयगुणसाम्य-
विवक्षया अभिरमणतुल्यक्रियायोगात् । स्मर इव चित्तभवोऽपि तस्य चेतसि
सदा भवतीति श्लिष्टम् । तथाप्यवामशीलोऽप्रतिकूल इति विरोधः । स्मरस्तु
वामशीलः । सजलघनस्तनयितुना शब्देन तुल्यो घोषो यस्य । संसृष्टिरिति
बहुलंकारयोगात् । तथा चोक्तम्—‘पराभिभूता संसृष्टिर्बहुलंकारयोगतः ॥
रचिता रत्नमालेव सा चैवं कथ्यते यथा ॥’ इति ॥

आशीः—

८८१—‘पति-वध-परिलुप्त-लोल-केशीरू

नयन-जलाऽपहृताऽञ्जनौष्ठ-रागाः ॥

कुरु रिपु-वनिता, जहीहि शोकं,

क च शरणं जगतां भवान्, क मोहः ॥ ७२ ॥

पतीत्यादि—पतिवधेन परिलुप्ता अष्टा लोलाः केशा यासां रिपुवनिता-
नाम् । नयनजलेनाश्रुणा अपहृतमञ्जनमोष्ठरागश्च यासां ताः मन्दोदरीप्रभृतीः
कुरु । शोकं जहीहीत्यादांसे । किं तत् । क भवान् जगतां शरणमाश्रयः क च मोह
इति । आशीरिति इष्टस्याशंसनात् । तथा चोक्तम्—‘आशीरिति च केषांचिद-
लंकारतया मता ॥ सौहृदस्याविरोधोक्तौ प्रयोगोऽस्याश्च तद्यथा ॥’ इति ॥

हेतुः—

८८२—अधिगत-महिमा मनुष्य-लोके

वत सुतरामवसीदति प्रमादी, ॥

गज-पतिरुरु-शैल-शृङ्ग-वर्ष्मा

गुरुरवमज्जति पङ्क-भाङ्ग, न दारु. ॥ ७३ ॥

अधिगतमहिमेत्यादि—मनुष्यलोके योऽधिगतमहिमा प्राप्त्याधिपत्यः स
प्रमादी शोकादिषु प्रमादवान् वत कष्टमवसीदति न कार्यसमर्थो भवति । कुत
एतदित्याह—गजपतिः उरुशैलशृङ्गवर्ष्मा महाशैलशृङ्गप्रमाणं वर्ष्म वपुर्यस्य
सः । पङ्कभाक् पङ्कं भजतीति । ‘२९७६। भजो ण्विः । ३।२।६२।’ पङ्कमवतीर्णः
सन् अवमज्जति अवसीदति । यस्मादसौ गुरुः, न पुनर्दारु काष्ठं तस्मान्मुञ्च
शोकम् । हेतुरिति गजपतेर्हेतुद्वारेण निर्देशात् अयमर्थान्तरो द्रष्टव्यः ॥

निपुणम्—

८८३—बोद्धव्यं किमिव हि, यत् त्वया न बुद्धं,

किं वा ते निमिषितमप्य-बुद्धि-पूर्वम्, ॥

लब्धाऽऽत्मा तव सुकृतैरनिष्ट-शङ्की

स्नेहौघो घटयति मां तथापि वक्तुम्. ॥ ७४ ॥'

बोद्धव्यमित्यादि—किमिव तद्बोद्धव्यं ज्ञातव्यमस्ति नैवेत्यर्थः । यत्त्वया न बुद्धं बुद्ध्या विज्ञेयं तव किञ्चिच्चेष्टितमपि नोपेक्षापूर्वकं यतो निमिषितमप्यक्ष्णो-
र्निमीलनमपि अबुद्धिपूर्वकं नैवेत्यर्थः । यद्येवं किमित्यस्मानुपदिशसीत्याह—
लब्धास्मेति । तथापि सुकृतैर्लब्धात्मा लब्धजन्मा स्नेहौघः स्नेहसमूहः । अनि-
ष्टशङ्की अनिष्टशङ्कनशीलः । मां वक्तुं वदेति घटयति । निपुणमिति अर्थावगा-
ढत्वादस्य चोदात्तेऽन्तर्भावो द्रष्टव्यः । भाविकत्वमित्यलंकार उक्तः । तद्वन्धवि-
षयत्वात्पृथक् प्रदर्शयिष्यति ॥

८८४—सौमित्रेरिति वचनं निशम्य रामो

जृम्भावान् भुज-युगलं विभज्य निद्रान् ॥

अध्यष्टाच्च छिशयिषया प्रवाल-तल्पं

रक्षायै प्रति-दिशमादिशन् प्लवङ्गान्. ॥ ७५ ॥

इति भट्टिकाव्ये दशमः सर्गः ॥

सौमित्रेरित्यादि—इत्येवं सौमित्रेः लक्ष्मणस्य वचनं निशम्य श्रुत्वा रामो
जृम्भावान् जातजृम्भकः जृम्भणं जृम्भा । '३२८०। गुरोश्च हलः । ३। ३। १०३।' इत्यकारः । टाप् । निद्रान् निद्रां गच्छन् । '११२८। द्रा कुत्सायां गतौ ।' इत्यस्मादादादिकस्य निपूर्वस्य शतरि रूपम् । शिशयिषया शयितुमिच्छया । भुजयुगलं विभज्य एकं शिरःस्थाने न्यस्य द्वितीयं शरीरस्थोपरि प्रसार्येत्यर्थः । विभुज्येति पाठान्तरम् । तत्र क्रोडभागे वक्रीकृत्येत्यर्थः । प्रवालतल्पं पल्लवशय-
नीये अध्यष्टात् अधिष्ठितवान्—'२२२३। गति-स्था—। २। ४। ७७।' इति सिचो लुक् । '२२७६। प्राक् सितात्—। ८। ३। ६३।' इत्यादिना पत्वम् । समुद्रदिदक्षया नियमपूर्वं सुष्वपेत्यर्थः । रक्षायै रक्षानिमित्तं प्लवङ्गानादिशन् नियोजयन् । प्रति-
दिशं दिशि दिशि । '६७७। अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः । ५। ४। १०७।' इति टच् । तत्र दिक्षब्दस्य पठितत्वात् ॥

इति श्री-जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते श्री-भट्टिकाव्ये

तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमः परिच्छेदः (वगः),

तथा लक्ष्यरूपे कथानके 'सीताऽभिज्ञानदर्शनं' नाम

दशमः सर्गः ॥

२९२ भट्टि-काव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

एकादशः सर्गः—

माधुर्यमपि काव्यस्य गुण उक्तः । तथा चोक्तम्—‘श्राव्यं नातिसमस्तार्थं काव्ये
मधुरमिष्यते’ इति । तत्प्रदर्शनार्थं लङ्कागतप्रभातवर्णनमधिकृत्याह—

८८५—अथा ऽस्तमासेदुषि मन्द-कान्तौ

पुण्य-क्षयेणेव निधौ कलानाम् ॥

समाललम्बे रिपु-मित्र-कल्पैः

पद्मैः प्रहासः कुमुदैर् विषादः ॥ १ ॥

अथेत्यादि—अथानन्तरं कलानां निधौ चन्द्रमसि अस्तं पर्वतमासेदुषि गत-
वति । यथा कस्मिंश्चित् पुण्यक्षयेणावसानमासेदुषि । ‘३०९७। भाषायां सद्-वस-
-१३।२।१०८।’ इति लिटः कसुरादेशः । मन्दकान्तावित्यस्तगमने पूर्वलिङ्गं दर्श-
यति । रिपुकल्पैः पद्मैः प्रहासः विकासः, मित्रकल्पैः कुमुदैर्विषादः संकोचः समा-
ललम्बे समालम्बितः ॥

८८६—दूरं समारुह्य दिवः पतन्तं

भृगोरिवेन्दुं विहितोपकारम् ॥

बद्धा ऽनुरागो ऽनुपपात तूर्णं

तारा-गणः संभृत-शुभ्र-कीर्तिः ॥ २ ॥

दूरमित्यादि—दूरं दिव आकाशस्य भागं समारुह्य पश्चात्तत एवाकाशात्
भृगोरिव प्रपातादिव पतन्तमिन्दुं तारापतिमनु पश्चात् तारागणः विहितोपकारं
तदुदयेन तारागणाप्यायनात् बद्धानुरागः अस्तगमनकाले अनुगतस्तभावः संभृता
विपुलीकृता शुभ्रा निर्मला कीर्तिर्येन स तारागणः पपात । यथा कस्मिंश्चित्स्वा-
मिनि भृगोः पतति पश्चात्स्वामिभक्त्या भृत्यलोको बद्धानुरागः संभृतशुभ्रकीर्तिः
पतति तद्वदिति ॥

८८७—क ते कटाक्षाः क विलासवन्ति

प्रोक्तानि वा तानि ममेति मत्वा ॥

लङ्काऽङ्गनानामवबोध-काले

तुलामनारुह्य गतो ऽस्तमिन्दुः ॥ ३ ॥

क त इत्यादि—ये कटाक्षाः सविलासास्त्रिर्यगृह्यः, यानि च प्रोक्तानि
जल्पितानि विलासवन्ति, तदुभयं क मम विद्यते । लङ्काङ्गनानां तु मुखेन्दवः
सकटाक्षाः सविलासाः सजल्पिताश्च । अतो यावन्न विबुध्यन्ते तावदपक्रमणं युक्त-
मिति मत्वा निरूप्य तुलामनारुह्य समानतामलब्ध्वा निःसंशयो वा भूत्वा ।
तत्प्रबोधकाले । लङ्काङ्गनानामेव । गतोऽस्तमिन्दुः ॥

८८८—मानेन तल्पेष्व-यथा-मुखीना

मिथ्या-प्रसुप्तैर् गमित-त्रियामाः ॥

स्त्रीभिर् निशाऽतिक्रम-विह्वलाभिर्

दृष्टे ऽपि दोषे पतयो ऽनुनीताः. ॥ ४ ॥

मानेनेत्यादि—पतयस्तल्पेषु शयनीयेषु मानेनायथामुखीनाः परावृत्तमुखाः ।
'१८०७। यथामुखसंमुखस्य दर्शनः खः । ५।२।६।' परावृत्तत्वात् प्रतिबिम्बाश्रय-
वत्तेषु योषितां प्रतिबिम्बमिव मनो न प्रसादीभवतीत्येवं मिथ्याप्रसुप्तैरलीकनि-
द्राभिः गमितत्रियामाः प्रेरितप्रथमादिप्रहराः । दृष्टेऽपि दोषे गोत्रस्वल्लितादौ ।
पतयः स्त्रीभिरनुनीता यतो निशातिक्रमात्पर्यवसानात् विह्वला विह्वलास्ताः ॥

८८९—ईर्ष्या-विरुग्णाः स्थिर-वद्ध-मूला

निरस्त-निःशेष-शुभ-प्रतानाः ॥

आप्यायिता नेत्र-जल-प्रसेकैः

प्रेम-द्रुमाः संरुरुहुः प्रियाणाम्. ॥ ५ ॥

ईर्ष्याविरुग्णा इत्यादि—प्रियाणां प्रेमद्रुमाः प्रेमाणि द्रुमा इव । स्थिरं
निश्चलं वद्धमूलं उत्पत्तिकारणं येषां ते ईर्ष्याविरुग्णा अत एव निरस्ताः निःशेषाः
शुभा एव हसितजल्पितादयः प्रतानाः शाखा येषां ते । प्रसादनानन्तरं नेत्रजल-
प्रसेकैराप्यायिताः संरुरुहुः पुनर्नवीभूताः स्थिरवद्धमूलत्वात् ॥

८९०—ततः समाशङ्कित-विप्रयोगः

पुनर्-नवीभूत-रसो ऽवितृष्णः ॥

स्मरस्य सन्तं पुनरुक्त-भावं

ना ऽऽवर्तमानस्य विवेद लोकः. ॥ ६ ॥

तत इत्यादि—प्रेमद्रुमरोहणानन्तरं लोकः समाशङ्कितविप्रयोगो विप्रयोगो-
ऽस्माकमासन्नवर्तीति पुनर्नवीभूतरसः अभिनवीभूतसुरतेच्छः स्मरस्य कामस्य आव-
र्तमानस्य पुनःपुनः प्रवर्तनात् । अवितृष्णः साभिलाषः सन्तमपि विद्यमानमपि
पुनरुक्तभावं पौनःपुन्यं न विवेद । आशङ्कितविप्रयोगत्वात्पूर्वमिव ज्ञातवानित्यर्थः ॥

८९१—वृत्तौ प्रकाशं हृदये कृतायां

सुखेन सर्वेन्द्रिय-संभवेन ॥

संकोचमैवा ऽसहमानमस्था-

द-शक्त-वद् वञ्चित-मानि चक्षुः ॥ ७ ॥

२९४ भट्टि-काव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

वृत्तावित्यादि—सुरतकाले श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानां इन्द्रियाणां शब्द-
स्पर्शरूपरसगन्धग्रहणात् सर्वेन्द्रियसंभवं सुखम् । अथवा सर्वमिन्द्रियं यत्रेति
सर्वेन्द्रियः कायः । तत्संभवं सुखं सर्वेन्द्रियसंभवं सुखं तथाह्यालिङ्गनचुम्बन-
दशनच्छेदनेषु पुरुषोपसृष्टेषु तत्र प्रयुज्यमाने काये सुखमुत्पद्यते । तेन सुखेन
हृदये चेतसि प्रकाशं स्पष्टं वृत्तौ कृतायां चक्षुर्वञ्चितमिवात्मानं मन्यमानम् ।
'२९९३। आत्ममाने खश्च । ३। २। ८३।' इति णिनिः । संकोचमेव निमीलनमेवा-
स्थात् अनुष्ठितवत् असहमानमिति सर्वेन्द्रियसंभवस्य सुखस्य हृदये वृत्तिं सोढु-
मपारयदित्यर्थः । अशक्तवत् यथा कश्चिदसमर्थोऽन्यसंभवां संपदं सोढुमसहमानः
संकोचमनुतिष्ठति ॥

८९२—पीने भटस्योरसि वीक्ष्य भुग्नांस्
तनु-त्वचः पाणि-रुहान् सु-मध्या ॥

इच्छा-विभङ्गाऽऽकुल-मानसत्वाद्
भर्त्रे नखेभ्यश् च चिरं जुजूरे ॥ ८ ॥

पीन इत्यादि—काचित् सुमध्या सुमध्यमा नखैः व्यापद्यमाना अहमप्यस्य
क्षतं विधास्यामीति भटस्योरसि पीने कठिने भुग्नां कुञ्चितान् । भुग्नानिति पाठा-
न्तरम् । पाणिरुहान्खान् वीक्ष्य भर्त्रे नखेभ्यश्च चिरं जुजूरे कुञ्ध्यति स्म । कथ-
मस्य वक्षः कठिनं मम च नखास्तनुत्वचो न कठिना इति । '१२३०। घूरी । १२३१।
जूरी हिंसावयोहान्योः' इत्यस्यात्मनेपदिनो रूपम् । '५७५। कुञ्च-द्रुह-। १। १। ३७।'
इत्यादिना सम्प्रदानसंज्ञा । कस्माज्जुजूर इत्याह—इच्छाविभङ्गाकुलमानसत्वात्
चिकीर्षिताकरणेनाकुलचित्तत्वात् ॥

८९३—स्रस्ताङ्गचेष्टो विनिमीलिताऽक्षः

स्वेदाऽम्बु-रोमोद्गम-गम्य-जीवः ॥

अ-शेष-नष्ट-प्रतिभा-पटुत्वो

गाढोपगूढो दयितैर् जनो ऽभूत् ॥ ९ ॥

स्रस्ताङ्गचेष्ट इत्यादि—दयितैर्गाढोपगूढः गाढालिङ्गितः सन् स्त्रीजनः अशे-
षनष्टप्रतिभापटुत्वोऽभूत् । अशेषं नष्टं प्रतिभाया बुद्धेः पटुत्वं यस्येति । एवं च
कृत्वा स्रस्ताङ्गचेष्टोऽपगतकायव्यापारः विनिमीलिताक्षः सुखानुभवान्निमीलित-
लोचनः । मृतस्तर्हीत्यत आह—स्वेदाम्बुरोमोद्गमगम्यजीवः स्वेदाम्बुरोमोद्गमाभ्यां
लिङ्गाभ्यां गम्यमानसंज्ञः ॥

८९४—तमः, प्रसुप्तं मरणं, सुखं नु,

मूर्च्छा नु, माया नु मनोभवस्य, ॥

किं तत् कथं वैत्युपलब्ध-संज्ञा
विकल्पयन्तो ऽपि न संप्रतीयुः ॥ १० ॥

तम इत्यादि—कामुका अपि रतावस्थाया उत्तरकालं उपलब्धसंज्ञा विकल्प-
यन्ति । तमो नु किमन्धकारं, प्रसुप्तं नु किं प्रकर्षेण सुप्तं, मरणं नु मरणावस्था
नु, सुखं नु, मूर्च्छा नु, मनोभवस्य वा मायेति किं तद्वदति । कथं वा केन प्रकारेण
तत्स्यात् । इत्येवं विकल्पयन्तोऽपि न संप्रतीयुः, न परमार्थं ज्ञातवन्त इत्यर्थः ॥

८९५—वक्षः स्तनाभ्यां, सुखमाननेन,
गात्राणि गात्रैर् घटयन्न-मन्दम् ॥
स्मराऽतुरो नैव तुतोष लोकः,
पर्याप्तता प्रेम्णि कुतो विरुद्धा ॥ ११ ॥

वक्ष इत्यादि—वक्षोमुखगात्राणि स्वानि स्तनादिभिः स्त्रीसंबन्धिभिर्घटयन्
संश्लेषयन् अमन्दं दृढम् । '१३४। डमो ह्रस्वादन्वि डमुद्-॥८।३।३२।' स्मरातुरो
लोको नैव तुतोष तुष्टिं न जगाम । यतः पर्याप्तता प्रेम्णि कुतो विरुद्धा । नैव,
तस्याविरुद्धत्वात् ॥

८९६—स्रस्ताऽङ्ग-यष्टिः परिरभ्यमाणा
संदृश्यमानाऽप्युपसंहृताऽक्षी ॥
अनूढमाना शयने नवोढा
परोपकारैक-रसैव तस्थौ ॥ १२ ॥

स्रस्ताङ्गयष्टिरित्यादि—काचिन्नवोढा परिरभ्यमाणा पत्या आलिङ्ग्यमाना
स्रस्ताङ्गयष्टिः न प्रतीपमालिङ्गति । संदृश्यमानापि सुखमुन्नमस्य उपसंहृताक्षी
निमीलितलोचना न प्रतीपं पश्यति मानं नैवाचरतीति । अनूढमानापि असंह-
तमानापि पुर्वविधापि सती परोपकारैकरसैव तस्थौ । भर्तुरुपकारैकाभिप्रायैव
अवस्थिता नात्मोपकाराय ॥

८९७—आलिङ्गितायाः सहसा त्रपा-वांस
त्रासाऽभिलाषाऽनुगतो रताऽऽदौ ॥
विश्वासिताया रमणेन बध्वा
विमर्द-रम्यो मदतो बभूव ॥ १३ ॥

आलिङ्गिताया इत्यादि—कस्याश्चिद्बध्वा रतात्प्राक् रमणेन सहसा तत्क्षणं
आलिङ्गितायास्त्रपावान्मदतो बभूव । रतादौ रतारम्भे त्रासाभिलाषाभ्यामनुगतो
बभूव । विश्वासितायाः शनैर्विश्वासं कारितायाः विमर्दरम्यो बभूव त्रासाभावात् ॥

२९६ भट्टिकाव्ये—तृतीये प्रसङ्गकण्डिलक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

८९८-सामोन्मुखेनाऽऽच्छुरिता प्रियेण
दत्ते ऽथ काचित् पुलकेन भेदे ॥

अन्तः-प्रकोपाऽपगमाद् विलोला

वशीकृता केवल-विक्रमेण. ॥ १४ ॥

सामोन्मुखेनेत्यादि—अथ काचित्कोपान्मानवती प्रियेण सामोन्मुखेन
सामपरेण प्रसादयता आच्छुरिताख्येन नखकर्मणा संस्पृष्टा सती पुलकेन रोमा-
ञ्जेन भेदे उद्गमे दत्ते सति अथ अन्तःप्रकोपस्यापगमात् विलोला विलोलबुद्धिः
केवलविक्रमेण हठाद्गुणेनैव वशीकृता, उपभुक्तेत्यर्थः ॥

८९९-गुरुर्दधाना परुष-त्वमन्या
कान्ताऽपि कान्तेन्दु-कराऽभिमृष्टा ॥
प्रह्लादिता चन्द्र-शिलैव तूर्ण-
क्षोभात् स्रवैत्-स्वेदजला बभूव. ॥ १५ ॥

गुरुरित्यादि—अन्यापि काचित् स्त्री कान्ता कमनीयरूपा गुरुः धीरा ।
'५०२। वोतो गुणवचनात् । ११। १४१।' इति वा डीप । न भवति । दधाना
परुषत्वं नैष्ठुर्यम् । कान्तेन भर्त्रा इन्दुनेव कराभिमृष्टा सती प्रह्लादिता सुखिता ।
क्षोभात् चेतसो विकारात् तूर्णं स्रवत्स्वेदजला बभूव । चन्द्रशिलेव चन्द्रमणिरिव ।
सा गरीयसी कान्ता परुषत्वं काठिन्यं दधाना इन्दुना कराभिमृष्टा प्रह्लादिता
सुखितेव क्षोभात्स्वप्रकृतिविकारात् स्रवज्जला भवति ॥

९००-शशाङ्क-नाथाऽपगमेन धूम्रां
मूर्च्छां-परीतामिव निरु-विवेकाम् ॥
ततः सखीवु प्रथिताऽनुरागा

प्राबोधयत् द्यां मधुराऽरुणश्रीः ॥ १६ ॥

शशाङ्केत्यादि—ततोऽनन्तरं यथा काचित् स्त्री नाथस्य भर्तुरपगमेन
वियोगेन धूम्रा मलिना मूर्च्छांपरीता निश्चेतना अतएव निर्विवेका विवेकुमशक्ता
सती सख्या प्रकाशितस्नेहया प्रबोधयते तद्वद् द्यामाकाशं शशाङ्कनाथस्यापगमेन
अस्तगमनेन धूम्रां धूसरतां गतां निर्विवेकां अविद्यमानविशेषां अरुणश्रीः आदि-
त्यलक्ष्मीरिति मधुराभिनवा प्रथितानुरागा प्राबोधयत्प्रकाशितवती ॥

९०१-अ-वीत-तृणो ऽथ परस्परं

क्षणादिवाऽऽयात-निशाऽवसानः ॥

अन्तर्दे ११॥३॥ ३५॥ ३६॥ ३७॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'प्रभातवर्णनं' नाम एकादशः सर्गः— २९७

१० २ २ ११
दुःखेन लोकः परवानिवा ऽगात्
समुत्सुकः स्वप्न-निकेतनेभ्यः ॥ १७ ॥

अवीतेत्यादि—अथानन्तरं लोकः परस्परेणान्योन्येन दयितो दयितया दयितापि दयितेन अवीतवृष्णः अनपगतसंभोगाभिलाषः अतएव क्षणादिव द्रुत-मिवायातं निशावसानं यस्य । समुत्सुकः उत्कण्ठितः परवानिव पराधीन इव स्वप्ननिकेतनेभ्यः वासगृहेभ्यो दुःखेन भुगात् निर्गतवान् ॥

९०२—अर्धोत्थिताऽऽलिङ्गित-सन्निमग्नो

रुद्धः पुनर् यान् गमने ऽनभीप्सुः ॥

व्याजेन निर्याय पुनर् निवृत्तः

त्यक्ताऽन्य-कार्यः स्थित एव कश्चित् ॥ १८ ॥

अर्धोत्थितेत्यादि—शयनात् अर्धमुत्थितं यस्येत्यर्धोत्थितः । आहिताश्यादिषु द्रष्टव्यः । शयनस्य वा अर्धादुत्थित इति योज्यम् । स चालिङ्गितो दयितया सन्निमग्नः शयने सुप्तः । पुनर्यान्निर्गच्छन् रुद्धो विधृतः । गमने अनभीप्सुरपि निर्याय व्याजेन निमित्तेन पुनर्निवृत्तः । प्रविष्टस्त्यक्तान्यकार्यः स्थित एव कश्चित्कामी ॥

९०३—तालेन संपादित-साम्य-शोभं

शुभाऽवधानं स्वर-बद्ध-रागम् ॥

पदैर् गताऽर्थं नृप-मन्दिरेषु

प्रातर् जगुर् मङ्गल-वत् तरुण्यः ॥ १९ ॥

तालेनेत्यादि—नृपमन्दिरेषु रावणादिराजवेश्मसु प्रभातकाले तरुण्यो मङ्गलवत् मङ्गलोपेतं जगुः गायन्ति स्म । तालेन क्रियाकालमानेन संपादिता साम्य-शोभा यत्र गायनक्रियायां, शुभावधानं शोभनमवधानं चित्तैकाग्रता यत्र, स्वर-बद्धरागं षड्जादिभिः स्वरैर्बद्धो ग्रामरागो यत्र, पदैः सुसिद्धन्तैर्गतार्थं परिच्छि-न्नार्थं, निरर्थकपदरहितमित्यर्थः । अनेन स्वरगतं पदगतं लयगतमवधानगतमिति चतुर्विधं गीतमाख्यातम् ॥

९०४—दुरुत्तरे पङ्क्त इवा ऽन्धकारे

मग्नं जगत् सन्तत-रश्मि-रज्जुः ॥

प्रनष्ट-मूर्ति-प्रविभागमुद्यन्

प्रत्युज्जहारैव ततो विवस्वान् ॥ २० ॥

दुरुत्तर इत्यादि—अन्धकारे पङ्क्त इव दुरुत्तरे दुःखेनोत्तीर्यत इति । मग्नं प्रविष्टं जगत् । यतः प्रनष्टमूर्तिप्रविभागं प्रनष्टः स्थावरजङ्गममूर्तीनां प्रविभागो

२९८ भट्टि-काव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

यस्मिन् तत् । विवस्वानुद्यन् उद्गच्छन् सन्ततरश्मिरज्जुः प्रवितता रश्मयो मयूखा
एव रज्जवो येन सः प्रत्युज्जहारेव उद्भूतवानिव । तत् इत्यन्धकारात् ॥

९०५—पीतौष्ठ-रागाणि हताऽञ्जनानि
भास्वन्ति लोलैरलकैर् मुखानि ॥
प्रातः कृताऽर्थानि यथा विरेजुस्
तथा न पूर्वैर्द्युरलंकृतानि ॥ २१ ॥

पीतौष्ठरागाणीत्यादि—मुखानि वधूनामित्यर्थात् । यथा प्रातः प्रभाते
विरेजुः तथा पूर्वैः पूर्वस्मिन्नहनि अलंकृतानि न रेजुः । तेषामकृतार्थत्वात् ।
तानि पुनः कृतार्थानि कृतकार्याणि । यतो दयितैः पीतौष्ठरागाणि ओष्ठचुम्बनात् ।
हताञ्जनानि चक्षुषोरपि चुम्बनात् अपगतकज्जलानि लोलैराकुलैरलकैः कचग्रहाक-
र्षणात् । भास्वन्ति दीप्तिमन्ति ॥

९०६—प्रजागराऽऽस्ताम्र-विलोचनाऽन्ता
निरञ्जनाऽलक्तक-पत्र-लेखाः ॥
तुल्या इवाऽऽसन् परिवेद-तन्व्यो
वास-च्युताः सेवित-मन्मथाभिः ॥ २२ ॥

प्रजागरेत्यादि—भर्तृभिः सहैकत्र यच्छयनं स वासः तस्माच्च्युताः काश्चित्
तन्व्यः सेवितमन्मथाभिः अनुष्ठितसुरताभिः तुल्या इवासन् । यतः प्रजागराताम्र-
विलोचनान्ताः दयितागमनप्रतीक्षणात् यः प्रजागरस्तेन ताम्रनेत्रपर्यन्ताः । नायात
इति गृहीतप्रसाधनतया निरञ्जनालक्तकपत्रलेखाः यदि वा अन्यत्र शयित इति
रोदनात् निरञ्जनाः चित्तोन्माथादितस्ततः पादविक्षेपात् विगतालक्तकाः शयने प्रति-
क्षणमुद्वर्तनपरिवर्तनात्कपोलादिभ्यो निष्पत्रलेखा इति खेदाच्च तन्व्यः कृशाङ्ग्यः ॥

९०७—आबद्ध-नेत्राऽञ्जन-पङ्क-लेशसु
ताम्बूल-रागं बहुलं दधानः ॥
चकार कान्तोऽप्यधरोऽञ्जनानां
सहोषितानां पतिभिर् लघुत्वम् ॥ २३ ॥

आबद्धेत्यादि—कासां चिदञ्जनानां पतिभिः सहोषितानामप्यधरः लघुत्वं
दौर्भाग्यं चकार, सूचितवानित्यर्थः । यतस्ता ईप्सितसुरताग्राह्या रुदितस्ततश्च
बद्धो लग्नो नेत्राञ्जनपङ्कलेशो यस्य सोऽधरो दयितैरपीतत्वाच्च बहुलं ताम्बूलरागं
दधानः कान्तोऽपि लघुत्वं चकार ॥

९०८—चक्षुषि कान्तान्यपि साऽञ्जनानि
ताम्बूल-रक्तं च स-रागमौष्ठम् ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'प्रभातवर्णनं' नाम एकादशः सर्गः— २९९

कुर्वन् स-वासं च सु-गन्धि वक्रं
चक्रे जनः केवल-पक्ष-पातम् ॥ २४ ॥

चक्षुंषीत्यादि—कान्तान्यपि शोभनान्यपि चक्षुषि, विकचोत्पलद्युतित्वात् ।
साञ्जनानि कुर्वन् स्त्रीजनः, प्रातर्गृह्यमाणप्रसाधनत्वात् । सरागं चौष्टं, स्वभावतो
विम्बफलाकारत्वात् । ताम्बूलरक्तं कुर्वन् । स्वभावतश्च सुगन्धि वक्रं मुखं सवासं
वासयुक्तं कुर्वन् । केवलपक्षपातं समत्वं चक्रे अञ्जनादीनां निरर्थकत्वात् ॥

१०९—क्षतैरसंचेतित-दन्त-लब्धैः
संभोग-काले ऽवगतैः प्रभाते ॥
अ-शङ्कता ऽन्योन्य-कृतं व्यलीकं
वियोग-बाह्यो ऽपि जनो ऽतिरागात् ॥ २५ ॥

क्षतैरित्यादि—अस्या मया दत्तं अस्य च मयेति संभोगकाले रागान्धतया
असंकेतितान्यज्ञातानि दन्तभ्यो लब्धानि यानि क्षतानि । '१८०२। चित संचेतने'
इति स्वार्थिकण्यन्तस्य रूपम् । प्रभातकाले अवगतैर्दृष्टैः वियोगबाह्योऽपि सुप्तोऽपि
कामिजनः अतिरागात् अतिस्नेहात् अन्योन्यकृतं अन्योन्येन कृतं व्यलीकं अपराधं
अशङ्कत विकल्पितवान् । लङि रूपम् । किमस्यान्यथा हताशया दत्तमिति योषि-
दशङ्कत, पुरुषोऽपि किमन्येन धूर्तेनास्या इति ॥

११०—नेत्रेषुभिः संयुत-पक्ष्म-पत्रैः
कर्णाऽन्त-कृष्टैरुरु-केश-शूलाः ॥
स्तनोरु-चक्रास् तत-कर्ण-पाशाः
स्त्री-योध-मुख्या जयिनो विचेरुः ॥ २६ ॥

नेत्रेषुभिरित्यादि—नेत्राणि इषव इव तैः संयुतानि संयुक्तानि पक्ष्माण्वेव
पत्राणि येषां तैः । कर्णान्तकृष्टैः कर्णान्तविश्रान्तैः उपलक्षिताः स्त्रियो योधमुख्या
इव उरुकेशशूलाः उरवो महान्तः केशाः शूला इव येषाम् । स्तनोरुचक्राः स्तनाः
उरूणि चक्राणीव येषाम् । ततकर्णपाशाः तताः कर्णाः पाशा इव येषां ते जयिनो
लब्धविजया विचेरुः आन्ताः ॥

१११—पयो-धरांश् चन्दन-पङ्क-दिग्धान्
वासांसि चा ऽमृष्ट-मृजानि दृष्ट्वा ॥
स्त्रीणां स-पत्न्यो जहृषुः प्रभाते
मन्दायमानाऽनुशयैर् मनोभिः ॥ २७ ॥

पयोधरानित्यादि—चन्दनपङ्कदिग्धान् आङ्गुतचन्दनत्वात् । वस्त्राणि च
अमृष्टमृजानि अनपनीतशुद्धभावानि स्त्रीणां दृष्ट्वा प्रभाते तत्सपत्न्यो मनोभिः न

३०० भट्टि-काव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

बाह्यं जह्नुषुः हृष्टाः । अप्राप्तसुरतत्वात् मन्दायमानानुशयैः आभिः सह शयिता इति तासु ये अनुशयाः अक्षान्तयो जाताः ते मन्दायमानाः शनैः शनैस्तनूभवन्तो येषु मनःसु तैरित्यर्थः ॥

९१२—स्मराऽऽतुरे चेतसि लब्ध-जन्मा

रराज लोलोऽपि गुणाऽपहार्यः ॥

कुतूहलान् नेत्र-गवाक्ष-संस्थः

पश्यन्निवाऽन्योन्य-मुखानि रागः ॥ २८ ॥

स्मरातुर इत्यादि—दम्पत्योः प्रातरन्योन्यस्य मुखं पश्यतोः चक्षुषो रागो वर्ण्यते । स्मरातुरे कामातुरे चेतसि लब्धजन्मा लब्धोदयः रागो रक्तभावः नेत्र-गवाक्षसंस्थः नेत्रयोर्गवाक्षयोरिव स्थितः कुतूहलात् कौतुकात् अन्योन्यस्य मुखानि पश्यन्निव । कीदृशं कामिन्या मुखं कामुकस्य मुखं वेति । गुणापहार्यः तत्प्रतिपक्षेण शुक्लगुणेन अपनेयः अत एव लोलोऽपि अचिरस्थाय्यपि रराज ॥

९१३—गते ऽतिभूमिं प्रणये प्रयुक्ता-

न-बुद्धि-पूर्वं परिलुप्तसंज्ञः ॥

आत्माऽनुभूतानपि नोपचारान्

स्मराऽऽतुरः संस्मरति स्म लोकः ॥ २९ ॥

गते इत्यादि—प्रणये विश्रम्भे अतिभूमिं गते प्रकृष्टावस्थां प्राप्ते सति ये अबुद्धिपूर्वं अनिरूप्य स्वयं प्रयुक्ताः उपचाराः नखदन्तक्षतादयः तानात्मानुभूतानपि प्रातर्न स्मरति स्म कामिलोकः । इदमिदं मया प्रयुक्तमिति । यतः सुरतावस्थायां स्मरातुरतया परिलुप्तसंज्ञो मूढ इति ॥

९१४—वस्त्रैरनृत्युत्त्वण-रम्य-वर्णैर्

विलेपनैः सौरभ-लक्षणीयैः ॥

आस्यैश्च च लोकः परितोष-कान्तै-

रसूचयल्ल लब्ध-पदं रहस्यम् ॥ ३० ॥

वस्त्रैरित्यादि—वस्त्रैः विलेपनैः सौरभलक्षणीयैः सुरभितया परिच्छेद्यैः आस्यैश्च व्यपगताधररागैः परितोषकान्तैर्लिङ्गभूतैः रहसि भवं सुरतं लब्धपदं प्राप्तचिह्नं लोकः प्रकाशयति स्म ॥

९१५—प्रातस्तरां चन्दन-लिप्त-गात्राः

प्रच्छाद्य हस्तैरधरान् वदन्तः ॥

शाम्यन्-निमेषाः सुतरां युवानः

प्रकाशयन्ति स्म निगूहनीयम् ॥ ३१ ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'प्रभातवर्णनं' नाम एकादशः सर्गः— ३०१

प्रातस्तरामित्यादि—गुरुजनो नखदशनक्षतं मा द्राक्षीदिति युवानः प्रातस्तरां
प्रत्युषसि चन्दनलिप्तगात्रा हस्तैरधरान् प्रच्छाद्य वदन्तोऽपि शाम्यन्निमेषा अनिमि-
षितनेत्रा निगूहनीयं सुतरां प्रकाशयन्ति स्म नूनमेते सत्कृता येन एवमाचरन्तीति ॥

९१६—साम्नैव लोके विजिते ऽपि वामे !

किमुद्यतं भ्रू-धनुर-प्रसह्यम्, ॥

हन्तुं क्षमो वा वद लोचनेषुर्

दिग्धो विषेणैव किमञ्जनेन. ॥ ३२ ॥

साम्नेत्यादि—हे वामे प्रतिकूलवर्तिनि ! मधुरेणाविकृतेन साम्ना लोके
अस्मद्विषे जितेऽपि वशीकृतेऽपि भ्रूधनुरप्रसह्यं प्रसोढुमशक्यं उद्यतं उत्क्षिप्तम् ।
अथवा विलोचनेषुर्नैत्रशरः स्वत एव हन्तुं क्षमः ततः किमञ्जनेन च विषेण
दिग्धो विषलिप्त इति वद कथय ॥

९१७—दन्त-च्छदे प्रज्वलिताऽग्नि-कल्पे

ताम्बूल-रागस् तृण-भार-तुल्यः ॥

न्यस्तः किमित्यूचुरुपेत-भावा

गोष्ठीषु नारीस् तरुणीर् युवानः. ॥ ३३ ॥

दन्तच्छद इत्यादि—प्रज्वलिताग्निकल्पे स्वभावलोहितत्वात् दन्तच्छदे ओष्ठे
ताम्बूलरागः किमिति न्यस्तः । तृणभारतुल्यः निष्प्रयोजनत्वात् । इत्येवमूचुर्यु-
वानः प्रातरित्यर्थात् । उपेतभावाः जातानुरागाः गोष्ठीषु स्थिता नारीस्तारुणीरिति ॥

९१८—सुखाऽवगाहानि युतानि लक्ष्म्या

शुचीनि संताप-हराण्युरुणि ॥

प्रबुद्ध-नारी-मुख-पङ्क-जानि

प्रातः सरांसीव गृहाणि रेजुः. ॥ ३४ ॥

सुखावगाहानीत्यादि—प्रातः प्रभाते गृहाणि सरांसीव रेजुः । सुखाव-
गाहानि निरुपद्रवत्वात् सुखेनावगाह्यन्ते । युतानि लक्ष्म्या देवतारूपया । शुचीनि
पवित्राणि । संतापहराणि धर्मादिक्लेशापहारीणि । उरुणि महान्ति । प्रबुद्धानि
विनिद्राणि । नारीमुखान्येव पङ्कजानि यत्रेति ॥

९१९—संमृष्ट-सिक्ताऽर्चित-चारु-पुष्पै-

रामोद-वद्-द्रव्य-सुगन्ध-भागैः ॥

लक्ष्मीर् विजिग्ये भवनैः स-भृङ्गैः

सेव्यस्य देवैरपि नन्दनस्य. ॥ ३५ ॥

संमृष्टेत्यादि—देवैः सेव्यस्यापि नन्दनस्य लक्ष्मीर्भवनैः प्रातर्विजिग्ये विजिता ।
आदौ संमृष्टरजांसि अपनीतरजांसि पश्चात्सिक्तानि । पूर्वापरकालसमासः ।
अर्चितानि पूजितानि प्रशस्तानि चारुणि शोभनानि पुष्पाणि येषु भवनेषु संमृष्ट-
सिक्तानि च तानि अर्चितचारुपुष्पाणि चेति विशेषणसमासः । आमोदवन्ति
यानि द्रव्याणि चन्दनादीनि तैः सुगन्धो भाग एकदेशो येषां तैः । गन्धस्येत्वे-
तदेकान्तग्रहणादित्वं न भवति । समृद्धैरामोदमृत्तत्वात् ॥

९२०—अक्ष्णोः पतन् नील-सरो-ज-लोभाद्

० मृङ्गः करेणाऽल्प-धिया निरस्तः ॥

ददंश ताम्नाऽम्बु-रुहाऽभिसन्धिस्

तृणाऽऽतुरः पाणि-तलेऽपि धृष्णुः ॥ ३६ ॥

अक्ष्णोरित्यादि—नीलसरोजलोभात् नीलकमलमेतदित्यक्ष्णोः पतन्निलीय-
मानो मृङ्गः अल्पधिया अल्पबुद्ध्या कयाचित् करेण निरस्तः क्षिप्तः सन् ताम्नाम्बु-
रुहाभिसन्धिः रक्तपद्ममेतदित्यभिसन्धिरभिप्रायो यस्य मृङ्गस्य स धृष्णुः प्रगल्भः
पाणितलेऽपि ददंश दष्टवान् । तामित्यर्थात् ॥

९२१—विलोल-तां चक्षुषि हस्त-वेपथुं

० भ्रुवोर् विभङ्गं स्तन-युग्म-वल्गितम् ॥

विभूषणानां कणितं च षट्-पदो

गुरु यथा नृत्य-विधौ समादधे ॥ ३७ ॥

विलोलतामित्यादि—यथा गुरुर्नृत्याचार्यो नृत्यकर्मणि कस्याश्चिच्चक्षुषि वि-
लोलतां चलतां हस्तवेपथुं हस्तकम्पं भ्रुवोर्विभङ्गं नतोन्नतिं स्तनयुग्मवल्गितं प्रचलितं
भूषणानां कणितं शिञ्जितं जनयति, तद् दृष्ट्वा षट्पदोऽपि तत्समादधे विहितवान् ॥

९२२—अथाऽनुकूलान् कुल-धर्म-संपदो

० विधाय वेशान् सु-दिवः पुरी-जनः ॥

प्रबोध-काले शत-मन्यु-विद्विषः

प्रचक्रमे राज-निकेतनं प्रति ॥ ३८ ॥

अथेत्यादि—अथानन्तरं पुरीजनो लङ्कानिवासिजनः प्रतिदिनमवासकल्या-
णत्वात् सुदिवः । '८६०। सुप्रात-। ५। १। ३०।' इत्यादिना समासान्तनिपातनम् ।

१—अत्र 'तृणाऽऽतुरः' इति पाठो युक्त इति भाति । तेन हि ताम्नाम्बुरुहाभिसन्धित्वात्
मकरन्दतृणया पीडित इति सरलार्थः प्रतिपद्यते । यथास्थितपाठपक्षे तु सक्षमत्वाच्चृणसदृश-
मृणालतनुष्वतुरः सस्पृह इति कथंचिदुन्नेयम् ।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'प्रभातवर्णनं' नाम एकादशः सर्गः— ३०३

यथास्वं कुलधर्मस्य पुरस्य वा संपद्विभूतिः तस्या अनुकूलान् वेशान्नेपथ्यानि
विधाय कृत्वा शतमन्युविद्विषो रावणस्य प्रबोधकाले राजनिकेतनं प्रलभिलक्ष्य
प्रचक्रमे गन्तुं प्रवृत्तः । '२७१५। प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् । १। ३। ४२।' इति तद् ॥

९२३—शैलेन्द्र-शृङ्गेभ्य इव प्रवृत्ता

वेगाज् जलौघाः पुर-मन्दिरेभ्यः ॥

आपूर्य रथ्याः सरितो जनौघा

राजाऽङ्गनाऽम्भोधिर्मपूरयन्तः ॥ ३९ ॥

शैलेन्द्रशृङ्गेभ्य इत्यादि—यथा जलानां पूराः शैलेन्द्रशृङ्गात् प्रवर्तन्ते
तद्वत्पुरमन्दिरेभ्यः प्रवृत्ता जनौघाः रथ्याः सरित इवापूर्य राजाङ्गनमम्भोधिमिवा-
पूरयन्त प्ररितवन्तः ॥

९२४—प्रबोध-कालात् त्रिदशेन्द्र-शत्रोः

० प्रागूर्ध्व-शोषं परिशुष्यमाणाः ॥

हीना महान्तश् च समन्त्वमीयुर्

द्वास्-स्थैरवज्ञा-परुषाऽक्षि-दृष्टाः ॥ ४० ॥

प्रबोधकालादित्यादि—त्रिदशेन्द्रशत्रोः रावणस्य प्रबोधकालात्प्राक् पूर्वं
ऊर्ध्वशोषं परिशुष्यमाणाः राजाङ्गने ऊर्ध्वं गता एव प्रबोधकाले शोषं नीयमाना
इति अन्तर्भावित्पण्यर्थो द्रष्टव्यः । एवं च कृत्वा कर्मण्यात्मनेपदम् । अन्ये परि-
शुष्यमाणा इति णिच् पठन्ति । '३३६५। ऊर्ध्वं शुषि-३। ४। ४४।' इति णमुल् ।
हीनाः महान्तश्च सेवकाः समत्वं तुल्यत्वमीयुः । द्वास्थैर्दौवारिकैः । द्वारि तिष्ठ-
न्तीति '२९१६। सुपि स्थः । ३। २। ४।' इति कः । '७६। खरवसानयोर्विसर्जनीयः
। ८। ३। १५।' इति [विसर्जनीये] '१३८। विसर्जनीयस्य सः । ८। ३। ३४।' अवज्ञया
अनादरेण परुषमस्त्रिगुणं यदक्षि तेनाक्षणा दृष्टाः ॥

९२५—गुरुरु-चञ्चत्-कर-कर्ण-जिह्वै-

० रवज्ञया ऽग्राऽङ्गुलि-संगृहीतैः ॥

रक्षांस्यनायास-हृतैरुपास्थुः

कपोल-लीनाऽलि-कुलैर् गजेन्द्रैः ॥ ४१ ॥

गुरुरुचञ्चदित्यादि—गुरवोऽलघवः, उरवो महान्तः, चञ्चन्तश्चलन्तः
कराः कर्णा जिह्वाश्च येषां गजेन्द्राणां तैः अवज्ञया अग्राङ्गुलिसंगृहीतैः पादाङ्गुष्ठा-
ग्रेण यत्रस्थाने परिगृहीतैः । अङ्गुलेरग्रमिति राजदन्तादित्वात् पूर्वनिपातः ।
अनायासहृतैः शनैः शनैः प्रचोदितैः । मत्तत्वात् कपोल-लीनाऽलि-कुलैः रक्षांसि
उपास्थुः सेवामकार्षुः ॥

३०४ भट्टि-काव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

९२६—निकृत्त-मत्त-द्विप-कुम्भ-मांसैः

संपृक्त-मुक्तैर् हरयोऽग्र-पादैः ॥

आनिन्यिरे श्रेणीकृतास् तथा ऽन्यैः

परस्परं वालधि-सन्निबद्धाः. ॥ ४२ ॥

निकृत्तेत्यादि—अन्यैः सेवार्थं हरयः सिंहाः आनिन्यिरे आनीताः । निकृ-
त्तानि मत्तद्विपकुम्भमांसानि यैरग्रपादैः अतएव संपृक्तमुक्तैः लग्नकुम्भमुक्ताफला
उपलक्षिताः श्रेणीकृता अश्रेणयः श्रेणयः कृताः । ‘७३८। श्रेण्यादयः—१२।१।५९।’
इति सः । परस्परं वालधिसंनिबद्धाः अन्योन्यस्य पुच्छेन संयताः ॥

९२७—उपेक्षिता देव-गणैस् त्रसद्भिर्

निशा-चरैर् वीत-भयैर् निकृत्ताः ॥

तस्मिन्नदृश्यन्त सुर-द्रुमाणां

स-जाल-पुष्प-स्तवकाः प्रकीर्णाः. ॥ ४३ ॥

उपेक्षिता इत्यादि—सुरद्रुमाणां पारिजातानां सजालाः कलिकासहिताः
पुष्पस्तवकाः वीतभयैर्निशाचरैर्निकृत्ताः छिन्नाः । वीतदयैरिति पाठान्तरम् । तत्र
किमेतैः स्थितैरिति निर्दयैः सजाला एव छिन्नाः छिद्यमानाश्च । देवगणैस्त्रसद्भिर्-
पेक्षिताः । ‘२३२१। वा आश—१३।१।७०।’ इत्यादिना विकल्पेन श्यन् । तस्मिन्
राजाङ्गणे प्रकीर्णा अदृश्यन्त सेवकजनेन ॥

९२८—निराकरिष्णुर् द्विज-कुञ्जराणां

तृणीकृताऽशेष-गुणोऽति-मोहात् ॥

पापाऽशयान्भ्युदयाऽर्थमार्चीत्

प्राग् ब्रह्म-रक्षः-प्रवरान् दशाऽऽस्यः ॥ ४४ ॥

निराकरिष्णुरित्यादि—दशास्यो विबुद्धः सन् अतिमोहादत्यन्ताज्ञानात् नि-
राकरिष्णुर्निराकरणशीलः । द्विजवरानित्यर्थात् । द्विजकुञ्जराणां प्रशस्तद्विजानां अभ्यु-
दयहेतूनां संबन्धिनोऽशेषा गुणाः तृणीकृता येन स तृणीकृताशेषगुणः प्राक् पूर्वं
समाप्रवेशात् पापाशयान् पापचित्तवृत्तीन् ब्रह्मरक्षःप्रवरान् अभ्युदयार्थमार्चीत् ॥

९२९—मायाविभिस् त्रास-करैर् जनाना-

मासैरुपादान-परैरुपेतः ॥

१—अत्र छन्दोभङ्गपरिहारार्थं ‘श्रेणीकृताः’ इत्येव युक्तं प्रतिभाति । ‘२१२०। च्वो च-
।७।१।२६।’ इति शास्त्रापेक्षया ‘अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं न कारयेत्’ इति छन्दः-
शास्त्रस्य प्रबलत्वात् ।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'प्रभातवर्णनं' नाम एकादशः सर्गः— ३०५

सतां विघातैक-रसैरविक्षत्

सदः परिक्षोभित-भूमि-भागम्. ॥ ४५ ॥

मायाविभिरित्यादि—आसैरव्यभिचारिभिर्मायाविभिर्वच्चकैः परेषां त्रास-
करैः । जनानामतिरौद्रत्वात् । उपादानपरैः सतां सन्मार्गस्थितानां विघातैकरसै-
र्विनाशैकस्वभावैः उपेतो दशास्यः सदः सभामविक्षत् प्रतिष्ठः । '२३३६। शल
इगुपधादनिटः क्तः । ३।१।४५।' कीदृशम् । राक्षसैश्चरणभागेन परिक्षोभित-
भूमिभागम् ॥

९३०—विधृत-निशित-शस्त्रैस् तद् युतं यातुधानै-

रुरु-जठर-मुखीभिः संकुलं राक्षसीभिः ॥

श्वगणि-शत-विकीर्णं वागुरा-वन् मृगीभिर्

वनमिव स-भयाभिर् देव-वन्दीभिरासीत्. ॥ ४६ ॥

विधृतेत्यादि—तत्सदो यातुधानैः विधृतनिशितशस्त्रैः गृहीततीक्ष्णशस्त्रैर्युतं
युक्तमासीत् । तथा राक्षसीभिः उरुजठरमुखीभिः संकुलं व्याप्तं यथा वनं वागुरावत्
सवागुरं श्वगणिशतविकीर्णं आखेटकशतच्छन्नं मृगीभिः समयाभिः श्वगणि(के)भ्यो
जातभयाभिः व्याप्तमासीत् श्वगणा विद्यन्ते येषामिति श्वगणि[नः] काः । '१९२२।
अतः—१।२।११५।' इति [इति] ठक् ॥

९३१—जलद इव तडित्वान् प्राज्य-रत्न-प्रभाभिः

प्रति-ककुभमुदस्यन् निस्वनं धीर-मन्द्रम् ॥

शिखरमिव सुमेरोरासनं हैममुच्चैर्

विविध-मणि-विचित्रं प्रोन्नतं सोऽध्यतिष्ठत् ॥ ४७ ॥

इति भट्टिकाव्ये एकादशः सर्गः ॥

जलद इत्यादि—प्राज्यानां प्रभूतानां रत्नानां मणीनां प्रभाभिः तडित्वानिव
जलदः प्रोन्नतात्मा सर्वेषामुपरि स्थितत्वात् । प्रतिककुभं दिशि दिशि । धीरमन्द्रं
मन्दगम्भीरं निस्वनं उदस्यन्नक्षिपन् सुमेरोः शिखरमिव हैममासनमुच्चैरुच्चं विविध-
मणिविचित्रं नानारूपैर्मणिभिर्विचित्रं नानावर्णकमध्यतिष्ठत् समारोहति स्म ॥

इति श्री-जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते श्री-भट्टिकाव्ये

तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयः परिच्छेदः (वर्गः),

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'प्रभातवर्णनं' नाम

एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः—

भाविकत्वमलंकारः प्रबन्धविषय उक्तः । नैकदेशिकं तस्य चित्रादयोऽर्थाः प्रवृत्तिहेतवः । तथा चोक्तम्—‘भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम् । प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः ॥ चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायाः स्वभिनीतता । शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते ॥’ इति तत्सर्वं मन्त्रनिर्णय-प्रबन्धे द्रष्टव्यमिति दर्शयन्नाह—

९३२—ततो वि-निद्रं कृत-देवताऽर्चं

दृष्ट्यैव चित्त-प्रशमं किरन्तम् ॥

आविष्कृताऽङ्ग-प्रतिकर्म-रम्यं

विभीषणं वाचमुवाच माता ॥ १ ॥

तत इत्यादि—ततः प्रभातकालानन्तरं विभीषणं विनिद्रं प्रबुद्धम् । कृत-देवतार्चं कृतदेवतापूजनम् । दृष्ट्यैव स्निग्धया कायव्यापारेण चित्तप्रशमं किरन्तं प्रकाशयन्तम् । आविष्कृतं प्रदर्शितं यदङ्गस्य प्रतिकर्मं प्रसाधनं तेन रम्यं माता नैकषी नाम वाचं वक्ष्यमाणामुवाच ॥

९३३—‘प्रबाधमानस्य जगन्ति धीमंसु !

त्वं सोदरस्याऽतिमदोद्धतस्य ॥

आनन्दनो नाक-सदां प्रशान्तिं

तूर्णं विषस्याऽमृत-वत् कुरुष्व. ॥ २ ॥

प्रबाधमानस्येत्यादि—हे धीमन् ! त्वं नाकसदां देवानां आनन्दनः प्रमोदयिता सन् सोदरस्य भ्रातुर्दशाननस्य । गर्भावस्थायां समानमुदरं यस्येति योगविभागात्सभावः । अतिबलोद्धतस्य महता सामर्थ्येन इतस्य जगन्ति लोकं प्रबाधमानस्य पीडयतः प्रशान्तिं प्रशमनं तूर्णं कुरुष्व । अमृतवत् । यथा अमृतं देवानामानन्दनं विषस्य कालकूटनाम्नः सोदरस्य एकस्मिन् समुद्रोदरे स्थितत्वात् जगन्ति प्रबाधमानस्य प्रशान्तिं कृतवदिति ॥

९३४—कुर्यात् तथा, येन जहाति सीतां

विषाद-नीहार-परीत-मूर्तिम् ॥

स्थितां क्षितौ शान्त-शिखा-प्रतानां

तारामिव त्रास-करीं जनस्य. ॥ ३ ॥

कुर्या इत्यादि—तथा प्रकारमनुतिष्ठेत्स्वं येन सीतां जहाति । विषादनीहा-परीतमूर्तिं विषादो नीहार इव तेन परिगतदेहाम् । क्षितौ स्थितां निमग्न्याम् । शान्तशिखाप्रतानां अनुज्वलवेणीबन्धाम् । जनस्य त्रासकरीं भयहेतुभूताम् ।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'विभीषणागमनो' नाम द्वादशः सर्गः— ३०७

हेतौ ऽः । तारामिव । यथा काचित्तरा क्षितौ स्थिता पतिता नीहारपरीतमूर्तिः
शान्तशिखाप्रताना ध्वस्तरश्मिजाला लोकत्रासकरी तद्वत्तामिति ॥

९३५—यावन् न संत्रासित-देव-संघः

पिण्डो विषस्यैव हरेण भीष्मः ॥

संग्रस्यते ऽसौ पुरुषाऽधिपेन,

द्रुतं कुलाऽऽनन्द ! यतस्व तावत्. ॥ ४ ॥

यावदित्यादि—यथा संत्रासितदेवसंघः विषस्य कालकूटस्य पिण्डो भीष्मो-
ऽतिरौद्रो हरेण संग्रस्तः पीतः तद्वद्यावदसौ रावणः पुरुषाधिपेन रामेण न संग्र-
स्यते न विनाश्यते, तावत् हे कुलानन्द ! कुलानि आनन्दयतीति । '२९१३।
कर्मण्यण् । ३।२।१।' द्रुतं यतस्व सीतात्याजनायां यत्नं कुरु ॥

९३६—हता जनस्थान-सदो निकायाः,

कृता जितोत्खात-भट-द्रुमा पूः, ॥

सदांसि दग्धानि, विधेयमस्मिन्

यद् बन्धुना, तद् घटयस्व तस्मिन्. ॥ ५ ॥

हता इत्यादि—जनस्थानसदो दण्डकारण्यवासिनः निकायाः खरदूषणादीनां
संघा हताः । '२३१४। संघे चानौत्तराधये । ३।३।४२।' इति चिनोतेः घञ् ककार-
श्चादेशः । पूश्च लङ्का जितभटा उत्खातद्रुमा कृता । सदांसि गृहाणि दग्धानि । इति
सर्वमेतत्त्वया ज्ञातमेव । अनेन प्रकारेण अस्माकमपि विनाशः स्यात् । तदेतस्मि-
न्वस्तुनि यद्बन्धुना विधेयं अनुष्ठेयं तद्विधातुं घटयस्व यतस्व । तस्मिन्वस्तुनि ॥

९३७—चिकीर्षिते पूर्व-तरं स तस्मिन्

क्षेमं-करे ऽर्थे मुहुरीर्यमाणः ॥

मात्रा ऽतिमात्रं शुभयैव बुद्ध्या

चिरं सुधीरभ्यधिकं समाधात्. ॥ ६ ॥

चिकीर्षित इत्यादि—तस्मिन् सीताप्रत्यर्पणलक्षणेऽर्थे मातुरूपदेशात् पूर्व-
तरं पूर्वमेव चिकीर्षिते कर्तुमीप्सिते मात्रा शुभयैव बुद्ध्या कल्याणया अतिमात्र-
मत्यर्थं मुहुः क्षणमीर्यमाणः प्रवर्तमानः स विभीषणः सुधीः प्राज्ञः चिरकालम-
भ्यधिकं समाधात् चिन्तितवान् । इदमतिन्याय्यमिति । '२२२३। गाति स्था-
। २।४।७७।' इति सिचो लुक् ॥

इयता प्रबन्धेन उदात्तार्थाभिधानादुदात्तार्थत्वमुक्तम् । इत उत्तरं ग्रहस्त-रावण-
विभीषण-मातामह-कुम्भकर्णादीनां वचनप्रबन्धेषु चित्राद्भुतार्थत्वं द्रष्टव्यम् ।

३०८ भट्टिकाव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

स्वविनीतता सुबोधता शब्दानाकुलता चेत्येतदुभयं कथायामेव मन्त्रनिर्णया-
ख्यायां द्रष्टव्यम् ॥

९३८—दौवारिकाऽभ्याहत-शक्र-दूतं

सोपायनोपस्थित-लोक-पालम् ॥

साऽऽशङ्क-भीष्माऽऽप्त-विशन्-निशाटं

द्वारं ययौ रावण-मन्दिरस्य. ॥ ७ ॥

दौवारिकेत्यादि—स विभीषणः रावणमन्दिरस्य द्वारं ययौ । दौवारिकाः द्वारे
नियुक्ताः । ‘१३८६। द्वारादीनाम्-।७।३।४।’ इत्येच् । तैरभ्याहताः शक्रदूता यस्मिन्
द्वारे । सोपायनाः गृहीतकौशलिकाः उपस्थिता औपदौकिता लोकपाला यत्र ।
साशङ्काः सभयाः भीष्मा भयानकाः आप्ता विशन्तो निशाटा यत्रेति तमिति ॥

विशेषकम् ८-१०-

९३९—दूरात् प्रतीहार-नतः स वार्ता

पृच्छन्नानवेदित-संप्रविष्टः ॥

स-गौरवं दत्त-पथो निशाटै-

रैक्षिष्ट शैलाऽग्रमिवेन्द्रशत्रुम् ॥ ८ ॥

दूरादित्यादि—स विभीषणः दूरादेव प्रतीहारेण नतः स्वामिनीव तत्र
गौरवात् । वार्ता पृच्छन् कुशली महाराज इति विभीषणो द्वारं तिष्ठतीति राज्ञे
अनावेदित एव संप्रविष्टो निशाटैः सगौरवं च स्वविनयं दत्तपथो दत्तमार्गः ।
इन्द्रशत्रुं रावणमैक्षिष्ट दृष्टवान् । शैलाग्रमिव सिंहासनारूढस्य तस्योच्चत्वात् ॥

९४०—कृशानु-वर्ष्मण्यधिरूढमुच्चैः

सिंहासने संक्षय-मेघ-भीमम् ॥

निसर्ग-तीक्ष्णं नयन-स्फुलिङ्गं

युगान्त-वहेरिव धूम-राशिम् ॥ ९ ॥

कृशानुवर्ष्मणीत्यादि—सिंहासने उच्चैस्तुङ्गे कृशानुवर्ष्मणि अग्नि तुल्ये अधि-
रूढं उपविष्टम् । संक्षयमेघवद्भीमं अतिभयंकरम् । निसर्गतीक्ष्णं स्वभाववरौद्रम् ।
नयनानि स्फुलिङ्गा इव यस्य तमैक्षिष्ट । युगान्तवहेरिव धूमराशिं अग्नि तुल्य-
सिंहासने उपरि स्थितत्वात् । सोऽपि संक्षयमेघवद्भीमः स्वभावतः कटुकत्वात् ।
स्वभावतीक्ष्णः । नयनानि विस्फुलिङ्गा यत्रेति ॥

९४१—प्रीत्या ऽपि दत्तेक्षण-सन्निपातं

भयं भुजङ्गाऽधिप-वद् दधानम् ॥

तथा लक्ष्यरूपे कथानके 'विभीषणागमनो' नाम द्वादशः सर्गः— ३०९

तमःसमूहाऽऽकृतिर्मप्यशेषा-

नूर्जा जयन्तं प्रथित-प्रकाशान् ॥ १० ॥

प्रीत्येत्यादि—यथा भुजङ्गाविषः शेषः प्रीत्या ज्ञेहेन दत्तेक्षणसन्निपातः समर्पितनेत्रनिवहो भयमादधाति तद्वद्भयमादधानम् । तमःसमूहस्येवाकृतिर्यस्य तमपि प्रथितप्रकाशानशेषानर्कादीन् ऊर्जा बलेन जयन्तमैक्षिष्ट । ऊर्जेति '३१५७ । आज-भास-॥३॥२॥१७७॥' इत्यादिना किप् ॥

९४२-तं रत्न-दायं जित-मृत्यु-लोका

रात्रि-चराः कान्ति-भृतो ऽन्वसर्पन् ॥

प्रमुक्त-मुक्ता-फलमम्बु-वाहं

संजात-तृष्णा इव देव-मुख्याः ॥ ११ ॥

तमित्यादि—यथा देवमुख्याः अमरत्वाजितमृत्युलोकाः कान्तिभृतो दीप्ति-धराः संजाततृष्णाः सन्तः प्रमुक्तमुक्ताफलमम्बुवाहमुपसर्पन्ति तद्वत्तं विभीषणं रत्नदायं । रत्नं दास्यतीति । '३१८१। अण् कर्मणि च । ३। ३। १२।' इति भविष्य-त्काले क्रियायां क्रियार्थायामित्यण् । तत्र एककर्तृके भिन्नकर्तृके वेति विशेषाभा-वात् । अथवा '५१५। द्य दानगत्योः' इत्यस्मात्कर्मण्यण् । रत्नं दयते ददातीति कृत्वा । रात्रिचरा भग्नयमलोका अन्वसर्पन् ॥

९४३-स किङ्करैः कल्पितमिङ्गित-ज्ञैः

संबाधकं पूर्व-समागतानाम् ॥

सिंहासनोपाश्रित-चारु-बाहु-

रध्यास्त पीठं विहित-प्रणामः ॥ १२ ॥

स इत्यादि—स विभीषणः विहितप्रणामः कृतप्रणतिः पीठमध्यास्त निषण्ण-वान् । किङ्करैर्भृत्यैरिङ्गितज्ञैरभिप्रायवेदिभिः कल्पितमुपनीतम् । पूर्वसमागतानां प्रथमप्रविष्टानां संबाधकं संकटकृत् संबाधत इति ण्वुल् । रावणस्य सिंहासने उपाश्रितः स्थितः चारुबाहुयस्य विभीषणस्येति सः ॥

९४४-ततो दशाऽऽस्यः क्षुभिताऽहि-कल्पं

दीप्राऽङ्गुलीयोपलमूढ-रत्नम् ॥

अनेक-चञ्चन्-नख-कान्ति-जिह्वं

प्रसार्य पाणिं समितिं बभाषे ॥ १३ ॥

तत इत्यादि—विभीषणनिवेशनादुत्तरकालं दशास्यः पाणिं क्षुभिताहिकल्पं कुद्विस्तृतफणेन सर्पेण तुल्यम् । दीप्रा दीपनशीलोऽङ्गुलीयोपलोऽङ्गुलीयरत्नम् ।

३१० भट्टि-काव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

यतः तत एव उदरतम् । अनेकाश्चञ्चल्यश्चलन्त्यो नखकान्तयो जिह्वा इव यस्य ।
तं प्रसार्य समितिं राक्षससमूहं बभाषे ॥

९४५—‘शक्तैः सुहृद्भिः परिदृष्ट-कार्यै-

रान्नातिभिर् नीतिषु बुद्धि-मद्भिः ॥

युष्मद्-विधैः सार्धमुपाय-विद्भिः

सिध्यन्ति कार्याणि सु-मन्त्रितानि ॥ १४ ॥

शक्तैरित्यादि—शक्तैः समर्थैः सुहृद्भिर्मित्रैः परिदृष्टकार्यैः मा भूददृष्टकर्मणं
कर्मसु विषाद इति । नीतिषु आन्नातिभिः अभ्यस्तनीतिशास्त्रैरित्यर्थः । ‘१८८८ ।
इष्टादिभ्यश्च । ५।२।८८।’ इति इनिः । ‘कस्येन्विषयस्य’ इति कर्मणि सप्तमी ।
बुद्धिमद्भिः ज्ञानवद्भिः । उपायविद्भिः । सामादिकुशलैरित्यर्थः । युष्मद्विधैः सह
कार्याणि सुमन्त्रितानि सिध्यन्ति ॥

९४६—उपेक्षिते वालि-खराऽऽदि-नाशे,

दग्धे पुरे, ऽक्षे निहते स-भृत्ये, ॥

सैन्ये द्विषां सागरमुत्तितीर्षा-

र्व-नन्तरं ब्रूत, यदत्र युक्तम् ॥ १५ ॥

उपेक्षित इत्यादि—वालिखरादिनाशेषूपेक्षितेषु द्विषां च सैन्ये सागरमुत्ति-
तीर्षावुत्तरितुमेषणशीले । अनन्तरमिदानीं ब्रूत वदत यदत्र युक्तमिति । उत्तिती-
र्षाविति ‘३२०। इकोऽचि विभक्तौ । ७।१।७३।’ इति नुम् न भवति । ‘३२१।
तृतीयादिषु भाषितपुंस्कम्-। ७।१।७४।’ इति पुंवद्भावः ॥

९४७—भुजाऽस-वक्षः-स्थल-कार्मुकासीन्

गदाश् च शूलानि च यातुधानाः ॥

परामृशन्तः प्रथिताऽभिमानाः

प्रोचुः प्रहस्त-प्रमुखा दशाऽऽस्यम् ॥ १६ ॥

भुजांसेत्यादि—यदि वयं शत्रून् न व्यापादयामस्तदा किमेतैर्भुजादिरूढैरिति
प्रथिताभिमानाः प्रकाशिताहंकारा भुजादीन् परामृशन्तः प्रहस्तप्रमुखा यातुधाना
दशास्यं प्रोचुर्वक्तुमारब्धाः । ‘११३७। वच परिभाषणे’ लिट् उस् ॥

९४८—‘अ-खण्ड्य-मानं परिखण्ड्य शक्रं

त्वं पण्डितं-मन्यमुदीर्ण-दण्डः ॥

नराऽऽभियोगं नृ-भुजां प्रधान !

मन्त्रोन्मुखः किं नयसे गुरुत्वम् ॥ १७ ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'विभीषणागमनो' नाम द्वादशः सर्गः— ३११

अखण्ड्यमानमित्यादि—शक्रमखण्ड्यमानं अनभिभवनीयाहंकारं अतश्च पण्डितमन्यं पण्डितमात्मानं मन्यमानं नान्यः पण्डितोऽस्तीति तादृशं परिखण्ड्य जित्वा, त्वं नृभुजां प्रधान ! उदीर्णदण्डः अभ्यर्चितबलः सन् किमर्थं मन्त्रोन्मुखो मन्त्रप्रवणः नराभियोगं गुरुत्वं नयसे प्रापयसि । सुमन्त्रितानि कार्याणि सिध्यन्तीति । अत्र कर्तुं गुणाभियोगेन क्रियाफलेन योगादात्मनेपदम् ॥

९४९—निर्यत्-स्फुलिङ्गाऽऽकुल-धूम-राशिं

किं ब्रूहि भूमौ पिनषाम भानुम्, ॥

आ दन्त-निष्पीडित-पीतमिन्दुं

घीवाम शुष्केक्षु-लताऽस्थि-कल्पम्. ॥ १८ ॥

निर्यदित्यादि—ब्रूहि समादिश आस्तां तावन्नराभियोगः । किं भानुं क्षितौ पिनषाम चूर्णयाम । प्रश्ने लोद । '२५४३। रुधादिभ्यः श्रम् । ३। १। ७। ८।' निर्यता निर्गच्छता स्फुलिङ्गेनाकुलो धूमराशिर्यस्य तं भानुम् । आ इति विकल्पे वर्तते । दन्तनिष्पीडितपीतं इन्दुं वा पूर्वं दन्तैर्निष्पीडितं पश्चात्पीतं घीवाम निरस्याम । '४३३। वोरुपधायाः-। ८। २। ७। ६।' इति दीर्घः । शुष्केक्षुयष्टेरस्थीव तत्सदृशम् ॥

९५०—स-राघवैः किं वत वानरैस् तैर्

यैः प्रातराशोऽपि न कस्यचिन् नः ॥

स-स्थाणु-कैलास-धरा ऽभिधत्स्व,

किं द्यौरधो ऽस्तु, क्षितिरन्तरीक्षे. ॥ १९ ॥

सराघवैरित्यादि—सस्थाणुर्यः कैलासः तस्य धर इति सः । धारयतीति धरः । कर्तर्यच् । हे सस्थाणुकैलासधर ! नोऽस्माकं मध्ये कस्यचिदेकस्य यैः सराघवैः प्रातराशोऽपि प्रातर्भोजनमपि न भवति तैः सराघवैर्वानरैः किं प्रयोजनम् । वतशब्दोऽनुशोचने । अतोऽभिधत्स्व आदिश । किं द्यौराकाशमधोऽस्तु भवतु, क्षितिर्वा अन्तरीक्षे उपरिष्टादस्त्विति ॥

यत्पुरं दग्धं तद्युष्मत्प्रमादेनैव न शत्रुशक्तयेति दर्शयन्नाह—

९५१—चापल्य-युक्तस्य हरेः कृशानुः

समेधितो वालधि-भाक् त्वदीयैः ॥

शस्त्रेण वध्यस्य गलन्नधाक्षीद्

राजन् ! प्रमादेन निजेन लङ्काम्. ॥ २० ॥

चापल्येत्यादि—चापल्य भावश्चापल्यम् । ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् । युवादिष्वपि दृश्यते तत्र चापलमिति रूपम् । तेन युक्तस्य हरेर्मर्कटस्य हे राजन् ! शस्त्रेण वध्यस्य सतः यो वालधिः पुच्छं तद्भाक् समाश्रितः कृशानुस्त्वदीयैः भृत्यैः

३१२ भट्टि-काव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

समेधितो वर्धितः तैलवृतादिभिर्गृहात् गुहं गच्छतो गलन् पुच्छात्पतन् लङ्काम-
धाक्षीत् दग्धवान् । '३२६। एकाचो वशो भष्-।८।२।३७।' इत्यादिना धत्वम् ।
हलन्तलक्षणा वृद्धिः । '३२४। हो ढः ।८।२।३१।' । '२९५। षढोः कः सि
।८।२।४१। निजेन आत्मीयेन प्रमादेन ज्वालादर्शितलक्षणेन । तदानीं तस्य
शस्त्रव्यापादनमेव युक्तमिति ॥

९५२—अथा ऽञ्चितोरस्कमुदीर्ण-दृष्टिः

कृत्वा विवक्षा-प्रवणं शरीरम् ॥

विवृत्त-पाणिर् विहतोत्तराऽर्थ

विभीषणो ऽभाषत यातुधानान् ॥ २१ ॥

अथेत्यादि—प्रहस्तादिवचनान्तरं अञ्चितोरस्कं विन्यस्तहारत्वात् । पूजि-
तोरस्कम् । '८८९। उरःप्रभृतिभ्यः कप् ।५।४।१५१।' '३०४७। अञ्जेः पूजायाम्
।७।२।५३।' इतीदं । '४२४। नाञ्जेः पूजायाम् ।६।४।३०।' इत्यनुनासिकलोपप्रति-
षेधः । तादृशं शरीरं विवक्षाप्रवणं वक्तुमिच्छामिमुखं कृत्वा शरीरस्य सौष्टवं
उत्पाद्येत्यर्थः । उदीर्णदृष्टिस्तदभिमुखदृष्टिः । विवृत्तपाणिस्तदभिमुखीकृतदक्षिण-
पाणिः विभीषणो यातुधानानभाषत विहतोत्तरार्थं विहतः प्रतिषिद्धः परैरुदितस्य
वचनस्यार्थो यत्र भाषण इति ॥

९५३—'युद्धाय राज्ञा सुभृतैर् भवद्भिः

संभावनायाः सदृशं यदुक्तम्, ॥

तत् प्राण-पण्यैर् वचनीयमेव,

प्रज्ञा तु मन्त्रे ऽधिकृता, न शौर्यम् ॥ २२ ॥

युद्धायेत्यादि—युद्धार्थं राज्ञा भवन्तः सुभृताः संवर्धिताः तैः सुभृतैर्यदुक्तं
'भानुं पिनषाम्' इत्यादि । कीदृशम् । संभावनायाः सदृशम् । तत्प्राणपण्यैर्वचनी-
यमेव । मन्त्रे तु प्रज्ञाधिकृता न शौर्यम् ॥

'नराभियोगं किं नयसे गुरुत्वम्' इत्यत्रोत्तरमाह—

९५४—यच्च चापि यत्ना-ऽऽदृत-मन्त्र-वृत्तिर्

गुरु-त्वमायाति नराऽभियोगः ॥

वशीकृतेन्द्रस्य, कृतोत्तरो ऽस्मिन्

विध्वंसिताऽशेष-पुरो हनूमान् ॥ २३ ॥

यच्चेत्यादि—वशीकृतेन्द्रस्य निर्जितशक्रस्य रावणस्य नराभियोगो यत्नादृत-
मन्त्रवृत्तिर्यत्नेनादृता मन्त्रवृत्तिर्यस्य सः तादृशो गुरुत्वमायातीति यच्चाप्युक्तं अस्मिन्
वस्तुनि हनूमान् कृतोत्तरो दत्तोत्तरः । यतः विध्वंसिताशेषपुरः । पुरं लङ्का ।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'विभीषणागमनो' नाम द्वादशः सर्गः— ३१३

पूःशब्दो वा कृतसमासान्तः । यत्र कपिनाथभृत्येन ईदृशमनुष्ठितं स कथं
नराभियोगो मन्त्रोन्मुखो न निरूप्यत इति ॥

प्रमादेनाग्निः लङ्कामधाक्षीदित्यत्रोत्तरमाह—

९५५—अग्निः प्रमादेन ददाह लङ्कां

वध्यस्य देहे स्वयमेधितश्चेत्, ॥

विमृश्य तद् देव-धिया ऽभिधत्त

ब्रह्माऽस्त्र-बन्धोऽपि यदि प्रमादः ॥ २४ ॥

अग्निरित्यादि—वध्यस्य वधारहस्य देहे तदेकदेशेषु पुच्छादिषु प्रमादेन
स्वयं युष्माभिरग्निर्रेधितो दीपितः लङ्कां ददाह चेत्, तथास्तु । ब्रह्मास्त्र-
बन्धोऽपि यदि प्रमादः तद्देवधिया देवबुद्ध्या देवानां सात्विकत्वाग्निरमला बुद्धिः
तथा विमृश्य निरूप्याभिधत्त ब्रूत । सोऽपि प्रमाद इति यतोऽसावमोघोऽपि
विश्लेषितः । अभिधत्तेति । '२५०१ । दधस्तथोश्च । ८।२।३८।' इत्यभ्यासदका-
रस्य भष् धातोश्च खरि चत्वम् ॥

पराभियोगः सर्वथा निरूप्यत इति दर्शयन्नाह—

९५६—जगन्त्यमेयाऽद्भुत-भाव-भाञ्जि,

जिताऽभिमानाश्च जना विचित्राः, ॥

कार्ये तु यत्नं कुरुत प्रकृष्टं,

मा नीति-गर्भान् सु-धियो ऽवमन्ध्वम्. ॥ २५ ॥

जगन्तीत्यादि—असंख्यविचित्रभावभाञ्जि जगन्ति तत्रत्या अपि जनाः
विचित्राः शक्तिदेशकालवशात् जिताभिमानाश्च । अन्यैरुत्कृष्टैर्जीयतेऽभिमान-
स्तेषाम् । तेनात्मन्यभिमानो न कर्तव्य इति दर्शयति । कार्ये तु प्रकृष्टमुत्तमं
यत्नं कुरुत । येन तत्तत्कार्यं सिध्यति । तत्र च ये युक्तिमभिदधति तान्नीति-
गर्भान् नीतिरेव षाड्गुण्यादिज्ञानं गर्भं येषाम् । अत एव सुधियो मावमन्ध्वं
मा परिभूत । तदयुक्तानुष्ठानात् । '२६९७। हनः सिच । १।२।१४।' इति
क्तिविविधानसामर्थ्यात् अनुनासिकलोपाभावः । '२२४९। धि च । ८।२।२५।' इति
सिचो लोपः ॥

यथा च विजिगीषुणा वर्तितव्यं तथोपदिशन्नाह—

९५७—वृद्धि-क्षय-स्थान-गतामजस्रं

वृत्तिं जिगीषुः प्रसमीक्षमाणः ॥

घटेत सन्ध्याऽऽदिषु यो गुणेषु,

लक्ष्मीर् न तं मुञ्चति चञ्चला ऽपि. ॥ २६ ॥

३१४ भट्टि-काव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे नाम तृतीयो वर्गः,

वृद्धीत्यादि—आत्मद्रव्यप्रकृतिसंपन्नो नयस्याधिष्ठानं विजिगीषुः तस्य च वृद्धिक्षयस्थानमिति त्रीणि फलानि । गुणाश्च सन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधी-
भावाः षट् । तत्र यस्मिन् गुणे स्थितः पश्येदिहस्थः पश्यामीति । दुर्गसेतुवणि-
कृषिशून्यनिवेशनद्रव्यहस्तिवनकर्माण्यात्मनः प्रवर्तयितुं परस्य चैतानि हन्तुं
गुणमातिष्ठेत् सा वृद्धिः । यस्मिन् गुणे स्थितः स्वकर्मणामुपघातं पश्येत् नेतरस्य
तस्मिन् तिष्ठेत् स क्षयः । स्वकर्मणां वृद्धिगुणेनाभिपश्येदेतत् स्थानमित्यनेन
मार्गेण यो विजिगीषुः वृद्धिक्षयस्थानगतामात्मनः परस्य च वृत्तिमजस्रं शश्वत्
प्रसमीक्षमाणो निरूपयन् सन्ध्यादिषु षट्गुणेषु घटेत यतेत तं विजिगीषुं लक्ष्मीः
राज्यश्रीः चञ्चलापि न सुञ्चति । गुणशृङ्खलाबद्धत्वात् ॥

अस्ति स कालो यत्र विजिगीषुणा परवृद्धिरूपेक्षणीयेति दर्शयन्नाह—

९५८—उपेक्षणीयैव परस्य वृद्धिः

प्रनष्ट-नीतेरजितेन्द्रियस्य ॥

मदाऽऽदि-युक्तस्य विराग-हेतुः,

स-मूल-घातं विनिहन्ति या ऽन्ते. ॥ २७ ॥

उपेत्यादि—परः शत्रुः प्रनष्टनीतित्वादजितेन्द्रियः न मदादिषड्वर्गं त्यजति,
किंतु तेनैव युज्यते । तस्यैवंविधस्य या वृद्धिः सा सर्वस्यैव लोकस्य विरागहेतुः
वैमुख्यकारणमुपेक्षणीयैव न तदभावाय । तेनेदृशी या अन्ते अवसाने समूल-
घातं सर्वं संवर्णं विनिहन्ति विनाशयति ॥

तथास्ति स कालो यत्र विजिगीषुणाप्यात्मक्षय उपेक्षणीय इत्याह—

९५९—जनाऽनुरागेण युतो ऽवसादः

फलाऽनुबन्धः सुधिया ऽऽत्मनो ऽपि ॥

उपेक्षणीयो ऽभ्युपगम्य संधिं

कामाऽऽदि-षड्-वर्ग-जिता ऽधिपेन. ॥ २८ ॥

जनेत्यादि—आत्मनोऽप्यवसादः क्षयः जनानुरागेण युतः संबद्धः अनु-
रक्तप्रकृतिमण्डलत्वाद्विजिगीषोः फलानुबन्धः फलमनुब्रूयाति । सुधिया विदुषा
अधिपेन राज्ञा । कामादिषड्वर्गजिता कामक्रोधलोभमोहमदेष्ट्याणां षण्णां वर्गः
तज्जिता उपेक्षणीयः । तत्रापि परैः संधिमभ्युपगम्य कृत्वा । अन्यथा क्षीणोऽ-
यमिति परोऽमियुज्जीत ॥

यदा च विजिगीषुः संधिविग्रहाभ्यां फलं न पश्येत् तदा स्ववृद्धिप्राप्त्यर्थमा-
सन्नं कुर्यादित्युपदिशन्नाह—

९६०—यदा विगृह्णन् न च संदधानो

वृद्धिं क्षयं चाऽनुगुणं प्रपश्येत्, ॥

आसीत् राजा ऽवसर-प्रतीक्षस्
तदा प्रयासं वितथं न कुर्यात्. ॥ २९ ॥

यदेत्यादि—यदा हि राजा विजिगीषावस्थितः विगृह्णन् विग्रहं कुर्वन् आत्म-
नोऽनुगुणामनुकूलां वृद्धिं न पश्येत् क्षयं वा परस्यात्मनोऽनुगुणं न पश्येत् ।
संदधान इति संधिं च कुर्वन्नात्मनोऽनुगुणं न पश्येत् तदा आसीत् स्ववृद्ध्यर्थमा-
सनं कुर्यात् न विग्रहं संधिं वा । अवसरः कालस्तं प्रतीक्षत इति अवसरप्रतीक्षः ।
'२९१३। कर्मण्य १३।२।१।' संधेर्विग्रहस्य वा स्वपरवृद्धिक्षयानुकूलं कालं
प्रतीक्षमाण इत्यर्थः । न पुनः प्रयासं संधिविग्रहोद्यमं वितथं निष्फलं निष्प्रयोजनं
कुर्यात् । यदा तु परं विग्रहीतुमशक्तः तदा श्वावराहकलहं समानमुपदेक्षति ॥

संधिं कृतवतोऽपि विजिगीषोः परेण वा वियुज्यमानस्य विधिसुपदिशन्नाह—

९६१—संधौ स्थितो वा जनयेत् स्व-वृद्धिं
हन्यात् परं वोपनिषत्प्रयोगैः ॥
आश्रावयेदस्य जनं परैर् वा
विग्राह्य कुर्यादवहीन-संधिम्. ॥ ३० ॥

संधावित्यादि—संधौ स्थितो वर्तमानः जनयेत् स्ववृद्धिम् । यया अत्यु-
च्छ्रितः तामभियुञ्जीत परं वा शत्रुं उपनिषत्प्रयोगैः विषादिदानैः हन्यात्
विनाशयेत् संधिना जातविश्वासत्वात् । आश्रावयेदस्य जनं देशादिदानेनाकर्षयेत् ।
बलवता अभियुज्यमानः परैः विग्राह्य कलहं कारयित्वा अवहीनसंधिं आक्रान्त-
संधिं कुर्यात् । तस्योपतापितत्वात् ॥

संधित्सोर्विजिगीषोः शत्रुमण्डलभेदं कुर्वतः सुकरः संधिरित्युपदिशन्नाह—

९६२—संदर्शित-स्नेह-गुणः स्व-शत्रून्
विद्वेषयन् मण्डलमस्य भिन्द्यात् ॥
इत्येवमादि प्रविधाय संधिर्
वृद्धेर् विधेयो ऽधिगमाभ्युपायः. ॥ ३१ ॥

संदर्शितेत्यादि—अस्मच्छत्रवोऽनेन संधानं मा कार्षुरिति तान्विद्वेषयन्
विमुखानुत्पादयन् । दर्शितस्नेहगुणः प्रकटीकृतानुरागगुणः । अस्य शत्रोर्मण्डल-
ममात्यादिप्रकृतिं भिन्द्यात् इत्येवमादि प्रविधाय संदर्शितेत्येवमादिवाक्यार्थं
कृत्वेल्लेख्यः । वृद्धेरधिगमाभ्युपायः प्राप्तिहेतुः संधिर्विधेयोऽनुष्ठेयः ॥

३१६ भट्टि-काव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

विग्रहोऽपि विशिष्टस्यैव विजिगीषोर्न यस्य कस्यचिदित्युपदिशन्नाह—

९६३—मत्वा सहिष्णून्परोपजप्यान्
स्वकानधिष्ठाय जलाऽन्त-दुर्गान् ॥
दुमाऽद्रि-दुर्लङ्घ्य-जलाप्रधृष्यान्
वर्धेत राजा रिपु-विग्रहेण. ॥ ३२ ॥

मत्वेत्यादि—स्वकानात्मीयाननुजीविनः सहिष्णून् समर्थान् अपरोपज-
प्यान् परैरभेद्यान् जलान्ते ये दुर्गाः प्रदेशाः तानधिष्ठाय तत्र स्थापयित्वा ।
'५४२। अधिशीङ्—।१।४।४६।' इति कर्मसंज्ञा । कीदृशान् । दुमैरद्रिभिर्दुर्ल-
ङ्घ्यजलैश्चाप्रधृष्यान् अगम्यान् । वनपर्वतजलभेदात् त्रिविधं दुर्गम् । रिपुणा सह
यो विग्रहः तेन हेतुना राजा वर्धेत वृद्धुपचितः स्यात् ॥

यदा अरिविजिगीषू परस्परं हन्तुं न शक्तौ तदा विजिगीषोरासनमुपदिशन्नाह—

९६४—शक्नोति यो न द्विषतो ऽभिहन्तुं,
विहन्यते ना ऽप्य-बलैर् द्विषद्भिः, ॥

स श्वा-वराहं कलहं विदध्या-

दासीत दुर्गाऽऽदि विवर्धयंश् च. ॥ ३३ ॥

शक्नोतीत्यादि—यो विजिगीषुः अबलत्वात् द्विषतः शत्रून्भिहन्तुं विग्र-
हीतुं न शक्नोति अबलैर्द्विषद्भिर्न विहन्यते स विजिगीषुः श्वावराहं कलहं विद-
ध्यात् अनुतिष्ठेत् । श्वा च वराहश्च श्वावराहं तदीयमिव कलहम् । '१५००।
तस्येदम् ।४।३।१२०।' इत्यण् । यथा चाण्डाला वराहं हन्तुमशक्ताः श्वानं विमुच्य
योधयन्ति यद्यं हतोऽनेन वा अयमिति तयोर्भक्ष्यत्वादुभयथा कार्यसिद्धेः ।
तद्वद्द्वयोर्विद्विषतोः कलहं विदध्यात् । स्वयं च दुर्गादि विवर्धयन् दुर्गसेतुवणि-
कृषिशून्यनिवेशनद्रव्यहस्तिवनकर्माण्युपचिन्वन् आसीत तिष्ठेत् ॥

यदा विजिगीषुर्यानमात्रसाध्यं शत्रुमात्मानं वा शक्तिहीनं पश्येत् तदा यायात्
संश्रयेतेति गुणद्वयमुपदिशन्नाह—

९६५—प्रयाण-मात्रेण परे प्रसाध्ये

वर्तेत यानेन कृताऽभिरक्षः, ॥

अ-शक्नुवन् कर्तुर्मरेर् विघातं

स्व-कर्म-रक्षां च परं श्रयेत. ॥ ३४ ॥

प्रयाणमात्रेणेत्यादि—प्रयाणमात्रेण प्रसाध्ये परे शत्रौ नापरं विग्रहमपे-
क्षेत, यानेन वर्तेत, स्ववृत्तौ वर्तेत । कृताभिरक्षः अभियास्यतः कर्मणां द्विविध-
स्वप्रतिविधानात् । अरेर्विघातं दुर्गादिकर्मोपघातान् स्वकर्मरक्षां स्वेषां दुर्गा-

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'विभीषणागमनो' नाम द्वादशः सर्गः— ३१७

दिकर्मणां अपरेणोपहन्यमानानां रक्षां कर्तुमशक्नुवन् शक्तिहीनत्वात् परं श्रयेत् ।
यमाश्रित्य क्षयस्थानात् ज्ञानवृद्धिमाप्नुयात् । परो द्विविधः अभियोक्ता तद्विशि-
ष्टबलोऽपरोऽन्य इति ॥

यदा तु सहायसाध्यं कार्यं पश्येत् तदा संधिविग्रहासनद्वैधीभावं गच्छेदित्यु-
पदिशन्नाह—

९६६—एकेन संधिः, कलहो ऽपरेण
कार्यो ऽभितो वा प्रसमीक्ष्य वृद्धिम्, ॥
एवं प्रयुञ्जीत जिगीषुरेता
नीतीर् विजानन्नहिताऽऽत्म-सारम्. ॥ ३५ ॥

एकेनेत्यादि—अभित उभयपार्श्वयोः संधिना विग्रहेण वा वृद्धिं प्रसमीक्ष्य
पश्चादेकेन शत्रुणा स्वयमभियुक्तेन संधिः अपरेण सहायाभियुक्तेन विग्रहः
कार्यः । एवमुक्तेन प्रकारेण अहितस्य शत्रोरात्मनश्च सारं बलाबलं विजिगीषु-
र्विजानन् एता नीतीः शाङ्ख्यलक्षणाः प्रयुञ्जीत ॥

त्वया पुनरेवं न प्रयुक्ता इति दर्शयन्नाह—

९६७—त्वया तु लोके जनितो विरागः,
प्रकोपितं मण्डलमिन्द्र-मुख्यम्, ॥
रामे तु राजन्, विपरीतमेतत्
पश्यामि, तेना ऽभ्यधिकं विपक्षम्. ॥ ३६ ॥

त्वयेत्यादि—त्वया पुनश्चतुर्वर्णोच्छेदकारिणा लोके जनितो विरागः । इन्द्र-
मुख्यं शक्रप्रधानं च मण्डलं प्रकोपितम् । रामे तु सर्वमेतद्विपरीतं अनुरागेण
जनितं मण्डलं चानुरजितं तेनाभ्यधिकं विपक्षं रामं पश्यामि ॥

न चेदानीं भवतः कार्यं विनष्टं अपि तु प्रागेवेति दर्शयन्नाह—

९६८—एकेन वाली निहतः शरेण
सुहृत्-तमस् ते, रचितश् च राजा ॥
यदैव सुग्रीव-कपिः परेण,
तदैव कार्यं भवतो विनष्टम्. ॥ ३७ ॥

एकेनेत्यादि—तव सुहृत्तमो वाली यदैव परेण रामेण कर्त्रा शरेणैकेन निहतः,
सुग्रीवश्च कपिस्त्वच्छत्रू राजा रचितः स्थापितः तदैव भवतः कार्यं विनष्टमिति ॥

३१८ भट्टि-काव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

अथ प्रतापवतो मम कथं कार्यं विनश्यति प्रतापादेव शत्रवो नश्यन्तीति चेदाह—

९६९—प्राकार-मात्राऽऽवरणः प्रभावः

खराऽऽदिभिर् यो निहतैस् तवाऽभूत्, ॥

लङ्का-प्रदाहाऽक्ष-वध-द्रु-भङ्गैः

क्लाम्यत्यसार्वप्यधुना ऽतिमात्रम्. ॥ ३८ ॥

प्राकारेत्यादि—तव त्रैलोक्यप्रमाथी प्रताप आसीत् । पुनः खरादिभिर्निहतैः प्राकारमात्रावरणो जातः । लङ्कायामेव समर्थत्वात् । असार्वप्यधुना लङ्कादाहेन, अक्षवधेन, द्रुमभङ्गेन अशोकवनिकाभङ्गेन च अतिमात्रमत्यर्थं क्लाम्यति ग्लानि-मुपगच्छति ॥

अतो रामेण सह युद्धं न घटते तदेव दर्शयन्नाह—

९७०—षड्वर्ग-वश्यः परिमूढ-बन्धु-

रुच्छिन्न-मित्रो ऽरिगणैरुपेतः ॥

मा पाद-युद्धं द्वि-रदेन कार्षीर्

नम क्षितीन्द्रं प्रणतोपभोग्यम्. ॥ ३९ ॥

षड्वर्गेत्यादि—वशंगतो वश्यः कामादेर्वश्यः । परिमूढबन्धुः मूर्खामाल्यादि-परिवारः । उच्छिन्नमित्रः वर्गस्यासंभवात् । अरिगणैरुपेतः । तद्विपरितो रामः । अतो द्विरदेन पादयुद्धमिव तेन ज्यायसा मा विग्रहं कार्षीः । अपितु क्षितीन्द्रं रामं नम । प्रणतोपभोग्यम् । अनेन हीनसंधिमाह । तथा चोक्तम्—‘प्रवृत्तं मन्त्रिणाक्रान्तो राजा बलवता बलः ॥ संधिनोपनमेत्तूर्णं दण्डकोशात्मभूमिभिः ॥’ इति ॥

युवयोः संधानकारणमस्त्येवेति दर्शयन्नाह—

९७१—रामो ऽपि दाराऽऽहरणेन तप्तो,

वयं हतैर् बन्धुभिरात्म-तुल्यैः, ॥

तप्तस्य तप्तेन यथा ऽऽयसो नः

संधिः परेणा ऽस्तु, विमुञ्च सीताम्. ॥ ४० ॥

राम इत्यादि—यथा तप्तेनायसा तप्तस्यायसः संधिर्घटते तद्वदस्माकं तप्तानां तप्तेन रामेण संधिरस्तु । अतो विमुञ्च सीतां संधिनिमित्तम् ॥

यदि च तेन तप्तेनापि सता ज्यायसा न संधानं तदा सर्वे वयं न जीवामः तव तेजसो विनाशकत्वादिति दर्शयन्नाह—

९७२—संधुक्षितं मण्डल-चण्ड-वातै-

रमर्ष-तीक्ष्णं क्षिति-पाल-तेजः ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'विभीषणागमनो' नाम द्वादशः सर्गः— ३१९

सामाऽम्भसा शान्तिमुपैतु राजन् !

प्रसीद, जीवाम स-बन्धु-भृत्याः. ॥ ४१ ॥

संयुक्षितमित्यादि—क्षितिपालतेजः सीतावियोगजम् । इन्द्रादिमण्डलै-
श्रण्डवातैरिव संयुक्षितं दीपितम् । अमर्षतीक्ष्णं असहिष्णुतयासह्यम् । सामा-
म्भसा साक्षा संधिना अम्भसेव शान्तिमुपैतु । हे राजन् ! प्रसीद किं संरम्भेण ?
अन्यथा तमारण्योऽग्निरिव दुःखामर्षजं तेजो विक्रमयतीति ॥

समानयोरपि संधानमेव युज्यते न विग्रहः किं पुनर्ज्यायसीत्यत्र हेतुं दर्शयन्नाह—

९७३—अ-पक्व-कुम्भाविं व भङ्ग-भाजौ

राजन्नियातां मरणं समानौ, ॥

वीर्ये स्थितः किंतु कृताऽनुरागो

रामो भवांश् चोत्तम-भूरि-वैरी. ॥ ४२ ॥

अपक्वेत्यादि—हे राजन् ! यथा कुम्भावपक्वौ भङ्गभाजौ परस्परभिहतौ
विनश्यतः । तद्वत् समानौ युध्यमानौ मरणमियाताम् । सार्वधातुक्यकारत्वा-
दिणो न दीर्घत्वम् । राजन्नियातामिति '१३४। डमो ह्रस्वादचि डमुद-।८।३।३२।'
किंतु रामो वीर्ये स्थितः । उत्साहशक्तियुक्त इत्यर्थः । विक्रमबलं चोत्सा-
हशक्तिः । कृतानुरागश्च अनुरक्तमण्डलत्वात् । भवान् पुनः उत्तमभूरिवैरी ।
उत्तमा इन्द्रादयो भूरयः प्रभूता वैरिणः शत्रवो यस्य । अतस्तेन संधानमेव
युक्तं न विग्रहः । ननु च समज्यायोभ्यां संधीयेत हीनेनैव विगृह्णीयात् ।
मन्त्रप्रभावोत्साहशक्तिमिश्रुक्तो ज्यायान् । अपचितो हीनः । तुल्यशक्तिः समः ।
तत्र ज्ञानबलं मन्त्रशक्तिः । कोशदण्डबलं प्रभुशक्तिः । विक्रमबलं उत्साहशक्तिः ॥

सत्यामुत्साहशक्तौ शेषयोरभावाच्च हीनेन विग्रह एव युज्यत इत्याह—

९७४—दण्डेन कोशेन च मन्यसे चेत्

प्रकृष्टमात्मानमरेस् तथापि ॥

रिक्तस्य पूर्णेन वृथा विनाशः

पूर्णस्य भङ्गे बहु हीयते तु. ॥ ४३ ॥

दण्डेनेत्यादि—दण्डेन चतुरङ्गेन बलेन, कोशेन हेमरूप्यादिना यदि
प्रकृष्टमात्मानमरेः सकाशान्मन्यसे, तथाप्येवमपि न युक्तं, यतो रिक्तस्य पूर्णेन
भवता विनाशो भङ्गः वृथा निष्फलः । पूर्णस्य पुनर्भवतो भङ्गे बहु हीयत इति
हीनेन बलवतोऽपि संधानं युक्तम् । रिक्तस्य भङ्गो माऽभूत् ॥

३२० भट्टि-काव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

अन्यद्विजयफलमस्तीति चेदाह—

९७५—क्लिष्टाऽऽत्म-भृत्यः परिमृग्य-सम्पन्न

मानी यतेता ऽपि स-संशये ऽर्थे, ॥

संदेहमारोहति यः कृताऽर्थो,

नूनं रतिं तस्य करोति न श्रीः. ॥ ४४ ॥

क्लिष्टेत्यादि—यो मानी क्लिष्टात्मभृत्यः चिरकालक्लिष्टशरीरः क्लिष्टभृत्यश्च । परिमृग्यसम्पत् प्रार्थनीया विभूतिर्येन । मृगयतेः स्वार्थिकण्यन्तादचो यत् । संशयेऽर्थे स्यान्न स्यादिति यतेतापि यत्नं कुर्यात् । यः कृतार्थो भवादृशः त्रैलोक्यविजयित्वात् संदेहमारोहति संदेहे प्रवर्तते, तस्य नूनमवश्यं श्रीर्विभूतिः रतिं स्थितिं न करोति ॥

कदा तर्हि विग्रह इत्याह—

९७६—शक्यान्य-दोषाणि महा-फलानि

समारभेतोपनयन् समाप्तिम् ॥

कर्माणि राजा विहिताऽनुरागो,

विपर्यये स्याद् वितथः प्रयासः. ॥ ४५ ॥

शक्यानीत्यादि—शक्यानि यानि कर्तुं पार्यन्ते । अदोषाणि शुद्धानि महा-फलानि कार्याणि राजा समारभेत विग्रहेणेत्यर्थात् । उपनयन् समाप्तिं नयन् । विहितानुरागोऽनुरक्तकृतिः । विपर्यये उक्तस्य । अशक्यानि दोषाधिकानि स्वल्पफलानि राजा समारभेत समाप्तिं च न नयति स वितथः प्रयासः निष्फलो विग्रहः ॥

ममापि रामविग्रहेण सर्वमस्तीति चेदाह—

९७७—जेतुं न शक्यो नृ-पतिः सु-नीतिर्

दोषः क्षयाऽऽदिः कलहे ध्रुवश्च, च ॥

फलं न किञ्चिन् न शुभा समाप्तिः,

कृताऽनुरागं भुवि संत्यजा ऽरिम्. ॥ ४६ ॥

जेतुमित्यादि—नृपती रामः जेतुं न शक्यः विग्रहेण । उत्साहशक्तियु-क्त्वात् । तेन सह कलहे दोषः क्षयादिः ध्रुवोऽवश्यंभावी । विग्रहे वा सति क्षयव्ययप्रयासप्रत्यवाया भवन्तीत्युक्तम् । फलं न किञ्चित् । न शुभा समाप्तिः स्वबन्धुविनाशहेतुत्वात् । अतो योद्धुमरिं ज्यायांसं संत्यज । भुवि कृतानुरागं त्वं सुनरकृतानुराग इति ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'विभीषणागमनो' नाम द्वादशः सर्गः—३२१

अन्यच्च वालिवध एव तस्यार्थसम्पज्जयायेति दर्शयन्नाह—

९७८—त्वन्-मित्र-नाशो, निज-मित्र-लाभः,

समेत-सैन्यः स च मित्र-कृच्छ्रे ॥

भोग्यो वशः पश्य शरेण शत्रोः

प्रसाधितो वालि-वधे न को ऽर्थः ॥ ४७ ॥

त्वन्मित्रेत्यादि—वालिबधे सति शरेण रामस्य कोऽर्थो न प्रसाधितः, अपि तु सर्व एव पश्य । तथाहि । त्वन्मित्रनाशः तस्य च मित्रलाभः मित्रं च तलाभ-
श्चेति । समेतसैन्यः कृच्छ्रे संकटप्राप्तौ भूतभोग्यः उपजीव्यः । वशोऽनुकूल इति ॥

तं विभिद्य साधयिष्यामीति चेदाह—

९७९—लोभाद् भयाद् वा ऽभिगतः कपीन्द्रो

न राघवं, येन भवेद् विभेद्यः, ॥

स्थितः सतां वर्त्मनि लब्ध-राज्यः

प्रति-प्रियं सो ऽभ्यगमच्च चिकीर्षुः ॥ ४८ ॥

लोभादित्यादि—कुदलुब्धभीतावमानिताश्चत्वारो भृत्याः परस्य मेघाः । तत्र कपीन्द्रो राघवं लोभाद्भयाद्वा त्रासाद्वा नाभिगतः । येन हेतुनाऽयं विभेद्यः स्यात् । यस्मादसौ सतां मार्गे स्थितः सन् लब्धराज्यो लाभरतः प्रतिप्रियं चिकीर्षुः ॥

तदनुजीविनोऽपि न मेघा इति दर्शयति—

९८०—फलाशिनो निर्झर-कुञ्ज-भाजो

दिव्याऽङ्गनाऽनङ्गरसाऽनभिज्ञाः ॥

न्यग्-जातयो रत्न-वरैरलभ्या

मुख्याः कपीनामपि नोपजप्याः ॥ ४९ ॥

फलाशिन इत्यादि—कपीनामपि मुख्या नीलकुमुदादयोऽपि नोपजप्याः नोपजपितुं शक्याः । यतः फलाशिनो मिष्टान्ननिरपेक्षाः । निर्झरकुञ्जभाजः न रम्यप्रासादवासिनः । दिव्याङ्गनानङ्गरसानभिज्ञाः दिव्याङ्गनासु योऽनङ्गरसः सुरतरसः तदनभिज्ञाः । न्यग्जातयः न्यञ्जन्तीति '३७६। ऋत्विग्-॥३।२।५९।' इत्यादिना किन् ॥

युष्मन्मित्रपुत्रोऽङ्गदोऽप्यमेघ इति दर्शयन्नाह—

९८१—कृताऽभिषेको युवराज-राज्ये

सुग्रीव-राजेन सुताऽविशेषम् ॥

तारा-विधेयेन कथं विकारं

तारा-सुतो यास्यति राक्षसार्थम्. ॥ ५० ॥

कृतेत्यादि—सुग्रीवराजेन ताराविधेयेन ताराचित्तानुवर्तिना । तारासुतोऽङ्गदः
यौवराज्ये कृताभिषेकः सुताविशेषमिति क्रियाविशेषणम् । सुतनिर्विशेषं ममैवायं
सुतो न वालिन इति । तत्कथं राक्षसार्थं विकारं भेदं यास्यति । नैवेत्यर्थः ॥

अन्यसमाश्रयादपि रामेण विग्रहो न युज्यत इति दर्शयन्नाह—

९८२—पश्यामि रामादधिकं समं वा

ना ऽन्यं, विरोधे यमुपाश्रयेम, ॥

दत्त्वा वरं साऽनुशयः स्वयम्भू-

रिन्द्राऽऽदयः पूर्व-तरं विरुद्धाः. ॥ ५१ ॥

पश्यामीत्यादि—रामादधिकं ज्यायांसं समानं वा न पश्यामि । यं विरोधे
विग्रहनिमित्तमुपाश्रयेम आश्रयं गच्छेम । संप्रश्ने लिङ् । स्वयंभूर्मह्या तावन्ना-
श्रयः यतो वरं दत्त्वा सानुशयः विग्रतीकारवान् जातः । किमिदमकार्यमनुष्ठितं
मयेति इन्द्रादयस्तु पूर्वतरं विरुद्धाः ॥

एवं दुर्गसमाश्रयो ऽपि न युज्यत इति दर्शयन्नाह—

९८३—दुर्गाऽऽश्रितानां बहुना ऽपि राजन् !

कालेन पार्ष्णिग्रहणाऽऽदि-हेतुः ॥

दुर्गोपरोधं न च कुर्वतो ऽस्ति

शत्रोश्च चिरेणा ऽपि दशाऽऽस्य ! हानिः ॥ ५२ ॥

दुर्गेत्यादि—दुर्गाश्रितानामस्माकं दुर्गोपरोधं कुर्वतः शत्रोर्बहुनापि कालेन
हे राजन् ! पार्ष्णिग्रहणादेः । आदिशब्दादाटविकान्तपालादिप्रकोपस्य हेतुर्नास्ति
यद्दशादुपरोधो न भविष्यति । अत्र स्थितानां क्षय एव केवलं न च शत्रोरुपरोधं
कुर्वतः चिरेणापि हानिः । युद्धशरीरोपयोगिनां सर्वदा संभवात् ॥

९८४—शस्त्रं तरुर्वी-धरमम्बु पानं

वृत्तिः फलैश्च, नो गज-वाजि-नार्यः ॥

राष्ट्रं न पश्चान्, न जनोऽभिरक्ष्यः,

किं दुःस्थमाचक्ष्व भवेत् परेषाम्. ॥ ५३ ॥

शस्त्रमित्यादि—तरवश्च उर्वीधराश्चेति ‘९१०। जातिरप्राणिनाम् । २।१।६।’
इति एकवद्भावः । तच्छस्त्रं न शूलखट्वादि । पानमम्बु न मैरयादि । फलैर्वृत्तिर्नो-
दनादिभिः । नो गजवाजिनार्यः शरीरमात्रत्वाग्निश्चिन्ताः । राष्ट्रं देशो न पश्चात्,

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'विभीषणागमनो' नाम द्वादशः सर्गः—३२३

अत एव तत्स्थो जनो नाभिरक्ष्यः । एवं च सति परेषां किं दुःस्थं इत्याचक्ष्व
कथय । अतो रामेण ज्यायसा संधिरेवास्तु न विग्रह इति ॥

तदेव दर्शयन्नाह—

९८५—संधानमेवा ऽस्तु परेण तस्मान्,
नाऽन्यो ऽभ्युपायो ऽस्ति निरूप्यमाणः, ॥

नूनं वि-संधौ त्वयि सर्वमेतन्
नेष्यन्ति नाशं कपयो ऽचिरेण.' ॥ ५४ ॥

संधानमित्यादि—तस्मात्परेण संधिरेवास्तु । अन्य उपायो नास्ति ।
अन्यथा त्वयि विरुद्धबुद्धौ सर्वं कपयो विनाशयिष्यन्तीति ॥

९८६—विभीषणोक्तं बहु मन्यमानः
प्रोन्नम्य देहं परिणाम-नम्रम् ॥
स्खलद्-वलिर् वार्धक-कम्प-मूर्धा
मातामहो रावणमित्युवाच. ॥ ५५ ॥

विभीषणोक्तमित्यादि—बहु मन्यमानः श्लाघमानो मातामहो मातुः
पिता मात्स्यवान्नाम । देहं परिणामनम्रं वयसः परिणामान्नमनशीलं प्रोन्नम्यो-
त्क्षिप्य । अत एव स्खलद्बलिः । वार्धकेन वृद्धभावेन । मनोशादित्वात् बुक् ।
कम्पः कम्पनशीलो मूर्धा यस्य सः । रावणमिति वक्ष्यमाणमुवाच ॥

९८७—'एकः पदातिः पुरुषो धनुष्मान्
यो ऽनेक-मायानि विद्यद्-गतानि ॥
रक्षः-सहस्राणि चतुर्दशा ऽऽदीत्,
का तत्र वो मानुष-मात्र-शङ्का. ॥ ५६ ॥

एक इत्यादि—एकः असहायः पदातिः न हस्त्याद्यारूढः पुरुषो मनुष्यः ।
धनुष्मान् धनुर्मात्रायुधः । चतुर्दश रक्षःसहस्राणि अनेकमायानि विद्यद्गतानि
प्रयातुमशक्यानि । परेषामित्यर्थात् । आदीत् हिंसितवान् । का तत्र वः युष्माकं
मानुषमात्रशङ्का, नैवेत्यर्थः ॥

किंतु दिव्योऽसाविति तदेव दर्शयन्नाह—

९८८—ब्रह्मर्षिभिर् नूनमयं स-देवैः
सन्तापितै रात्रिचर-क्षयाय ॥
नराऽऽकृतिर् वानर-सैन्यशाली
जगत्-जय्यो विहितो ऽभ्युपायः. ॥ ५७ ॥

३२४ भट्टिकाव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

ग्रहेत्यादि—सदेवैर्ब्रह्मादिभिः संतापितैः रात्रिचरक्षयाय नूनमयं राम उपायो विहितः उत्पादितः । नराकृतिः आकृत्यैव केवलं नरः । वानरसैन्यशाली आढ्यः । अजरयो जेतुमशक्यः ॥

दृष्टश्चैवं प्रकारो देवानां मयेति दर्शयन्नाह—

९८९—वज्राऽभिघातैर-विरुग्ण-मूर्तेः

फेणैर् जलानामसुरस्य मूर्ध्नः ॥

चकार भेदं मृदुभिर् महेन्द्रो

यथा, तथैतत् किमपीति बोध्यम्. ॥ ५८ ॥

वज्राभिघातैरित्यादि—असुरस्य नमुचेः वज्राभिघातैरपि अविरुग्णमूर्तेः अचूर्णितशरीरस्य संबन्धिनो मूर्ध्नो जलानां फेणैर्मृदुभिः भेदं चकार यथा तथेदमपि शमे स्थितानामपि देवानां नराकृति वस्तु किमपीति बोद्धव्यम् ॥

अन्यथा कथं फेणपिण्डैर्विनाश इत्याह—

९९०—क स्त्री-विषह्याः करजाः, क वक्षो

दैत्यस्य शैलेन्द्र-शिला-विशालम्, ॥

संपश्यतैतद् द्युसदां सुनीतं,

विभेद तैस् तन् नर-सिंह-मूर्तिः. ॥ ५९ ॥

केत्यादि—स्त्रीविषह्याः स्त्रीभिः सोढुं शक्याः करजा नखाः क । दैत्यस्य हिरण्यकशिपोः शैलेन्द्रशिलाविशालं वक्षः क च । वक्षःकरजयोरपि दूरमन्तरं, तथापि द्युसदां देवानां एतत्सुनीतं सुनयं संपश्यत । यत् तैर्नखैर्नरसिंहमूर्तिः तद्वक्षो विभेद ॥

यत्रैवमुपायेन देवैर्निहन्यते तत्र त्वं कथं प्रमादी मुह्यसीत्याह—

९९१—प्रमाद-वांस् त्वं क्षत-धर्म-वर्त्मा

गतो मुनीनामपि शत्रु-भावम्, ॥

कुलस्य शान्तिं बहु मन्यसे चेत्

कुरुष्व राजेन्द्र ! विभीषणोक्तम्. ॥ ६० ॥

प्रमादवानित्यादि—त्वं यतः प्रमादी अजितेन्द्रियत्वात् । क्षतधर्मवर्त्मा त्यक्ताचारः । अतो मुनीनामपि शमे स्थितानां शत्रुत्वं गतः । ईदृशोऽपि कुलस्य शान्तिं बहु मन्यसे चेत् श्लाघसे यदि । हे राजेन्द्र ! कुरुष्व विभीषणोक्तम् ॥

९९२—घोषेण तेन प्रतिलब्ध-संज्ञो

निद्राऽऽविलाऽक्षः श्रुत-कार्य-सारः ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'विभीषणागमनो' नाम द्वादशः सर्गः— ३२५

स्फुरद्-घनः साऽम्बुरिवाऽन्तरीक्षे

वाक्यं ततोऽभाषत कुम्भकर्णः ॥ ६१ ॥

घोषेणेत्यादि—प्रहस्तविभीषणमातामहानां वदतां यो घोषः तेन प्रतिल-
ब्धसंज्ञो विबुद्धः कुम्भकर्णो निद्राविलाक्षः निद्रया कषायितचक्षुः श्रुतकार्यसारः
श्रुतकार्यशरीरः । ततः कार्यसारश्रवणानन्तरं वाक्यमभाषत । यथा घनः साम्बुः
सज्जलोऽन्तरीक्षे वियति स्फूर्जति तद्वत् स्फूर्जन्निति ॥

कार्यं निश्चित्य सदसि भाषणानि न पञ्चाङ्गमन्त्रं विनैति साङ्गं तं तावदुप-
दर्शयन्नाह—

९९३—'क्रिया-समारम्भ-गतोऽभ्युपायो,

नृ-द्रव्य-सम्पत् सह-देश-काला, ॥

विपत्-प्रतीकार-युताऽर्थ-सिद्धिर्

मन्त्राऽङ्गमेतानि वदन्ति पञ्च. ॥ ६२ ॥

क्रियेत्यादि—क्रियाणां दुर्गादिकर्मणां यः समारम्भस्तं गतः प्राप्तो योऽभ्यु-
पायः कर्मणामारम्भोपाय इत्यर्थः । इदमेकमङ्गम् । नृद्रव्यसम्पत् पुरुषाणां
द्रव्याणां च सम्पदिति द्वितीयम् । द्वयोस्सहवचनं योगवाहित्वज्ञापनार्थम् ।
सहदेशकालेति । यस्मिन् देशे काले च कार्यसिद्धिस्ताभ्यां सह वर्तत इति
तृतीयम् । अत्रापि सहवचनं योगादेव । कर्मणामनुष्ठीयमानानां या विपत्तस्याः
प्रतीकारस्तेन युक्तेति चतुर्थम् । अर्थसिद्धिः कार्यसिद्धिरिति पञ्चमम् । एतानि
पञ्च मन्त्रस्याङ्गानि वदन्ति नीतिज्ञाः ॥

९९४—न निश्चिताऽर्थं समयं च देशं

क्रियाऽभ्युपायाऽऽदिषु योऽतियायात्, ॥

स प्राप्नुयान् मन्त्र-फलं न मानी

काले विपन्ने क्षणदा-चरेन्द्र ! ॥ ६३ ॥

नेत्यादि—निश्चितार्थोऽवश्यं सिध्यतीति यस्मिन् समये काले देशे च
कार्यसिद्धिः तादृशं समयं देशं च यो विजिगीषुर्नातियायात् नातिक्रामेत् ।
प्रतिषेध्यस्य द्विषत्वात् प्रतिषेधद्वयं योज्यम् । समयं च देशमिति पाठान्तरे
समुच्चयेनैक एव योज्यः । क्रियाभ्युपायादिषु सत्सु, आदिशब्दात् पुरुषद्रव्य-
संपद्विपत्प्रतीकारे च स प्राप्नुयान्मन्त्रफलम् । हे क्षणदाचरेन्द्र ! न पुनर्मानी
भवादृशः काले विपन्ने प्राप्नोति । स हि देशकालौ हापयति ॥

९९५—औष्ण्यं त्यजेन् मध्यं गतोऽपि भानुः,

शैत्यं निशायामथवा हेमांशुः ॥

३२६ भट्टि-काव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

अनर्थ-मूलं भुवनाऽवमानी

मन्ये न मानं पिशिताशि-नाथ ! ॥ ६४ ॥

औष्ण्यमित्यादि—हे पिशिताशिनाथ ! भानुर्मध्यगतोऽपि मध्याह्नेऽपि औष्ण्यमुष्णतां त्यजेत् । संभावने लिङ् । अथवा हिमांशुर्निशायामपि शैलं त्यजेत् । भुवनावमानी पुनर्भुवनमवमन्तुं शीलमस्येति । नास्ति मत्सम इति स भवादृशो मानं न त्यजेत् । अनर्थमूलं अनर्थस्य कारणम् । एवं मन्ये जानामि ॥

९९६—तथा ऽपि वक्तुं प्रसभं यतन्ते

यन् मद्-विधाः सिद्धिर्मभीप्सवस् त्वाम् ॥

विलोम-चेष्टं विहिताऽवहासाः

परैर् हि तत् स्नेह-मयैस् तमोभिः ॥ ६५ ॥

तथापीत्यादि—तथापि एवमपि सति मद्विधाः सिद्धिं कार्यनिष्पत्तिमभीप्सवः आसुमेषणशीलाः । यत्त्वां विलोमचेष्टं प्रतिकूलचेष्टितम् । प्रसभमाहव वक्तुं यतन्ते । परैः दूतजनैः शत्रुजनैर्वा विहितावहासा एवंविधा अप्युपदिशन्तीति । वाशब्दः पादपूरणे । तस्नेहमयैः स्नेहस्वभावैस्तमोभिरज्ञानैः । स्नेहतमसावृता भुवन्तीत्यर्थः ॥

९९७—क्रूराः क्रियाः, ग्राम्य-सुखेषु सङ्गः,

पुण्यस्य यः संक्षय-हेतुरुक्तः, ॥

निषेवितो ऽसौ भवता ऽतिमात्रं

फलत्य-वल्गु ध्रुवमेव राजन् ! ॥ ६६ ॥

क्रूरा इत्यादि—क्रूराः क्रियाः परहिंसादयः, ग्राम्यसुखेषु परदारोपभोगादिषु सङ्गः प्रसक्तिः, यः पुण्यस्यार्जितस्य संक्षयहेतुरुक्तः विद्यावृद्धैः । असौ भवतातिमात्रं सुष्ठु निषेवितः सन् हे राजन् ! इदानीं फलति फलं ददाति । अवल्गु असारम् । ध्रुवमविनाशम् ॥

तस्माद्विलोमचेष्टस्य भवतो हितोपदेशे मम न किञ्चित् प्रयोजनं, तावत्तु स्यात् त्वदर्थं मत्प्राणत्याग इति दर्शयन्नाह—

९९८—दत्तं न किं, के विषया न भुक्ताः,

स्थितो ऽस्मि वा कं परिभूय नौचैः, ॥

इत्थं कृताऽर्थस्य मम ध्रुवं स्यान्

मृत्युस् त्वदर्थे यदि, किं न लब्धम् ॥ ६७ ॥

दत्तमित्यादि—तव प्रसादादर्थिभ्यः किं न दत्तम्, के विषया न भुक्ताः, सर्वे एवानुभूताः । कं वा परिभूय तिरस्कृत्य उच्चैर्महति पदे न स्थितोऽस्मि ।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'विभीषणागमनो' नाम द्वादशः सर्गः—३२७

इत्थमनेन प्रकारेण कृतार्थस्य लब्धजन्मफलस्य मम यदि त्वदर्थे मृत्युरवश्यं
स्यात्, तदा किं न लब्धम् । सर्वमेव जन्मफलं लब्धमित्यर्थः ॥

तव पुनरद्यापि विभीषणोक्तं युक्तं, न प्रहस्तमुखोक्तमिति दर्शयन्नाह—

९९९—किं दुर्नयैस् त्वय्युदितैर् मृषाऽर्थैर्
वीर्येण वक्ता ऽस्मि रणे समाधिम् ॥'
तस्मिन् प्रसुप्ते पुनरित्थमुक्त्वा
विभीषणो ऽभाषत राक्षसेन्द्रम् ॥ ६८ ॥

किं दुर्नयैरित्यादि—त्वय्यपि स्थिते 'किं घौरधोऽस्तु' इत्यादिना यान्यु-
दितान्ययुक्तानि अलीकार्थानि तैर्दुर्नयैः किम् । न किञ्चित् फलम् । कस्मादिति
चेत् यस्मात्तेषां समाधिं प्रतीकारं संग्रामे रामसंबन्धिना वीर्येण वक्तास्मि वदि-
ताहम् । रामवीर्यप्रतीकाराद्धीत्यर्थः । इत्थमेवं तस्मिन् कुम्भकर्णे उक्त्वा पुनः
भूयः प्रसुप्ते सति विभीषणो राक्षसेन्द्रमभाषत ॥

१०००—'निमित्त-शून्यैः स्थगिता रजोभिर्
दिशो, मरुद्भिर् विकृतैर् विलोलैः ॥
स्वभाव-हीनैर् मृग-पक्षि-घोषैः
क्रन्दन्ति भर्तारमिवा ऽभिपन्नम् ॥ ६९ ॥

निमित्तशून्यैरित्यादि—रजोभिर्निमित्तशून्यैः निर्निमित्तैः दिशः स्थगिताः
संछादिताः । 'स्थग संवरणे' । मरुद्भिश्च विकृतैः परुषैर्विलोलैरनियतदिग्वर्तिभिः
स्थगिताः । मृगपक्षिणां च घोषैः स्वभावहीनैर्भ्रष्टैर्भर्तारमिवाभिपन्नं मृतं शोकात्
क्रन्दन्ति ॥

१००१—उत्पात-जं छिद्रमसौ विवस्वान्
व्यादाय वक्राऽऽकृति लोक-भीष्मम् ॥
अत्तुं जनान् धूसर-रश्मि-राशिः
सिंहो यथा कीर्ण-सटो ऽभ्युदेति ॥ ७० ॥

उत्पातजमित्यादि—असौ विवस्वान् छिद्रम् उत्पातजं वक्राकृति लोक-
भीष्मं लोकस्य भयानकं व्यादाय प्रसार्य । व्याङ्गपूर्वस्य ददातेः क्तवो ल्यपि
रूपम् । जनान् अत्तुं भक्षयितुं धूसररश्मिराशिः सन् अभ्युदेति उद्गच्छति । यथा
सिंहः कीर्णसटः विशिष्यकेसरकलापः मुखं व्यादायात्तुमुत्तिष्ठति तद्वदिति ॥

१००२—मार्गं गतो गोत्र-गुरूर् भृगूणा-
मंगस्तिना ऽध्यासित-विन्ध्य-शृङ्गम्, ॥

३२८ भट्टि-काव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

संदृश्यते शक्र-पुरोहितो, ऽह्नि,

क्षमां कम्पयन्त्यो निपतन्ति चोल्काः ॥ ७१ ॥

मार्गमित्यादि—अगस्तिना यदध्यासितं विन्ध्यशृङ्गं तन्मार्गं भृगूणां गोम-
गुरुः शुक्रो गतः दक्षिणमार्गचारी शुक्र इत्यर्थः । शक्रपुरोहितोऽपि बृहस्पतिः अह्नि
दिवसे संदृश्यते । उल्काश्च क्षमां पृथिवीं कम्पयन्त्यः निपतन्ति ॥

१००३—मांसं हतानामिव राक्षसाना-

मांशंसवः क्रूर-गिरो रुवन्तः ॥

क्रव्याऽशिनो दीप्त-कृशानु-वक्रा

भ्राम्यन्त्य-भीताः परितः पुरं नः ॥ ७२ ॥

मांसमित्यादि—राक्षसानां हतानामिव मांसमांशंसवः आशंसनशीलाः
'३१४८। सनांशंसमिक्ष उः । ३।२।१६८।' मांसशुजः शृगालादयः क्रूरगिरः पर-
षस्त्रनाः कृशानुवक्राः ज्वलनसदृशवदनाः निर्भयाः परितो भ्रमन्ति ॥

१००४—पयो घटोघ्नीरपि गा दुहन्ति

मन्दं विन्वर्णं विन्वसं च गोपाः, ॥

हव्येषु कीटोपजनः स-केशो

न दीप्यते ऽग्निः सु-समिन्धनो ऽपि ॥ ७३ ॥

पय इत्यादि—गोपाः पयः क्षीरं विवर्णं दुर्वर्णं विरसं अस्वादु मन्दं अल्पं
पयस्विनीरपि दुहन्ति । '५३९। अकथितं च । १।१।५१।' इति द्विकर्मकता । तथा
शोभनेन्धनोऽप्यग्निर्न दीप्यते, हव्येषु हवनीयेषु घृतादिषु सत्सु । '२८४२।
अचो यत् । ३।१।९७।' उपजननमुपजनः । भावे घञ् । '२५१२। जनिवध्योश्च
। ७।३।३५।' इति न वृद्धिः । कीटानामुपजनोऽस्येति कीटोपजनः । सहकेशैः
सकेशः । दह्यमानकीटकेश इत्यर्थः ॥

१००५—तस्मात् कुरु त्वं प्रतिकारमस्मिन्

स्नेहान् मया रावण ! भाष्यमाणः, ॥

वदन्ति दुःखं ह्यनुजीवि-वृत्ते

स्थिताः पदस्थं परिणाम-पथ्यम् ॥ ७४ ॥

तस्मादित्यादि—यस्मादेवं विनाशसूचकानि निमित्तानि दृश्यन्ते, तस्मात्
हे रावण ! स्नेहान्मया त्वं भाष्यमाणः अस्मिन् वस्तुनि प्रतीकारं सीताप्रत्यर्प-
णेनैव सन्धानं कुरु । '१०४४। उपसर्गस्य घञ्-। ६।३।१२२।' इति बहुलं दीर्घः ।
कस्मादेवं भाष्यत इति चेत् । यस्मादनुजीवि-वृत्तेऽवस्थिताः यद्वचनं दुःखं

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'विभीषणागमनो' नाम द्वादशः सर्गः— ३२९

दुःखहेतु तदा कटुकत्वात् । परिणामपथ्यम् आयत्तां हितं तत्पदस्थं स्वामि-
पदे स्थितं वदन्ति ॥

१००६—विरुग्ण-संकीर्ण-विपन्न-भिन्नैः

प्रक्षुण्ण-संह्रीण-शिताऽस्त्र-वृक्णैः ॥

यावन् नराऽशैर् न रिपुः शवाऽशान्

संतर्पयत्यानम तावदस्मै.' ॥ ७५ ॥

विरुग्णेत्यादि—यावद्विपुः नराशैः राक्षसैः शवाशान् गृध्रशृगालादीन् ।
शवमश्नन्ति इति कर्मण्यण् । न संतर्पयति न ग्रीणयति तावदस्य रिपोः आनम
चरणविलयथात् । कीदृशैः । विरुग्णैर्भिन्नाङ्गैः । '३०१९। ओदितश्च । ८। २। ४५।'
इति निष्ठानत्वम् । संकीर्णैः इतस्ततो विशिष्टैः, विपन्नैर्मृतैर्भिन्नैर्विदारितदेहैः,
प्रक्षुण्णैः । एभ्यो '३०१६। रदाभ्याम्-। ८। २। ४२।' इति नत्वम् । संह्रीणैर्ल-
जितैः वयमेवमवस्थां नीता इति । शितेन तीक्ष्णेन अस्त्रेण वृक्णैः छिन्नैः ।
'२४१२। ग्रहि-ज्या-। ६। १। १६।' इत्यादिना सम्प्रसारणम् । संयोगादिलोपः ।
कुत्वं च । ओदित्वान्नत्वम् ॥

१००७—भ्रू-भङ्गमाधाय विहाय धैर्यं

विभीषणं भीषण-रूक्ष-चक्षुः ॥

गिरं जगादोग्र-पदामुदग्रः

स्वं स्फावयन् शक्र-रिपुः प्रभावम्. ॥ ७६ ॥

भ्रूभङ्गमित्यादि—शक्ररिपुर्दशाननः विभीषणवचनात् क्रुद्धः । भ्रूभङ्गं
भ्रुकुटिमाधाय आबध्य धैर्यं विहाय त्यक्त्वा भीषणरूक्षचक्षुः भयानकरूप-
चक्षुः । उदग्रः उन्नामितदेहः स्वं प्रभावं विक्रमं स्फावयन् वर्धयन् । '२५९७।
स्फायो वः । ७। ३। ४१।' इति णौ वत्वम् । विभीषणं जगाद गिरं वाचम् ।
उग्रपदां सुसिद्धन्तानां स्वरूपतोऽर्थतश्च परवत्त्वात् ॥

१००८—'शिला तरिष्यत्युदके न पर्णं,

ध्वान्तं रवेः स्यन्त्स्यति, वह्निरिन्दोः' ॥

जेता परो ऽहं युधि जेष्यमाणम्

तुल्यानि मन्यस्व पुलस्त्य-नप्तः ! ॥ ७७ ॥

शिलेत्यादि—उदके शिला तरिष्यति न पुनः पर्णम् । रवेः सूर्यात् ध्वान्त-
मन्वकारं स्यन्त्यति स्रविष्यति । '८१४। स्यन्दू प्रस्रवणे' इत्यस्मात् '२३४८।
न वृक्षश्चतुर्भ्यः । ७। २। ५९।' इतीदं न भवति । '१२१। खरि च । ८। ४। ५५।'
इति चत्वंम् । तथा वह्निरिन्दोः स्यन्त्यति । अहमप्येष पर उत्कृष्टः जेता युधि
संग्रामे जेष्यमाण इत्येतानि चत्वारि हे पुलस्त्यनप्तः विभीषण ! तुल्यानि

१३० भट्टि-कान्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

मन्यस्व अवगच्छ । लोटि रूपम् । यदि जेताप्यहं परेण जीये शिलातरणादी
न्यपि भविष्यन्ति ॥

१००९—अ-निर्वृतं भूतिषु गूढ-वैरं

सत्कार-काले ऽपि कृता ऽभ्यसूयम् ॥

विभिन्न-कर्मा ऽऽशय-वाक् कुले नो

मा ज्ञाति-चेलं, भुवि कस्यचिद् भूत् ॥ ७८ ॥

अनिर्वृतमित्यादि—भूतिषु ज्ञातिसंबन्धिनीषु अनिर्वृतमसुखिनम् । गूढ-
वैरं काले हनिष्यामीति संभृतापकाराशयम् । सत्कारकालेऽपि पूजाकालेऽपि
कृतामर्षम् विभिन्नाः कर्माशयवाचो यस्य तद्विभिन्नकर्माशयवाक् । आशयो-
ऽन्यो वाक्कर्माणी चान्ये यस्येति । ईदृशं ज्ञातिचेलं गहिं तज्ज्ञातिरस्माकं कुले मा
भूत् । कस्यचिदन्यस्य वा मा भूत् । चेलशब्दो गहिंते वर्तते ॥

१०१०—इच्छन्त्यभीक्ष्णं क्षयमात्मनो ऽपि

न ज्ञातयस् तुल्य-कुलस्य लक्ष्मीम् ॥

नमन्ति शत्रून्, न च बन्धु-वृद्धिं

संतप्यमानैर् हृदयैः सहन्ते. ॥ ७९ ॥

इच्छन्तीत्यादि—ज्ञातयः आत्मनः सुष्ठु क्षयं विनाशमिच्छन्ति, न पुनस्तु-
ल्यकुलस्य एकहेतुगोत्रस्य लक्ष्मीं श्रियम् । तथा शत्रुं कामं नमन्ति, न पुनर्बन्धु-
वृद्धिं बन्धुसन्ततिं सहन्ते । संतप्यमानैर्हृदयैः ईर्ष्या दह्यमानैः ॥

किं मया कृतं येनैवमुच्यत इति चेदाह—

१०११—त्वयाऽद्य लङ्काऽभिभवे ऽति-हर्षाद्

दुष्टो ऽति-मात्रं विवृतो ऽन्तरात्मा, ॥

धिक् त्वां, मृषा ते मयि दुस्य-बुद्धिर्

वदन्निदं तस्य ददौ स पार्ष्णिम्. ॥ ८० ॥

त्वयेत्यादि—लङ्कापरिभवे लङ्कोपरोधे अतिहर्षात् हर्षेण दुष्टान्तरात्मा
अतिमात्रं सुष्ठु त्वयाद्य विवृतः प्रकाशितः । मयि दुस्यबुद्धिः अस्मद्विषये दुस्यो-
ऽसियुक्तोऽयमिति बुद्धिः ते मृषा मिथ्या । अतस्त्वां धिगिति वदन् स दशाननः
तस्य विभीषणस्य सिंहासनोपाश्रितबाहोः पार्ष्णिं पादप्रहारं शिरसि ददौ ॥

१०१२—ततः स कोपं क्षमया निगृह्णन्,

धैर्येण मन्युं, विनयेन गर्वम्, ॥

मोहं धियौत्साह-वशादशक्तिं,

समं चतुर्भिः सचिवैरुदस्थात्. ॥ ८१ ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'विभीषणागमनो' नाम द्वादशः सर्गः— ३३१

तत इत्यादि—ततः पाष्णिप्रहारादनन्तरं स विभीषणः क्रोपं क्षमया
क्षान्त्या निगृह्णन् अभिभवन्, तथा धैर्येण मन्युं शोकं, विनयेन गर्वं, मोहं
वैचित्र्यं धिया प्रज्ञया, उत्साहवशादशक्तिमसामर्थ्यं निगृह्णन् अपमानेन कोपा-
दीनां संभवात् । चतुर्भिः सचिवैरमात्यैः समं सार्धमुदस्थात् आसनादुत्थितः ॥

१०१३—उवाच चैनं क्षणदा-चरेन्द्रं—

‘सुखं महा-राज ! विना मया ऽऽस्त्व. ॥

मूर्खाऽऽतुरः पथ्य-कटूननश्नन्

यत् साऽऽमयोऽसौ, भिषजां न दोषः ॥८२॥

उवाचेत्यादि—उत्थितश्चानन्तरं रावणमुवाच—हे महाराज ! मया विना
सुखमास्त्व तिष्ठ । अस्तेलौहं । तत्रात्र दोषो न ममोपदेष्टुः । यस्मान्मूर्खातुरः
मूर्खो य आतुरः पथ्यकटूननश्नन् अभक्षयन् यत्सामयः रोगवान् असौ भिषजां
वैद्यानां न दोषः, किंतु तस्यैव ॥

१०१४—करोति वैरं स्फुटमुच्यमानः,

प्रतुष्यति श्रोत्र-सुखैर-पथ्यैः ॥

विवेक-शून्यः प्रभुरात्म-मानी,

महाननर्थः सुहृदां वता ऽयम्. ॥ ८३ ॥

करोतीत्यादि—प्रभुर्विवेकशून्यो निर्विवेकः । आत्ममानी मत्समोऽन्यो
नास्तीति आत्मानं श्लाघमानः । आत्ममाने इति । स्फुटमुच्यमानो वैरं करोति
स्नेहं करोति पथ्यमनेनोक्तमिति । श्रोत्रसुखैः तदर्थमनोहारिभिः अपथ्यैस्तुष्यति ।
तस्मादयं प्रभुः सुहृदामाश्रितानां महान् अनर्थः । अनर्थहेतुत्वात् । बतशब्दः स्नेहे ॥

१०१५—क्रीडन् भुजङ्गेन गृहाऽनुपातं

कश्चिद् यथा जीवति संशय-स्थः, ॥

संसेवमानो नृ-पतिं प्र-मूढं

तथैव यज् जीवति, सो ऽस्य लाभः. ॥ ८४ ॥

क्रीडन्नित्यादि—यथा कश्चित् सर्पग्राही गृहानुपातं गृहं गृहमनुपत्य ।
'३३७८ विशि-पति-१३।४।५६।' इत्यादिना णमुल् । भुजङ्गेन सह क्रीडन् जीवति
संशयस्थः संदेहे वर्तमानः किमयं खादिष्यति न वेति । तथैव प्रमूढं मूर्खम-
धिपतिं संसेवमानो यज्जीवति सोऽस्य लाभः । आत्मान्यो लाभ इति ॥

१०१६—दत्तः स्व-दोषैर् भवता प्रहारः

पादेन धर्म्ये पथि मे स्थितस्य, ॥

स चिन्तनीयः सह मन्त्रि-मुख्यैः

कस्या ऽऽवयोर् लाघवमादधातु. ॥ ८५ ॥

३३२ भट्टिकाव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

दत्त इत्यादि—स्वदोषैरविवेकित्वादिभिर्भवता पादप्रहारः यो मम धर्म्ये
धर्मादनपेते मार्गे स्थितस्य दत्तः, स मन्त्रिमुख्यैरेतैः सह चिन्तनीयः । आवयो-
र्मध्ये कस्य लाघवमादधातु करोत्विति । यावन्निरूप्यमाणस्तवैवेति भावः ॥

१०१७—इति वचनमसौ रजनि-चर-पतिं

बहु-गुणमसकृत् प्रसभमभिदधत् ॥

निरगमद-भयः पुरुष-रिपु-पुरान्

नर-पति-चरणौ नवितुर्मरि-नुतौ ॥ ८६ ॥

इतीत्यादि—इत्येवं वचनं बहुगुणम् अर्थावगाढत्वात् असकृत् बहुत्वात्
प्रसभम् आहत्य रजनिचरपतिमभिदधत् ब्रुवन् । ‘४२७। नाभ्यस्ताच्छतुः ।
७।१।७८।’ इति नुमप्रतिषेधः । रजनिचर इति ‘१००१। डयापोः संज्ञाच्छन्द-
सोर्बहुलम् । ६।३।६३।’ संज्ञायां ह्रस्वत्वम् । पुरुषरिपुपुरालङ्कातः निरगमत्
निष्क्रान्तः । अभयः सन् नरपतिचरणौ रामस्य पादौ अरिभिरपि नुतौ शूर-
त्वात् । ‘२३८१। श्रयुकः—।७।२।११।’ इतीदमप्रतिषेधः । नवितुं प्रणामपूर्वकं
स्रोतुम् । अनेकार्थत्वाद्वातूनां नन्तुमित्यर्थः ॥

१०१८—अथ तमुपगतं विदित-सुचरितं

पवन-सुत-गिरा गिरि-गुरु-हृदयः ॥

नृ-पतिरमदयन् मुदित-परिजनं

स्व-पुर-पति-करैः सलिल-समुदयैः ॥ ८७ ॥

इति भट्टिकाव्ये प्रसन्न-काण्डे भाविकत्वप्रदर्शनस्य
तृतीयः ॥ काव्यस्य द्वादशः सर्गः ॥

अथेत्यादि—अथ अनन्तरं विभीषणमुपेतं सेतुबन्धचिन्ताकाले राममुप-
गतवानिति द्रष्टव्यम् । अन्यथा वक्ष्यमाणप्रभातकथनं विरुध्येत । पवनसुत-
गिरा हनूमद्रचनेन सचरितोऽयमिति विदितं सुचरितं येन नृपतिः रामः
गिरिगुरुहृदयः गिरिवत् गुरु अप्रकम्पं हृदयं यस्य । सलिलसमुदयैः जलपूर्णघटे
स्थितैः स्वपुरपतिकरैः । लङ्काधिपतिं कुर्वन्तीति हेतौ टः । अमदयत् हर्षितवान् ।
‘८१५। मदी हर्षे’ इत्यस्य हेतुमण्यन्तस्य घटादित्वान्मित्वे ह्रस्वत्वम् । मुदित-
परिजनं स्वामी लङ्काधिपत्येऽभिषिच्यत इति तस्य हृष्टा अनुजीवन इत्यर्थः ॥

इति श्री-जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते श्री-भट्टिकाव्ये

तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयः परिच्छेदः (वर्गः),

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके ‘विभीषणाऽगमनो’ नाम

द्वादशः सर्गः ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सेतुबन्धनं' नाम त्रयोदशः सर्गः— ३३३

त्रयोदशः सर्गः—

कार्यं संस्कृतप्राकृतापभ्रंशभेदाद्विविधम् । तत्र शब्ददेशीयपदयोः प्राकृत-
भाषयोरपभ्रंशस्य च संस्कृतभाषायां समावेशसंभवात् शब्दसमायाः प्राकृत-
भाषायाः समावेशः । तमार्यागीत्या स्कन्धकलक्षणया दर्शयन्नाह ॥

विभीषणागमनात्प्राक् यद्वृत्तं रामस्य तदाह—

१०१९—चारु-समीरण-रमणे

हरिण-कलङ्क-किरणाऽऽवली-स-विलासा ॥

आवद्ध-राम-मोहा

वेला-मूले विभावरी परिहीणा. ॥ १ ॥

चार्वित्यादि—रामो रात्रौ निद्रावान् पल्लवशयनमध्यष्टादित्युक्तम् । तस्य
नियमपूर्वं सुसवतः प्रभातमभूदिति कथयति । वेलामूले पारसमीपे । प्रकृते
पुंलिङ्गनपुंसकयोराकारान्तस्य पदस्य सप्तम्या एकवचने मित्वमेत्वं वा रूपम् ।
चारुसमीरणरमणे रमयतीति रमणम् । '२८९६। नन्दि-१३।१।१३४।' इत्यादिना
ल्युः । समीरणेन रमणम् । चारु च तत्समीरणरमणं चेति । तत्र विभावरी रात्रिः
परिहीणा क्षीणा । हरिणकलङ्कस्य याः किरणावत्यः ताभिः सविलासा सविभ्रमा ।
अतश्चावद्धो रामस्य मोहो मूर्च्छा ययेति । 'कृदिकारादकिनः' इत्यनेन आवलि-
रावलीत्युभयमपि संस्कृतप्राकृतयोः प्रयुज्यते ॥

१०२०—वद्धो वासर-सङ्गे

भीमो रामेण लवण-सलिलाऽऽवासे ॥

सहसा संरम्भ-रसो

दूराऽऽरूढ-रवि-मण्डल-समो लोले. ॥ २ ॥

वद्ध इत्यादि—नियमास्थितेऽपि मयि नासौ समुद्र उत्थित इति । वास-
रसङ्गे प्रभातकाले रामेण लवणसलिलावासे समुद्रे इति विषयसप्तमी ।
सहसा तत्क्षणं संरम्भरसः क्रोधरसो वीराख्यः भीमो दुःप्रेक्ष्यः वद्धो जनितः ।
दूरारूढरविमण्डलसमो लोल इति । दूरमारूढो मध्याह्नस्थो यो रविः तस्य
मण्डलं तेन समस्तुल्योऽस्तितीक्ष्णत्वात् । लोले चञ्चले समुद्रे प्रभातवातेन
क्षोभ्यमाणत्वात् ॥

१०२१—गाढ-गुरु-पुङ्ख-पीडा-

स-धूम-सलिलाऽरि-संभव-महा-बाणे ॥

आरूढा संदेहं

रामे स-मही-धरा मही स-फणि-सभा. ॥ ३ ॥

३३४ भट्टिकाव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

गाढेत्यादि—गाढं सुष्ठु गुरोः पुङ्खस्य या पीडा पीडनम् अङ्गुष्ठाभ्यां तथा हेतुभूतया सधूमसलिलारेः अग्नेः संभवो यत्र स महाबाणो यस्य रामस्य तस्मिन् सति । महासंदेहमारुढा संशयं प्राप्ता समहीधरा मही सफणिसभा सह भुज-ङ्गसमूहेन । धारयन्तीति धराः । अत्र धकारस्य पदमुखे वर्तमानस्य हकारो न भवति । प्राकृते पदमध्यान्तयोर्विधीयमानत्वात् । महीधर इति समस्तपदेऽपि न प्रवर्तते । अत्र पूर्वपदमुत्तरं पदमिति व्यपदेशात् । एवं च सति गोधर-वज्र-धर-चक्रधर-शङ्खधरादिषु न प्रवर्तते । महीधरो महीधर इत्युभयमपि प्राकृते प्रयुज्यते । अहमानां विकल्पेन द्रष्टव्यदर्शनात् ॥

१०२२—घोर-जल-दन्ति-संकुल-

मट्ट-महापङ्क-काहल-जलऽऽवासम् ॥

आरीणं लवण-जलं

समिद्ध-फल-बाण-विद्ध-घोर-फणि-वरम् ॥४॥

घोरेत्यादि—रामेणाग्नेये शरे क्षिप्ते सति लवणजलमारीणं समन्तात् शुष्कम् । '११३८। रीङ् स्रवणे' इत्यस्मात् निष्ठातकारस्य 'स्वादय ओदितः' इति नत्वम् । '१९७। अट्ट-कुपु-।८।४।२।' इति णत्वम् । रीणमित्यप्रयोगः प्राकृते महाराष्ट्रे तस्याप्रयोगात् । घोरैः रौद्रैर्जलदन्तिभिः संकुलं व्याप्तम् । अट्टः शुष्को यो महापङ्कः तेन काहला विह्वला जलावासा मत्स्यादयो यत्र । '२६३। अट्ट अति-क्रम-हिंसनयोः' इत्यस्य रूपम् । समिद्धफलेन दीप्तफलेन बाणेन विद्धाः घोराः फणिवराः महासर्पा यत्रेति ॥

१०२३—स-भयं परिहरमाणो

महाऽहि-संचार-भासुरं सलिल-गणम् ॥

आरूढो लवण-जलो

जल-तीरं हरि-बलऽऽगम-विलोल-गुहम् ॥५॥

सभयमित्यादि—सलिलगणं सलिलसमूहं सभयम् । महाहीनां संचारणं भासुरं भासनशीलम् । तच्छिरोमणिद्योतितत्वात् परिहरमाणः परित्यजन् । कर्त्र-भिप्राये तद् । लवणजलः समुद्रः । लवणं जलमस्येति । जलतीरं तटं यत्र राम-स्तिष्ठति तदारूढः संप्राप्तो मूर्तिमान् । हरिबलागमेन वानरसैन्यागमेन विलोला व्याकुला गुहा यत्रेति ॥

१०२४—चञ्चल-तरु-हरिण-गणं

बहु-कुसुमाऽऽबन्ध-बद्ध-रामाऽऽवासम् ॥

हरि-पल्लव-तरु-जालं

तुङ्गोरु-समिद्ध-तरु-वर-हिम-च्छायम् ॥ ६ ॥

चञ्चलेत्यादि—चञ्चलश्चपलः तरुहरिणानां वानराणां गणो यत्र जलतीरे । बहुकुसुमानां वृक्षाणामावन्धेन परस्परसंश्लेषेण बद्धो घटितो रामावासो यत्र । हरिपल्लवानि तरुजालानि यत्र । तुङ्गा उरवः परिमण्डलाः समिद्धा उज्ज्वला ये तरुवरास्तैर्हिमा शीतला छाया यत्र तज्जलतीरम् ॥

१०२५—वर-वारणं सलिल-भरेण

गिरि-मही-मण्डल-संवर-वारणम् ॥

वसु-धारयं तुङ्ग-तरङ्ग-सङ्ग-

परिहीण-लोल-वसुधा-रयम् ॥ ७ ॥

कुलकम् ॥ एतानि सप्त संकीर्णानि ॥

वरेत्यादि—वरा उत्कृष्टा वारणा यत्र । सलिलभरेण सलिलसमूहेन यो गिरीणां महीमण्डलस्य च संवरः संवरणमावरणम् । '३२३४। ग्रह-१३।३।५८।' इत्यादिनाप । तस्य वारणं निषेधकम् । समुद्रस्य वेलातिक्रमात् । वसु द्रव्यं तस्य धारयं धारकम् । '२९००। अनुपसर्गात्-१३।१।१३८।' इति णिजन्ताच्छः । तुङ्गाः अञ्जलिहा ये तरङ्गास्तैः सह यः सङ्गः संश्लेषः तस्मात् परिहीणो नष्टो लोलो वसु-धायां तत्संबन्धिन्यां रयो वेगो यत्र तज्जलतीरमारुढः । गणितक्रममेतत् । एतानि सप्त संकीर्णानि । संस्कृतप्राकृतयोरविशिष्टत्वात् ॥

१०२६—प्रणिपत्य ततो वचनं

जगाद हितमायतो पतिर् वारीणाम् ॥

गङ्गाऽवलम्बि-बाहू

रामं बहलोरु-हरि-तमाल-च्छायम् ॥ ८ ॥

प्रणिपत्येत्यादि—ततस्तीरप्रासेरनन्तरं वारीणां पतिः समुद्रः रामं प्रणिपत्य वचनं जगाद । हितमात्मनो रामस्य पथ्यमायतावागामिनि काले । गङ्गावलम्बी गङ्गावलम्बनशीलः संपूर्णत्वाद्वाहुयस्य स गङ्गावलम्बिबाहुः । संस्कृते '१७४। दलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः । ६।३।११।' प्राकृते तु पुंलिङ्गे उकारस्य दीर्घत्वम् । विभक्तिसकारस्य च लोपः । उरुर्महान् हरिः हरितो यस्तमालः । बहुला घना तस्येव छाया यस्य तमिति । पूर्वार्धे निरवद्यमिति । पूर्वस्मिन्नर्धे प्राकृतस्याभावात् निरवद्यं पश्चादर्थे तु संकीर्णमेव ॥

पूर्वार्धं निरवद्यम्

१०२७—'तुङ्गा गिरि-वर-देहा,

अ-गमं सलिलं, समीरणो रस-हारी, ॥

अ-हिमो रवि-किरण-गणो,

माया संसार-कारणं ते परमा. ॥ ९ ॥

३३६ भट्टि-काव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

तुङ्गा इत्यादि—गिरिवरदेहाः कुलपर्वतकायाः तुङ्गाः प्रांशवः, भगमं सलिलं
अगम्यम् । '३२३४। ग्रह—।३।३।५८।' इत्यादिनाप् । समीरणो रसहारी अपा-
मुच्छोषकः, अहिम उष्णः रवेः किरणगणः । एतत्सर्वं तव माया परमा महती
संसारस्य कारणम् । सर्वथा त्वं विष्णुः त्वत्कृतेषु को रोष इति ॥

१०२८—आयास-संभवारुण !

संहर संहार-हिम-हर-सम-च्छायम् ॥

बाणं, वारि-समूहं

संगच्छ पुराण-चारु-देहाऽऽवासम् ॥ १० ॥

आयासेत्यादि—यस्मात्संसारकारणं यदगम्यं सलिलं कृतं, तस्मात्त्वं हे
आयाससंभवारुण रोषसंभवेन रक्तीभूत ! संहारे प्रलये हिमहरा आदित्यास्तैः
समा छाया यस्य बाणस्य तं संहार उपशमय । वारिसमूहं संगच्छ अङ्गीकुरु ।
सकर्मकत्वात् '२६९९। समो गमि—।१।३।२९।' इत्यात्मनेपदं न भवति । पुराणः
शाश्वतः दर्शनीयो यो देहः तस्य आवासमवस्थानम् ॥

१०२९—अ-सुलभ-हरि-संचारं

जल-मूलं बहल-पङ्क-रुद्धाऽऽयामम् ॥

भण किं जल-परिहीणं

सु-गमं तिमि-कम्बु-वारि-वारण-भीमम् ॥ ११ ॥

असुलभेत्यादि—अन्यच्च यदेतज्जलमूलं जलस्यावस्थानं आग्नेयशरशोषि-
तत्वाज्जलपरिहीणं सत्, तत् किं सुखेन गम्यत इति भण ब्रूहि । यतो बहलः
सान्द्रो यः पङ्कस्तेन रुद्ध आयासो दैर्घ्यं यत्र । तिमयो मत्स्याः कम्बवः शङ्खाः
वारिवारणाः जलहस्तिनः तैर्भीमम् । एवं च सति असुलभो दुर्लभः हरिसंचारो
वानरपर्यटनं यन्नेति ॥

गमनोपायमाह—

१०३०—गन्तुं लङ्का-तीरं

बद्ध-महासलिल-संचरेण स-हेलम् ॥

तरु-हरिणा गिरि-जालं

वहन्तु गिरि-भार-संसहा गुरु-देहम् ॥ १२ ॥

गन्तुमित्यादि—संचरन्त्यनेनेति संचरः । '३२९८। गोचर-संचर ।३।३।-
११९।' इति टच् । बद्धो घटितो महासलिले यः संचरः तेन सेतुना सहेलम् ।
एकप्रवृत्त्या लङ्कातीरं लङ्कोपलक्षितं तटं गन्तुं तरुहरिणा वानरा गिरिभारस्य
संसहाः क्षमाः । संसहन्ते इत्यच् । गिरिजालं गिरिसमूहं वहन्तु । गुरुर्देहः
शरीरं यस्य गिरिजालस्य ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सेतुबन्धनं' नाम त्रयोदशः सर्गः— ३३७

१०३१—हर-हास-रुद्ध-विगमं

पर-कण्ठ-गणं महाऽऽहव-समारम्भे ॥

छिन्दन्तु राम-बाणा

गम्भीरे मे जले महा-गिरि-वज्रे. ॥ १३ ॥

हरेत्यादि—मे मम जले गम्भीरे अगाधे महागिरिभिर्वज्रे सति यो महा-हवस्य समारम्भः प्रवर्तनं तस्मिन् परस्य शत्रोः कण्ठगणं ग्रीवासमूहं हरस्य मुष्टत्वात् यो हासः तेन रुद्धो विगमश्छेदो यस्य तं रामशरादिछिन्दन्तु । आशिषि लोद ॥

१०३२—गच्छन्तु चारु-हासा

वीर-रसाऽऽवन्ध-रुद्ध-भय-संवन्धम् ॥

हन्तुं बहु-बाहु-बलं

हरि-करिणो गिरि-वरोरु-देहं सहसा. ॥ १४ ॥

एतानि षट् संकीर्णानि ॥

गच्छन्वित्यादि—बहवो बाहुव एव बलं यस्य बाहुनां तरुणामिव बहु-त्वात् । तं रावणं वीररसस्य शौर्यस्य य आवन्धः सन्ततप्रवर्तनं तेन रुद्धो निवारितो भवसंवन्धस्याससंपर्को यस्य तं गिरिवरोरुदेहं गिरिवन्महाकार्यं सहसा हन्तुं तत्क्षणं हनिष्याम इति हरिकरिणः कपिहस्तिनः चारुहासाः मम जले बद्धे सति गच्छन्तु ॥ एतानि षट् संकीर्णानि संस्कृतप्राकृतयोस्तुल्यत्वात् ॥

१०३३—जिगमिषया संयुक्ता

बभूव कपि-वाहिनी मते दाशरथेः ॥

बुद्ध-जलाऽऽलय-चित्ता

गिरि-हरणाऽऽरम्भ-संभव-समालोला. ॥ १५ ॥

पूर्वाऽर्धं निरवद्यम् ।

जिगमिषयेत्यादि—दाशरथेर्मतेऽभिप्राये सति कपिवाहिनी कपिसेना जिगमिषया गन्तुमिच्छया संयुक्ता बभूव । बुद्धजलालयचित्ता विदितसमुद्राभिप्राया गिरीणां यद्धरणमानयनं तस्य य आरम्भसंभवः तेन समालोला आकुला ॥ इत्येतदर्थं निरवद्यम् ॥

१०३४—गुरु-गिरि-वर-हरण-सहं

संहार-हिम-पिङ्गलं राम-बलम् ॥

३३८ भट्टि-काव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

आरूढं सहसा खं

वरुणाऽऽलय-विमल-सलिल-गण-गम्भीरम् १६

गुर्वित्यादि—ततो रामबलं सहसा तत्क्षणं खमारूढम् । गुरुणां गिरिव-
राणां यदाहरणमानयनं तत्सहत इति मूलविभुजादित्वात् कः । तस्य वा सहं
शक्तम् । सहत इत्यच् । संहारे प्रलये यो हिमारिरग्निः तद्वत्पिङ्गलम् । वरुणाल-
यस्य समुद्रस्य यो विमलसलिलगणः निर्मलजलसमूहः तद्वद्गम्भीरं खमिति ॥

कलापकं चतुर्भिः १७-२०

१०३५-अवगाढं गिरि-जालं

तुङ्ग-महा-भित्ति-रुद्ध-सुर-संचारम् ॥

अ-भयहरि-रास-भीमं

करि-परिमल-चारु-बहल-कन्दर-सलिलम् १७

अवगाढमित्यादि—खमारूढा रामबलेन गिरिजालमवगाढं अवष्टब्धम् ।
तुङ्गाभिरुच्छिताभिर्महतीभिः परिणाहवतीभिर्भित्तिभी रुद्धः सुराणां संचारो
यस्मिन् तेषामुन्नतत्वात् । अभया ये हरयः सिंहास्तेषां रासेन शब्देन भीमं
भयानकम् । करिणां यः परिमलः संमर्दस्तेन चारु शोभनम् । बहलं वनं कन्दर-
सलिलं यस्मिन् ॥

१०३६-अलि-गण-विलोल-कुसुमं

स-कमल-जल-मत्त-कुरर-कारण्डव-गणम् ॥

फणि-संकुल-भीम-गुहं

करि-दन्त-समूढ-स-रस-वसुधा-खण्डम् ॥ १८ ॥

अलिगणेत्यादि—अलिगणैर्विलोलानि कुसुमानि यत्र । सकमलेषु जलेषु
मत्ताः कुरराणां कारण्डवानां च गणा यत्र । फणिभिः संकुला व्याप्ताः सत्यो
भीमा गुहा यत्र । करिदन्तैः समुत्क्षिप्तं सरसं सान्द्रं वसुधायाः खण्डं यत्र ॥

१०३७-अरविन्द-रेणु-पिञ्जर-

सारस-रव-हारि-विमल-बहु-चारु-जलम् ॥

रवि-मणि-संभव-हिम-हर-

समागमाऽऽबद्ध-बहुल-सुर-तरु-धूपम् ॥ १९ ॥

अरविन्देत्यादि—अरविन्दरेणुभिः पिञ्जराः पिङ्गला ये सारसास्तेषां रवेण
हारि मनोहारि विमलं बहु चारु जलं यत्रेति । रविमणिसंभवः सूर्यकान्तमणिस-
म्भवः यो हिमहरः अग्निः तेन यः समागमः संश्लेषस्तेनाबद्धो जलितो बहुलः
सुरतरुधूपो यत्र ॥

१०३८—हरि-रव-विलोल-वारण-

गम्भीराऽऽबद्ध-स-रस-पुरु-संरावम् ॥

घोणा-संगम-पङ्कःऽऽ-

विल-सुबल-भर-महोरु-वराहम् ॥ २० ॥

एतानि पञ्च संकीर्णानि ॥

हरिरवेत्यादि—हरीणां सिंहानां यो रवस्तेन विलोलास्त्रस्रवो ये वारणा-
स्तैर्गम्भीरो मन्द्र आबद्धो जनितः सरसो भयानकरसयुक्तः पुरर्महान् संरावो
यत्र । घोणायाः संगमात् संपर्कात् संभवो यस्य पङ्कस्य । घोणासमुद्भूतो यः
पङ्क इत्यर्थः । तेनाविला लिताङ्गाः सुबलाः तत एव भरसहाः उरवश्च वराहा
यत्र । तद्विरिजालमालमवगाढमिति ॥ एतानि पञ्च संकीर्णानि ॥

१०३९—उच्चखुनुः परिरब्धान्

कपि-सङ्घा बाहुभिस् ततो भूमि-भृतः ॥

निष्पिष्ट-शेष-मूर्ध्नः

शृङ्ग-विकीर्णोष्ण-रश्मि-नक्षत्र-गणान् ॥ २१ ॥

सर्वं निरवद्यम् ॥

उच्चखुनुरित्यादि—ततोऽवगाहादनन्तरं बाहुभिः परिरब्धान् समाश्लिष्टान्
भूमिभृतः पर्वतान् कपिसङ्घा उच्चखुनुः उत्खातवन्तः । '२३६३। गम-हन-
। ६। १। ९। ८।' इत्युपधालोपः । निष्पिष्टशेषमूर्ध्नः व्यासपातालमूलत्वात् चूर्णित-
नागराजमस्तकान् । शृङ्गैः शिखरैर्विकीर्णं उष्णरश्मिरादित्यो नक्षत्रगणश्च यैर्दिवं
व्याप्य स्थितत्वात् ॥ सर्वं निरवद्यमिति अत्र प्राकृतस्याप्रयुक्तत्वात् ॥

विशेषकं त्रिभिः । २२-२४-

१०४०—तुङ्ग-महा-गिरि-सुभरा

बाहु-समारुद्ध-भिदुर-टङ्का बहुधा ॥

लवण-जल-बन्ध-कामा

आरूढा अम्बरं महा-परिणाहम् ॥ २२ ॥

तुङ्गेत्यादि—तुङ्गा उच्चा महान्तः परिणाहवन्तो ये गिरयस्तैः सुभरा जात-
भराः कपयः बाहुभिः समारूढा भिदुराः विदारणशीलाः टङ्का उन्नतप्रदेशा
यैस्ते बहुधा अनेकप्रकारं लवणजलबन्धकामाः एवमेवं बद्धव्यमिति जातेच्छाः
आरूढा अम्बरं महापरिणाहम् अप्रमेयदिग्विभागम् ॥

१०४१—बहु-धवल-वारि-वाहं

विमलाऽऽयस-महाऽसि-देह-च्छायम् ॥

वद्ध-विहङ्गम-मालं

हिम-गिरिर्मिव मत्त-कुरर-रव-संवद्धम् ॥२३॥

बह्वित्यादि—बहवो धवला वारिवाहा यन्नाम्बरे । विमलायसः अयसो
विकारः गुरुरलघुर्महान् योऽसिः खड्गः तस्य यो देहः तस्य छायेव छाया यस्य
बद्धा विरचिता विहङ्गानां माला पङ्क्तिर्यत्र । मत्तानां कुरराणां रवेण संवद्धं
युक्तम् । अतो हिमगिरिर्मिवाम्बरमारूढा इति ॥

१०४२—चारु-कलहंस-संकुल-

म-चण्ड-संचार-सारसाऽऽवद्ध-रवम् ॥

स-कुसुम-कण-गन्ध-वहं

समयाऽऽगम-वारि-सङ्ग-विमलाऽऽयामम्. २४

चारुकलहंसेत्यादि—चारुभिः कलहंसैः संकुलं व्यासम् । अचण्डसंचारैः
शनैः संचरद्भिः सारसेरावद्धो रवो यस्मिन् । सङ्कुसुमकणः सपुष्परेणुगन्ध-
वहो वायुर्यत्रेति । वहतीति वहः कर्तर्यच् । गन्धस्य वह इति सः । समयस्य
प्रावृट्कालस्य य आगमः तेन यो वारिसङ्गः तेन प्रक्षालितत्वात् विमला आयामा
यत्र तदम्बरमारूढा इति ॥

१०४३—सहसा ते तरु-हरिणा

गिरि-सुभरा लवण-सलिल-बन्धाऽऽरम्भे ॥

तीर-गिरिमारूढा

रामाऽऽगम-रुद्ध-स-भय-रिपु-संचारम्. ॥२५॥

एतानि चत्वारि संकीर्णानि ॥

सहसेत्यादि—ते तरुहरिणाः शाखामृगाः गिरिभिः सुभराः सन्तः लवण-
सलिलबन्धारम्भे समुद्रबन्धनारम्भे सहसा तत्क्षणं तीरगिरिं तटस्थितं पर्वत-
मारूढाः । अत्र संस्कृतपक्षे संहिताया अविश्वक्षितत्वात् तीरगिरिमारूढा इति
नोक्तम् । अन्ये आरूढा तीरगिरिमिति विपर्ययमस्य पठन्ति । यदयुक्तम् ।
संस्कृतपक्षे असंभावाद्यत्वं नास्ति । अतो विसर्जनीयस्य सकार एव स्यात् । रामस्य
य आगमस्तेन रुद्धः सभयानां रिपूणां शत्रूणां संचारो यत्र तीरगिरौ । राम
आगत इति तत्र भयात् संचारं त्यक्तवन्त इति ॥ एतानि चत्वारि संकीर्णानि ॥

१०४४—ततः प्रणीताः कपि-यूथ-मुख्यैर्

न्यस्ताः कृशानोस् तनयेन सम्यक् ॥

अ-कम्प्र-ब्रध्नाऽग्र-नितम्ब-भागा

महाऽर्णवं भूमि-भृतो ऽवगाढाः ॥ २६ ॥

निराख्यातं निरवद्यं च ॥

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं भूमिभृतः पर्वताः कपियूथमुख्यैर्नीलादिभिः
कृशानोस्तनयस्य नलस्य प्रणीताः अर्पिताः सन्तस्तेनैव कृशानुतनयेन सम्यक्
साधु न्यस्ताः सन्तः महार्णवम् अवगाढाः अवष्टब्धवन्तः अकम्प्राः स्थिराः
ब्रह्माग्रनितम्बानां भागा येषां ते । ब्रह्मो मूलम् । 'इण्विजजिदीक्षेउप्यविभ्यो
नक्' इत्यधिकृत्य 'बन्धेर्ब्रधिवुधी च' इत्यौणादिको नक् ॥ इदं तिराख्यातं
तिङन्तपदाभावात् । निरवद्यं च प्राकृताभावात् ॥

१०४५—तेने ऽद्रि-बन्धो, ववृधे पयोधिस्र,
तुतोष रामो, मुमुदे कपीन्द्रः, ॥
तत्रास शत्रुर्, ददशे सुवेलः,
प्रापे जलान्तो, जहृषुः प्लवङ्गाः. ॥ २७ ॥

एकान्तराख्यातं निरवद्यम् ॥

तेन इत्यादि—अद्रिबन्धस्तेने शनैर्विस्तारं गतः अतः । एव ववृधे पयोधि-
वृद्धिं गतः । गिरिभिः पूर्यमाणोदरत्वात् तीरं प्लावयति स्म । तुतोष रामस्तु-
ष्टवान् । सुकरमिदानीं शत्रुव्यापादनमिति । मुमुदे कपीन्द्रः हृष्टवान् । प्राप्तो
मे प्रत्युपकारकाल इति । तत्रास शत्रुः त्रासमुपगतः सेतुं बद्धवानिदानीमा-
यातो राम इति । ददशे सुवेलः दौकमानैः सर्वैर्दृष्टः । जलान्तश्च प्रापे प्राप्तः ।
ततो जहृषुः हृष्टाः प्लवङ्गाः स्वाभ्यादेशः संपादित इति । एतदेकान्तराख्यातं
सुबन्तपदैर्व्यवधानात् । निरवद्यं च प्राकृताभावात् ॥

१०४६—भ्रेमुर, ववल्गुर, ननृतुर, जजक्षुर,
जगुः समुत्पुष्टुविरे, निषेदुः, ॥
आस्फोटयांचक्रुरभिप्रणेदू,
रेजुर, ननन्दुर, विययुः, समीयुः. ॥ २८ ॥
आख्यात-माला ॥

भ्रेमुरित्यादि—ते पारं प्राप्य केचित् प्रदेशदर्शनोत्सुकाः भ्रेमुः भ्रान्ताः ।
अन्ये ववल्गुः तोषं गतवन्तः । 'उख उखि-' इत्यत्र वल्गातिर्गतौ पठ्यते ।
केचिदतिहर्षात् ननृतुः । अन्ये रावणपराक्रमान् न्यक्कुर्वन्तो जजक्षुः हसित-
वन्तः । बुभुक्षया वा फलानि भक्षितवन्तः । 'जक्ष भक्ष-हसनयोः ।' केचित्
जगुः गायन्ति स्म । केचित्समुत्पुष्टुविरे उत्सुत्योत्सुख्य गच्छन्ति स्म । केचित्
भ्रान्ता निषेदुः निषण्णाः । केचिदास्फोटयांचक्रुर्वयं युध्याम इति आस्फोटं कुर्व-
न्तीति ण्यन्ताल्लिङ्याम् । केचित्तोषादभिप्रणेदुः सुष्टु नादितवन्तः । केचिद्रेजुः
दीप्तवन्तः । केचिन्ननन्दुर्वयमीदृशं कर्म कृतवन्त इति । अन्ये विययुरितस्ततो
गच्छन्ति स्म । केचित्समीयुः एकत्र संगताः ॥ आख्यातमालेति तिङन्तमाला ॥

१०४७-गिरि-पङ्क-चारु-देहं

ककोल-लवङ्ग-वद्ध-सुरभि-परिमलम् ॥

बहु-बहलोरु-तरङ्गं

परिसरमारूढमुद्धरं लवण-जलम् ॥ २९ ॥

गिरीत्यादि—गिरीणां प्रक्षिप्यमाणानां यः पङ्कः गैरिकादिधातुकर्मस्य तेन चारुदेहम् । ककोललवङ्गाभ्यां वद्धः सुरभिः परिमलो गन्धो यस्मिन् । बहवः प्रभूता बहलाः स्थूला उरवः उच्चास्तरङ्गा यस्य तदीदृशं लवणजलम् । उद्धरम् उद्धृतं कर्तृभूतम् । परिसरं तटमारूढं सेतुना निवारितगतित्वात् ॥

१०४८-लोलं कूलाऽभिगमे

खे तुङ्गाऽमल-निबद्ध-पुरु-परिणाहम् ॥

सुर-गङ्गा-भरण-सहं

गिरि-बन्ध-वरेण लवण-सलिलं रुद्धम् ॥ ३० ॥

लोलमित्यादि—कूलाभिगमने तटगमने लोलं चञ्चलम् । खे आकाशे तुङ्गं च तदमलं चेति तुङ्गामलम् । निबद्धः संयुक्तः पुरुर्महान् परिणाहो यस्य । तुङ्गामलं च तन्निरुद्धपुरुपरिणाहं चेति । वियति आरोहपरिणाहाभ्यां युक्तमित्यर्थः । सुरगङ्गायाः मन्दाकिन्याः यद्भरणं पूरणं तत्र सहं शक्तं तादृशं लवण-जलं गिरिवन्धवरेण सेतुना रुद्धम् ॥

कुलकम्-॥ ३१-४३ ॥—

१०४९-आरूढं च सुवेलं

तरु-मालाऽऽबन्ध-हारि-गिरि-वर-जालम् ॥

रावण-चित्त-भयङ्कर-

मापिङ्गल-लोल-केसरं राम-बलम् ॥ ३१ ॥

आरूढमित्यादि—रामबलं तटे स्थित्वा आरूढं च सुवेलं पर्वतम् । धका-रस्य प्राकृते स्वरशेषता न भवति । पदमध्यान्तयोरवर्तमानत्वात् । तरुमालाया य आबन्धः तेन हारि मनस्तुष्टिकरं तादृशं गिरिवराणां पर्यन्तगिरीणां जालं यस्य सुवेलस्य । रावणचित्तस्य भयङ्करं रामबलम् । आपिङ्गलानि लोलानि केसराणि यस्य तदिति ॥

१०५०-लङ्काऽऽलय-तुमुलाऽऽरव-

सुभर-गभीरोरु-कुञ्ज-कन्दर-विवरम् ॥

वीणा-रव-रस-सङ्गम-

सुर-गण-संकुल-महा-तमाल-च्छायम् ॥ ३२ ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सेतुबन्धनं' नाम त्रयोदशः सर्गः— ३४३

लङ्केत्यादि—लङ्कालयानां राक्षसानां यस्तुमुलो महानारवः तेन सुभराः
परिपूर्णाः गम्भीरोरुकुञ्जा गम्भीरमहागहनानि कन्दरविवराणि च यत्र सुवेले ।
वीणारवे यो रसस्तृष्णा तेन सङ्गमः समागमो येषां सुरगणानां ते च सुरग-
णाश्चेति सः । तैः संकुला व्यासा महातमालच्छाया यत्रेति ॥

१०५१—सरस-बहु-पल्लवाऽऽविल-

केसर-हिन्ताल-वद्ध-बहल-च्छायम् ॥

ऐरावण-मद-परिमल-

गन्धवहाऽऽवद्ध-दन्ति-संरम्भ-रसम् ॥ ३३ ॥

सरसेत्यादि—सरसाः सार्द्धाः ये बहवः पल्लवाः तैराविला अन्धकारिता
ये केसरवृक्षाः हिन्तालवृक्षाश्च तैर्बद्धा बहला घना छाया यत्र सुवेले । ऐराव-
णस्य ऐरावतस्य हस्तिनो मदपरिमलो यस्मिन् गन्धवहे तादृशेन गन्धवहेन
बद्धो दन्तिनां हस्तिनां संरम्भरसः क्रोधरसो यत्रेति । ऐरावण ऐरावत इत्यु-
भयमपि प्राकृते साधु ॥

१०५२—तुङ्ग-तरु-च्छाया-रुह-

कोमल-हरि-हारि-लोल-पल्लव-जालम् ॥

हरिण-भयंकर-स-कुसुम-

दाव-सम-च्छवि-विलोल-दाडिम-कुञ्जम् ॥ ३४ ॥

तुङ्गेत्यादि—तुङ्गतरेणां या छाया तस्यां रोहन्तीति इगुपधलक्षणः कः ।
तुङ्गतरुच्छायाः रुहाः विटपाः तेषां कोमलं हरि हरितं हारि तुष्टिकरं लोलं पल्लव-
जालं यत्र । हरिणानां भयंकरा दावसदृशत्वात् सकुसुमदावसमच्छवयः दावा-
मितुल्याः लोलदाडिमकुञ्जा यत्र ॥

१०५३—कल-हरि-कण्ठ-विरावं

सलिल-महा-बन्ध-संकुल-महा-सालम् ॥

चल-किसलय-संबद्धं

मणि-जालं सलिल-कण-मयं-विवहन्तम् ॥ ३५ ॥

कलेत्यादि—कलो मनोहरः हरीणां कण्ठविरावो यत्र । सलिलस्य यो
महाबन्धस्तेन संकुला महान्तः सालाः सालवृक्षा यत्र । चलकिसलयेषु संबद्धं
संलग्नं सलिलकणमयं सलिलकणरूपं मणिजालं मणिसमूहमिव विवहन्तं
धारयन्तम् ॥

१०५४—तुङ्ग-मणि-किरण-जालं

गिरि-जल-संघट्ट-वद्ध-गम्भीर-रवम् ॥

३४४ भट्टि-काव्ये—तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

चारु-गुहा-विवर-सभं

सुर-पुर-समर्ममर-चारण-सुसंरावम् ॥ ३६ ॥

तुङ्गेत्यादि—तुङ्गमणीनां किरणजालं यत्रेति । गिरिजलानि निर्झरजलानि तेषां यः संघट्टः परस्परसंश्लेषस्तेन बद्धो गम्भीरो रवो यत्र । चारुगुहाविवरमेव सभा शाला यत्र । अमरचारणानां गन्धर्वाणां गायतां शोभनः संरावो यत्र । अत एवामरपुरसमम् ॥

१०५५—विमल-महा-मणि-टङ्कं

सिन्दूर-कलङ्क-पिञ्जर-महा-भित्तिम् ॥

वीर-हरि-दन्ति-सङ्गम-

भय-रुद्ध-विभावरी-विहार-समीहम् ॥ ३७ ॥

विमलेत्यादि—विमलमहामणीनां पद्मरागादीनां टङ्काः छेदा यत्र । अतश्च सिन्दूरकलङ्केन लान्छनेन पिञ्जरा इव महाभित्तयो यस्य । वीराणां हरीणां दन्तिनां च यः सङ्गमोऽन्योन्यगमनं तस्माद्यद्भयं तेन रुद्धा निवारिता विभावरी विहारसमीहा विहरणेच्छा यत्र ॥

१०५६—स-महा-फणि-भीम-विलं

भूरि-विहङ्गम-तुमुलोरु-घोर-विरावम् ॥

वारण-वराह-हरि-वर-

गो-गण-सारङ्ग-संकुल-महा-सालम् ॥ ३८ ॥

समेत्यादि—समहाफणीन्यत एव भीमानि विलानि विवराणि यत्र भूरीणां विहङ्गमानां तुमुलोऽनेकप्रकार उर्महान् घोरो रौद्रो विरावो यत्र वारणादिभिः स्कन्धकर्षणार्थिभिः सङ्कुला महासाला यत्र ॥

१०५७—चल-किसलय-स-विलासं

चारु-मही-कमल-रेणु-पिञ्जर-वसुधम् ॥

स-कुसुम-केसर-बाणं

लवङ्ग-तरु-तरुण-वल्लरी-वर-हासम् ॥ ३९ ॥

चलेत्यादि—चलैः किसलयैः हस्तैरिव सविलासं प्रारब्धनृत्यम् । चारुणां महीकमलानां स्थलजानां रेणुभिः पिञ्जरा वसुधा यत्र । सकुसुमाः केसराः बाणाश्च यत्र । लवङ्गतरोस्तरुणा या वल्लर्यः प्ररोहास्ता एव वरो हासो विकासाख्यो यत्र ॥

१०५८—अ-मल-मणि-हेम-टङ्कं

तुङ्ग-महा-भित्ति-रुद्ध-रुरु-पङ्क-गमम् ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सेतुबन्धनं' नाम त्रयोदशः सर्गः— ३४५

अमराऽऽरुढ-परिसर

मेरुमिवा ऽऽविल-स-रस-मन्दार-तरुम् ॥४०॥

अमलेत्यादि—अमलमणीनां हेमादीनां टङ्काद्वेदा यत्र । तुङ्गा उच्चा
महती विस्तारवती या भित्तिस्तथा रुद्धो ररूणां मृगाणां पङ्कगमः पङ्केन गमनं
यत्र । गमेः '३२३४। ग्रह-१३।३।५८।' इत्यादिना अप् । वङ्कगमं इति पाठा-
न्तरम् । तत्र वङ्कः कुटिलो गमो यत्र । 'वकि कौटिल्ये' इत्यस्य रूपम् ।
अमरैरारूढाः परिसरास्तटा यत्र । अविरेलाः सरसा मन्दारतरवो देववृक्षा
यत्र । तमित्थं मेरुमिव ॥

१०५९—फल-भर-मन्थर-तरु-वर-

म-विदूर-विरुढ-हारि-कुसुमाऽऽपीडम् ॥

हरिण-कलङ्क-मणि-संभव-

बहु-वारि-भर-सुगम्भीर-गुहम् ॥ ४१ ॥

फलेत्यादि—फलभरेण मन्थरा ईषन्नतास्तरवरा यत्र । अविदूरे विरुढा
हारिणः कुसुमापीडा यत्र । पुष्पस्तवकानां हस्तग्राह्यत्वात् हरिणकलङ्कमणिः
महाचन्द्रकान्तः तस्मात् संभवो यस्य बहुवारिणः तेन सुभराः परिपूर्णा गम्भीरा
गुहा यस्य । अत्र मणिमहत्तया वारिमहत्त्वात् गम्भीरगुहापूरणमिति ॥

१०६०—जल-काम-दन्ति-संकुल-

स-हेम-रस-चारु-धवल-कन्दर-देहम् ॥

अङ्कुर-रोह-सम-च्छवि-

रुरु-गण-संलीढ-तरल-हरि-मणि-किरणम् ४२

जलेत्यादि—जलमेतदित्येवं कामैर्दन्तिभिः संकुलाः सहेमरसाः सह हेम-
रसेन वर्तमानाः चारवः शोभनाः धवलाः कन्दरदेहाः कन्दरसन्निवेशा यत्र ।
रोहणं रोहः अङ्कुराद्रोहो यस्य शस्यस्य तेन समच्छवयस्तुल्यवर्णा रुरुगणास्तैः
संलीढाः तरलाश्चञ्चलाः हरिमणिकिरणा मरकतमयूखा यत्र ॥

१०६१—गाढ-समीरण-सुसहं

भीम-रवोत्तुङ्ग-वारि-धर-संघट्टम् ॥

धवल-जल-वाह-माला-

संवन्धाऽऽवद्ध-हिम-धरा-धर-लीलम् ॥ ४३ ॥

गाढेत्यादि—गाढो महान् यः समीरणः तं सुसहत इति मूलविभुजादि-
त्वात्कः । भीमरवास्तुङ्गा ये वारिधरास्तेषां संघट्टो यत्र । धवला ये जल-

३४६ भट्टिकाव्ये—तृतीये-प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

बाहास्तेषां मालाया (यत्संबद्धं) यः संबन्धः संबन्धनम् । भावे क्तः । तेन करण-
भूतेन आबद्धा अनुकृता हिमधराधरस्य हिमवतो धराधरस्य लीला विभ्रमो
वेन तं सुबेलं आरूढम् ॥

रामबलं कीदृशमित्याह—

१०६२—लवण-जल-बन्ध-स-रसं

तरु-फल-संपत्ति-रुद्ध-देहाऽऽयासम् ॥

लङ्का-तोरण-वारण-

मारूढं समर-लालसं-राम-बलम् ॥ ४४ ॥

लवणेत्यादि—लवणजलबन्धाद्वेतोः सरसं सहर्षम् । तरुफलसंपत्त्या रुद्धो-
ऽपनीतः देहायासः क्षुत्पीडा यस्य । लङ्कातोरणस्य वारणं निषेधकम् । आलोलं
चञ्चलं समरलालसं रणसन्तुषणं रामबलं तं सुबेलमारूढमिति पूर्वैर्ण योज्यम् ।
तस्मिन्मारूढे परबलं सन्नद्धमित्थं प्रवृत्तमित्यर्थः । इत्थं कथं तदाह गुरुपण-
वेत्यादिना—

विशेषकं त्रिभिः ॥ ४५—४७ ॥

१०६३—गुरु-पणव-वेणु-गुञ्जा-

भेरी-पेलोरु-झल्लरी-भीम-रवम् ॥

ढक्का-घण्टा-तुमुलं

सन्नद्धं पर-बलं रणाऽऽयास-सहम् ॥ ४५ ॥

गुर्वित्यादि—गुरुपणवादीनां भीमो रवो यस्मिन् परबले तत्र । गुरुपणवो
महान् पणवः । पेला वाद्यविशेषः । उरुझल्लरी महती झल्लरी । ढक्काघण्टयो-
स्तुमुलः संमूर्च्छितः शब्दो यत्रेति । रणायाससहं रणक्षेपसहम् ॥

१०६४—आरूढ-बाण-घोरं

वि-मलाऽऽयस-जाल-गूढ-पीवर-देहम् ॥

चञ्चल-तुरङ्ग-वारण-

संघट्टाऽऽबद्ध-चारु-परिणाह-गुणम् ॥ ४६ ॥

आरूढेत्यादि—धनुषि आरूढबाणत्वात् घोरं परबलम् । विमलेनाय-
सजालेन वर्मणा गूढश्छन्नः पीवरः स्थूलो देहो यस्य । चञ्चलानां तुरङ्गानां
वारणानां च यः परस्परसंघट्टः श्लेषणं तेनावद्धश्चारुः परिणाहगुणः विस्तार एव
गुणो यस्य तत्परबलं संनद्धम् ॥

१०६५—असि-तोमर-कुन्त-महा-

पट्टिश-भल्ल-वर-बाण-गुरु-पुरु-मुसलम् ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सेतुबन्धनं' नाम त्रयोदशः सर्गः— ३४७

वीर-रसाऽलङ्कारं

गुरु-संचार-हय-दन्ति-स-मही-कम्पम् ॥ ४७ ॥

असीत्यादि—अस्यादीनां वरबाणपर्यन्तानां द्वन्द्वः । तैरस्यादिभिः गुरु
अनभिभवनीयं पुरु महन्मुसलं यत्र । अस्यादिगुरु च तत् पुरु मुसलं चेति सः ।
वीररस एवालङ्कारो यस्य । पुरुः संचारो येषां हयदन्तिनां महाकायत्वात् तैः
समहीकम्पं सह महीकम्पेन वर्तमानं परबलं संनद्धम् ॥

१०६६—ते रामेण स-रभसं

परितरला हरि-गणा रण-समारम्भे ॥

रुद्धा लङ्का-परिसर-

भू-धर-परिभङ्ग-लालसा धीर-रवम् ॥ ४८ ॥

ते इत्यादि—ते हरिगणाः कपिगणाः रणसमारम्भे रणप्रवर्तननिमित्तं सर-
भसं संभ्रमपूर्वकं परितरलाः स्थातुमशक्नुवन्तः लङ्कापरिसरे लङ्कासमीपे ये भूधराः
तरवः तेषां परिभङ्गे चूर्णेन लालसाः सत्पुण्याः सन्तो रामेण रुद्धाः प्रतिषिद्धाः
मा भाङ्गुरिति । धीररवं धीरो रवो यस्यां प्रतिषेधनक्रियायामिति ॥

युग्मकम्—

१०६७—जल-तीर-तुङ्ग-तरु-वर-

कन्दर-गिरि-भित्ति-कुञ्ज-विवराऽऽवासम् ॥

भीमं तरु-हरिण-बलं

सु-समिद्ध-हिमारि-किरण-माला-लोलम् ॥ ४९ ॥

जलेत्यादि—तरुहरिणबलं कपिबलं निषिद्धं सत् । भीमं भयानकं जलती-
राधैरावासो यस्य तत् सुसमिद्धस्य हिमारेरेरेरादित्यस्य वा या किरणमाला
तद्वल्लोलं समारूढमिति वक्ष्यमाणेन संबन्धः ॥

१०६८—रावण-बलमवगन्तुं

जल-भर-गुरु-सलिल-वाह-गण-सम-च्छायम् ॥

अट्ट-तरु-मञ्च-मन्दिर-

तोरण-माला-सभासु समारूढम् ॥ ५० ॥

इति भट्टि-काव्ये प्रसन्न-काण्डे भाषा-समावेशो

नाम चतुर्थः, काव्यस्य त्रयोदशः सर्गः ।

रावणेत्यादि—रावणबलं अवगन्तुं कीदृशमिति जलभरेण गुरुर्यः सलिलवाह-

३४८ भट्टिकाव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

गणो जलधरसमूहः तेन समच्छायं तुल्यच्छायं रावणबलं अट्टादिषु समारूढम् ।
एतानि द्वाविंशतिः संकीर्णानि ।

इति श्री-जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते श्री-भट्टिकाव्ये-

तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थः परिच्छेदः (वर्गः),

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सेतुवन्धनं' नाम

त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः—

सुसिद्धद्युत्पत्तौ यत्सौष्टवं तदपि काव्यस्याङ्गमुक्तम् । अतः प्रसन्नकाण्डानन्तरं
तिङ्गकाण्डं शब्दलक्षणप्रयोगार्थं कथ्यते । तत्र लस्य स्थाने तिवादयः । लका-
राश्च नव लेटश्छन्दोविषयत्वादिति । अत्र नवविलसितानि । विलसितं च नाना-
रूपता । तत्र भूतार्थवतो लिटोऽधिकृत्य तद्विलसितमाह—

१०६९-ततो दशाऽऽस्यः स्मर-विह्वलाऽऽत्मा

चार-प्रकाशीकृत-शत्रु-शक्तिः ॥

विमोह्य माया-मय-राम-मूर्ध्ना

सीतामनीकं प्रजिघाय योद्धुम् ॥ १ ॥

तत इत्यादि—ततः स्वपरबलयो रणादुत्तरकालं दशास्यः स्मरविह्वलात्मा
कामवशीकृतदेहः । भर्तारि निराशा सती सीता ममानुकूला भविष्यतीति माया-
मयेन मायास्वभावेन राममूर्ध्ना छिन्नेन सीतां विमोह्य मोहयित्वा चारैः प्रणि-
धिभिः प्रकाशीकृता शत्रुशक्तिः वैरिसामर्थ्यं यस्मै योद्धुमनीकं सैन्यं प्रजिघाय
प्रहितवान् । '२५३१। हेरचडि । ७३। ५६।' इति कुत्वम् । भूतानद्यतन-
परोक्षे सर्वत्र लिट् ॥

१०७०-कम्बून्तथ समादध्मुः, कोणैर् भेर्यो निजघ्निरः, ॥

वेणून् पुपूरिरे, गुञ्जा जुगुञ्जुः कर-घट्टिताः ॥ २ ॥

कम्बूनित्यादि—अथ सैन्यप्रेषणानन्तरं कम्बून् समादध्मुः शब्दितवन्तः
शाङ्खिकाः । कोणैर्वाद्यवादनाः काष्ठमयैः भेर्यो निजघ्निरः ताडिताः कर्मणि लिट् ।
वेणून् वंशान् पुपूरिरे सुखमरुता पूरितवन्तः । '१२२६। पूरी आप्यायने' इति
दैवादिकोऽनुदात्तेत् । गुञ्जाः समरवादनाः करघट्टिताः अङ्गुलिघृष्टाः जुगुञ्जुः
शब्दितवन्तः । '२१२। गुञ्जि अव्यक्ते शब्दे' ॥

१०७१-वादयांचक्रिरे ढक्काः, पणवा दध्वनुर् हताः, ॥

काहलाः पूरयांचक्रुः, पूर्णाः पेराश् च सस्वनुः ॥ ३ ॥

वादयामित्यादि—ढक्का वादयांचक्रिरे वादितवन्तः । ढक्कावाक्का इत्यर्थः ।
चदेहेतुमण्यन्तात् आसि '२३११। अयामन्त-१६। ४। ५५।' इत्यादिदेशः । '२२४०।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'शर-बन्धो' नाम चतुर्दशः सर्गः— ३४९

आम्प्रत्ययवत्—११३।६३।' इति कृजोऽनुप्रयोगस्यात्मनेपदे । '२५६३। णिचश्च ११३।७४।' इति आम्प्रत्ययादात्मनेपदस्य विहितत्वात् । पणवा वाद्यविशेषाः हताः पाणविकैस्ताडिताः दध्वनुर्ध्वनिताः । काहलाः गोशृङ्गसंस्थानाः । पूरयांचकुः पूरितवन्तः । 'पुरी आप्यायने' इति चौरादिकस्योदात्तेतो रूपम् । पेराः खरमुखाकाराः पूर्णा मुखमरुता सखनुः । '२३५४। फणां च सप्तानाम् १६।४।१२५।' इति लिटि एत्वविधानस्य विकल्पितत्वात् नैत्वम् ॥

१०७२—मृदङ्गा धीरमास्वेनुर, हतैः स्वेने च गोमुखैः ॥

घण्टाः शिशिञ्जिरे दीर्घ, जहादे पटहैर् भृशम् ॥४॥

मृदङ्गा इत्यादि—मृदङ्गा मुरजाः धीरं आस्वेनुः गम्भीरं ध्वनिताः । एत्व-पक्षे रूपम् । गोमुखैर्वाद्यविशेषैः हतैः स्वेने शब्दितम् । भावे लिट् । घण्टाः दीर्घं शिशिञ्जिरे उच्चैः शब्दितवत्यः । पटहैर्भृशमत्यर्थम् । जहादे शब्दितम् । भावे लिट् ॥

१०७३—हया जिहेषिरे हर्षाद्, गम्भीरं जगज्जु गजाः, ॥

संन्रस्ताः करभा रेदुश्, चुकुवुः पत्ति-पङ्कयः ॥५॥

हया इत्यादि—हया अश्वाः हर्षात् जिहेषिरे हेषितवन्तः । '६६४। हेष अव्यक्ते शब्दे' भौवादिकोऽनुदात्तेत् । अभ्यासस्य ['२१८०। हस्वः १७।४।४९।'] इति एत इज्जवति । गजा गम्भीरं मन्दं जगज्जुः गर्जितवन्तः । 'गज गजी शब्दाथौ ।' करभा उष्ट्राः संन्रस्ताः नानावादित्रश्रवणात् रेदुः शब्दं कृतवन्तः । 'रट परिभाषणे' इति शब्दार्थः । पत्तिपङ्कयः पदातिसंहतयः चुकुवुः शब्दितवत्यः । गच्छत किं तिष्ठतेति । 'कु शब्दे' इत्युदात्तेत् ॥

१०७४—तुरङ्गा-पुस्फुडुर् भीताः, पुस्फुरू वृषभाः परम् ॥

नार्यश् चुक्षुभिरे मम्बुर् मुमुहुः शुशुचुः पतीन् ६

तुरङ्गा इत्यादि—तुरङ्गा अश्वा भीता वादित्रश्रवणात् पुस्फुडुः स्फुटिताः भयादितस्ततो गताः । 'स्फुट विशरणे' । वृषभाः परं पुस्फुरूः सुष्टु वलिताः । 'स्फुर वलने ।' नार्यश्चुक्षुभिरे अस्माकमायातो वियोग इति क्षोभमुपगताः । व्यस्तचित्ता जाता इत्यर्थः । काश्चिदामम्बुः । 'म्बु गान्धर्वे' । मुमुहुः कश्चिन्मोहमुपगताः पतीन् काश्चित् शुशुचुः शोचितवत्यः । हा कष्टं नियतं विनष्टा इति ॥

१०७५—जगज्जुर्, जहृषुः, शूरा रेजुस् तुष्टुविरे परैः, ॥

वबन्धुरङ्गुलि-त्राणि, सन्नेहुः परिनिर्णयुः ॥ ७ ॥

जगज्जुरित्यादि—शूरा जगज्जुः अस्माभिर्वृष्टाः शराः क यास्यन्तीति शब्दितवन्तः । तथा जहृषुः तुष्टाः विरमायातः समर इति । '१३०८। हृष तुष्टौ ।' अत एव रेजुः शोभन्ते स्म । '३५४। फणां च सप्तानाम् १६।४।१२५।' इत्ये-त्वाभ्यासलोपौ । परैरन्यैस्तुष्टुविरे स्तुताः । भवतामग्रतः समरे के तिष्ठन्तीति ।

३५० भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

अङ्गुलित्राणि बबन्धुः बध्नन्ति स्म । '१०४२१ बध बन्धने ।' तथा परे सन्नेह
कवचानि बध्नन्ति स्म । '१२४११ गह बन्धने ।' परिनिर्णयः निष्क्रान्ताः ॥

१०७६—धनूंष्यारोपयांचक्रुरारुरुह रथाऽऽदिषु, ॥

असीनुद्वहृद् दीप्तान्, गुर्वीरुच्चिक्षिपुर् गदाः ॥८॥

धनूंषीत्यादि—धनूंषि आरोपयांचक्रुः आरोपितगुणानि कृतवन्तः । '२५९११
रुहः पोऽन्यतरस्याम् । ७।३।४३।' इति गौ पादेशः । आरुरुह्यारोहन्ति स्म रथा-
दिषु । द्वितीया न कृता । अधिकरणत्वेन विवक्षितत्वात् । दीप्तान्निष्कलङ्कान-
सीन् ववृहुः कोशादाकृष्य उद्यतान् कृतवन्तः । 'वृह उद्यमने ।' गुर्वीरगदा उच्चि-
क्षिपुः उत्क्षिप्तवन्तः ॥

१०७७—शूलानि भ्रमयांचक्रुर्, बाणांनाददिरे शुभान्, ॥

भ्रेमुश्, चुकुर्दिरे, रेसुर् ववल्गुश् च पदातयः ॥९॥

शूलानीत्यादि—शूलानि भ्रमयांचक्रुः भ्रमयन्ति स्म । मान्तत्वान्मित्वे
ह्रस्वत्वम् । बाणान् शुभान् युद्धयोग्यानाददिरे गृहीतवन्तः । '२६८६। आडो
दोऽनास्यविहरणे । १।३।२०।' इति तड् । पदातयश्च भ्रेमुः इतस्ततो याताः ।
चुकुर्दिरे शस्त्रपाणयः क्रीडितवन्तः । 'कुर्द-खुर्द-गुर्द-गुद क्रीडायामेव ।' रेसुः
भयकृते निनादान् कृतवन्तः । 'रस शब्दे ।' ववल्गुः प्रधुताः । वल्गतिः 'उख
उखि-' इत्यत्र पठ्यते ॥

१०७८—समुत्पेतुः कशा-घातै, रश्म्याकषैर् ममङ्गिरे ॥

अश्वाः, प्रदुद्बुवुर् मोक्षे रक्तं निजगरुः श्रमे. ॥१०॥

समुत्पेतुरित्यादि—कशाघातैः चर्मलताप्रहारैः अश्वाः समुत्पेतुः उत्प्लुताः ।
रश्म्याकषैः प्रग्रहाकर्षणैः । ममङ्गिरे शोभन्ते स्म । संकोचितघोणत्वात् । 'ममि
मण्डने ।' मोक्षे रश्मीनां प्रसारणे प्रदुद्बुवुः वेगेन गताः । श्रमे सति खलीनप्र-
भवं रक्तं निजगरुः पीतवन्तः । '१५०४। गृ निगरणे ।' '२३८३। ऋच्छत्यृत्युताम्
१।७।१११।' इति गुणः ॥

१०७९—गजानां प्रददुः शारीन्, कम्बलान् परितस्तरुः, ॥

तेनुः कक्षां, ध्वजांश् चैव समुच्छिथ्रियुरुच्छिखान्. ११

गजानामित्यादि—गजानां शारीन् प्रददुः पृष्ठेषु आरोपितवन्तः । हस्ति-
पका इत्यर्थात् । तथा कम्बलान् नानावर्णविविचित्रान् परितस्तरुः आस्तीर्णवन्तः ।
कक्षां हेमादिमयीं तेनुः विस्तारितवन्तः । उच्छिखान् उद्धृतशिखान् ध्वजान्
समुच्छिथ्रियुः उत्क्षिप्तवन्तः ॥

१०८०—विशिश्वासयिषांचक्रुरालिलिङ्गुश् च योषितः, ॥

आजघुर् मूर्ध्नि बालांश् च चुचुम्बुश् च सुत-प्रियाः. ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'शर-बन्धो' नाम चतुर्दशः सर्गः— ३५१

विशिश्वासयिषांचक्रुरित्यादि—योषितः आत्मीयान् विशिश्वासयिषांचक्रुः विश्वासयितुमिष्टवन्तः । मय्यन्यथा न भवनीयमिति । ण्यन्तस्य रूपम् । आलिलिङ्गश्च श्लिष्यन्ति स्म । लिगिर्गल्यर्थः । आङ्पूर्वः परिष्वङ्गे वर्तते । बालान् शिशून् आजघ्रुः शिरसि आघ्रातवन्तः । तथा चुचुम्बुश्च चुम्बितवन्तः । सुत-प्रियाः सुताः प्रियाः यासामिति ॥

१०८१—गम्भीर-वेदिनः संज्ञा गजा जगृहुरक्षताः, ॥

ववृधे शुशुभे चैषां मदो, हृष्टैश्च पुपुवे. ॥ १३ ॥

गम्भीरवेदिन इत्यादि—ये गजा मत्तत्वादङ्गुशैर्दढमाहताः । गम्भीरं विदन्ति ते गम्भीरवेदिनः । तस्मिन् काले संज्ञा युद्धौपयिकीर्जगृहुः गृहीतवन्तः । अक्षतास्तोत्राङ्गुशैरनाहताः सन्तः हृष्टैश्च गजैः पुपुवे भुतम् । भावे लिट् । हर्षा-देषां मदो ववृधे वर्धते स्म । शुशुभे च शोभते स्म ॥

१०८२—मृगाः प्रदक्षिणं सस्रुः, शिवाः सम्यग् ववाशिरे, ॥

अ-वामैः पुस्फुरे देहैः, प्रसेदे चित्त-वृत्तिभिः. ॥ १४ ॥

मृगा इत्यादि—एवं संनह्य चलतां मृगाः दक्षिणपार्श्वेन गताः । सम्यग्व-वाशिरे । वामपार्श्वस्थाः शिवाः शब्दिदतवत्य इत्यर्थः । 'वाश्' शब्दे । 'अवामै-र्दक्षिणैर्देहैर्भुजादिभिः पुस्फुरे स्फुरितम् । भावे लिट् । चित्तवृत्तिभिर्मनोवृत्तिभिः प्रसेदे प्रसन्नम् । पूर्ववत्प्रदेर्भावे लिट् ॥

१०८३—प्राच्यमाञ्जिहिषांचक्रे प्रहस्तो रावणाऽज्ञया ॥

द्वारं ररङ्गतुर् याम्यं महापार्श्व-महोदरौ. ॥ १५ ॥

प्राच्यमित्यादि—एवं शुभनिमित्तोत्साहितः प्रहस्तो रावणाज्ञया प्राच्यं प्राचि भवं पूर्वद्वारम् '१३२१। द्युप्राक्-१४।२।११०।' इति यत् । आञ्जिहिषांचक्रे गन्तुमिष्टवान् । '१९३३। अहि गतौ' इत्यस्योदात्तः सनीट् । '२१७६। अजादे द्वितीयस्य । ६।१।२।' इति द्विर्वचनम् । '२४४६। न न्द्राः-१६।१।३।' इति नकारो न द्विरुच्यते । '२२४०। आम्प्रत्ययवत्-१।३।६३।' इत्यात्मनेपदम् । तथा महा-पार्श्वमहोदरौ राक्षसौ याम्यं द्वारं दक्षिणम् । यमो देवता अत्येति । '१०७८। दित्यदित्या-१।१।८५।' इत्यत्र 'यमाचेति वक्तव्यम्' इति उक्तं तेन प्राग्दीव्यती-येऽर्थे ण्यप्रत्ययः । ररङ्गतुः गतौ । '१९३१। रवि गतौ' इत्यस्य रूपम् ॥

१०८४—प्रययाविन्द्र-जित् प्रत्यगियाय स्वयमुत्तरम्. ॥

समध्यासिसिषांचक्रे विरूपाऽक्षः पुरोदरम्. ॥ १६ ॥

प्रययावित्यादि—प्रत्यक् पश्चिमद्वारं इन्द्रजित् प्रययौ गतवान् । प्रती-च्याम् द्वारमिति '१९७४। दिक्छन्देभ्यः सप्तमी-१।५।३।२७।' इत्यादिना विहि-तस्यास्तातेः '१९८०। अञ्जेर्लुक् । ५।३।३०।' । असंज्ञाभावात् '४१६। अचः ।

३५२ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

६।१।१३८।' इत्यकारलोपो निवर्तते '४१७। चौ ६।३।१३८।' इति दीर्घत्वं च । स्वयमिति । रावण उत्तरद्वारमियाय गतः । विरूपाक्षो राक्षसः पुरोदरं पुरमध्यं समध्यासिसिपांचक्रे समध्यासितुमिष्टवान् । आखेरनुदात्तेतः सनि इटि अजादिः । '२७३४ । पूर्ववत्सनः । १।१।६२।' इत्यात्मनेपदम् । अनुप्रयोगस्याप्यात्मनेपदम् ॥

१०८५—शुश्राव रामस् तत् सर्वं, प्रतस्थे च स-सैनिकः ॥
विस्फारयांचकाराऽखं बबन्धाऽथ च बाणधी. १७

शुश्रावेत्यादि—अथानन्तरं रामस्तत्सर्वं रावणचेष्टितं शुश्राव श्रुतवान् । प्रतस्थे च गन्तुं प्रवृत्तः । '२६८९। समवप्रविभ्यः स्थः । १।१।२२।' इति तङ् । ससैनिकः सह योधैः । सेनायां समवेता इति '१५९५। सेनाया वा १।१।४५।' इति पक्षे ठक् । अखं धनुर्विस्फारयांचकार आरोप्याकृष्टवान् । स्फुरतेः । '२५६९। चिस्फुरोणौ ६।१।५४।' इत्यात्वम् । बबन्ध च बाणधी तूणीरे बध्नाति स्म । बाणा धीयन्ते ऽस्मिन्निति । '३२७१। कर्मण्यधिकरणे च ६।३।९३।' इति किः ॥

१०८६—ईक्षांचक्रे ऽथ सौमित्रिर्मनुजज्ञे बलानि च, ॥

नमश्चकार देवेभ्यः पर्ण-तल्पं मुमोच च. ॥ १८ ॥

ईक्षामित्यादि—सौमित्रिं च युद्धाय ईक्षांचक्रे दृष्टवान् । ईक्षेरनुदात्तेतः । '२२३७। इजादेः-१३।१।३६।' इत्याम् । बलानि च अनुजज्ञे अनुज्ञातवान् । अनुपूर्वो जानातिरनुज्ञाने वर्तते तस्य परस्मैपदित्वात् । '२७४३। अनुपसर्गात्-१।१।७६।' इति वचनादात्मनेपदम् । उपसर्गेण युक्तत्वात् । नमश्चकार देवेभ्यः । नमःशब्दयोगे चतुर्थी । पर्णतल्पं पर्णशयनीयं मुमोच मुक्तवान् ॥

१०८७—चकासांचक्रुरुत्तस्थुर, नेदुरानशिरे दिशः ॥

वानरा, भूधरान् रेधुर, बभञ्जुश्, च ततस् तरून्.

चकासांचक्रुरित्यादि—ततोऽनुज्ञानान्तरं वानरा उत्तस्थुः उत्थिताः । नेदुः शब्दितवन्तः । दिश आनशिरे व्याप्ताः । '२५३३। अश्रोतेश्च ७।१।७२।' इत्यभ्यासस्य नुद । '२२४८। अत आदेः ७।१।७०।' इति दीर्घत्वम् । भूधरान् पर्वतान् रेधुः उन्मूलितवन्तः । '२५३२। राधो हिंसायाम् ६।१।१२३।' इत्ये-त्वाभ्यासलोपः । तरुंश्च बभञ्जुः भग्नवन्तः । एवं च ते चकासांचक्रुः शोभन्ते स्म । कात्यनेकाज्ग्रहणमित्याम् ॥

१०८८—ददाल भूर, नभो रक्तं गोष्पदप्रं ववर्ष च, ॥

मृगाः प्रससुपुर वामं, खगाश् चुकुविरेऽशुभम्. २०

ददालेत्यादि—श्लोकद्वयं राघवयोर्ब्रह्मास्त्रबन्धसूचनार्थमलिमिच्छदर्शनम् । भूर्ददाल विदीर्णा । नभश्च रक्तं रुधिरं ववर्ष वृष्टवत् । लिटः पित्वादकिन्वे घ्रातोर्गुणः । कियत्प्रमाणं गोष्पदप्रं यावता गोष्पदं पूरयित्वा । '३३५२। वर्ष-

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'शर-बन्धो' नाम चतुर्दशः सर्गः— १५३

प्रमाणे—१३।४।३२।' इत्यादिना णमुल् ऊलोपश्च । मृगाः प्रससुपुर्वांसं वामपा-
श्चैन गता इत्यर्थः । खगाः पक्षिणोऽशुभान् अनिष्टांश्चकुविरे शब्दितवन्तः ।
'कुङ्कु शब्दे ।' अशुभमिति पाठान्तरम् । तत्र क्रियाविशेषणं वेदितव्यम् ॥

१०८९—उल्का ददृशिरे दीप्ता, रुरुवुश् चाऽशिवं शिवाः, ॥
चक्ष्माये च मही, रामः शशङ्के चाऽशुभाऽगमम्. २१

उल्का इत्यादि—दीप्ता उल्का ददृशिरे दृष्टाः । अशिवा अनिष्टाः शिवा
गोमायवः रुरुवुः शब्दितवन्तः । मही च चक्ष्माये कम्पिता । 'क्ष्मायी विधूनने'
इत्यनुदात्तेत् । रामश्चाशुभागममनिष्टप्राप्तिमाशशङ्के शङ्कते स्म । चेतसः पर्याकु-
लत्वात् हृदमप्यनिष्टमेव ॥

१०९०—रावणः शुश्रुवान् शत्रून् राक्षसान्भ्युपेयुषः, ॥
स्वयं युयुत्सयांचक्रे प्राकाराऽग्रे निषेदिवान्. ॥२२॥

रावण इत्यादि—राक्षसान्भ्युपेयुषो ऽभिमुखमुपगतवन्तो ये शत्रवो रा-
मादयस्तान् रावणः शुश्रुवान् । स्वयं च प्राकाराग्रे निषेदिवान् निषण्णः सन् ।
'३०९७। भाषायां सद-वस-१३।२।१०८।' इत्यादिना कसुः । युयुत्सयांचक्रे योदु-
मिच्छन्तं प्रयोजितवानित्यर्थः । सन्नन्तण्यन्तस्य रूपम् ॥

१०९१—निरासू राक्षसा वाणान्, प्रजहुः शूल-पट्टिशान् ॥
असींश् च वाहयांचक्रुः पाशैश् चाऽऽचकृषुस् ततैः ॥

निरासुरित्यादि—रावणप्रचोदिता राक्षसा वाणान्निरासुः क्षिप्तवन्तः ।
शूलपट्टिशान् शूलसहितान् पट्टिशान् । शाकपार्थिवादिवात्तत्पुरुषः । द्वन्द्वे तु
'२१०। जातिरप्राणिनाम् ।२।४।६।' इत्येकवद्भावः स्यात् । तान् प्रजहुः त्यक्तवन्तः ।
'ओहाङ् ल्यागे ।' असींश् खड्गान् वाहयांचक्रुः व्यापारितवन्तः । ण्यन्तस्य रूपम् ।
पाशैस्तैर्विस्तृतैः आचकृषुः आकृष्टवन्तः । कित्वे गुणप्रतिषेधः ॥

१०९२—भल्लैश् च विभिदुस् तीक्ष्णैश्
विविधुस् तोमरैस् तथा. ॥
गदाभिश् चूर्णयांचक्रुः,
शितैश् चक्रैश् च चिच्छिदुः. ॥ २४ ॥

भल्लैरित्यादि—भल्लैर्विभिदुर्विदारितवन्तः । तीक्ष्णैस्तथा तोमरैर्विविधुस्ता-
डितवन्तः । व्यधेः '२४।२। ग्रहि ज्या-१६।१।१६।' इत्यादिना सम्प्रसारणम् ।
गदाभिश् चूर्णयांचक्रुः चूर्णितवन्तः । '२५६३। सत्य-१३।१।२५।' इत्यादिना
णिच् । '१६५७। चूर्णं प्रेरणे' इति चौरादिकत्वाद्वा । चिच्छिदुः छिन्नवन्तः ।
राक्षसयुद्धमेतत् ॥

३५४ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

१०९३—वानरा मुष्टिभिर् जघ्नुर् ददंश्च दशनैस् तथा, ॥

निरासुश् च गिरीस् तुङ्गान्, द्रुमान् विचकरुस् तथा. २५

वानरा इत्यादि—वानरा मुष्टिभिर्जघ्नुः हतवन्तः । राक्षसानित्यर्थात् ।
दशनैर्ददंश्च दष्टवन्तः । गिरीजिरासुः क्षिप्तवन्तः । द्रुमान् विचकरुर्विक्षिप्तवन्तः ।
'१५०३। कृ विक्षेपे ।' '२३८३। कृच्छत्युताम् । ७।४।११।' इति गुणः ॥

१०९४—लाङ्गलैर् लोठयांचक्रुस्, तलैर्, निन्युश् च संक्षयम्, ॥

नखैश् चकृततुः, कुद्धाः पिपिषुश् च क्षितौ बलात्. २६

लाङ्गलैरित्यादि—लाङ्गलैर्लोठयांचक्रुः लाङ्गलैर्व्यापादितवन्तः । 'रुठ लुठ
प्रतिघाते' परस्मैपदिनो ण्यन्तस्य रूपम् । तलैर्हस्ततलैः संक्षयं विनाशं निन्युः
नीतवन्तः । नखैश्चकृततुरुच्छिन्नवन्तः । 'कृती च्छेदने' कुद्धाः वानराः बलात्
हठात् क्षितौ पिपिषुश्चर्णितवन्तः ॥

१०९५—संबभूवुः कबन्धानि, प्रोहुः शोणित-तोय-गाः, ॥

तेरु भटाऽऽस्य-पद्मानि, ध्वजैः फेणैरिवाऽऽबभे, २७

संबभूवुरित्यादि—कबन्धानि संबभूवुः संभूतानि । प्रतिसहस्रं व्यापाद-
नात् । कबन्धस्यैकस्योत्पादनात् । शोणिततोयगाः शोणितनद्यः प्रोहुः प्रकर्षेण
प्रवृत्ताः । बहेर्यजादित्वात् सम्प्रसारणम् । भटास्यपद्मानि योधमुखपद्मानि तेरुः
हुतानि । '२३०१। वृ-फल-। ६।४।१२२।' इत्यादिना एत्वाभ्यासलोपौ । फेणैरिव
ध्वजैः शोणितनदीषु आबभे शोभितम् । भावे लिट् ॥

१०९६—रक्त-पङ्के गजाः सेदुर्, न प्रचक्रमिरे रथाः, ॥

निममज्जुस् तुरङ्गाश् च, गन्तुं नोत्सेहिरे भटाः २८

रक्तपङ्क इत्यादि—रक्तपङ्के गजाः सेदुः निषण्णाः । रक्तपङ्कस्य बहुल-
त्वात् । तथा रथा न प्रचक्रमिरे न गन्तुमारब्धाः '२७१५। प्रोपाभ्याम्-।
१।३।४२।' इत्यात्मनेपदम् । तुरङ्गा निममज्जुः निमग्नाः । भटाश्च गन्तुं नोत्से-
हिरे नोत्सहन्ते स्म ॥

१०९७—कोट्या-कोट्या पुर-द्वारमैकैकं रुरुधे द्विषाम्, ॥

षट्-त्रिंशद्दरि-कोट्यश् च निवव्रुर् वानराऽऽधिपम्, २९

कोट्येत्यादि—द्विषामेकैकं पुरद्वारं वानराणां कोट्या कोट्या रुरुधे रुद्धम् ।
कर्मणि लिट् । षट्त्रिंशद्दरिकोट्यः वानरकोट्यो वानराधिपं सुग्रीवं निवव्रुः
आवृत्य स्थिताः ॥

१०९८—तस्तनुर्, जहलुर्, मम्बुर्, जग्लुर्, लुलुठिरे क्षताः, ॥

मुमूर्च्छुर्, ववमू रक्तं, ततृषुश् चोभये भटाः ॥ ३० ॥

तस्तनुरित्यादि—उभये भटा रामरावणसंबन्धिनो योधाः क्षताः सन्तस्त-
स्तनुः स्तनितवन्तः । जहलुः चलिताः । 'हल-हल चलने' । मम्लुः म्लानाः ।
'म्लै गात्र-क्षये ।' जग्लुः हर्षक्षयं गताः । लुलुठिरे भूमौ लुठन्ते स्म । 'लुठ
लुठ प्रतिघाते' तुदादावात्मनेपदी पठ्येते । समृच्छुः मोहमुपगताः । रक्तं ववमुः
गीर्णवन्तः । तनृषुः तृप्यन्ति स्म । एतत् संकुलयुद्धमाह ॥

१०९९—सम्पातिना प्रजङ्घस् तु युयुधे, ऽसौ द्रुमाहतः ॥

चक्रम्पे, ऽतीव चुक्रोश, जीवनाशं ननाश च. ३१

सम्पातिनेत्यादि—प्रजङ्घो नाम राक्षसः सम्पातिनाम्ना वानरेण सह युयुधे
युध्यते स्म । असौ प्रजङ्घो द्रुमाहतश्चक्रम्पे कम्पते स्म । अतीव अत्यर्थं चुक्रोश
क्रोशति स्म । जीवनाशं ननाश जीवेन विनष्टः । '३३६४। कर्त्रोर्जीवपुरुषयोर्न-
शिवहोः । ३।४।४३।' इति णसुल ॥

११००—उच्चखाते नलेना ऽऽजौ स्फुरत्-प्रतपन् ऽक्षिणी, ॥

जम्बुमाली जहौ प्राणान् प्राव्णा मारुतिना हतः. ३२

उच्चखात इत्यादि—स्फुरन् चलन् प्रतपनो नाम राक्षसः तस्याक्षिणी
स्फुरतीव प्रतपनस्याक्षिणी नयने नलेन वानरेण उच्चखाते उत्खाते । कर्मणि
लिट् । '२३६३। गम हन-। ६।४।९८।' इत्युपधालोपः । मारुतिना हनूमता
प्राव्णा पाषाणेन हतो जम्बुमाली राक्षसः प्राणान् जहौ त्यक्तवान् ॥

११०१—मित्रघ्नस्य प्रचुक्षोद गदया ऽङ्गं विभीषणः. ॥

सुग्रीवः प्रघसं नेभे, बहून् रामस् ततर्द च. ॥३३॥

मित्रघ्नस्येत्यादि—मित्रघ्नस्य राक्षसस्य अङ्गं गदया विभीषणः प्रचुक्षोद ।
प्रघसं नाम राक्षसं सुग्रीवो नेभे हिंसितवान् । 'णभ तुभ हिंसायाम्' इत्यनुदा-
त्तेत् । रामश्च बहून् राक्षसान् ततर्द हिंसितवान् । 'उ-तृदिर् हिंसाऽनादरयोः' ॥

११०२—वज्रमुष्टेर् विशिश्लेष मैन्देना ऽभिहतं शिरः, ॥

नीलश चकर्त चक्रेण निकुम्भस्य शिरः स्फुरत्. ३४

वज्रमुष्टेरित्यादि—वज्रमुष्टे राक्षसस्य शिरो मैन्देन वानरेण अभिहतं सत्
विशिष्टेष विश्लिष्टम् । निकुम्भस्य शिरः स्फुरत् चलत् । नीलो वानरश्चक्रेण
चकर्त छिन्नवान् ॥

११०३—विरूपाक्षो जहे प्राणैस् तृढः सौमित्रि-पत्रिभिः, ॥

प्रमोचयांचकाराऽसून् द्विविदस् त्वंशनि-प्रभम्. ३५

विरूपाक्ष इत्यादि—विरूपाक्षो राक्षसः सौमित्रिपत्रिभिर्लक्ष्मणशरैः तृढः
हत इत्यर्थः । 'तृढ' [ह] हिंसार्थः [यां] इति तौदादिकस्योदित्वाच्चिद्याया-

३५६ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-क्राण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

मिः(ती)दप्रतिषेधः । प्राणैर्जहे त्यक्तः । कर्मणि लिट् । द्विविदो वानरः अशनिप्रभं
राक्षसं प्राणान् प्रमोचयांचकार त्याजितवान् । मुचेर्ण्यन्तस्य लिटि रूपम् ॥

११०४—गदा शक्र-जिता जिघ्ये, तां प्रतीयेष वालि-जः ॥

रथं ममन्थ स-हयं शाखिना ऽस्य ततोऽङ्गदः ३६

गदेत्यादि—शक्रजिता इन्द्रजिता गदा जिघ्ये प्रहिता । हिनोतेः कर्मणि
लिट् । '२५३१। हेरचङि । ७।३।५६।' इति कुत्वम् । तां गदां वालिजोऽङ्गदः ।
प्रतीयेष प्रतीष्टवान् । इषेः '२२९०। अभ्यासस्यासवर्णे । ६।४।७८।' इतीयङ् ।
ततोऽनन्तरं अस्य शक्रजितो रथं सहयं साश्वं शाखिना तरुणा ममन्थ चूर्णित-
वान् । 'मथि हिंसासंक्रेशनयोः ॥'

११०५—तत् कर्म वालि-पुत्रस्य दृष्ट्वा विश्वं विसिष्मिये, ॥

सन्त्रेसू राक्षसाः सर्वे, बहु मेने च राघवः. ॥ ३७ ॥

तत्कर्मत्यादि—तत्कर्म रथस्य चूर्णनं दृष्ट्वा विश्वं त्रैलोक्यं विसिष्मिये विस्मि-
तम् । राक्षसाः सर्वे सन्त्रेसुः । राघवश्च बहु मेने । अङ्गदं श्लाघितवानित्यर्थः ॥

११०६—सुग्रीवो मुमुदे, देवाः साध्वित्यूचुः स—विस्मयाः, ॥

विभीषणो ऽभितुष्टाव, प्रशशंसुः प्लवङ्गमाः ॥ ३८ ॥

सुग्रीव इत्यादि—सुग्रीवो मुमुदे दृष्टवान्, देवाः साध्वित्यूचुः, '२४०९।
वचि-स्वपि-। ६।१।१५।' इति सम्प्रसारणम् । विभीषणोऽभितुष्टाव अभिष्टुतवान् ।
'ष्टुञ् स्तुतौ ।' '२२७०। उपसर्गात्-। ८।३।६५।' इत्यादिना षत्वम् । प्लवङ्गमाः
प्रशशंसुः प्रशंसां कृतवन्तः ॥

११०७—ही चित्रं लक्ष्मणेनोदे, रावणिश् च तिरोदधे ॥

विचकार ततो रामः शरान्, संतत्रसुर् द्विषः ॥ ३९ ॥

ही चित्रमित्यादि—हीति विस्मये । चित्रमाश्चर्यमिति लक्ष्मणेनोदे उक्तम् ।
वदेर्भावे लिट् । यजादित्वात्सम्प्रसारणम् । रावणिः इन्द्रजित् रावणस्यापत्यम् ।
'१८९५। अत इञ् । ४।१।९५।' तिरोदधे अदृश्योऽभूत् । ततः अदर्शनानन्तरं
रामः शरान् विचकार विक्षिप्तवान् । 'कृ विक्षेपे' । द्विषः संतत्रसुः संतत्राः ॥

११०८—विभिन्ना जुघुरुर् घोरं, जक्षुः कव्याऽशिनो हतान्, ॥

चुश्र्योत व्रणिनां रक्तं, छिन्नाश् चेलुः क्षणं भुजाः ४०

विभिन्ना इत्यादि—शरैर्विभिन्ना जुघुरुः घोरं भीमशब्दं कृतवन्तः । 'घुर
भीमार्थ-शब्दयोः ।' कव्याशिनः शृगालादयो हतान् विनष्टान् जक्षुः भक्षित-
वन्तः । '२४२४। 'लिव्यन्यतरस्याम् । २।४।४०।' इत्यदेर्घस्त्वम् । उपधालोपः ।
'१२३। खरि च । ८।४।५५।' इति चत्वम् । व्रणिनां शरैः कृतव्रणानां रक्तं

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'शर-बन्धो' नाम चतुर्दशः सर्गः— ३५७

बुध्यते व्रणादित्यर्थात् कर्तरि लिटः पिच्चादकित्वे गुणः । भुजश्छिन्नाः सन्तः
क्षणमात्रं चेदुल्लसिताः ॥

११०९—कृतैरपि दृढ-क्रोधो वीर-वक्रैर् न तलजे, ॥

पलायांचक्रिरे शेषा, जिहियुः शूर-मानिनः. ॥४१॥

कृतैरित्यादि—वीरवक्रैः शूरमुखैः कृतैरपि छिन्नैरपि दृढो घनः क्रोधो न
तलजे न त्यक्तः । दृष्टौष्ठुकुम्भादीनां तथावस्थानात् । कर्मणि लिट् । पला-
यांचक्रिरे पलायिताः । '२३२४। दयायासश्च ।३।१।३७।' इत्याम् । '२३२६।
उपसर्गस्यायतौ ।८।२।१९।' इति लत्वम् । शेषा ये न पलायिताः ते शूरमा-
निनः । '२९९२। मनः ।३।२।८२।' इति णिनिः । जिहियुः लज्जन्ते स्म ॥

१११०—राघवो न दयांचके, दधुर् धैर्यं न केचन, ॥

ममे पतङ्गवद् वीरैर् हाहेति च विचुकुशे. ॥ ४२ ॥

राघव इत्यादि—राघवो न दयांचके न दयां कृतवान् । पूर्ववदाम् । न
केचन न केचित् धैर्यं दधुः धारितवन्तः । सर्व एव अहमहमिकया प्रवृत्ताः ।
यदि वा न केचन केचिद्धैर्यं न दधुः अपि तु दधुरेव । पतङ्गवत्पतङ्गैरिव वीरैर्ममे
मृतम् । भावे लिट् । हाहेति च विचुकुशे रुदितम् ॥

११११—तिरोबभूवे सूर्येण, प्रापे च निशया ऽऽस्पदम्, ॥

जग्रसे काल-रात्रीव वानरान् राक्षसांश् च सा. ४३

तिर इत्यादि—सूर्येण तिरोबभूवे तिरोभूतम् । अस्तं गतमित्यर्थः । भावे
लिट् । निशया निशा च आस्पदं प्रतिष्ठाम् । '१०६१। आस्पदं प्रतिष्ठायाम्
।६।१।१४६।' इति निपातनम् । प्रापे प्राप्तम् । कर्मणि लिट् । सा च निशा
कालरात्रीव कालः कृतान्तस्तेन प्रयुक्ता रात्रिरिति श्वाकपार्थिवत्वात्सः ।
'३४४५। रात्रेश्चाजसौ ।४।१।३१।' इति ङीप् । वानरान् राक्षसांश्च जग्रसे असते
स्म । भक्षितवतीत्यर्थः ॥

१११२—चुकोपेन्द्रजिदत्युग्रं सर्पाऽस्त्रं चा ऽऽजुहाव, सः ॥

आजुहुवे तिरोभूतः परानीकं, जहास च. ॥ ४४ ॥

चुकोपेत्यादि—रामव्यापारं दृष्ट्वा इन्द्रजित् तिरोहितः सन् चुकोप कुपित-
वान्, अत्युग्रं च सर्पास्त्रं सर्पा अस्त्रमिव आजुहाव आहूतवान्, आह्वयतेः शब्दे
वर्तमानस्य '२४१७। अभ्यस्तस्य च ।६।१।३३।' इति द्विर्वचनात् प्राक् सम्प्रसारणं
ततो द्विर्वचनम् । परानीकं च रामबलं आजुहुवे स्पर्धते स्म । '२७०४। स्पर्धाया-
माङः ।१।३।३१।' इत्यात्मनेपदम् । पूर्ववत्सम्प्रसारणम् । यजादित्वाद्वा । तत
उवङादेशः । जहास च विहसितवान् ॥

१११३—बबाधे च बलं कृत्स्नं, निजग्राह च सायकैः ॥

उत्ससर्ज शरांश्, तेऽस्य सर्प-साच् च प्रपेदिरे. ४५

३५८ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

बबाध इत्यादि—बबाधे च अभिभूतवान् । 'बाध विलोडने' निजग्राह च निगृहीतवान्, सायकैः लोहयुक्तैः सर्पास्त्रैः उत्ससर्ज शरान् क्षिप्तवान्, ते उत्सृष्टाः शरा अस्य बलस्य सर्पसात् । कात्स्न्ये सातिः । संप्रेदिरे संप्रपद्यन्ते स्म ॥

१११४—आचिचाय स तैः सेनामाचिकाय च राघवौ, ॥

बभाण च, 'न मे मायां जिगायेन्द्रोऽपि, किं नृभिः'.

आचिचायेत्यादि—स इन्द्रजित् सर्पास्त्रैर्वानराणां सेनामाचिकाय छत्र-वान् । '२५२५। विभाषा चेः । ७।३।५८।' इति अकुत्वपक्षे रूपम् । राघवौ च रामलक्ष्मणावाचिकाय । कुत्वपक्षे रूपम् । बभाण च भणति स्म । मम मायामिन्द्रोऽपि न जिगाय न जितवान् । '२३३१। सँल्लिडोर्जेः । ७।३।५८।' इति कुत्वम् । किं नृभिः । न किंचित्प्रयोजनमित्यर्थः ॥

१११५—आचिक्याते च भूयो ऽपि राघवौ तेन पन्नगैः ॥

तौ मुमुहतुरुद्विग्नौ, वसुधायां च पेततुः ॥ ४७ ॥

आचिक्यात इत्यादि—तेनेन्द्रजिता भूयोऽपि राघवावाचिक्याते छत्रौ । कर्मणि लिट् । तौ पाशबद्धौ मुमुहतुः मोहं गतौ । उद्विग्नौ समीहितानिष्पत्तेः । वसुधायां च पेततुः पतितौ । बन्धपरवशीकृतत्वात् ॥

१११६—ततो रामेति चक्रन्दुस्, त्रेसुः परिदिदेविरे ॥

निशश्वसुश् च सेनान्यः, प्रोचुर धिगिति चाऽऽत्मनः.

तत इत्यादि—ततः पतनादनन्तरं सेनान्यः सुग्रीवादयः । '२७२। एरने-काचः-। ६।४।८२।' इति यण् । रामेति नामग्राहं चक्रन्दुः रुदितवन्तः, त्रेसुः भीताः परिदिदेविरे परिदेवनं कृतवन्तः । 'देवृ देवने' अनुदात्तेत् । निश-श्वसुः कोष्णं निश्वासानुत्ससृजुः, आत्मनश्च धिगिति प्रोचुः गर्हितवन्तः । धिग्योगाद्वितीया ॥

१११७—मन्युं शेकुर न ते रोद्धुं, ना ऽस्त्रं संरुद्धुः पतत्, ॥

विविदुर् नेन्द्रजिन्-मार्गं, परीयुश् च प्लवङ्गमाः. ४९

मन्युमित्यादि—मन्युं शोकं रोद्धुं वारितुं न शेकुः पारितवन्तः । अस्त्रं च लोचनेभ्यः न संरुद्धुः पतत् न संरुद्धवन्तः, इन्द्रजितो मार्गं न विविदुः न ज्ञातवन्तः, कासौ तिष्ठति इति । प्लवङ्गमाश्च परीयुः समन्ताद्गतवन्तः । कासावगमदिति ॥

१११८—दधावा ऽद्भिस् ततश्च चक्षुः सुग्रीवस्य विभीषणः ॥

विदांचकार धौताऽक्षः स रिपुं खे, ननर्द च. ॥५०॥

दधावेत्यादि—ततोऽनन्तरं विभीषणः सुग्रीवस्य मन्त्रपूताभिरद्भिश्चक्षुर्द-धाव प्रक्षालितवान्, सुग्रीवः धौताक्षः प्रक्षालितचक्षुः । '८५२। बहुग्रीहौ

तथा लक्ष्यरूपे कथानके 'शर-बन्धो' नाम चतुर्दशः सर्गः— ३५९

सङ्ख्यक्ष्णोः—१५।४।११३।' इति समासान्तष्टच् । रिपुमिन्द्रजितं स्वे स्थितं विदां-
चकार ज्ञातवान् । '२३४१। उष-विद्—१३।१।३८।' इत्यादिना आम् । ननर्द च
शब्दितवान् । केदारनीं यास्यसीति ॥

१११९—उज्जुगूरे ततः शैलं हन्तुमिन्द्रजितं कपिः ॥

विहाय रावणिस् तस्मादानंहे चाऽन्तिकं पितुः. ५१

उज्जुगूर इत्यादि—ततोऽनन्तरं कपिः सुग्रीवः इन्द्रजितं हन्तुं शैलमु-
ज्जुगूरे उत्क्षिप्तवान् । '१२२९। गूरी हिंसा-गल्योः' इति दैवादिकोऽनुदात्तेत् ।
तस्य गतौ वर्तमानस्य रूपम् । रावणिर्इन्द्रजित् विहाय अर्थाद्युद्धं विहाय तस्मा-
दाकाशात्पितुरन्तिकमात्रं गतः । '१९३३। अहि गतौ ।' '२२८८। तस्माद्बुद्ध
द्विहलः । ७।४।७१।' इति नुद ॥

११२०—आचक्षे च वृत्तान्तं, प्रजहर्ष च रावणः ॥

गाढं चोपजुगूहैनं, शिरस्युपशिशिङ्घ च. ॥ ५२ ॥

आचक्षे इत्यादि—नागपाशेन राघवौ बद्धाविति वृत्तान्तमाचक्षे
आख्यातवान्, रावणः प्रजहर्षं तुष्टवान्, एनं च रावणिं च उपजुगूह दृढमा-
श्लिष्टवान् । अत्र क्रियाफलस्याविवक्षितत्वात् तद्ध न भवति । '२३६४। ऊदुप-
धाया गोहः । ६।४।८९।' इत्यूल्वम् । शिरसि उपशिशिङ्घ आघ्रातवान् । 'शिधि
आघ्राणे ॥'

११२१—ध्वजानुहुधुबुस् तुङ्गान्, मांसं चेमुर्, जगुः, पपुः. ॥

कामयांचकिरे कान्तास्, ततस् तुष्टा निशाचराः. ॥

ध्वजानित्यादि—ततो निशाचरा अपि श्रुत्वा तुष्टाः सन्तः ध्वजांस्तुङ्गानुहु-
धुबुः उत्क्षिप्तवन्तः, मांसं चेमुः खादितवन्तः, 'चमु छमु अदने ।' जगुर्गीतवन्तः,
पपुः मद्यं पीतवन्तः, कान्ताः कामयांचकिरे । कमेर्णिङ्गन्तादाम् ॥

११२२—दर्शयांचकिरे रामं सीतां राज्ञश् च शासनात्, ॥

तस्या मिमीलतुर् नेत्रे, लुलुठे पुष्पकोदरे. ॥ ५४ ॥

दर्शयामित्यादि—तथाभूतं रामं दृष्ट्वा सीता मम विधेया स्यादित्यभिप्रा-
यवतो राज्ञो रावणस्य आज्ञया राक्षसाः अशोकवनिकातः पुष्पकमारुह्य सीतां
रामं दर्शयांचकिरे दर्शितवन्तः । 'अभिवादि-दशोरात्मनेपद् उपसंख्यानम्' इति
विकल्पेन द्विकर्मकता । तस्याः सीताया नेत्रे निमीलतुः निमीलिते । 'मील निमे
षणे ।' पुष्पकोदरे पुष्पकमध्ये । मूर्च्छया लुलुठे लुठिता ॥

११२३—प्राणा दध्वंसिरे, गात्रं तस्तम्भे च प्रिये हते, ॥

उच्छश्वास चिराद् दीना, रुरोदाऽसौ ररास च. ५५

३६० भट्टिकाव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

प्राणा इत्यादि—प्रिये रामे हते प्राणा वायवः ध्वंसिरे ध्वस्ताः, गात्रं च तस्मिन्ने काष्ठवन् निश्चलमभूत् । 'ष्टभि-स्कभि प्रतिबन्धे ।' चिरादुच्छ्वास उच्छ्वासितवती, असौ लब्धसंज्ञा दीना दुःखिता रुरोद रुदितवती, ररास च वक्ष्यमाणं च विलापं कृतवती ॥

११२४—'लौह-बन्धैर् बबन्धे नु, वज्रेण किं विनिर्ममे ॥

मनोमे, न विना रामाद् यत् पुस्फोट सहस्र-धा. ५६

लौहबन्धैरित्यादि—लोहस्येमे लौहाः तैर्बन्धैर्मनो हृदयं मम बबन्धे बद्धम् । कर्मणि लिट् । नुशब्दो वितर्के । उत वज्रेण विनिर्ममे निर्मितम् '११६३। माङ् माने' इत्यस्मात्कर्मणि लिट् । आतो लोपस्य '२२४३। द्विर्व-चनेऽचि १११५९।' इति स्थानिवद्भावात् द्विर्वचने ह्रस्वे च रूपम् । यद्यस्मात् विना रामात् रामेण विना । '६०३। पृथग्विना-१२।३।३२।' इति पञ्चमी । न पुस्फोट न स्फुटितं सहस्रधा । '११८८। संख्याया विधार्थे धा १।३।४२ ॥'

११२५—उत्तेरिथ समुद्रं त्वं मर्दथे, ऽरीन् जिहिंसिथ, ॥

ममर्थ चाऽतिघोरां मां धिक् जीवित-लघूकृताम्. ॥५७॥

उत्तेरिथेत्यादि—मर्दथे मन्त्रिमितं समुद्रमुत्तेरिथ उत्तीर्णोऽसि '२३०१। वृ-फल-१६।४।१२२।' इत्यादिना एत्वाभ्यासलोपौ । तथा अरीन् जिहिंसिथ निह-तवानसि । थलि रूपम् । यतो मर्दथे ममर्थ मरणावस्थां गतोऽसि । अतोऽति-घोरामतिरौद्रां मां धिक् जीवितलघूकृतां जीवत्याजितमहत्वात् ॥

११२६—न जिजीवा ऽसुखी तातः प्राणता रहितस् त्वया, ॥

मृतेऽपि त्वयि जीवन्त्या किं मया ऽणकभार्यया.' ५८

न जिजीवेत्यादि—त्वया प्राणता जीवता । '११४४। अन प्राणने' । रहितो विमुक्तस्तातो दशरथो न जिजीव न जीवितः । त्वयि मृते ऽपि जीवन्त्या मया न किञ्चित्प्रयोजनम् । अणकभार्यया । '७३४। पापाणके-१२।१।५४।' इति सः ॥

११२७—सा जुगुप्सान् प्रचक्रे ऽसून्, जगर्हे लक्षणानि च ॥

देहभाञ्जि, ततः केशान् लुलुञ्च, लुलुठे मुहुः. ॥५९॥

सा जुगुप्सानित्यादि—सा सीता पूर्वोक्तकारणादेव असून् प्राणान् जुगु-प्सान् प्रचक्रे निन्दितान् कृतवती । जुगुप्स्यन्त इति घञ् । तदन्तस्य सनि रूपम् । आभि प्रत्यये तु प्रचक्र इत्यनुप्रयोगो न घटते । देहभाञ्जि शरीरस्थानि लक्षणानि अवैधव्यसूचकानि च जगर्हे-गर्हते स्म । 'गर्ह-गल्भ कुत्सने ।' मुहुः केशान् लुलुञ्च अपनीतवती, तथा लुलुठे पतितः ॥

११२८—जग्लौ, दध्यौ, वितस्तान, क्षणं प्राण न, विव्यथे, ॥
दैवं निनिन्द, चक्रन्द, देहे चाऽतीव मन्युना ॥६०॥

जगलावित्यादि—शोकभारात् जग्लौ ग्लानिं गता, दध्यौ ध्यातवती, पुनः किं मया द्रष्टव्योऽसीति । वितस्तान पीडया शब्दं कृतवती । '२००२। स्तन शब्दे' । न प्राण न मूर्च्छिता । न जिजीव निःसंज्ञत्वात् । '११४४। अन प्राणने' । '२२४८। अत आदेः । ७।४।७०।' इति दीर्घत्वम् । विव्यथे लब्धसंज्ञा पीडिता । '२३५३। व्यथो लिटि । ७।४।६८।' इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम् । दैवं निनिन्द निन्दितवती हे दैव ! विरूपमाचरितं त्वयेति । चक्रन्द रुदिता । पुनर्मन्युना शोकेन देहे दग्धा । कर्मणि लिट् ॥

११२९—आश्वासयांचकाराऽथ त्रिजटा तां, निनाय च, ॥
ततः प्रजागरांचक्रु वानराः स-विभीषणाः ॥६१॥

आश्वासयामित्यादि—अथानन्तरं त्रिजटा रावणभगिनी तां सीतामाश्वासयांचकार आश्वासितवती । विष्णुरसौ दाशरथिः कथमस्य विरूपं भविष्यतीति । निनाय च तस्मात्पुष्पाक्षीतवती, तत उत्तरकालं वानरा विभीषणेन सह प्रजागरांचक्रुः आलोचनां कृतवन्तः । अत्रानुप्रयोगे नात्मनेपदं पूर्वस्थानात्मनेपदित्वात् ॥

११३०—चिचेत रागस् तत् कृच्छ्रमोषांचक्रे शुचाऽथ सः, ॥
मन्युश्चाऽस्य समापिष्ये, विरुराव च लक्ष्मणम् ॥६२॥

चिचेतेत्यादि—तत् कृच्छ्रं शरबन्धदुःखं रामश्चिचेत ज्ञातवान् । 'चित्ती संज्ञने' इत्युदात्तेत् । शुचा शोकेन ओषांचक्रे । कर्मणि लिट् । '२३४१। उषविद-।३।१।३८।' इत्याम् । स च मन्युः शोकः अस्य रामस्य समापिष्ये वृद्धिं गतः । 'ओष्यायी वृद्धौ ।' तस्य लिटि '३०७२। प्यायः पी । ६।१।२८।' इति पीभावः । 'एरनेकाचः । ६।४।८२।' इति यण् । लक्ष्मणं च विरुराव शब्दितवान् वत्स ! जीवसीति ॥

११३१—समीहे मर्तुर्मानर्चे तेन वाचाऽखिलं बलम्, ॥

आपृच्छे च सुग्रीवं स्वं देशं विससर्ज च ॥६३॥

समीह इत्यादि—मर्तुं प्राणांस्त्यक्तुं समीहे इच्छति स्म । तेन रामेणाखिलं समस्तं बलं वाचा आनर्चे पूजितम् भवद्भिः साध्वनुष्ठितं अस्मद्भाग्यमत्रापराध्यतीति । कर्मणि लिट् । '२२८८। तस्मान्नुद् द्विहलः । ७।४।७१।' इति नुद् । सुग्रीवं चापृच्छे आपृच्छति स्म । आमन्त्रितवानित्यर्थः । एहि तावदर्शनं मे देहि परिष्वजस्वेति । 'आङि नुप्रच्छथोरूपसंख्यानम्' इति तङ् । स्वं च देशं किष्किन्धां विससर्ज प्रहितवान् ॥

३६२ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

११३२—आदिदेश स किष्किन्धां राघवौ नेतुमङ्गदम्, ॥

प्रतिजज्ञे स्वयं चैव सुग्रीवो रक्षसां वधम्. ॥ ६४ ॥

आदिदेशेत्यादि—सुग्रीवो राघवौ किष्किन्धां नेतुमङ्गदमादिदेश, स्वयं च रक्षसां विनाशं प्रतिजज्ञे अहमेव व्यापादयामीति । ‘२७१९। संप्रतिभ्याम्-११।३।४६।’ इति तङ् । सकर्मकार्थं वचनम् ॥

११३३—‘नागाऽस्त्रमिदमेतस्य विपक्षम् ताक्ष्य-संस्मृतिः’ ॥

विभीषणादिति श्रुत्वा तं निदध्यौ रघूत्तमः. ॥ ६५ ॥

नागास्त्रमित्यादि—नागास्त्रमिदं न शराः, एतस्य च विपक्षः शत्रुस्ताक्ष्य-संस्मृतिः गरुडसंस्मरणं यत्संस्मरणादेवास्त्र शान्तिरिति । एवं विभीषणाच्छ्रुत्वा रघूत्तमो राघवस्ताक्ष्यं दध्यौ ध्यातवान् ॥

११३४—ततो विजघटे शैलैरुद्वेलं पुषुवे ऽम्बुधिः ॥

वृक्षेभ्यश्च चुच्युते पुष्पैर्, विरेजुर्भासुरा दिशः ६६

तत इत्यादि—ततो ध्यानानन्तरं तदागमनवायुवेगाच्छैलैर्विजघटे विध-दितम् । भावे लिट् । अम्बुधिरुद्वेलं वेलाभतिक्रम्य पुषुवे गतः, वृक्षेभ्यः सका-शात् पुष्पैश्चुच्युते च्युतम्, दिशश्च भासुराः सुपर्णपक्षप्रभाभिः प्रभासनशीलाः सत्यो विरेजुः शोभन्ते स्म । ‘२३५४। फणां च सप्तानाम् । ६।४।१२५।’ इत्येत्व-पक्षे रूपम् । तत्र वेत्यनुवर्तते ॥

११३५—जगाहिरे ऽम्बुधिं नागा, ववौ वायुर् मनो-रमः ॥

तेजांसि शंशमांचक्रुः, शर-बन्धा विशिश्लिषुः. ॥ ६७ ॥

जगाहिरे इत्यादि—नागा भयादम्बुधिं जगाहिरे प्रविष्टाः, वायुस्तत्प्रभवो ववौ वाति स्म, तेजांसि रत्नादीनां शंशमांचक्रुः अत्यर्थं प्रशान्ताति । शमेर्यञ्जु-गन्तस्य रूपम् । एवं च कृत्वा अनुप्रयोगे परस्मैपदम् । शरबन्धा विशिश्लिषु-र्विश्लिष्टाः दूरत एव तत्प्रभावात् ॥

११३६—भ्रेजिरे ऽक्षत-वद् योधा, लेभे संज्ञां च लक्ष्मणः, ॥

विभीषणो ऽपि बभ्राजे, गरुत्मान् प्राप चा ऽन्तिकम् ॥

भ्रेजिर इत्यादि—अक्षतवद् अक्षता इव योधा भ्रेजिरे दीप्यन्ते स्म । ‘२३५४। फणां च सप्तानाम् । ६।४।१२५।’ इत्येत्वपक्षे रूपम् । संज्ञां चेतनां लक्ष्मणो लेभे प्राप्तवान्, विभीषणोऽपि बभ्राजे संपन्ना मे मनोरथा इति । अनेत्वपक्षे रूपम् । अन्तिकं च रामलक्ष्मणयोरुत्तमान् प्राप । गरुतः पक्षिण-स्तेऽनुजीवितयास्य सन्तीति मतुप् । यवादेराकृतिगणत्वात् ‘१८९८। झयः । ८।२।१०।’ इति बत्त्वं न भवति ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'शर-बन्धो' नाम चतुर्दशः सर्गः— ३६३

११३७—संपस्पर्शा ऽथ काकुत्स्थौ, जज्ञाते तौ गत-व्यथौ ॥
तयोरात्मानमाचख्यौ, ययौ चा ऽथ यथा-गतम्. ६९

संपस्पर्शेत्यादि—अनन्तरं गरुत्मान् काकुत्स्थौ राघवौ संपस्पर्शं स्पृष्टवान्,
तौ च स्पृष्टौ गतव्यथौ जज्ञाते जातौ, तयोः काकुत्स्थयोरात्मानमाचख्यौ गरु-
त्मानहमिति कथितवान् । '२४३७। वा लिटि । २। ४। ५। ५।' इति चक्षिडः ख्याज् ।
ययौ चापि यथागतं यथा तेनागतं तथा गतवान् ॥

११३८—स्वेनुस्, तित्विषुरुद्येमुर्मुच्यन्तुः पर्वतांस् तरुन्, ॥
वानरा दद्रमुश् चा ऽथ संग्रामं चाऽऽशशशिरे. ७०

स्वेनुरित्यादि—अथानन्तरं वानराः हृष्टाः स्वेनुः शब्दितवन्तः, तित्विषुः,
शोभिताः, 'त्विष दीप्तौ ।' उद्येमुः उद्योगं चक्रुः, पर्वतानुच्यन्तुः उत्क्षिप्तवन्तः,
दद्रमुः इतस्ततो भ्रान्ताः । 'द्रम हंम मीमृ गतौ ।' संग्रामं च आशशशिरे
अभीष्टवन्तः । 'आडः शासु इच्छायाम्' आदादिकोऽनुदात्तेत् ॥

११३९—डुढौकिरे पुनर् लङ्कां, बुबुधे तान् दशाननः ॥

जीवतश् च विवेदा ऽरीन्, बभ्रंशेऽसौ धृतेस्ततः. ७१

डुढौकिर इत्यादि—पुनर्भूयो लङ्कां डुढौकिरे जग्मुः, तान् वानरान्
दौकितान् दशाननो बुबुधे बुद्धवान्, जीवतश्चारीन् रामादीन् विवेद ज्ञातवान् ।
अन्यथा कथं वानरा दौकिताः । ततश्च धृतेः सकाशाद्बभ्रंशे अष्टः ॥

११४०—सस्रंसे शर-बन्धेन दिव्येनैति बुबुन्द सः, ॥

बभाजा ऽथ परं मोहमूहांचक्रे जयं न च. ॥७२॥

सस्रंस इत्यादि—दिव्येन शरबन्धेन सस्रंसे स्रस्तम् । भावे लिट् । इत्येवं
दशाननो बुबुन्द श्रुतवान् । 'बुदि निशामने ।' अथानन्तरं महामोहं मूर्च्छा-
कारं बभाज सेवते स्म । न जयमूहांचक्रे वितर्कितवान् ॥

११४१—धूम्राक्षो ऽथ प्रतिष्ठासांचक्रे रावण-संमतः ॥

सिंहाऽऽस्यैर् युयुजे तस्य वृकाऽऽस्यैश् च रथः खगैः. ॥

धूम्राक्ष इत्यादि—अथ धूम्राक्षो रावणसंमतो रावणेनानुज्ञातः सन् ।
भूते निष्ठात्र द्रष्टव्या । प्रतिष्ठासांचक्रे गन्तुमिच्छां कृतवान् । प्रपूर्वात्तिष्ठतेः
'२६८९। समवप्रविन्यः स्थः । १। १। १२।' इति तङ् । '२२७०। उपसर्गात्
। ८। ३। ६। ५।' इत्यादिना षत्वम् । तस्य च गन्तुमिच्छतो रथः खगैः आकाशगामि-
भिर्यानैः सिंहमुखैर्बृकमुखैश्च युयुजे युक्तः । कर्मणि लिट् ॥

११४२—त्वक्-त्रैः संविव्ययुर्देहान्, वाहनान्यधिशिशिरे, ॥

आनर्जुर् नृ-भुजोऽस्त्राणि, ववञ्चुश् चाऽऽहव-क्षितिम्.

३६४ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

त्वक्त्रैरित्यादि—धूम्राक्षसंबन्धिनो नृमुजो राक्षसाः त्वक्त्रैः सञ्चाहैः । त्वचं त्रायन्त इति देहान् संविध्ययुः छादितवन्तः । '१०६५। व्येज् संवरणे' इत्यस्य । '२४१६। न व्यो लिटि । ६।१।४६।' इत्यात्वप्रतिषेधः । '२४०८। लिट्यभ्यासस्योभ-येषाम् । ६।१।१७।' इति सम्प्रसारणम् । बाह्वान्यधिशिदियरे आरूढवन्तः । '२७२। एरनेकाचः । ६।४।८२।' इति यण् । '५४२। अधिशिङ्—१।४।४६।' इति कर्मसंज्ञा । अस्त्राण्यानर्जुः गृहीतवन्तः । 'अर्जं प्रतियत्ते ।' '२२४७। अत आदेः । ७।४।७०।' इति दीर्घः । '२२८८। तस्माद्युङ् द्विहलः । ७।४।७१।' आनर्जुः इति पाठान्तरम् । पूजितवन्तः । आहवक्षितिं च रणभूमिं ववञ्चुर्गताः । 'वञ्चु गतौ' ॥

११४३—अध्युवास रथं, तेये पुराच्, चुक्षाव चा ऽशुभम्, ॥
संश्रावयांचकारा ऽऽख्यां धूम्राक्षस् तत्त्वरे तथा. ७५

अध्युवासेत्यादि—धूम्राक्षो रथमध्युवास आरूढः । '५५४। उपान्वध्याङ् वसः । १।४।४८।' इति कर्मसंज्ञा । पुरात् लङ्कातः तेये निष्क्रान्तः । 'अय पय तय' इत्यादिषु तयिरनुदात्तेत् । चुक्षाव च शब्दं कृतवान्, अशुभं भयानकम् । 'क्षु शब्दे ।' आख्यां आत्मीयं नाम संश्रावयांचकार श्रावितवान्, तथा तत्त्वरे त्वरते स्म युद्धाय ॥

११४४—निलिल्ये मूर्ध्नि गृध्रोऽस्य, क्रूरा ध्वाङ्गा ववाशिरे, ॥
शिशिके शोणितं व्योम, चचाल क्षमा-तलं तथा. ७६

निलिल्य इत्यादि—अस्य धूम्राक्षस्य गच्छतो मूर्ध्नि गृध्रो निलिल्ये निलीनः । '२७२। एरनेकाचः—६।४।८२।' इति यण् । ध्वाङ्गाः क्रूराः अशुभशंसिनः ववाशिरे वाशन्ते स्म । व्योम कर्तुं शोणितं शिशिके क्षरितवत् । 'शीकृ सेचने' इत्यनुदात्तेत् । तथा क्षमातलं पृथ्वीतलं चचाल चलितम् ॥

११४५—ततः प्रजघटे युद्धं, शस्त्राण्यासुः परस्परम्, ॥

वव्रश्चुराजुघूर्णुश, च स्येमुश, चुकूदिरे तथा. ७७

तत इत्यादि—ततो निमित्तादनन्तरं युद्धं प्रजघटे घटितम्, ते हरिराक्षसाः वक्ष्यमाणाः शस्त्राण्यासुः क्षिप्तवन्तः, परस्परं वव्रश्चुः छिन्नवन्तः, आजुघूर्णुः चक्रवद्भ्रान्ताः । घूर्णतिरनुदात्तेत् । स्येमुः शब्दं कृतवन्तः । स्यमेः फणादित्वा-देत्वम् । चुकूदिरे क्रीडितवन्तः ॥

११४६—रुरुजुर्, भ्रेजिरे, फेणुर्, बहुधा हरि-राक्षसाः, ॥

वीरा न विभयांचक्रुर्, भीषयांचक्रिरे परान्. ॥७८॥

रुरुजुरित्यादि—रुरुजुर्मग्नवन्तः, भ्रेजिरे शोभिताः, बहुधा बहुप्रकारं फेणु-र्गताः 'फण गतौ ।' वीराः सात्त्विका न विभयांचक्रुः न विभयति स्म । '२४९१ । भी-ह्री-भृ-हुवां श्लुवच्च । ३।१।३९।' इत्याम् । विभेतेः परस्मैपदित्वात् अनुप्रयोगे

परस्मैपदम् । परान् शत्रून् शौर्यगुणयुक्ताः प्रयोजकाः भीषयांचक्रिरे भीषयन्ते स्म । अत्र '२५९४। भी-स्मयोर्हेतुभये । १।३।६८।' इति तद् अनुप्रयोगेऽपि ॥

११४७—रक्तं प्रचुश्रुतुः क्षुण्णाः, शिथ्वियुर् वाण-विक्षताः, ॥

अस्यतां शुश्रुवुर् वाणान् भुजाः साऽङ्गुष्ठ-मुष्टयः. ७९

रक्तमित्यादि—केचित् क्षुण्णाः खण्डिताः सन्तो रक्तं प्रचुश्रुतुः प्रक्षरिताः, केचित् शिथ्वियुः । '२४२०। विभाषा श्वेः । ६।१।३०।' इत्यसम्प्रसारणपक्षे रूपम् । वाणानस्यतां क्षिप्यतां योधानां भुजाः साङ्गुष्ठमुष्टय अङ्गुष्ठमुष्टिसहिताः शरविक्षताः शरभिन्नाः शुश्रुवुः गताः । गत्यर्थे द्रष्टव्यम् । सम्प्रसारणपक्षे रूपम् ॥

११४८—रणे चिक्रीड धूम्राक्षस्, तं ततर्जाऽनिलाऽऽत्मजः, ॥

आददे च शिलां, साऽश्वं पिपेषाऽस्य रथं तथा. ८०

रण इत्यादि—धूम्राक्षो रणे चिक्रीड क्रीडति स्म, तमनिलात्मजो हनूमान् ततर्जं भस्मितवान्, शिलामाददे च गृहीतवान्, तथा शिलया अस्य धूम्राक्षस्य साश्वं रथं पिपेष चूर्णितवान् ॥

११४९—पपात राक्षसो भूमौ, रराट च भयंकरम्, ॥

तुतोद गदया चाऽरिं, तं दुध्रावा ऽद्रिणा कपिः. ॥

पपातेत्यादि—राक्षसो धूम्राक्षो भूमौ पपात, पतितः सन् भयंकरं रराट रदितवान्, ततोऽरिं हनूमन्तं गदया तुतोद आहतवान्, तं राक्षसं स कपिः अद्रिणा दुध्राव व्यापादितवान् ॥

११५०—अकम्पनस् ततो योद्धुं चकमे रावणाऽज्ञया, ॥

स रथेना ऽभिदुद्राव, जुघुरे चाऽतिभैरवम्. ॥८२॥

अकम्पन इत्यादि—ततो धूम्राक्षविनाशानन्तरं अकम्पनो राक्षसः रावणा-ऽज्ञया युध्यस्वेति योद्धुं चमके इष्टवान् । '२३०५। आयादय आर्धधातुके वा । ३।१।३१।' इति णिङभावपक्षे रूपम् । सो ऽकम्पनः रथेनाभिदुद्राव अभिमुखं गतः, च शब्दं कृतवान्, अतिभैरवं अतिभयानकम् । जुघुरे । 'घुर भीमार्थशब्दयोः' इत्यनुदात्तेत् ॥

११५१—पस्पन्दे तस्य वामाऽक्षि,

सस्यमुश् चाऽशिवाः खगाः, ॥

तान् वज्राजा ऽवमत्या ऽसौ,

वभासे च रणे शरैः. ॥८३॥

पस्पन्द इत्यादि—तस्याकम्पनस्यानिमित्तत्वसूचकं वामाक्षि पस्पन्दे स्पन्दि-तम्, अशिवाश्च अशिवसूचकाः खगाः सस्यमुः शब्दं कृतवन्तः । अनेत्वपक्षे रूपम् । तान् खगान् अवमत्यावज्ञायासौ वज्राज गतः, रणे शरैश्च वभासे शोभितम् ॥

३६६ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

११५२—खमूयुर्, वसुधामूवुः सायका रज्जु-वत् तताः ॥

तस्माद् बलैरपत्रेपे, पुप्रोथा ऽस्मै न कश्चन. ॥८४॥

खमित्यादि—तेन सायका रज्जुवत्तता विस्तृताः सन्तः खमाकाशमूयुरावृ-
तवन्तः । वसुधां च ऊवुदृष्टादितवन्तः । '१०७५। वेजू तन्तुसन्ताने' तस्य लिटि
वहिरादेशः । '२४१४। वश्वास्यान्यतरस्याम्-।६।१।३९।' इति यकारस्य वकारा-
देशः । तस्मादिति तमकम्पनं वीक्ष्य । व्यञ्जलोपे पञ्चमी । त्रेपे लज्जितम् । भावे
लिट् । '२३७१। वृ-फल-।६।१।१२२।' इत्यादिना एत्वाभ्यासलोपौ । अस्मै अक-
म्पनाय न कश्चित् पुप्रोथ न प्रभवति स्म । '९२६। प्रोथृ पर्याप्तौ' इति स्वरितेत् ।
अत्र कर्तुः क्रियाफलायोगान्नात्मनेपदम् । '५८२। नमःस्वस्ति-।२।३।१६। इत्यत्र
अलंशब्दस्य पर्याप्त्यर्थग्रहणात् तदर्थयोगे चतुर्थी ॥

११५३—स भस्म-साच्च चकाराऽरीन्,

दुदाव च कृतान्त-वत्, ॥

चुक्रोध मारुतिस्, ताल-

मुच्चखे च महा-शिखम्. ॥ ८५ ॥

स भस्मसादित्यादि—सोऽकम्पनः अरीन् भस्मसाच्चकार कात्कर्त्त्येन भस्म-
भूतान् कृतवान् । यम इव दुदाव सुष्ठु पीडितवान् । 'दुदु उपतापे ।' तं दृष्ट्वा
मारुतिश्चुक्रोध क्रुद्धः । तालं च वृक्षं महाशिखमत्युच्छ्रायं उच्चखे उत्खातवान् ।
अत्र क्रियाफलयोगात् तद्ध ॥

११५४—यमाया ऽकम्पनं तेन निरुवाप महा-पशुम्, ॥

बभ्रज्ज निहते तस्मिन् शोको रावणर्मग्निवत्. ॥८६॥

यमायेत्यादि—तेन तालेन स चाकम्पनं महापशुमिव यमाय निरुवाप
दत्तवान् । निष्पूर्वो वपिर्दाने वर्तते । तत्र धातोर्यजादित्वात् सम्प्रसारणं न भवति
अकित्वात् । अभ्यासस्य लिटि भवत्येव । तस्मिन्निहते शोको ऽग्निरिव रावणं
बभ्रज्ज दग्धवान् ॥

११५५—स बिभ्रेष, प्रचुक्षोद, दन्तैरोष्ठं चखाद च, ॥

प्रगोपायांचकारा ऽऽशु यत्नेन परितः पुरम्. ॥८७॥

स बिभ्रेषेत्यादि—स राजा बिभ्रेष चलितः । 'भ्रेषृ चलने' स्वरितेत् । प्रचु-
क्षोद क्रोधाहोष्टादीन् चूर्णितवान् । ओष्ठं च दन्तैश्चखाद दृष्टवान् । पुरं लङ्कां
समन्तात् यत्नेन प्रगोपायांचकार रक्षितवान् । '४२३। गुप् रक्षणे' इत्युदात्तेत् ।
आयप्रत्ययान्तत्वादात् ॥

युग्मम्—

११५६—प्रहस्तमर्थयांचके योद्धुमद्भुत-विक्रमम्. ॥

‘किं विचारेण, राजेन्द्र ! युद्धार्था वयमित्यसौ’ ८८

प्रहस्तमित्यादि—अद्भुतविक्रमं प्रहस्तं रावणो योद्धुं ‘युध्यस्व’ इत्यर्थयांचके प्रार्थितवान् । ‘२०५१। अर्थ उपयाज्यायाम्’ इति चौरादिक आत्मनेपदी । वचनात् असौ प्रहस्तः प्रार्थितश्चक्राण बभाणेति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । हे राजेन्द्र ! युद्धार्था वयं युद्धप्रयोजनाः ततश्च किं विचारेणेति ॥

११५७—चक्राणा ऽशङ्कितो योद्धुमुत्सेहे च महारथः, ॥

निर्येमिरे ऽस्य योद्धारश्, चकूपे चाऽश्व-कुञ्जरम्. ८९

चक्राणेत्यादि—उक्त्वा च स महारथो योद्धा अशङ्कितो निर्भयः सन् योद्धु-मुत्सेहे उत्साहं कृतवान् । अस्य योद्धारो रावणेन निर्येमिरे नियमिताः । अनेन सह एतावद्विर्योद्धव्यमिति । कर्मणि लिट् । अश्वकुञ्जरं चकूपे सजीकृतम् । पशु-द्वन्द्वैकवद्भावः । ‘२३५०। कृपो रो लः । ८। २। १८।’ ॥

११५८—युयुजुः स्यन्दनानश्वैरीजुर् देवान् पुरोहिताः ॥

आनर्चुर् ब्राह्मणान् सम्यगाशिषश् चाऽऽशशंसिरे. ९०

युयुजुरित्यादि—स्यन्दनान् रथान् अश्वैर्युयुजुः युञ्जन्ति स्म । पुरोहिताः देवानीजुः पूजितवन्तः । यजादिस्वात्सम्प्रसारणम् । ब्राह्मणानानर्चुः पूजितवन्तः । ते च पूजिता आशिषः आशशंसिरे उदितवन्तः । ‘१०९१। आळः शासु इच्छा-याम्’ अनुदात्तेत् । शास इत्वे आङ् । ‘शासोः क्रावुपसङ्ख्यानम्’ इत्याशीः ॥

११५९—ऊहिरे मूर्ध्नि सिद्धार्था, गावश् चाऽऽलेभिरे भटैः, ॥

प्रचक्ष्णुवुर् महा ऽस्त्राणि, जिज्ञासांचकिरे हयान्. ९१

ऊहिर इत्यादि—भटैर्योधैः सिद्धार्थाः सर्षपाः मूर्ध्नि ऊहिरे ऊढाः । गाव-श्चालेभिरे स्पृष्टाः कर्मणि लिट् । महास्त्राणि प्रचक्ष्णुवुः तेजितवन्तः । यथा तैर्योद्धुं पार्यत इति । ‘१११०। क्ष्णु तेजने’ । भटाः हयान् जिज्ञासांचकिरे ज्ञातुमिच्छां कृतवन्तः किमेते योद्धुं क्षमा नेति । ‘२७३१। ज्ञा-श्रु-स्मृ-दृशां सनः । १। १३। ५७।’ इत्यात्मनेपदिवादानुप्रयोगेऽपि तद् ॥

युग्मम्—

११६०—ललुः खड्गान्, ममार्जुश् च ममृजुश् च परश्वधान् ॥

‘अलंचके, समालेभे ववसे, बुभुजे, पपे, ॥ ९२ ॥

ललुरित्यादि—खड्गान् ललुर्गृहीतवन्तः । ‘११३२। ला आदाने ।’ ममा-र्जुश् विशुद्धान् कृतवन्तः । तथा परश्वधान् ममृजुः परशून् शोषितवन्तः । मृजेरजादौ संक्रमे विभाषा वृद्धिः । योद्धुभिर्वक्ष्यमाणैः अलंचके अलंकृतम् ।

३६८ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

समालम्बे समालम्बम् । ववसे आच्छादितम् । '१०९२ । वस आच्छादने ।'
बुभुजे भुक्तम् । पपे पीतम् । भावे लिट् ॥

११६१—जहसे च क्षणं, यानैर् निर्जग्मे योद्धृभिस् ततः ॥

विप्रान् प्रहस्त आनर्च, जुहाव च विभावसुम्. ९३

जहस इत्यादि—क्षणं जहसे हसितम् । यानैः करणभूतैः निर्जग्मे निर्ग-
तम् । ततः प्रहस्तः विप्रान् गोसुवर्णादिदानेन आनर्च पूजितवान् । विभावसुं
चाग्निं आज्यादिना जुहाव प्रीणितवान् ॥

११६२—संवर्गयांचकारा ऽऽसान्, चन्दनेन लिलेप च, ॥

चचाम मधु मार्वीकं, त्वक्-त्रं चाऽऽचकचे वरम्. ९४

संवर्गयामित्यादि—आसान् विश्वासिनः संवर्गयांचकार कटकदिप्रदानेन
संवर्गितवान् । संवर्गं करोतीति ण्यन्तस्य रूपम् । चन्दनेन लिलेप समालम्ब-
वान् । मृद्धीका द्राक्षा तस्या विकारः मार्वीकं मधु चचाम । त्वक्त्रं च सन्नहनं
वरं श्रेष्ठं आचकचे बद्धवान् । '१७७ । कड बन्धने' इत्यनुदात्तेत् ॥

११६३—उष्णीषं मुमुचे चारु, रथं, च जुजुषे शुभम्, ॥

आललम्बे महाऽस्त्राणि, गन्तुं प्रववृते ततः. ॥ ९५ ॥

उष्णीषमित्यादि—उष्णीषं शिरस्त्राणं मुमुचे । रथं च जुजुषे । जुषिरनु-
दात्तेत् । महास्त्राणि आललम्बे गृहीतवान् । '४०३ । लवि अवसंसने' इत्यनुदा-
त्तेत् । तत उत्तरकालं गन्तुं प्रववृते प्रवृत्तः ॥

११६४—आजघ्नुस् तूर्य-जातानि, तुष्टुवुश् चा ऽनुजीविनः, ॥

रजः प्रववृधे घोरं, घोषश् च व्यानशे दिशः. ॥ ९६ ॥

आजघ्नुरित्यादि—तूर्यजातानि वाद्यसमूहान् आजघ्नुः ताडितवन्तः । तन्नि-
युक्ता इत्यर्थात् । '२६९५ । आढो यमहनः । १।३।२७।' इति तद् न भवति सक-
मेकत्वात् । अनुजीविनश्च तुष्टुवुः । 'जय जीव' इति स्तुवन्ति स्म । पदक्षोभाद्-
घोरं रजः प्रववृधे वर्धते स्म । घोषश्च कलकलशब्दः दिशो व्यानशे व्यासवान् ॥

११६५—तं यान्तं दुद्रुवुर् गृध्राः, क्रव्यादश् च सिषेविरे ॥

आववुर् वायवो घोराः, खार्दुल्काश् च प्रचक्षरुः. ९७

तं यान्तमित्यादि—तं प्रहस्तं गृध्राः यान्तं अशुभसूचकाः दुद्रुवुर्गतवन्तः,
क्रव्यादश्च शृगालाः सिषेविरे सेवितवन्तः, वायवो घोराः पांशुग्राहिणः आववुः
समन्ताद्गान्ति स्म, उल्काश्च तदा तस्मिन् काले प्रचक्षरुः पतिताः । '९०८ । क्षर
संचलने' इत्यकर्मकः ॥

११६६—सस्यन्दे शोणितं व्योम, रणाऽङ्गानि प्रजज्वलुः, ॥

रथाः प्रचस्वलुः साऽश्वा, न, ररंहाऽ-श्वकुञ्जरम्. ९८

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'शर-बन्धो' नाम चतुर्दशः सर्गः— ३६९

सस्यन्द इत्यादि—व्योम कर्तुं शोणितं सस्यन्दे सिञ्चति स्म । स्यन्दिः
सकर्मकः । रणाङ्गानि खङ्गादीनि जज्वलुः ज्वलन्ति स्म । साश्वाः सहायैः रथाः
प्रचस्वलुः स्वलन्ति स्म । अश्वकुञ्जरं न ररंह न गतम् ॥

११६७—प्रतोदा जगलुर्, वाममानञ्चुर यज्ञिया मृगाः ॥

ददाल भूः, पुपूरे द्यौः, कपीनामपि निःस्वनैः ॥९९॥

प्रतोदा इत्यादि—प्रतोदाः जगलुः हस्तेभ्यो गलिताः । '५८७। गल अदने'
अनेकार्थत्वात्पतनेऽपि । मृगाः यज्ञियाः यज्ञार्हाः कृष्णसाराः । '१७३। यज्ञ-
त्विग्भ्यां घ-खजौ । ५। १। ७। १।' । वाममङ्गमानञ्चुः गतवन्तः । '२२४८। अत आदेः ।
७। १। ७०।' इति दीर्घः । '२२८८। तस्माद्युद्ध द्विहलः । ७। ४। ७। १।' भूर्ददाल विदीर्णा ।
जज्वालेति पाठान्तरं चचालेत्यर्थः । कपिनिःस्वनैर्द्यौराकाशं पुपूरे पूर्णम् । दिवः
पूरणनिमित्तं यतः कपयो हर्षात्तद्विनाशसूचका एवमाचरन्ति ॥

११६८—मिमेह रक्तं हस्त्यश्वं, राक्षसाश् च नितिष्ठिबुः, ॥

ततः शुशुभतुः सेने, निर्दयं च प्रजहतुः ॥ १०० ॥

मिमेहेत्यादि—हस्त्यश्वं कर्तुं रक्तं मिमेह मूत्रितवदित्यर्थः । '१०६१। मिह
सेचने ।' राक्षसाश्च स्वरक्तं नितिष्ठिबुः निरस्तवन्तः । ततो दुर्निमित्तादनन्तरं ते
सेने सन्नद्धे शुशुभतुः शोभितवत्यौ । निर्दयं प्रजहतुः प्रहतवत्यौ ॥

११६९—दिद्विषुर्, दुद्युवुश्, चच्छुश्,

चक्कुमुः, सुषुपुर्, हताः ॥

चखादिरे चखादुश् च,

विलेपुश् च रणे भटाः ॥ १०१ ॥

दिद्विषुरित्यादि—रणे भटाः दिद्विषुः परस्परं द्विष्टवन्तः । '१०८२। द्विष
अप्रीतौ ।' दुद्युवुः अभिमुखं गतवन्तः । '१११३ । द्यु अभिगमने ।' चच्छुः
छिन्नवन्तः । '१२२१। छो छेदने ।' हताश्चक्कुमुः मूर्च्छां गतवन्तः । सुषुपुः भूमौ
पतिताः । वज्यादिना सम्प्रसारणम् । चखादिरे खादिताः । कर्मणि लिट् ।
चखादुः खादितवन्तः । विलेपुश् विलापं कृतवन्तः । '२२६०। अत एकहल्-
। ६। ४। १२०।' इत्येत्वम् ॥

११७०—प्रहस्तस्य पुरो-मात्यान् जिहिंसुर्, दधृषुस् तथा ॥

वानराः, कर्म सेनानी रक्षसां चक्षमे न तत् ॥ १०२ ॥

प्रहस्तस्येत्यादि—अमात्यान् सचिवान् प्रहस्तस्य पुरोऽग्रतः वानरा जिहिं-
सुर्हतवन्तः । तथा दधृषुः परिभूतवन्तः । '१३०५। जिघृषा प्रागल्भ्ये' । तच्च
कर्म वानरैर्यत्कृतं रक्षसां सेनानीः प्रहस्तः न चक्षमे स्म ॥

३७० भट्टिकाव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमो वर्गः,

११७१—ऊर्णनाव स शस्त्रौघैर् वानराणामनीकिनीम्, ॥

शशास च बहून्, योधान्, जीवितेन विवेच च, ॥

ऊर्णनावेत्यादि—स सेनानीर्वानराणामनीकिनीः सेनाः शस्त्रैरूर्णनाव छादितवान् । ऊर्णतेर्णुवद्भावादिजादेरित्याम् न भवति । शशास च योधान् । '७७७। शसु हिंसायाम् ।' जीवितेन च विवेच पृथक् कृतवान् । '१५३६। विचिद् पृथग्भावे' इति रुधादौ स्वरितेत् ॥

११७२—आससञ्ज भयं तेषां, दिद्युते च यथा रविः, ॥

नाऽऽययास, द्विषद्-देहैर् जगाहे च दिशो दश. १०४

आससञ्जेत्यादि—तेषां योधानां युयुस्मनां भयमाससञ्ज आलम्बम् । '१०५६। षञ्ज सञ्जे' इत्यकर्मकः । प्रहस्तश्च रविरिव दिद्युते द्योतते स्म । '२३४४। द्युति-स्वाप्योः सम्प्रसारणम् । ७। ४। ६७।' इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम् । नाययास युध्यमानो नायस्यति स्म । '१२८६। यसु प्रयत्ने ।' द्विषद्देहैश्च शत्रुकायैः करण-भूतैः दश दिशो जगाहे भवष्टब्धवान् ॥

११७३—केचित् संचुकुटुर् भीता, लेजिरे ऽन्ये पराजिताः, ॥

संग्रामाद् बभ्रशुः केचिद् ययाचुश्च चाऽपरे ऽभयम्. ॥

केचिदित्यादि—केचिद्धीताः सन्तः संचुकुटुः संकुटिताः । निष्प्रयत्नाः स्थिता इत्यर्थः । '१४५५। कुट कौटिल्ये ।' अन्ये पराजिताः सन्तः लेजिरे भस्किताः प्रह-स्तेन मृगा इव कातरा यूयमिति । '२४७। २४८। लज-लाजि भर्त्सने ।' कर्मणि लिट् । केचित् संग्रामाद्बभ्रशुः पलायिताः । '१३०३। भृशु-भ्रंशु अधःपतने ।' अपरे चाभयं ययाचुः याचितवन्तः ॥

११७४—एवं विजिग्ये तां सेनां प्रहस्तो, ऽतिददर्प च, ॥

शशाम न च संक्रुद्धो निर्जुगोप निशाचरान्. ॥१०६॥

एवमित्यादि—एवमुक्तेन प्रकारेण प्रहस्तस्तां सेनां विजिग्ये जितवान् । '२६८५। विपराभ्यां जेः । १। ३। १२। इति तङ् । '२३३१। सँल्लिटोर्जेः । ७। ३। ५७।' इति कुत्वम् । अतिददर्पं च सुष्ठु हृष्टवान् । '१२७२। हृष हर्षविमोचनयोः' । न च शशाम न च शर्म गतः । निशाचरान् स्त्रीयानमात्यान् निर्जुगोप रक्षितवान् । आयाभावपक्षे रूपम् ॥

११७५—चुकुधे तत्र नीलेन, तरुश्चौच्चिक्षिपे महान्, ॥

प्रहस्तो ऽभिहतस् तेन बाणान् विससृजे बहून्, १०७

चुकुध इत्यादि—तत्र तस्मिन् संग्रामे नीलेन चुकुधे क्रुद्धम् । भावे लिट् । तरुश्चौच्चिक्षिपे उत्क्षिप्तः । कर्मणि लिट् । तेन तरुणा उन्मूलितेनाभिहतः सन् प्रहस्तो बाणान् विससृजे क्षिप्तवान् । '१२५४। सृज विसर्गे' इति दैवादिङो ऽनुदात्तेत् ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'शर-बन्धो' नाम चतुर्दशः सर्गः— ३७१

११७६—सेहे कपी, रथाऽश्वांश् च रिपोस् ततर्ह शाखिना, ॥

धरित्रीं मुसली तेये प्रहस्तश्, चिखिदे न च, १०८

सेह इत्यादि—कपिर्नीलो बाणान् सेहे सोढवान् रथानश्वांश् रिपोः प्रहस्तस्य शाखिना तरुणा ततर्ह हतवान् । '१५४९। वृह-हिंसि हिंसायाम् ।' हत-रथाश्चस्य प्रहस्तो मुसली गृहीतमुसलः धरित्रीं तेये गतवान् । '५०८। ५१०। अय पय' इत्यत्र तयिरनुदात्तेत् । न च चिखिदे खिन्नः । '१५४३ । खिद दैन्ये' इत्यनुदात्तेत् ॥

११७७—संदुधुक्षे तयोः, कोपः, पस्फाये शस्त्र-लाघवम्, ॥

नुनोद शाखिनं नील, आवत्रे मुसली तरुम्, ॥१०९॥

सन्दुधुक्ष इत्यादि—तयोर्नीलप्रहस्तयोः कोपः संदुधुक्षे वृद्धिं गतः । अस्त्र-लाघवमस्त्रकौशलं पस्फाये वृद्धिं गतम् । नुनोद शाखिनं प्रेरितवान् । मुसली प्रहस्तः तरुमावत्रे मुसलेनावृतवान् ॥

११७८वियत्यानभ्रतुर्, भूमौ मण्डलानि विचेरतुः, ॥

प्रदुद्भवतुरन्योन्यं वीरौ, शश्रमतुर् न च, ॥११०॥

वियतीत्यादि—वीरौ तौ वियति आकाशे आनभ्रतुः गतौ । '५९७। ५९८। अत्र-वत्र' इति गत्यर्थः । वियतोऽधिकरणत्वेन विवक्षितत्वात् द्वितीया न कृता । भूमौ च मण्डलानि तिर्यग्भ्रमणानि विचेरतुः आचरितवन्तौ । अन्योन्यं प्रदुद्भवतुः उपतापितवन्तौ । न च शश्रमतुः श्रान्तौ ॥

११७९—समीरयांचकारा ऽथ राक्षसस्य कपिः शिलाम्, ॥

क्षतस् तथा ममारा ऽसावांशिश्नाय च भू-तलम्, ॥

समीरयामित्यादि—अथानन्तरं कपिः राक्षसस्य शिलां समीरयांचकार क्षिसवान् । '१९४७। ईर क्षेपे' इति चौरादिक उदात्तेत् । अतौ राक्षसस्तया शिलया हतः सन् ममार मृतवान् । भूतलं च आशिश्नाय आश्रितवान् । पतित इत्यर्थः ॥

११८०—तुतुषुर् वानराः सर्वे, नेशुश् चित्रा निशा-चराः, ॥

जेरुराशा दशास्यस्य, सैन्यं नीलं नुनाव च, ॥११२॥

तुतुषुरित्यादि—वानराः सर्वे तुतुषुः तुष्टाः । निशाचरा नेशुः पलायिताः । विचित्राः नानाप्रकाराः दशास्यस्य आशाः मनोरथा जेरुः जीर्णाः । '२३५६। वा जृ-भ्रमु-त्रसाम् । ६। ४। १२४।' इत्येत्वम् । सैन्यं च कर्तुं नीलं नुनाव स्तौति स्म ॥

११८१—यदा न फेलुः क्षणदा-चराणां

मनोरथा राम-बलाऽभियोगे, ॥

३७२ भट्टिकाव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

लङ्कां तदा भेजुरुदीर्ण-दैन्या,
व्याचख्युरुच्चैश् च हतं प्रहस्तम्, ॥ ११३ ॥

यदेत्यादि—क्षणदाचराणां रामबलाभियोगे मनोरथा वाञ्छितानि यदा न फेलुः न फलिताः, प्रहस्तस्य व्यापादितत्वात् । तदा लङ्कां भेजुः सेवितवन्तः । उदीर्णदैन्याः उदीर्णं महदैन्यं दीनभावो येषामिति । प्रहस्तं च हतं मृतमुच्चैराचख्युः आख्यातवन्तः । रावणायेत्यर्थात् ॥

इति श्री-जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलङ्कृते श्री-भट्टिकाव्ये—
चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे प्रथमः परिच्छेदः (वर्गः),
तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'शर-बन्धो' नाम
चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

पञ्चदशः सर्गः—

इतःप्रभृति लुङमधिकृत्य तद्विलसितमाह—तत्र भूतसामान्ये लुङ् । ततोऽन्यत्रापि दर्शयिष्यति—

११८२—राक्षसेन्द्रस् ततो ऽभैषीदैक्षिष्ट परितः पुरम्, ॥

प्रातिष्ठिपच् च बोधाऽर्थं कुम्भकर्णस्य राक्षसान्, १

राक्षसेत्यादि—ततः प्रहस्तवधश्रवणानन्तरं 'इन्द्रोऽपि व्यापादितः' इति अभैषीत् । '२४९७ सिचि वृद्धिः—॥७॥११' परितः समन्तात् पुरं लङ्कामैक्षिष्ट दृष्टवान् । 'किमत्र शक्यते स्थातुं न वा' इति । कुम्भकर्णस्य सुप्तस्य बोधनार्थं राक्षसान् प्रातिष्ठिपत् प्रस्थापितवान् । तिष्ठतेश्चरूपरे णाबुपधाहस्त्रापवादः । २५८८ तिष्ठतेरित् ॥७॥१५' इतीत्वम् । द्विर्वचनमभ्यासकार्यम् । धातोरादेशः षत्वं द्रुत्वं च ॥

११८३—ते ऽभ्यगुर् भवनं तस्य,

सुप्तं चैक्षिषता ऽथ तम्, ॥

व्याहार्षुस् तुमुलान् शब्दान्,

दण्डैश् चा ऽवधिषुर् द्रुतम् ॥ २ ॥

तेऽभ्यगुरित्यादि—ते राक्षसास्तस्य कुम्भकर्णस्य भवनं गृहं अभ्यगुः गताः । '२४५८ इणो गा—॥२॥४५' इति लुङि गादेशः । '२२२३ गाति-स्था- ॥ २१४७७' इति सिचो लुङ् । '२२१४ उत्सपदान्तात् ॥६॥१९६' इति पररूपत्वम् । ते च सुप्तमैक्षिषत दृष्टवन्तः । अथानन्तरं प्रबोधार्थं तुमुलान्महतो ध्वनीन् व्याहार्षुः व्याहृतवन्तः । '२२६८ नेटि ॥७॥२१' इति वृद्धिप्रतिषेधः । ह्रस्वसमुदायपरिग्रहणाद्बुद्धेः प्राप्तत्वात् ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'कुम्भकर्ण-वधो' नाम पञ्चदशः सर्गः— ३७३

११८४—केशानलुञ्चिषुस्, तस्य गजान् गात्रेष्वचिक्रमन्, ॥

शीतैरभ्यषिचंस् तोयैरलातैश् चाऽप्यदम्भिषुः ॥३॥

केशानित्यादि—तस्य केशानलुञ्चिषुः उत्पाटितवन्तः । गात्रेषु गजानचिक्र-
मन् क्रमयन्ति स्म । क्रमेणान्त्वान्मिहसंज्ञायां ह्रस्वत्वम् । चङि सन्वद्वावादभ्या-
सस्य '२३१७। सन्यतः । ७।४।७९।' इति इत्वम् । शीतैस्तोयैरभ्यषिचन् सिञ्चन्ति
स्म । अत्र सिचिरभ्युक्षणे वर्तते । तेनोदकस्य करणत्वम् । '२४१८। लिपिसिचि
ह्रश्च । ३।१।५३।' इत्यङ् । '२२७६। प्राक् सितादह्यवायेऽपि । ८।३।६३।' इति
षत्वम् । अलातैरङ्गारैश्चाप्यदम्भिषुः दग्धवन्तः । अनेकार्थत्वाद्वातूनाम् ॥

११८५—नखैरर्कतिषुस् तीक्ष्णैरदाङ्क्षुर् दशनैस् तथा, ॥

शितैरतौत्सुः शूलैश् च, भेरीश् चाऽवीवदन् शुभाः ॥ ४

नखैरित्यादि—तीक्ष्णैर्नखैरर्कतिषुश्छिन्नवन्तः । तथा दशनैस्तीक्ष्णैरदाङ्क्षुः
दशन्ति स्म । दंशेरनितो हलन्तलक्षणा वृद्धिः । '२९४। व्रश्च-। ८।२।३६।' इत्या-
दिना षत्वम् । '२९५। षढोः कः सि । ८।२।४१।' । शितैस्तीक्ष्णैः शूलैरतौत्सुः
व्यथयन्ति स्म । तुदेरनितो हलन्तलक्षणा वृद्धिः । भेरीश्च शुभाः उच्चैःशब्दा
अवीवदन् वादितवन्तः । '२३१३। सन्वल्लघुनि-। ७।४।९३।' इति सन्वद्वावाद-
भ्यासस्येत्वं '२३१८। दीर्घो लघोः । ७।४।९४।' इति दीर्घत्वम् ॥

११८६—स तान् ना ऽजीगणत् सर्वा-

निच्छया ऽबुद्ध च स्वयम्, ॥

अबुबुधत कस्मान् मा-

मप्राक्षीच् च निशा-चरान् ॥ ५ ॥

स तानित्यादि—स कुम्भकर्णः तान् सर्वान् उपद्रुतान् नाजीगणत् न गण-
यति स्म । न वेदितवानित्यर्थः । गणेः स्वार्थिकण्यन्तस्यादन्तस्याभ्यासस्य '२५७३।
इं च गणः । ७।४।९७।' इतीत्वम् । स्वयं चात्मन इच्छयानुद्ध बुध्यते स्म ।
'२२८१। झलो झलि । ८।२।२६।' इति सिचो लोपः । निशाचरांश्चाप्राक्षीत् पृष्ट-
वान् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । '२९४। व्रश्च-। ८।२।३६।' इत्यादिना षत्वम् ।
'२९५। षढोः कः सि । ८।२।४१।' कस्मान्मामबुबुधत यूयं प्रबोधितवन्तः । बुधे-
र्ण्यन्तस्य मध्यमपुरुषबहुवचने '२३१४। णौ चङ्युपधायाः-। ७।४।१।' इति ह्रस्वत्वं
अभ्यासस्य '२३१८। दीर्घो लघोः । ७।४।९४।' इति दीर्घत्वम् ॥

११८७—ते ऽभाषिषत 'राजा त्वां दिदृक्षुः क्षणदा-चर !' ॥

सोऽस्त्रासीद्, व्यलिपन्, मांसमपसासीद्, वारुणीमपात्

त इत्यादि—ते राक्षसास्तथोक्ताः सन्तः अभाषिषत भाषितवन्तः । हे
क्षणदाचर ! राजा रावणस्त्वां दिदृक्षुः दृष्टुमेषणशील इति । '६२७। न लोक

३७४ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

—१२।३।६९।' इति षष्ठीप्रतिषेधः । स कुम्भकर्णः श्रुत्वा अस्त्रासीत् ज्ञातवान् ।
'२३७७। यम-रम-१७।२।७३।' इत्यादिना सगिटौ । व्यलिपत् समालिसवान् ।
'२४१८। लिपिसिचि-१३।१।५३।' इत्यङ् । मांसमप्सासीत् '११२९। प्सा भक्षणे ।'
चारुणीमपात् पीतवान् । '२२२३। गाति-स्था-१२।४।७७।' इति सिचो लुक् ॥

११८८—न्यवसिष्ट ततो द्रष्टुं रावणं, प्रावृतत् गृहात् ॥

राजा यान्तं तमद्राक्षीदुदस्थाच्च चैषदासनात् ॥ ७ ॥

न्यवसिष्टेत्यादि—ततो रावणं द्रष्टुं न्यवसिष्ट पूर्वनिवसितं वसनं त्यक्त्वा
अन्यद्वस्त्रं परिदधाति स्म । गृहात् स्वस्मात्प्रावृतत्प्रावृत्तः । '२३४५। मुञ्चो लुङि
।१।३।९१।' इति परस्मैपदम् । '२३४३। पुषादि-१३।१।५५।' इत्यादिना अङ् ।
तमायान्तं राजाद्राक्षीत् दृष्टवान् । '२४०५। सृजिदशो-१६।१।५८।' इत्यम्
हलन्तलक्षणा वृद्धिः । आसनाच्च ईषदुदस्थात् उत्थितः । अर्ध्वकर्मकत्वादात्मने-
पदं न भवति ॥

११८९—अनुषत्, पीठमांसन्ने निरदिक्षच्च च काञ्चनम् ॥

अस्मेष्ट कुम्भकर्णोऽल्पमुपाविक्षदथा ऽन्तिके ॥ ८ ॥

अनुषदित्यादि—दृष्ट्वा चानुषत् तुष्टः । पुषादित्वादङ् । आसन्ने चात्मनः
काञ्चनं पीठं निरदिक्षत् आदिष्टवान् । दिशेः '२३३६। शल इगुपधादनिटः कसः
।३।१।४५।' इति कसः । अथानन्तरं कुम्भकर्णः अस्मेष्ट ईषद्वसितवान् । स
चार्थो येनायमादर इति । अन्तिके चास्य काञ्चनं पीठमध्यास्य पीठे उपाविक्षत्
उपविष्टः । पूर्ववत् कसः ॥

११९०—अवादीन् 'मां किमित्याहो' राज्ञा च प्रत्यवादि सः ॥

'मा ज्ञासीस् त्वं सुखी, रामो यदकार्षीत् स रक्षसाम् ९

अवादीदित्यादि—तत उपविश्य तमवादीदुक्तवान् । '२२६७। वदव्रज
—१७।२।३।' इत्यादिना वृद्धिः । किमिति कस्मात् कारणात् मामाह्वः आहूतवान् ।
'२४१८। लिपिसिचि ह्यश्च ।३।१।५३।' इत्यङ् । '२३७२। आतो लोपः ।६।४।६४।'
राज्ञा च स कुम्भकर्णः प्रत्यवादि प्रत्युक्तः । कर्मणि लुङ् । '२७५८। चिण्
भावकर्मणोः ।३।१।६६।' इति चिण् । '२३२९। चिणो लुक् ।६।४।१०४।' इति
तलोपः । सुखी त्वं येन रामो रक्षसां यदकार्षीत् तत्त्वं मा ज्ञासीः न ज्ञातवा-
नसि । '२३७७। यम-रम-१७।२।७३।' इति सगिटौ ॥

११९१—उदतारीदुदन्वन्तं पुरं नः परितो ऽरुधत् ॥

व्यद्योतिष्ट रणे शस्त्रैरनैषीद् राक्षसान् क्षयम् १०

उदतारीदित्यादि—स ह्युदन्वन्तं समुद्रमुदतारीत् उत्तीर्णः । '२२९७।
सिचि वृद्धिः—१७।२।१।' नो ऽस्माकं पुरं परितः समन्तादरुधत् आवृतवान् ।
'२२६९। इरितो वा ।३।१।५७।' इत्यङ् । रणे शस्त्रैरद्योतिष्ट द्योतितवान् । द्युता-

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'कुम्भकर्ण-वधो' नाम पञ्चदशः सर्गः—३७५

देर्लुङीति विकल्पेन परस्मैपदविधानादात्मनेपदम् । राक्षसान् क्षयं विनाशमनै-
षीत् नीतवान् ॥

११९२—न प्रावोचमहं किञ्चित् प्रियं, यावदजीविषम्, ॥

बन्धुस् त्वमर्चितः स्नेहान् मा द्विषो न वधीर् मम ११

न प्रावोचमित्यादि—यावदजीविषं यावन्तं कालं जीवितः तावन्तं कालं
कस्यचित्प्रियं किञ्चिन्न प्रावोचं नोक्तवानहमिति तव विदितमेव । किन्तु
बन्धुस्त्वं स्नेहादर्चितः सन् मम संबन्धिनो द्विषः शत्रून् मा न वधीः मा न
मारय किन्तु मारयेति । माङ्गि लुङ् । सर्वलकारापवादः । प्रावोचमिति '२४५४।
वच उम् । ७।४।२२।' ॥

११९३—वीर्यं मा न ददर्शस् त्वं,

मा न त्रास्थाः क्षतां पुरम्, ॥

तवा ऽद्राक्ष्म वयं वीर्यं,

त्वमजैषीः पुरा सुरान् ॥ १२ ॥

वीर्यमित्यादि—त्वं वीर्यं मा न ददर्शः किन्तु दर्शय । ण्यन्तस्य चङि
रूपम् । क्षतां परैरवसादितां पुरं मा न त्रास्थाः किन्तु त्रायस्व । '१०३४।
त्रैङ् पालने' । न च त्वमशक्तः यतस्तव वीर्यमद्राक्ष्म दृष्टवन्तो वयम् । '२४०७।
न दशः । ३।१।४७।' इति कसादेशो न भवति । '२२६९। इरितो वा । ३।१।५७।'
इति विकल्पेनाङ्गविधानात्तदभावपक्षे रूपम् । पुरा पूर्वं त्वं सुरान् देवानजैषीः
जितवानसि ॥

११९४—अवोचत् कुम्भकर्णस् तं, 'वयं मन्त्रेऽभ्यधाम यत् ॥

न त्वं सर्वं तदश्रौषीः, फलं तस्येदमागमत् ॥ १३ ॥

अवोचदित्यादि—इत्युक्तवन्तं तं रावणं कुम्भकर्णोऽवोचत् उक्तवान् ।
मन्त्रे मन्त्रणसमये 'क्रियासमारम्भगतोऽभ्युपाय' इत्यादिना यद्वयमभ्यधाम अस्मि-
हितवन्तः । धाधातोः '२२२३। गाति-स्था-। २।४।७७।' इति सिचो लुङ् ।
तत्सर्वं त्वं नाश्रौषीः न श्रुतवानसि । तस्याश्रवणस्येदं फलं विनाशरूपमागमत्
आगतम् । गमेर्लङ्दिवाद्ङ् ॥

११९५—प्राज्ञ-वाक्यान्यवामंस्था, मूर्ख-वाक्येष्ववास्थिथाः ॥

अध्यगीष्ठाश् च शास्त्राणि, प्रत्यपत्था हितं न च १४

प्राज्ञवाक्यानीत्यादि—प्राज्ञानां विभीषणादीनां वाक्यान्यवामंस्थाः अव-
ज्ञातवानसि । '१२५२। मन ज्ञाने ।' मूर्खवाक्येषु प्रहस्तादिवाक्येषु अवा-
स्थिथाः अवस्थितोऽसि । '२६८९। समवप्रविभ्य स्थः । १।३।२२।' इति तङ् ।
'२३८९। स्थाध्वोरिच्च । १।२।१७।' त्वं च शास्त्राण्यध्यगीष्ठा अधीतवानसि ।

३७६ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

‘३४६०। विभाषा लुङ्-लङोः। २।४।५०।’ इति इङो गादेशः। न च हितं प्रत्य-
पत्थाः प्रतिपन्नवानसि। ‘१२४४। पद गतौ’। ‘२२८१। झलो झलि। ८।२।२६।’
इति सिचो लोपः ॥

११९६—मूर्खास् त्वामववञ्चन्त, ये विग्रहमचीकरन्, ॥

अभाणीन् माल्यवान् युक्तमक्षंस्थास् त्वं न तन् मदात् १५

मूर्खा इत्यादि—मूर्खाः सर्व एवैते त्वामववञ्चन्त विग्रहलब्धवन्तः। ‘१८३६।
वञ्चू प्रलम्भने’ ण्यन्तस्य ‘२७३९। गृहि-वञ्चि-। १।३।६९।’ इत्यादिना तङि चङि
रूपम्। ये विग्रहमचीकरन् कारितवन्तो भवन्तम्। एष मातामहो माल्य-
वान् युक्तमभाणीत् भणितवान् ‘४७७। भण शब्दे।’। ‘२२६६। इट ईटि
। ८।२।२८।’ इति सिचो लोपः। तत् त्वं मदान्नाक्षंस्थाः न सोढवानसि। ‘४७२।
क्षमू सहने।’ ॥

११९७—राघवस्या ऽमुषः कान्तामातैरुक्तो न चाऽर्पिपः, ॥

मा नाऽनुभूः स्वकान् दोषान्, मा मुहो मा रुषोऽधुना. १६

राघवस्येत्यादि—प्रमादित्वमपि तेऽस्ति। यतो राघवस्य कान्तां अमुषः
खण्डितवानसि। खण्डनं चास्या इदं यद्गर्त्रां विधोजनम्। ‘मुस खण्डने।’
पुषादिस्वादङ् पुषादयश्च गणान्ता गृहीताः। आसैर्विभीषणादिभिरुक्तो न चार्पिपः
नार्पितवानसि कान्ताम्। अर्तेणौ ‘२५७०। अर्ति-ही-। ७।३।३६।’ इत्यादिना
पुगन्तगुणः। चङि ‘२२४३। द्विर्वचने ऽचि। १।१।५९।’ इति स्थानिवद्भावात्
‘२१७६। अजादेर्द्वितीयस्य। ६।१।२।’ इति पिशब्दो द्विरुच्यते। रेफस्य ‘२४४६।
न न्द्राः-। ६।१।३।’ इति प्रतिषेधः। तदधुना स्वकानात्मीयान्दोषान् दुश्चरितानि
मा नानुभूः, अपि त्वनुभव। ‘२२१९। माङि लुङ्। ३।३।१७५।’। ‘२२२३।
गाति-स्था-। २।४।७७।’ इति सिचो लुक्। मा मुहः मोहं मा गमः। मा रुषः
रोषं मा कार्षीः। मुहिरुषिभ्यां पुषादिस्वादङ् ॥

११९८—तस्याऽप्यत्यक्रमीत् कालो, यत् तदाऽहमवादिषम् ॥

अघानिषत रक्षांसि परैः, कोशांस् त्वमव्ययीः. १७

तस्येत्यादि—यत्तदा तस्मिन् कालेऽहमवादिषं अभिहितवानसि। ‘रामः
सन्धीयताम्’ इति तस्यापि सन्धेः कालो ऽत्यक्रमीदतिक्रान्तः। ‘२२२३। स्तुक्-
मोरनात्मनेपदनिमित्ते। ७।२।२३६।’ इतीदं। मान्तत्वाद्वृद्धिप्रतिषेधः। यतः परैः
शत्रुभिः रक्षांस्यघानिषत हतानि। चिण्वद्भावाद्वृद्धिघत्वे। त्वं च कोशमव्ययीः
त्यक्तवानसि। लङ्कादाहे तस्यारक्षितत्वात्। ‘२०८२। व्यय वित्तसमुत्सर्गे’ इति
चुरादौ पठ्यते। यद्वा ‘आष्टषाद्वा’ इति णिञ् नास्ति तदा रूपम्। ‘२२९९।
ह्यन्त-। ७।२।५।’ इत्यादिना वृद्धिप्रतिषेधः। ‘व्यय गतौ’ इत्यस्यापि रूपम्।
अनेकार्थत्वाद्वा त्वामुत्सर्जनेऽपि द्रष्टव्यम् ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'कुम्भकर्ण-वधो' नाम पञ्चदशः सर्गः—३७७

११९९—सन्धान-कारणं तेजो न्यगभूत् ते, कृथास् तथा, ॥

यत् त्वं वैराणि कोशं च सह-दण्डमजिग्लपः.' १८

सन्धानेत्यादि—तथा त्वमकृथाः कृतवानसि । '२५४७। तनादिभ्यस्तथासोः । २।४।७९।' इति सिचो लुक् । यथा सन्धानकारणं सन्धानहेतुकं यत्तव तेजः प्रचण्डत्वं तत् न्यगभूत् न्यगभूतम् । '२३२३। गाति-स्था-२।४।७७।' इति सिचो लुक् । कुत इत्याह । यत्त्वं वैराणि शत्रुभावान् कोशं च सहदण्डं ससैन्यमजिग्लपः ग्लपितवानसि । ग्लायतेर्णौ पुकि 'ग्ल-स्त्रा-वनु-वमां च' इति मिच्चात् ह्रस्वत्वम् । ग्लापयतेश्चङि रूपम् । यदि हि तेजो भवेत् सर्वं तथावस्थितमेव स्यात् ततश्च तेजसो ऽभावात् कथं सन्धानं द्वयोः परस्परानुप-तापात् । यथोक्तं यावन्मात्रमुपकुर्यात् तावन्मात्रमेवास्य प्रत्युपकुर्यात् । तेजो हि सन्धानकारणं तप्तं लोहं तप्तेन लोहेन सन्धत्त इति ॥

१२००—अक्रुधच्च चाऽभ्यधाद् वाक्यं कुम्भकर्ण दशाननः ॥

'किं त्वं मामजुगुप्सिष्ठा, नैदिधः स्व-पराक्रमम्. १९

अक्रुधदित्यादि—अथैवमुक्ते दशाननः अक्रुधत् क्रुद्धवान् । पुषादित्वादङ् । क्रुद्धश्च कुम्भकर्णमभ्यधात् अभिहितवान् । '२२२३। गाति-स्था-२।४।७७।' इति सिचो लुक् । किमिति त्वं मां अजुगुप्सिष्ठाः निन्दितवानसि । स्वविक्रमं नैदिधः न वर्धितवानसि । एधधातोर्ण्यन्तस्य चङि स्थानिवद्भावात् '२१७६। अजादेर्दि-तीयस्य । ६।१।२।' इति विशब्दो द्विरुच्यते ॥

१२०१—मौजिग्रहः सु-नीतानि, मा स्म क्रंस्था न संयुगे. ॥

मौपालब्धाः कृतैर्दोषैर् मा न वाक्षीर्हितं परम्.' २०

मौजिग्रह इत्यादि—सुनीतानि सुनयान् मा उज्जिग्रहः मा उद्गाहय । ग्रहेर्ण्यन्तस्य चङि रूपम् । संयुगे युद्धे विषयभूते मा क्रंस्था मोत्साहं न कार्षीः अपि तूत्सहस्व । '३२२०। सोचरे लङ् च । ३।३।१७६।' इति चकारालुङ् । '२७११। वृत्ति-सर्गे-१।१।३८।' इत्यादिना क्रमेः सर्गे उत्साहे तङ् । दोषैः अस्म-त्कृतैः मौपालब्धाः मौपालभस्व । '२२८१। झलो झलि । ८।२।२६।' इति सिचो लोपः । '२२८०। झषस्तथोर्धो धः । ८।२।४०।' '५२। झलां जश् झशि । ८।४।५३।' हितं परं कार्यस्य मा न वाक्षीः मा न वह किन्तु वह । बहेरसिटो हलन्तलक्षणं वृद्धिः । दत्वकत्वषत्वानि ॥

१२०२—कुम्भकर्णस् ततो ऽगर्जीद्,

भटांश् चा ऽन्यान् न्यवीवृतत्. ॥

उपायंस्त महाऽस्त्राणि,

निरगाच्च च द्रुतं पुरः. ॥ २१ ॥

३७८ भट्टिकाव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

कुम्भकर्ण इत्यादि—ततस्तद्वचनानन्तरं कुम्भकर्णोऽगर्जित् गर्जितवान् ।
अन्यांश्च भटान् पृष्ठतो गच्छतो न्यवीवृतत् निवर्तितवान् । वृतेश्चङ्गरे णाबु-
पधाया '२५६७। उर्कत् । ७। ४। ७।' इत्यपवादः ऋकारादेशः । महास्त्राणि उपायस्त
स्वीकृतवान् । औपचारिकमत्र स्वीकरणं तेन तद् । यदि वा उपाङ्गपूर्वाद्यमेः
'२७४०। समुदाङ्गभ्यो यमोऽग्रन्थे । १। ३। ७५।' इति तद् । पुरश्च लङ्कातः द्रुतं
निरगात् निर्गतः । इणो गादेशः । '२२२३। गाति-। २। ४। ७७।' इति सिचो लुक् ॥

१२०३—मूर्ध्ना दिवमिवाऽलेखीत्,

खं व्यापद् वपुर्षोरुणा, ॥

पादाभ्यां क्षमामिवाऽभैत्सीत्,

दृष्ट्याऽधाक्षीदिव द्विषः ॥ २२ ॥

मूर्ध्नेत्यादि—निर्गच्छन् मूर्ध्ना दिवमलेखीदिव लिखितवानिव । उरुणा
महता वपुषा खं व्यापत् व्यासवान् । लदित्वादङ् । क्षमां पृथ्वीं पादाभ्यामभै-
त्सीदिव विदुरितवानिव । द्विषः शत्रून् दृष्ट्याधाक्षीदिव भस्मसात् कृतवानिव ।
'१०६०। दह भस्मीकरणे' ॥

१२०४—दग्धशैल इवाऽभासीत्, प्राकंस्त क्षय-मेघ-वत्, ॥

प्राचकम्पदुदन्वन्तं, राक्षसानप्यतिव्रसत्, ॥ २३ ॥

दग्धशैल इत्यादि—महत्त्वात् कृष्णत्वाच्च दग्धशैलवदभासीत् भाति स्म ।
'११२५। भा दीप्तौ' । '२३७७। यम-रम-। ७। २। ७३।' इति सगितौ । क्षयमे-
घवत्प्राकंस्त प्रस्थितः । '२७१५। प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् । १। ३। ४२।' इति तद् ।
प्रतिष्ठमानश्च उदन्वन्तमचकम्पत् कम्पितवान् । '४०१। कपि चलने' ।
इदितो ण्यन्तस्य चङि रूपम् । राक्षसानपि अतिव्रसत् त्रासितवान् । त्रसे-
र्ण्यन्तस्य चङि रूपम् ॥

१२०५—स-पक्षोऽद्रिर्निवाऽचालीन्,

न्यश्वसीत् कल्प-वायु-वत्, ॥

अभार्षीद् ध्वनिना लोका-

नभ्राजिष्ट क्षयाऽग्नि-वत् ॥ २४ ॥

सपक्ष इत्यादि—सपक्ष इवाद्रिः बाह्वोः पक्षानुकारित्वात् अचालीन् चलितः ।
लान्तत्वात्सिचि वृद्धिः । क्रोधात्कल्पान्तवायुवज्यश्वसीत् निश्चसितवान् । '२२९५।
ह्यन्त-। ७। २। ५।' इति वृद्धिप्रतिषेधः । ध्वनिना लोकानभार्षीत् पूरितवान् ।
'९६४। मृन् भरणे ।' ईडन्तस्य सिचि वृद्धिः । अभ्राजिष्ट आजते स्म । क्षयाग्नि-
वत् पिङ्गलकेशत्वात्, लोकविनाशहेतुत्वाच्च ॥

१२०६—अनंसीद् भूर्भरेणाऽस्य,

रंहसा शाखिनोऽलुठन्, ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'कुम्भकर्ण-वधो' नाम पञ्चदशः सर्गः— ३७९

सिंहाः प्रादुद्रुवन् भीताः,
प्राक्षुभन् कुल-पर्वताः ॥ २५ ॥

अनंसीदित्यादि—अस्य भरेण भूरनंसीत् नता । '२३७७। यम-रम-
।७।२।७३।' इति सगितौ । रंहसा वेगेन शाखिनो वृक्षा अलुठन् पतिताः । '३५७।
रुठ लुट प्रतिघाते' । द्युतादित्वादङ् । द्युतादीनामनुदात्तेत्वात्तङ् । '२३४५।
द्युच्यो लुङि ।१।३।९१।' इति परस्मैपदविकल्पः । सिंहाः भीताः सन्तः प्रादु-
द्रुवन् पलायिताः । '१३९२। णि-श्रि-।३।१।४८।' इत्यादिना चङ् । कुलपर्वताः
प्राक्षुभन् संचलिताः । द्युतादित्वादङ् । पूर्ववज्जात्मनेपदम् ॥

१२०७—उत्पाताः प्रावृत्तं तस्य, द्यौरशीकिष्ट शोणितम्, ॥
वायवोऽवासिषु भीमाः, क्रूराश्च चाऽकुषत द्विजाः, २६

उत्पाता इत्यादि—तस्य गच्छत उत्पाताः प्रावृत्तन् प्रवृत्ताः । '८११।
वृत् वृत्ते' द्युतादिः । द्यौः शोणितमशीकिष्ट सिञ्चति स्म । '७७। शीकृ सेचने'
अनुदात्तेत् । वायवो भीमाः प्रचण्डा अवासिषुर्वान्ति स्म । '२३७७। यम-रम-
।७।२।७३।' इति सगितौ । क्रूराश्चाशुभसूचका द्विजाः पक्षिणोऽकुषत क्षब्दिताः ।
'१४९४। कुङ् शब्दे' इत्यनिट् । कुटादित्वात् सिचः कित्वे न गुणः ॥

१२०८—अस्पन्दिष्टा ऽक्षि वामं च,
घोराश्च चाऽराटिषुः शिवाः, ॥
न्यपप्तन् मुसले गृध्रा,
दीप्तया ऽपाति चोल्कया. ॥ २७ ॥

अस्पन्दिष्टेत्यादि—वामं चास्याक्षि अस्पन्दिष्ट स्पन्दते स्म । घोराः अनि-
ष्टशंसिन्यः शिवाः अराटिषू रटन्ति स्म । '३३८४। अतो हलादेः-।६।२।७।' इति
वृद्धिविकल्पः । गृध्रा मुसले न्यपप्तन् उपविष्टवन्तः । लृदित्वादङ् । '३२५५।
पतः पुम् ।७।४।१९।' इति पुमागमश्च । दीप्तया उल्कया अपाति पतितम् ।
भावे चिणादेशः ॥

१२०९—आंहिष्ट तान-संमान्य दर्पात् स प्रधन-क्षितिम्, ॥
ततोऽनर्दीदनन्दीच्च च, शत्रूनाह्वास्त, चाऽऽहवे. २८

आंहिष्टेत्यादि—तान् उत्पातान् कुम्भकर्णोऽसंमान्य दर्पाद्वज्ञाय प्रधन-
क्षितिं युद्धभूमिमांहिष्ट गतवान् । तत उत्तरकालं अनर्दीत् गर्जितवान् 'क यास्य-
थेदानीम्' इति । अनन्दीच्च जयश्रियं श्लाघितवानित्यर्थः । आहवे संप्राप्ते
शत्रूनाह्वास्त आहूतवान् 'आगच्छत, युध्यध्वम्' इति । '२७०४। स्पधा-

३८० भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

यामाङः । ३।३।३१' इति तद् । '२४२९। आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् । ३।१।५४।'
इत्यङभावपक्षे रूपम् ॥

१२१०—प्राशीन्, न चाऽतृपत् क्रूरः,

क्षुच् चाऽस्याऽवृधदश्नतः, ॥

अधाद् वसामधासीच् च

रुधिरं वन-वासिनाम्. ॥ २९ ॥

प्राशीदित्यादि—प्राशीत् भक्षितवान् । वनवासिन इत्यर्थात् । न चासौ
क्रूरः दुष्टचेता अतृपत् तृप्तवान् । पुषादित्वादङ् । अश्नतोऽप्यस्य खादतः क्षुत्
बुभुक्षा अवृधत् वर्धते स्म । '८१२ । वृधु वृद्धौ' घृतादिः । वनवासिनां वान-
राणां वसामधात् पीतवान् । '२३७६। विभाषा प्रा-धेद्-। २।४।७८।' इति सिचो
लुक्पक्षे रूपम् । रुधिरं चाधासीत् । '२३७५। विभाषा धेद्-अयोः । ३।१।४९।' इति चङभावपक्षे रूपम् ॥

१२११—मांसेना ऽस्या ऽश्वतां कुक्षी,

जठरं चाऽप्यंशिश्चियत्, ॥

बहूनामग्लुचत् प्राणा-

नग्लोचीच् च रणे यशः. ॥ ३० ॥

मांसेनेत्यादि—वनवासिनां मांसेनास्य कुम्भकर्णस्य कुक्षी उदरपाश्र्वौ अश्वतां
शूनौ । '२२९१। जृ-स्तम्भु-। ३।१।५८।' इत्यादिना अङ् । '२४२१। श्वयतेरः ।
७।४।१८।' इत्यत्वम् । जठरं चोदरमशिश्चियत् शूनम् । '२३७५। विभाषा धेद्-
अयोः । ३।१।४९।' इति चङ् । इत्यङदेशः । बहूनां वनवासिनां प्राणानग्लुचत्
हतवान् । '२०६। मुचु-ग्लुचु-कुञ्ज-खञ्जु स्तेयकरणे' । '२२९१। जृ-स्तम्भु-। ३।१।५८।' इत्यादिना अङ्गविकल्पनादङभावपक्षे रूपम् । यशश्च बहूनां रणे अग्लोचीत् अप-
नीतवान् । 'वञ्जु-चञ्जु' इत्यादौ ग्लुचिर्गत्वर्थः । अङभावपक्षे रूपम् ॥

१२१२—सामर्थ्यं चाऽपि सोऽस्तम्भीद्

विक्रमं चाऽस्य नाऽस्तभन्, ॥

शाखिनः केचिदध्यधुर्

न्यमाङ्क्षुरं परे ऽम्बु-धौ. ॥ ३१ ॥

सामर्थ्यमित्यादि—स कुम्भकर्णः केषांचिद्वलवतामपि वनवासिनां साम-
र्थ्यमस्तम्भीत् नियमितवान् । अङभावपक्षे रूपम् । विक्रमं च केचिदस्य नास्तभन्
नियमितवन्तः । अङ्पक्षे रूपम् । छित्यनुनासिकलोपः । केचिद्वयाद् वृक्षान-
ध्यधुः अभिष्ठितवन्तः । तिष्ठतेः '२२२३। गति-स्था-। २।४।७७।' इति सिचो लुक् ।

तथा लक्ष्यरूपे कथानके 'कुम्भकर्ण-चधो' नाम पञ्चदशः सर्गः— ३८१

आदेशसकारस्य षत्वं घुत्वं च । अपरेऽम्बुधौ न्यमाङ्गुर्निमग्नाः '२५७७। मस्जि-
नशोर्झलि । ७।१।६०।' इति नुम् । मस्जेरन्त्यात्पूर्वं नुमसिच्छन्ति । अनुषङ्गसंयो-
गादिलोपार्थम् ॥

१२१३—अन्ये त्वलङ्घिषुः शैलान्, गुहास्वन्ये न्यलेषत, ॥
केचिदासिषत स्तब्धा, भयात् केचिदघूर्णिषुः ॥ ३२॥

अन्ये त्वित्यादि—अन्ये शैलानलङ्घिषुः भयादारूढा इत्यर्थः । अन्ये गुहासु
न्यलेषत । '१२१४। लीड् श्लेषणे' । केचित् स्तब्धाः स्थाणुवदासिषत आसते ।
अपरे भीत्या भयात् अघूर्णिषुः घूर्णन्ते स्म ॥

१२१४—उदातारिषुर्गम्भो-धिं वानराः सेतुना ऽपरे, ॥
अलज्जिष्टाऽङ्गदस् तत्र, प्रत्यवास्थित चोर्जितम् ॥ ३३ ॥

उदातारिपुरित्यादि—अपरे वानराः सेतुना अगम्भोधिमुदातारिषुः उत्तीर्णाः ।
तत्र तेषु तथाभूतेष्वङ्गदोऽलज्जिष्ट लज्जते स्म । ऊर्जितं च पराक्रमं प्रत्यवास्थित
प्रतिपन्नवान् । '२६८९। समवप्रविभ्यः स्थः । १।३।२२।' इति तङ् । '२३६९।
हस्वादङ्गात् । ८।२।२७।' इति सिचो लोपः ॥

१२१५—सत्त्वं समदुधुक्षच् च वानराणामयुद्ध च, ॥
ततः शैलानुदक्षैप्सुरुदगूरिषत द्रुमान् ॥ ३४ ॥

सत्त्वमित्यादि—वानराणां सत्त्वं समदुधुक्षत् सन्दीपितवान् । धुक्षेः सन्दी-
पनार्थात् ण्यन्ताच्चेत् । स्वयमयुद्धं च युध्यते स्म । '२२८१। झलो झलि
। ७।२।२६।' इति सिचो लोपः । ततः सत्त्वधुक्षणानन्तरं वानराः शैलानुदक्षैप्सुः
उत्क्षिप्तवन्तः । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । द्रुमांश्चोदगूरिषत उत्थापितवन्तः । '१८२६।
गूरी उद्यमने' ॥

१२१६—अनर्दिषुः कपि-व्याघ्राः,
सम्यक् चाऽयुत्सताऽऽहवे, ॥
तानमर्दीदंखादीच् च,
निरास्थच् च तलाऽऽहतान् ॥ ३५ ॥

अनर्दिषुरित्यादि—उत्क्षिप्तशैलद्रुमाः कपिव्याघ्रा अनर्दिषुः नर्दितवन्तः
'दृष्टोऽस्माभिः क यास्थसि' इति । सम्यक् निर्भयमाहवे अयुत्सत युध्यन्ते स्म ।
'२६१३। हलन्ताच्च । १।२।१८।' इति सिचः कित्त्वे गुणाभावः । तान् ड्वङ्गमान्
युध्यमानान् कुम्भकर्णोऽमर्दीत् मृदितवान् । मृदेर्लघूपधगुणः । अखादीच्च भक्षि-
तवान् । हस्ततलेनाहतान् निरास्थत् इतस्ततः क्षिप्तवान् । '२४३८। अस्थति
-। ३।१।५२।' इत्यादिना अङ् । '२५२०। अस्थतेस्थक् । ७।१।१७।' ॥

३८२ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

१२१७—प्राचुचूर्णच् च पादाभ्यामविभीषत च द्रुतम्, ॥

अतर्हीच् चैव शूलेन कुम्भकर्णः प्लवङ्गमान् ॥३६॥

प्राचुचूर्णदित्यादि—पादाभ्यां प्राचुचूर्णत् पिष्टवान् । '१६५७। चूर्ण प्रेरणे' इति चुरादिः । एवं चूर्णयन् द्रुतमविभीषत भीषयते स्म । '२५९५। भियो हेतु-भये घुक् । ७।३।४०।' । '२५९४। मी-स्योर्हेतुभये । १।३।६८।' इति तल् । शूलेन प्रहरणेन अतर्हीच्च विद्धवान् । '१५४९। वृह हिंसायाम् ।' ह्यन्तत्वाच्च वृद्धिः ॥

१२१८—अतौत्सीद् गदया गाढमपिषच् चोपगूहनैः, ॥

जानुभ्यामदमीच् चाऽन्यान्, हस्त-वर्तमवीवृतत्, ॥

अतौत्सीदित्यादि—कांश्चिद्गदया गाढमतौत्सीत् व्यथितवान् । उपगूहनै-रपिषत् चूर्णितवान् । लुटित्वादङ् । अन्यांश्च जानुभ्यां अदमीत् शासितवान् । अवष्टभ्य नियमितवानित्यर्थः । ह्यन्तत्वाच्च वृद्धिः । हस्तवर्तमवीवृतत् हस्ताभ्यां वर्तितवान् पिष्टवानित्यर्थः । वृतेर्णन्तात् '३३६०। हस्ते वर्ति-ग्रहोः । ३।४।३९।' इति णमुल् । '३३६६। कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः । ३।४।४६।' ॥

१२१९—अदालिषुः शिला देहे,

चूर्ण्यभूवन् महा-द्रुमाः, ॥

क्षिप्तास् तस्य न चाऽचेतीत्

तानसौ, नाऽपि चाऽक्षुभत्. ॥ ३८ ॥

अदालिषुरित्यादि—वानरैस्तस्य देहे क्षिप्ताः शिला अदालिषुर्विशीर्णाः । '५८९। दल विशरणे ।' भौवादिकः । लान्तत्वाद्वृद्धिः । महाद्रुमाश्चूर्ण्यभूवन् चूर्ण्यभूताः । न च तान् क्षिप्तानसौ कुम्भकर्णो अचेतीत् चेतितवान् । '३९। चिती संज्ञाने ।' नापि चाक्षुभत् क्षुभितः । '१३१८। क्षुभ संचलने' दिवादिः ॥

१२२०—अद्राष्टां तं रघु-व्याघ्रौ आख्यच् चैनं विभीषणः ॥

एष व्यजेष्ट देवेन्द्रं नाऽशङ्किष्ट विवस्वतः. ॥३९॥

अद्राष्टामित्यादि—तं तादृशौ रघुव्याघ्रौ रामलक्ष्मणावद्राष्टां दृष्टवन्तौ । विभीषणश्चैनमाख्यत् कथितवान् 'कुम्भकर्णोऽयम्' इति । '२४३८। अस्यति-। ३।१।५२।' इत्यादिनाऽङ् । 'प्रभावं चास्य कथयन्नाह-देवेन्द्रमेष व्यजेष्ट विजितवान् । '२६८५। वि-पराम्यां जेः । १।६।१९।' इति तङ् । विवस्वतः सूर्यात् नाशङ्किष्ट न शङ्कते स्म ॥

१२२१—यक्षेन्द्र-शक्तिमच्छासीन्, नाऽप्रोथीदस्य कश्चन, ॥

कुम्भकर्णान् न भैष्टं मा युवामस्मान् नृपाऽऽत्मजौ. ॥

यक्षेत्यादि—यक्षेन्द्रस्य कुबेरस्य शक्तिं प्रहरणमच्छासीत् खण्डितवान् । '१२२१। छो छेदने ।' अस्य तु कश्चन कश्चित् नाप्रोथीत् न प्रभवति स्म । शक्त्यै

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'कुम्भकर्ण-वधो' नाम पञ्चदशः सर्गः— ३८३

प्रहरणायेत्यर्थात् । '९२६। प्रोथु पर्याप्तौ ।' पर्याप्तियोगे चतुर्थी न भविष्यति पर्याप्तेरविवक्षितत्वात् । अतोऽस्मादेवंविधात् कुम्भकर्णात् युवां नृपात्मजौ मा न भैष्ट किन्तु विभीतम् । '२२१९। माडि लुङ् । ३। ३। १७५।' मध्यमपुरुषद्विवचने रूपम् । माशब्दः प्रतिषेधे ॥

१२२२—घ्नन्तं मोपेक्षिषाथां च, मा न कार्धमिहाऽऽदरम्., ॥

'अमुं मा न वधिष्टे'ति रामोऽवादीत् ततः कपीन्. ४१

घ्नन्तमित्यादि—तस्मात् घ्नन्तमेनं युवां मोपेक्षिषाथां मोपेक्षकौ भूतमित्यर्थः । इह च कुम्भकर्ण आदरं मा न कार्धमपि तु कुरुतम् । ततो विभीषणवचनानन्तरं रामः कपीनवादीत् उक्तवान् । अमुं कुम्भकर्णं मा न वधिष्ट इति किन्तु हतेति । '२४३३। हनो वध लुङि । २। ४। ४२।' ॥

१२२३—ते व्यरासिषुराह्वन्त राक्षसं चाऽप्यपिप्लवन्,

अवभासन् स्वकाः शक्तीर्, द्रुम-शैलं व्यकारिषुः. ४२

त इत्यादि—ते वानराः हर्षाद्व्यरासिषुः किलकिलाशब्दं कृतवन्तः । '२२८४। अतो हलादेः—। ७। २। ७।' इति वृद्धिः । राक्षसं च कुम्भकर्णमाह्वन्त स्पर्धमाना आहूतवन्तः । '२४१९। आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् । ३। १। ५४।' इति ह्रस्वः पक्षे अङ् । अपिप्लवन् प्लवितवन्तः । अपिः शब्दार्थे । तथा कृतवन्तः यथासौ भुक्तिं कर्तुमारब्धः प्लवतेर्ण्यन्तस्य चङि सन्वत्कार्यमिति । '२५२८। स्रवति-शृणोति—। ७। ४। ८१।' इत्यादिना अभ्यासस्येत्वम् । स्वका आत्मीयाः शक्तीरवभासन् प्रकाशयन्ति स्म । भासेर्ण्यन्तस्य चङि '२५६५। आज-भास—। ७। ४। ३।' इत्यादिना उपधा. ह्रस्वविकल्पः । द्रुमाश्च शैलाश्च द्रुमशैलम् । '९१०। जातिरप्राणिनाम् । २। ४। ६।' इत्येकवद्भावः । व्यकारिषुः तदुपरि क्षिप्तवन्तः । '१०५३। कृ विक्षेपे' ॥

१२२४—ते तं व्याशिषताऽक्षौत्सुः

पादैर्, दन्तैस् तथाऽच्छिदन्. ॥

आर्जिजत् शरभो वृक्षं,

नीलम् त्वाऽऽदित पर्वतम्. ॥ ४३ ॥

ते तमित्यादि—ते वानरास्तं राक्षसं व्याशिषत व्यासवन्तः । '१३४५। अश्व व्याप्तौ ।' पादैश्चाक्षौत्सुः पिष्टवन्तः । '१५२७। क्षुदिर् सम्पेषणे ।' दन्तैरच्छिदन् छिन्दन्ति स्म । '२२६९। इरितो वा । ३। १। ५७।' इत्यङ् । शरभो नाम कपिवृक्ष-आर्जिजत् ग्रहीतुं यतते स्म । '१८५८। अर्जं प्रतियले' इति स्वार्थिकण्यन्ताच्चङि- '२२४३। द्विवचनेऽचि । १। १। ५९।' इति स्थानिवद्भावात् '२१७६। अजादेर्द्विती-यस्य । ६। १। २।' इति द्विवचनम् । रेफस्य '२३४६। न न्द्राः—। ६। १। ३।' इति प्रतिषेधः । नीलः पर्वतमादित गृहीतवान् । '२३८९। स्था-ध्वोरिच्च । १। २। १७।' ॥

३८४ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

१२२५—ऋषभो ऽद्रीनुदक्षैप्सीत्, ते तैररिमतर्दिषुः ॥

अस्फूर्जीद्, गिरि-शृङ्गं च व्यस्त्राक्षीद् गन्धमादनः, ॥

ऋषभ इत्यादि—ऋषभो नाम कपिरद्रीनुदक्षैप्सीत् उत्क्षिप्तवान् । ते शर-
भादयस्त्रैवृक्षादिभिररिमतर्दिषुः हतवन्तः । '५९। तर्दं हिंसायाम् ।' गन्धमादनो
नाम कपिरस्फूर्जीत् वज्रमिव । गिरिशृङ्गं च व्यस्त्राक्षीत् विसृष्टवान् । सृजिस्त्रौ-
दादिक उदात्तेत् ॥

१२२६—अकूर्दिष्ट, व्यकारीच् च गवाक्षो भू-धरान् बहून् ॥

स तान् नाऽजीगणद् वीरः कुम्भकर्णोऽव्यथिष्ट न. ४५

अकूर्दिष्टेत्यादि—गवाक्षो नाम कपिः अकूर्दिष्ट क्रीडापूर्वकं चेष्टते स्म ।
भूधरान् महीधरांश्च व्यकारीत् विक्षिप्तवान् । वीरः कुम्भकर्णस्तान् शरभादीन्
नाजीगणत् न गणयामास । अजगणदिति पाठान्तरम् । तत्र चकारेणात्वमप्यनु-
वर्तते । न चाव्यथिष्ट व्यथितोऽभूत् ॥

१२२७—अमन्थीच् च पराऽनीकर्मणोष्ट च निरङ्कुशः, ॥

निहन्तुं चाऽत्वरिष्टाऽरीनजक्षीच् चाऽङ्कमागतान् ॥

अमन्थीदित्यादि—परानीकं शत्रुसैन्यममन्थीत् क्षोभितवान् 'मन्थ विलो-
डने ।' निरङ्कुशश्चाप्रतिहतशक्तिः अण्डोष्ट आन्तवान् । '१०२६। मुङ् गतौ ।' अरींश्च
वानराब्रह्मन्तुमत्वरिष्ट त्वरते स्म । '८३१। जित्वरा संभ्रमे ।' अङ्कं च समीपमाग-
तानजक्षीत् भक्षितवान् । '११४५। जक्ष-भक्ष हसनयोः' इति भक्षणे जक्षिः ॥

१२२८—व्यकुक्षद् वानराऽनीकं, संपलायिष्ट चाऽऽयति, ॥

हस्ताभ्यां नश्यदक्राक्षीद् भीमे चौपाधिताऽऽनने. ४७

व्यकुक्षदित्यादि—तस्मिन्नायत्यागच्छति सति, आङ्पूर्वखेणः शतरि रूपम् ।
वानरानीकं व्यकुक्षत् विक्रोशति स्म । '२३३६। शल इगुपधादनिटः क्सः ।
।३।१।४५।' संपलायिष्ट पलायते स्म । 'तच्च नश्यत्पलायमानं हस्ताभ्यामक्राक्षीत्
आकृष्टवान् कुम्भकर्णः । 'कृष विलेखने' । '२४०२। अनुदात्तस्य च-।६।१।५९।' इत्यम् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । आकृष्टं चातिभीमेऽतिभयङ्करे विकृते आनने
वक्त्रे उपाधित न्यस्तवान् । घात् । '२३८९। स्था-ज्वोरिच्च । १।२।१७।' ॥

१२२९—रक्तेनाऽचिक्लिदद् भूमिं,

सैन्यैश्च चाऽतस्तरद्धतैः, ॥

नाऽताप्सीद् भक्षयन् क्रूरो,

नाऽश्रमद् घ्नन् सुवङ्गमान्, ॥ ४८ ॥

रक्तेनेत्यादि—वानरानीकस्य रक्तेन भूमिमचिक्लिदत् क्लेदितवान् '१३२१।
क्लिद् आर्दीभावे ।' तस्य पयन्तस्य चङि रूपम् । सैन्यैश्च हतैर्भूमिमतस्तरत् छादित-

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'कुम्भकर्ण-वधो' नाम पञ्चदशः सर्गः—३८५

वान् । स्तृणातेणौ चङि रूपम् । '२५६६ । अत् स्तृ-दृ-स्वर-।७।१।९५।' इत्यादिना अत्वम् । तांश्च भक्षयन्नपि क्रूरः नाताप्सीत् न तृप्तः । '१२७१। तृप ग्रीणने' पुषादिः । 'स्तृश-स्तृश-कृष-तृप-दृषां च्लेः सिज्वा' इति पक्षे सिच् । प्लवङ्गमांश्च ज्ञन् हिंसन् नाश्रमत् न श्रान्तवान् । '१२८०। अमु तपसि खेदे च' इति खेदे पुषादित्वादङ् ॥

१२३०—न योद्धुर्मशकन् केचिन्, ना ऽदौकिपत केचन, ॥

प्राणशन् नासिकाभ्यां च, वक्त्रेण च वनौकसः. ४९

न योद्धुमित्यादि—तेषां मध्ये केचिद्वनौकसो वानरा योद्धुं नाशकन् न शक्ता भवन् । लुदित्वादङ् । केचिन्नादौकिपत न दौकन्ते स्म । ये तु तेन पदेन क्षिप्तास्ते नासिकाभ्यां नासिकाविवराभ्यां वक्त्रेण च प्राणशन् प्रनष्टाः । निःसृता इत्यर्थः । नष्टोः पुषादित्वादङ् । '२२८७। उपसर्गात्-।८।१।१४।' इत्यादिना णत्वम् ॥

१२३१—उदरे चा ऽजरन्नन्ये तस्य पाताल-सन्निभे, ॥

आक्रन्दिषुः, सखीनाहन्, प्रपलायिषताऽस्विदन्.

उदरे चेत्यादि—अन्ये च तस्योदरे पातालसन्निभे सदृशे अजरन् जीर्णाः । '२२९१। जृ-स्तम्भु-।३।१।५८।' इत्यादिनाऽङ् । '२४०६। ऋदशोऽङि गुणः ।७।१।१६।' आक्रन्दिषुः आक्रन्दितवन्तः । सखीन् मित्राणि आहन् आहृतवन्तः । '२४१८। लिपि-सिचि-।३।१।५३।' इत्यादिनाङ् । प्रपलायिषत प्रपलायन्ते स्म । पलायमानाश्चास्विदन् प्रस्विन्नाः । पुषादित्वादङ् ॥

युग्मम्—

१२३२—रक्तमश्रयोतिषुः क्षुण्णाः, क्षताश् च कपयोऽतृषन्, ॥

उपास्थायि नृपो भग्नैरसौ सुग्रीवमैजिहत् ॥ ५१ ॥

रक्तमित्यादि—अन्ये क्षुण्णाः सन्तः रक्तमश्रयोतिषुः श्रयोतन्ति स्म । '२२९१। इरितो वा ।३।१।५७।' इत्यङ्भावपक्षे रूपम् । क्षताश्च खण्डिता अतृषन् तृषन्ति स्म । '१३०७। जितृषा पिपासायाम् ।' पुषादित्वादङ् । नृपो रामस्तैर्भग्नैरुपास्थायि उपस्थापितः । अन्तर्भावितो ण्यर्थः । कर्मणि चिण् । असौ रामः सुग्रीवमैजिहत् योद्धुमीहां कारितवान् । ईहतेण्यन्ताच्चङि '२२४३। द्विर्वचनेऽचि ।१।१।५९।' इति स्थानिवद्भावात् द्वितीयस्य द्विर्वचनम् । आह । वृद्धिः । योद्धुमिति वक्ष्यमाणेन योज्यम् ॥

१२३३—योद्धुं सो ऽप्यरुषच्छत्रोरैरिरिच च महा-द्रुमम्. ॥

तं प्राप्तं प्रासहिष्टाऽरिः, शक्तिं चोग्रामुदग्रहीत्. ५२

योद्धुमित्यादि—सोऽपि सुग्रीवः अरुषत् कुप्यति स्म । '१७९८। रुष रोषे' पुषादिः । शत्रोश्च द्रुममैरिरिच क्षिप्तवान् । '१९४७। ईर क्षेपे' इति स्वार्थिकण्य-
भ० का० ३३

३८६ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

न्तस्य रूपम् । तं द्रुमं प्रासमरिः कुम्भकर्णः प्रासहिष्ट प्रसहते स्म । शक्तिं चोप्रां प्राणहरामुदग्रहीत् उद्ग्रहीतवान् ॥

१२३४—स तामविभ्रमद् भीमां,

वानरेन्द्रस्य चाऽमुचत् ॥

प्रापप्तन् मारुतिस् तत्र

तां चाऽलासीद् वियद्-गताम् ॥ ५३ ॥

स तामित्यादि—तां गृहीतां शक्तिं स कुम्भकर्णः अविभ्रमत् भ्रमयति स्म । अमेर्ण्यन्ताच्छडि रूपम् । वानरेन्द्रस्य सुग्रीवस्योपरि अमुचत् मुक्तवान् । लुदित्वादङ् । तत्र तस्यां मुक्तायां मारुतिर्हनुमान् प्रापप्तत् प्रत्युपस्थितः । लुदित्वादङ् । ‘२३५५। पतः पुम् । ७।४।१९।’ इति पुमागमः । तां च वियद्गतामलासीन् आस-
वान् । ‘११३२। ला आदाने ।’ ‘२३७७। यम-रम-। ७।२।७३।’ इति सगिटौ ॥

युग्मम्—

१२३५—अशोभिष्टाऽचखण्डच् च

शक्तिं वीरो, न चाऽयसत् ॥

लौह-भार-सहस्रेण

निर्मिता निरकारि मे ॥ ५४ ॥

अशोभिष्टेत्यादि—असौ गृहीतशक्तिर्वीरः अशोभिष्ट शोभते स्म । शक्तिम-
चखण्डच् भग्नवान् । ‘१६९४।९५। खड्-खडि भेदने’ चौरादिकः । तां च खण्ड-
यज्ञायसत् नायस्यति स्म । ‘१२८६। यसु प्रयत्ने’ पुषादिः । लौहभारसहस्रेण
निर्मिता घटिता मम शक्तिर्निरकारि भग्ना अनेनेति रक्षः कुम्भकर्णोऽकुपदिति
वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ॥

१२३६—शक्तिरत्यकुपद् रक्षो, गिरिं चौदखनीद् गुरुम्, ॥

व्यसृष्ट तं कपीन्द्रस्य, तेनाऽमूर्च्छीदसौ क्षतः ॥ ५५ ॥

शक्तिरित्यादि—अकुपत् कुपितः । ‘१३१२। कुप क्रोधे’ पुषादिः । गिरिं च
गुरुमुदखनीत् उत्खातवान् । ‘२२८४। अतो हलादेर्लघोः । ७।२।७।’ इति वृच्च-
भावपक्षे रूपम् । कपीन्द्रस्य सुग्रीवस्योपरि तं च गिरिं व्यसृष्ट विसृष्टवान् ।
‘सृज विसर्गे’ अनुदात्तेत् । तस्माद्वलन्तादात्मनेपदे सिचः कित्त्वे गुणाभावः ।
असौ कपीन्द्रस्तेन क्षतः हतः सन् अमूर्च्छीत् मोहमुपगतः ॥

१२३७—अलोठिष्ट च भू-पृष्ठे, शोणितं चाऽप्यसुस्रुवत्, ॥

तमादायाऽपलायिष्ट, व्यरोचिष्ट च राक्षसः ॥ ५६ ॥

अलोठिष्टेत्यादि—मूर्च्छितश्च भूपृष्ठे अलोठिष्ट लुठते स्म । ‘रुड-लुठ प्रति-
घाते’ इति घुतादिः । ‘२३४५। घुच्चो लुडि । १।३।१९।’ इति परस्मैपदविक-

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'कुम्भकर्ण-वधो' नाम पञ्चदशः सर्गः— ३८७

ल्पेनात्मनेपदम् । अस्य शोणितं च व्यसुस्रुवत् सुतम् । '२३१२। णि-श्रि-
।३।१।४६।' इत्यादिना चङ् । तं सुग्रीवमादाय राक्षसः कुम्भकर्णः पलायिष्ट
पलायते स्म । व्यरोचिष्ट रोचते स्म । '७९७। रुच दीप्तौ' ॥

युग्मम्—

१२३८—अभैषुः कपयो, ऽन्वारत् कुम्भकर्णं मरुत्-सुतः, ॥

शनैर्बोधि सुग्रीवः, सोऽलुञ्जीत् कर्ण-नासिकम् ५७

अभैषुरित्यादि—तस्मिन्नीते कपयोऽभैषुः भीताः । मरुत्सुतः कुम्भकर्ण-
मन्वारत् अनुगतः । अर्तैः '२३८२। सर्ति-शास्वर्तिभ्यश्च ।३।१।५६।' इत्यङ् ।
'२४०६।' ऋदृशोऽङि गुणः ।७।४।१६।' । सुग्रीवः शनैर्मेनागबोधि लब्धसंज्ञो
बभूव । '२३२८। दीप-जन-।३।१।६१।' इत्यादिना बुधेः कर्तरि चिप् । स
बुद्धः कर्णनासिकम् । प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः । अस्यालुञ्जीत् कृत्त्वान् । राक्षस-
स्येति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ॥

१२३९—राक्षसस्य, न चाऽत्रासीत्, प्रनष्टुर्मयतिष्ठ च. ॥

अक्रोधि कुम्भकर्णेन, पेष्टुमारम्भि च क्षितौ. ॥५८॥

राक्षसस्येत्यादि—राक्षसस्य कुम्भकर्णस्य सम्बन्धे स सुग्रीवो न चात्रा-
सीत् न व्रतः । राक्षसात् प्रनष्टं पलायितुम् । '२५१७। मस्जि-नशोर्झलि ।
७।१।६०।' इति जुम् । अयतिष्ठ च यतते स्म । कुम्भकर्णेनात्मनोऽवस्थां दृष्ट्वा
अक्रोधि कुब्धम् । भावे लुङ् । क्षितौ च पेष्टुं चूर्णयितुं सुग्रीव आरम्भि आरब्धः ।
कर्मणि लुङ् । '२५८१। रमेरशान्लिटोः ।७।१।६३।' इति जुम् ॥

१२४०—सुग्रीवो ऽस्या ऽभ्रशङ्कस्तात्,

समगाहिष्ट चाऽम्बरम्, ॥

तूर्णमन्वसृपद् राम-

माननन्दच्च च वानरान्. ॥ ५९ ॥

सुग्रीव इत्यादि—अस्य कुम्भकर्णस्य हस्तात् सुग्रीवः अभ्रशत् अष्टः ।
'१३०४। अञ्जु-अञ्जु अधःपतने' पुषादिः । स चाम्बरमाकाशमगाहिष्ट आक्रा-
न्तवान् । '६९६। गाहृ विलोडने' अनुदात्तेत् । तूर्णं च राममन्वसृपद् अनुगतः ।
लुदिच्वाद्ङ् । वानरांश्च कर्ण-नासिककर्तृनेनाननन्दत् तोषितवान् । नन्दतेर्ण्य-
न्तस्य रूपम् ॥

१२४१—अतत्वरच्च च तान् योद्धुमचिचेष्टच्च च राघवौ. ॥

कुम्भकर्णो न्यवर्तिष्ठ, रणेऽयुत्सन्त वानराः. ॥६०॥

अतत्वरदित्यादि—तांश्च वानरान् योद्धुमतत्वरत् त्वरयति स्म 'मा विल-
म्बध्वम्' इति । त्वरेर्ण्यन्ताच्चङ् । '२५६६। अत् स्मृ-दृ-त्वर-।७।४।९५।' इति

३८८ भट्टिकाव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

अभ्यासस्य अत्वम् । राघवौ च योद्धुमचिचेष्टत् व्यापारयति स्म । '२५८३।
विभाषा वेष्टि-चेष्ट्योः । ७।४।९६।' इत्यभ्यासस्यात्वपक्षे रूपम् । स कुम्भकर्णो
योद्धुं न्यवर्तिष्ठ निवृत्तः । निवृत्तिर्द्युतादिः । '२३४५। द्युत्यः—१।३।९१।' इत्यादि-
नात्मनेपदे नाङ् । वानराश्चायुत्सन्त युध्यन्ते स्म ॥

१२४२—अविवेष्टन् नृपाऽऽदेशादरुक्षंश्च चाऽऽशु राक्षसम् ॥
तानधावीत् समारूढांस्तेऽप्यस्त्रंसिषता ऽऽकुलाः. ६१

अविवेष्टन्नित्यादि—वानरा राक्षसमविवेष्टन् वेष्टयन्ति स्म । अत्र राम
इत्यर्थाद्भ्रष्टव्यम् । यतस्तदादेशादाशु ते राक्षसमारूढान् आरूढाः । रुहः '२३३६।
शल इगुपधात्—१३।१।४५।' इत्यादिना क्सः । वानरा एव नृपादेशादविवेष्टन्निति
व्याख्याने स्वातन्त्र्येण तेषां कर्तृत्वात्प्रयोजकत्वं न घटते । तांश्च वानरानारूढान्
कुम्भकर्णोऽधावीत् धूतवान् । '२२७९। स्वरति—७।२।४४।' इत्यादिना इट् ।
हल्वृद्धेः '२२६८। नेटि । ७।१।४।' इति प्रतिषेधः । ते व्याकुलाः सन्तोऽस्त्रंसिषता
स्त्रस्ताः । पतिता इत्यर्थः । '८०६। संसु-अंसु अवसंसने' द्युतादिः । परस्मैपदा-
भावाच्चाङ् ॥

१२४३—अग्रसिष्ट, व्यधाविष्ट, समाश्लिक्षच्च च निर्दयम् ॥
ते चाऽप्यघोरिषुर्घोरं, रक्तं चाऽवमिषुर्मुखैः. ॥६२॥

अग्रसिष्टेत्यादि—कुम्भकर्णः कांश्चिदग्रसिष्टं ग्रसते स्म । कांश्चिन्निर्दयं समा-
श्लिष्यत् । '१२६२। श्लिष आलिङ्गने' । '२३३६। शलः—१३।१।४५।' इति क्सः ।
ते चाश्लिष्टाः महाघोरं श्रुतिकटुकं अघोरिषुः शब्दमुक्तवन्तः । '१४३३। घुर
मीमार्थ-शब्दयोः' इति तुदादिरनुदात्तेत् । रक्तं चावमिषुः उद्धीर्णवन्तः ॥

१२४४—स चाऽपि रुधिरैर् मत्तः स्वेषामप्यदयिष्ट न, ॥

अग्रहीच्च चाऽऽयुरन्येषामरुद्धं च पराक्रमम्. ॥६३॥

स चेत्यादि—स चापि कुम्भकर्णः रुधिरैर्मत्तः स्वेषामपि नादयिष्टं न द्यां
कृतवान्, किमपरेषाम् । '६१३। अधीगर्थ—१।२।५२।' इति षष्ठी । अन्येषां वान-
राणां आयुर्जावितमग्रहीत् गृहीतवान् । '२२९९। हयन्त—७।२।५।' इति न वृद्धिः ।
'अदोहीवाऽऽयुः' इति पाठान्तरम् । तत्र तथाभूतं कुम्भकर्णं दृष्टवतामन्येषा-
मायुरदोहीव स्वयं गतमिव । '२७६९। दुहश्च । ३।१।६३।' इति कर्मकर्तरि चिण् ।
पराक्रमं चान्येषामरुद्धं च आवृतवान् । रुधेः कर्माभिप्राये तङ् । '२२८१। झलो
झलि । ८।२।२६।' इति सिचो लोपः । '२२८०। झपस्तथोर्धोऽघः । ८।२।४०।' ।
'५२। झलां जश् झशि । ८।४।५३।' ॥

१२४५—संत्रस्तानामपाहारि सत्त्वं च वन-वासिनाम्, ॥

अच्छेदि लक्ष्मणेनाऽस्य किरीटं कवचं तथा. ॥६४॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'कुम्भकर्ण-वधो' नाम पञ्चदशः सर्गः— ३८९

संत्रस्तानामित्यादि—तेन सत्त्वमपाहारि अपहतम् । सर्वेषां त्रस्तत्वात् ।
कर्मणि लुङ् । लक्ष्मणेन अस्य किरीटं मुकुटं तथा कवचमच्छेदि छिन्नम् ।
कर्मणि लुङ् ॥

युग्मम्—

१२४६—अभेदि च शरैर् देहः प्राशंसीत् तं निशा-चरः. ॥

अस्पर्धिष्ट च रामेण तेना ऽस्या ऽक्षिप्सतेष्वः, ६५

अभेदीत्यादि—देहश्चास्य शरैः करणभूतैरभेदि छिन्नः । निशाचरश्च तं
लक्ष्मणं प्राशंसीत् स्तुतवान् 'साधु भवता युद्धम्' इति । रामेण सहास्पर्धिष्ट
योद्धुं स्पर्धते स्म । तेन रामेणास्य इषवः अक्षिप्सत क्षिप्ताः । कर्मणि लुङ् ।
हलन्तादात्मनेपदे सिचः कित्वाद्गुणाभावः ॥

१२४७—यैरघानि खरो, वाली, मारीचो, दूषणस् तथा. ॥

अवामंस्त स तान् दर्पात्, प्रोदयंसीच्च मुद्गरम्. ६६

यैरित्यादि—यैः शरैश्च खरोऽघानि व्यापादितः । कर्मणि लुङ् । ते अक्षि-
प्सतेति योज्यम् । स कुम्भकर्णस्तान् घ्नन् दर्पादवामंस्त अवमन्यते स्म । मुद्गरं
प्रोदयंसीत् उद्गूर्णवान् । '२३७७। यम-रम-१७।२।७३।' इति सगिदौ ॥

१२४८—वायव्याऽस्त्रेण तं पाणिं

रामो ऽच्छैत्सीत् सहाऽऽयुधम्, ॥

आदीपि तरु-हस्तो ऽसा-

वधावीच्च चा ऽरि-संमुखम्. ॥ ६७ ॥

वायव्यास्त्रेणेत्यादि—येन पाणिना मुद्गरमुदयंसीत् तं पाणिं सहायुधं रामो
वायव्यास्त्रेण मरुदेवतादत्तेन अच्छैत्सीत् । छिन्नपाणिश्चासौ तरुहस्तः । तरुहस्त्रे
यस्येति तरोः प्रहरणत्वात् सप्तम्यन्तस्य परनिपातः । आदीपि दीप्यते स्म ।
'२३२८।' दीप जन-१३।१।६१।' इत्यादिना कर्तरि चिप् । अरिसंमुखं च
रामाभिमुखमधावीत् वेगेन गतवान् ॥

१२४९—स-वृक्षमच्छिदत् तस्य शक्राऽस्त्रेण करं नृपः, ॥

जङ्घे चा ऽशीशतद् वाणैरप्रासीदिषुभिर् मुखम्. ६८

सवृक्षमित्यादि—तस्य सवृक्षमपि करं नृपः शक्रास्त्रेणाच्छिदत् । '२२६९।
इरितो वा १३।१।५७।' इत्यङ् । जङ्घे चान्यैर्वाणैरशीशतद् गमनासमर्थं कृत-
वान् । शदेणौ '२५९८। शदेरगतौ-१७।३।४२।' इति तत्त्वम् । मुखं चेषुभिरप्रा-
सीत् पूरितवान् । '११३५। प्रा पूरणे' ॥

१२५०—ऐन्द्रेण हृदये ऽव्यात्सीत्,

सो ऽध्यवात्सीच्च गां हतः. ॥

३९० भट्टिकाव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

अपिक्षाता सहस्रे द्वे

तद्-देहेन वनौकसाम्. ॥ ६९ ॥

ऐन्द्रेणेत्यादि—ऐन्द्रेण शरेण हृदयेऽव्यात्सीत् विद्ववान् । स तथा हतो
गामध्यव्यात्सीत् भूमिमध्युषितवान् । तस्य पततो देहेन वनौकसां वानराणां
द्वे सहस्रे अपिक्षातां चूर्णिते । '१५४६। पिषु संचूर्णने' कर्मणि लुङ् ॥

१२५१—अस्ताविषुः सुरा रामं, दिशः प्रापन् निशा-चराः, ॥

भूरकम्पिष्ट साऽद्रीन्द्रा, व्यचालीदम्भसां पतिः. ७०

अस्ताविषुरित्यादि—तस्मिन् हते सुरा देवा राममस्ताविषुः स्तुवन्ति स्म ।
'२३८५। स्तु-सु-धूम्यः परस्मैपदेषु । ७।२।७२।' इतीद् । निशाचरास्तद्गयादिशः
प्रापन् प्रासवन्तः । '१३४१। आपु व्यासौ ।' साद्रीन्द्रा सकुलपर्वता भूमिरक-
म्पिष्ट चलति स्म । अम्भसां पतिः समुद्रो व्यचालीत् प्रक्षुभितवान् ॥

१२५२—हतं रक्षांसि राजानं कुम्भकर्णमशिश्नवन्, ॥

अरोदीद् रावणोऽशोचीन्, मोहं चाऽशिश्रियत् परम्. ॥

हतमित्यादि—हतं व्यापादितं कुम्भकर्णं रक्षांसि राजानं रावणमशिश्नवन्
श्रावितवन्तः । शृणोतेण्यन्तात् सनीव कार्यमिति '२५७८। स्रवति-शृणोति
-। ७।४।८१।' इत्यादिना अभ्यासस्य विकल्पेनेद् । एवं च कृत्वा अशुश्रुवन्निति
पाठान्तरम् । द्विकर्मकता तु बुद्ध्यर्थत्वात् । श्रुत्वा च रावणोऽरोदीत् अश्रूणि
मुमोच । अशोचीत् शोचति स्म । 'तेनापि त्यक्तोऽस्मि' इति । परं च मोहं
मूर्च्छामशिश्नयत् । '९६३। शिञ् सेवायाम्' । '२३१२। णि-शि-। ३।१।४८।'
इत्यादिना चङ् ॥

युग्मम्—

१२५३—अपप्रथद् गुणान् भ्रातुरचिकीर्तच्च विक्रमम्, ॥

'क्रुद्धेन कुम्भकर्णेन येऽदर्शिषत शत्रवः ॥ ७२ ॥

अपप्रथदित्यादि—भ्रातृगुणान् बुद्धिमत्त्वादीनपप्रथत् प्रख्यापितवान् । '८१८
प्रथ प्रख्याने' घटादिः । तस्मात् प्यन्ताच्चङि '२५६६। अत् स्मृ-दृ-त्वर-। ७।४।९५।'
इत्यादिनाऽत्वम् । विक्रमं च शौर्यमचिकीर्तत् उदीरितवान् । '१७७५। कृत
संशब्दने' इति चौरादिकः । '२५८९। जिघ्रतेर्वा । ७।४।६।' इत्यधिकृत्य '२५६७।
उर्कत् । ७।४।७।' इति इकाराभावपक्षे रूपम् । '२५७१। उपधायाश्च । ७।१।१०१।'
इतीत्वम् । विक्रमकीर्तनं चाह—क्रुद्धेन क्रोधकर्त्रा कुम्भकर्णेन ये शत्रवोऽदर्शि-
षत इष्टाः । कर्मणि लुङ् । '२७५७। स्यसिच्-। ७।४।६२।' इत्यादिना दशेऽश्विष्वदिद् ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'कुम्भकर्ण-वधो' नाम पञ्चदशः सर्गः— ३९१

१२५४—कथं न्वजीविषुस् ते च, स चाऽमृत महा-बलः. ॥

अयुयुत्सिषताऽऽश्वास्य कुमारा रावणं ततः ७३

कथमित्यादि—तेऽल्पाः कथं नाम अजीविषुः जीविताः । स च कुम्भ-
कर्णो महाबलः अमृत मृतः । '२५३८। त्रियतेर्लुङ्-लिङोश्च । १।३।६१।' इति तद् ।
'२३६९। ह्रस्वादङ्गात् । ८।२।२७।' इति सिचो लोपः । अनन्तरं कुमाराः राज-
पुत्रा देवान्तकादयो रावणं शोचन्तमाश्वास्य अपनीतशोकं कृत्वा अयुयुत्सिषत
योद्धुमिष्टवन्तः । '२६१३। हलन्ताच्च । १।२।१०।' इति सनः क्त्विम् । '२७३४।
पूर्ववत्सनः । १।३।६२।' इति तद् ॥

१२५५—देवान्तकोऽतिकायश् च त्रिशिराः स नरान्तकः ॥

ते चांऽऽहिषत संग्रामं बलिनो रावणाऽऽत्मजाः. ७४

देवान्तक इत्यादि—ते च रावणात्मजाः संग्राममाहिषत गतवन्तः । '६७८ ।
अहि गतौ । किनामानः । देवान्तकः अतिकायः त्रिशिराः नरान्तक इति ॥

१२५६—युद्धोन्मत्तं च मत्तं च राजा रक्षार्थमाञ्जिहत् ॥

युतानां, निरगातां तौ राक्षसौ रण-पण्डितौ. ॥७५॥

युद्धेत्यादि—सुतानां रक्षार्थं राजा युद्धोन्मत्तं मत्तं च राक्षसं आञ्जिहत्
प्रस्थापितवान् । अहतेर्गौ चङ्परे द्वितीयादिवचनम् । तौ राक्षसौ रणपण्डितौ
निरगातां निर्गतौ । '२४५८। इणो गा लुङि । २।४।४५।' ॥

१२५७—तैरजेषत सैन्यानि, द्विषोऽकारिषताऽऽकुलाः ॥

पर्वतानिव ते भूमावचैषु वानरोत्तमान्. ॥ ७६ ॥

तैरित्यादि—तैः राक्षसैः सैन्यानि अजेषत जितानि । कर्मणि लुङ् । अचि-
प्वद्भावपक्षे रूपम् । द्विष आकुला अकारिषत । ते राक्षसा वानरोत्तमान् वान-
राणां प्रधानभूतान् पर्वतानिव भूमौ अचैषुः पुञ्जीकृतवन्तः । 'चिञ् चयने' ॥

१२५८—अङ्गदेन समं योद्धुमघटिष्ट नरान्तकः, ॥

प्रेषिषद् राक्षसः प्रासं, सोऽस्फोटीदङ्गदोरसि. ७७

अङ्गदेनेत्यादि—नरान्तकः कुमारः अङ्गदेन सह योद्धुमघटिष्ट घटते स्म ।
राक्षसः प्रासं कुन्तं प्रेषिषत् । 'इषु गतौ' इत्यस्य ण्यन्तस्य चङि रूपम् । स
प्रासोऽङ्गदोरसि अस्फोटीत् विशीर्णः ॥

१२५९—अश्वान्वालि-सुतोऽहिंसीदतताडच् च मुष्टिना. ॥

रावणिश् चाऽव्यथो योद्धुमारब्ध च महीं गतः. ७८

अश्वानित्यादि—वालि-सुतोऽश्वान् रथयुक्तानहिंसीत् व्यापादितवान् ।
'१५४९। तृह हिंसि हिंसायाम्' । मुष्टिना पाणिना अतताडत् आहतवान्
'१६९३ । तड आघाते' । ताडनं ताडः । '३१८४। भावे । ३।१।१८।' वच् । ताडं

३९२ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

करोतीति णिच् । णाविष्टवदिति टिलोपः । '२३१४। गौ चङ्युपधाया-।७।४।१।' इति '२५७२। नाग्लोपिशास्वृदिताम् ।७।४।२।' इति ह्रस्वप्रतिषेधः । स च राव-
णिरन्यथो व्यथारहितः । हताश्चाद्रथादवतीर्थं महीं गतः सन् योद्धुमारब्ध आर-
भते स्म । '२२८१। झलो झलि ।८।२।२६।' इति सिचो लोपः । घत्वं च ॥

१२६०—तस्या ऽहारिषत प्राणा मुष्टिना वालि-सूनुना ॥

प्रादुद्रुवंस् ततः क्रुद्धाः सर्वे रावणयोऽङ्गदम् ॥७९॥

तस्येत्यादि—तस्य प्राणाः वालिपुत्रेण अहारिषत हताः । कर्मणि लुङ् ।
चिप्वद्भावः । ततो ऽनन्तरं सर्वे रावणयः रावणस्यापत्यानि देवान्तकादयः क्रुद्धाः
सन्तोऽङ्गदं प्रादुद्रुवन् गतवन्तः । '२३१२। णि-ञि-।३।१।४८।' इत्यादिना चङ् ॥

१२६१—ततो नील-हनूमन्तौ रावणीनववेष्टताम्, ॥

अकारिष्ठां गिरींस् तुङ्गानरौत्सीत् त्रिशिराः शरैः ८०

तत इत्यादि—ततो रावणीनङ्गदाभिमुखमागच्छतो नीलो हनूमांश्चाववेष्टतां
वेष्टितवन्तौ । '२५८३। विभाषा वेष्टि-चेष्टयोः ।७।४।९६।' इत्यभ्यासस्यात्वम् ।
गिरींश्चाकारिष्ठां विक्षिप्तवन्तौ । '१५०३। कृ विक्षेपे' । सिचि वृद्धिः । तांश्च गिरी-
विक्षिप्तान् त्रिशिराः शरैस्तुङ्गानरौत्सीत् आवृतवान् । '१५३२। रुधिर आवरणे' ॥

१२६२—परिधेणा ऽवधिष्टा ऽथ रणे देवान्तको बली, ॥

मुष्टिना ऽददरत् तस्य मूर्धानं मारुताऽऽत्मजः ॥८१॥

परिधेणेत्यादि—अथ देवान्तको बली परिधेणावधिष्ट हतवान् । '२६९५।
आङो यम-हनः ।१।३।२८।' इति तङ् । अविवक्षितकर्मकत्वात् '२६९६। आत्म-
नेपदेष्वात्यतरस्याम् ।२।४।४४।' इति हनो वधादेशः । तस्य भ्रतो मूर्धानं मारु-
तात्मजः मुष्टिना अददरत् दारितवान् । '१५८८। हृ विदारणे' ण्यन्तस्य चङ्परि
णौ '२५६६। अत् स्मृ-हृ-स्वर-।७।४।९५।' इत्यादिनाभ्यासस्यात्वम् ॥

१२६३—अदीदिपत् ततो वीर्यं, नीलं चाऽपीपिडच्च छरैः ॥

युद्धोन्मत्तस्, तु नीलेन गिरिणाऽनायि संक्षयम् ८२

अदीदिपदित्यादि—ततो देवान्तकविनाशादनन्तरं युद्धोन्मत्तः सुतानां
रक्षार्थं यः प्रेषितः स वीर्यमदीदिपत् । '२५६५। आज-भास-।७।४।३।' इत्या-
दिना ह्रस्वाभावपक्षे रूपम् । नीलं च शरैरपीपिडत् पीडितवान् । ह्रस्वाभावपक्षे
रूपम् । अपीपरदिति पाठान्तरम् । पूरितवानित्यर्थः । '१६५३। पृ पूरणे' इति
चुरादिः । स तु नीलेन संक्षयं गिरिणा आनायि नीतः । कर्मणि लुङ् ॥

१२६४—अवभ्राजत् ततः शक्तिं त्रिशिराः पवनाऽऽत्मजे, ॥

हनूमता क्षतास् तस्य रणे ऽमृषत वाजिनः ॥८३॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'कुम्भकर्ण-वधो' नाम पञ्चदशः सर्गः— १९३

अवभ्राजदित्यादि—ततोऽनन्तरं त्रिशिराः कुमारः पवनात्मजविषये शक्तिं वीर्यमवभ्राजत् दीपयति स्म । '२५६५। आज-।७।४।३। इत्यादिना ह्रस्वाभाव-पक्षे रूपम् । तस्य वाजिनो रथयुक्ता रणे हनूमता हताः सन्तः अमृषत मृताः '२५३८। त्रियतेलुङ्ग-।१।३।६।१।' इति तद् ॥

१२६५—अस्त्रसच्च चाऽऽहतो मूर्ध्नि,

खड्गं चाऽजीहरद् द्विषा, ॥

प्राणानौज्जीच च खड्गेन

छिन्नैस् तेनैव मूर्धभिः. ॥ ८४ ॥

अस्त्रसदित्यादि—त्रिशिराश्च हनूमता मूर्ध्नि हतः सन् रथाद्धूमौ अस्त्रसत् स्रस्तः पतितः । '२३४५। द्युत्यो लुङि ।१।३।९।१।' इति परस्मैपदम् । द्युतादि-त्वादङ् छिति इत्यनुनासिकलोपः । स्रस्तश्च स खड्गं हस्तस्थं द्विषा हनूमता अजीहरत् हारितवान् । तेनैव च खड्गेन छिन्नैर्मूर्धभिर्हेतुभूतैः प्राणानौज्जीत् त्यक्तवान् । '१३८८। उज्ज उत्सर्गो' ॥

युग्मम्—

१२६६—मत्तेनाऽमारि संप्राप्य शरभाऽस्तां महा-गदाम्, ॥

सहस्र-हरिणाऽक्रीडीदतिकायस् ततो रणे. ॥ ८५ ॥

मत्तेनेत्यादि—शरभेण वानरेणास्तां क्षिप्तां महागदां प्राप्य मत्तेन सुतानां रक्षार्थं प्रेषितेन राक्षसेनामारि मृतम् । भावे लुङ् । ततोऽनन्तरं अतिकायो राजपुत्रो रणे अक्रीडीत् विहरति स्म । रथेनेति वक्ष्यति । सहस्रं हरयोऽश्वा यस्य रथस्य ॥

१२६७—रथेनाऽविव्यथच्च चाऽरीन्,

व्यचारीच्च च नि-रङ्कुशः, ॥

विभीषणेन सोऽख्यायि

राघवस्य महा-रथः. ॥ ८६ ॥

रथेनेत्यादि—अरींश्चाविव्यथत् पीडितवान् । व्यथेर्ण्यन्तस्य चङि रूपम् । निरङ्कुशश्चाप्रतिहतशक्तिर्व्यचारीत् आभ्यति स्म । रान्तत्वाद्वृद्धिः । स विचरन्म-हारथः विभीषणेन राघवस्य अख्यायि कथितः । कर्मणि लुङ् ॥

१२६८—'अतस्तम्भदयं वज्रं, स्वयम्भुवमतूतुषत्, ॥

अशिक्षिष्ट महाऽस्त्राणि, रणेऽरक्षीच्च च राक्षसान्. ८७

अतस्तम्भदित्यादि—अयं स्वशक्त्या वज्रं अतस्तम्भत् स्तम्भितवान् । '४४३। स्तभि स्कभि प्रतिष्टम्भे ।' ण्यन्तस्य । '२३१२। णि-शि-।३।१।४८।' इत्यादिना चङ् । स्वयम्भुवमतूतुषत् उग्रेण तपसा आराधनात् तोषितवान् । '१२६० ।

३९४ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

तुष प्रीतौ' प्यन्तः । महास्त्राणि दिव्यानि चाशिक्षिष्ट शिक्षते स्म । '६४७
शिक्ष विद्योपादाने' । रणे च राक्षसानरक्षीत् रक्षति स्म ॥

१२६९—अध्यगीष्टा ऽर्थ-शास्त्राणि,

यमस्या ऽहोष्ट विक्रमम्, ॥

देवाऽऽहवेष्वादीपिष्ट,

ना ऽजनिष्टा ऽस्य साध्वसम्. ॥ ८८ ॥

अध्यगीष्टेत्यादि—अर्थशास्त्राणि पराभिसन्धानार्थानि अध्यगीष्ट अभीत-
वान् । '२४६० । विभाषा लुङ्-लङोः । २।४।५०।' इति इङो गाढादेशः ।
यमस्याप्ययं विक्रममहोष्ट अपनीतवान् । '११५६। हुङ् अपनयने ।' अहलन्तत्वा-
त्सिचो न क्त्वम् । देवाहवेष्वादीपिष्ट शोभितः । अस्य च साध्वसं भयं नाज-
निष्ट न जातम् । '२३२८। दीप-जन-१।१।६१।' इत्यादिना चिण्वद्भावपक्षे रूपम् ॥

१२७०—एष रावणिर्वापादि वानराणां भयङ्करः ॥'

आह्वता ऽथ स काकुत्स्थं धनुश् चा ऽपुस्फुरद् गुरु. ॥

एष इत्यादि—य एवं स एष रावणिः आपादि अस्माकं समीपमागतः ।
'१२४४। पद गतौ ।' '२५१३। चिण् ते पदः । ३।१।६०।' इति चिण् । यतो
रावणिर्वापराणां भयङ्करः । अथ सोऽतिकायः समीपमागतः काकुत्स्थमाहूत
युद्धायाहूतवान् । '२४१९। आत्मनेपदेष्वावन्यतरस्याम् । ३।१।५४।' इत्यङ् । धनुश्च
गुरु महदपुस्फुरत् स्फारितवान् । '२५६९। चि-स्फुरोणौ । ६।१।५४।' इत्यात्वम् ॥

१२७१—सौमित्रिः सर्प-वत् सिंहमार्दिदत् तं महाऽऽहवे. ॥

तौ प्रावीवृततां जेतुं शर-जालान्यनेकशः. ॥ ९० ॥

सौमित्रिरित्यादि—यथा सर्पः सिंहं गच्छति तद्वत्तमिकायमार्दिदत् गत-
वान् । '५६। अर्द गतौ ।' अर्दनमर्दः । तत्करोतीति णिच् । तदन्ताच्चङि रूपम् ।
'१९६८। अर्द हिंसायाम्' इति चौरादिको वा । तौ सौमित्र्यतिकायौ जेतुं
शरजालानि प्रावीवृततां बहूनि प्रवर्तितवन्तौ । '२५६७। उर्जत् । ७।४।७।' इति
णौ चङयुपधाया अपवाद ऋकारः ॥

१२७२—अच्छैत्तां च महाऽऽत्मानौ, चिरमश्रमतां न च, ॥

तथा तावास्थतां बाणान्तानिष्टां तमो यथा. ॥ ९१ ॥

अच्छैत्तामित्यादि—तौ च महात्मानौ परस्परस्य शरजालानि अच्छैत्तां
छिन्नवन्तौ । '२२६९। इरितो वा । ३।१।५७।' इत्यङ्भावपक्षे रूपम् । '२२८१।
झलो झलि । ८।२।२६।' इति सिचो लोपः । चिरं चिरेणापि नाश्रमतां न
श्रान्तौ । श्रामिः पुषादिः । तौ तथा बाणानास्थतां क्षिप्तवन्तौ । '२४३८।
अस्थति-वक्ति-१।१।५२।' इत्यङ् । '२५२०। अस्थतेऽथुक् । ७।४।१७।' यथा

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'कुम्भकर्ण-वधो' नाम पञ्चदशः सर्गः— ३९५

अन्धकारमतानिष्टां विस्तारितवन्तौ । '२२८४। अतो हलादेर्लङोः । ७।२।७।' इति वृद्धिविकल्पः ॥

१२७३—सौर्याऽऽग्नेये व्यकारिष्टामस्त्रे राक्षस-लक्ष्मणौ, ॥

ते चोपागमतां नाशं समासाद्य परस्परम्. ॥ ९२ ॥

सौर्याग्नेये इत्यादि—राक्षसः सौर्यमस्त्रं व्यकारीत् विक्षिप्तवान् । '१५०३। कृ विश्लेषे ।' लक्ष्मणोऽप्याग्नेयं इत्येवं तौ व्यकारिष्टाम् । ते चास्त्रे परस्परमासाद्य प्राप्य नाशमुपागमताम् । लङित्वादह ॥

१२७४—अविभ्रजत् ततः शस्त्रमैषीकं राक्षसो रणे, ॥

तदप्यध्वसदासाद्य माहेन्द्रं लक्ष्मणे रितम्. ॥ ९३ ॥

अविभ्रजदित्यादि—ततोऽनन्तरं रावणिः ऐषीकमस्त्रम् । इषीकाया इदम् । तत्सर्वस्रोतस्सु प्रविशत् जीवितमपहरति । रणे अविभ्रजत् दीपित-वान् । '२५६५। आज-भास-७।४।३।' इत्यादिना उपधाया ह्रस्वत्वम् । तदपि अध्वसत् ध्वस्तम् । ध्वसिर्द्युतादिः । लक्ष्मणे रितं लक्ष्मणप्रेरितं माहेन्द्रमस्त्रमासाद्य तद्गतितरोधं कृत्वा ध्वंसयति स्म ॥

१२७५—ततः सौमित्रिरस्मार्षीददेविष्ट च दुर-जयम् ॥

ब्रह्माऽस्त्रं, तेन मूर्धानमदध्वंसन् नर-द्विषः. ॥ ९४ ॥

तत इत्यादि—अनन्तरं सौमित्रिः दुर्जयं अनभिभवनीयं ब्रह्मास्त्रमस्मार्षीत् स्मरति स्म । '२२९७। सिचि वृद्धिः-७।२।१।' तच्च स्मरणादुपस्थितं अदेविष्ट द्योतते स्म । '५३३।३४। तेवृ देवृ देवने' इति अनुदात्तेत् । द्योतने द्रष्टव्यः । देवनस्यानेकार्थत्वात् । तेन च ब्रह्मास्त्रेण प्रयोजककर्त्रा नरद्विषो राक्षसस्य मूर्धानमदध्वंसत् पातितवान् सौमित्रिः । हेतुमण्यन्ताच्चङि रूपम् ॥

१२७६—ततोऽक्रन्दीद् दशग्रीवस् तमांशिवसदिन्द्रजित्, ॥

निरयासीच्च संक्रुद्धः, प्रार्चिचच्च स्वयम्भुवम्. ९५

तत इत्यादि—ततः सुतमरणानन्तरं दशग्रीवः अक्रन्दीत् रोदिति स्म । तं च क्रन्दन्तमिन्द्रजिदं शिवसत् आश्वासितवान् । 'मयि जीवति किं वृथा जनवद्रोदिषि' इति । हेतुमण्यन्तस्य चङि रूपम् । संक्रुद्धश्च निरयासीत् । रावणगृहाग्निर्गतः । '११२३। या प्रापणे' । निर्गत्य च स्वगृहे स्वयम्भुवं ब्रह्माणं प्रार्चिचत् पूजितवान् । '१९४५। अर्च पूजायाम्' इति चुरादिः । '२३१५। चङि । ६।१।११।' अजादिद्विर्वचनम् ॥

१२७७—अहौषीत् कृष्णवर्त्मानं, समयष्टा ऽस्त्र-मण्डलम्, ॥

सो ऽलन्धब्रह्मणः शस्त्रं स्यन्दनं च जयाऽऽवहम्. ९६

अहौषीदित्यादि—कृष्णवर्त्मानमक्षिमहौषीत् । हृद्येन ग्रीणितवानित्यर्थः ।

३९६ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

अस्त्रमण्डलं आयुधग्रामं समयष्ट पूजितवान् । स इन्द्रजित् ब्रह्मणः सकाशात्
जयावहमस्त्रं स्यन्दनं चालब्ध लब्धवान् । २२८१। झलो झलि । ८। २। २६।
इति सिचो लोपः ॥

१२७८—तमध्यासिष्ट दीप्राऽग्रममोदिष्ट च रावणिः ॥

छन्न-रूपस् ततो ऽकर्तीद् देहान् रावण-विद्विषाम्. ९७

तमित्यादि—तं स्यन्दनं दीप्राग्रं उपरिभागस्य रत्नप्रत्युसत्वात् । अध्यासिष्ट
अध्यासितवान् । '५४२। अवि-शीङ्-। १। ४। ४६।' इति कर्मसंज्ञा । तत्रस्थश्च
रावणिरिन्द्रजित् अमोदिष्ट हृष्टवान् । ततोऽसौ छन्नरूपः अदृश्यः सन् रावण-
विद्विषां वानराणां देहानकर्तीत् छिन्नवान् । '१४२९। कृती छेदने ।' '२५०६।
सेसिचि-। ७। २। ५७।' इत्यादिना सिचोऽन्यत्रेद्विकल्पः । 'रावणिविद्विषाम्' इति
पाठान्तरम् । तत्र देवान्तकादिविद्विषामित्यर्थः ॥

१२७९—सप्त-षष्टिं स्रवङ्गानां कोटीर् वाणैरसृषुपत्. ॥

निशाऽन्ते रावणिः क्रुद्धो राघवौ च व्यमूमुहत्. ९८

सप्तषष्टिमित्यादि—वानराणां कोटीः सप्तषष्टिं वाणैरसृषुपत् स्वापितवान्
व्यापादितवानित्यर्थः । '२५८४। स्वापेश्चङि । ६। १। १८।' इति सप्तसारणम् ।
निशान्ते च निशावसाने रावणिः क्रुद्धः सन् राघवौ व्यमूमुहत् मोहितवान् ।
'१२७४। मुह वैचित्ये । णौ चङि रूपम् ॥

१२८०—अपिस्फवत् स्व-सामर्थ्यमगृहीत् सायकैर् दिशः, ॥

अघोरीच्च महा-घोरं, गत्वा, प्रैषीच्च च रावणम्. ९९

अपिस्फवदित्यादि—तौ मोहयित्वा आत्मीयं सामर्थ्यमपिस्फवत् वर्ध-
यति स्म । 'ईदृशस्तादृशोऽहम्' इति । '२५९७। स्फायो वः । ७। ३। ४१।' इति
णौ वत्वम् । दिशः सायकैरगृहीत् छादितवान् । '२२७८। नेटि । ७। १। ४।' इति
वृद्धिप्रतिषेधः । ह्यन्तत्वाद्वा । महाघोरं चातिरौद्रं शब्दमघोरीत् मुक्त-
वान् । गत्वा च लङ्कां रावणं प्रैषीत् प्रेषितवान् । 'गच्छ तत् ममाङ्कुतपरक्रमं
द्रष्टुम्' इति । 'इषु गतौ' ॥

युग्मम्-

१२८१—विभीषणस् ततो ऽबोधि स-स्फुरौ राम-लक्ष्मणौ, ॥

अपारीत् स गृहीतोल्को हत-शेषान् स्रवङ्गमान्. ॥

विभीषण इत्यादि—ततस्तस्मिन् काले विभीषणः रामलक्ष्मणौ सस्फुरौ
चलन्तौ अबोधि बुद्धवान् जीवितविति । '२३२८। दीप-जन-। ३। १। ६१।' इत्या-
दिना कर्तरि चिप् । स्फुरणं स्फुरः । घञर्थे कविधानम् । यदुक्तं स्थास्त्रागाव्य-
विहिनियुध्यर्थमिति तदुपलक्षणं न परिगणनम् । स विभीषणः अन्धकारात्
गृहीतोल्कः सन् हतशेषान् स्रवङ्गमानपारीत् 'मा भैष्ट' इति ग्रीणितवान् ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'कुम्भकर्ण-वधो' नाम पञ्चदशः सर्गः— ३९७

१२८२—'मा शोचिष्ट, रघु-व्याघ्रौ नाऽमृषातामिति ब्रुवन् ॥

अवाबुद्ध स नीलाऽऽदीन् निहतान् कपि-यूथ-पान् ॥

मा शोचिष्टेत्यादि—यूथं मा शोचिष्ट शोकं मा कुरुत । '२२१९। माङ्गि लुङ् । ३। ३। १७५।' यस्माद्रघुव्याघ्रौ नामृषातां न मृतौ इत्येवं ब्रुवन् अपारी-दिति योज्यम् । ये च निहतास्ताञ्जीलादीन् कपियूथपान् स विभीषणः परिभ्र-मन् अवाबुद्ध अवबुद्धवान् । एते हता इति । '२३२८। दीप-। ३। १। ६१।' इत्यादिना चिणो विकल्पितत्वादभावपक्षे रूपम् ॥

१२८३—तत्रैषज् जाम्बवान् प्राणीदुदमीलीच् च लोचने, ॥

पौलस्त्यं चाऽगदीत् 'कच्चिदजीवीन् मारुताऽऽत्मजः' ॥

तत्रेत्यादि—तत्र तेषु जाम्बवान् ईषन्मनाक् प्राणीत् उच्छ्वसिति स्म । '११४४। अन प्राणने ।', '२४७८। अनितेः । ८। ४। १९।' इति णत्वम् । लोचने च उदमीलीत् उन्मीलितवान् । '५५६। मील-क्षमील निसेपणे' । पौलस्त्यं च विभीषणमगदीत् गदितवान् । '२२८४। अतो हलादेः-। ७। २। ७।' इत्यबुद्धौ रूपम् । कच्चिद् किं हनुमान् अजीवीत् जीवितवान् । न मृत इति ॥

१२८४—तस्य क्षेमे महा-राज ! नाऽमृषमह्यखिला वयम् ॥

पौलस्त्योऽशिश्रवत् तं च जीवन्तं पवनाऽऽत्मजम् ॥

तस्येत्यादि—तस्य हनुमतः क्षेमे जीवितत्वे सति हे महाराज ! अखिलाः सर्व एव वयं नामृषमहि न मृता इति । '२७९०। आशंसायां भूतवच्च । ३। ३। १३२।' इति लुङ् । एवमुक्तः पौलस्त्यो जीवन्तं पवनात्मजं तमशिश्रवत् श्रावि-तवान् । शृणोतेर्ष्यन्ताच्चिद सन्वद्भावे अभ्यासे वर्णस्य '२५७८। स्रवति-शृणोति-। ७। ४। ८१।' इत्यादिना इत्वपक्षे रूपम् ॥

युग्मम्—

१२८५—आयिष्ट मारुतिस् तत्र, तौ चाऽप्यहृषतां ततः, ॥

प्राहैष्टां हिमवत्-पृष्ठे सर्वौषधि-गिरिं ततः ॥ १०४ ॥

आयिष्टेत्यादि—तत्र पौलस्त्याहूतो मारुतिरायिष्ट आगतवान् । '५०८। अय गतौ' आङ्पूर्वः । ततोऽनन्तरं तौ जाम्बवद्विभीषणौ अहृषतां हृष्टवन्तौ । '१३०८। हृष तुष्टौ' पुषादिः । ततस्तौ हृष्टौ हनुमन्तमिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । प्राहैष्टां प्रहितवन्तौ । '२२९७। सिचि वृद्धिः-। ७। २। १।' '१३३७। हि गतौ' । हिमवत्पृष्ठे हिमवतः पृष्ठे । सर्वौषधिगिरिम् । सर्वा ओषधयो यस्मिन्निति ॥

१२८६—तौ हनूमन्तमानेतुमौषधीं मृत-जीविनीम् ॥

सन्धान-करणीं चाऽन्यां वि-शल्य-करणीं तथा ॥ १०५ ॥

भ० का० ३४

३९८ भट्टिकाव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

तावित्यादि—या मृतं जीवयति या च क्षतस्य सन्धानं करोति तथा विशल्यं च या करोति । ‘२८४१। कृत्यल्युटो बहुलम् । ३। ३। ११३।’ तामो-षधीमानेतुं ग्राहैष्टामिति योज्यम् । ‘३५३४। ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम् । ६। ३। १३२।’ इति दीर्घत्वम् ॥

१२८७—प्रोदपाति नभस् तेन, स च प्रापि महा-गिरिः, ॥
यस्मिन्नज्ज्वलिषू रात्रौ महौषध्यः सहस्र-शः ॥ १०६ ॥

प्रोदपातीत्यादि—तेन हनूमता नभः प्रोदपाति उत्पतितम् । स च महा-गिरिस्तेन प्रापि प्राप्तः । कर्मणि लुङ् । यस्मिन् गिरौ महौषध्यः सहस्रशोऽनेकधा रात्रावज्ज्वलिषुः दीप्यन्ते स्म । ‘२३३०। अतो लान्तस्य । ७। २। २।’ इति वृद्धिः ॥

१२८८—निरचायि यदा भेदो नौषधीनां हनू-मता, ॥

सर्व एव समाहारि तदा शैलः सहौषधिः. ॥ १०७ ॥

निरचायीत्यादि—यदा हनूमता ओषधीनां भेदो न निरचायि विशेषतो न निश्चितः तदा कृत्स्न एव शैलः सहौषधिरोषधिसहितः समाहारि समानीतः ॥

१२८९—प्राणिषुर् निहताः केचित्,

केचित् तु प्रोदमीलिषुः ॥

तमो ऽन्ये ऽहासिषुर् योधा,

व्यजृम्भिषत चाऽपरे. ॥ १०८ ॥

प्राणिषुरित्यादि—यदा ओषधिसन्निधानात् ते निहताः केचिद्योधाः प्राणिषुः उच्छ्वसितवन्तः । केचित्तु प्रोदमीलिषुः उन्मीलितलोचना बभूवुः । अन्ये तमो मोहमहासिषुः त्यक्तवन्तः । ‘२३७७। यम-रम-। ८। २। ७३।’ इति सगिटौ । तथान्ये ऽहासिषुरिति पाठान्तरम् । ते तथाभूतमात्मानं दृष्ट्वा सविलासं हसि-तवन्तः । अपरे व्यजृम्भिषत जृम्भिकां कृतवन्तः । ‘४१५। १६। जम्भि-जृम्भि गात्रविनामे’ इत्यात्मनेपदी ॥

१२९०—अजिघ्रपंसु तथैवाऽन्यानोषधीरालिपंसु तथा, ॥

एवं तेऽचेतिषुः सर्वे, वीर्यं चाऽधिषताऽधिकम्. १०९

अजिघ्रपन्तित्यादि—तथान्यान् लब्धसंज्ञानोषधीरजिघ्रपन् प्रापितवन्तः । नासिकयाभ्यवहृतवन्त इत्यर्थः । ‘५४०। गति-वृद्धि-। १। ४। ५२।’ इत्यादिना प्रत्यवसाने कर्मसंज्ञा । ‘२५८९। जिघ्रतेर्वा । ७। ४। ६।’ इति ‘२३१४। गौ चङ्यु-पधायाः-। ७। ४। १४।’ इत्यकारः । तथालिपन् लिप्तवन्तः । अन्यानोषधीभिरित्य-थात् । ‘२५१८। लिपि-सिचि-। ३। १। ५३।’ इत्यङ् । एवमनेन प्रकारेण सर्वे-ऽचेतिषुः संज्ञां लब्धवन्तः । ‘३९। चिती संज्ञाने ।’ अधिकं च वीर्यमोषधि-बलादुषित दधति स्म । ‘२३८९। स्था-ध्वोरिच्च । १। ४। १७।’ ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'कुम्भकर्ण-वधो' नाम पञ्चदशः सर्गः — ३९९

१२९१—अजिह्वदत् स काकुत्स्थौ,
शेषांश्च चाऽजीजिवत् कपीन् ॥
हनूमानथ ते लङ्का-
मग्निना ऽदीदिपन् द्रुतम् ॥ ११० ॥

अजिह्वदित्यादि—एवं च सति हनूमान् काकुत्स्थावजिह्वदत् ह्लादितवान् ।
'२७। ह्लादी सुखे च' ण्यन्तः । शेषांश्च कपीनजीजिवत् जीवयति स्म । अथ ते
जीविताः सन्तः लङ्कां द्रुतमदीदिपन् दीपितवन्तः । '२५६५। आज-१७।४।३।' इत्यादिना ह्रस्वपक्षे रूपम् ॥

१२९२—समनात्सीत् ततः सैन्यममार्जीद् भल्ल-तोमरम्, ॥
अमार्क्षीच्च चाऽसिपत्राऽऽदीनवभासत् परश्वधान् ॥

समनात्सीदित्यादि—ततः सैन्यं समनात्सीत् सन्नद्धम् । '४४०। नहो
धः । ८।२।३४।' इति धत्वम् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । भल्लतोमरममार्जीत्
शोधितवान् । मृजेरुदित्वात् पक्षे रूपम् । असिपत्रादीनमार्क्षीत् । इडभावे
रूपम् । उभयत्रापि '२४७३। मृजेवृद्धिः । ७।२।११४।' । परश्वधानवभासत्
दीपितवान् । '२५६५। आज-भास-१७।४।३।' इति ह्रस्वपक्षे रूपम् । अभासी-
चेति पाठान्तरम् । तत्रान्तर्भावितो ण्यर्थः ॥

१२९३—कुम्भकर्ण-सुतौ तत्र समनद्धां महा-बलौ ॥

निकुम्भश्च चैव कुम्भश्च च, प्रापतां तौ प्लवङ्गमान् ॥

कुम्भकर्णेत्यादि—कुम्भश्चैव निकुम्भश्च कुम्भकर्णसुतौ महाबलौ तत्र सैन्ये
समनद्धां सन्नद्धौ । तौ च प्लवङ्गमान् प्रापतां प्राप्तवन्तौ । लटित्वादङ् ॥

१२९४—अगोपिष्ठां पुरीं लङ्कामगौसां रक्षसां बलम्, ॥

अत्याक्तामायुधाऽनीकमनैष्ठां च क्षयं द्विषः ॥ ११३ ॥

अगोपिष्ठमित्यादि—लङ्कां च पुरीं अगोपिष्ठां रक्षितवन्तौ । गुपेरुदित्वा-
दिपक्षे रूपम् । अगौसामितीडभावपक्षे रूपम् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । '२२८१।
झलो झलि । ८।२।२६।' इति सिचो लोपः । आयुधानीकं आयुधसमूहमत्याक्तां
त्यक्तवन्तौ विसृष्टवन्तौ । '१०५५। त्यज हानौ' । पूर्ववद्वृद्धिः सिचो लोपः ।
द्विषः शत्रून् क्षयमनैष्ठां नीतवन्तौ । '२२९७। सिचि वृद्धिः-१७।२।१।' ॥

१२९५—अकोकूयिष्ठ तत् सैन्यं, प्रपलायिष्ठ चाऽऽकुलम्, ॥

अच्युतच्च च क्षतं रक्तं, हतं चाऽध्यशयिष्ठ गाम् ॥

अकोकूयिष्ठेत्यादि—तत् सैन्यं प्लवङ्गमानां भयादकोकूयिष्ठ मृशं शब्दं
कृतवत् । '१०१७। कुङ् शब्दे' इत्यस्मात् यङ्यभ्यासस्य '२६४१। न कवतेर्यङि
१७।४।६३।' इति कुङ्ध्रुत्वप्रतिषेधः । ततो यङन्ताल्लङ् । प्रपलायिष्ठ पलायते

४०० भट्टिकाव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयो वर्गः,

स्म । अजादेरङ्गस्य । '२२५४। आडजादीनाम् । ६।१।७२।' । परथोरनङ्गत्वाच्च
'२३२६। उपसर्गस्यायतौ । ८।२।१९।' इति लत्वम् । क्षतं च खण्डितं च सत्
रक्तमच्युतत् क्षरति स्म । '२२६९। इरितो वा । ३।१।५७।' इत्यङ् । हतं च निहतं
सत् गामध्यशयिष्ठ भूमौ पतितम् । '५४२। अधिशीङ्- । १।१।४६।' इति कर्मसंज्ञा ॥

१२९६—अङ्गदेना ऽहसातां तौ युध्यकम्पन-कम्पनौ, ॥

अभ्यादीद् वालिनः पुत्रं प्रजङ्घो ऽपि स-मत्सरः, ११५

अङ्गदेनेत्यादि—अकम्पनः कम्पनश्च तौ । ज्येष्ठत्वात् पूर्वनिपातः । युधि
संग्रामे अङ्गदेन अहसाताम् । कर्मणि लुङ् । '२६९६। आत्मनेपदेष्वन्यतर-
स्याम् । २।१।४४।' इति वधादेशाभावपक्षे रूपम् । प्रजङ्घो नाम राक्षसः समत्सरः
सक्रोधः वालिनः पुत्रमभ्यादीत् प्रहतवान् । '१९६८। अर्दं हिंसायाम्' ॥

१२९७—तस्या ऽप्यवेभिदिष्टा ऽसौ मूर्धानं मुष्टिना ऽङ्गदः, ॥

अहार्षीच्च च शिरःक्षिप्रं यूपाक्षस्य निराकुलः ॥ ११६ ॥

तस्येत्यादि—तस्य प्रजङ्घस्यापि मूर्धानमसावङ्गदो मुष्टिनावेभिदिष्ट अत्यर्थं
भिन्नवान् । भिदेर्यङन्तस्य '२३०८। अतो लोपः । ६।१।४८ ।' । '२६३१। यस्य
हलः । ६।१।४९।' इति यलोपे रूपम् । निराकुलश्च नाम वानरः यूपाक्षस्य राक्ष-
सस्य शिरः क्षिप्रमहार्षीत् छिन्नवान् ॥

१२९८—शरीरं लोहिताक्षस्य न्यभाङ्गीद् द्विविदस् तदा, ॥

क्रुद्धः कुम्भस् ततो ऽभैत्सीन् मैन्दं स-द्विविदं शरैः ॥

शरीरमित्यादि—द्विविदो नाम वानरो लोहिताक्षस्य शरीरं न्यभाङ्गीत्
चूर्णितवान् । '१५४७। भञ्जो आमर्दने' । ततोऽनन्तरं कुम्भकर्णसुतः मैन्दं
वानरं सद्विविदं द्विविदेन सह शरैरभैत्सीत् भिन्नवान् ॥

युग्मम्—

१२९९—आघूर्णिष्टां क्षतौ, क्षमां च तावांशिश्नयतामुभौ, ॥

मातुलौ विह्वलौ दृष्ट्वा कुम्भं वालि-सुतो नगैः ॥ ११८ ॥

आघूर्णिष्टमित्यादि—तावुभौ क्षतौ आघूर्णिष्टां चक्रवद् आन्तौ । क्षमां
च भूतमाशिश्नयतां आश्रितवन्तौ । भूमौ पतितावित्यर्थः । '२३१२। णि-शि-
। ३।१।४८।' इत्यादिना चङ् । तौ च ताराभ्रातृत्वात् मातुलौ विह्वलौ दृष्ट्वा वालि-
सुतो नगैर्वृक्षैः कुम्भं प्रौणीवीदिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ॥

१३००—प्रौणावीच्च, छर-वर्षेण तानंप्रौहीन् निशा-चरः, ॥

वानरानैजिहद् रामस् तूर्णं रक्षितुमङ्गदम्, ॥ ११९ ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'कुम्भकर्ण-वधो' नाम पञ्चदशः सर्गः—४०१

प्रौर्णावीदित्यादि—प्रौर्णावीत् छादितवानित्यर्थः । '२४४७। विभाषोर्णोः ।
१।२।३।' इत्यकित्वपक्षे रूपम् । स च निशाचरस्ताम्रगान् शरवर्षेणापौहीत् निर-
स्तवान् । 'उपसर्गादस्यत्यूहोर्वावचनम्' इत्यात्मनेपदविकल्पः । रामश्च तद्धनु-
ष्कौशलं दृष्ट्वा अङ्गदं रक्षितुं तूर्णं वानरानैजिहत् व्यापारितवान् । ईहतिर्ण्यन्तः ॥

१३०१—द्रुतमत्रास्त सुग्रीवो भ्रातृव्यं शत्रु-संकटात्, ॥

मुष्टिना कौम्भकर्णि च क्रुद्धः प्राणैरतित्यजत् ॥१२०॥

द्रुतमित्यादि—सुग्रीवस्तस्माच्छत्रुसंकटात् भ्रातृव्यं भ्रातुरपत्यम् । '११६७।
भ्रातृव्यञ्च । १।१।१४४।' । द्रुतमत्रास्त रक्षितवान् । अग्रतो भूत्वा । '१०३४। त्रैङ्
पालने' । कौम्भकर्णि कुम्भं क्रुद्धः सन् मुष्टिना प्राणैरतित्यजत् त्याजितवान् ।
त्यजिर्ण्यन्तः ॥

१३०२—निकुम्भो वानरेन्द्रस्य प्राहैषीत् परिघं ततः, ॥

हनूमांश् चाऽऽपतन्तं तमभाङ्गीद् भोगि-भीषणम् ॥

निकुम्भ इत्यादि—ततो भ्रातृवधात् निकुम्भो वानरस्य सुग्रीवस्य परिघं
प्राहैषीत् प्रहितवान् । '१३३७। हि गतौ ।' परिघमापतन्तं निकुम्भात् भोगि-
भीषणं अहिवत् भीषणम् हनूमानभाङ्गीत् भग्नवान् ॥

१३०३—प्रौर्णुवीत् तेजसाऽरातिर्मरासीच्च च भयंकरम्, ॥

ग्रीवां चाऽस्य तथाक्राक्षीदजिजीवद् यथा न तम् ॥

प्रौर्णुवीदित्यादि—परिघं च हनूमान् तेजसा प्रौर्णुवीत् अभिभूतवान् ।
कित्वादवृद्धिपक्षे रूपम् । भयंकरं चारासीत् शब्दितवान् । अस्य च निकुम्भस्य
ग्रीवां तथाक्राक्षीत् आकृष्टवान् । अमागमपक्षे रूपम् । यथा तं नाजिजीवत्
न जीवति स्म । ग्रीवामाकृष्यैव व्यापादितवानित्यर्थः । '३१५७। आज-भास-
। ३।२।१७७।' इत्यहस्वपक्षः ॥

१३०४—समगतकपि-सैन्यं सम्मदेनाऽतिमात्रं,

विटप-हरिण-नाथः सिद्धिमौहिष्ट नित्याम्, ॥

नृ-पति-मतिरंस्त प्राप्त-कामैव हर्षात्,

रजनि-चर-पतीनां सन्ततोऽतायि शोकः ॥१२३॥

इति भट्टिकाव्ये तिङ्-काण्डे लुङ्-विलसितो नाम

पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

समगतेत्यादि—प्रधानयोधा निहता इति सम्मदेन हर्षेणातिमात्रमत्यर्थं
समगत संगतं कपिसैन्यम् । '२६९९। समो गम्यच्छि-। १।३।२९।' इति तङ् ।
'२७००। वा गमः । १।२।१३।' इति सिचः क्त्विऽनुनासिकलोपः । '२३६९।

४०२ भट्टिकाव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

ह्रस्वाद्ङात् । ८।२।२७।' इति सिचो लोपः । विटपहरिणनाथः शास्त्रामृगाणां
नाथः नित्यां सिद्धिमवश्यं भाविनीमौहिष्टं तर्कितवान् । नृपतिमतिः रामस्य
बुद्धिः प्राप्तकामेव संपन्नेच्छेव रावणवध-सीतालाभयोः सिद्धिरूपत्वात् । हर्षा-
दरंस्त रमते स्म । रजनिचरपतीनां मेघनादादीनां शोकः सन्ततोऽविच्छिन्नः
अतापि वर्धते स्म । '२३२८। दीप-जन-१३।१।६१।' इत्यादिना कर्तरि चिण् ॥

इति श्री-जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते श्री-भट्टिकाव्ये

चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे द्वितीयः परिच्छेदः (वर्गः),

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'कुम्भकर्ण-वधो' नाम

पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः—

इतः प्रभृति लटमधिकृत्य विलसितमाह—तत्र '२१९३। लट्शेषे च ।
३।३।१३।' इति लट् । ततोऽन्यत्रापि दर्शयिष्यति ॥

१३०५—ततः प्ररुदितो राजा रक्षसां हत-बान्धवः ॥

'किं करिष्यामि राज्येन, सीतया किं करिष्यते. १

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं रक्षसां राजा रावणः हतबान्धवः व्यापा-
दितभ्रातृत्वात् शोकाभिभूतः सन् प्ररुदितः क्रन्दितुमारब्धः । 'किं करिष्यामि'
इत्यादिना । '३०५३। आदिकर्मणि क्तः—१३।४।७१।' अतिकाये वीरे हते किं
करिष्यामि राज्येन, न किञ्चित् । '२३६६। ऋद्धनोः स्वे । ७।२।७०।' इतीदं ।
सीतया च किं करिष्यते, न किञ्चित् ॥

१३०६—अतिकाये हते वीरे प्रोत्सहिष्ये न जीवितुम्. ॥

हेपयिष्यति कः शत्रून्, केन जायिष्यते यमः. ॥२॥

अतीत्यादि—वीरे अतिकाये हते जीवितुमेव नोत्सहे किमन्यत्कर्तुम् ।
शक्तः पलायनेन कः हेपयिष्यति लज्जयिष्यति । '२५७०। अर्ति-ही-७।३।३६।'
इत्यादिना णौ पुगन्तगुणः । केन यमः जायिष्यते । '६०२। जि जये' । कर्मणि
लट् । '२७५७। स्य-सिच्-१६।४।६२।' इत्यादिना चिष्वदिद् च ॥

१३०७—अतिकायाद् विना पाशं

को वा छेत्स्यति वारुणम्, ॥

रावणं मंस्यते को वा,

स्वयम्भूः कस्य तोक्ष्यति. ॥ ३ ॥

अतीत्यादि—'६०३। पृथग्-विना-१२।३।३२।' इति पञ्चमी । अतिकाया-
दिना वारुणं पाशं को वा छेत्स्यति द्विधा करिष्यति । को वा रावणं मंस्यते

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'रावण-विलापो' नाम षोडशः सर्गः— ४०३

पूजयिष्यति । स्वयम्भूर्ब्रह्मा कस्य तोक्ष्यति प्रीतिं जनयिष्यति । '१२६० । तुष प्रीतौ' । '२९५। ष-ढोः कः सि । ८।२।४१।' ॥

१३०८—श्लाघिष्ये केन, को बन्धून् नेष्यत्युन्नतिमुन्नतः, ॥

कः प्रेष्यति पितृन् काले, कृत्वा कत्थिष्यते न कः. ४

श्लाघिष्य इत्यादिना—केनाहं श्लाघिष्ये श्लाघां करिष्यामि 'ममेदशः पुत्रः' इति । कः स्वगुणैरुन्नतः सन् बन्धूनुन्नतिं परां कोटिं नेष्यति । काले पितृक्रियोचिते कः पितृन् प्रेष्यति तर्पयिष्यति । '१५६९। प्रीन् तर्पणे' । कृत्वा किञ्चित्कार्यम् । को न कत्थिष्यते कथनां न करिष्यति 'अहमेवंविधः' इति । अतिकायाद्विनेति सर्वत्र योज्यम् ॥

१३०९—उद्यंस्यति हरिर् वज्रं, विचरिष्यति निर्-भयः, ॥

भोक्ष्यते यज्ञ-भागांश् च शूर-मानं च वक्ष्यति. ॥५॥

उद्यंस्यतीत्यादि—तथा हरिरिन्द्रः हन्तुं वज्रमुद्यंस्यति उद्धारयिष्यति । उत्पूर्वाद्यमे रूपम् । निर्भयश्चेतस्ततो विचरिष्यति । यज्ञभागांश्चात्मीयान् भोक्ष्यते भक्षयिष्यति । '२७३७। भुजो ऽनघने । १।३।६६।' इति तद्ध । शूरमानं च 'शूरोऽसि' इति वक्ष्यति धारयिष्यति । वहेः '३२४। हो ढः । ८।२।३१।' । '२९५। ष-ढोः कः सि । ८।२।४१।' ॥

१३१०—रविस् तप्स्यति निः-शङ्कं, वास्यत्यनियतं मरुत्, ॥

निर्वर्त्येत्यनु-संधातः, स्वेच्छयेन्दुरुदेष्यति. ॥ ६ ॥

रविरित्यादि—रविः निःशङ्कं शङ्कां विना तप्स्यति द्योतिष्यते । मरुच्चा-नियतं स्वेच्छन्दो वास्यति । '११२४। 'वा गति-गन्धनयोः' । ऋतुसंधातः षट्-तवः निर्वर्त्यति सर्वदा न भविष्यति । '२३४७। वृच्यः स्य-सनोः । १।३।९२।' इति विकल्पः । '२३४८। न वृच्यश्चतुर्भ्यः । ७।२।५९।' इतीदृशप्रतिषेधः । स्वेच्छ-येन्दुरुदेष्यति सदा पूर्णमण्डलो नोद्गमिष्यति । '१११८। हृण् गतौ' ॥

१३११—तीव्रं स्यन्दिष्यते मेघैरुग्रं वर्तिष्यते यमः, ॥

अतिकायस्य मरणे किं करिष्यन्ति नाऽन्यथा. ॥७॥

तीव्रमित्यादि—मेघैस्तीव्रं अतिशयेन स्यन्दिष्यते पूर्वं रजःप्रशमनमात्रं वृष्टम् । भावे लट् । '२३४८। न वृच्यः—१७।२।५९।' इतीदृशप्रतिषेधो न भवति । तत्र परस्मैपदग्रहणमनुवर्तते । यमः उग्रं वर्तिष्यते रौद्रं चरिष्यति । आत्मानेपदे नेदृशप्रतिषेधः । अतिकायस्य मरणे सति इन्द्रादयः किमन्यथा विपर्ययं न करिष्यन्ति किन्तु करिष्यन्तीति । 'किं भविष्यति नान्यथा' इति पाठान्तरम् । तत्र सर्वमेतद्विष्यतीत्यर्थः ॥

१३१२—उन्मीलिष्यति चक्षुर् मे वृथा, यद् विनयाऽऽगतम् ॥

आज्ञा-लाभोन्मुखं नष्टं न द्रक्ष्यति नरा-न्तकम्. ॥८॥

४०४ भट्टि-काव्ये— चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

उन्मीलिष्यतीत्यादि—मे मम चक्षुर्वृथा निष्फलमुन्मीलिष्यति । यद्यस्मात्
विनयागतं विनीतम् । आज्ञालाभोन्मुखम् । नम्रं नमनशीलम् नरान्तकं
पुत्रं न द्रक्ष्यति ॥

१३१३—धिङ् मां, त्रि-शिरसा ना ऽहं

सन्दर्शिष्ये ऽद्य यत् पुनः, ॥

घानिष्यन्ते द्विषः केन

तस्मिन् पञ्चत्वमागते. ॥ ९ ॥

धिङ् मासित्यादि—यत् त्रिशिरसा अद्य पुनरपि नाहं सन्दर्शिष्ये न दृष्टो
भविष्यामि । कर्मणि लट् चिण्वदिद् च । तस्मिन् त्रिशिरसि पञ्चत्वमागते मृते
द्विषः शत्रवः केन घानिष्यन्ते । अत्रापि चिण्वदिद् च ॥

१३१४—शत्रुभिर् निहते मत्ते द्रक्ष्ये ऽहं संयुगे सुखम्, ॥

युद्धोन्मत्ताद् विना शत्रून् समास्कन्त्यसि को रणे १०

शत्रुभिरित्यादि—मत्ते मत्तनाम्नि शत्रुभिर्निहते । तैरेव शत्रुभिः संयुगे
सुखमहं द्रक्ष्ये द्रष्टव्योऽस्मि पूर्वं भयाद्दृष्टः । अचिण्वद्भावपक्षे रूपम् । तस्य च
आतुर्युद्धोन्मत्ताद्विना रणे शत्रून् कः समास्कन्त्यसि अभियास्यति । '१०४८।
स्कन्दिर् गति-शोषणयोः' । '१२१। खरि च । ८। ४। ५५।' इति चत्त्वम् ॥

१३१५—आह्वास्यते वि-शङ्को मां योत्स्यमानः शत-क्रतुः, ॥

प्रकल्पस्यति च तस्या ऽर्थो निकुम्भे दुर्-हणे हते ११

आह्वास्यत इत्यादि—शतक्रतुरिन्द्रः योत्स्यमानः युद्धं करिष्यन् विशङ्को
निर्भयः मां युद्धायाह्वास्यते । '२७०४। स्पर्धायामाहः । १। ३। ३१।' इत्यात्मनेपदम् ।
निकुम्भे दुर्हणे दुःखेन हन्यत इति । '३३०५। ईषत्—। ३। ३। १२६।' इत्यादिना
खल । तस्मिन् हते तस्य शतक्रतोरर्थः निष्कण्टकराज्यलक्षणः प्रकल्पस्यति संपत्स्यते ॥

१३१६—कल्पिष्यते हरेः प्रीतिर्, लङ्का चौपहनिष्यते, ॥

देवान्तक! त्वया त्यक्तो रिपोर् यास्यामि वश्यताम्. ॥

कल्पिष्यत इत्यादि—शत्रुभिः कुम्भं च निपातितं श्रुत्वा हरेरिन्द्रस्य प्रीतिः
कल्पिष्यते भविष्यति । '२३५१। लुटि च कृपः । १। ३। ९३।' इति चकारात्स्य-
सनोरपि परस्मैपदविकल्पः । आत्मनेपदे च नेट्प्रतिषेधः । लङ्का च शत्रुभिरुपह-
निष्यते विलोप्यते । कर्मणि लट् । अचिण्वद्भावपक्षः । '२३६६। ऋद्धनोः
स्ये । ७। २। ७०।' इतीद् । इह सुरैरागंस्यते । भावे लट् ॥

१३१७—मरिष्यामि, विजेष्ये वा,

हताश् चेत तनया मम, ॥

तथा लक्ष्यरूपे कथानके 'रावण-विलापो' नाम षोडशः सर्गः— ४०५

हनिष्यामि रिपूंस् तूर्णं,

न जीविष्यामि दुःखितः ॥ १३ ॥

मरिष्यामीत्यादि—यदि मम तनया हताः तदा मरिष्यामि शत्रून् वा विजेष्ये । '२५३८। त्रियतेर्लुङ्-लिङोः-।१।३।६१।' इति नियमात्तद् न भवति । उत्तरत्र '२६८५। वि-पराभ्यां जेः।१।३।१९।' इति तद् । ततो रिपून् तूर्णं हनिष्यामि । पुनर्बन्धुं विनाकृतत्वात् दुःखितः सन् न जीविष्यामि ॥

१३१८—स्नेष्यन्ते मुनयो, देवाः

कथयिष्यन्ति चाऽनिशम् ॥

‘दश-ग्रीवस्य दुर्-नीतेर्

विनष्टं रक्षसां कुलम्.’ ॥ १४ ॥

स्नेष्यन्त इत्यादि—मुनयो हर्षात् स्नेष्यन्ते हसिष्यन्ति । झित्वात्तद् । देवा अतिशं कथयिष्यन्ति । यथा दशग्रीवस्य दुर्नीतेर्दुर्नयात् रक्षसां कुलं विनष्टम् ॥

१३१९—केन सम्भावितं तात—कुम्भकर्णस्य राघवः ॥

रणे कर्त्स्यति गात्राणि मर्माणि च वितर्त्स्यति ॥ १५ ॥

केनेत्यादि—हे तातेति शोकात् बुद्धिस्थं पितरमभिमुखीकरोति । केनैतत्सम्भावितं लिखितम् । यत् कुम्भकर्णस्य गात्राणि रणे राघवः कर्त्स्यति छेत्स्यति । '१५२९। कृती छेदने' । मर्माणि वितर्त्स्यति अपनेष्यति । '१५४०। उत्तुदिर्हिंसाऽनादरयोः' । '२५०६। सेसिचि-।७।२।५७।' इत्यादिना इद्विकल्पः ॥

१३२०—पतिष्यति क्षितौ भानुः, पृथिवी तोलयिष्यते ॥

नभस्त्रान् भङ्क्ष्यते व्योम मुष्टिभिस् ताडयिष्यते ॥

पतिष्यतीत्यादि—क्षितौ भूमौ भानुरादित्यः पतिष्यति अधो गमिष्यति । पृथिवी तोलयिष्यते ऊर्ध्वं क्षेप्यते । '१७१६। तुल उन्माने' चुरादावदन्तेषु च पठ्यते । कर्मणि लृट् । नभस्त्रान् वायुः काष्ठवद्भङ्क्ष्यते । कर्मणि लृट् । मुष्टि-भिर्व्योम ताडयिष्यते हनिष्यते ॥

१३२१—इन्दोः स्यन्दिष्यते वह्निः, समुच्छोक्ष्यति सागरः, ॥

जलं धक्ष्यति, तिग्मांशोः स्यन्त्स्यन्ति तमसां चयाः ॥

इन्दोरित्यादि—इन्दोः वह्निः स्यन्दिष्यते प्रस्रविष्यति । '२३५७। वृद्धः स्यसनोः।१।३।९२।' इति परस्मैपदविकल्पः । सागरः समुच्छोक्ष्यति शोषं यास्यति । जलं धक्ष्यति भस्मसात् करिष्यति । '१०६०। दह भस्मीकरणे' । '३२४। हो ढः।८।२।३१।' । '३२६। एकाचो बभौ भष्-।८।२।३७।' इति भष्भावः । तिग्मांशोरादित्यात्तमसां चयाः तमःसंवाः स्यन्त्स्यन्ति । स्यन्देः पूर्ववत्परस्मैपदविकल्पः । '२३४८। न वृद्धः-।७।२।५९।' इतीदृप्रतिषेधः ॥

४०६ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

१३२२—कुम्भकर्णो रणे पुंसा कुद्धः परिभविष्यते ॥

संभावितानि नैतानि कदाचित् केनचिज् जने. ॥१८॥

कुम्भकर्ण इत्यादि—कुम्भकर्णो रणे कुद्धः सन् पुंसा परिभविष्यते । कर्मणि लट् । एतानि भानुपतनादीनि कुम्भकर्णपरिभवान्तानि जने लोके केनचित् न संभावितानि न चिन्तितानि ॥

१३२३—कुम्भकर्णे हते लङ्का-

मारोक्ष्यन्ति प्लवङ्गमाः, ॥

दङ्क्ष्यन्ति राक्षसान्, दृष्टा

भङ्क्ष्यन्ति च ममा ऽऽश्रमान्. ॥ १९ ॥

कुम्भकर्ण इत्यादि—कुम्भकर्णे इत्थं हते सति प्लवङ्गमा लङ्कामारोक्ष्यन्ति आक्रमिष्यन्ति । ‘९१६। रह वीजजन्मनि’ । राक्षसान् दङ्क्ष्यन्ति दशनैः छेत्यन्ति । दृष्टाश्च ममाश्रमान् गृहान् भङ्क्ष्यन्ति चूर्णयिष्यन्ति ॥

१३२४—चर्त्स्यन्ति बाल-वृद्धांश्च, नर्त्स्यन्ति च मुदा युताः ॥

तेन राक्षस-मुख्येन विना तान् को निरोत्स्यति. २०

चर्त्स्यन्तीत्यादि—बालान् वृद्धांश्च चर्त्स्यन्ति व्यापादयिष्यन्ति । ‘१४११। चृती हिंसा-ग्रन्थनयोः’ इति तौदादिकः । मुदा हर्षेण युताः नर्त्स्यन्ति । ‘११९१। नृती गात्रविक्षेपे ।’ ‘२५०६। सेसिचि-।७।२।५७।’ इत्यादिना विकल्पेनेद् । तेन च राक्षसमुख्येन विना तान् को निरोत्स्यति निवारयिष्यति ॥

१३२५—अमर्षो मे परः, सीतां राघवः कामयिष्यते, ॥

च्युत-राज्यात् सुखं तस्मात् किं किला ऽसाववाप्स्यति.

अमर्ष इत्यादि—अमर्षः क्रोधः पर उत्कृष्टः मम यद्राघवः सीतां कामयिष्यते । कर्मणि लट् । तदन्तात्, ‘२८०२। अनवकृत्यमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि । ३।३।१४५।’ इति अमर्षे क्रोधे लट् । अन्यच्च च्युतराज्यात्तस्मात् रामादसौ सीता किं किल नाम सुखमवाप्स्यति तन्न सम्भावयामि । ‘२८०३। किंकिलास्त्यर्थेषु लट् । ३।३।१४६।’ इति अनवकृत्यावसंभावनायां लट् ॥

१३२६—मारयिष्यामि वैदेहीं, खादयिष्यामि राक्षसैः, ॥

भूमौ वा निखनिष्यामि विध्वंसस्या ऽस्य कारणम् २२

मारयिष्यामीत्यादि—अथवा अस्य सर्वस्य विध्वंसस्य विनाशस्य कारणं वैदेहीं मारयिष्यामि व्यापादयिष्यामि । एतैर्वा राक्षसैः खादयिष्यामि भोजयिष्यामि । ‘५४०। गति-बुद्धि-।१।१।५२।’ इत्यादिना प्रत्यवसानार्थं कर्मसंज्ञायां प्राप्तायाम् ‘आदिखाद्योः प्रतिषेधः’ इति कर्तृसंज्ञैव भवति । भूमौ वा निखनिष्यामि ॥

१३२७—ना ऽनुरोत्स्ये जगत्-लक्ष्मीं, घटिष्ये जीवितुं न वा ॥

न रंस्ये विषयैः शून्ये भवने बान्धवैरहम्. ॥ २३ ॥

नानुरोत्स्य इत्यादि—जगद्धर्मी नानुरोत्स्ये न कामयिष्ये । अनो रुषिः कामे । जीवितुं वा न घटिष्ये प्रयत्नं न करिष्यामि । तस्माद्भवने बान्धवैः शून्ये विषयैः शब्दादिभिर्न रंस्ये न क्रीडां करिष्ये ॥

१३२८—मोदिष्ये कस्य सौख्ये ऽहं, को मे मोदिष्यते सुखे ॥

आदेयाः किंकृते भोगाः कुम्भकर्ण ! त्वया विना. २४

मोदिष्य इत्यादि—हे कुम्भकर्ण ! त्वया विना कस्य सौख्ये अहं मोदिष्ये हर्षिष्ये । न कस्यचित् । मम वा सुखे सति को मोदिष्यते दृष्टो भविष्यति । न कश्चिदपि । किंनिमित्तं परभोगा आदेयाः आदातव्याः ॥

तदेव दर्शयन्नाह—

१३२९—याः सुहृत्सु विपन्नेषु मामुपैष्यन्ति संपदः, ॥

ताः किं मन्यु-क्षताऽऽभोगा न विपत्सु विपत्तयः. २५

य इत्यादि—सुहृत्सु स्निग्धेषु विपन्नेषु याः सम्पदो विभूतयः समुपैष्यन्ति निष्पत्स्यन्ते ताः मन्युक्षताभोगाः शोकैः खण्डिताभोगाः किं विपत्सु न विपत्तयः क्षतक्षारसंस्थानीया भवन्तीति ॥

१३३०—'विनङ्क्ष्यति पुरी क्षिप्रं, तूर्णमेध्यन्ति वानराः, ॥

अ-सन्धित्सोस् तवै' त्येतद् विभीषण-सुभाषितम्. २६

विनङ्क्ष्यतीत्यादि—असन्धित्सोः रामेण सन्धानमनिच्छोः क्षिप्रमेवा पुरी लङ्का विनङ्क्ष्यति । '२५१७। मरिज नशोः-।७।१।६०।' इति जुम् । ततः तूर्णं वानरास्तां समेप्यन्ति । उभयत्रापि '२७९१। क्षिप्रवचने लट् । ३।३।१३३।' तदेतद्विभीषणभाषितं सर्वमुपपन्नम् । धर्मं निर्णाय तेनोक्तं 'सन्धानमेवास्तु परैः' इत्यादिना ॥

१३३१—'अर्थेन संभृता राज्ञा न भाषिष्यामहे वयम्, ॥

संयोत्स्यामह,' इत्येतत् प्रहस्तेन च भाषितम्. ॥२७॥

अर्थेनेत्यादि—राज्ञा वयमर्थेन भृताः ततो न भाषिष्यामहे किमत्र युक्तमिति एतत्प्रहस्तेन भाषितं तच्च तथैव सम्पादितम् । अशब्दोऽत्र निपातः । यद्यपि दशं मन्त्रनिर्णये प्रहस्तेन नोक्तं 'सन्धानमेवास्तु परैः' इत्यादिना, तथापि विभीषणवचनादनुमीयते तेनाप्ययमर्थोऽभ्युपगत इति रावण एवमाह । तथाच विभीषणवचनं 'युद्धाय राज्ञा सुभृतैः' इत्यादि ॥

१३३२—मानुषो नाम पत्काषी राजानं पुरुषाऽशिनाम् ॥

योधयिष्यति संग्रामे दिव्याऽस्त्र-रथ-दुर्जयम्. ॥२८॥

४०८ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

मानुष इत्यादि—मामेवं दुर्जयं मानुषो नाम पत्काषी पादाभ्यां गमनशीलः पदातिः सन् । ‘९९२। हिम-काषि-हतिषु च । ६।३।५४।’ इति पादस्य पदादेशः । पुरुषाशिनां रक्षसां राजानं दिव्यास्त्ररथतया दुर्जयं दुरभिभवनीयं बोधयिष्यति ॥

एवं बहुधा विलम्ब जातामर्षः पुनराह—

१३३३—सन्नत्स्याम्यथवा योद्धुं, न कोष्ये सत्त्व-हीन-वत्, ॥

अद्य तत्स्यन्ति मांसाऽदा, भूः पास्यत्यरि-शोणितम्.

सन्नत्स्यामीत्यादि—सत्त्वहीनवत् सत्त्वेन हीन इव न कोष्ये न रोदिमि ‘११११५। कु शब्दे’ । योद्धुं सन्नत्स्यामि सन्नाहं करिष्ये ऽहमिति । अत्र किंवृत्तेऽप्यमर्षे लिङपवादो लट् । ‘४४०। नहो धः । ८।२।३४।’ । ‘१२१। खरि च । ८।४।५५।’ इति चत्वम् । ततश्चाद्यास्त्रिहनि मांसादाः क्रव्यादाः तत्स्यन्ति तृसा भविष्यन्ति । ‘२९७७। अदोऽनन्ने । ३।२।६८।’ इति विटि प्राप्ते वासरूपविधिना अणपि भवति । भूश्च हतानामरीणां शोणितं पास्यति । ‘२८०८। शेवे लट् । ३।३।१५१।’ ॥

१३३४—आकर्क्ष्यामि यशः, शत्रूनपनेष्यामि कर्मणा, ॥

अनुभाविष्यते शोको मैथिल्या ऽद्य पति-क्षयात्. ३०॥

आकर्क्ष्यामीत्यादि—सर्वयोद्धृणां यश आकर्क्ष्यामि आहरिष्यामि । शत्रूंश्च कर्मणा युद्धाख्येनापनेष्यामि न्यूनयिष्यामि । अद्य पतिक्षयात्पतिविनाशात् शोको मैथिल्या सीतया अनुभाविष्यते संवेदयिष्यते । कर्मणि लट् चिण्वदिट् ॥

१३३५—मन्तूयिष्यति यक्षेन्द्रो, वल्गूयिष्यति नो यमः, ॥

ग्लास्यन्त्य-पति-पुत्राश् च वने वानर-योषितः. ॥३१॥

मन्तूयिष्यतीत्यादि—यक्षेन्द्रो धनदः दाशरथिमापन्नं श्रुत्वा मन्तूयिष्यति दुर्मना भविष्यति । यमश्च न वल्गूयिष्यति हृष्टमना न भविष्यति । मन्तु-वल्गुशब्दाभ्यां । ‘२६७८। कण्डादिभ्यो यक् । ३।१।१७।’ तदन्तात् लट् । वने वानरयोषितः अपतिपुत्राः सत्यः ग्लास्यन्ति ग्लानिं यास्यन्ति ॥

१३३६—सुखं स्वप्स्यन्ति रक्षांसि,

भ्रमिष्यन्ति च निर्भयम्, ॥

न विक्रोक्ष्यन्ति राक्षस्यो,

नरांश् चा ऽत्स्यन्ति हर्षिताः. ॥ ३२ ॥

सुखमित्यादि—रक्षांसि चैतानि सुखं स्वप्स्यन्ति निर्भयं च भ्रमिष्यन्ति । राक्षस्यश्च न विक्रोक्ष्यन्ति न क्रन्दिष्यन्ति । ‘९१३। कुश आह्वाने रोदने च’ । हर्षिताश्च सत्यो नरानत्स्यन्ति भक्षयिष्यन्ति ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'रावण-विलापो' नाम षोडशः सर्गः— ४०९

युग्मम् ३३-३४-

१३३७-प्राङ् मुहूर्तात् प्रभातेऽहं भविष्यामि ध्रुवं सुखी ॥

आगामिनि, ततः काले यो द्वितीयः क्षणोऽपरः ॥

प्रागित्यादि—योऽयमागामी प्रभातकालः मुहूर्तद्वयसंमितः तस्मिंस्तस्येति षष्ठीसप्तम्योरभेदात् । यो द्वितीयो मुहूर्तः तस्मात् प्राक् प्रथमे मुहूर्ते अहमवश्यं सुखी भविष्यामि । तदानीं हतशत्रुत्वात् । ततः प्रभातादागामी यः कालः क्षणद्वयसंमितः तस्मिन्नागामिनि काले यो द्वितीयः तस्माद्यदपरः क्षणः पूर्वः तत्रेति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ॥

१३३८-तत्र जेतुं गमिष्यामि त्रिदशेन्द्रं सहाऽमरम्, ॥

ततः परेण भूयोऽपि लङ्कामेऽप्याम्यमत्सरः, ॥३४॥

तत्रेत्यादि—तत्र क्षणे त्रिदशेन्द्रं सहामरं देवैः सहितं जेतुं द्रुतं गमिष्यामि । प्राङ् मुहूर्तात् सुखी भविष्यामि । क्षणाद्यदपरं तत्र जेतुं गमिष्यामीति '२७५। कालविभागे चानहोरात्राणाम् । ३।३।१३७।' इति अनद्यतनवत् प्रत्ययप्रतिषेधे लृट् । तत्र हि '२७९३। नानद्यतनवत्-।३।३।१३५।' इति 'भविष्यतिमर्यादावचनेऽवरस्मिन्' इति चानुवर्तते । तत्र जेतुं कालमर्यादाविभागे सति योऽवर आद्यप्रविभागः तत्र भविष्यति काले अनद्यतनवत्प्रत्ययविधिर्न भवति । ततो लृट्प्रतिषेधाल्लुडेव भवति । ततः परेणेति यस्मिन्नागामिनि काले शक्रं जेतुं गमिष्यामि तत्र द्वितीयो यः क्षणस्तस्मात् परेणोपरिष्ठात्तं शक्रं जित्वा भूयोऽपि लङ्कामेऽप्यामि । आङ्पूर्वत्येणो रूपम् । अमत्सरो विगतक्रोधः सन् । '१७९३। परस्मिन् विभाषा । ३।३।१३८।' इत्यनेन विभाषालुट्प्रतिषेधाल्लृट् । तत्र हि कालविभागे सति भविष्यति काले परस्मिन् विभाषा अनद्यतनवत्प्रत्ययविधिर्न भवतीत्युक्तम् ॥

१३३९-तमेवं-वादिनं मूढमिन्द्रजित् समुपागतः ॥

'युयुत्सिष्येऽहमित्येवं वदन् रिपु-भयंकरः, ॥३५॥

तमित्यादि—तं रावणं मूढत्वादेवंवादिनं एवंभाषणशीलं इन्द्रजित् रिपोभयंकरः समुपागतः । युयुत्सिष्येऽहं योद्धुमिच्छां करिष्यामीति ब्रुवन् ॥

केन सह योद्धुमिच्छामीति चेदाह—

१३४०-नाऽभिज्ञा ते महाराज !,

जेध्यावः शक्र-पालितम् ॥

दृप्त-देव-गुणाऽऽकीर्ण-

मावां सह सुराऽऽलयम्, ॥ ३६ ॥

नाभिज्ञेत्यादि—हे महाराज ! ते तव नाभिज्ञा स्मृतिः सुरालयं शक्रेण पालितं दृष्टैश्च देवगणैराकीर्णं व्यासम् । आवां द्वावपि सह संभूय जेध्यावः जित-चन्तौ । '२७७३। अभिज्ञावचने लृट् । ३।२।११२।' तत्र 'भूतानद्यतने' इति वर्तते

४१० भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयो वर्गः,

१३४१—ना ऽभिज्ञा ते, स-यक्षेन्द्रं

भङ्क्ष्यावो यद् यमं बलात्, ॥

रत्नानि चा ऽऽहरिष्यावः,

प्राप्स्यावश् च पुरीर्मिमाम्. ॥ ३७ ॥

नाभिज्ञेत्यादि—न सेत्यभिज्ञास्ति । सयक्षेन्द्रं धनदसहितं यमं बलात् सामर्थ्येन आवां भङ्क्ष्यावः भग्नवन्तौ रत्नानि च ताभ्यां बलादाहरिष्यावः । इमां च पुरीं लङ्कां प्राप्स्यावः । ‘२७७५। विभाषा साकाङ्क्षे । ३। २। ११४।’ इति लट् । लक्ष्यलक्षणयोः सम्बन्धे प्रयोक्तुराकाङ्क्षा । तत्र भजनं लक्षणं रत्नाद्याहरणं च लक्ष्यम् ॥

१३४२—एष पेक्ष्याम्यरीन् भूयो, न शोचिष्यसि रावण ! ॥

जगद् द्रक्ष्यसि नी-राममवगाहिष्यसे दिशः. ॥ ३८ ॥

एष इत्यादि—एषो ऽहं भूयः पुनररीन् पेक्ष्यामि चूर्णविष्यामि । वर्तमानसामीप्ये वर्तमानिकप्रत्ययस्य विकल्पेन विधानालुडेव भवति । येन हे रावण ! न शोचिष्यसि शोकं न करिष्यसि । भविष्यति लट् । जगत् नीरामं रामरहितं द्रक्ष्यसि । दिशश्च सर्वा अवगाहिष्यसे व्याप्स्यसि ॥

१३४३—सह-भृत्यः सुरा ऽऽवासे भयं भूयो विधास्यसि ॥

प्रणंस्यत्यद्य देवेन्द्रस् त्वां, वक्ष्यति स सन्नतिम्. ३९

सहेत्यादि—भृत्यैः सह सुरावासे स्वर्गे भूयो भयं विधास्यसि करिष्यसि । देवेन्द्रश्च त्वां प्रणंस्यति ‘त्वदीयोऽहम्’ इति निवेदयिष्यति । वक्ष्यति च सन्नतिं भणिष्यति च नमस्कारम् ॥

१३४४—भेष्यते मुनिभिस् त्वत्तस् त्वमधिष्ठास्यसि द्विषः, ॥

ज्ञास्ये ऽहमद्य संग्रामे समस्तैः शूर-मानिभिः. ॥ ४० ॥

भेष्यत इत्यादि—मुनिभिस्त्वत्तो भेष्यते मीतैर्भवितव्यम् । भावे लट् । त्वमधिष्ठास्यसि द्विषः शत्रून् परिभविष्यसि । ‘५४२। अधिशीङ्—। १। ४। ४६।’ इति कर्मसंज्ञा । यादृशश्चाहं तादृशः संग्रामे ज्ञास्ये ज्ञातो भविष्यामि । कर्मणि लट् । कैः । समस्तैः शूरमानिभिः वयं शूरा इत्यात्मानं मन्यमानैः । ‘२९९३ । आत्ममाने खश्च । ३। २। ८३।’ ॥

१३४५—ज्ञायिष्यन्ते मया चा ऽद्य

वीरं-मन्या द्विषद्-गणाः, ॥

गूहिष्यामि क्षितिं कृतै-

रद्य गात्रैर् वनौकसाम्. ॥ ४१ ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'रावण-विलापो' नाम षोडशः सर्गः— ४११

ज्ञायिष्यन्त इत्यादि—एते च द्विषां गणाः शत्रुसंघाः वीरमन्याः अद्य मया
ज्ञायिष्यन्ते परिच्छेत्स्यन्ते यादृशा इति । कर्मणि लृट् । चिण्वदिद् । वनौकसां
कपीनां गात्रैः [कृतैः] छिन्नैरद्य क्षितिं गूहिष्यामि ॥

१३४६—आरोक्ष्यामि युगान्त-वारिद-घटा-
संघट्ट-धीर-ध्वनिं
निर्यास्यन् रथमुच्छ्रित-ध्वज-धनुः-
खड्ग-प्रभा-भासुरम् ॥
श्रोष्यस्यद्य विकीर्ण-वृक्ण-विमुक्ख-
व्यापन्न-शत्रौ रणे
तृसांश्छोणित-शोण-भीषणमुखान्
क्रव्याऽशिनः क्रोशतः ॥ ४२ ॥

इति भट्टि-काव्ये तिङन्त-काण्डे लृङ्-विलसितो
नाम षोडशः सर्गः ॥

आरोक्ष्यामीत्यादि—अतोऽहं रथमारोक्ष्यामि निर्यास्यन् इतो निर्गच्छन् ।
आरोक्ष्यामीति क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे निर्यास्यन्निति '२१९३। लृट् शेषे
च । ३। ३। १३।' इति चकाराल्लृट् । कीदृशं रथम् । युगान्ते प्रलयकाले या वारिद-
घटास्तासां यः संघट्टः परस्परसंमर्दः तस्येव धीरो गम्भीरो ध्वनिर्वस्य रथस्य ।
उच्छ्रिता ध्वजाः धनूषि च यत्र । खड्गप्रभाभिश्च भासनशीलो यः । पश्चाद्विशो-
षणसमासः । उच्छ्रितानां वा ध्वजादीनां प्रभाभिर्भासुर इति योज्यम् । विकीर्णा
इतस्ततो विशिषा वृक्णाः छिन्नाः छिन्नमस्तकाः विमुक्खाः पराङ्मुखा व्यापन्ना मृताः
शत्रवो यस्मिन् रणे । क्रव्याशिनः शृगालादीन् क्रोशतः फूत्कुर्वतः अद्य श्रोष्यसि ।
कीदृशान् । तृसान् शोणितमांसोपभोगात् । शोणितेन शोणानि लोहितानि तत एव
भीषणानि भयंकराणि मुखानि येषामिति । वृश्चेरोदितो निष्ठानत्वस्यासिद्धत्वात् चोः
कुत्वे वृक्ण इति ॥

इति श्री-जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते श्री-भट्टिकाव्ये
चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे तृतीयः परिच्छेदः (वर्गः)
तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'रावण-विलापो' नाम
षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

१—पद्येऽस्मिन् वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् । तल्लक्षणम्—'सूर्याश्वैर्म-स-जघ-त-ताः सशुरवः
शार्दूलविक्रीडितम् ।' इति वृत्तरत्नाकरे भट्टकेदारः ।

४१२ भट्टि-कान्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

सप्तदशः सर्गः—

इतः प्रभृति लङ्मधिकृत्य विलसितमाह—तत्र भूतानद्यतने लङ् ततोऽन्यत्र दर्शयिष्यति—

१३४७—आशासत ततः शान्तिमस्तुग्मीनहावयन्, ॥

विप्रानवाचयन् योधाः, प्राकुर्वन् मङ्गलानि च. ॥१॥

आशासतेत्यादि—ततः प्रतिज्ञानन्तरं योधाः इन्द्रजित्सम्बन्धिन इत्यर्थात् उपद्रवपरिहारार्थं शान्तिमाशासत अभीष्टवन्तः । '१०९२ । आहः शासु इच्छायाम्' इत्यनुदात्तेत् । '२२५८ । आत्मनेपदेष्वनतः । ७।१।५।' इत्युदादेशः । शान्तिं च दर्शयन्नाह—अस्तुः स्नाताः । '११२६। ण्णा शौचे' । आत इत्यधिकृत्य । '२४६३। लङः शाकटायनस्यैव । ३।४।१११।' इति ज्ञेयुर्त् । '२२१४। उत्सपदान्तात् । ६।१।९६।' इति पररूपम् । अग्नीनहावयन् अग्निकर्म कारितवन्तः । विप्रानवाचयन् स्वस्ति-वाचनं कारितवन्तः । मङ्गलानि मङ्गलयुक्तानि कर्माणि कृतवन्तः ॥

१३४८—अपूजयन् कुल-ज्येष्ठानुपागूहन्त बालकान्. ॥

स्त्रीः समावर्धयन् साऽस्त्राः, कार्याणि प्रादिशंसु तथा. २

अपूजयन्नित्यादि—कुलज्येष्ठान् वृद्धानपूजयन् पूजितवन्तः पादपतनादिना । बालकानुपागूहन्त आश्लिष्टवन्तः । गतानां किं भविष्यतीति सास्त्राः स्त्रीः योषितः । '३०२। वाऽम्-शसोः । ६।४।८०।' इतीयङ्भावपक्षे रूपम् । समावर्धयन् ताम्बू-लादिना संवर्धितवन्तः । 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे' इति णिच् । तथा कार्याणि गृह-कार्याणि प्रादिशन् निर्दिष्टवन्तः । 'इदमिदं कार्यम्' इति ॥

१३४९—आच्छादयन्, व्यलिम्पंश् च,

प्राश्नन्नथ सुराऽऽमिषम्, ॥

प्रापिवन् मधु-माध्वीकं

भक्ष्यांश् चाऽऽदन् यथेप्सितान् ॥ ३ ॥

आच्छादयन्नित्यादि—आच्छादयन् वस्त्राणि पिनद्धवन्तः । '१८३४। छद् संवरणे' चुरादिः । व्यलिम्पंश् समालितवन्तः । '१७२७। लिष उपदेहे' । '२५४२। शे सुचादीनाम् । ७।१।५९।' इति लुम् । '१४०। न इच्छव्यप्रशान् । ८।३।७।' इति रुत्वम् । पूर्वस्थानुनासिकः । अथानन्तरं सुरामिषं प्राश्नन् अभ्यवहृतवन्तः । मधु माध्वीकं मध्वासवं प्रापिवन् सुष्ठु पीतवन्तः । भक्ष्यांश् खण्डपायसादीन् यथेप्सितानादन् भक्षितवन्तः । अडित्यनुवृत्तौ '२४२६। अदः सर्वेषाम् । ७।२।१००।' इत्यङागमः ॥

१३५०—न्यश्यन् शस्त्राण्यभीष्टानि, समनह्यंश् च वर्मभिः, ॥

अध्यासत सु-यागानि, द्विषद्भ्यश् चाऽशपंसु तथा. ४

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'रावण-वधो' नाम सप्तदशः सर्गः— ४१३

न्ययन्नित्यादि—अभीष्टानि यथानुभावितानि शस्त्राणि न्ययन् तेजित-
वन्तः । '१२२०। शो तनूकरणे' '२५१०। ओतः श्यनि । ७।३।७१।' इत्योका-
रलोपः । वर्मभिश्च कवचैः समनह्यन् संनद्धाः । शरीराण्यावृतवन्त इत्यर्थः ।
सुयानानि शोभनयानानि अध्यासत आरूढाः । '५४२। अधिशीङ्—१।१।४६।' इति कर्मसंज्ञा । तथा द्विपञ्चोऽशपन् आकुष्टवन्तः 'पापाः क यास्यथ' इति ।
'५७२। श्वाव-हुङ्—१।१।३४।' इत्यादिना सम्प्रदानसंज्ञा ॥

१३५१—अपूजयंश् चतुर्-वक्त्रं, विप्रानां चित्तं तथा ऽस्तुवन्, ॥
समालिपत शक्राऽरिर् यानं चा ऽभ्यलषद् वरम् ॥५॥

अपूजयन्नित्यादि—चतुर्वक्त्रं ब्रह्माणमपूजयन् अर्चितवन्तः । विप्रानांचित्तं
दाननमस्कारादिना पूजितवन्तः । तथा अस्तुवन् परस्परं स्तुतवन्तः । शक्रारिश्च
इन्द्रजित् समालिपत समालितवान् । यानं वरमुत्कृष्टमभ्यलषत् अभीष्टवान्
'२३२१। वा आश—१३।१।७०।' इत्यादिना श्यनो विकल्पितत्वात् पक्षे शप् ॥

१३५२—आमुञ्चद् वर्म रत्नाऽऽढ्यमवध्नात् खड्गमुज्ज्वलम्, ॥
अध्यास्त स्यन्दनं घोरं, प्रावर्तत ततः पुरः ॥ ६ ॥

आमुञ्चदित्यादि—रत्नाढ्यं रत्नप्रत्युसं वर्म कवचमामुञ्चत् शरीरं आमुक्त-
वान् । पिनङ्गवानित्यर्थः । खड्गं चोज्ज्वलमवध्नात् कक्षापार्श्वीश्रितं कृतवान् । घोरं
भीषणं स्यन्दनमध्यास्त आरूढः । ततो ऽनन्तरं पुरः पुरतः प्रावर्तत प्रवृत्तः ॥

१३५३—आघ्नन् मेरीर् महा-स्वानाः,
कम्बूश् चा ऽप्यधमन् शुभान्, ॥

अताडयन् मृदङ्गांश् च,
पेराश् चा ऽपूरयन् कलाः ॥ ७ ॥

आघ्नन्नित्यादि—तस्मात् प्रवृत्ताः महास्वानाः महानादाः । '३२३९। स्वन-
हसोर्वा । १३।१।६२।' इत्यप् । मेरीः आघ्नन् ताडितवन्तः । वादका इत्यर्थात् ।
शुभान् सुस्वरान् कम्बून् शङ्खानधमन् शब्दितवन्तः । '२३६०। पा-घ्रा-
। ७।३।७८।' इत्यादिना धमादेशः । मृदङ्गांश्चाताडयन् आहतवन्तः । '१६९३।
तड आघाते' इति चुरादिः ॥

१३५४—अस्तुवन् बन्दिनः, शब्दानन्योन्यं चोदभावयन्, ॥
अनदन् सिंहनादांश् च, प्राद्रेकत हय-द्विपम् ॥ ८ ॥

अस्तुवन्नित्यादि—बन्दिनः स्तुतिपाठका अस्तुवन् 'जय जीव' इत्यादिना
स्तुतिं कृतवन्तः । अन्योन्यं अन्यस्य अन्यस्य च शब्दान् सांग्रामिकनामानि उद-
भावयन् उद्घाटितवन्तः सैनिका इत्यर्थात् । सिंहनादांश्चानदन् शब्दितवन्तः ।

४१४ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

हयद्विपं पशुद्वन्द्वस्य विभाषैकवद्भावः । प्राद्वेकत शब्दितवन्तः । '८१। द्वेक शब्दोत्साहे' इत्यनुदात्तेत् ॥

१३५५—अ-निमित्तान्यथा ऽपश्यन्नस्फुटद् रवि-मण्डलम्, ॥
औक्षन् शोणितमम्भोदा, वायवोऽवान् सु-दुःसहाः ॥

अनिमित्तानीत्यादि—अनिमित्तानि कुत्सितनिमित्तानि । न जत्र कुत्सायाम् । गच्छन्तोऽपश्यन् दृष्टवन्तः । तानि दर्शयति—रविमण्डलमस्फुटत् स्फुटितम्, अम्भोदाः शोणितमौक्षन् वृष्टाः । '७०५। उक्ष सेचने' । वायवः सुदुःसहाः प्रचण्डा अवान् वान्ति स्म । शाकटायनमतादत्र उसादेशः ॥

१३५६—आच्छन् वामं मृगाः कृष्णाः,

शस्त्राणां व्यस्मरन् भटाः, ॥

रक्तं न्यष्ठीवदङ्काम्य-

दखिद्यद् वाजि-कुञ्जरम्. ॥ १० ॥

आच्छन्नित्यादि—निर्गच्छतां वामपार्श्वं कृष्णमृगा आच्छन् गताः । अर्तेः '२६६०। पा-घ्रा-।७।३।७८।' इति ऋच्छादेशः । '१३८०। ऋच्छ गतौ' इत्यस्य वा रूपम् । भटाश्च शस्त्राणां व्यस्मरन् विस्मृतवन्तः । '६१३। अधीगर्थ-।२।३।५२।' इति कर्मणि षष्ठी । वाजिकुञ्जरमखिद्यन्नमश्रान्तमपि रक्तं न्यष्ठीवत् । '६०१ छिवु निरसने' इति भौवादिकस्य ग्रहणम् '२३२०। छिवु-ङ्कुमु-चमां शिति ।७।३।७५।' इति दीर्घः । अङ्काम्यत् क्लान्तं च ॥

१३५७—न तानगणयन् सर्वानास्कन्दंश्च रिपून्, द्विषः ॥

अच्छिन्दन्नसिभिस् तीक्ष्णैरभिन्दंस् तोमरैस् तथा ११

न तानित्यादि—तान् सर्वानश्रुभान्नागणयन् नाहतवन्तः किमेतैरिति । अपि तु रिपूनास्कन्दन् अभिगतवन्तः । द्विषो राक्षसांस्तीक्ष्णैरसिभिररीनच्छिन्दन् छिन्नवन्तः । तथा तोमरैस्तीक्ष्णैरभिन्दन् विदारितवन्तः ॥

१३५८—न्यकृन्तंश्चक्र-धाराभिरतुदन् शक्तिभिर्दृढम्, ॥

भल्लैरविध्यन्नुग्राऽग्रैरतुहंस् तोमरैरलम्. ॥ १२ ॥

न्यकृन्तन्नित्यादि—चक्रधाराभिः न्यकृन्तन् छिन्नवन्तः । मुचादित्वाश्रुम् । शक्तिभिश्च दृढमत्यर्थमतुदन् व्यथितवन्तः । भल्लैरविध्यन् ताडितवन्तः । '२४१२। अहि-ज्या-।६।१।१६।' इति सम्प्रसारणम् । उग्राग्रैस्तीक्ष्णाग्रैस्तोमरैरलं पर्याप्तमनुदन् हतवन्तः । '१५४९। वृह हिंसायाम् ।' रुधादित्वात् श्रम् । अल्लोपानुस्वारौ ॥

१३५९—आस्यन् प्लवङ्गमा वृक्षानधुन्वन् भू-धरैर्भृशम्, ॥

अहिंसन् मुष्टिभिः क्रोधाददशन् दशनैरपि. ॥ १३ ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'रावण-वधो' नाम सप्तदशः सर्गः— ४१५

आस्यन्नित्यादि—लवङ्गमा अपि वृक्षानास्यत् क्षितवन्तः । '१२८५। अनु
क्षेपणे' । तथा भूधरैः पर्वतैरधुन्वन् हतवन्तः । 'अपूर्वन्' इति पाठान्तरम् ।
तत्र '२२६५। उपधायां च । ८। २। २८।' इति दीर्घः । क्रोधान्मुष्टिभिरहिंसन्
ताडितवन्तः । दशनैर्दन्तैरदशनं खादितवन्तः । '२३९६। दंश-सञ्ज-स्वजां शपि
। ६। ४। २५।' इत्यनुनासिकलोपः ॥

१३६०—प्रादुन्वन् जानुभिस् तूर्णमतुदंस् तल-कूर्परैः, ॥

ग्राहिण्वन्नरि-मुक्तानि शस्त्राणि विविधानि च. ॥१४॥

प्रादुन्वन्नित्यादि—जानुभिस्तूर्णं प्रादुन्वन् पीडितवन्तः '१३३६। द्रु उप-
तापे ।' स्वादिः । तलकूर्परैः हस्ततलैः प्रकोष्ठैश्चातुदन् व्यथितवन्तः । अरिभिर्मु-
क्तानि विविधानि यानि शस्त्राणि तानि ग्राहिण्वन् ग्रहितवन्तः ॥

१३६१—अतृणेद् शक्र-जिच् शत्रून् भ्राम्यच् च समन्ततः, ॥

अध्वनच् च महा-घोरं, न च कंचन नाऽदुनोत्. १५

अतृणेडित्यादि—ततः शक्रजिदिन्द्रजित् शत्रून् अतृणेद् हिंसितवान् । वृहेः
भ्रम् । तस्य '२५४५। तृण ह् इम् । ७। ३। ९२।' इत्यङ्यादिलोपः । हकारस्य
दत्त्वजङ्ग्वच्चत्वाणि । समन्ततश्चाभ्राम्यत् भ्रान्तवान् । महाघोरं च भीषणं स्वनं
अध्वनत् नादितवान् । न च कंचन नादुनोत् कंचिदपि न नोपतापितवान्
अपि तु सर्वानपि पीडितवानित्यर्थः ॥

१३६२—नाऽजानन् सन्दधानं तं, धनुर् नैक्षन्त विभ्रतम् ॥
नैषूनचेतन्नस्यन्तं, हतास् तेनाऽविदुर्द्विषः. ॥१६॥

नाजानन्नित्यादि—धनुषि शरं सन्दधानमारोपयन्तमिन्द्रजितं नाजानन् न
ज्ञातवन्तः । धनुर्विभ्रतं नैक्षन्त धनुर्धारयन्तं न दृष्टवन्तः । इषून् शरानस्यन्तं
क्षिप्यन्तं नाचेतन् हस्तलाघवात् न ज्ञातवन्तः । '३९। चिती संज्ञाने' । '१३४।
डमो हस्तात्-। ८। ३। ३२।' इति डमुद् । तेन हताः सन्तो द्विषः अविदुः ज्ञात-
वन्तः पूर्वोक्तम् । '२२२६। सिजभ्यस्त-विदिभ्यश्च । ३। ४। १०९।' इति श्लेजुस् ॥

१३६३—अशृण्वन्नन्यतः शब्दं, प्रपलायन्त चाऽन्यतः, ॥

आक्रन्दमन्यतोऽकुर्वन् तेनाऽहन्यन्त चाऽन्यतः. १७

अशृण्वन्नित्यादि—अन्यतः अन्यस्मिन् प्रदेशे केचिद् द्विषः शब्दमशृ-
ण्वन् । '२३८६। श्रुवः श्रु च । ३। १। ७४।' इति श्रुभावः श्रुप्रत्ययश्च । अन्यत्र
स्थिताः प्रपलायन्त पलायिताः । अन्यतोऽन्यत्र प्रदेशे स्थिताः आक्रन्दं अकुर्वन्
रोदनं कृतवन्तः । अन्यतोऽन्यत्र तेनेन्द्रजिता अहन्यन्त व्यापादिताः । कर्मणि
लङ् । सर्वत्राद्यादिवाचसिः ॥

१३६४—प्रालोन्त, व्यभिद्यन्त, परितो रक्तमस्रवन्, ॥

पर्यभ्राम्यन्नतृप्यंश् च क्षतास् तेनाऽन्वियन्त च १८

४१६ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

प्रालोठन्तेत्यादि—तेन क्षताः केचिद्धूमौ प्रालोठन्त । ‘७४९। लुठ लोठने ।’
भुवीतस्ततो व्यभिद्यन्त व्यनीयन्त हताः सन्त इतस्ततो नीताः । कर्मणि लङ् ।
परितः समन्ताद्रक्तमस्त्रवन् मुक्तवन्तः । पर्यश्राम्यन् खिन्नाः । अतृप्यन् पिपा-
सिताः । दिवादिद्वात् इयन् । केचिदन्नियन्त । ‘२५३८ । त्रियतेलुङ्-लिङोश्च
।१।३।६।१’ इति तङ् ॥

१३६५—सौमित्रिराकुलस् तस्मिन् ब्रह्माऽस्त्वं सर्व-रक्षसाम् ॥

निधनाया ऽऽजुहूषत् तं व्यष्टन्नाद् रघु-नन्दनः. १९

सौमित्रिरित्यादि—तस्मिन् इन्द्रजिति तथाभूते सति सौमित्रिराकुलो व्यस्त-
चित्तः सर्वरक्षसां निधनाय ब्रह्मास्त्रमाजुहूषत् आह्वतुमैच्छत् । ‘२४२७। अभ्य-
स्तस्य च ।६।१।३३।’ इति अभ्यस्ताकारस्य ह्यतेः प्रागेव द्विवचनात् सम्प्रसा-
रणम् । तं च सौमित्रि रघुनन्दनो रामः व्यष्टन्नात् निवारितवान् ‘मा भूद्विभीष-
णस्यापि नाशः’ इति । ‘२५५५। स्तम्भु-स्तम्भु-।३।१।८२।’ इत्यादिना आप्रत्ययः ।
‘२२७२। स्तम्भेः ।८।३।६७।’ इति मूर्धन्यः ॥

१३६६—ततो माया-मयीं सीतां घ्नन् खड्गेन वियद्-गतः ॥

अदृश्यतेन्द्रजिद्, वाक्यमवदत् तं मरुत्-सुतः. २०

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं इन्द्रजित् वियद्गतः आकाशगतः सीतां माया-
मयीं मायानिर्मितां खड्गेन घ्नन् व्यापादयन्नदृश्यत दृष्टः । कर्मणि लङ् । तथाभूतं
राक्षसं मरुत्सुतो हनूमान् वाक्यमवदत् भाषितवान् ॥

१३६७—‘मा ऽपराधोदियं किञ्चिदभ्रश्यत् पत्युरन्तिकात्, ॥

सीता राक्षस! मा स्मैनां निगृह्णाः पाप! दुःखिताम्’ २१

माऽपराधोदित्यादि—हे पाप! राक्षस! सीता पत्युरन्तिकादभ्रश्यत् अप-
गता । इयं भवतो नापराधोत् नापराद्धा । ‘१३५३। राध-साध संसिद्धौ।’ इति
स्वादौ । तस्मादेनां दुःखितां मा स्म निगृह्णाः मा बधीः । ‘२२४०। स्रोत्तरे लङ्
च ।३।३।१७६।’ इति वर्तमाने लङ् ॥

१३६८—‘पीडा-करम-मित्राणां कर्तव्यमिति शक्रजित् ॥

अब्रवीत्, खड्ग-कृष्टश्च तस्या मूर्धानमच्छिनत्. २२

पीडाकरमित्यादि—इयमपराद्धा भवतु न वा सर्वथा यदमित्राणां पीडा-
करं तदवश्यं कर्तव्यमिति शक्रजिदब्रवीत् उक्तवान् । खड्गकृष्टश्च कृष्टः खड्गो येन ।
‘प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः’ तस्या मूर्धानमच्छिनत् छिन्नवान् । तिपो
हलङ्घादिलोपः । दकारस्य चत्वम् ॥

१३६९—‘यत्-कृते ऽरीन् व्यगृह्णीम, समुद्रमंतराम च, ॥

सा हतै’ति वदन् राममुपातिष्ठन् मरुत्-सुतः. ॥२३॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'रावण-वधो' नाम सप्तदशः सर्गः— ४१७

यत्कृत इत्यादि—यस्याः कृते यन्निमित्तं [अरीन्] परान् अशोकवनिका-
स्थितान् व्यगृह्णीम विगृहीतवन्तः । '२२२० । नित्यं क्षितः । ३।४।९९।' इति
लङि उत्तमस्य लोपः । समुद्रं चातराम तीर्णवन्तः । '२१७० । अतो दीर्घो यञि
। ७।३।१०१।' इति दीर्घः । सा सीता हतेति वदन्मरुसुतः राममुपातिष्ठत्
दौकितवान् । अत्र यमुना गङ्गामुपतिष्ठत् इत्येवं सङ्गतकरणम् । उपश्लेषो
नास्तीति 'उपाद्देवपूजा-' इत्यादिना तद्ध न भवति ॥

१३७०—ततः प्रामुह्यतां वीरौ राघवावर्तुतां तथा, ॥

उष्णं च प्राणतां दीर्घमुच्चैर् व्याक्रोशतां तथा, ॥ २४ ॥

तत इत्यादि—ततो हनूमद्वचनानन्तरं राघवौ वीरौ प्रामुह्यतां मोहं गतौ
तथाऽहतां क्रन्दितवन्तौ । '११०७। रु शब्दे' । '२४४३। उतो वृद्धिः—। ७।३।८९।'
न भवति तत्रापि 'सार्वधातुके' इत्यनुवर्तते । तथा दीर्घमुष्णं च प्राणतां
निश्वासितवन्तौ । '११४४। अन प्राणने' । '२४७४। 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' ।
७।२।७६।' इतीदं । तथा उच्चैराक्रोशतां 'हा सीते' इति आहूतवन्तौ ॥

१३७१—तावभाषत पौलस्त्यो 'मा स्म प्ररुदितं युवाम्, ॥

ध्रुवं स मोहयित्वाऽस्मान् पापोऽगच्छन्निकुम्भिलाम्, ॥

तावित्यादि—पौलस्त्यो विभीषण आगत्य तौ तथाभूतावभाषत उक्तवान् ।
युवां मा स्म प्ररुदितं मारोदिष्टम् । '२२२०। स्मोत्तरे लङ् च । ३।२।१७६।'
इति लङ् । यतो ध्रुवमवश्यं स इन्द्रजित् पापः अस्मान् मोहयित्वा मायया
विमोह्य । मुहेरकर्मकत्वाद् '५४०। गति-बुद्धि-। १।४।५२।' इत्यादिना कर्मसंज्ञा ।
निकुम्भिलामभिगृहमगच्छत् गतवान् । तत्र भूतानद्यतन एव लङ् ॥

१३७२—मा स्म तिष्ठत, तत्र-स्थो वध्यो ऽसार्व-हुताऽनलः, ॥

अस्त्रे ब्रह्म-शिरस्युग्रे स्यन्दने चा ऽनुपार्जिते, ॥ २६ ॥

मा स्मेत्यादि—मा स्म तिष्ठत मा विलम्बध्वं, गच्छत । '२२२०। स्मोत्तरे
लङ् च । ३।३।१७६।' यतस्तत्रस्थो निकुम्भिलास्थोऽसार्वहुतानलः अकृताश्रिकार्यो
वध्यः शक्यो हन्तुम् । '२८२३। शकि लिङ् च । ३।३।१७२।' इति चकारात्
'३३१२। कृत्याश्च । ३।३।१७१।' इति वचनात् लङ् । 'कृत्याश्च' इति वचनात्
'हनो वधश्च' इति उपसंख्यानद्यत् 'कथमहुतानलो वध्य' इति चेत् अस्त्रे
ब्रह्मशिरसि ब्रह्मशिरोनाम्नि उग्रे दुष्प्रयोगे स्यन्दने च अनुपार्जितेऽप्राप्ते सति ॥

कथमुभयं तेनोपार्ज्यत इत्याह—

१३७३—ब्रह्मा ऽदधाद् वधं तस्य तस्मिन् कर्मण्यसंस्थिते' ॥

प्रायच्छदाज्ञां सौमित्रेर् यूथपानां च राघवः, ॥ २७ ॥

ब्रह्मेत्यादि—यतस्तस्यां निकुम्भिलायां कर्मण्यसंस्थिते असमाप्ते ब्रह्मा वधं
तस्यादधात् धारितवान् । उक्तवानित्यर्थः । श्लौ द्विर्वचनम् । एवं विभीषणवचः

४१८ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

श्रुत्वा राघवः सौमित्रैर्युथपानां च गन्तुमाज्ञां प्रायच्छत् दत्तवान् । '९९६ ।
दाण् दाने' । '२३६० । पा-ब्रा । ७।३।७८।' इत्यादिना यच्छादेशः ॥

१३७४—तां प्रत्यैच्छन् सु-संप्रीतास् ततस् ते स-विभीषणाः, ॥

निकुम्भिलां समभ्यायन्, न्यरुध्यन्त च राक्षसैः ॥२८॥

तामित्यादि—ततस्ते सविभीषणाः सुसंप्रीतास्त्वामाज्ञां प्रत्यैच्छन् प्रतीष्टवन्तः
प्रतिगृहीतवन्तः । '१४४० । इषु इच्छायाम्' । '२४०० । इषु-गमि-यमां छः
। ७।३।७७।' ते च निकुम्भिलां समभ्यायन् समभिगताः । '५०८ । अय गतौ ।'
तत्र च ये दिक्पालाः राक्षसाः तैर्न्यरुध्यन्त रुद्धाः प्रवेष्टुं पन्थानं न लब्धवन्तः ।
कर्मणि लङ् ॥

१३७५—दिक्-पालैः कदनं तत्र सेने प्राकुरुतां महत्, ॥

एतां रक्षांसि निर्जित्य द्रुतं पौलस्त्य-लक्ष्मणौ, ॥ २९ ॥

दिक्पालैरित्यादि—तत्र निकुम्भिलोद्देशे उभे अपि सेने महत्कदनं विना-
शनं युद्धं प्राकुरुतां कृतवन्तौ । तानि रक्षांसि निर्जित्य पौलस्त्यलक्ष्मणौ द्रुतमैतां
गतवन्तौ । '१११८ । इण् गतौ ।' आह वृद्धिः ॥

१३७६—तत्रेन्द्रजितमैक्षेतां कृत-धिष्ण्यं समाहितम्. ॥

सोऽजुहोत् कृष्णवर्त्मानमामनन् मन्त्रमुत्तमम्. ॥३०॥

तत्रेत्यादि—तत्र निकुम्भिलयां तवैक्षेतां दृष्टवन्तौ । इन्द्रजितं कृतधिष्ण्यं
कृतद्वयगारम् । समाहितं एकाग्रमानसम् । स इन्द्रजित् कृष्णवर्त्मानमजुहोत्
द्रुतवान् । मन्त्रमुत्तममामनन् आवर्तयन् । '९९५ । आ अभ्यासे ।' शतरि
'२३६९ । पा-ब्रा-। ७।३।७८।' इत्यादिना मनादेशः ॥

१३७७—अध्यायच्च छक्रजिद् ब्रह्म, समाधेरचलन् न च. ॥

तमाह्वयत सौमित्रिरगर्जच्च च भयंकरम्. ॥ ३१ ॥

अध्यायदित्यादि—शक्रजिदिन्द्रजित्पुरं ब्रह्माध्यायत् चिन्तितवान् । '९७४ ।
ध्वे चिन्तायाम्' आत्वं शिति । न च समाधेश्चित्तवृत्तिनिरोधादचलत् चाङ्गि-
तवान् । तं तथाभूतमिन्द्रजितं सौमित्रिर्युद्धायाह्वयत आहूतवान् । भयंकरं
चागर्जत् शब्दितवान् ॥

१३७८—अकुप्यदिन्द्रजित् तत्र, पितृव्यं चाऽगदद् वचः ॥

‘त्वमत्राऽजायथा, देह इहाऽपुष्यत् सुराऽमिषैः, ३२

अकुप्यदित्यादि—तत्र तस्मिन्नाह्वाने कृतवति गर्जिते च सति अकुप्यत्
क्रुद्धः '१३१२ । कुप क्रोधे' दैवादिकः । पितृव्यं च पितृभ्रातरं विभीषणम् । पितृश-
ब्दाद् भ्रातरि व्यभिपातितः । वचो वक्ष्यमाणमगदत् उक्तवान् । अत्रासिन्
राक्षसकुले त्वमजायथाः जातोऽसि । '१२२४ । जनी प्रादुर्भावे ।' दैवादिको

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'रावण-वधो' नाम सप्तदशः सर्गः— ४१९

ऽनुदात्तेत् इह च देहः सुरामिपैरपुण्यद् वृद्धिं गतः । पुषिदैवादिक् । देहमपुण्य
इति पाठान्तरम् । तत्र देहं पोषितवानसि । अन्तर्भावितण्यर्थो द्रष्टव्यः ॥

१३७९—इहा ऽजीव, इहैव त्वं क्रूरमारभथाः कथम्, ॥

नाऽपश्यः पाणिमाद्रिं त्वं बन्धु-त्वं नाऽप्यपैक्षथाः ॥ ३३

इहेत्यादि—इहाजीवः जीवितोऽसि कथमिहैव त्वं क्रूरं कर्म आरभथाः
आरब्धवानसि । आद्रिं पाणिं च नापश्यस्त्वं न दृष्टवानसि । यावता कालेन
शुक्त्वा पाणिः शुष्यति तावन्तमपि कालं नापेक्षितवानसीत्यर्थः । आस्तां ताव-
देतत् । बन्धुत्वमपि एकगोत्रत्वमपि नापैक्षथाः ॥

१३८०—अ-धर्मान् ना ऽत्रसः पाप !

लोक-वादान् न चा ऽविभेः, ॥

धर्म-दूषण ! नूनं त्वं

ना ऽजाना, ना ऽशृणोरिदम् ॥ ३४ ॥

अधर्मादित्यादि—हे पाप ! अधर्मादपि नात्रसः न त्रस्तोऽसि । '११९२।
त्रसी उद्वेगे' । दिवादौ । '२३२१। वा आश-।३।१।७०।' इत्यादिना पक्षे शप ।
लोकवादात् जनापवादात् न चाविभेः न भीतोऽसि । श्रौ द्विर्वचनम् । धातो-
गुणः । '५८८। भी-त्रार्थानाम्-।१।४।२५।' इत्यपादानसंज्ञा । हे धर्मदूषण ।
धर्मस्य दूषण धर्मोच्छेदक । अतिविपरीते स्थितत्वात् । '१२६१। दुष वैकृत्ये' ।
'२६०४। दोषो णौ ।६।४।९०।' इत्युपधाया ऊत्वम् । दूषयतीति दूषणः ।
'२८४१। कृत्यल्युटो बहुलम् ।३।३।११३।' इति कर्तरि ल्युट् । न तु नन्वादि-
पाठे ल्युः । तत्र हि 'नन्दि-वाशि-मदि-दूषि-साधि-पचि-शोधि-रोचिभ्यो ण्यन्तेभ्यः
पूजायाम्' इत्युक्तम् । न चात्र पूजा गम्यत इति । नूनं अवश्यं त्वं नाजानाः
स्वयमिदं न ज्ञातवानसि । '१६०४। ज्ञा आवबोधने ।' त्रयादाबुदात्तेत् । '२५११।
ज्ञा-जनोर्जा ।७।३।७९' । इदमन्यतोऽपि नाशृणोः द्विषद्यो न श्रुतवानसि ।
'२३८६। श्रुवः श्रु च ।३।१।७४।' ॥

किं तदित्याह—

१३८१—निराकृत्य यथा बन्धून् लघु-त्वं यात्य-संशयम्.' ॥

पितृव्येण ततो वाक्यमभ्यधीयत शक्रजित् ॥ ३५ ॥

निराकृत्येत्यादि—यथा बन्धून् निराकृत्य परित्यज्य [लघुत्वम्] लघुतां यात्य-
संशयमसन्देहम् । ततः पुत्रोक्तेरनन्तरं पितृव्येण विभीषणेन शक्रजिद्वाक्यमभ्य-
धीयत अभिहितः । कर्मणि लङ् । '२४६२। बु-मास्था-।६।४।६६।' इतीत्वम् ॥

१३८२—'मिथ्या मा स्म व्यतिक्रामो,

मच्छीलं मा न बुध्यथाः ॥

सत्यं समभवं वंशे

पापानां रक्षसामहम् ॥ ३६ ॥

मिथ्येत्यादि—मिथ्या मृषा मा स्म व्यतिक्रामः मा परिभूः । ‘२३२२ । क्रमः-॥७३॥७६॥’ इत्यादिना शिति दीर्घः । शीलं स्वभावः मा न बुध्यथाः मा न बुद्धास्त्वं अपि तु ज्ञातवानसि । ‘२२२० । स्मोत्तरे लङ् च । ३।३।१७६ ।’ पापानां रक्षसां वंशेऽहं सत्यं समभवं संभूत इति ॥

१३८३—न त्वजायत मे शीलं

तादृग्, यादृक् पितुस् तव ॥

क्षयाऽऽवहेषु दोषेषु

वार्यमाणो मया ऽरमत् ॥ ३७ ॥

न त्वित्यादि—यद्यप्यहं राक्षसकुले जातस्तथापि तव पितुर्ग्राह्यं शीलं स्वभावस्तादृक् मे न त्वजायत नैवाभूत् । यतोऽसौ क्षयमावहन्तीति क्षयावहाः । पचाद्यच् । तेषु दोषेषु परस्त्रीहरणादिषु मया वार्यमाणोऽपि । दशग्रीव इति संबन्धः । अरमत् रतिं कृतवान् । २७४९ । व्याङ् परिभ्यो रमः । १।३।८३ ।’ इति परस्मैपदम् ॥

१३८४—दश-ग्रीवो ऽहमेतस्मादत्यजं, न तु विद्विषन् ॥

पर-स्वान्यार्जयन्, नारीरन्यदीयाः परामृशत् ॥ ३८ ॥

दशग्रीव इत्यादि—एतस्मात्कारणादहं रावणमत्यजं त्यक्तवानसि न पुनर्द्विषन् अमित्रीभवन् । ‘३१११ । द्विषोऽमित्रे । ३।२।१३१ ।’ इति शत्रुप्रत्ययः । तान् दोषानाह-परस्वानि परवित्तानि आर्जयन् अन्यैर्ग्राहितवान् । ‘२३३।३७ । अर्जं सर्जं अर्जने’ इति भ्वाद्वा हेतुमणिच् । ‘१८५८ । अर्जं प्रतियत्ने’ इति चौरादिकस्य वा रूपम् । अन्यदीयाः नारीश्च परामृशत् स्पृष्टवान् । ‘१५१९ । मृश आमर्शने इति तुदादावनुदात्तेत् ॥

१३८५—व्यजिघृक्षत् सुरान् नित्यं, प्रामाद्यद् गुणिनां हिते, ॥

आशङ्कत सुहृद्-बन्धून्-वृद्धान् बह्वमन्यत ॥ ३९ ॥

व्यजिघृक्षदित्यादि—सुरान् नित्यं व्यजिघृक्षत् विग्रहीतुमैच्छत् । गुणिनां माल्यवत्प्रभृतीनां यदुक्तं हितं तस्मिन् विषये प्रामाद्यद् प्रमादं गतः । ‘१२८४ । मदी हर्षे’ । ‘२५१९ । शमामष्टानाम्-॥७३॥७४॥’ इति दीर्घः । सुहृदो बन्धूश्च सुहृद्वन्धून् आशङ्कत विकल्पितवान् । अवृद्धान् अविदुषः प्रहस्तादीन् बह्वमन्यत श्लाघितवान् ॥

१३८६—दोषैररमतैर्भिस् ते पिता ऽत्यज्यत यैर् मया ॥

ततो-रुष्यदर्दनर्दच् च, द्वि-विंशतिभिरेव च ॥४०॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'रावण-वधो' नाम सप्तदशः सर्गः— ४२१

दोषैरित्यादि—एभिर्दोषैस्त्व पिता रावणः अरमत क्रीडितवान् । यैर्दोषै-
र्मया अत्यज्यत । कर्मणि लङ् । ततः पितुर्दोषप्रकाशनवचनादनन्तरम् । रावणि-
रिति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । अरुण्यत् रुष्टः । 'रुष रुष्टो' । अनर्दच्च विस्फूर्जितवांश्च ॥

१३८७—शरैरताडयद् बन्धुं, पञ्च-विंशतिभिर् नृपम् ॥

रावणिस् तस्य सौमित्रिरमश्वाच्च चतुरो हयान्. ४१

शरैरित्यादि—बन्धुं विभीषणं द्विविंशतिमिरताडयत् । चत्वारिंशतेत्यर्थः ।
द्वे विंशती येषां शराणामिति बहुव्रीहिः । एवं च '८०८। व्यष्टनः संख्यायाम्-
।६।३।४७।' इत्यात्वं न । तथा पञ्चविंशतिभिः शरैर्नृपं लक्ष्मणं अताडयत् ।
शतेनेत्यर्थः । द्वौ च विंशतिश्च पञ्च विंशतिश्चेत्यस्मिन् व्याख्याने द्वाविंशत्या पञ्च-
विंशत्येति च प्राप्नोति । सौमित्रिस्तु तस्य रावणेश्चतुरो हयान् बाणैरमश्वात् ।
'९०५। मथे विलोडने' इति त्रयादौ ॥

१३८८—सारथिं चाऽलुनाद् बाणैरभनक् स्यन्दनं तथा, ॥

सौमित्रिमकिरद् बाणैः परितो रावणिस् ततः. ४२

सारथिमित्यादि—तस्य रावणेः सारथिं चालुनात् छिन्नवान् । '२५५८।
प्रादीनां ह्रस्वः । ७।३।८०।' तथा स्यन्दनमभनक् भञ्जवान् । '१५४७। भञ्जो
आमर्दने' इति रुधादिः । ततोऽनन्तरं रावणिः सौमित्रिं परितः समन्तात्
बाणैरकिरत् छादितवान् ॥

१३८९—तावस्फावयतां शक्तिं, वाणांश्च चाऽकिरतां मुहुः. ॥

वारुणं लक्ष्मणोऽक्षिप्यदक्षिपद् रौद्रमिन्द्रजित्. ४३

तावित्यादि—ताविन्द्रजिल्लक्ष्मणौ शक्तिं सामर्थ्यमस्फावयतां वर्धितवन्तौ ।
'२५९७। स्फायो वः । ७।३।४१।' वाणांश्च मुहुरकिरतां विक्षिप्तवन्तौ । वारुण-
मखं लक्ष्मणोऽक्षिप्यत् । देवादिकस्य रूपम् । इन्द्रजिद्रौद्रं पाशुपतमक्षिपत्
क्षिप्तवान् । तौदादिकस्य रूपम् ॥

१३९०—ते परस्परमासाद्य शस्त्रे नाशमगच्छताम्, ॥

आसुरं राक्षसः शस्त्रं ततो घोरं व्यसर्जयत्, ॥४४॥

ते परस्परमित्यादि—ते शस्त्रे परस्परमासाद्य प्राप्य नाशमगच्छतां नाशं
गते । ततस्तत्राशादनन्तरं राक्षसो रावणिः आसुरं असुरदैवतं शस्त्रं घोरं भीषणं
व्यसर्जयत् क्षिप्तवान् ॥

१३९१—तस्मान् निरपतद् भूरि शिला-शूलेष्टि-मुद्गरम्. ॥

माहेश्वरेण सौमित्रिरस्तभ्नात् तत् सुदुर्जयम्. ॥४५॥

तस्मादित्यादि—तस्मादासुरादस्त्रात् शिलाशूलेष्टिमुद्गरं निरपतत् । इष्टिः

४२२ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

प्रहरणविशेषः । तच्चासुरं सुदुर्जयं सौमित्रिः माहेश्वरेण अस्त्रात् स्तम्भितवान् ।
'२५५५। स्तम्भु-३।१।८२।' इत्यादिना आ चकारात् भुश्च ॥

१३९२—ततो रौद्र-समायुक्तं माहेन्द्रं लक्ष्मणोऽस्मरत्, ॥

तेनाऽऽगम्यत घोरेण, शिरश् चाऽह्रियत द्विषः ४६

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं रौद्रसमायुक्तं रौद्रास्त्रेण सहितं माहेन्द्रमस्त्रं
लक्ष्मणोऽस्मरत् चिन्तितवान् । तेन स्मरणादेवागम्यत आगतम् । भावे लङ् ।
तस्य द्विषः शत्रोः शिरश्चाह्रियत छिन्नम् । कर्मणि लङ् ॥

१३९३—अतुष्यन्नमराः सर्वे, प्राह्व्यन् कपि-यूथपाः, ॥

पर्यष्वजत सौमित्रिं, मूर्ध्यजिघ्रश् च राघवः ॥४७॥

अतुष्यन्नित्यादि—तस्मिन् मृते अमरा देवाः । अतुष्यन् तुष्टाः । कपियू-
थपाः प्राह्व्यन् प्रहृष्टाः । राघवश्च सौमित्रिं पर्यष्वजत आश्लिष्टवान् । '२३९६।
दंश-सञ्ज-१६।४।२५।' इत्यनुनासिकलोपः । '२२७६। प्राक् सितादङ्गव्यायेऽपि
।८।३।६३।' इति वचनात् । '२२७५। परि नि-विभ्यः-।८।३।७०।' इत्यादिना
षत्वम् । मूर्ध्यजिघ्रश्चाप्राप्तवान् ॥

१३९४—अरोदीद् राक्षसाऽनीकमरोदन् नृ-भुजां पतिः, ॥

मैथिल्यै चाऽशपद्धन्तुं तां प्राक्रमत चाऽऽतुरः ४८

अरोदीदित्यादि—राक्षसानीकं राक्षससैन्यमरोदीत् रुदितम् । '२४७५।
रुदश्च पञ्चम्यः । ७।३।९८।' इतीदं । नृभुजां पतिः रावणः अरोदत् रुदितः ।
'२४७६। अङ् गार्ग्यगालवयोः । ७।३।९९।' इत्याङगमः । मैथिल्यै चाशपत्
आकुष्टवान् । सर्वदोषस्य मूलमिति । '५७२। श्लाघ-हुङ्—।१।४।३२।' इत्या-
दिना कर्मणि सम्प्रदानसंज्ञा । तां च हन्तुं आतुरो मनुयुक्षतः प्राक्रमत प्रारब्ध-
वान् । '२७१५। प्रोपाभ्याम्—।१।३।४२।' इति तङ् ॥

१३९५—'अ-युक्तमिदमि' त्यन्ये तमाप्ताः प्रत्यवारयन्, ॥

न्यरुधंश् चाऽस्य पन्थानं बन्धुता शुचमार्णत् ४९

अयुक्तमित्यादि—अन्ये आप्ताः राक्षसाः अयुक्तमेतदिति मन्यमानाः तं
तथाविधं प्रत्यवारयन् आवार्य स्थिताः । '१९५०। वृज् आवरणे' चुरादिः ।
न्यरुधंश्च हस्तपादादिग्रहणेन रुद्धवन्तः । बन्धुता बन्धुसमूहः । अस्य शोक-
मार्णत् अपनीतवती । हलङ्यादि लोपः । धकारस्य जङ्त्वम् ॥

१३९६—आस्फायताऽस्य वीरत्वममर्षश् चाऽप्यतायत ॥

रावणस्य ततः सैन्यं समस्तमयुयुत्सयत् ॥ ५० ॥

आस्फायतेत्यादि—अथ विरुद्धशोकस्य रावणस्य वीरत्वं शौर्यं आस्फायत
वृद्धिं गतम् । अमर्षश्च क्रोधः अतायत विस्तारं गतः । ततः स रावणः समस्तं
सैन्यं अयुयुत्सयत् युयुत्समानं प्रयोजितवान् ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'रावण-वधो' नाम सप्तदशः सर्गः— ४२३

१३९७—अग्नीनवरिवस्यंश् च ते, ऽनमस्यंश् च शङ्करम्, ॥

द्विजानप्रीणयन् शान्त्यै यातुधाना भवद्-भियः. ५१

अग्नीनित्यादि—ते यातुधानाः भवद्भियः उत्पद्यमानभीतयः । अग्नीनवरिवस्यन् परिचारितवन्तः । '२६७५ । नमोवरिवश्चित्रः क्यच् । ३।१।१९।' इति वरिवसः परिचर्यायामिति क्यच् । तदन्ताल्लङ् । शङ्करं च महादेवं अनमस्यन् पूजितवन्तः । अत्र नमसः पूजायां क्यच् । द्विजांश्च शान्त्यै शान्त्यर्थमप्रीणयन् प्रीणितवन्तः । 'धूज्-प्रीजोर्नुग्वक्तव्यः' ॥

१३९८—परितः पर्यवाद् वायुराज्य-गन्धिर् मनो-रमः, ॥

अश्रूयत स-पुण्याहः स्वस्ति-घोषः समुच्चरन्. ॥५२॥

परित इत्यादि—अग्निसन्तर्पणाद्राज्यगन्धिः आज्यस्य गन्धो यस्मिन्वायौ स वायुर्मनोरमः परितः सर्ववेदसु पर्यवात् वाति स्म । स्वस्तिघोषश्च सपुण्याहः पुण्याहशब्देन सह समुच्चरन्नश्रूयत श्रूयते स्म । कर्मणि लङ् ॥

१३९९—योद्धारो ऽविभरुः शान्त्यै साऽक्षतं वारि मूर्धभिः, ॥

रत्नानि चा ऽददुर् गाश् च, समवाञ्छन्नथाऽऽशिषः.

योद्धार इत्यादि—योद्धारः शान्त्यै शान्त्यर्थं साक्षतं अक्षततण्डुलैर्युक्तं सलाजं च वारि जलं मूर्धभिरविभरुः दधति स्म । '२२२६। सिजभ्यस्त— । ३।४।१०९।' इति श्लेषः । '२४९६। मृजामित् । ७।४।७६।' इतीत्वम् । रत्नानि गाश्चाददुः दत्तवन्तः । आशिषश्च तेभ्यः समवाञ्छन् काङ्क्षितवन्तः । '२१७। वाञ्छि इच्छायाम्' ॥

१४००—अदिहंश् चन्दनैः शुभ्रैर्, विचित्रं समवस्त्रयन्, ॥

अधारयन् स्रजः कान्ता, वर्म चा ऽन्ये ऽदधुर् द्रुतम्.

अदिहन्नित्यादि—शुभ्रैः शुक्लवर्णैश्चन्दनैः अदिहन् गात्राणि लिप्तवन्तः । '१०८४। दिह उपचये' । विचित्रं शोभनं समवस्त्रयन् आच्छादितवन्तः । '२६७७। मुण्ड-मिश्र- । ३।१।१।' इत्यादिना वस्त्रास्समाच्छादने णिच् । कान्ताः शुभ्राः स्रजः आधारयन् धारितवन्तः । '९६६। धृज् धारणे' । अण्यन्तस्य प्रयोग एव नास्ति । अन्ये च वर्माणि कवचानि द्रुतमदधुः धारितवन्तः ॥

१४०१—समक्ष्णुवत शस्त्राणि, प्रामृजन्, खड्ग-संहतीः, ॥

गजाऽऽदीनि समारोहन्, प्रातिष्ठन्ता ऽऽथ सत्वराः.

समक्ष्णुवतेत्यादि—शस्त्राणि समक्ष्णुवत । '१११०। क्ष्णु तेजने' । '२७३६। समः क्ष्णुवः । १।३।६५।' इति तङ् । खड्गसंहतीः प्रामृजन् शोषितवन्तः । मृजेरजादौ विभाषा वृद्धिः । गजादीनि यानानि समारोहन् आरूढाः । गजादिष्विति पाठान्तरम् । तत्राधिकरणत्वं विवक्षितम् । अथानन्तरमारूढाः सत्वराः प्रातिष्ठन्त प्रस्थिताः । '२६८९। समव-प्र-विभ्यः स्थः । १।३।२२।' इति तङ् ॥

४२४ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

१४०२—अपूरयन् नभः शब्दो बल-संवर्त-संभवः ॥

अपूर्यन्त च दिग्-भागास् तुमुलैस् तूर्य-निस्वनैः. ५६

अपूरयदित्यादि—बलानां संवर्त एकीभावः तस्मात्संभवो यस्य स शब्दः नभ आकाशमपूरयत् पूरितवान् । तुमुलैस्तूर्यनिस्वनैः महद्भिर्वैषेदिग्भागा अपूर्यन्त पूर्णाः । कर्मणि लङ् ॥

१४०३—आसीद् द्वारेषु संघट्टो रथाऽश्व-द्विपरक्षसाम् ॥

सुमहान-निमित्तैश् च समभूयत भीषणैः ॥ ५७ ॥

आसीदित्यादि—रथादीनां निर्गच्छतां लङ्काद्वारेषु संघट्टः सुमहानासीत् । जनभूयस्तथा संघर्षोऽभूत् । २३२५। अस्तिसिचोऽष्टके । ७। ३। ९६। इतीद । अति-मित्तैः भीषणैर्भयंकरैर्महद्भिः समभूयत क्षयकरैर्निमित्तैर्भूतम् । भावे लङ् ॥

१४०४—कपयो ऽविभयुस् तस्मिन्नभञ्जंश् च महा-द्रुमान् ॥

प्रोदखायन् गिरींस् तूर्णमगृह्णंश् च महा-शिलाः. ५८

कपय इत्यादि—तस्मिन्निर्गते कपयोऽविभयुः भीतवन्तः । महाद्रुमांश्च योद्रुमभञ्जन् भग्नवन्तः । गिरीन् प्रोदखायन् उत्खातवन्तः । '९७८ । खै खदने' शिति आत्वं न भवति । महाशिला अगृह्णन् गृहीतवन्तः ॥

१४०५—ततः समभवद् युद्धं प्राहरन् कपि-राक्षसाः, ॥

अन्योन्येना ऽभ्यभूयन्त, विमर्दमसहन्त च. ॥ ५९ ॥

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं युद्धं समभवत् प्रवृत्तम् । कपिराक्षसाः प्राहरन् प्रहतवन्तः । अन्योन्येनाभ्यभूयन्त कपयो राक्षसैः राक्षसाश्च कपिभिरिति । कर्मणि लङ् । विमर्दमसहन्त च सोढवन्तः ॥

१४०६—प्रावर्धत रजो भौमं, तद् व्याश्रुत दिशो दश, ॥

पराऽऽत्मीय-विवेकं च प्रामुष्णात् कपि-रक्षसाम्. ॥

प्रावर्धतेत्यादि—बलद्वयप्रक्षोभात् भौमं रजः प्रावर्धत प्रवृद्धम् । तद्गजो दश दिशो व्याश्रुत व्याप्नोत् । अयं परोऽयं चात्मीय इति यो विवेकस्तं च प्रामुष्णात् अपनीतवत् । '१६२९। सुष स्तेये' ऋयादिः ॥

१४०७—ततो ऽद्विषुर् निरालोके

स्वेभ्यो ऽन्येभ्यश् च राक्षसाः. ॥

अद्विषन् वानराश् चैव

वानरेभ्यो ऽपि निर्दयाः ॥ ६१ ॥

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं निरालोके समरे राक्षसाः स्वेभ्योऽन्येभ्य-श्चाद्विषुः कुध्यन्ति स्म । वानरा अपि वानरेभ्योऽद्विषन् निर्दयाः सन्तः । अपि

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'रावण-वधो' नाम सप्तदशः सर्गः— ४२५

शब्दात् राक्षसेभ्योऽपि । '२४३५। द्विषश्च । ३। ४। ११२ ।' इत्यनेन शाकटाय-
नमते ज्ञेयम् । अन्येषामद्विषन् । '५७५। कुध-दुह-। १। ४। ३७।' इत्यादिना
सम्प्रदानसंज्ञा ॥

१४०८—अधुरन् ते महा-घोरमश्च्योतन्नथ शोणितम्, ॥

समपद्यत रक्तेन समन्तात् तेन कर्दमः. ॥ ६२ ॥

अधुरन्नित्यादि—अथानन्तरं ते हताः अधुरन् घोरं रौद्रं शब्दितवन्तः ।
'१४३३ । घुर भीमार्थशब्दयोः' । शोणितं चाश्च्योतत् क्षरति स्म । तेन च रक्त-
सुतेन समन्तात्सर्वतः कर्दमः समपद्यत संपन्नः । कर्मणि लङ् ॥

१४०९—गम्भीराः प्रावहन् नद्यः, समजायन्त च हृदाः, ॥

वृद्धं च तद् रजो ऽशाम्यत्, समवेद्यन्त च द्विषः. ॥

गम्भीरा इत्यादि—तेन रक्तेन वर्धिष्णुना गम्भीरा अगाधाः नद्यः प्राव-
हन् प्रवृत्ताः । हृदास्तडागाः समजायन्त संजाताः । तच्च रजः प्रवृद्धमशाम्यत्
शान्तम् । उद्गमाभावात् । उत्पन्नस्य च पतनात् रजःशमनात् । द्विषश्च सम-
वेद्यन्त संवेद्यन्ते स्म । '१८४१ । विद् चेतनाख्याननिवासेषु' इति चौरादिकः ।
कर्मणि लङ् ॥

१४१०—ततो ऽचित्रीयता ऽस्त्रौघैश्च

धनुश्च चा ऽधूनयन् महत् ॥

रामः, समीहितं तस्य

नाऽचेतन् स्वे न चा ऽपरे. ॥ ६४ ॥

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं रामः शस्त्रौघैरचित्रीयत आश्चर्योभूतः ।
'३६७५। नमो-वरिवः-। ३। १। १९।' इति 'चित्रश्च आश्चर्ये' । छित्वात्तङ् । धनुश्च
महदधूनयत् विधूनितवान् । 'धूञ्-प्रीजोर्नुङ्वक्तव्यः' । तस्य रामस्य समीहित-
मसिप्रेतं स्वे आत्मीया वानराः न च अपरे परकीया नाचेतन् न ज्ञातवन्तः ॥

१४११—छिन्नानैक्षन्त भिन्नांश्च समन्ताद् राम-सायकैः. ॥

कुष्टं हाहेति चा ऽशृण्वन् न च रामं न्यरूपयन्. ६५

छिन्नानित्यादि—रामसायकैश्छिन्नान् भिन्नांश्च समन्तादैक्षन्त । हा हेति
च कुष्टं शब्दमन्योन्यस्य चाशृण्वन् । न च नैव रामं न्यरूपयन् राम इति च
न निश्चितवन्तः । 'रूप व्याक्रियायाम्' इति चौरादिकः ॥

१४१२—अभिनच्च छत्र-संघातानक्षुण्णद् वाजि-कुञ्जरम्, ॥

अपिनद् च रथाऽनीकं, न चा ऽज्ञायत संचरन्. ६६

अभिनदित्यादि—शत्रुसंघातानभिनत् भिन्नवान् । वाजिकुञ्जरमक्षुण्णद्
सम्पिष्टवान् । '१५५७ । क्षुदि सम्पेषणे' । रथानीकं रथसमूहमपिनद् पिष्ट-

४२६ भट्टिकाव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

वान् । '१५४६। पिबु संचूर्णने' सर्वे रौधादिकाः । न च संचरन् रामः अज्ञा-
यत न ज्ञातः । स्वैः परैर्वैल्यर्थात् । कर्मणि लङ् ॥

युग्मम्-६७।६८

१४१३-दश दन्ति-सहस्राणि रथिनां च महाऽऽत्मनाम् ॥

चतुर्दश सहस्राणि साऽऽरोहाणां च वाजिनाम् ६७

१४१४-लक्षे च द्वे पदातीनां राघवेण धनुर्-भृता ॥

अनीयन्ताष्टमे भागे दिवसस्य परिक्षयम्. ॥ ६८ ॥

दशेत्यादि—अनेन श्लोकद्वयेन राघवेण धनुर्भृता दिवसस्याष्टमे भागे
अर्धग्रहरे दश दन्तिनां सहस्राणि रथिनां च महात्मनां चतुर्दश सहस्राणि ।
सारोहाणां च वाजिनां तावन्त्येव । पदातीनाम् द्वे लक्षे परिक्षयं विनाश-
मनीयन्त नीताः । कर्मणि लङ् । अनीयतेति पाठान्तरं तत्र सर्वमेतदनी-
यतेति योज्यम् ॥

१४१५-यम-लोकमिवा, ग्रन्थाद्,

रुद्राऽऽक्रीडमिवा ऽकरोत्, ॥

शैलैरिवा ऽचिनोद् भूमिं

बृहद्भी राक्षसैर् हतैः. ॥ ६९ ॥

यमलोकमित्यादि—स राघवः तैः राक्षसैः बृहद्भिः यमलोकमिवाग्रन्थात्
सन्दर्भितवान् । '१६०९।१०। ग्रन्थ ग्रन्थ सन्दर्भे' इति क्रयादिः । रुद्राक्रीडमिव
रुद्रस्य क्रीडास्थानं स्मशानमिवाकरोत् । भूमिं शैलैरिवाचिनोत् छादितवान् ॥

१४१६-अस्तुवन् देव-गन्धर्वा, व्यस्मयन्त प्लवङ्गमाः, ॥

कपीन्द्रेऽतन्यत प्रीतिः, पौलस्त्योऽमन्यताऽद्भुतम्. ॥

अस्तुवन्नित्यादि—तमद्भुतकर्मकारिणं देवा अस्तुवन् स्तुवन्ति स्म । प्लव-
ङ्गमाः कपयः व्यस्मयन्त विस्मिताः । डिप्त्वात्तङ् । कपीन्द्रे सुम्रीवे प्रीतिरतन्यत
तन्यते स्म । कर्मकर्तरि लङ् । पौलस्त्यो विभीषणः आश्चर्यं ज्ञातवान् ॥

१४१७-राक्षस्यः प्रारुदन्नुच्चैः, प्राजुगुप्सन्त रावणम्. ॥

अमुह्यद् बाल-वृद्धं च, समरौदितरो जनः ॥७१॥

राक्षस्य इत्यादि—राक्षस्यो भर्त्रादिवधदुःखिताः उच्चैः प्रारुदन् रुदितवत्यः ।
'२४७४। रुदादिभ्यः-।७।२।७६।' इतीदं न भवति अहलादित्वात् । रावणं प्राजु-
गुप्सन्त निन्दितवत्यः । एतदुर्णयात् सर्वमिति । बाला वृद्धाश्च तद्वयं अमुह्यद्
अयान्मोहं गतम् । इतरो जनः राक्षसीबालवृद्धेभ्योऽन्यः समरौत् आकुष्टवान् ।
'११०७। रु शब्दे' '२४४३। उतो वृद्धिर्लुकि हलि ।७।३।८९।' ॥

तथा लक्ष्यरूपे कथानके 'रावण-वधो' नाम सप्तदशः सर्गः— ४१७

१४१८—सर्वतश्चाऽभयं प्राप्नोन्

नैच्छन् नृभ्यस् तु रावणः, ॥

फलं तस्यैदमभ्यायाद्

दुरुक्तस्येति चाऽब्रुवन्. ॥ ७२ ॥

सर्वत इत्यादि—सर्वतो देवादिभ्यः अभयं रावणः प्राप्नोत् प्राप्तवान् । यतो 'ब्रह्मणि वरं दातुमुद्यते देवादीनामवधो भूयासम्' इत्युक्तवान् । नृभ्यस्तु सका-
शादभयं नैच्छन्नेष्टवान् के मम मानुषा इति तस्य दुरुक्तस्य फलमभ्यायात्
उपागतम् । इत्येवमपरे अब्रुवन् उक्तवन्तः ॥

१४१९—ततोऽधावन् महा-घोरं रथमास्थाय रावणः, ॥

अक्षमायत मही, गृध्राः समारार्यन्त भीषणाः ॥ ७३ ॥

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं महाघोरं रथमास्थायारुह्य रावणः योद्धुं वेगे-
नाधावत् गतवान् । तस्य च धावतो मही अक्षमायत कम्पिता । '५२०। क्षमायी
विधूनने' । गृध्राश्च भीषणाः समारार्यन्त अत्यर्थं गतवन्तः । 'सूचि-सूत्रि-मूत्रि-
भ्यो यङ्' अत्यर्थशूणोतीनां ग्रहणं यङ्-विधावनेकाजहलाद्यर्थमित्युपसंख्यानान्
अर्तेर्यङ् । '२३८० । गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः । ७।४।२९।' इत्यधिकृत्य '२६३३। यङि
च । ७।४।३०।' इति गुणः ॥

१४२०—मेघाः स-विद्युतोऽवर्षश्चेल-क्रोपं च शोणितम्, ॥

अवान् भीमा नभस्वन्तः, प्रारुवन्न-शिवाः शिवाः ॥

मेघा इत्यादि—सविद्युतो मेघाश्चेलक्रोपं शोणितं रक्तं अवर्षन् वर्षितवन्तः ।
यावता रक्तेन चेलं वासः क्रोपयते सिच्यते तावत्प्रमाणं वृष्टवन्तः । '५१९। क्रूयी
शब्दे' इत्यस्य ण्यन्तस्य '२५७०। अर्ति-ही-१।७।३।३६।' इत्यादिना पुकि यलोपः ।
'३३५४। चेले क्रोपेः । ३।४।३३।' इति णसुल् । भीमाः नभस्वन्तः वायवः अवान्
वान्ति स्म । '२४६३। लङः शाकटायनस्यैव । ३।४।१११।' इति नियमादन्यमते
ज्ञेयं न भवति । शिवाः शृगाल्यः अशुभाः अनिष्टशंसिन्यः प्रारुवन् शब्दितवत्यः ॥

१४२१—आटाव्यताऽवमत्याऽसौ

दुर्निमित्तानि, संयुगे ॥

अधुनोद् धनुरस्त्रौधैः

प्रौर्णोनूयत विद्विषः. ॥ ७५ ॥

आटाव्यतेत्यादि—असौ रावणः दुर्निमित्तान्यवमत्य युद्धार्थमाटाव्यत अत्य-
र्थमाटत् । 'सूचि-सूत्रि-' इत्यादिना यङ् । संयुगे युद्धे धनुरधुनोत् कम्पितवान् ।
अस्त्रौधैर्विद्विषः शत्रून् प्रौर्णोनूयत शृशं छादितवान् । 'ऊर्णुञ् आच्छादने' । ऊर्णो-
तेर्णुवद्भावात् 'सूचि-सूत्रि-' इत्यादिना वा यङ् । '२१७६। अजादेर्द्वितीयस्य

४२८ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

।६।१।२।' इति द्विर्वचने '२४४६। न न्द्राः-।६।१।३।' इति रेफो न द्विरुच्यते ।
नुशब्दस्य द्विर्वचनम् । '२६३०। गुणो यङ्लुकोः । ७।४।८२। इति गुणः । '२२-
९८। अकृतसार्वधातुकयोः-।७।४।२५।' इति दीर्घः ॥

युगम्-७६।७७

१४२२-व्यनाशयन् ततः शत्रून् सुग्रीवाऽस्ता महीभृतः, ॥

ततो व्यरसदं ग्लायदं ध्यशेत मही-तलम्. ॥ ७६ ॥

व्यनाशयन्नित्यादि—ततोऽनन्तरं सुग्रीवास्ताः सुग्रीवेण क्षिप्ता महीभृतः
पर्वताः शत्रुसैन्यं व्यनाशयन् मारितवन्तः । ततो मांसादां रक्षसां बलं सुग्रीव-
बाधितं पीडितमित्युत्तरश्लोकेन संबन्धः । व्यरसत् आक्रन्दितवत् । अग्लायत्
ग्लानिं गतम् । महीतलमध्यशेत महीतले पतितम् । '२४४१।' शीङः सार्वधा-
तुके गुणः । ७।४।२१।' ॥

१४२३-आश्रयोतद् रुधिरं, तोयमलसच्च चाऽति विह्वलम्, ॥

अशीयत नृ-मांसाऽदां बलं सुग्रीव-बाधितम्. ॥ ७७ ॥

आश्रयोतदित्यादि—रुधिरमाश्रयोतत् अस्त्रवत् । विह्वलं च सत् तोयमल-
सत् अभिलषितवत् । '२३२१। वा आश-।३।१।७०।' इत्यादिना विकल्पेन
शप् । अशीयत च अवसन्नम् । '२३६२। शदेः शितः । १।३।६०।' इति तङ् ।
'२३६०। पाघ्रा-।७।३।७८।' इत्यादिना शीयादेशः । मांसमदन्तीति । '२९७७।
अदोऽनन्त्रे । ३।२।६८। इति विट् ॥

१४२४-विरूपाक्षस् ततो क्रीडत् संग्रामे मत्त-हस्तिना, ॥

मुष्टिनाऽदालयत् तस्य मूर्धानं वानराऽधिपः. ७८

विरूपाक्ष इत्यादि—ततो विरूपाक्षो नाम राक्षसः मत्तहस्तिना संग्रामे
अक्रीडत् आन्तवान् । तस्य मूर्धानं वानराधिपः सुग्रीवः मुष्टिना अदालयत्
दलितवान् । '१८८८। दल विदारणे' चुरादिः ॥

१४२५-अचूर्णयच्च च यूपाक्षं शिलया तदनन्तरम्. ॥

संकुद्धो मुष्टिनाऽतुभ्रादङ्गदोऽलं महोदरम्. ॥ ७९ ॥

अचूर्णयदित्यादि—तदनन्तरं वानराधिपः यूपाक्षं नाम राक्षसं शिलया
अचूर्णयत् चूर्णितवान् । 'तत्करोति' इति णिच् । अङ्गदोऽपि संकुद्धः मुष्टिना म-
होदरं अलं पर्याप्तमनुभ्रात् व्यापादितवान् । '१६१९। नभ तुभ हिंसायाम्' क्रयादिः ॥

१४२६-ततो ऽकुष्णाद् दशग्रीवः

क्रुद्धः प्राणान् वनौकसाम्, ॥

अगोपायच्च च रक्षांसि

दिशश् चाऽरीनभाजयत्. ॥ ८० ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'रावण-वधो' नाम सप्तदशः सर्गः— ४२९

तत इत्यादि—ततो दशग्रीवः क्रुद्धः वनौकसां वानराणां प्राणानकुष्णात् कुष्टवान् । '१६१६। कुष निष्कर्षे' । रक्षांसि च राक्षसांश्चागोपायत् रक्षितवान् । '२३०३। गुप्-धूप-॥३१।२८।' इत्यादिना आयप्रत्ययः । अरींश्च दिशोऽभाजयत् प्रहितवान् ॥

१४२७—आलोकयत् स काकुत्स्थमधृष्णोद्, घोरमध्वनत्, ॥
धनुरभ्रमयद् भीममभीषयत विद्विषः. ॥ ८१ ॥

आलोकयदित्यादि—स दशग्रीवः काकुत्स्थमालोकयत् दृष्टवान् । घोरदर्शनमधृष्णोत् दृष्टवान् । '१३५०। जिष्टषा प्रागल्भ्ये' इति स्वादिः । ताननुसरन् घोरमध्वनत् ध्वनितवान् । रामं मारयामीति भीमं धनुरभ्रमयत् भ्रमितवान् । '२५६८। मितां ह्रस्वः । ६।४।९२।' मान्तत्वान्मित्वम् । ये विद्विषो न पलायिताः तानभीषयत त्रासितवान् । '२५९५। मियो हेतु-भये पुक् । ७।३।४०।' । '२५-९४। भीस्योर्हेतुभये । १।३।६८।' इति तड् ॥

१४२८—आस्कन्दत् लक्ष्मणं बाणैरत्यक्रामच्च तं द्रुतम्, ॥
राममभ्यद्रवज् जिष्णुरस्कुनाच्च चेषु-वृष्टिभिः. ८२

आस्कन्ददित्यादि—जिष्णुर्जयशीलो दशग्रीवः लक्ष्मणं बाणैरास्कन्दत् बाधितवान् । '१०४८। स्कन्दिर् गतिशोषणयोः' । तं च लक्ष्मणं द्रुतमत्यक्रामत् आक्रान्तवान् । शिति दीर्घः । अतिक्रम्य च राममभ्यद्रवत् अभिमुखं गतवान् । '१०११। द्रु गतौ' । द्रुवृष्टिभिरस्कुनात् छादितवान् । '१५७३। स्कुञ् आवरणे' । '२५५५। स्तम्भु-स्तम्भु-॥३१।८२।' इत्यादिना चकारात् आ ॥

१४२९—अपौहद् बाण-वर्षं तद् भल्लै रामो निराकुलः, ॥
प्रत्यस्कुनोद् दश-ग्रीवं शरैराशी-विषोपमैः. ॥ ८३ ॥

अपौहदित्यादि—तद्बाणवर्षं रामो निराकुलः सन् भल्लैरपोहत् अपनीतवान् । 'उपसर्गादस्यत्युद्धोर्वा' इति पक्षे तिप् । दशग्रीवं बाणैराशीविषोपमैः दुःसहत्वात्प्रत्यस्कुनोत् प्रतीपं छादितवान् । अत्र श्लुप्रत्ययः ॥

१४३०—मण्डलान्याटतां चित्रमच्छित्तां शस्त्र-संहतीः, ॥
जगद् विस्मापयेतां तौ, न च वीरावसीदताम्. ८४

मण्डलानीत्यादि—चित्रमाश्चर्यं मण्डलान्याटतां चक्रवद् भ्रान्तौ । शस्त्र-संहतीः अच्छित्तां छिन्नवन्तौ । जगत् विस्मापयेतां विस्मापितवन्तौ । '२५९६। नित्यं स्मयतेः । ६।१।५७।' इत्यात्वम् । न च तौ वीरौ असीदतां अवसन्नौ । '२३६०। पा-घ्रा-॥७।३।७८।' इति सीदादेशः ॥

१४३१—व्योम प्राचिनुतां बाणैः, क्षमामक्षमापयतां गतैः, ॥
अभित्तां तूर्णमन्योन्यं शिक्षाश् चाऽतनुतां मुहुः. ॥

४३० भट्टि-कान्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

व्योमेत्यादि—बाणैर्व्योमं प्राचिनुतां छादितवन्तौ । क्षमां पृथिवीं अक्षमाप-
यतां कम्पितवन्तौ । '५२०। क्षमायी विधूने' । '२५७० । अर्ति-ही-१७।३।३६।'
इत्यादिना पुक् । अन्योन्यमभित्तां विदारितवन्तौ । '२४६९। असोरहोपः
।६।४।१११।' चत्वेन च तकारः । तूर्णं शिक्षाः धनुषि कौशलानि मुहुरतनुतां
विस्सारितवन्तौ ॥

१४३२—समाधत्ता ऽऽसुरं शस्त्रं राक्षसः क्रूर-विक्रमः, ॥

तदक्षरन् महासर्पान् व्याघ्र-सिंहांश् च भीषणान् ॥

समाधत्तेत्यादि—राक्षसः आसुरं शस्त्रं समाधत्त धनुष्यारोपितवान् । श्लौ-
द्विर्वचनमभ्यासकार्यम् । '२४८३। आभ्यस्तथोः-।६।४।१२।' इत्याकारलोपः ।
'२५०१। दधस्तथोश्च ।८।२।३८।' इति भष्भावः । '२२८०। क्षपस्तथोर्धोऽधः
।८।२।४०।' इति प्रतिषेधात् तकारस्य धत्वं न भवति । तत्संहितं सर्पादीन्
प्राक्षरत् मुक्तवत् ॥

१४३३—न्यषेधत् पावकाऽस्त्रेण रामस् तद् राक्षसस् ततः ॥

अदीव्यद् रौद्रमत्युग्रं, मुसलाऽऽद्यगलत् ततः॥८७॥

न्यषेधदित्यादि—तदासुरं शस्त्रं रामः पावकास्त्रेण न्यषेधत् निषिद्धवान् ।
ततो राक्षसो रौद्रमस्त्रमत्युग्रमदीव्यत् क्षिप्तवान् । अत्र दिविर्गतौ वर्तते । ततो
रौद्रात् क्षिप्तात् मुसलादिप्रहरणमगलत् निर्गतवत् । '५८७। गल अदने' ।
अनेकार्थत्वाद्वातूनां गलिरत्र निर्गमे वर्तते ॥

१४३४—गान्धर्वेण न्यविध्यत् तत्

क्षितीन्द्रो, ऽथ नराऽशनः ॥

सर्व-मर्मसु काकुत्स्थ-

मौम्भत् तीक्ष्णैः शिलीमुखैः. ॥ ८८ ॥

गान्धर्वेणेत्यादि—क्षितीन्द्रो रामः तद्रौद्रमस्त्रं गान्धर्वेणास्त्रेण न्यविध्यत्
ताडितवान् । अथ नराशनो राक्षसः शिलीमुखैर्बाणैः सर्वमर्मसु काकुत्स्थमौम्भत्
प्ररितवान् । '१४०७। उम्भ पूरणे' तुदादौ ॥

१४३५—ततस् त्रिशिरसं तस्य

प्रावृश्चल लक्ष्मणो ध्वजम्, ॥

अमघ्नात् सारथिं चाऽऽशु,

भूरिभिश् चाऽतुदच्छरैः. ॥ ८९ ॥

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं लक्ष्मणस्तस्य रावणस्य ध्वजं त्रिशिरसं त्रिशूलाग्रं
प्रावृश्चत् छिन्नवान् । '१३७६। ओवश्चू च्छेदने' तुदादौ । सारथिं चामघ्नात्

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'रावण-वधो' नाम सप्तदशः सर्गः— ४३१

ध्वस्तवान् । '१६०८। मन्थ विलोडने' क्रयादिः । भूरिभिश्च प्रभृतैः शरैरतुदत् व्यथितवान् ॥

१४३६—अश्वान् विभीषणो ऽतुभ्रात्

स्यन्दनं चाऽक्षिणोद् द्रुतम्, ॥

ना ऽशुभ्राद् राक्षसो, भ्रातुः

शक्तिं चौदवृहद् गुरुम्. ॥ ९० ॥

अश्वानित्यादि—विभीषणश्चाश्वानतुभ्रात् हतवान् । '१६१८।१९। नभ तुभ हिंसायाम्' । स्यन्दनं चाक्षिणोद् भग्नवान् । '१५६१। क्षिणु हिंसायाम्' तनादौ । राक्षसो रावणः नाशुभ्रात् न क्षोभं गतः । '१६१७। शुभ सञ्चलने' क्रयादौ गृह्यते न दिवादौ । भ्रातुर्विभीषणस्य कृते गुरुं शक्तिमुदवृहत् उद्यतवान् । '१४३५। वृह् उद्यमने' । तुदादौ गुरुमिति '५०२। वोतो गुणवचनात् । १।१।४४।' इति विकल्पेन ङीष् ॥

१४३७—तामापतन्तीं सौमित्रिस् त्रिधाऽकृन्तच्छिलीमुखैः, ॥

अशब्दायन्त पश्यन्तस् ततः कुद्धो निशाचरः ९१

तामित्यादि—तस्योपरि शक्तिमापतन्तीं सौमित्रिः शिलीमुखैस्त्रिधा त्रिप्रकारं अकृन्तत् छिन्नवान् । '१५२९। कृती छेदने' तुदादौ । यत्र प्रेक्षकाः पश्यन्तः ते अशब्दायन्त शब्दं कृतवन्तः । 'वीर लक्ष्मण ! साधु कृतम्' इति । '२६७३। शब्दवैर-१३।१२७।' इत्यादिना करोत्यर्थे क्यङ् । ततोऽनन्तरं निशाचरः कुद्धः क्रोधं कृतवान् ॥

कुद्धो निशाचरः किं कृतवानित्याह—

१४३८—अष्ट-घण्टां महा-शक्तिमुदयच्छन् महत्तराम्, ॥

रामाऽनुजं तथा ऽविध्यत्, स महीं व्यसुराश्रयत्. ॥

अष्टेत्यादि—अष्टौ घण्टा यस्यां महाशक्तौ तां शक्तिं प्रभावेण महत्तरां महतीं अतिशयेन महाप्रमाणां उदयच्छत् उद्यतवान् । '२७४२। समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे । १।३।७५।' इति तङ् न भवति अकर्त्रभिप्रायत्वात् । तथा च करणभूतया रामा-नुजं लक्ष्मणमविध्यत् विद्धवान् । राममनुजातवानिति । '३०१०। अनौ कर्मणि । ३।२।१००।' इति डः । स च लक्ष्मणो विद्धः व्यसुः विगतप्राणः महीमाश्रयत् आश्रितवान् । सुवि पतित इत्यर्थः ॥

१४३९—राघवस्याऽभृशायन्त सायकास्, तैरुपद्रुतः ॥

ततस् तूर्णं दशग्रीवो रण-क्षमां पर्यशेषयत्. ॥ ९३ ॥

राघवस्येत्यादि—तस्मिन् पतिते राघवस्य सम्बन्धिनो बाणाः अभृशायन्त अभृशा भृशा अभवन् शीघ्रगतयो जाता इत्यर्थः । ततस्तेरुपद्रुतो दशग्रीवः तूर्णीभृ-त्वा रणक्षमां रणभूमिं पर्यशेषयत् त्यक्तवान् । '१९९४। शिष असर्वोपयोगे' चुरादिः ॥

४३२ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

१४४०—सस्फुरस्योदकर्षच्च च सौमित्रेः शक्तिर्मग्न-जः, ॥

असिञ्चदोषधीस् ता याः समानीता हनूमता. ॥९४॥

सस्फुरस्येत्यादि—अग्रजश्च रामः सौमित्रेः सस्फुरस्य उच्छ्वसतः शक्तिं हृदयलग्नमुदकर्षत् उत्कृष्टवान् । याश्च हनूमतौषध्यः समानीतास्ता असिञ्चत् अणदेशेषु क्षारितवान् ॥

१४४१—उदजीवत् सुमित्रा-भूर

भ्राता ऽऽश्लिष्यत् तमायतम्, ॥

सम्यङ् मूर्धन्युपाशिङ्घ-

दपृच्छच्च च निरामयम्. ॥ ९५ ॥

उदजीवदित्यादि—ततः सुमित्राभूर्लक्ष्मणः उदजीवत् प्रत्युज्जीवितवान् । तं च जीवितं भ्राता रामः आयतं दीर्घकालमाश्लिष्यत् आलिङ्गितवान् । मूर्धनि च सम्यगुपाशिङ्घत् आघ्रातवान् । '१७०। शिधि आघ्राणे' । निरामयं च कुशलमपृच्छत् पृष्टवान् । 'किं व्यपगता पीडा' इति ॥

१४४२—ततः प्रोदसहन् सर्वे योद्धुर्मभ्यद्रवत् परान्, ॥

अकृच्छ्रायत च प्राप्तो रथेना ऽन्येन ऽरावणः. ॥९६॥

तत इत्यादि—पुनः सर्वे एव रामादयो योद्धुं प्रोदसहन् प्रोत्साहितवन्तः । '१९४६। सह मर्षणे' इति चौरादिकः परस्मैपदी । 'आद्यषाद्वा' इति णिञ् न भवति । ननु भौवादिकः तस्यात्मनेपदित्वात् । रावणश्चान्येन रथेन प्राप्तः सन् परानुत्साहतोऽभ्यद्रवत् अभिमुखं गतवान् । अकृच्छ्रायत च कृच्छ्राय पापाय कर्मणे क्रमितवान् । 'सत्रकक्षकष्टकृच्छ्रागहनेभ्यः कण्वचिकीर्षायामिति वक्तव्यम्' इति क्यङ् । कण्वचिकीर्षा पापचिकीर्षा ॥

१४४३—'भूमि-ष्ठस्या ऽसमं युद्धं रथ-स्थेन' ति मातलिः ॥

आहरद् रथमत्युग्रं स-शस्त्रं मघवा ऽऽज्ञया. ॥९७॥

भूमिष्ठेत्यादि—भूमिष्ठस्य रामस्य । '२९१। अम्बान्त्र-।८।३।९७।' इति मूर्धन्यः । रथस्थेन रावणेन सह युद्धमसममतुल्यमयुक्तमिति निरूपितवतो मघवतः इन्द्रस्य आज्ञया मातलिः सशस्त्रं रथमत्युग्रमाहरत् आनीतवान् ॥

१४४४—सो ऽध्यष्टीयत रामेण, शस्त्रं पाशुपतं ततः ॥

निरास्यत दशऽऽस्यस्, तच्छक्राऽस्त्रेणाजयन् नृपः. ॥

सोऽध्यष्टीयतेत्यादि—स रथो रामेणाध्यष्टीयत अध्यासितः । कर्मणि लङ् । '२४६२। शु-मा-स्था-।६।४।६६।' इतीत्वम् । '२२७०। उपसर्गात्-।८।३।६५।' इत्यादिना षत्वमङ्ग्यवायेऽपि । ततोऽनन्तरं दशस्यः पाशुपतमस्त्रं निरास्यत क्षिप्त-

तथा लक्ष्यरूपे कथानके 'रावण-वधो' नाम सप्तदशः सर्गः— ४३३

वान् । 'उपसर्गादस्यत्युहोर्वावचनम्' इति तद् । तत्पाशुपतं नृपो रामः शक्रा-
स्त्रेणाजयत् जितवान् ॥

१४४५—ततः शत-सहस्रेण रामः प्रौर्णोन् निशाचरम् ॥

बाणानामक्षिणोद् धुर्यान्, सारथिं चाऽदुनोद् द्रुतम्.

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं रामः निशाचरं बाणानां शतसहस्रेण लक्षेण
प्रौर्णोत् छादितवान् । '२४४८। गुणोऽष्टके । ७।३।२१।' इति गुणः । द्रुतं धुर्यान्-
वान् । '१६२८। धुरो यद्वकौ । ४।४।७७।' इति यत् । अक्षिणोत् हतवान् ।
सारथिं चादुनोत् उपतापितवान् ॥

१४४६—अदृश्यन्ता ऽनिमित्तानि,

प्राह्वलत् क्षिति-मण्डलम्, ॥

रावणः प्राहिणोच्छूलं,

शक्तिं चैन्द्रीं मही-पतिः. ॥ १०० ॥

अदृश्यन्तेत्यादि—रावणस्यानिमित्तानि अदृश्यन्त दृष्टानि । कर्मणि लङ् ।
क्षितिमण्डलं प्राह्वलत् चलितम् । '६२। हल चलने' । रावणश्चानिमित्तानि दृष्ट्वा
ब्रह्मदत्तशूलं प्राहिणोत् क्षिप्तवान् । महीपतिः स राम ऐन्द्रीं शक्तिं प्राहिणोत् ।
'१३३७। हि गतौ' स्वादिः ॥

१४४७—ताभ्यामन्योन्यमासाद्य समवाप्यत संशमः, ॥

लक्षेण पत्रिणां वक्षः क्रुद्धो रामस्य राक्षसः ॥ १०१ ॥

ताभ्यामित्यादि—ताभ्यां शूल-शक्तिभ्यामन्योन्यमासाद्य संश्लिष्य संशमः
संशमनम् । घञि '२७६३। नोदात्त-। ७।३।३४।' इति वृद्धिप्रतिषेधः । समवाप्यत
प्रासः । कर्मणि लङ् । अनन्तरं क्रुद्धो राक्षसः पत्रिणां शराणां लक्षेण शतसह-
स्रेण रामस्य वक्षः अस्तृणादिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । छादितवान् । '२५५८।
प्वादीनां ह्रस्वः । ७।३।८०।' ॥

१४४८—अस्तृणादधिकं रामस् ततो ऽदेवत सायकैः, ॥

अक्लाम्यद्रावणस्, तस्य सूतो रथमनाशयत्. ॥ १०२ ॥

अस्तृणादित्यादि—ततोऽनन्तरं रामो राक्षसादधिकं अदेवत क्रीडितवान् ।
'५३३। तेवृ-देवृ देवने' इति भ्वादावनुदात्तेत् । स तथा देवबाणेनाहतो रावणः
अक्लाम्यत् ग्लानिमुपगतः । तस्य तथाभूतस्य रावणस्य सूतः सारथिः स्वामिजी-
वितेच्छया रथमनाशयत् दूरं अपनीतवान् ॥

१४४९—राक्षसोऽतर्जयत् सूतं पुनश् चाऽदौकयद् रथम्, ॥

निरास्येतामुभौ बाणानुभौ धुर्यान्विध्यताम् ॥ १०३ ॥

४३४ भट्टिकाव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थो वर्गः,

राक्षस इत्यादि—राक्षसो रावणः सूतमतर्जयत् भस्तिवन् । ‘हा पाप ! किं शत्रुसमीपाद्रथं पराङ्मुख्यसि’ इति । इत्थं संतर्जितः सूतः पुनरपि रथमदौ-कयत् दौकितवान् । रामसमीपमित्यर्थात् । उभौ रामरावणौ बाणाञ्जिरास्येतां क्षिप्तवन्तौ । ‘उपसर्गादस्यत्पूह्योर्वा’ इति तद् । धुर्यानश्वानविध्यतां ताडितवन्तौ ॥

१४५०—उभावकृन्ततां केतूनाव्यथेतामुभौ न तौ ॥

अदीप्येतामुभौ धृष्णू, प्रायुञ्जातां च नैपुणम् १०४

उभावित्यादि—तावुभौ रामरावणौ केतून् ध्वजानकृन्ततां छिन्नवन्तौ । तौ नाव्यथेतां न व्यथितवन्तौ । उभावदीप्येतां शोभितवन्तौ । धृष्णू च प्रगल्भौ नैपुणं कौशलं प्रायुञ्जातां प्रयुक्तवन्तौ ॥

१४५१—उभौ मायां व्यतायेतां, वीरौ नाऽश्राम्यतामुभौ ॥

मण्डलानि विचित्राणि क्षिप्रमाक्रमतामुभौ ॥१०५॥

उभौ मायामित्यादि—तावुभौ मायां व्यतायेतां विस्तारितवन्तौ । ‘५२३। तायृ सन्तानपालनयोः’ भवादौ । उभौ वीरौ नाश्राम्यतां न श्रान्तौ । युध्यमानौ च तौ मण्डलानि विचित्राणि मतिवैचित्र्यात् क्षिप्रमाक्रमतां श्रान्तौ । ‘२३२१। वा आश-।३।१।७०।’ इति शप् ॥

१४५२—न चौभावप्यलक्ष्येतां, यन्तारावाहतामुभौ ॥

स्यन्दनौ समपृच्येतामुभयोर् दीप्त-वाजिनौ ॥१०६॥

न चेत्यादि—तावुभौ नाप्यलक्ष्येतां प्रेक्षकैर्न ज्ञातौ । ‘अयं रामः अयं च रावणः’ इति । कर्मणि लङ् । यन्तारौ सूतौ । कर्मपदमेतत् । उभौ परस्परस्य । अहतामाहतवन्तौ । ‘२४२८। अनुदात्तोपदेश-।६।४।३७।’ इत्यादिनानुनासिक-लोपः । स्यन्दनौ रथौ उभयोः रामरावणयोः दीप्तवाजिनौ चामरादिमण्डनात् दीप्ता उज्ज्वला वाजिनो यथोः तयोः स्यन्दनौ समपृच्येतां संपृक्तौ । ‘१५५७। पृची सम्पर्के’ कर्मणि लङ् ॥

१४५३—ततो मायामयान् मूर्ध्नो राक्षसोऽप्रथयद्रणे, ॥

रामेणैकशतं तेषां प्रावृक्ष्यत शिलीमुखैः ॥१०७॥

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं राक्षसः मायामयान् मायास्वभावान्मूर्ध्नः शिरांसि अप्रथयत् प्रदर्शितवान् । ‘प्रथ प्रख्याने’ इति घटादौ । तेषां च शिरसां एक-शतं एकाधिकं शतं रामेण शिलीमुखैः शरैः प्रावृक्ष्यत छिन्नम् । कर्मणि लङ् ॥

१४५४—समक्षुभ्रन्नदन्वन्तः, प्राकम्पन्त महीभृतः, ॥

सन्त्रासमविभः शक्रः, प्रैखच्च, क्षुभिता क्षितिः ॥१०८॥

समक्षुभ्रन्नित्यादि—छिन्नानां च पततां क्षोभादुदन्वन्तः सागराः समक्षु-भ्रन् सञ्चलिताः । ‘१६१७। क्षुभ सञ्चलने’ इति कयादिः । महीभृतः प्राकम्पन्त

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'रावण-वधो' नाम सप्तदशः सर्गः— ४३५

कम्पिताः । शक्र इन्द्रः संत्रासमविभः भृतवान् । पततां शिरसां पुनःपुनरुदयात् ।
मायया विमोह्यायं राममजैषीदिति । विभर्तेः श्लो द्विर्वचनम् । '२५९६। भृजा-
मित् । ७।४।७६।' धातोर्गुणः । पररूपत्वमिति लोपविसर्जनीयौ । प्रैङ्गत् क्षुभि-
तश्च स शक्रः । उखेत्यादाविस्त्रिरिति पठ्यते । क्षितिश्च क्षुभिता चलिता ॥

१४५५—ततो मातलिना शस्त्रमस्मर्यत महीपतेः ॥

वधाय रावणस्योग्रं स्वयम्भूर्यदकल्पयत् ॥१०९॥

तत इत्यादि—रावणस्य वधाय स्वयम्भूर्यदस्त्रमकल्पयत् कल्पितवान् ।
कृपेणौ गुणः । '२३५०। कृपो रो लः । ८।२।१८।' तदस्त्रं मातलिना अस्मर्यत
स्मारितम् । स्मरतेर्ण्यन्तात् कर्मणि लङ् । मित्वाङ्गस्त्वम् । महीपतेरिति
'६१३। अधीगर्थ—।२।३।५२।' इति पठ्यते ॥

कीदृशं तदित्याह—

१४५६—नभस्वान् यस्य वाजेषु, फले तिग्मांशु-पावकौ ॥

गुरुत्वं मेरु-सङ्काशं, देहः सूक्ष्मो वियन्मयः ॥११०॥

नभस्वानित्यादि—यस्य शस्त्रस्य वाजेषु [पक्षेपु] नभस्वान् वायुः सन्नि-
हितं फले [शल्ये] तिग्मांशुरादित्यः पावकश्च । यस्य गुरुत्वं मेरुवत् मेरोरिव ।
'दृढत्वं मेरुसङ्काशम्' इति पाठान्तरम् । तत्र मेरुस्थलगौरवसदृशमित्यर्थः । सूक्ष्मो
देहो दिव्यचक्षुर्गम्यः वियन्मय आकाशस्त्रभावः ॥

१४५७—राजितं गारुडैः पक्षैर् विश्वेषां धाम तेजसाम् ॥

स्मृतं तद् रावणं भित्त्वा सुघोरं भुव्यशाययत् ॥१११॥

राजितमित्यादि—गारुडैः पक्षै राजितं शोभितम् । तेजसां विश्वेषां अनेक-
प्रकाराणां धाम स्थानम् । तदस्त्रं रामेण स्मृतं स्मृतिमागत्य सुघोरं रावणं भित्त्वा
भुवि अशाययत् शायितवत् । रावणस्योदरं भित्त्वा भूमौ पातितवदित्यर्थः ॥

१४५८—आवधन् कपि-वदनानि संप्रसादं,

प्राशंसत् सुर-समितिर् नृपं जिता ऽरिम्, ॥

अन्येषां विगत-परिप्लवा दिगन्ताः,

पौलस्त्योऽजुषत शुचं विपन्न-बन्धुः ॥ ११२ ॥

इति भट्टि-काव्ये तिङन्त-काण्डे लङ्-विलसितो नाम

सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

आवधन्नित्यादि—तस्मिन् हते कपिवदनानि कर्तृभूतानि तोषात् संप्रसाद-

१. 'अस्मार्यत महीपतिः' इति पाठान्तरम् । २—'८५३। पक्षो वाजस्त्रिभूत्तरे।' इत्यमर-
सिंहः । ३—'प्रहर्षिणीवृत्तम्'—'जौगौगस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' इति लक्षणात् ।

४३६ भट्टिकाव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे पञ्चमो वर्गः,

मावन्नन् सेवितवन्ति । सुरसमितिः सुरसमूहः नृपं जितारिं प्राशंसत् स्तुत-
वती । अन्येषां अन्यजनानां दिगन्ताः रावणवधाद्विगतपरिप्लवा निरुपद्रवा जाता
इत्यर्थात् । पौलस्त्यो विभीषणः विपन्नबन्धुः मृतभ्रातृकः शुचं शोकमनुपत्
सेवितवान् । जुषिस्तुदादावनुदात्तेत् ॥

इति श्री-जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते श्री-भट्टिकाव्ये
चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थः परिच्छेदः (वर्गः),

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'रावण-बन्धो' नाम

सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः—

इतः प्रभृति लटमधिकृत्य लङ्लितसितमाह—तत्र वर्तमाने लट् । ततोऽन्य-
त्रापि दर्शयति—

१४५९—व्यश्रुते स्म ततः शोको नाभि-सम्बन्ध-सम्भवः ॥

विभीषणमसावुच्चै रोदिति स्म दशाऽऽननम् ॥१॥

व्यश्रुत इत्यादि—ततो वधादनन्तरं शोको विभीषणं व्यश्रुते स्म व्यास-
वान् । '२७७८। लट् स्मे-॥३॥११८।' इति भूतानद्यतनपरोक्षे लट् । नाभिस-
म्बन्धेन एकोदरसम्बन्धेन सम्भवो यस्य शोकस्य । अस्तौ प्रवृद्धशोको विभीषणः
उच्चैर्महता शब्देन दशाननं नामग्राहं रोदिति स्म रुदितवान् ॥

तदेव दर्शयन्नाह—

१४६०—'भूमौ शेते दशग्रीवो महार्ह-शयनोचितः, ॥

नेक्षते विह्वलं मां च, न मे वाचं प्रयच्छति ॥२॥

भूमावित्यादि—महार्हशयने उचितो यः स भूमौ शेते । शोकाद्विह्वलं मां
च नेक्षते । मे वाचं प्रतिवचनं न प्रयच्छति न ददाति । '९९६। दाणू दाने' ।
'२३६०। पा-घ्रा-॥७३॥७८।' इत्यादिना यच्छादेशः ॥

१४६१—विपाकोऽयं दश-ग्रीव ! संदृष्टो ऽनागतो मया ॥

त्वं तेनाऽभिहितः पथ्यं किं कोपं न नियच्छसि ॥३॥

विपाक इत्यादि—हे दशग्रीव ! अयं विपाको मरणलक्षणं फलं अनागतो
भविष्यन्नेव मया संदृष्टः सम्यगुपलब्धः । इदानीं पश्यसि तेन कारणेन योऽभि-
हितोऽसि 'सीतां मुञ्च' इति । अतः किमिति कोपं न नियच्छसि नापनयसि ।
नास्त्येव मम दोषः । निपूर्वो यस्मिरपनयने वर्तते ॥

१४६२—भजन्ति विपदस् तूर्णमतिक्रामन्ति सम्पदः ॥

तान्, मदान् नाऽवतिष्ठन्ते ये मते न्यायवादिनाम् ४

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'विभीषण-प्रलापो' नामाष्टादशः सर्गः— ४३७

भजन्तीत्यादि—अन्यच्च ये स्वामिनो मदादवलेपान् न्यायवादिनां माल्य-
वल्गुभृतीनां मते नावतिष्ठन्ते । '२६८९। समव-प्र-विभ्यः स्थः । ११३। २२।'
इति तद् । ते पुरुषाः विपदस्तूर्णं भजन्ति अवसादं सेवन्ते । भजिरुभयपदी ।
सम्पदश्चातिक्रामन्ति त्यजन्ति ॥

१४६३—अ-पथ्यमायतौ लोभादामनन्त्यनुजीविनः ॥

प्रियं, शृणोति यस् तेभ्यस्, तमृच्छन्ति न सम्पदः. ५

अपथ्यमित्यादि—प्रायेण ह्यनुजीविनः ग्रहस्तादिसदृशाः । आयतावागा-
मिनि काले वृद्धावस्थायामपथ्यमनिष्टं फलं लोभेन तृष्ण्या वा प्रियमामनन्ति
उपदिशन्ति 'साधु इदम्' इति । तेभ्यो यः शृणोति तं सम्पदो न कच्छन्ति ।
अतः कच्छादेशः ॥

१४६४—प्राज्ञास्तेजस्विनः सम्यक् पश्यन्ति च, वदन्ति च, ॥

तेऽवज्ञाता महाराज ! क्लाम्यन्ति, विरमन्ति, च. ॥६॥

प्राज्ञा इत्यादि—ये प्राज्ञाः तेजस्विनः अस्मद्विधाः सम्यगविपरीतं शास्त्रच-
क्षुषा पश्यन्ति वदन्ति च सम्यक् । हे महाराज ! अवज्ञातास्ते तिरस्कृताः क्लाम्यन्ति
खिद्यन्ते । विरमन्ति च विमुखा भवन्ति । तदवज्ञानफलमेतत् इति भावः ॥

१४६५—लेढि भेषज-वन् नित्यं यः पथ्यानि कटून्यपि, ॥

तदर्थं सेवते चाऽऽप्तान्, कदाचिन् न स सीदति. ॥७॥

लेढीत्यादि—यस्तु स्वामी आदौ कटून्यपि पथ्यानि परिणाममुखानि
भेषजवदौषधमिव नित्यं लेढि श्रोत्रेन्द्रियेणानुभवति तदर्थं चाप्तानविसंवादिनः
सेवते स कदाचिन्नावसीदति इह च परत्र चावसन्नो न भवति ॥

१४६६—सर्वस्य जायते मानः, स्व-हिताच्च प्रमाद्यति, ॥

वृद्धौ भजति चाऽपथ्यं नरो येन विनश्यति. ॥८॥

सर्वस्येत्यादि—प्रायेण वृद्धौ सत्यां सर्वो जनो मानी सञ्जायते वृद्धेक्षित-
विकारित्वात् । स्वहिताच्च प्रमाद्यति हिताद्भ्रष्टो भवति । अपथ्यं च भजति
सेवते । येनापथ्येन सेवितेन नरो विनश्यति ॥

१४६७—द्वेष्टि प्रायो गुणेभ्यो यन्, न च स्निह्यति कस्यचित्,

वैरायते महद्भिश्च च शीयते वृद्धिमानपि. ॥ ९ ॥

द्वेष्टीत्यादि—यद्यस्माद्वृद्धौ सत्यां प्रायेण गुणेभ्यः वृद्धसेवित्वादिभ्यः प्रभु-
द्वेष्टि । '५७५। कुध दुह-११। ४। ३७।' इति सम्प्रदानसंज्ञा । न च कस्यचित्
स्निह्यति प्रीयते । महद्भिश्च सह वैरायते वैरं करोति । '२६७३। शब्द-वैर-
१३। १। १७।' इति वयम् । तस्मात्कारणात् वृद्धिमानपि शीयते विनश्यति । शदेः
क्षिति शीयादेशः । '२३६२। शदेः क्षितः । ११। ३। ६०।' इति तद् ॥

४३८ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे पञ्चमो वर्गः,

१४६८—समाश्वसिमि केना ऽहं, कथं प्राणिमि दुर-गतः ॥

लोक-त्रय-पतिर् आता यस्य मे स्वपिति क्षितौ. १०

समाश्वसिमीत्यादि—यस्य मम आता लोकत्रयपतिः क्षितौ स्वपिति सोऽहं केनोपायेन समाश्वसिमि शोकं त्यजामि । ‘१४७४। रुदादिभ्यः । ७। २। ७६।’ इतीद् । दुरगतो दुःखितः कथं केन प्रकारेण प्राणिमि जीवामि ॥

१४६९—अहो जागर्ति कृच्छ्रेषु दैवं, यद् बल-भिज्जितः ॥

लुठ्यन्ति भूमौ क्लिद्यन्ति बान्धवा मे स्वपन्ति च. ११

अहो इत्यादि—अहो इति विस्मये । कृच्छ्रेषु दुःखेषु दैवं जागर्ति अव-हितमित्यर्थः । नित्यं दुःखोत्पादनात् । यद्यस्मात्कारणादपरमपि मम बान्धवाः बलभिजितः बलं भिनत्तीति बलभिदिन्द्रः तं जयन्तीति क्लिप् । भूमौ लुठ्य-न्ति । ‘रुठ-लुठ लोटने’ दिवादौ । तथा क्लिद्यन्ति पूयन्ति । स्वपन्ति दीर्घनिद्रां प्रवेशिताः ॥

१४७०—शिवाः कुष्णन्ति मांसानि,

भूमिः पिबति शोणितम्, ॥

दशग्रीव-सनाभीनां

समदन्त्यामिषं खगाः, ॥ १२ ॥

शिवा इत्यादि—दशग्रीवसनाभीनां दशग्रीवेण तुल्यगोत्राणाम् । ‘१०१३। ज्योतिर्जनपद-। ६। ४। ८५।’ इत्यादिना समानस्य सभावः । मांसानि शिवाः शृगालाः कुष्णन्ति । ‘१६१६। कुष निष्कर्षे’ । भूमिः शोणितं पिबति । खगाः पक्षिणः मांसशोणितव्यतिरिक्तं वसामज्जादिकं समदन्ति भक्षयन्ति ॥

१४७१—येन पूत-क्रतोर् मूर्ध्नि स्थायते स महाऽऽहवे, ॥

तस्याऽपीन्द्रजितो दैवाद् ध्वाक्षैः शिरसि लीयते. १३

येनेत्यादि—येनेन्द्रजिता पूतक्रतोरेन्द्रस्य महाहवे महासमरे मूर्ध्नि अग्रतः स्थायते स स्थितम् । ‘२७७९। अपरोक्षे च । ३। २। ११९।’ इति लट् । विभीष-णस्य ह्यपरोक्षभूतानद्यतनत्वादर्थस्य । तस्यापीन्द्रजितः शिरसि दैवाद्रामादेतु-भूतात् ध्वाक्षैः काकैर्लीयते । वर्तमान एव भावे लट् ॥

१४७२—स्वर्भानुर् भास्करं ग्रस्तं निष्ठीवति कृताऽह्निकः, ॥

अभ्युपैति पुनर् भूतिं राम-ग्रस्तो न कश्चन. ॥ १४ ॥

स्वर्भानुरित्यादि—स्वर्भानुः राहुः भास्करं ग्रस्तं ग्रासीकृतं कृताह्निकः कृताहारः निष्ठीवति स्वमुखाग्निरस्यति । रामग्रस्तो रामाग्निभूतः पुनर्भूतिं नाभ्युपैति कश्चन कश्चिदपि भूतिं नाभ्युपैति प्राप्नोति । ‘७३। एत्येधत्यृहसु

तथा लक्ष्यरूपे कथानके 'विभीषण-प्रलाप' नामाष्टादशः सर्गः— ४३९

।६।१।८९।' इति वृद्धिः । अभ्यमीति पाठान्तरं तदयुक्तं छान्दसत्वात् । यतः यमो बहुलं छन्दसि हलादावनन्तरे सार्वधातुके '२४४४। तु-रु-स्तु-शम्यमः सार्वधातुके ।७।३।९५।' इतीद् ॥

१४७३—त्वमजानन्निदं राजन्नीडिषे स्म स्व-विक्रमम्, ॥

दातुं नेच्छसि सीतां स्म, विषयाणां च नेशिषे. १५

त्वमित्यादि—हे राजन् ! त्वमिदं यथोदितमजानन् स्वविक्रमसीडिषे स्म स्तुतवानसि । '२४४०। ईड-जनोर्ध्वे च ।७।२।७८।' इति चकारात् सेशब्द-स्यापीद । एवं च कृत्वा त्वं सीतां दातुं नेच्छसि स्म नेष्टवानसि । विषयाणां शब्दादीनां नेशिषे स्म विषयान्न जितवानसि । '२४३९। ईशः से ।७।२।७७।' इतीद् । '६१३। अधीगर्थ-।२।३।५२।' इति कर्मणि षष्ठी । सर्वत्र '२७७९। अपरोक्षे च ।३।२।११९।' इति लट् ॥

१४७४—मन्त्रे जातु वदन्त्यज्ञास्, त्वं तानर्प्यनुमन्यसे, ॥

कथं नाम भवांस् तत्र ना ऽवैति हितमात्मनः ॥१६॥

मन्त्र इत्यादि—मन्त्रविषये अपण्डिताः मूर्खाः सन्तः जातु कदाचिदपि वदन्ति गर्हितमेतत् । तानपि त्वमनुमन्यसे अनुमतवान् । इदमप्यतिगर्हितम् । '२७९९। गर्हायां लडपिजात्वोः ।३।३।१४२।' इति अपिजात्वोरुपपदयोः काल-सामान्ये लट् । कथमेतत् न्यार्यं यत्तत्र भवान् रावणः विद्वानपि नात्मनो हितमवैति न विदितवान् । '२८००। विभाषा कथमि लिङ् च ।३।३।१४३।' इति कथंशब्द उपपदे चकारात् गर्हायां लट् । तत्र भवानिति '१९६३। इत-राभ्योऽपि दृश्यन्ते ।५।३।१४।' इति भवदादियोगे प्रथमान्तात् त्रल्यत्ययः ॥

१४७५—अ-पृष्टो नु ब्रवीति त्वां मन्त्रे मातामहो हितम्, ॥

'न करोमीति पौलस्त्य ! तदा मोहात् त्वमुक्तवान् १७

अपृष्ट इत्यादि—किमस्मिन् काले युज्यत इति मन्त्रे मातामहो माल्यवान् अपृष्टः सन् हितं नु ब्रवीति । हे पौलस्त्य ! त्वं पुनर्हितमकार्षीरिति माल्यवता पृष्टं तदा तस्मिन् काले न करोमीति मोहादज्ञानादुक्तवान् । अत्र नुशब्दे नशब्दे चोपपदे । '२७८०। ननौ पृष्टप्रतिवचने ।३।२।१२०।' इति भूते धात्वर्थे '२७८१। नन्वोर्विभाषा ।३।२।१२१।' इति विभाषा लट् ॥

१४७६—त्वं स्म वेत्थ महाराज ! यत् स्माऽऽह न विभीषणः ॥

पुरा त्यजति यत् क्रुद्धो मां निराकृत्य संसदि. ॥१८॥

त्वमित्यादि—हे महाराज ! विभीषणो यदाह स्म उक्तवान् तत्त्वं न वेत्थ स्म न विदितवानसि । किमेतेन हितमुक्तं न वेति । उभयत्र '२७७९। अप-रोक्षे च ।३।२।११९।' इति लट् । तत्र पूर्वस्मिन् '२४६४। विदो लटो वा

४४० — भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे पञ्चमो वर्गः,

।३।४।८३।' सिपस्थादेशः । अपरस्य '२४५०।' ब्रुवः पञ्चानाम्-।३।४।८४।' इति तिपो णलादेशः । यद्यस्मात्त्वं कुट्टः सन् मां संसदि सभायां निराकृत्य पाद-
प्रहारेण पुरा पूर्वं त्यजसि त्यक्तवानसि '२७८२।' पुरि लुङ् चास्ते ।३।२।१२२।'
इति चकारालङ्कारः ॥

१४७७—हविर् जक्षिति निःशङ्को मखेषु मघवानसौ, ॥

प्रवाति स्वेच्छया वायुरुद्गच्छति च भास्करः. ॥१९॥

हविरित्यादि—असौ मघवान् इन्द्रः मखेषु यज्ञेषु हविराज्यादिकमधुना
जक्षिति भक्षयति । '२४७४।' रुदादिभ्यः-।७।२।७६।' इतीद । वायुश्च स्वेच्छया
प्रवाति गच्छति । 'पवते' इति पाठान्तरम् । पवित्रीकरोतीत्यर्थः । भास्करश्च यथे-
ष्टमुद्गच्छति उदेति ॥

१४७८—धनानामीशते यक्षा, यमो दाम्यति राक्षसान्, ॥

तनोति वरुणः पाशमिन्दुनोदीयते ऽधुना. ॥ २० ॥

धनानामित्यादि—यक्षाः कुबेरादयः धनानामीशते [प्रभवन्ते] । स्वाम्यं
लभन्ते इत्यर्थः । '१०८९।' ईश ऐश्वर्ये' । यमोऽपि राक्षसान् दाम्यति वशीकरोति ।
वरुणः पाशं तनोति विस्तारयति । इन्दुनोदीयतेऽधुना । भावे लट् । अधुनेति
सर्वत्र योज्यम् । अणुनेति पाठान्तरं असंपूर्णत्वात् ॥

१४७९—शाम्यतृतु-समाहारस्, तपस्यन्ति वनौकसः, ॥

नो नमस्यन्ति ते बन्धून्, वरिवस्यन्ति ना ऽमराः २१

शाम्यतीत्यादि—ऋतूनां समाहारः सम्भूयावस्थानं शाम्यति अपैति ।
वनौकसो वनवासिनो मुनयः तपस्यन्ति तपश्चरन्ति । '२३७१।' कर्मणो
रोमन्थ-।३।१।१५।' इत्यादिना क्यङ् । तपसः परस्मैपदं च । ते त्वद्वन्धून्मरा
नो नमस्यन्ति न प्रणमन्ति । न वरिवस्यन्ति । नाप्रतिषेधेन परिचरन्ति ।
'२६७५।' नमो वरिवश्चित्रङ्गः क्यच् ।३।१।१९।' ॥

१४८०—श्रीर् निष्कुप्यति लङ्कायां, विरज्यन्ति समृद्धयः. ॥

न वेद तन्, न यस्याऽस्ति मृते त्वयि विपर्ययः. २२

श्रीरित्यादि—लङ्कायां पुर्यां अधुना श्रीर्निष्कुप्यति । 'कुप रोषे' । '२७७२।'
कुपि-रजोः प्राचां श्यन् परस्मैपदं च ।३।१।१५०।' समृद्धयश्च विरज्यन्ति अप-
यान्ति । सर्वथा तद्वस्तु न वेद न वेद्मि । '२४६४।' विदो लटो वा ।३।४।८३।'
इति मिपो णळ । यस्य त्वयि मृते न विपर्ययः नान्यथाभावः ॥

१४८१—शक्तिं संस्वजते शक्रो, गोपायति हरिः श्रियम्, ॥

देव-बन्धः प्रमोदन्ते, चित्रीयन्ते, धनोदयाः. ॥२३॥

शक्तिमित्यादि—शक्रः शक्तिं ग्रहरणमधुना संस्वजते गृह्णाति । '२३९६।'

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'विभीषण-प्रलापो' नामाष्टादशः सर्गः— ४४१

दंश-सञ्ज-स्वजां शपि । ६।४।२५।' इत्यनुनासिकलोपः । हरिर्विष्णुः श्रियं गोपा-
यति आत्मन्येव कृत्वा रक्षति । देवबन्धः प्रमोदन्ते हृष्यन्ति । घनोदयाश्चित्री-
यन्ते नानारूपेणाद्भुतायन्ते मृते त्वयीति सर्वत्र योज्यम् ॥

विशेषकम् २४, २५, २६—

१४८२—विभ्रत्यस्त्राणि साऽमर्षा

रण-काम्यन्ति चाऽमराः, ॥

चकासति च, मांसाऽदां

तथा रन्ध्रेषु जाग्रति. ॥ २४ ॥

विभ्रतीत्यादि—अमराः सामर्षाः सकोपाः अस्त्राणि विभ्रति धारयन्ति ।
रणकाम्यन्ति च आत्मनो रणमिच्छन्ति । आत्मेच्छायां काम्यच् । चकासति
च दीप्यन्ते च । जक्षित्यादित्वादभ्यस्तसंज्ञायां शेरदादेशः । तथा मांसादां
राक्षसानाम् । '२९७७। अदोऽनन्ने । ३।२।६८।' इति विद् । रन्ध्रेषु व्यसनेषु
जाग्रति सावधाना भवन्ति ॥

१४८३—चञ्चूर्यतेऽभितो लङ्कामस्मांश्च चाऽप्यतिशेरते, ॥

भूमयन्ति स्व-सामर्थ्यं, कीर्तिं नः कनयन्ति च. ॥ २५ ॥

चञ्चूर्यन्त इत्यादि—लङ्कामभितः बाह्यतोऽभ्यन्तरतश्च । '१९५६। पर्य-
भिभ्यां च । ५।३।१।' इति सर्वोभयार्थे तसिः । चञ्चूर्यन्ते गह्रितं चरन्ति ।
'२६३५। लुप-सद-। ३।१।२४।' इति भावगर्हायां यङ् । '२६३६। चर-फलोश्च
। ७।४।८७।' इत्यभ्यासस्य नुक् । '२६३७। उत्परस्यातः । ७।४।८८।' इत्युत्वम् ।
अस्मांश्चापि अतिशेरते अतिशयिता भवन्ति च । स्वसामर्थ्यं भूमयन्ति वर्ध-
यन्ति । बहूनां भाव इति '१७८४। पृथ्वादिभ्य इमनिच् । ५।१।१२२।' । '२०१७।
बहोर्लोपो भू च बहोः । ६।४।१५८।' इति बहोर्भूरादेशः । इमनिजादिलोपश्च ।
भूमानं कुर्वन्तीति णिन्वि णाविष्टवत्प्रातिपदिकस्येतीष्टवद्भावात् टिलोपयणादिपर-
लोपः । विन्मतोर्लुङ्गर्थमिति वचनाद्वा टिलोपः । किंच नोऽस्माकं कीर्तिं कन-
यन्ति अल्पां कुर्वन्ति । अमरा इति योज्यम् । अल्पां कुर्वन्तीति णिन्वि णाविष्ट-
वद्भावाद् '२०१९। युवा-ल्पयोः कनन्यतरस्याम् । ५।३।६४।' इति कनादेशः ॥

१४८४—दिशो व्यश्रुवते दृष्टास्

त्वत्-कृतां जहति स्थितिम्, ॥

क्षोदयन्ति च नः क्षुद्रा,

हसन्ति त्वां विपद्-गतम्. ॥ २६ ॥

दिश इत्यादि—दृष्टाः सन्तः दिशो व्यश्रुवते व्यासुवन्ति । स्थितिं व्यवस्थां
त्वत्कृताम् । '१३७३। प्रत्ययोत्तरपदयोश्च । ७।२।९८।' इति त्वदादेशः । जहति

४४२ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे पञ्चमो वर्गः,

त्यजन्ति । विपद्रुतं च त्वां हसन्ति । क्षुद्राः अल्पकायाः क्षोदयन्तीव क्षुद्रमि-
वाचक्षत इति । भुवने यो हि न्यकृतत्रिलोकः स कथं क्षुद्र उच्यते । '२०१५।
स्थूल-दूर-१६।४।१५६।' इत्यादिना णौ यणादिपरलोपः पूर्वस्य च गुणः ॥

१४८५—शमं शमं नभस्वन्तः पुनन्ति परितो जगत्, ॥

उज्जिहीषे महाराज ! त्वं प्रशान्तो न किं पुनः ॥२७॥

शममित्यादि—नभस्वन्तो वायवः शमं शमं शान्त्वा शान्त्वा । '३३४३।
आभीक्ष्ण्ये णमुल् ॥३।४।२२।' । '२७६३। नोदात्त-॥७।३।३४।' इति वृद्धिप्रति-
षेधः । आभीक्ष्ण्ये द्वे भवतः । परितः सर्वतो जगत् पुनन्ति पवित्रयन्ति ।
प्रशान्ता अपि पुनर्भूत्वा जगत् पुनन्ति । हे महाराज ! त्वं पुनः प्रशान्तोऽपि
किं नोजिहीषे नोत्तिष्ठसि । 'ओहाइ गतौ' इत्यभ्यासस्य '२४९६। भृणामित्
॥७।४।७६।' । '२४९७। ईं हत्यघोः-॥६।१।१३।' इतीत्वम् ॥

१४८६—प्रोणोति शोकस् चित्तं मे,

सत्त्वं संशाम्यतीव मे, ॥

प्रमार्ष्टि दुःखमालोकं,

मुञ्चाम्यूर्जं त्वया विना. ॥ २८ ॥

प्रोणोतीत्यादि—हे महाराज ! त्वया विना शोको मम चित्तं प्रोणोति
आच्छादयति । सत्त्वं अवष्टम्भः संशाम्यतीव अपगच्छतीव । मां त्यजतीत्यर्थः ।
दुःखं च कर्तुं आलोकं प्रज्ञानं प्रमार्ष्टि अपनयति । अतस्त्वया विना ऊर्जं बलं
मुञ्चामि । अलसो भवामीत्यर्थः ॥

१४८७—केन संविद्रते-नाऽन्यस् त्वत्तो बान्धव-वत्सलः, ॥

विरौमि शून्ये, प्रोणौमि कथं मन्यु-समुद्भवम्. ॥२९॥

केनेत्यादि—त्वत्तोऽन्यो बान्धववत्सलो नेति के न संविद्रते न जानते ।
'२६९९। समो गमि-॥१।३।२९।' इति तद्ध । '२७०१। वेत्तेर्विभाषा ॥७।१।७।' इति रुद्र । बन्धुरेव बान्धवः । प्रज्ञादित्वादण् । अतोऽहं शून्ये बन्धुविरहिते
विरौमि फूत्करोमि । कथं केन प्रकारेण मन्युसमुद्भवं शोकोत्पादं प्रोणौमि
आच्छादयामि ॥

१४८८—रोदिम्यनाथमात्मानं बन्धुना रहितस् त्वया, ॥

प्रमाणं नोपकाराणामवगच्छामि यस्य ते ॥ ३० ॥

रोदिमीत्यादि—त्वया बन्धुना रहितत्वादनाथोऽस्मीति आत्मानमेव रोदिमि
न त्वां कृतकार्यम् । यस्य ते उपकाराणां प्रमाणमित्यन्तां नावगच्छामि ॥

१४८९—नैदानीं शक्र-यक्षेन्द्रौ बिभीतो, न दरिद्रितः, ॥

न गर्व जहितो दृष्टौ, न क्लिशीतो दशाऽऽनन ! ॥३१॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'विभीषण-प्रलापो' नामाष्टादशः सर्गः— ४४३

नेदानीमित्यादि—इदानीं त्वय्येवंभूते शक्र-यक्षेन्द्रौ न विभीतः न भयं कुरुतः । '२४९२। भियोऽन्यतरस्याम् । ६।४।११५।' इति इत्वाभावपक्षे रूपम् । न दरिद्रितः दरिद्रौ न भवतः । '२४८२। इहरिद्रल्य । ६।४।११४।' इति हलादौ छिति सार्वधातुक इत् । दसौ न गर्वं जहितः परित्यजतः । '२४९८। जहातेश्च । ६।४।११६।' इतीत्वम् । न क्लिभीतः क्लेशं नानुभवतः । '२४९७। ई हल्यघोः । ६।४।११३।' इतीत्वम् ॥

१४९०—त्वया ऽपि नाम रहिताः

कार्याणि तनुमो वयम्, ॥

कुर्मश् च जीविते बुद्धिं,

धिक् तृष्णां कृत-नाशिनीम्. ॥ ३२ ॥

त्वयेत्यादि—यद्वयं त्वया विना कार्याणि राज्याङ्गानि तनुमः प्रसारयिष्यामः । जीविते च बुद्धिं कुर्मः । तदिमां कार्ये जीविते च तृष्णां कृतनाशिनीं धिक् । '२७९९। गर्हायां लङपि-जात्वोः । ३।३।१४२।' इति भविष्यति लट् ॥

१४९१—तृणेह्नि देहमात्मीयं,

त्वं वाचं न ददासि चेत्, ॥

द्राघयन्ति हि मे शोकं

स्मर्यमाणा गुणास् तव. ॥ ३३ ॥

तृणेह्नीत्यादि—मम प्रतिवचनं न ददासि चेत् यदि त्वं तर्हि आत्मीयं देहं तृणेह्नि हन्मि । '२५४५। तृणह इम् । ७।३।९२।' । हि यस्मात् स्मर्यमाणास्तव गुणाः मम शोकं द्राघयन्ति दीर्घं कुर्वन्ति । णविष्टवद्भावेन '२०१६। प्रिय-स्थिर-। ६।४।१५७।' इत्यादिना दीर्घशब्दस्य द्राघादेशः ॥

१४९२—उन्मुच्य स्रजमात्मीयां

मां स्रजयति को हसन्, ॥

नेदयत्यासनं को मे,

कर्हि मे वदति प्रियम्. ॥ ३४ ॥

उन्मुच्येत्यादि—आत्मीयां स्रजं मालामुन्मुच्यापनीय देहात् हसन् परि-तोषात् को मां स्रजयति स्रजिवर्णं करोति । णविष्टवद्भावात् '२०२०। विन्मतो-र्लुक् । ५।३।६५।' इति विनो लुक् । '२०१०। प्रकृत्यैकाच् । ६।४।१६३।' इति टिलोपाभावः । को वा ममासनं नेदयति अन्तिकं करोति । अत्रापि णौ इष्टवद्भावात् '२०२४। अन्तिकवाढयोर्नेदसाधौ । ५।३।६३।' इति अन्तिकशब्दस्य नेदादेशः । कर्हि कदा को मे प्रियं वदति वदिष्यति । '२७८४। विभाषा कदा-कह्योः । ३।३।५।' इति भविष्यति लट् ॥

४४४ भट्टिकाव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे पञ्चमो वर्गः,

१४९३—न गच्छामि पुरा लङ्का-

मायुर् यावद् दधाम्यहम्, ॥

कदा भवति मे प्रीतिम्,

त्वां पश्यामि न चेदहम्. ॥ ३५ ॥

न गच्छामीत्यादि—यावद्दहमायुर्दधामि धारयिष्यामि । ‘२७८३। याव-
पुरानिपातयोर्लट् । ३।३।४।’ इति भविष्यति लट् । पुराशब्दोऽत्र भविष्यदा-
सत्तिमाह । प्रीतिर्हि लङ्काप्रवेश इति दर्शयन्नाह—चेद्यद्यहं त्वां जीवन्तं न
पश्यामि । वर्तमाने लट् । कदा कस्मिन् काले मे मम प्रीतिर्भवति भविष्यति ।
‘२७८४। विभाषा कदाकर्णोः । ३।३।५।’ इति भविष्यति लट् ॥

१४९४—ऊर्ध्वं म्रिये मुहूर्ताद्धि

विह्वलः क्षत-वान्धवः, ॥

मन्त्रे स्म हितमाख्यामि,

न करोमि तवा ऽप्रियम्. ॥ ३६ ॥

ऊर्ध्वमित्यादि—मुहूर्तादूर्ध्वं उपरि अहं म्रिये मरिष्यामि । क्षतवान्धव-
त्वात् विह्वलः सन् । अनेन नरणस्य निमित्तभूतं प्राप्तकालं लोडर्थं दर्शयति ।
तेन ‘२७८८। लिङ् चोर्ध्वमौहूर्तिके । ३।३।९।’ इति लोडर्थलक्षणे भविष्यति
लट् । लोडश्च प्रैषादिकः । ‘२५३८। म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च । १।३।६१।’ इति चका-
रात् शितश्चात्मनेपदम् । अन्यच्च मन्त्रे मन्त्रविषये हितमाख्यामि स्म आख्या-
तवानहम् । ‘२७७९। अपरोक्षे च । ३।२।११९।’ इति लट् । ममाप्रियं मा कार्षी-
रिति । पृष्टः सन्नहं न करोमि तवाप्रियमिति न कृतवानसि । ‘२७८२। नन्वो-
र्विभाषा । ३।२।१२१।’ इति पृष्टप्रतिवचने लट् ॥

युग्मम्—३७-३८

१४९५—अन्तःपुराणि पौलस्त्यं पौराश् च भृश-दुःखिताः ॥

संश्रुत्य स्मा ऽभिधावन्ति हतं रामेण संयुगे. ॥ ३७ ॥

अन्तःपुराणीत्यादि—अनन्तरं पौलस्त्यं रामेण हतं संश्रुत्य अन्तःपुराणि
पौराश्च दुःखिताः अभिधावन्ति स्म दौकन्ते स्म । ‘२७७८। लट् स्ते । ३।२।११८।’
इति भूतानद्यतनपरोक्षे लट् ॥

१४९६—मूर्धजान् स्म विलुञ्चन्ति,

कोशन्ति स्मा ऽतिविह्वलम्, ॥

अधीयन्त्युपकाराणां

मुहुर् भर्तुः प्रमन्यु च. ॥ ३८ ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'विभीषण-प्रलापो' नामाष्टादशः सर्गः—४४५

मूर्धजानित्यादि—[मूर्धजान्] केशान्विलुञ्चन्ति स्म अपनयन्ति स्म ।
अतिविह्वलं अतिवैकुण्ठ्यं । गुणप्रधानो निर्देशः । क्रोशन्ति स्म फूत्कारं कुर्वन्ति
स्म । अन्तःपुराणीत्यर्थः । अर्तुश्लोपकाराणां सुदुर्धीयन्ति स्म । '११२०।
इक् स्मरणे' । '६१३। अधीगर्थ—१२।३।५२।' इति कर्मणि षष्ठी । प्रमन्यु-
चेति क्रियाविशेषणम् । प्रकृष्टशोकमित्यर्थः । 'प्रमन्यवः' इति पाठान्तरम् । प्रकृष्ट-
शोका इत्यर्थः ॥

१४९७—रावणस्य नमन्ति स्म पौराः सास्त्रा रुदन्ति च ॥'

भाषते स्म ततो रामो वचः पौलस्त्यमाकुलम्—॥९॥

रावणस्येत्यादि—पौराश्च रावणस्य नमन्ति स्म नमस्यन्ति । पादावित्यर्थात्
तत्सम्बन्धित्वात् । सास्त्राश्च सन्तः रुदन्ति च स्म । ततोऽनन्तरं रामः पौलस्त्यं
विभीषणं आकुलं वचो भाषते स्म उक्तवान् ॥

१४९८—'दातुः स्थातुर् द्विषां मूर्ध्नि यष्टुस् तर्पयितुः पितृन् ॥

युद्धाऽभग्नऽविपन्नस्य किं दशाऽऽस्यस्य शोचसि ४०

दातुरित्यादि—दशास्यो दाता, द्विषां मूर्ध्नि स्थाता, यष्टा यज्ञानां, पितृन्
तर्पयिता । '१९५६। तृप तृप्तौ' जुरादिः । युधि देवादीनां संग्रामेऽभग्नः अवि-
पन्नः । तत्संबन्धित्वस्य किं शोचसि । शोच्यमेव नास्ति । वर्तमाने लट् ॥

१४९९—बोभवीति न सम्मोहो व्यसने स्म भवादृशाम्, ॥

किं न पश्यसि, सर्वो ऽयं जनस् त्वामवलम्बते ॥४१॥

बोभवीतीत्यादि—भवादृशां युष्मद्विधानां व्यसनेषु दुःखेषु सम्मोहः
अज्ञानं न बोभवीति अत्यर्थं न भवति । यङ्लुकि रूपम् । एवं च सति स्वार्थो
न हीयते । यतः किं न पश्यसि । अयं सर्वो जनः त्वामवलम्बते 'त्वमेव स्वामी'
इति प्रतीक्षते ॥

१५००—त्वमर्हसि भ्रातुरनन्तराणि

कर्तुं, जनस्या ऽस्य च शोक-भङ्गम्, ॥

धुर्ये विपन्ने त्वयि राज्य-भारो

मज्जत्यनूढः क्षणदा-चरेन्द्र !' ॥ ४२ ॥

इति भट्टि-काव्ये तिङन्त-काण्डे लृङ्-विलसितो

नामाऽष्टादशः सर्गः ॥

त्वमर्हसीत्यादि—तस्मात् भ्रातुरनन्तराण्यभिसात्कारादीनि कर्तुं त्वमर्हसि
युज्यसे । अस्य च जनस्य शोकभङ्गं शोकापनयनं कर्तुं च । अन्यथा त्वयि

४४६ भट्टिकाव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे षष्ठो वर्गः,

धुर्यं धुरं वहति विपन्ने विनष्टे सति हे क्षणदाचरेन्द्र ! राज्यभारः अनूढः अन्यै-
रनधिष्ठितः सन् मज्जति अधो याति शत्रुभिर्विनश्यति । तस्मात् त्वया समाहि-
तेन राज्यभारो वोढव्य इति ॥

इति श्री-जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते श्री-भट्टिकाव्ये
चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे पञ्चमः परिच्छेदः (वर्गः),
तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'विभीषणप्रलापो' नाम
अष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः—

इतः प्रभृति लिङमधिकृत्य विलसितमाह—तत्र विध्यादिषु लिङ् । ततो-
ऽन्यत्रापि दर्शयिष्यति—

१५०१—अप-मन्युस् ततो वाक्यं पौलस्त्यो राममुक्तवान्—॥

‘अ-शोच्योऽपि व्रजन्नस्तं सनाभिर् दुनुयान् न किम्. १

अपमन्युरित्यादि—ततोऽनन्तरं पौलस्त्यो विभीषणः अपमन्युः अपगतो
मन्युर्यस्य । प्रादिभ्यो धातुजस्य बहुव्रीहिर्वा चोत्तरपदलोपश्च । रामं वाक्यमुक्त-
वान् । देव ! किमेवमभिधत्से अशोच्य इति । यतः सनाभिः सगोत्रोऽस्तं
व्रजन् विनाशं गच्छन्नशोच्योऽपि सन् किं न दुनुयाद्वियोगेन अवश्यतया किं
नोपतापयेत् । निमन्त्रणे नियोगकरणे लिङ् ॥

१५०२—तं नो देवा विधेयासुर् येन रावण-वद् वयम् ॥

सपत्नांश् चाऽधिजीयास्म, संग्रामे च मृषीमहि. २

तं न इत्यादि—युष्मद्वचनादात्मा मया स्थिरीकृतः किन्त्विदमाशंसे ।
तमुपायं नोऽस्माकं देवा विधेयासुः । ‘२३६२। धु-मा-स्था-।६।४।६६।’ इत्यनु-
वृत्तौ ‘२३७४। एर्लिङि ।६।४।६७।’ इत्येकारादेशः । येनोपायेन रावणवत्
सपत्नान् वयमधिजीयास्म । ‘उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यः प्रतीयते’ इति सक-
र्मकता । संग्रामे च मृषीमहि । लिङश्चेति लिङः कित्त्वान्न गुणः । आर्धधातुक-
त्वान्न सलोपः । सर्वत्रैवाशिषि लिङ् ॥

१५०३—क्रियेरंश् च दशाऽऽस्येन

यथाऽन्येनाऽपि नः कुले ॥

देवद्यञ्चो नराऽहारा

न्यञ्चश्च द्विषतां गणाः ॥ ३ ॥

क्रियेरन्नित्यादि—यथा दशास्येन नराहारा राक्षसाः देवद्यञ्चः देवैः सहा-
ञ्चन्तो गच्छन्तः क्रियेरन् कृताः । ‘४१८। विष्वदेवयोश्च-।६।३।९२।’ इत्या-

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'विभीषणाभिषेको' नामैकोनविंशतितमः सर्गः—४४७

दिना देरद्वादशः । द्विषतां च गणाः न्यञ्चन्तः नीचैरञ्चन्तः कृताः तिरस्कृताः ।
तथा नोऽस्माकं कुले अन्ये नाधिक्रियेरंश्च । आशंसायां कर्मणि लिङ् । कृपीरन्निति
वा पाठः । आशिषि कर्मणि लिङ् ॥

१५०४—स एव धारयेत् प्राणानीदृशे बन्धु-विप्लवे, ॥

भवेदाश्वासको यस्य सुहृच्छक्तो भवादृशः ॥ ४ ॥

स एवेत्यादि—ईदृशे बन्धुविप्लवे बन्धुविनाशेऽपि स एव प्राणान् धारयेत्
नियोगतो विभृयात् । निमग्नणे नियोगकरणे लिङ् । यस्य भवादृशः सुहृन्मित्रं
शक्त आश्वासकः सान्त्वयिता भवेत् । सम्भावनायां लिङ् ॥

१५०५—म्रियेयौर्ध्वं मुहूर्ताद्धि, न स्यात् त्वं यदि मे गतिः, ॥

आशंसा च हि नः, प्रेते जीवेम-दशमूर्धनि. ॥ ५ ॥

म्रियेयेत्यादि—यदि मे मम गतिः शरणं त्वं न स्याः न भवेः । लिङ् ।
तदा यस्मिन्मुहूर्ते रावणोऽपि नष्टः तस्मान्मुहूर्ताद्ध्वं म्रियेय । नियोगतः प्राप्त-
कालः । प्राणास्त्यक्तवानहम् । अत्र प्राप्तकाले गम्यमाने '२८१८' लिङ् चोर्ध्व-
मौहूर्तिके । १३।३।६४। इति लिङ् । तत्र हि प्रैषादयोऽनुवर्तन्ते । '२५३८'
म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च । १३।३।६१। इति तङ् । ततः सार्वधातुकत्वात् शः । हि यस्मा-
न्नोऽस्माकं नेयमाशंसा । यदृशमूर्धनि दशानने प्रेते मृते त्वयि वाऽशरणे जीवेम
प्राणान् धारयिष्याम इति । अत्राशंसावचनस्योपपत्त्वात् लिङ् ॥

१५०६—प्रकुर्याम वयं देशे गह्वीं तत्र कथं रतिम्, ॥

यत्र विंशति-हस्तस्य न सोदर्यस्य सम्भवः. ॥ ६ ॥

प्रकुर्यामेत्यादि—यत्र देशे सोदर्यस्य आनुविंशतिहस्तस्य न सम्भवोऽस्ति तत्र
कथं वयं गह्वीं निन्धां रतिं प्रकुर्याम करिष्यामः । नैवेत्यर्थः । अत्र गह्वीयामित्य-
धिकृत्य '२८००' विभाषा कथमि लिङ् च । १३।३।१४३। इति कथमित्युपपदे
भविष्यति लिङ् ॥

१५०७—आमन्त्रयेत तान् प्रह्वान्

मन्त्रिणोऽथ विभीषणः— ॥

गच्छेत त्वरितं लङ्कां,

राज-वेष्टम विशेत च. ॥ ७ ॥

आमन्त्रयेतेत्यादि—अथानन्तरं विभीषणः सदस्ति यैर्मन्त्रिभिः सह उत्थितः
तान्मन्त्रिणः प्रह्वानामन्त्रयेत कर्मसु नियोगतः संहितवानित्यर्थः । निमग्नणे नियो-
गकरणे लिङ् । तदेव दर्शयति । लङ्कां त्वरितं यूयं गच्छेत यात । गताश्च राज-
वेष्टम विशेत च । अत्र विधौ प्रेषणे लिङ् । स हि सर्वलकाराणामपवादः ॥

१५०८—आददीध्वं महाऽर्हाणि तत्र वासांसि स-त्वराः ॥

उज्जुनीयात सत्-केतून्, निर्हरेताऽश्व-चन्दनम्. ॥ ८ ॥

४४८ भट्टिकाव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे षष्ठो वर्गः,

आददीध्वमित्यादि—तत्र राजवेश्मनि वासांसि महार्हाणि महामूल्यानि सत्वरं आददीध्वं गृह्णीत । '२४८३। श्वाभ्यस्तयोरातः । ६।४।११२।' इत्याकार-लोपः । सक्तेतून् शोभनध्वजान् उद्धुनीयात् ऊर्ध्वीकरिष्यथ । '२५५८। प्वादीनां ह्रस्वः । ७।३।८०।' । '२४९७। ई हल्यघोः । ६।४।११३।' अङ्यचन्दनं सच्चन्दनकाष्ठानि निर्हरेत् निर्गमयत् ॥

१५०९—मुञ्चेताऽऽकाश-धूपांश्च, ग्रभीयात् स्रजः शुभाः, ॥
आनयेताऽमितं दारु कर्पूराऽगुरु-कुङ्कुमम्. ॥ ९ ॥

मुञ्चेतेत्यादि—धूपघटिकाभिराकाशधूपांश्च मुञ्चेत् प्रवर्तयेत् । स्रजः पुष्प-मालाः शुभाः ग्रभीयात् गुम्फिष्यथ । '१६१०। श्रन्थ ग्रन्थ सन्दर्भे' इति लिङ् । पुषादिप्रयोगश्च ॥

१५१०—उद्योरन् यज्ञ-पात्राणि,
ह्रियेत च विभावसुः, ॥
भ्रियेत चाऽऽज्यमृत्विग्भिः,
कल्पयेत् च समित्-कुशम्. ॥ १० ॥

उद्योरन्नित्यादि—यज्ञपात्राणि सुगादीनि उद्योरन् आनीयन्ताम् । विभाव-सुश्रामिः ह्रियेत । ऋत्विग्भिः आज्यमपि भ्रियेत । समित्कुशं कल्पयेत् च कल्प्यम् । सर्वत्र विधौ कर्मणि लिङ् ॥

१५११—स्नानीयैः स्नापयेताऽऽशु, रम्यैर्लिम्पेत वर्णकैः, ॥
अलङ्कुर्यात् रत्नैश्च रावणाऽहैर्दशाऽऽननम्. ॥ ११ ॥

स्नानीयैरित्यादि—यथा स्वविहितं च कृत्वा रम्यैः स्नानीयैर्दशाननं राक्षसाधिपं स्नापयेत् स्नापयिष्यथ । 'ग्लास्नावनुवमां च' इति विकल्पेन मित्वम् । तत्र 'ज्वल-ह्वल-नमामनुपसर्गाद्वा' इति वाग्रहणमनुवर्तते । वर्णकैश्चन्दनादिभिः रम्यैर्लिम्पेत विलेप्यथ । रत्नैश्च रावणाहैर्नित्यनैमित्तिकैरलङ्कुर्यात् अलङ्करिष्यथ ॥

१५१२—वासयेत् सु-वासोभ्यां
मेध्याभ्यां राक्षसाऽऽधिपम्,
ऋत्विक् स्रग्विणमादध्यात्
प्राङ्-मूर्धानं मृगाऽजिने. ॥ १२ ॥

वासयेतेत्यादि—सुवासोभ्यां मेध्याभ्यां पूताभ्यां वासयेत् च आच्छादयिष्यथ । ऋत्विक् यज्वा स्रग्विणं मालाभूषितं कृत्वा मृगाजिने प्राङ्मूर्धानं प्राच्यां मूर्ध्ना यस्य पूर्वशिरसमादध्यात् स्थापयेत् ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'विभीषणाभिषेको' नामैकोनविंशतितमः सर्गः—४४९

१५१३—यज्ञ-पात्राणि गात्रेषु चिनुयाच्च च यथा-विधि, ॥

जुहुयाच्च च हविर् वह्नौ, गायेयुः साम सामगाः. १३

यज्ञपात्राणीत्यादि—स एव यथाविधि यथाक्रमं यज्ञस्य पात्राणि सुगादीनि गात्रेषु विचिनुयात् । हविराज्यं वह्नौ जुहुयात् । सामगाः छन्दोगाः साम च गायेयुः । सर्वत्र विधौ लिङ् ॥

१५१४—गत्वा ऽथ ते पुरीं लङ्कां

कृत्वा सर्वं यथोदितम् ॥

सभीपेऽन्त्याऽऽहुतेः साऽस्त्राः

प्रोक्तवन्तो विभीषणम्—॥ १४ ॥

गत्वेत्यादि—अथानन्तरं ते मन्त्रिणः लङ्कां गत्वा यथोदितं च कृत्वा । अन्त्या-हुतेष्टेताहुतेः अनन्तरं सास्त्राः सवाण्याः विभीषणं प्रोक्तवन्तः ॥

१५१५—'कृतं सर्वं यथोद्दिष्टं, कर्तुं वह्नि-जल-क्रियाम् ॥

प्रयतेथा महाराज ! सह सर्वैः स्व-बन्धुभिः. ॥१५॥

कृतमित्यादि—यथोद्दिष्टं यथाविहितं सर्वमस्माभिः कृतं । त्वमिदानीं भ्रातुर्वह्निक्रियां जलक्रियां च कर्तुं स्वबन्धुभिः सर्वैः सह प्रयतेथाः । प्रार्थनायां लिङ् ॥

१५१६—अज्ञ-वन् नोत्सहेथास् त्वं,

धेया धीर-त्वम-च्युतम्, ॥

स्थेयाः कार्येषु बन्धूनां,

हेयाः शोकोद्भवं तमः ॥ १६ ॥

अज्ञवदित्यादि—शोकादप्रवर्तमानं पुनराहुः । अज्ञवत् किं नोत्सहेथाः किमवसीदसि गहितमेतत् । '२८०१। किं-वृत्ते लिङ्लटौ ।३।१।१४४।' इति गर्हायां लिङ् । इयं चास्माकमाशंसा । यत्तु धीरत्वं धैर्यं अच्युतं [अक्षतं] धेयाः धास्यसि । बन्धूनां च कार्ये स्थेयाः स्थास्यसि । शोकोद्भवं च तमो हेया-स्यक्ष्यसि । सर्वत्राशिषि लिङ् । आर्धधातुकत्वात् '२३७४। एलिङि ।६।१।६७।' इत्यसंयोगादेरेत्वम् ॥

१५१७—नाऽवकल्प्यमिदं, ग्लान्येद् यत् कृच्छ्रेषु भवानपि ॥

न पृथग्-जन-वज्र जातु प्रमुह्येत् पण्डितो जनः. १७

नावकल्प्यमित्यादि—अन्यच्च नावकल्प्यमिदं न सम्भाव्यमेतत् येन कृच्छ्रेषु दुःखेषु भवानपि ग्लान्येद् ग्लानिं याति । अनवकृतौ असम्भावनायां '२८०२। अनवकृत्यमर्षयोः-।३।३।१४५।' इत्यादिना लिङ् । सार्वधातुकत्वात् '२३७८।

वान्यस्य—[६।४।६८] इत्येत्वं न विकल्प्यते । यस्मात् पण्डितो जनः पृथग्जनवत्
अपण्डितवत् जातु कदाचिदपि न प्रमुह्येत् न मोहं यातीति सम्भावयामः ।
'२८०४। जातुयदोल्लिङ् ॥३।३।१४७।' इत्यनवकृतौ लिङ् ॥

१५१८—यच्च यत्र भवांस तिष्ठेत्,

तत्राऽन्यो रावणस्य न, ॥

यच्च यत्र भवान् सीदेन्

महद्भिस् तद् विगर्हितम्. ॥ १८ ॥

यच्चेत्यादि—यत्र देशे काले वा भवांस्तिष्ठेत् तत्र यच्च अन्यो रावणस्य कस्ति-
ष्ठेत् अवस्थानं कः करिष्यति । नैतत्सम्भावयामः तस्य तत्र न्यूनत्वात् । अन्यस्मि-
न्नवकृतिः यच्छब्देनोपपदेन योगात् '२८०५। यच्चयत्रयोः ॥३।३।१४८।' इत्यन-
वकृतौ भविष्यति लिङ् । यच्चेति निपातसमुदायो यच्छब्दस्यार्थे वर्तते । किं च
यत्र देशे काले वा यच्च भवान् सीदेत् अवसादं करोतीति महद्भिः पण्डितैः विग-
र्हितं निन्दितम् । गर्हायां चेति सर्वलकाराणामपवादो लिङ् । 'यच्चयत्रयोः' इत्य-
नुवर्तते । अनवकृताविति निवृत्तम् ॥

१५१९—आश्चर्यं, यच्च यत्र त्वां

प्रब्रूयाम वयं हितम्, ॥

अपि साक्षात् प्रशिष्यास् त्वं

कृच्छ्रेष्विन्द्र-पुरोहितम्. ॥ १९ ॥

आश्चर्यमित्यादि—यत्र देशे काले वा यच्च यद्वयमपि त्वां हितं प्रब्रूयाम
तदाश्चर्यं विचित्रमेतत् । '२८०७। चित्रीकरणे च ॥३।३।१५०।' इति लिङ् ।
'२८०५। यच्चयत्रयोः ॥३।३।१४८।' इति वर्तते । त्वामित्यकथितं कर्म । अतस्त्वं
कृच्छ्रेषु व्यसनेषु साक्षादिन्द्रपुरोहितं बृहस्पतिं प्रशिष्याः बाढं शिक्षयसि ।
'२८०९। उताप्योः समर्थयोर्लिङ् ॥३।३।१५२।' अपशब्दस्योपपदत्वात् समर्थत्वं
चानयोर्बाढमित्येतस्मिन् अर्थे । '२४८६। शास इदङ्-हलोः ॥६।४।३४।' । '२४१०।
शासि-वसि-॥८।३।६०।' इत्यादिना षत्वम् ॥

१५२०—कामो जनस्य—'जह्यास् त्वं प्रमादं नैर्ऋताऽधिप !' ॥

उत द्विषोऽनुशोचेयुर् विप्लवे, किमु बान्धवाः. ॥ २० ॥

काम इत्यादि—हे नैर्ऋताधिप रक्षसां नाथ ! त्वं प्रमादं जह्याः त्यज ।
अस्य जनस्य पौरस्य काम इच्छा । '२८१०। कामप्रवेदनेऽकञ्चित् ॥३।३।१५३।'
इति लिङ् । कञ्चिच्छब्दस्याप्रयोगात् । कामप्रवेदनं च जनाभिप्रायप्रकाशनम् ।
अन्यच्च अस्मिन् विप्लवे विनाशे द्विषः शत्रवोऽपि उत अनुशोचेयुः अनुशोचन्ति
किमु बान्धवाः । '२८०९। उताप्योः समर्थयोर्लिङ् ॥३।३।१५२।' ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'विभीषणाभिषेको' नामैकोनविंशतितमः सर्गः—४५१

१५२१—स भवान् भ्रातृ-वद् रक्षेद् यथार्थदखिलं जनम्, ॥

न भवान् संप्रमुह्येच्च चेदांश्चस्युश्च च निशाचराः, २१

स इत्यादि—चेद्यदि भवान्न सम्प्रमुह्येत् मोहं न गच्छेत् तदा स भवान् भ्रातृवत् यथा भ्रात्रा जनो रक्ष्यते तद्वत् अखिलं जनं यथावत् सम्यक् रक्षेत् । एते च निशाचरा आश्वस्युराश्वासं गच्छेयुः । '२८१३। हेतुहेतुमतोर्लिङ् ॥३। १५६।' अत्र प्रमोहो हेतुः । जनरक्षणं निशाचराश्वासनं च हेतुमत् । श्वसेरदादि-त्वाच्छपो लुक् । आश्वसेयुरिति पाठान्तरम् ॥

१५२२—ततः स गतवान् कर्तुं भ्रातुरग्नि-जल-क्रियाम्, ॥

प्रोक्तवान् कृत-कर्तव्यं वचो रामोऽथ राक्षसम्, ॥२२॥

तत इत्यादि—ततो वचनानन्तरं भ्रातुरग्निक्रियां जलक्रियां च कर्तुं गतवान् । अथ कृतकर्तव्यं राक्षसं रामः वचः प्रोक्तवान् ॥

१५२३—अम्भांसि रुक्म-कुम्भेन

सिञ्चन् मूर्ध्नि समाधिमान्—॥

‘त्वं राजा रक्षसां लङ्का-

मवेक्षेथा विभीषण ! ॥ २३ ॥

अम्भांसीत्यादि—रुक्मकुम्भेन स्वर्णकलशेनाम्भांसि जलानि मूर्ध्नि सिञ्चन् पातयन् । रामः प्रोक्तवानिति पूर्वोक्तान्वयः । हे विभीषण ! (समाधिमान् ध्यानवान्) त्वमद्यप्रभृति रक्षसां राजा लङ्कामवेक्षेथाः कार्यकार्यनिरूपणेन द्रक्ष्यसि ॥

१५२४—क्रुद्धाननुनयेः सम्यक्,

धनैर्लुब्धानुपार्जयेः, ॥

मानिनो मानयेः काले,

व्रस्तान् पौलस्त्य ! सान्त्वयेः, ॥ २४ ॥

क्रुद्धानित्यादि—हे पौलस्त्य ! क्रुद्धाननुनयेः प्रसादयिष्यसि । ये लुब्धा-स्तान् धनेनोपार्जयेः दानेन गृहीष्यसि । मानिनः सत्कारोचिते काले मानयेः पूजयिष्यसि । व्रस्तान् भीतान् सान्त्वयेः समाश्वासयिष्यसि । सर्वत्र निमग्नणे नियोगकरणे प्रार्थनायां वा लिङ् ॥

१५२५—इच्छा मे परमा, नन्देः कथं त्वं वृत्र-शत्रु-वत्, ॥

इच्छेद्वि सुहृदं सर्वो वृद्धि-संस्थं यतः सुहृत्, ॥२५॥

इच्छेत्यादि—इयं च मे इच्छा महती । यत्वं वृत्रशत्रुवदिन्द्र इव कथमा-नन्देः सुदितो भविष्यसि । '२८१४। इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ ॥३॥१५७।' इति

४५२ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे षष्ठो वर्गः,

लिङ् । इच्छार्थस्य धातोरुपपदत्वात् । यतः सर्व एव सुहृत् सुहृदं वृद्धिसंस्थं उदयस्थमिच्छेत् इच्छति । '२८१६। इच्छार्थेभ्यो विभाषा वर्तमाने । ३। ३। १६०।' इति लिङ् ॥

१५२६—वर्धिषीष्ठाः स्वजातेषु,

वध्यास् त्वं रिपु-संहतीः, ॥

भूयास् त्वं गुणिनां मान्यस्,

तेषां स्थेया व्यवस्थितौ. ॥ २६ ॥

वर्धिषीष्ठा इत्यादि—स्वजातेषु स्वजातिषु राक्षसेषु मध्ये त्वं वर्धिषीष्ठाः वृद्धिमान् भविष्यसि । आशिषि लिङ् । एवं वक्ष्यमाणेष्वपि सर्वत्र । रिपुसंहतीः शत्रुसमूहान् वध्याः विनाशयिष्यसि । '२४३३। हनो वध लिङि । २। ४। ४२।' भूयाश्च गुणिनां मान्यः । श्रुतशीलवतां मानार्हश्च भविष्यसि । तेषां च गुणिनां व्यवस्थायां चिरकालं स्थेयाः स्थास्यसि ॥

१५२७—धेयास् त्वं सुहृदां प्रीतिं,

वन्दिषीष्ठा दिवौकसः, ॥

सोमं पेयाश् च, हेयाश् च

हिंसा हानि-करीः क्रियाः ॥ २७ ॥

धेया इत्यादि—त्वं सुहृदां प्रीतिं धेयाः जनयिष्यसि । दिवौकसो देवान्-वन्दिषीष्ठाः प्रणम्यसि । सोमं पेयाः पास्यसि । तथा हिंसाः परोपघातिकाः हानि-करीः अपचयहेतुकाः क्रियाः हेयाः लक्ष्यसि ॥

१५२८—अवसेयाश् च कार्याणि धर्मेण पुर-वासिनाम्, ॥

अनुरागं क्रिया राजन् ! सदा सर्व-गतं जने. ॥ २८ ॥

अवसेया इत्यादि—पुनः । पुरवासिनां पौराणां कार्याणि धर्मेणावसेयाः समाप्स्यसि । '१२२२। षोऽन्तकर्मणि' । हे राजन् ! अत्र जने अनुरागं सर्वगतं सर्वव्यापिनं क्रियाः करिष्यसि ॥

१५२९—घानिषीष्ट त्वया मन्युर्, ग्राहिषीष्ट समुन्नतिः, ॥

रक्षोभिर् दर्शिषीष्ठास् त्वं, द्रक्षीरन् भवता च ते. २९

घानिषीष्टेत्यादि—मन्युः क्रोधः त्वया घानिषीष्ट हनिष्यते । चिण्वद्भावो वृद्धिर्धत्वं च । समुन्नतिरभ्युच्चयः ग्राहिषीष्ट ग्रहीष्यते । रक्षोभिर्दर्शनपरैर्दर्शि-षीष्ठाः त्वं द्रक्ष्यसे । ते च राक्षसाः भवता दर्शनपरेण च द्रक्षीरन् । अचिण्व-द्भावपक्षः ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सीता-प्रत्याख्यानं' नाम विंशतितमः सर्गः—४५३

१५३०—मन्युं वध्या भट-वध-कृतं बाल-वृद्धस्य राजन् !,
शास्त्राऽभिज्ञाः सदसि सु-धियः सन्निधिं ते क्रियासुः,
संरंसीष्ठाः सुर-मुनि-गते वर्त्मनि प्राज्य-धर्मे,
संभुत्सीष्ठाः सु-नय-नयनैर् विद्विषामीहितानि.' ३०
इति भट्टि-काव्ये तिङन्त-काण्डे लिङ्-विलसितो
नामैकोनविंशति-तमः सर्गः ॥

मन्युमित्यादि—अन्यच्च हे राजन् ! बालानां वृद्धानां च । सर्वे द्वन्द्वो विभा
षैकवद्भवतीति । बालाश्च वृद्धाश्च बालवृद्धम् । तस्य मन्युं शोकम् । भटवधकृतं
भटानां पितृपुत्रादीनां च यो वधः तत्कृतम् । वध्याः प्रियवचनार्थप्रदानादि-
भिरपनेष्यसि । शास्त्रार्थज्ञाः शास्त्रार्थकुशलाः ते तव सदसि सभायां सन्निधिं
क्रियासुः । सन्निहिता भवन्वित्यर्थः । सुरैर्मुनिभिश्च गते सेविते वर्त्मनि मार्गे
प्राज्यधर्मे भूरिपुण्ये संरंसीष्ठाः रंस्ससे । द्विषां शत्रूणां ईहितानि चेष्टितानि सुन-
नयनयनैः शोभनाः ये नयाः तैरेव नयनैश्च भूरिवावस्थितैः सम्भुत्सीष्ठाः जानीयाः
ज्ञास्यसि । 'बुध अवगमने' एकाचो बशो भष् ॥

इति श्री-जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते श्री-भट्टिकाव्ये
चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे षष्ठः परिच्छेदः (वर्गः),
तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'विभीषणाभिषेको' नाम
एकोनविंशतितमः सर्गः ॥ १९ ॥

विंशः सर्गः ।

इतः प्रभृति लोटमधिकृत्य तद्विलसितमाह—तत्र 'लोट् च' इति वचना-
द्विध्यादिष्वर्थेषु लोट् । ततोऽन्यत्रापि दर्शयिष्यति—

१५३१—समुपेत्य ततः सीतामुक्तवान् पवनाऽऽत्मजः— ॥

दिष्ट्या वर्धस्व वैदेहि ! हतस् त्रैलोक्य-कण्टकः ॥१॥

समुपेत्येत्यादि—ततोऽनन्तरं पवनात्मजः रामाज्ञया सीतां समुपेत्य
समुपागम्योक्तवान् । हे वैदेहि ! रावणस्यैलोक्यस्य प्रतोदकत्वात् कण्टको हतस्तेन
दिष्ट्या प्रियवचनेन वर्धस्व नियोगतो वर्त्यसीति । निमन्त्रणे लोट् ॥

१५३२—अनुजानीहि हन्यन्तां मयैताः क्षुद्र-मानसाः ॥

राक्षिकासु तव राक्षस्यो, गृहाणैतासु मत्सरम् ॥२॥

अनुजानीहीत्यादि—अनुजानीहि अनुज्ञां प्रयच्छ । प्रार्थनायां लोट् । येन
मयैता राक्षस्यस्तव राक्षिकाः क्षुद्रमानसाः पापाशयाः हन्यन्तां विनाश्यन्ताम् ।

४५४ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे सप्तमो वर्गः,

अत्र विधौ कर्मणि लोट् । तस्मादेतासु मत्सरं गृहाण जनय । प्रार्थनायां लोट् ।
येन गृहीतक्रोधा मामनुज्ञास्यसि ॥

१५३३—तृणहानि दुराऽऽचारघोर-रूपाऽऽशय-क्रियाः, ॥

हिंसा भवतु ते बुद्धिरेतासु, कुरु निष्ठुरम्. ॥ ३ ॥

तृणहानीत्यादि—एता दुराचाराः घोररूपाशयक्रियाः कूराणि आकारा-
भिप्रायानुष्ठानानि यासां तास्तृणहानि हनिष्यामि । तदेतासु हिंसा हिंसनशीला
तव बुद्धिर्भवतु । निष्ठुरं च नैष्ठुर्यं कुरु । भावप्रधानो निर्देशः ॥

१५३४—पश्चिमं करवामैतत् प्रियं देवि ! वयं तव, ॥'

ततः प्रोक्तवती सीता वानरं करुणाऽऽशया. ॥४॥

पश्चिममित्यादि—हे देवि ! किमत्र विचारितेन तव पश्चिममन्त्यं प्रियं
एतद्वयं करवाम करिष्यामः । अस्मद् एकत्वे बहुवचनमन्यतरस्याम् । ततोऽन-
न्तरं सीता करुणाशया सती वानरं प्रोक्तवती ॥

१५३५—‘उपशाम्यतु, ते बुद्धिः पिण्ड-निर्वेश-कारिषु ॥

लघु-सत्त्वेषु, दोषोऽयं यत्-कृतो-निहतो ऽसकौ. ॥५॥

उपेत्यादि—लघुसत्त्वेषु स्त्रीजनेषु पिण्डनिर्वेशकारिषु पिण्डस्य ग्रासस्य नि-
र्वेशो निष्क्रयः तत्कारिषु ते बुद्धिरुपशाम्यतु सकरुणा भवतु । सर्वत्र विधौ लोट् ।
किमिति चेत् । यत्कृतो यज्जनितोऽयं दोषः ममैताभिः कृतः । असकौ असौ राव-
णो निहतो व्यापादितः । कुत्सायाम् ‘२०२६। अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः
।५।३।७।१’ इति अकच् ॥

१५३६—न हि प्रेष्य-वधं घोरं करवाण्यस्तु ते मतिः, ॥

एधि कार्य-करम् त्वं मे गत्वा प्रवद राघवम्. ॥६॥

नहीत्यादि—अन्यच्च न हि नैव घोरं प्रेष्यवधं करवाणि करिष्यामीतीत्यम्
मतिस्तवाप्यस्तु । ‘२१९५। आशिषि लिङ्लोटौ ।३।३।१७३’ इति लोट् । अत-
स्त्वं कार्यकरः कार्यकरणे अनुकूलः । आनुलोभ्ये टः । एधि भव । ‘२४६९ ।
श्रसोरल्लोपः ।६।४।१११’ । ‘२४७१। ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च ।६।४।१११’ ।
एत्वस्य समानाश्रयत्वादसिद्धत्वे । ‘२४२५। हुसल्लभ्यो हेर्धिः ।६।४।१०१’ कार्य-
माह । गत्वा प्रवद राघवं ममादेशाद् ब्रूहि ॥

किं मया वक्तव्यमिति चेत्तदाह—

१५३७—‘दिदधुर् मैथिली राम ! पश्यतु त्वाऽविलम्बितम्’.

तथैति स प्रतिज्ञाय गत्वा राघवमुक्तवान्. ॥ ७ ॥

दिदधुरित्यादि—हे राम ! द्रष्टुमिच्छुमैथिली सीता अविलम्बितं कृतं

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सीता-प्रत्याख्यानं' नाम विंशतितमः सर्गः— ४५५

त्वा त्वां पश्यतु । सर्वत्र प्रार्थनायां लोद । स पवनात्मजस्तथेति यथाज्ञापयसीति
प्रतिज्ञाय स्वीकृत्य गत्वा राघवमुक्तवान् ॥

किमित्याह—

१५३८—‘उत्सुकाऽऽनीयतां देवी काकुत्स्थ-कुल-नन्दन ! ॥’

क्षमां लिखित्वा विनिश्चस्य स्वराऽऽलोक्य विभीषणम्

उत्सुकेत्यादि—हे काकुत्स्थकुलनन्दन ! उत्सुका देवी आनीयतामिति ।
प्रार्थनायां कर्मणि लोद । एवमुक्ते रावणवधे महति प्रयासेऽकृतेऽपि जनवादभ-
यात् न तथा सह वासः कार्य इत्यभिप्रायेण राघवः क्षमामङ्गुष्ठेन लिखित्वा विनि-
श्चस्य स्वराऽलोक्य आकाशं दृष्ट्वा । स्वरिलव्ययम् । विभीषणमुक्तवानिति वक्ष्यमा-
णेन संबन्धः ॥

१५३९—उक्तवान् राघवः-‘सीतामानया ऽलंकृतामिति.’ ॥

गत्वा प्रणम्य तेनोक्ता मैथिली मधुरं वचः. ॥ ९ ॥

उक्तवानित्यादि—सीतामलंकृतामानयेति राघव उक्तवान् । विधौ लोद ।
तेन विभीषणेन गत्वा प्रणम्य च मैथिल्युक्ता मधुरं वचः ॥

१५४०—‘जहीहि शोकं वैदेहि ! प्रीतये धेहि मानसम्, ॥

रावणे जहीहि द्वेषं, जहाहि प्रमदा-वनम्. ॥ १० ॥

जहीहीत्यादि—शोकं पतिवियोगजं जहीहि । ‘२४९८। जहातेश्च । १।४।११६।’
इत्यन्यतरस्यामित्वमीत्वं च । ‘२४९९। आ च हौ । १।४।२१७।’ इत्यकार इति
रूपत्रयम् । प्रीतये प्रीत्यर्थं पुनर्मानसं धेहि घटयस्व । ‘२४७१ । ध्वसोरेद्धावभ्या-
सलोपश्च । १।४।११९।’ । रावणे रावणविषये द्वेषं जहीहि तस्य विनष्टत्वात् । प्रम-
दावनं अशोकवनिकां जहाहि । पत्युरन्तिकं याहीत्यर्थः । सर्वत्र विधौ लोद ॥

१५४१—स्नाह्यनुलिम्प धूपाय,

निवस्स्वाऽऽविध्य च स्रजम्, ॥

रत्नान्याऽऽमुञ्च, संदीप्ते

हविर् जुहुधि पावके, ॥ ११ ॥

१५४२—अङ्घ्रि त्वं पञ्च-गव्यं च,

छिन्धि संरोध-जं तमः, ॥

आरोह शिबिकां हैमी,

द्विषां जहि मनो-रथान्. ॥ १२ ॥

स्नाहीत्यादि—श्लोकद्वयं मिश्रेण व्याख्यातम् । स्नाहि स्नानं कुरु । ततः कायशु-
द्ध्यर्थं सदनपहतं पञ्चगव्यमङ्घ्रि भक्षय । ‘२४२५। हु-ञ्जदभ्यो हेर्धिः । १।४।१०१।’

४५६ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे सप्तमो वर्गः,

गोरेतानि गव्यानि । सर्वत्र गोरजादिप्रत्ययप्रसङ्गे यत् । पञ्च गव्यानि समाहृतानीति
पात्रादिदर्शनाच्च ङीप् । ततः पवित्रीकृतकाया, सन्दीप्ते पावके हविर्जुहुधि । ततः
स्वामिनं गन्तुमनुष्ठितदेवकार्या सती त्वमालिम्प समालभस्व । ततो निवस्व
आच्छादय । '१०९२। वस आच्छादने' अदादित्वाच्छपो लुक् । धातुसकारस्य
परगमनम् । ततो धूपाय धूपितमात्मानं कुरु । धूपेरायप्रत्ययः । आविध्य च त्वजं
मालां शिरस्याक्षिप । '१२५७। व्यध ताडने' इयति '२४१२। ग्रहिज्या-।६।१।१६।' इत्यादिना सम्प्रसारणम् । रत्नान्यामुच्च विन्यस्वत्ययमर्थवशात् क्रियाक्रमो द्रष्टव्यः ।
यथा देवदत्तं भोजय स्नापय उद्धर्तयेति । किंच संरोधजं तमः अस्वतन्त्रीकरणजं
शोकं छिन्धि अपनय । हैमीं शिबिकां सौवर्णयानमारोह अधितिष्ठ । सर्वत्र भर्तु-
नियोगकरणे लोट् । तामारूढा द्विषां मनोरथान् हृदये स्थितानभिप्रायान् जहि
नाशय । हौ परतो '२४३१। हन्तेर्जः ।६।४।३६।' ॥

१५४३—तृणेढु त्वद्-वियोगोत्थां राजन्यानां पतिः शुचम्, ॥
भवतादधियुक्ता त्वमत ऊर्ध्वं स्व-वेदमनि. ॥ १३ ॥

तृणेद्वित्यादि—गतायां त्वयि राजन्यानां क्षत्रियाणां पती रामः शुचं शोकं
त्वद्वियोगोत्थां त्वद्वियोगप्रभवाम् । २९१६। सुपि स्थः ।३।२।४।' इति कः । 'उदः
स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' इति पूर्वसवर्णः । तृणेढु हिनस्तु । अतः अस्मात्कालादूर्ध्वं
कालं स्ववेदमनि अयोध्यायां अधियुक्ता त्वं भवतात् भूयाः । '२१९७। तुह्योः-
।७।१।३५।' इति तात्तद् ॥

१५४४—दीक्षस्व सह रामेण त्वरितं तुरगाध्वरे, ॥

दृश्यस्व पत्या प्रीतेन प्रीत्या प्रेक्षस्व राघवम्. ॥ १४ ॥

दीक्षस्वेत्यादि—तुरगाध्वरे अश्वमेधे रामेण सह त्वरितं दीक्षस्व दीक्षिता
भूयाः । आशिषि लोट् । प्रीतेन पत्या दृश्यस्व दृष्टा भव । इहापि कर्मणि लोट् ।
प्रीता च सती राघवं त्वं प्रेक्षस्व ॥

१५४५—अयं नियोगः पत्युस् ते, कार्या नाऽत्र विचारणा, ॥

भूषया ऽङ्गं, प्रमाणं चेद्, रामं गन्तुं यतस्व च ॥ १५ ॥

अयमित्यादि—तत्र पत्युरयं नियोगः यत्कृतः स्नानादिव्यापारः । अत्र
वस्तुनि विचारणा न कार्या किमेवं न वेति । एतत्प्रमाणं चेत् भूषयाङ्गं स्नानादि-
पूर्वकमलङ्कुर । रामं गन्तुं यतस्व ॥

१५४६—मुदा संयुहि काकुत्स्थं,

स्वयं चाऽऽमुहि सम्पदम्, ॥

उपेह्यूर्ध्वं मुहूर्तात् त्वं

देवि ! राघव-सन्निधिम्. ॥ १६ ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सीता-प्रत्याख्यानं' नाम विंशतितमः सर्गः—४५७

मुदेत्यादि—गत्वा च काकुत्स्थं मुदा हर्षेण संयुहि मिश्रय । 'यु मिश्रणे' । तत्र गमनेन स्वयं च संमदं हर्षं प्राप्नुहि '३२४५। प्रमदसंमदौ हर्षे । ३।३।६८।' । सर्वत्र प्रार्थनायां लोद । हे देवि ! अस्मान्मुहूर्तादूर्ध्वं राघवसन्निधिम् । राघवः सन्निधीयते यस्मिन् प्रदेशे इति '३२७१। कर्मण्यधिकरणे च । ३।३।९३।' इति किप्रत्ययः । तं त्वमुपेहि गच्छ ॥

१५४७—ऊर्ध्वं मुहूर्तादहो ऽङ्ग ! स्वामिनी स्म भव क्षितेः ॥

राज-पत्नी-नियोग-स्थमनुशाधि पुरी-जनम्. ॥१७॥

ऊर्ध्वमित्यादि—तथा मुहूर्तादूर्ध्वं क्षितेः स्वामिनी भव स्म । अङ्गेति सम्बोधनपदम् । अत्र '२८१९। स्मे लोद । ३।३।१६५।' इत्यनेन प्रेषे लोद । तत्र हि '२८१७। प्रेषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च । ३।३।१६३।' इति और्ध्वमौहूर्तिकं इति च वर्तते । प्राप्तकालतायां लोद । राघवसन्निधिं गन्तुं क्षितेः स्वामिनी भवितुं प्राप्तकाला देवी । अन्यथा कालातिक्रमे मयि विरक्तेति रामो विरज्येत । अन्यच्च इयमस्माकमाशंसा । त्वं राजपत्नीनियोगस्थं महादेव्याज्ञाकरणतत्परं पुरीस्थमयो-ध्यावस्थितं जनं अनुशाधि विधेयीकुरु । आशिषि लोद । '२४८७। शा हौ- । ६।४।३५।' इति शादेशः । तस्य समानाश्रयत्वादसिद्धत्वे '२४२५। हु-श्लभ्यो हेर्धिः । ६।४।१०१।' ॥

१५४८—उत्तिष्ठस्व मते पत्युर्, यतस्वा ऽलङ्कृतौ तथा, ॥

प्रतिष्ठस्व च तं द्रष्टुं द्रष्टव्यं त्वं मही-पतिम्. ॥१८॥

उत्तिष्ठस्वेत्यादि—तस्मात्प्रार्थयेऽहं पत्युर्मते अभिप्राये मत्समीपमागन्तव्य-मिति उत्तिष्ठस्व तदर्थं घटस्व । '२६९१। उदोऽनूर्ध्वकर्मणि । १।३।२४।' इति तङ् । तथा अलङ्कृतौ अलङ्करणे यतस्व यत्नं कुरु । लज्जया कदाचिन्नोत्सहेतेति पुनःपुन-रभिधानं अतिरुद्धम् । यथा स्नाहीत्यादि भूषयाङ्गमिति मन्यते तेन वारद्वयमुक्त-मेवं अलङ्कृत्य त्वं महीपतिं द्रष्टव्यं दर्शनार्हम् । '२८२२। अर्हे कृत्यतृचश्च । ३।३।१६९।' इति अवश्यद्रष्टव्ये वा आवश्यके '३३१२। कृत्याश्च । ३।३।१७१।' इति संद्रष्टुं प्रतिष्ठस्व गच्छ । प्रार्थनायां लोद । '२६८९। समव-प्र-वि-भ्यः स्थः । १।३।२२।' इति तङ् ॥

१५४९—अनुष्ठाय यथाऽऽदिष्टं नियोगं जनकाऽऽत्मजा ॥

समारूढवती यानं पट्टांशुक-वृताऽऽनना. ॥१९॥

अनुष्ठायेत्यादि—श्लोकत्रयं एवमुक्ता भर्तुर्यथोद्दिष्टं नियोगं स्नानादिकमनु-ष्ठाय कृत्वा जनकात्मजा मां कश्चिन्माद्राक्षीदिति पट्टांशुकवृतानना यानं शिबिका-मारूढवती पत्युरन्तिकं च गत्वा यानादवतीर्येत्यर्थात् ॥

१५५०—लज्जाऽनता विसंयोग-दुःख-स्मरण-विह्वला ॥

साऽस्मा गत्वा ऽन्तिकं पत्युर् दीना रुदितवत्यसौ. २०

४५८ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे सप्तमो वर्गः,

लज्जानतेत्यादि—लज्जया आनता विद्योगदुःखस्य पूर्वानुभूतस्य स्मरणेन विह्वला साक्षा दीना सा पर्युरन्तिकं गत्वा सीता रुदितवती ॥

१५५१—प्राप्त-चारित्र्य-सन्देहसु ततस् तामुक्त्वान् नृपः ॥

इच्छा मे-‘ना ऽऽदे सीते ! त्वामहं गम्यतामृतः’ ॥ २१

प्राप्तेत्यादि—ततोऽनन्तरं नृपो रामः ‘रावणः किमस्यां खण्डितचारित्रशीलो न वा’ इति प्राप्तचारित्र्यसन्देहस्तामुक्त्वान् । किमित्याह—हे सीते ! मे ममेय-मिच्छा यत्त्वामहं नाददे न गृह्णामि । ‘२८१४। इच्छार्थेषु लिङ्गलोढौ । ३। ३। १५७।’ इति लोढ । अतोऽनिच्छातः कारणाद्यथेष्टं गम्यताम् ॥

किमिति नेच्छसीति चेदाह—

१५५२—रावणाऽङ्क-परिश्लिष्टा त्वं हल्लेख-करी मम ॥

मतिं बधान सुग्रीवे, राक्षसेन्द्रं गृहाण वा. ॥ २२ ॥

रावणेत्यादि—रावणाङ्कपरिश्लिष्टा हरणसमये रावणोत्सङ्गे स्थिता सती परि-श्लिष्टा परिसृदितवती त्वं मम हल्लेखकरी चेतःपीडनशीला । ‘२९३४। कृजो हेतु-ताच्छील्य-। ३। २। २०।’ इति टः । ‘९८८। हृदयस्य हल्लेखयदणलास-। ६। ३। ५०।’ इति हृदादेशः । कमहं शरणं यास्यामीति चेदाह—सुग्रीवे मतिं बधान बध्नीयाः उत्पादय । राक्षसेन्द्रं विभीषणं वा अनुगृहाण स्वीकुरु ॥

१५५३—अशान भरताद् भोगान्, लक्ष्मणं प्रवृणीष्व वा, ॥

कामाद् वा याहि, मुच्यन्तामांशा राम-निबन्धनाः. ॥ २३ ॥

अशानेत्यादि—भरताद्वा भोगानशान मुद्ग्व । सर्वत्र ‘२५५७। हलः श्रः शानज्ज्ञौ । ३। १। ८३।’ इति शानच् । लक्ष्मणं प्रवृणीष्व वा अङ्गीकुरु । ‘वृज् वरणे’ इत्यस्य रूपम् । ‘२५५८। प्वादीनां ह्रस्वः । ७। ३। ८०।’ । स्वेच्छया वा याहि भवत्यै यत्र रोचते तत्र गम्यताम् । रामनिबन्धनाः पुनरपि रामो मे पतिर्भूयादि-त्याशाः मुच्यन्तां त्यज्यन्ताम् ॥

किमिति चेदाह—

१५५४—क च ख्यातो रघोर् वंशः, क त्वं पर-गृहोपिता, ॥

अन्यस्मै हृदयं देहि, ना ऽनभीष्टे घटामहे. ॥ २४ ॥

क चेत्यादि—परिशुद्धत्वात्सर्वत्र ख्यातः लोके विदितो रघोर्वंशः क । क च त्वं परगृहोपिता जातकलङ्कत्वात् । द्वयमप्येतद्वरं भिन्नम् । सर्वत्र विधौ लोढ । अतोऽन्यस्मै हृदयं देहि चित्तं परस्मै देहि । वयं अनभिमते विषये न घटामहे । निमग्नणे लोढ ॥

१५५५—यथेष्टं चर वैदेहि !, पन्थानः सन्तु ते शिवाः, ॥

कामासृतेऽन्यत्र तायन्तां, विशङ्कां त्यज मद्-गताम्.

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके सीता-प्रत्याख्यानं नाम विंशतितमः सर्गः—४५९

यथेष्टमित्यादि—यथेष्टं चर यथेष्टचारिणी भव । विधौ लोद । तत्र च यथेष्टं चरन्त्याः पन्थानो मार्गाः शिवा निर्विघ्नाः सन्तु भूयासुः । आशिषि लोद । किं च कामाः अभिलाषास्तवान्यत्र तायन्तां स्फीता भवन्तु । अत्राप्याशिषि । यथेष्टचारित्वात्किमयं करिष्यतीति मद्वतां विशङ्कां भयं त्यज त्यक्ष्य-सि । विधौ लोद ॥

१५५६—ततः प्रगदिता वाक्यं मैथिलाभिजना नृपम्—॥

‘स्त्रीसामान्येन सम्भूता शङ्का मयि विमुच्यताम्. २६

तत इत्यादि—ततस्तद्वचनानन्तरं मैथिलाभिजना सीता नृपं वाक्यं प्रगदिता गदितुं प्रवृत्ता । ‘३०५३। आदिकर्मणि क्तः—१३।४।७१।’ स्त्रीसामान्येन स्त्रीति कृत्वा या तव मयि शङ्का इयं सती न वेति सा विमुच्यताम् । मिथ्यात्वात् । प्रार्थनायां लोद ॥

१५५७—दैवाद् विभीहि काकुत्स्थ !

जिहीहि त्वं तथा जनात्, ॥

मिथ्या मामभिसंकुध्य-

ज्ञ-वशां शत्रुणा हताम्. ॥ २७ ॥

दैवादित्यादि—अन्यच्च हे काकुत्स्थ राम ! अवशां पराधीनां शत्रुणा हताम् । मिथ्या अभिसंकुध्यन् अलीकेन । ‘५७६। कुध-द्रुहोरूपसृष्टयोः कर्म १।१।३८।’ इति कर्मसंज्ञा । दैवात् अनिष्टफलात् विभीहि भयं जनय सीतो भव । हेरपित्वात्किन्वे गुणो न भवति । इतश्च जनादिमं जनं वीक्ष्य जिहीहि लज्जस्व । त्यब्लोपे पञ्चमी । विधौ लोद ॥

स्वय्यसंक्रान्तायां मम कीदृशं भयं लज्जा चेति चेत्तदाह—

१५५८—चेतसस् त्वयि वृत्तिर् मे, शरीरं रक्षसा हतम्, ॥

विदांकुर्वन्तु सम्यञ्चो देवाः सत्यमिदं वचः ॥२८॥

चेतस इत्यादि—मे चेतसो वृत्तिरात्मव्यापारः त्वयि तिष्ठति अनन्यमनस्कत्वात् । रक्षसा हताया मम न सर्वं हतं अपि तु शरीरं हतम् । नैवेदं मिथ्या । तथाहि हे महाभूताधिष्ठानाः सम्यञ्चः । सर्वत्र वर्तमानाः अञ्चन्तीति क्तिप् । अञ्चतावप्रत्यये ‘४२१। समः समि ।६।३।९३।’ इति सम्यादेशः । एते मदर्थिताः मम वचः सत्यं विदांकुर्वन्तु अवगच्छन्तु । प्रार्थनायां लोद । विदांकुर्वन्त्विति लिपातनम् ॥

प्रत्येकं प्रार्थनामाह—

१५५९—त्वं पुनीहि पुनीहीति पुनन्वायो ! जगत्-त्रयम् ॥

चरन् देहेषु भूतानां विद्धि मे बुद्धि-विप्लवम्. ॥२९॥

४६० भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे सप्तमो वर्गः,

त्वं पुनीहीत्यादि—हे वायो ! पुनीहि पुनीहीति जगन्नयं पुनः पुनः पुनामि
भृशं वा पुनामीत्यभिप्रायः । त्वं जगन्नयं पुनन् भूतानां देहेषु चरन् मम बुद्धि-
विप्लवं बुद्धेरन्यथात्वं विद्धि अवगच्छ । प्रार्थनायां लोद । पूर्वत्र '२८२५। क्रिया-
समभिहारे लोद-॥३॥४॥२॥' इति लोद । तस्य परस्मैपदसम्बन्धी हिरादेशः ।
क्रियासमभिहारे द्विवचनम् । पुनन्निति यथाविध्यनुप्रयोगः । पूर्वस्मिन्नित्यनेन
पुनातेरनुप्रयोगः । तत्र हि क्रियासमुच्चयाभावात् ॥

१५६०—खमट, घामटा ऽटोर्वीमित्यटन्त्यो ऽति-पावनाः ॥

यूयमापो ! विजानीत मनो-वृत्तिं शुभां मम ॥३०॥

खमित्यादि—यूयमापोऽतिपावनाः अतिपवित्राः खमट घामट उर्वीमट इति
वयमन्तरिक्षमटाम देवलोकमटाम भूलोकमटामेत्येवमभिप्रायाः सर्वत्राटन्त्यो मम
शुभां चित्तवृत्तिं विजानीतेति । अत्र प्रार्थनायां लोद । पूर्वत्र तु आकाशादिकारकमे-
दात् अनेकाटनक्रियासमुच्चयः । ततश्च '२८२६। समुच्चयेऽन्यतरस्याम् ॥३॥४॥३॥'
इति लोद । अटेति समुच्चये सामान्यवचनस्येत्यनुप्रयोगः । आकाशाद्युपगामिनी-
नामटनक्रियाणां पुनरटनक्रियायाः सामान्याया अनुप्रयोगात् ॥

१५६१—जगन्ति धत्स्व धत्स्वेति दधती त्वं वसुन्धरे ! ॥

अवेहि मम चारित्रं नक्तं-दिवसं-विच्युतम् ॥३१॥

जगन्तीत्यादि—त्वं वसुन्धरे ! धत्स्व धत्स्वेति अहं पुनः पुनर्दधे भृशं
वा दध इति एवमभिप्राया जगन्ति दधती मम चारित्रं नक्तं-दिवसं-विच्युतं
अस्खलितमवेहि । अत्र प्रार्थनायां लोद । पूर्वत्र क्रियासमभिहारे तस्य चात्म-
नेपदसम्बन्धिनः स्वादेशः ॥

१५६२—रसान् संहर, दीप्यस्व, ध्वान्तं जहि, नभो भ्रम, ॥

इतीहमानस् तिग्मांऽशो ! वृत्तं ज्ञातुं घटस्व मे ॥३२॥

रसानित्यादि—हे तिग्मांशो ! त्वमपि अहं रसान् भौमान् संहर संहरा-
मीति । दीप्यस्व दीप्ये । ध्वान्तं जहि हन्मि । नभो भ्रम भ्रमामीत्येवम-
भिप्रायः । ईहमानः जगत्यर्थक्रियासु चेष्टमानः मम वृत्तं चारित्रं ज्ञातुं घटस्व
यतस्व । अत्र प्रार्थनायां लोद । पूर्वत्र '२८२६। समुच्चयेऽन्यतरस्याम् ॥३॥४॥३॥'
इति तस्य च यथायोगं हिस्वादेशः । ईहमान इति '२८२८। समुच्चये सामान्य-
वचनस्य ॥३॥४॥५॥' इत्यनुप्रयोगः । संहरेत्यादीनामीहतेः सामान्यवचनस्यानु-
प्रयोगात् ॥

१५६३—स्वर्गे विद्यस्व, भुव्याऽऽस्व, भुजङ्ग-निलये भव, ॥

एवं वसन् ममा ऽऽकाश ! संबुध्यस्व कृताऽकृतम् ॥३३॥

स्वर्ग इत्यादि—त्वं आकाश ! स्वर्गे विद्यस्व अहं विद्ये । भुवि आस्व
आसे । भुजङ्गनिलये पाताले भव भवामीत्येवमभिप्रायः सर्वत्र । वसन् तिष्ठन्

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सीता-प्रत्याख्यानं' नाम विंशतितमः सर्गः— ४६१

मम कृताकृतं युक्तायुक्तं बुध्यस्व अवगच्छ । अत्र प्रार्थनायां लोद । पूर्वत्र '२८२६ । समुच्चयेऽन्यतरस्याम् । ३।४।३।' इति तस्य च यथायोगं हिस्वादेशः । वसन्ति '२८२८ । समुच्चये सामान्यवचनस्य । ३।४।५।' इत्यनुप्रयोगः । विद्यमानादीनां वसतः सामान्यवचनस्यानुप्रयोगात् ॥

एवं पृथिव्यादीनि महाभूतानि कथयित्वा लक्षणमाह—

१५६४—चितां कुरु च सौमित्रे ! व्यसनस्या ऽस्य भेषजम्, ॥

रामस् तुष्यतु मे वा ऽद्य, पापां पुष्पातु वा ऽनलः ३४

चितामित्यादि—हे सौमित्रे ! व्यसनस्यास्य मिथ्यादूषणस्य भेषजं प्रतिक्रियां चितां कुरु । विधौ लोद । मम असौ विशुद्धाया रामो नियोगतस्तुष्यतु । अनलो वा मां पापां नियोगतः पुष्पातु दहतु । दहनं मर्यालोकान्मोचयित्वित्यर्थः । निमन्त्रणे लोद । 'दुष-मुष ज्ञेहन-मोचन-पूरणेषु' इति क्रयादिः मोचने द्रष्टव्यः । अनेकार्थत्वाद्वाहे ॥

१५६५—राघवस्य मतेना ऽथ लक्ष्मणेनाऽऽचितां चिताम् ॥

दृष्ट्वा प्रदक्षिणीकृत्य रामं प्रगदिता वचः ॥ ३५ ॥

राघवस्येत्यादि—अथ राघवस्य मतेनानुज्ञातेन '६२५। कस्य च वर्तमाने । २।३।६७।' इति षष्ठी । '३०८९। मति-बुद्धि-पूजार्थेभ्यश्च । ३।२।१८८।' इति वर्तमाने क्तः । तस्य वा मतेनानुज्ञया चितामाचितां रचितां दृष्ट्वा प्रदक्षिणीकृत्य सीतां रामं प्रगदिता वचो गदितुं प्रवृत्ता ॥

१५६६—प्रवपाणि वपुर् वह्नौ रामा ऽहं शङ्किता त्वया, ॥

सर्वे विदन्तु शृण्वन्तु भवन्तः स-स्रवङ्गमाः ॥ ३६ ॥

प्रवपाणीत्यादि—येऽत्र सन्निहिता देवादयः ते सर्वे सप्रवङ्गमाः वानरैः सह भवन्तः विदन्तु चेतसा । शृण्वन्तु श्रोत्राभ्यां मद्वचनम् । हे राम ! त्वया दुष्टेति शङ्किता अहं वह्नौ वपुः शरीरं प्रवपाणि नियोगतः प्रक्षिपाणि । निमन्त्रणे लोद । '२२३१। आनि लोद । ८।४।१६।' इति णत्वम् ॥

१५६७—मां दुष्टां ज्वलित-वपुः पुष्पाण वह्ने !

संरक्ष क्षत-मलिनां सुहृद् यथा वा, ॥

एषा ऽहं क्रतुषु वसोर् यथा ऽऽज्य-धारा

त्वां प्राप्ता विधि-वदुदीर्ण-दीप्ति-मालम् ॥ ३७ ॥

इति भट्टि-काव्ये तिङन्त-काण्डे लोद-प्रदर्शनो नाम
विंशतितमः सर्गः ॥ २० ॥

मामित्यादि—हे वहे ! यद्यहं दुष्टा तदा ज्वलितवपुः ज्वलितशरीरः सन् । मित्वाभावपक्षे रूपम् । भुषाण देहं मर्त्यलोकात् मोचय । यथा वा क्षतमलिनां विशुद्धां सुहृदिव संरक्ष वा । आमन्त्रणे कामचारकरणे लोह । एषाहं त्वां विधिवत् सम्यक् प्राप्ता क्रतुषु यज्ञेषु वसोः राज्ञः आल्यधारेव । उदीर्णदीप्तिमालं उद्धत-ज्वालासमूहं त्वामिति ॥

इति श्री-जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते श्री-भट्टिकाव्ये

चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे सप्तमः परिच्छेदः (वर्गः),

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सीता-प्रत्याख्यानं' नाम

विंशतितमः सर्गः ॥ २० ॥

एकविंशः सर्गः—

इतःप्रभृति लङमधिकृत्य विलसितमाह—तत्र लिङ्निमित्ते लङ् क्रियातिपत्तौ भविष्यति भूते च हेतुहेतुमतोर्लिङित्येवमादिकं लिङो निमित्तं क्रियातिपत्तिश्च । कुतश्चिद्वैगुण्यात् क्रियाया अनिष्पत्तिः क्रियातिपत्तिः वैगुण्यं च विधुरप्रत्ययोपनिपातात् सामर्थ्यभावाच्च द्रष्टव्यम् ॥

१५६८—समुत्क्षिप्य ततो वह्निर् मैथिलीं राममुक्तवान् ॥

‘काकुत्स्थ ! दयितां साध्वीं त्वमाशङ्किष्यथाः कथम् १

समुत्क्षिप्येत्यादि—ततोऽनन्तरं मैथिलीं समुत्क्षिप्य हस्ताभ्यामाकाशे धृत्वा वह्निर्देहवान् राममुक्तवान् । हे काकुत्स्थ ! साध्वीं पतिव्रतामपि दयितां असाध्वीति त्वं यथाशङ्किष्यथाः शङ्कितवानसि तत्कथम् । गर्हितमेतत् न युक्तमाशङ्कितुमित्यर्थः । ‘२८००। विभाषा कथमि लिङ् च । ३। ३। १४३।’ इति । अत्र कथंशब्दो गर्हायां च लिङो निमित्तम् । यतस्तत्र गर्हायामित्यनुवर्तते । तस्मिन् लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ लङ् भविष्यतीत्यधिक्रियते । अत्रासाधुत्वं क्रियायाः तद्विरुद्धसाधुत्वाभियोगोपनिपातादतिपत्तिर्गम्यते ॥

तदेव साधुत्वं दर्शयति—

१५६९—ना ऽभविष्यदियं शुद्धा यद्यपास्यमहं ततः ॥

न चैनां, पक्षपातो मे धर्मादन्यत्र राघव ! ॥ २ ॥

नेत्यादि—यद्यहमेनां नैवापास्यं नैव रक्षितवान् ततोऽरक्षणादियं शुद्धा नाभविष्यद् न भूता । येनैव मया रक्षिता तेनैवेयं शुद्धेति भावः । ‘२८१३। हेतुहेतुमतोर्लिङ् । ३। ३। १५६।’ इत्यतः हेतुहेतुमांश्च लिङो निमित्तम् । तत्र पालनस्य परिशुद्धेश्च हेतुहेतुमत्त्वे लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां भूते नित्यं लङ् । तत्र ‘२७९८। वोताप्योः । ३। ३। १४३।’ इति विकल्पेनाधिक्रियते । अत्रापालनोपनिपातादतिपत्तिर्गम्यते । तदतिपाताद्धेतुमतोऽपि पक्षपातात् त्वयैवमाचरितमिति चेदाह । हे राघव ! धर्मादन्यत्र अधर्मे न मे पक्षपातोऽनुरागः ॥

तथा लक्ष्यरूपे कथानके 'सीता-संशोधनं' नामैकविंशतितमः सर्गः— ४६३

इदानीं सीतारावणयोर्यच्चेष्टितमासीत् तच्चानेनावधार्यं प्रकाशयन्नाह—

१५७०—अपि तत्र-रिपुः सीतां नाऽर्थयिष्यत दुर्-मतिः, ॥

कूरं जातृवदिष्यच्च जातृवस्तोष्यच्छ्रियं स्वकाम्, ३

अपीत्यादि—तत्र रिपुः स भवान् रिपुः स रावणः । भवच्छब्दोऽर्थाद्भ्रम्यते तेन '१९६३। इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते । ५।३।१४।' इति ब्रह्म । अपि बाढं नार्थयिष्यत दुर्मतिरदुष्टचेता अभविष्यत् तदा सीतां बाढं नार्थयिष्यत । भार्या मम भवेति न प्रार्थितवान् । '२८०९। उताप्योः समर्थयोः—१३।३।१५२।' इति । अत्रापिशब्दो बाढार्थः लिङ्निमित्तं तस्मिन् लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां भूते नित्यं लङ् । तत्र '२७९८। वोताप्योः । ३।३।१४१।' इति अनुवर्तते । अत्रार्थन-क्रियायाः तद्विरुद्धदुर्मतिवोपनिपातादतिपत्तिर्गम्यते । अर्थनमर्थः याचनं । तत्क-रोतीति णिच् । नाहमवकल्पयामि यद्यदुर्मतिरभविष्यत् कूरं परुषं जातु कदा-चित् नावदिष्यत् नोक्तवान् । श्रियं विभूतिं स्वकामात्मीयां ईदृशी मे विभूतिरिति नास्तोष्यत् न स्तुतवान् स्तुतवांश्च । '२८०४। जातु-यदोर्लिङ् । ३।३।१४७।' इत्यत्र जातुशब्दोऽनवकृष्टिश्च लिङो निमित्तं तत्र । '२८०२। अनवकृष्ट्यमर्षयोः—१३।३।१४५।' इति वर्तते । कूराभिधानक्रियाया विभूत्याः स्तवनक्रियायाश्च तद्वि-रुद्धदुर्मतिवोपनिपातादतिपत्तिः । केचित् 'कडपिजात्वोः' इत्येतदुदाहरन्ति तद-युक्तं तस्यालिङ्निमित्तत्वात् ॥

१५७१—सङ्कल्पं नाऽकरिष्यच्च तत्रैयं शुद्ध-मानसा, ॥

सत्याऽमर्षमवाप्स्यस् त्वं रामः सीता-निबन्धनम्, ॥४॥

सङ्कल्पमित्यादि—तत्रैयं शुभमानसेति नाहमवकल्पयामि यदीयं शुद्धमा-नसा नाभविष्यत् । तत्र तस्मिन् रावणे इत्थं प्रीयमाणेऽपि सङ्कल्पमभिप्रायमक-रिष्यत् कृतवती स्यात् । न च कृतवती शुद्धमानसत्वात् । सत्यामर्षमवाप्स्यस्त्व-मिति । हे राम ! यद्यशुद्धमानसा अभविष्यत् तदा सीतानिबन्धनं सीताहेतुकं अमर्षं क्रोधं सत्यसंभूतमवाप्स्यस्त्वं प्राप्तः स्याः नतु सत्यं यतः शुद्धमानसा । '२८०२। अनवकृष्ट्यमर्षयोरर्किवृत्तेऽपि । ३।३।१४५।' इत्यत्र अनवकृष्ट्यमर्षयोर्लि-ङ्निमित्तं तस्मिन् लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ भूते वा लङ् । तत्र '२७९८। वोता-प्योः—१३।३।१४१।' इत्यधिक्रियते । अत्र सङ्कल्पक्रियायाः सत्यामर्षक्रियायाश्च तद्विरुद्धशुद्धमानसत्वोपनिपातादतिपत्तिः ॥

अन्यथास्मिन्वस्तुनि नाहमेवैकः प्रमाणं भवानपि प्रमाणमेवेति दर्शयन्नाह—

१५७२—त्वयाऽद्रक्ष्यत किं नाऽस्याः

शीलं संवसता चिरम्, ॥

अदर्शिष्यन्त वा चेष्टाः

कालेन बहुना न किम्, ॥ ५ ॥

त्वयेत्यादि—किं नाम तच्छीलं तच्चरित्रं यदस्याः सीतायाः शीलं चिरं कालं संवसता त्वया नाद्रक्ष्यत नोपलब्धमेव । चेतोधर्मत्वाच्चोपलब्धमिति चेत् किंवा नाम चेष्टाः शीलनिबन्धनाः क्रियाः बहुनापि कालेन त्वया नादर्क्षिष्यन्त न दृष्टा अभूवन् । अपि तु दृष्टा एव । '२८०१। किंवृत्ते लङ्गुलदौ । ३। ३। १४४।' इति किंशब्दो विभक्त्यन्तो गर्हा च लिङ्निमित्तं तत्र गर्हायामित्येतदनुवर्तते । तस्मिन् लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ भूते लङ् । कर्मण्येव चिण्वदिद् । अत्र शीलानुपलब्धि-क्रियायाश्च तद्विरुद्धचिरवासोपनिपातादतिपत्तिर्गम्यते । तथाहि 'शीलं संवसता ज्ञेयं तच्च कालेन भूयसा' इति ॥

१५७३—यावज्जीवमशोचिष्यो, ना ऽहास्यश् चेदिदं तमः, ॥

भानुरप्यपतिष्यत् क्षमामक्षोभिष्यत चेदियम्. ॥ ६ ॥

यावदित्यादि—अन्यच्च लोकस्याज्ञानमूलं परगृहोषितेत्येतावतैवापरिशुद्धेत्य-ज्ञानमुत्पन्नमिदं तमः अज्ञानं यदि त्वं नाहास्यः न त्यक्ष्यसि तदास्या वैलक्षण्येन मरणादवश्यं यावज्जीवमशोचिष्यः शोकमेष्यसि । अतो मयाभिधीयमानः स्वयं च विमृशन् परिशुद्धा हीयमित्यवेहि येन न शोचिष्यसि । अत्र भविष्यदज्ञाना-त्यागो हेतुः । यावज्जीवशोचनं हेतुमत् । तयोर्हेतुमत्त्वे लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां भविष्यति नित्यं लङ् । अत्राज्ञानत्यागक्रियायास्तद्विरुद्धोपदेशकत्वमर्थित-ज्ञानोत्पादनिपातादतिपत्तिर्गम्यते । अन्यच्च अभूतवस्तुत्पादकसूचक उत्पातो भवति न च तथाभूतोऽस्तीति दर्शयन्नाह । यदीयमक्षोभिष्यत् दुष्टचिन्ताभूत् तदा भानु-रपि क्षमां पृथ्वीमपतिष्यत् गतोऽभूत् । अत्रापि क्षोभो हेतुः भानुपतनं हेतुमत् तयोर्हेतुहेतुमत्त्वम् । लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां भूते लङ् । अत्र क्षोभक्रिया-यास्तद्विरुद्धाक्षोभोपनिपातादतिपत्तिः ॥

अन्यच्च सत्येन सवित्रा लोकपाला अदुष्टचित्तेषु संनिधीयन्त इति दर्शयन्नाह—

१५७४—समपत्स्यत राजेन्द्र ! स्त्रैण यद्यत्र चापलम्, ॥

लोक-पाला इहा ऽऽयास्यंस्ततो ना ऽमी कलि-द्रुहः. ७

समेत्यादि—स्त्रीणामिदं स्त्रैण चापलं चारित्रबन्धनं तदत्र सीतायां हे राजेन्द्र ! समपत्स्यत संपन्नमभूत् । ततः कारणादमी लोकपालाः एवमादयो मूर्तिमन्तः कलिद्रुहः पापस्य द्रोग्धारः इव नायास्यन् नागता अभूवन् । चापलमत्र हेतुः लोकपालागमनं हेतुमत् । ततो हेतुहेतुमत्त्वे लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां भूते लङ् । अत्र चापलाचरणक्रियायास्तद्विरुद्धचापलोपनिपातादतिपत्तिः ॥

अन्यच्च योषित्सामान्येन नेयं द्रष्टव्येति दर्शयन्नाह—

१५७५—आश्चर्यं यच्च यत्र स्त्री कृच्छ्रे ऽवर्त्यन् मते तव, ॥

त्रासादस्यां विनष्टायां किं किमालप्स्यथाः फलम्. ८

आश्चर्यमित्यादि—यच्च यत्र या भवति स्त्री यत्तव कृच्छ्रे मते सङ्कटेऽभि-प्राये अवर्त्यत् प्रवृत्तिमती तदाश्चर्यं चित्रमेव वर्तते नान्येति भावः । '२८०७।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सीता-संशोधनं' नामैकविंशतितमः सर्गः—४६५

चित्रीकरणे च ।३।३।१५०।' इत्यत्र '२८०५। यच्चयत्रयोः ।६।३।१४८।' इत्यनुवर्तते । यच्चयत्रशब्द उपपदे गम्यमानं चित्रीकरणं लिङ्निमित्तं तस्मिन् लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां भूते लङ् । अत्र कृच्छ्राभिप्रायानुवर्तनक्रियायास्तस्यां योषिदनुवर्तनं सामग्र्यभावाद्गम्यते । अन्यच्च स्वभावत एव योषित् कातरा भवति । ततश्च परगृहावस्थित्या दुष्टेति क्रोधादहमवक्षिसेति त्रासादस्यां विपन्नायां प्रच्छन्नविषयं गतायां सत्यां किं किमालप्स्यथाः फलं नाहमवकल्पयामि । किं नाम तत्र फलं यदाप्स्यसि नैवेत्यर्थः । '२८०२। अनवक्लृप्त्यमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि ।३।३।१४५।' इत्यत्रापिशब्दात् किंवृत्तमनवक्लृप्तिश्च लिङो निमित्तं तस्मिन् लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां भविष्यति लङ् । अत्र फलप्राप्तिक्रियायास्तद्वदन्यसामग्र्यभावात् गम्यते । 'किंकिलालप्स्यथाः फलम्' इति पाठान्तरं तदयुक्तं, '२८०३। किंकिलास्त्यर्थेषु ।३।३।१४६।' इत्येतस्य लिङ्निमित्तत्वाभावात् ॥

अथवा नाहं दुष्टेत्यवगच्छन्त्या योषितस्त्रास एव नास्ति येन गार्हितं मरणमाचरेदिति दर्शयन्नाह—

१५७६—यत्र यच्चाऽमरिष्यत् स्त्री साध्वसाद् दोष-वर्जिता ॥

तदसूया-रतौ लोके तस्या वाच्याऽऽस्पदं मृषा. ॥९॥

यत्रेत्यादि—गार्हितमेतत् यच्च यत्र या भवति स्त्री दोषवर्जिता शुद्धचरित्रापि साध्वसात् पतित्रासादमरिष्यत् मृताभूत् नैवेत्यर्थः । अदुष्टायाः साध्वसाभावात् । गार्हायामित्यत्र यच्चयत्रशब्द उपपदं गार्हा च लिङ्निमित्तं तस्मिन् लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां भूते वा लङ् । अत्र मरणक्रियायास्तद्विरुद्धसाध्वसे परनिपातादतिपत्तिर्गम्यते । यदि हि त्रासात् त्रियेत दोष एव स्यादित्याह । तन्मरणं लोकेऽस्मिन्नसूयारतौ सत्स्वपि गुणेषु दोषाविष्करणपरे तस्या अदुष्टाया योषितः वाच्यास्पदं वचनीयाश्रयं मृषा अलीकमेव दुष्टैवेयं मृषा अलीकमेव येन प्रच्छन्नमृतेति । यदि मरणमकरिष्यत् मृषावचनीयास्पदमभविष्यत् इति क्रियातिपत्तौ योज्यम् । अन्यथा वाक्यमिदमशरीरकं स्यात् इदमवगच्छन्त्यानया प्रच्छन्नमरणं नानुष्ठितम् ॥

१५७७—अमंस्यत भवान् यद्वद् तथैव च पिता तव ॥

नाऽऽगमिष्यद् विमान-स्थः साक्षाद् दशरथो नृपः. १०

अमंस्यतेत्यादि—यद्वद्यथा भवानमंस्यत दुष्टेति ज्ञातवान् तथैतद्यदि नान्यथा तदा तव पिता दशरथः साक्षात्प्रत्यक्षो विमानस्थः सन् नागमिष्यत् नागतवान् स्यात् । अत्र दुष्टताभवनं हेतुः दशरथागमनं च हेतुमत् । तयोर्हेतुहेतुमत्त्वे लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां भूते लङ् । अत्र दुष्टताभवनक्रियायास्तद्विरुद्धदुष्टत्वोपनिपातादतिपत्तिः ॥

१५७८—नाऽकल्पस्यत् सन्निधिं स्थाणुः

शूली वृषभ-वाहनः ॥

अन्वभाविष्यता ऽन्येन

मैथिली चेत् पतिव्रता. ॥ ११ ॥

नाकल्पस्यदित्यादि—मैथिली पतिव्रता सती चेद्यदि त्वत्तोऽन्येनान्वभाविष्यत परिशुक्ताभूत् । चिष्वदिद । तदायं स्थाणुर्महादेवः शूली वृषभवाहनः व्यक्तचिह्नः सन् सन्निधिं सन्निधानं नाकल्पस्यत् न कृतवान् स्यात् । ‘२३५२। तासि च लूपः । ७।२।६०।’ इति चकारात् स्ये च परस्मैपदे लङ् । अन्यानुभवनं हेतुः । स्थाणवागमनं हेतुमत् । पूर्ववत् क्रियातिपत्तौ लङ् । अत्रान्यानुभवनक्रियायास्तद्विरुद्धानन्यानुभवनोपनिपातादतिपत्तिः ॥

१५७९—आनन्दयिष्यदागम्य कथं त्वामरविन्द-सत् ॥

राजेन्द्र ! विश्व-सूर धाता चारित्र्ये सीतया क्षते. १२

आनन्दयिष्यदित्यादि—हे राजेन्द्र ! सीतया चारित्र्ये क्षते कुत्सिते कृते सति एष धाता ब्रह्मा विश्वसूः सर्वस्य जगतः स्रष्टा अरविन्दसत् कमलासनः सन् आगम्य त्वां कथमानन्दयिष्यत् दर्शनाशीर्वादादिभिरानन्दितवान् गार्हितमेतत् । युक्तमागत्यानन्दयितुमित्यर्थः । ‘२८००। विभाषा कथमि लिङ् च । ३।३।१४३।’ इति कथंशब्दो गहां च लिङ्निमित्तं तस्मिन् क्रियातिपत्तौ भूते लङ् । अत्रानन्दनक्रियायास्तद्विरुद्धचारित्र्यक्षतोपनिपातादतिपत्तिः ॥

१५८०—प्रणमन् ब्रह्मणा प्रोक्तो राजका ऽधिपतिस् ततः ॥

‘ना, ऽशोत्स्यन् मैथिली लोके, नाऽऽचरिष्यदिदं यदि.

प्रणमन्नित्यादि—ततोऽनन्तरं राजकाधिपतिः राजसमूहानां पतिः । राजकं राजसमूहः । ‘१२४६। गोत्रोऽक्ष-। ४।२।३९।’ इत्यादिना बुज् । रामः प्रणमन् ब्रह्मणामित्यर्थात् । ब्रह्मणा प्रोक्तः मैथिली यदि इदं बह्विप्रवेशनं नाचरिष्यत् नानुष्ठितवती तदा लोके दुराराधे नाशोत्स्यत् न शुद्धाभूत् किन्तु शुद्धा । ‘शुध शौचे’ दिवादिः । अत्राग्निप्रवेशाचरणं हेतुः अशोधनं च हेतुमत् । तयोर्हेतुहेतुमत्त्वे लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ भूते लङ् । अत्राग्निप्रवेशाचरणक्रियायास्तद्विरुद्धाचरणोपनिपातादतिपत्तिः ॥

१५८१—ना ऽमोक्ष्याम वयं शङ्का-

मिहाधास्यन् न चेद् भवान्, ॥

किं वा चित्रमिदं युक्तं,

भवान् यदकरिष्यत. ॥ १४ ॥

नेत्यादि—चेद्यदि भवानिह सीतां नाधास्यत् न रोपितवान् । अन्तर्भावि-तोऽत्र ण्यर्थः । तदा वयं किं शुद्धा नेति शङ्कां नामोक्ष्याम न मुक्तवन्तः । अस्मिन् वस्तुनि अग्निप्रमाणत्वेन लोको गृहीयादित्येवमुक्तवान् । अन्यथा

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सीता-संशोधनं' नामैकविंशतितमः सर्गः—४६७

ब्रह्मणः सर्ववेदित्वात् कथं शङ्का स्यात् अत्राधानं हेतुः शङ्कात्यागश्च हेतुमान् । अस्मिन् लिङ्गनिमित्ते क्रियातिपत्तौ भूते लङ् । अत्रानाधानक्रियाया-स्तद्विरुद्धादानोपनिपातादतिपत्तिर्गम्यते । अथवा नाहमवकल्पयामि यदीदं पर-गृहोषिताया अग्निप्रवेशशोधनं युक्तं न्याय्यं तत् भवान् किं चित्रमकरिष्यत् विस्रयनीयं कृतवान् । एवं राज्ञः लोकस्य व्यवस्थार्थं विशेषे प्रवर्तनात् । '२८०२। अनवकृत्यमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि । ३। ३। १४५।' इत्यत्रापिशब्दात् किंवृत्तमनवकृतिश्च लिङ्गनिमित्तं तस्मिन् लिङ्गनिमित्ते क्रियातिपत्तौ भूते लङ् । अत्र चित्रीकरणक्रियाया अतिपत्तिस्तद्विरुद्धस्याचित्रीकरणस्योपनिपातादतिपत्तिर्गम्यते । यदि भवान् परीक्ष्य सीतायाः परिग्रहणमकरिष्यत् लोकोऽपि तथाकरिष्यत् ॥

प्रधानानुयायित्वाल्लोकस्येति दर्शयन्नाह—

१५८२—प्रावर्तिष्यन्त चेष्टाश्चेद-याथातथ्य-वत् तव, ॥

अनुशास्ये त्वया लोके रामाऽवत्स्यस्तरां ततः १५॥

प्रावर्तिष्यन्तेत्यादि—चेद्यदि तव लोकव्यवस्थाकारिणश्चेष्टाः कर्माणि आया-थातथ्यवत् यथा अज्ञाना असमीक्ष्यकारितया प्रवर्तन्ते तद्वत्प्रावर्तिष्यन्त तथाप्र-वर्तनात् त्वया अनुशास्ये व्यवस्थायां स्थाप्ये लोके हे राम ! ताश्चेष्टा अवत्स्यस्तरां अतिशयेन प्रावर्तिष्यन्त न च तव प्रवृत्ताः । अत्र रामचेष्टाप्रवर्तनं हेतुः लोकचेष्टाप्र-वर्तनं च हेतुमत् । तस्मिन् लिङ्गनिमित्ते क्रियातिपत्तौ भूते भविष्यति लङ् । अत्रापि परीक्ष्यस्त्रीकरणलक्षणक्रियायास्तद्विरुद्धपरीक्षितोपादानानतिपत्तिः । अथाथातथ्य-वदिति वतिप्रत्ययान्तं क्रियाविशेषणम् । '१७८९। यथातथायथापुरयोः पर्यायेण । ७। ४। ३१।' इति नञः पर्यायेण वृद्धिः । प्रावत्स्यस्तरामिति '२००२। तिङ्श्च । ५। ३। ५६।' इत्यातिशयनिकस्तरः । '२००४। किमेत्तिङ्-५। ४। ११।' इत्याम् । '१४०। नञ्छब्दप्रशान् । ८। ३। ७।' इति स्तवं पूर्वस्यानुस्वारः ॥

१५८३—प्रणमन्तं ततो राममुक्तवानिति शङ्करः ॥

'किं नारायणमात्मानं नाऽभोत्स्यत भवानजम्, १६

प्रणमन्तमित्यादि—ततो ब्रह्मवचनानन्तरं शङ्करो महादेवः वक्ष्यमाणं वचनं राममुक्तवान् । प्रणमन्तं तमेव राममित्यर्थात् । किन्नाम तत् यथा आत्मानम् नारायणमजं नित्यं अस्मिन् प्रादुर्भावे भवान्नाभोत्स्यत न बुद्धवान् अपि तु तथाविधं कर्म कुर्वन् ज्ञातवानेव । अत्र नारायणानवबोधक्रियायाः तद्विरुद्धबोधनोपनिपातादतिपत्तिः ॥

तदेव दर्शयन्नाह—

१५८४—को ऽन्यो ऽकत्स्यदिह प्राणान्

दृष्टानां च सुर-द्विषाम्, ॥

को वा विश्वजनीनेषु कर्मसु प्राघटिष्यत ॥ १७ ॥

क इत्यादि—यदि नारायणो न भवान् तदा तस्मादन्यः को नाम सुरद्विषां राक्षसानां दसानां प्राणानकर्त्यत् छिन्नवान् । ‘कृती च्छेदने’ । नैव । विश्वजनीनेषु सर्वलोकहितेषु कर्मसु अनुग्रहलक्षणेषु को नाम प्राघटिष्यत चेष्टितवान् । अत्राच्छेदनक्रियाया अघटनक्रियायाश्च तद्विरुद्धच्छेदनघटनोपनिपातादतिपत्तिः । सर्वत्र ‘२८०१। किंवृत्ते लङ्लटौ ।३।३।१४३।’ इति क्रियातिपत्तौ भूते गर्हायां लङ् ॥

१५८५—दैत्य-क्षये महा-राज ! यच्च यत्रा ऽघटिष्यथाः ॥

समाप्तिं जातु तत्रापि किं ना ऽनेष्यस् त्वमीहितम्. १८

दैत्यक्षय इत्यादि—हे महाराज ! नैवेदमवकल्पयामि दैत्यक्षयनिमित्तम् यच्च यत्र त्वमघटिष्यथाः यां पुनरात्मनो घटनां करिष्यसि किन्तु पुनः प्रादुर्भावे घटिष्यसे । तत्रापि प्रादुर्भावत्वमीहितं चेष्टितं जातु कदाचित् समाप्तिं सिद्धिं नानेष्यः किं न नेष्यसि । ‘२८०४। जातुयदोर्लिङ् ।३।३।१४७।’ इति जातुय-च्छब्दौ अनवकृत्तिश्च लिङ्निमित्तं तस्मिन् क्रियातिपत्तौ भविष्यति नित्यं लङ् । अत्राघटनक्रियायाश्चातिपत्तिः ज्ञानेनोपलब्धभविष्यत्प्रादुर्भावसमाप्तिनयनयोस्तद्विरुद्धयोरुपनिपातात् ॥

१५८६—तातं प्रसाद्य कैकेय्या भरताय प्रपीडितम् ॥

सहस्र-चक्षुषं रामो निनंसुः परिदृष्टवान्. ॥ १९ ॥

तातमित्यादि—तातं दशरथं कैकेय्या प्रपीडितं सन्तापितं भरताय भरतार्थं राज्येऽभिषिच्यतामिति प्रसाद्य तद्विषये चित्तकालुष्यं त्याजयित्वा रामः सहस्रचक्षुषं इन्द्रं परिदृष्टवान् संदृष्टवान् । निनंसुः नन्तुमिच्छुः ॥

१५८७—प्रेता वरेण शक्रस्य प्राणन्तः कपयस् ततः ॥

संजाताः फलिना ऽऽनम्र-रोचिष्णु-द्रुम-सद्रवः. २०

प्रेता इत्यादि—ततः प्रणामानन्तरं शक्रस्य प्रसन्नस्य वरेण कपयः संग्रामे प्रेताः संग्रामे मृताः प्राणन्तो जीवन्तः संजाताः संवृत्ताः । कीदृशा इत्याह—फलिनः फलवन्तः । ‘फलबर्हाभ्यामिनच्’ । अत एव नम्राः नमनशीलाः रोचिष्णवः दीपनशीलाः ये द्रुमास्तेषु सद्रवः सदनशीलाः । ‘३१३९। दाधेद सि - ।३।२।१५९।’ इत्यादिना सदे रुः ॥

१५८८—भ्रमर कुला ऽऽकुलोल्बण-सुगन्धि-पुष्प-तरुस्

तरुण-मधूक-सम्भव-पिशङ्गित-तुङ्ग-शिखः ॥ २१ ॥

१ इदं नर्दटकवृत्तम्—‘यदि भवतो नजौ भजजला गुरु नर्दटकम्’ इति लक्षणात् ।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सीता-संशोधन' नामैकविंशतितमः सर्गः—४६९

शिखर-शिलाऽन्तराल-परिकृष्ट-जलाऽवसरः

स-रस-फल-श्रियं स विततान सुवेल-गिरिः ॥ २१ ॥

भ्रमरेत्यादि—वरेण च स सुवेलगिरिः सरसां अभिनवां फलश्रियं विभूतिं विततान विस्तृतवान् । भ्रमरकुलैराकुला व्यासा उल्बणाः सुगन्धयश्च सपुष्पास्त-रवो यत्र गिरौ । तरुणानां अभिनवानां मधूकानां यः सम्भवः तेन पिशङ्गिता-स्तुङ्गाः शिखाः शिखराणि यत्र । शिखरशिलानामन्तरालेषु परिकृष्टा जलावसरा जलाधारा यत्र । जलमपसरत्येभ्य इति '३२३२। ऋदोरप् । ३। ३। ५७' ॥

१५८९—संवाङ्मिः स-कुसुम-रेणुभिः समीरै-

रानमैर् बहु-फल-धारिभिर् वनाऽन्तैः ॥

श्रयोतद्भिर् मधु-पटलैश् च वानराणाम्

आप्यानो रिपु-वध-सम्भवः प्रमोदः ॥ २२ ॥

संवाङ्मिरित्यादि—सम्भवत्यस्यादिति सम्भवः । रिपुवधः सम्भवो यस्य प्रमोदस्य स वानराणामाप्यानः वृद्धिं गतः । व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात् सोप-सर्गस्य प्यायतेः पीभावो न भवति । '३०१९। ओदितश्च । ८। २। ४५।' इति निष्ठानत्वम् । कैराप्यानः समीरैः सकुसुमरेणुभिः संवाङ्मिः वहङ्मिः । वनान्तैः फलभरधारिभिः । अत एवानमैः । मधुकरपटलैः श्रयोतद्भिः मध्वित्यर्थात् ॥

१५९०—आयान्त्यः स्व-फल-भरेण भङ्गुरत्वं

भृङ्गाऽऽली-निचय-चिता लतास् तरुणाम् ॥

साऽऽमोदाः क्षिति-तल-संस्थिताऽवलोप्या

भोक्तृणां श्रममदयं न नीतवत्यः ॥ २३ ॥

इति भट्टि-काव्ये तिङन्त-काण्डे लृङ्-प्रदर्शनो

नाम एकविंशति-तमः सर्गः ॥

आयान्त्य इत्यादि—तरुणां लताः स्वफलभरेण भङ्गुरत्वं सुमेघत्वमायान्त्यः गच्छन्त्यः । सामोदाः अतएव भृङ्गालीनिचयचिताः । क्षितितलसंस्थितैरेवावलोपुं शक्याः । भोक्तृणां कपीनां श्रमं चित्कायक्लेशं उदयं वृद्धिं न नीतवत्यः । 'विनीतवत्यः' इति पाठान्तरम् । उत्पूर्वादयतेः कर्तर्यच् । वृद्धिसुपगच्छन्तं श्रममपनीतवत्य इत्यर्थः ॥

इति श्री-जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते श्री-भट्टिकाव्ये

चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपेऽष्टमः परिच्छेदः (वर्गः),

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'सीता-संशोधन' नाम

एकविंशतितमः सर्गः ॥ २१ ॥

द्वाविंशः सर्गः ।

इतः प्रभृति लुप्तमधिकृत्य विलसितमाह—तत्र भविष्यदनद्यतने लुद्र ॥

१५९१—ततो रामो हनूमन्तमुक्तवान् हृष्ट-मानसम् ॥

‘अयोध्यां श्वः प्रयातासि कपे ! भरत-पालिताम्. १

तत इत्यादि—ततः सीतासंशोधनानन्तरं रामो हनूमन्तं हृष्टमानसं स्वामि-
कार्यस्य निष्पादितत्वात् उक्तवान् । हे कपे ! श्वोदिने अयोध्यां भरतपालितां
प्रयातासि गन्तासि । ‘२१९१। तासस्सोलोपः । ७। ४। ५०।’ ॥

१५९२—गाधितासे नभो भूयः स्फुटन्-मेघ-घटाऽऽवलि, ॥

ईक्षितासे ऽम्भसां पत्युः पयः शिशिर-शीकरम्. ॥२॥

गाधितास इत्यादि—भूयः पुनरपि नभः गाधितासे प्रस्थातासे । ‘गाध-
प्रतिष्ठालि’स्योः’ इत्यनुदात्तेत् । त्वद्गमनवातात् स्फुटन्त्यः खण्डशो भवन्त्यः
मेघघटावल्यो मेघपङ्क्तयो यत्र नभसि । अम्भसां पत्युः समुद्रस्य पयः शिशि-
रशीकरं ईक्षितासे द्रष्टासि ॥

१५९३—सेवितासे प्लवङ्ग ! त्वं महेन्द्रा ऽद्रेरधित्यकाः ॥

व्युत्क्रान्त-वर्त्मनो भानोः सह-ज्योत्स्ना-कुमुद्वतीः. ३

सेवितास इत्यादि—हे प्लवङ्ग ! भानोरादित्यस्य व्युत्क्रान्तवर्त्मनः अत्यु-
च्चत्वादतिक्रान्तमार्गस्य महेन्द्राद्रेः अधित्यकाः उपरिभागान् । कुमुद्वतीः विद्य-
मानकुमुदाः सह ज्योत्स्नया । पश्चाद्विशेषणसमासः । सज्योत्स्ना वा कुमुद्वत्यः
कुमुदाकरा यासु अधित्यकासु तास्त्वं सेवितासे अनुभवितासि । प्लवं गच्छतीति
खच्, प्लवं गच्छतीति कर्तरि अच् वा । ‘उखउखी’त्यत्र वणिः पठ्यते ॥

१५९४—चन्दन-द्रुम-संच्छन्ना निराकृत-हिम-श्रथाः ॥

दर्शितारस् त्वया ताश् च मलयोपत्यकाः शुभाः. ४

चन्दनेत्यादि—ताश्च पूर्वं दृष्टाः मलयोपत्यकाः मलयासन्नाः सुवः शुभाः
चन्दनद्रुमसंच्छन्नत्वात् । निराकृतहिमश्रथाः तिरस्कृतचन्द्राः । त्वया दर्शितारः
श्वो द्रष्टव्याः । कर्मणि लुट् । विण्वदिद् चेति सकारलोपः । हिमं श्रज्जाति सुख-
तीति हिमश्रथाः चन्द्रः । ‘श्रन्थ सेचनप्रतिहर्षयोः’ इति कर्मण्यण् ‘१३१८७।
अवोदैध-१६। ४। ६९।’ इत्यादिना अनुनासिकलोपो निपात्यते ॥

१५९५—प्रतन्व्यः कोमला विन्ध्ये सहितारः स्यदं न ते ॥

लताः स्तवक-शालिन्यो मधुलेहि-कुलाऽऽकुलाः. ५

प्रतन्व्य इत्यादि—विन्ध्ये लताः स्तवकशालिन्यः सकुसुमस्तवकोपेताः
मधुलेहिकुलाकुलाः अमरकुलसङ्कुलाः प्रतनुत्वात् कोमलत्वाच्च । गच्छतस्ते तव

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'अयोध्या-प्रत्यागमनं' नाम द्वाविंशः सर्गः—४७१

स्यदं जवं न सहितारः न सहिष्यन्ते । '३१८६। स्यदो जवे । ६। ३। २८।' इत्यनु-
नासिकलोपो निपात्यते ॥

१५९६—द्रष्टासि ग्रीति-मानांरात् सखिभिः सह सेविताम् ॥
स-पक्षपातं किष्किन्धां पूर्व-क्रीडां स्मरन् मुहुः ॥६॥

द्रष्टासीत्यादि—किष्किन्धां च आरात् नातिदूरे द्रष्टासि । ग्रीतिमान् जात-
ग्रीतिः सन् सखिभिर्मित्रैः सह सेवितां अनुभूतां एवं च कृत्वा पूर्वक्रीडां स्मरन्
मुहुः । शेषत्वेन विवक्षितत्वात् षष्ठी न भवति । सपक्षपातं सानुरागमिति
क्रियाविशेषणम् ॥

१५९७—त्वया सन्दर्शितारौ ते माल्यवद्-दण्डका-वने ॥
उपद्रुतश्च चिरं द्वन्द्वैर् ययोः क्लिशितवानहम् ॥७॥

त्वयेत्यादि—माल्यवान् पर्वतः दण्डकावनं दण्डकेति नामकमरण्यं ते त्वया
सन्दर्शितारौ । कर्मणि लुट् । ययोर्माल्यवद्दण्डकावनयोः व्यवस्थितैः द्वन्द्वैः
सीतावियोगदुःखैः चिरमुपद्रुतोऽभिभूतः सन् अहं क्लिशितवान् पीडामनुभूत-
वान् । '३०४९। क्लिशः क्वानिष्ठयोः । ७। २। ५०।' इतीद् । '३३२३। मृडमृद-
-१। २। ७।' इत्यादिना क्तिवम् ॥

१५९८—आप्तारौ भवता रम्यावाश्रमौ हरिणाऽऽकुलौ ॥
पुण्योदक-द्विजाऽऽकीर्णौ सुतीक्ष्ण-शरभङ्गयोः ॥८॥

आप्तारवित्यादि—सुतीक्ष्णशरभङ्गयो रम्यावाश्रमौ हरिणाऽकुलौ पुण्यैरुद-
कैर्द्विजैः पक्षिभिश्चाकीर्णौ भवता आप्तारौ प्राप्तव्यौ ॥

१५९९—अतिक्रान्ता त्वया रम्यं दुःखमत्रेस्व तपो-वनम्, ॥
पवित्र-चित्रकूटेऽद्रौ त्वं स्थातासि कुतूहलात् ॥९॥

अतिक्रान्तेत्यादि—अत्रेश्च तपोवनं रम्यत्वात् त्वया दुःखमतिक्रान्ता अति-
क्रामितव्यम् । चित्रकूटे चाद्रौ पवित्रे पुण्ये कुतूहलात् त्वं स्थातासि ॥

१६००—ततः परं भरद्वाजो भवता दर्शिता मुनिः, ॥

द्रष्टारश्च जनाः पुण्या यामुनाऽम्बुक्षताऽहसः ॥

तत इत्यादि—ततः चित्रकूटात्परं गच्छता भवता भरद्वाजो मुनिर्दर्शिता
द्रष्टव्यः । जनाश्च पुण्याः यामुनाम्बुक्षताहसः यमुनाजलस्य स्नानात्पानाच्च क्षपि-
तपापाः द्रष्टारो द्रष्टव्या वा । चिन्वदिद् च ॥

१६०१—स्यन्त्वा स्यन्त्वा दिवः शम्भोर्

मूर्ध्नि स्कन्त्वा भुवं गताम् ॥

गाहितासे ऽथ पुण्यस्य

गङ्गां मूर्तिमिव द्रुताम्. ॥ ११ ॥

स्यन्वेत्यादि—अथानन्तरं या गङ्गा दिवः स्यन्त्वा स्यन्त्वा सुत्वा सुत्वा ।
'३३४३। आभीक्ष्ण्ये णमुल् च । ३।४।२२।' इति चकारात् क्त्वा च आभीक्ष्ण्ये च द्वे
भवतः । शम्भोर्मूर्ध्नि स्कन्त्वा गत्वा क्षितिं गता । '३३२१। क्त्विस्कन्दिस्सन्दोः
। ६।४।२१।' इत्यनुनासिकलोपप्रतिषेधः । तां पुण्यस्य मूर्तिमिव द्रुतां [द्रवरूपेण
स्थिताम्] गाहितासे ज्ञातुं विलोडितासि ॥

१६०२—तमसाया महा-नील-पाषाण-सदृश-त्विषः ॥

वनऽन्तान् बहु मन्तासे नागरऽऽक्रीड-शांखिनः. ॥

तमसाया इत्यादि—तमसायाश्च नद्याः वनान्तान् वनोपकण्ठान् महानी-
लमणस्तुल्यत्विषोऽतिनीलत्वात् । नागराणां आक्रीडो रन्तव्यं तत्साक्षिणः बहु
मन्तासे श्लाघितासे ॥

१६०३—नगर-स्त्री-स्तन-न्यस्त-धौत-कुङ्कुम-पिञ्जराम् ॥

विलोक्य सरयूं रम्यां गन्ता ऽयोध्या त्वया पुरी. १३

नगरेत्यादि—नगरस्त्रियः अयोध्यास्त्रियः तासां स्तनेषु यत्पूर्वन्यस्तं पश्चा-
द्धौतं कुङ्कुमं तेन पिञ्जरां कपिशां अत एव रम्यां सरयूं विलोक्य अयोध्या पुरी
त्वया गन्ता गन्तव्या ॥

१६०४—आनन्दितारस् त्वां दृष्ट्वा

प्रष्टारश्च चावयोः शिवम् ॥

मातरः सह मैथिल्या,

तोष्टा च भरतः परम्. ॥ १४ ॥

आनन्दितार इत्यादि—अयोध्यायां च त्वां दृष्ट्वा मातरः कौसल्याद्याः
आनन्दितारः आनन्दिष्यन्ति । आवयोश्च रामलक्ष्मणयोः सह मैथिल्या शिवं
कल्याणं प्रष्टारः प्रश्नं करिष्यन्ति । भरतश्च श्रुत्वा परमलभ्यं तोष्टा प्रीतिं कर्ता ।
आमन्नितार इति पाठान्तरम् । तन्नानित्यण्यन्ता इति दर्शनं तेषां णिञ् न
भवति । अन्यथा '२३१३। णेरनिटि । ६।४।१५१।' इति णिलोपो न प्राप्नोति ।
ततश्चामन्नयितार इति स्यात् । अथवा आमन्नणमामन्न इति घञन्तादाचारे
सर्वप्रातिपदिकेभ्य इति क्तिप् । तदन्तात्तासेरिट् । अतोलोपे च रूपम् । सह
मैथिल्योरिति पाठान्तरम् । तत्रापि बहुव्रीहौ '८३३। नष्टृत्श्च । ५।४।१५३।' इति
कप् न भवति समासान्तविधिरनित्य इति कृत्वा ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'अयोध्या-प्रत्यागमनं' नाम द्वाविंशः सर्गः—४७३

१६०५—आख्यातासि हतं शत्रुमभिषिक्तं विभीषणम्, ॥

सुग्रीवं चाऽर्जितं मित्रं, सर्वाश् चाऽऽगामुकान् द्रुतम्

आख्यातासीत्यादि—हतं शत्रुं रावणं लङ्कायामभिषिक्तं विभीषणं अर्जितं मित्रं च सुग्रीवं विशिष्टमाख्यातासि कथयितासि । सर्वाश्चास्मान् द्रुतमागामुकान् आगमनशीलान् ॥

१६०६—गन्तारः परमां प्रीतिं पौराः श्रुत्वा वचस् तव, ॥

ज्ञात्वैतत् सम्मुखीनश् च समेता भरतो ध्रुवम्. १६

गन्तार इत्यादि—त्वद्वचनं श्रुत्वा पौराः पौरजना परमां प्रीतिं गन्तारो गमिष्यन्ति । एतन्मदागमनवृत्तान्तं श्रुत्वा सम्मुखीनः प्रतिविम्बाश्रय इव सम्मुखो भूत्वा मामेवागमिष्यति भरतो ध्रुवमसंशयम् ॥

१६०७—गते त्वयि पथाऽनेन वयमप्यंहितास्महे, ॥

लब्धाहेऽहं धृतिं प्राप्ते भूयो भवति सम्मुखे. ॥१७॥

गत इत्यादि—त्वयि पथा अनेन मयाभिहितेन गते वयमपि अंहितास्महे प्रयातास्मः 'अहि गतौ' । भूयश्च पुनरपि भवति त्वयि सम्मुखे प्राप्ते धृतिमहं लब्धाहे प्राप्तोसि । '२२५०। ह एति । ७।४।५२।' इति तासि सकारस्य हकारः ॥

१६०८—गते तस्मिन् गृहीताऽर्थे रामः सुग्रीव-राक्षसौ ॥

उक्तवान् श्वोऽभिगन्तास्थो युवां सह मया पुरम्. १८

गते तस्मिन् इत्यादि—तस्मिन् हनूमति गृहीतार्थे अवगतसन्देशार्थे गते सति रामः सुग्रीवराक्षसावुक्तवान् । युवां मया सह श्वो दिने अभिगन्तास्थः पुरमयोध्यां गमिष्यथः ॥

१६०९—द्रष्टास्थस् तत्र तिस्रो मे

मातृस् तुष्टाऽन्तराऽऽत्मनः ॥

आत्यन्तीनं सखित्वं च

प्राप्तास्थो भरताऽऽश्रयम्. ॥ १९ ॥

द्रष्टास्थ इत्यादि—तत्र च पुनः पुर्यां नोऽस्माकं तिस्रो मातृः कौसल्याद्याः । स्वसादित्वाच्च डीप् । शसि प्रथमयोः पूर्वसवर्णदीर्घत्वम् । तुष्टान्तरात्मनः हृष्टमानसाः द्रष्टास्थः । भरताश्रयं च भरतनिबन्धनं च सखित्वं मित्रत्वं आत्यन्तीनं अत्यन्तं गामीत्यस्मिन्नर्थे '१८१२। अवार्पात्—१।५।२।११।' इत्यादिना खः । प्राप्तास्थः लब्धासाथे ॥

१६१०—नैवं विरह-दुःखेन वयं व्याधानितास्महे, ॥

श्रमोऽनुभविता नैवं भवद्भ्यां च वियोग-जः, ॥२०॥

४७४ भट्टि-काव्ये—चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षण-रूपे नवमो वर्गः,

१६११—एवं युवां मम प्रीत्यै कल्पास्थः कपि-राक्षसौ ! ॥
गन्तुं प्रयतितासाथे प्रातः सह मया यदि. ॥ २१ ॥

नैवमित्यादि श्लोकद्वयम्—हे कपिराक्षसौ ! प्रातर्मया सह गन्तुं यदि प्रयतितासाथे यत्नं कर्तास्थः । एवं सति युष्मद्विरहदुःखेन वयं न व्यावनितास्महे न पीडिता भवितास्मः । कर्मणि लुट् । चिण्वदिद् । ‘संयोजितास्महे’ इति पाठान्तरम् । न संयोजिता भवितास्मः । युजेर्ण्यन्तस्य चिण्वदिद् । इदोऽसिद्धत्वात् ‘२३५३। गेरनिटि । ६।४।५१।’ इति णिलोपः । भवच्चां च वियोगजः श्रवः खेदो नानुभविता । अत्रापि चिण्वदिद् । एवं मम प्रीत्यै युवां कल्पास्थः सम्पादितास्थः । २३५१। लुटि च कृपः । ११।३।५३।’ इति तडभावपक्षः । ‘२३५२। तासि च कृपः । ७।२।६०।’ इतीदृशप्रतिषेधः । कृपि सम्पद्यमाने चतुर्थी ॥

१६१२—उक्तवन्तौ ततो रामं वचः पौलस्त्य-वानरौ ॥

अनुग्रहो ऽयं काकुत्स्थ ! गन्तास्वो यत् त्वया सह. २२

उक्तवन्तावित्यादि—ततोऽनन्तरं पौलस्त्यवानरौ विभीषणसुग्रीवौ रामं वच उक्तवन्तौ । हे काकुत्स्थ ! त्वया सह यदावां गन्तास्वः गमिष्यावः अयमनुग्रहः प्रसाद इति ॥

१६१३—अनुमन्तास्वहे नाऽऽवां भवन्तं विरहं त्वया ॥

अपि प्राप्य सुरेन्द्र-त्वं, किं नु प्रत्तं, त्वया ऽऽस्पदम्. ॥

अनुमन्तास्वहे इत्यादि—किं च सुरेन्द्रत्वं देवेन्द्रत्वं प्राप्तावप्यावां त्वया सह भवन्तमुत्पद्यमानं विरहं वियोगं नानुमन्तास्महे किं पुनस्त्वया प्रत्तं दत्तम् । ‘३०७८। अच उपसर्गात्तः । ७।४।४७।’ आस्पदं राज्यं प्राप्तवन्तौ । अत्र सुतरामेव त्वया सह वियोगो न युज्यते । भवन्तं विरहमिति वर्तमानकालः नानुमन्तास्वहे इति भविष्यत्कालेन सम्बध्यमानः साधुर्भवति ‘२८२४। धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः । १३।४।१।’ इति । एतावच्छुद्धिलसितम् ॥

अथ सर्गभङ्गार्थं छन्दोन्तरेण तच्छेषभूतमर्थवशात् प्रकीर्णकक्रियाविलसितं दर्शयन्नाह—

१६१४—ततः कथाभिः समतीत्य दोषा-

मारुह्य सैन्यैः सह पुष्पकं ते ॥

सम्प्रस्थिता वेग-वशाद्-गाधं

प्रक्षोभयन्तः सलिलं पयोधेः. ॥ २४ ॥

तत इत्यादि—कथाभिरनन्तरोक्ताभिः दोषां रात्रिं समतीत्य प्रेरयित्वा ततो-नन्तरं ते रामादयः पुष्पकं विमानमारुह्य सैन्यैः सह अयोध्यां यातुं सम्प्रस्थिताः । पयोधेः सलिलमगाधमक्षोभ्यमपि वेगवशात्प्रक्षोभयन्तः ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'अयोध्या-प्रत्यागमनं' नाम द्वाविंशः सर्गः— ४७५

१६१५—सेतुं, महेन्द्रं, मलयं स-विन्ध्यं,
स-माल्यवन्तं गिरिमृष्यमूकम्, ॥
स-दण्डकाऽरण्य-वर्ती च पम्पं
रामः प्रियायाः कथयन् जगाम. ॥ २५ ॥

सेतुमित्यादि—एष सेतुस्त्वदर्थं मया कारितः । एते च महेन्द्रादयः इत्यादि
प्रियायाः सीतायाः कथयन् जगाम । अयोध्याभिमुखं गतवान् ॥

१६१६—एते ते मुनि-जन-मण्डिता दिगन्ताः,
शैलोऽयं लुलित-वनः स चित्रकूटः, ॥
गङ्गेयं सु-तनु- ! विशाल-तीर-रम्या,
मैथिल्या रघु-तनयो दिशन् ननन्द. ॥ २६ ॥

एते इत्यादि—शोभना तनुः शरीरं यस्याः सा त्वं हे सुतनु ! कचिदुकारान्त-
मपि स्त्रियः प्रोक्तमिति वचनात् नदीसंज्ञकत्वात् सम्बुद्धिह्रस्वत्वम् । 'कृषिचमित-
निसर्जिमज्जिभ्यः' इत्यौणादिकस्तनुशब्दः । एते दिगन्ता मुनिजनैस्तन्निवासिभिर्म-
ण्डिताः भूषिताः । अयं स चित्रकूटः यत्र भरतेनागम्य दृष्टोऽस्मि । लुलितवनोऽ-
स्मद्रेगवशात् । इयं च गङ्गा विशालतीरतया रम्या । एवं मैथिल्या दिशन् कथ-
यन् ननन्द मुदितः ॥

१६१७—शिञ्जान-भ्रमर-कुलाऽऽकुलाऽग्र-पुष्पाः
शीता-ऽम्भः-प्रविलय-संप्लवाऽभिलीनाः ॥
एते ते सु-तनु ! पुरी-जनोपभोग्या
दृश्यन्ते नयन-मनोरमा वनाऽन्ताः. ॥ २७ ॥

शिञ्जानेत्यादि—हे सुतनु ! एते वनान्ताः पुर्यां दृश्यन्ते । शिञ्जानैः कूजद्भिः
भ्रमरकुलैः आकुलाग्राणि पुष्पाणि येषां वनान्तानाम् । प्रविलीयतेऽस्मिन्निति प्रवि-
लयः । '३२३१। एरच् । ३। ३। ५६।' निमिलीभ्यां खलचोः प्रतिषेधो वक्तव्यः ।
'२५०९। विभाषा लीयते । ६। १। ५१।' इत्यात्वं न भवति । शीताम्भसः प्रवि-
लयः कुल्या तेन यः संप्लवः स्नापना तेनाभिलीनाः कुल्यया सिञ्चमानमूलत्वात् ।
अत एव नयनमनोरमाः रमयतीति कर्तर्यच् । पश्चात् षष्ठीसमासः । एवं च पुरी-
जनानामयोध्यानिवासिनां उपभोग्याः ॥

१६१८—स्थानं नः पूर्व-जानामियमधिकमसौ
 प्रेयसी पूरयोध्या,
 दूरादालोक्यते या हुत-विविध-हविः-
 ग्रीणिता ऽशेष-देवा, ॥
 सो ऽयं देशो, रुदन्तं पुर-जनमखिलं
 यत्र हित्वा प्रयातौ,
 आवां सीते ! वना ऽन्तं सह धृत-धृतिना
 लक्ष्मणेन क्षपाऽन्ते. ॥ २८ ॥

स्थानं न इत्यादि—हे सीते ! असौ पुरी नोऽस्माकं पूर्वजानां स्थानमधिकं
 अतएव च प्रेयसी प्रियतमा । दूरादालोक्यते उच्चप्रासादयोगात् । या हुतैर्विवि-
 धैर्हविर्भिराज्यादिभिः ग्रीणिता अशेषदेवा यत्र देशे । पुरजनमखिलं समस्तं रुदन्तं
 क्षपान्ते उपसि हित्वा त्यक्त्वा छलेन आवां वनान्तं प्रयातौ सोऽयं देशः सह
 लक्ष्मणेन धृतधृतिना धृतसौमनस्येन ॥

१६१९—तूर्याणामथ निःस्वनेन सकलं
 लोकं समापूरयन्
 विक्रान्तैः करिणां गिरीन्द्र-सदृशां
 क्षमां कैम्पयन् सर्वतः ॥
 सा ऽऽनन्दाऽश्रु-विलोचनः प्रकृतिभिः
 सार्धं सहा ऽन्तः पुरः
 सम्प्राप्तो भरतः स-मारुतिरलं
 नमः समं मातृभिः ॥ २९ ॥

तूर्याणामित्यादि—अथानन्तरं भरतो हनूमतः समुपलब्धरामवृत्तान्तत्वात्
 सानन्दाश्रुविलोचनः सानन्दाश्रुणी विलोचने यस्य तथाभूतः प्रकृतिभिः अमा-
 त्यादिभिः सार्धं । सहान्तःपुरः अन्तःपुरेण समम् । मातृभिः कौसल्यादिभिः

१—स्रग्धरावृत्तम् '—अश्रुणां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्'
 इति लक्षणात् । २—शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् । लक्षणमुक्तम् । ३—'क्षमापयन्' इति
 पाठान्तरम् ।

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'अयोध्या-प्रत्यागमनं' नाम द्वाविंशः सर्गः—४७७

सह मातृभिः हनूमता च सह । अयं नम्रः अनुद्धतः 'समीपं मे नाथ आगतः'
इति तस्याणां निःस्वनेन सकलं लोकं मार्गप्राप्तं समापूरयन् व्यामुवन् करिणां
च गिरीन्द्रसदृशाम् । '४२९। लयादिषु दृशाः—१३।२।६०।' इति चकारात् किन् ।
विक्रान्तैः पादभ्यासैः क्षमां कम्पयन् सर्वतो विधूनयन् । 'क्षमापयन्' इति
पाठान्तरम् । तत्र '२५७० । अतिही—१७।३।३६।' इत्यादिना पुक् । सम्प्राप्तः
रामसमीपमित्यर्थः ॥

१६२०—अथ स-सम्भ्रम-पौर-जनाः ऽऽवृत्तो

भरत-पाणि-धृतोज्ज्वल-चामरः ॥

गुरु-जन-द्विज-बन्धुभिनन्दितः

प्रविशति स्म पुरं रघु-नन्दनः. ॥ ३० ॥

अथेत्यादि—अथ भरतसम्प्राप्त्यनन्तरं रघुनन्दनो रामः ससम्भ्रमेण साद-
रेण सहर्षेण पौरजनेनावृत्तः । भरतपाणिना धृतमुज्ज्वलं चामरं यस्य । गुरुजनेन
द्विजैर्बन्दिमिश्रं स्तुतिपाठकैरभिनन्दितोऽभिष्टुतः सन् पुरमयोध्यां प्रविशति स्म
प्रविष्टः ॥

१६२१—प्रविधाय धृतिं परां जनानां

युव-राजं भरतं ततोऽभिषिच्य ॥

जघटे तुरगाध्वरेण यष्टुं

कृत-सम्भार-विधिः पतिः प्रजानाम्. ॥ ३१ ॥

प्रविधायेत्यादि—प्रविश्य च पुरं प्रजानां पती रामः जनानां धृतिं प्रीति-
रूपचेतोवृत्तिं परामुक्कृष्टां प्रविधाय कृत्वा भरतं च युवराजमभिषिच्य ततोऽन-
न्तरम् तुरगाध्वरेणाश्वमेधेन यष्टुं जघटे चेष्टितवान् । कृतसम्भारविधिः । संश्रित्यत
इति सम्भारः द्रव्यगण इत्यर्थः । कृतोऽनुष्ठितः सम्भारस्य विधिरितिकर्तव्यता-
लक्षणो येन स इति ॥

नायकाम्युदयान्तं महाकाव्यमिति परिसमापय्य तत्र जयमिच्छता अस्मिन्ना-
दरः कर्तव्य इति दर्शयन्नाह—

१६२२—इदमधिगत-मुक्ति-मार्ग-चित्रं

विवदिषतां वदतां च सन्-निबन्धात् ॥

१—द्रुतविलम्बितवृत्तम् । 'द्रुतविलम्बितमाह नमो भरो' इति लक्षणात् ॥

जनयति विजयं सदा जनानां

युधि सुसमाहितमैश्वरं यथा ऽस्त्रम् ॥ ३२ ॥

इदमित्यादि—इदं महाकाव्यम् । उक्तेर्वचनस्य यो मार्गः पन्थाः सुसंस्कृत-
शब्दलक्षणः प्रपञ्चितः तेन चित्रं विस्मयनीयम् । सुसमाहितं अलङ्कारयुक्तम् ।
अधिगतं परिज्ञातं सज्जनानां विविदिषतां वक्तुमिच्छतां वदतां च वक्तुं प्रवर्तमा-
नानां सदा विजयं जनयति । सन्निबन्धात् शोभनबन्धात्कारणात् । यथास्त्रमै-
श्वरं पाशुपतम् । अधिगतमुक्तिमार्गं अधिगतः प्राप्तः प्रज्ञातो मोचनमार्गः क्षेपण-
मार्गो येन । चित्रं नानावर्णकेन चित्रितत्वात् । सुसमाहितं युधि संग्रामे विजयं
विदधाति तद्वत् ॥

तस्मादादरः कर्तव्य इति तत्रापि य एव व्याकरणमधीतवान् तस्यैवान्नादरो
युक्त इति दर्शयन्नाह—

१६२३—दीप-तुल्यः प्रबन्धो ऽयं शब्द-लक्षण-चक्षुषाम् ॥

हस्ता ऽमर्ष इवा ऽन्धानां भवेद् व्याकरणादृते ॥ ३३ ॥

दीपतुल्य इत्यादि—अयं प्रबन्धो महाकाव्यसंज्ञकः । प्रबध्यते विरच्यते
इति कृत्वा । शब्दलक्षणमेव चक्षुर्येषां तेषां दीपतुल्यः । अत एवैतत्काव्याधि-
गमात् स्वातन्त्र्येणान्यानपि शब्दान् प्रयोक्तुं क्षमत्वात् । व्याकरणादृते विना हस्ता-
मर्ष इवान्धानां हस्तामर्ष इवावबोधः यथा अन्धानां हस्तेन घटपटादिवत् ।
स्वपरामृश्यसंस्थानमात्रपरिज्ञानं यथावस्थितस्वरूपपरिज्ञानं एवमनधीतव्याकर-
णानां न शब्दस्वरूपपरिज्ञानं अन्यत्र शब्दश्रवणात् ततश्च तत्स्वरूपापरिज्ञानात्
कुतोऽप्यन्यशब्दप्रयोग इति ॥

एवं च कृत्वा विदुषोऽनुसूयमानेन मयेदं काव्यं कृतमिति दर्शयन्नाह—

१६२४—व्याख्या-गम्यमिदं काव्य-

मुत्सवः सु-धियामलम्, ॥

हता दुर-मेघसश् चा ऽस्मिन्

विद्वत्-प्रियन्तया मया ॥ ३४ ॥

व्याख्यागम्यमित्यादि—व्याख्यागम्यं व्याख्यानाद्विना बोद्धुं न शक्यते ।
किमर्थमीदृशं कृतमिति चेत् उत्सवः सुधियामलं शास्त्रे क्षाण्डबुद्धीनां परं प्रमोदी
जायते । एवं च सत्यस्मिन् काव्ये विषयभूतदुर्मेघसो व्याकरणवाह्याः मया हता
नानुगृहीताः । तस्माद्विद्वत्प्रियन्तया विद्वांसः प्रिया यस्य मम विद्वत्प्रियः तन्नाव-
स्तत्ता तथा हेतुभूतयेति ॥

तथा लक्ष्य-रूपे कथानके 'अयोध्या-प्रत्यागमनं' नाम द्वाविंशः सर्गः— ४७९

यत्रेदं काव्यं कृतं तद्दर्शयन्नाह—

१६२५—काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां
श्रीधरसेन-नरेन्द्र-पालितायाम्, ॥
कीर्तिरतो भवतान् नृपस्य, तस्य
प्रेम-करः क्षिति-पो यतः प्रजानाम्. ॥ ३५ ॥

इति भट्टि-काव्ये द्वाविंशतितमः सर्गः ॥
समाप्तश्चायं भट्टि-काव्य-ग्रन्थः ॥

काव्यमित्यादि—मयेदं काव्यं विहितं कृतम् । श्रीधरसूनुना नरेन्द्रनाम्ना
नृपेण पालितायां रक्षितायां वलभ्यां वलभीनामपुर्याम् । अत एव काव्यविधा-
नाय या कीर्तिः सा तस्यैव राज्ञो भवतात् । आशिषि तातङ् । यतः प्रजानां
प्रेमकरः प्रेमानुकूलः । आनुलोम्ये टः ॥

इति वलभीवास्तव्यस्य श्रीस्वामिसूनोर्भट्टमहाब्राह्मणस्य महाविद्याकरणस्य कृतौ
रावणवधे महातिडन्तकाण्डे लुङ्गिलसितनाम्नो नवमपरिच्छेदस्य जटीश्वरो जयदेवो
जयमङ्गल इति च नामभिस्त्रिभिः सुप्रसिद्धस्य अनेकशास्त्रव्याख्यानकृतौ टीकायां
काव्यस्य 'अयोध्या-प्रत्यागमनं' नाम द्वाविंशः सर्गः ॥

॥ जयमङ्गलकृता टीका समाप्ता ॥

